UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186662

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H320.1 | M25R Accession No. G.H.1509
Author मल्लिक, योगेन्द्र।
Title राजनीति शास्त्र के मुख्य सिद्धान्त।
This book should be returned on or before the date last marked below.

राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त

☞ हमारे कुछ प्रसिद्ध प्रकाशन ☜

भारत का सांस्कृतिक इतिहास (सचित्र)	हरिदत्त वेदालंकार ६)
भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास	हरिदत्त वेदालंकार १॥)
भारत की सांस्कृतिक दिग्विजय	हरिदत्त वेदालंकार १)
भारत का चित्रमय इतिहास	महावीर अधिकारी ६)
नेपाल की कहानी (सचित्र)	काशीप्रसाद श्रीवास्तव ८)
प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास	डा० रांगेय राघव १२)
रजवाड़ा (सचित्र)	देवेश दास ५)
पृथ्वी-परिक्रमा (सचित्र)	गोविन्ददास १२)
चम्पारन में महात्मा गांधी (सचित्र)	डा० राजेन्द्रप्रसाद ५)
भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त, (भाग १)	इन्द्र विद्यावाचस्पति ७)
अगले पाँच साल (राजनीतिक)	जी० एस० पथिक ५)
अगला कदम (राजनीतिक)	हरेकृष्ण महताब १।)
भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास	गुरुमुख निहालसिंह १०)
भारतीय राजनीति और शासन	के. आर. बम्बवाल ८॥)
राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त	योगेन्द्रकुमार मल्लिक ८)
भारत का सचित्र संविधान	प्रो० इन्द्र २)
सभा-शास्त्र	म० वि० गाडगिल ६)
ग्राम साहित्य (भाग १)	रामनरेश त्रिपाठी ४)
ग्राम-साहित्य (भाग २)	रामनरेश त्रिपाठी ६)
सामान्य अर्थशास्त्र (प्रश्नोत्तर रूप में)	बी० एम० भाटिया ५)
युगपुरुष राम (सचित्र)	अक्षयकुमार जैन ४)
संसार के महान् युग-प्रवर्तक	प्रो० इन्द्र २॥)
महान् भारतीय (सचित्र)	ब्रह्मवती नारंग २)
महापुरुषों के संस्मरण (सचित्र)	अरुण ३)
रूसी क्रान्ति के अग्रदूत (सचित्र)	राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह ४)
विज्ञान और सभ्यता (सचित्र)	रामचन्द्र तिवारी-सिद्धि तिवारी ५)
आदर्श पत्र-लेखन	यज्ञदत्त शर्मा ७॥)
आदर्श भाषण-कला	यज्ञदत्त शर्मा ७॥)
आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान	ईश्वरचन्द शर्मा ५)
मन की बात	गुलाबराय ३)

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त

(विश्वविद्यालयों की राजनीति शास्त्र की बी० ए० कक्षा के लिए)

लेखक
योगेन्द्र मल्लिक, एम. ए.
अध्यक्ष, राजनीति विभाग, आर्य कालेज, नवांशहर द्वाबा
(पंजाब)

१९५७
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली-६

पुस्तक की उपयोगिता बढ़ाने के सभी प्रकार के सुझावों को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया जायगा।

पुस्तक को लिखते हुए मुझे अपने मित्रों, प्रियजनों तथा सहयोगियों से पर्याप्त सहायता तथा प्रेरणा मिली है। प्रो० बी० आर० देशपाण्डे तथा प्रो० रामरतन दुग्गल का मैं विशेष आभारी हूँ, उन्होंने पुस्तक की विषयवस्तु तथा भाषा सम्बन्धी अनेक सुझाव दिये। प्रो० रामपाल विद्यालंकार ने तो सम्पूर्ण पाण्डु लिपि का पर्यालोचन किया और मेरी अनेक प्रकार से सहायता की, परन्तु वह तो मेरे कुछ इतने निकट हैं कि उनको धन्यवाद देते हुए भी संकोच अनुभव करता हूँ। विगत वर्ष की बी० ए० कक्षा की छात्राओं का आभार न प्रदर्शित करना भी कृतघ्नता होगी। उन्होंने अपनी वार्षिक परीक्षा की सन्निकटता के बावजूद भी समय निकालकर पुस्तक की प्रैस-कापी तैयार की। प्रो० महेन्द्रनाथ शास्त्री का भी मैं विशेष आभारी हूँ। उन्होंने पुस्तक के प्रूफ देखने में मेरी पर्याप्त सहायता की है।

आत्माराम एण्ड संस के उदारमना संचालक श्री रामलाल पुरी के सौजन्य को भी नहीं भुलाया जा सकता। अपनी प्रथम पुस्तक 'साहित्य-विवेचन' के प्रकाशन के अनन्तर मैं उनके सम्पर्क में आया और तभी से उन्होंने मुझे राजनीति शास्त्र इत्यादि विषयों पर लिखने को प्रोत्साहित किया। इस पुस्तक के प्रकाशन का श्रेय उन्हीं को है।

१६ एम, राजौरी गार्डन्स
नई दिल्ली

योगेन्द्र मल्लिक

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१.	विषय प्रवेश	१
२.	राजनीति शास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध	२४
३.	राज्य और उसका स्वरूप	३६
४.	राज्य, राष्ट्र और उपराष्ट्र	५५
५.	राज्य की उत्पत्ति (१)	७६
६.	राज्य की उत्पत्ति (२)	१०३
७.	राज्य का विकास	१२३
८.	राज्य-प्रभुत्व	१३८
९.	राज्य-प्रकृति	१७१
१०.	कानून	१९४
११.	संविधान	२१९
१२.	राज्य तथा शासन के भेद (१)	२३७
१३.	राज्य तथा शासन के भेद (२)	२४९
१४.	राज्य तथा शासन के भेद (३)	२८२
१५.	राज्य तथा शासन के भेद (४)	२९९
१६.	शक्तियों के विभाजन का सिद्धान्त	३१५
१७.	विधानपालिका का संगठन तथा कर्त्तव्य	३२७
१८.	कार्यपालिका का संगठन तथा कार्य	३४४
१९.	न्यायपालिका का संगठन तथा कार्य	३६५
२०.	राजनीति दल	३८५
२१.	निर्वाचक-मण्डल	३९९
२२.	व्यक्ति तथा राज्य (१)	४२०
२३.	व्यक्ति तथा राज्य (२)	४४९
२४.	राज्य के उद्देश्य और कार्य	४७१

२५. राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त (१) ४८४
२६. राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त (२) ४९४
२७. राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त (३) ५०८
२८. राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त (४) ५५५
२९. राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त (५) ५७२
३०. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ५८३
अनैक्रमणिका ६०१

राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त

अध्याय १

विषय-प्रवेश

१. हमारे सामाजिक सम्बन्ध और उनका अध्ययन

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, यह एक आधारभूत वैज्ञानिक सत्य है। समाज से परे या समाज से बाहर हमारे जीवन का कोई मूल्य नहीं। अपनी सामाजिक प्रकृति की समुचित अभिव्यक्ति के अर्थ वह अनेक सामाजिक संस्थाओं का, अनेक सामाजिक विधि-निषेधों का और अनेक सामाजिक समुदायों का निर्माण करता है। मित्र-मण्डली, परिवार, गाँव, विद्यालय, राजनीतिक दल, ट्रेड यूनियन, बिरादरी, जन या कबीला इत्यादि न जाने कितने ऐसे समुदाय हैं जो उसकी सामाजिक प्रकृति का अभिव्यक्तिकरण हैं। यही उसके सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप है। **इन्हीं सम्बन्धों के समूह को हम समाज कहते हैं।**[1] यही सम्बन्ध सामाजिक वातावरण का निर्माण करते हैं, और इसी आवेष्टन में ही व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। हिन्दी का व्यक्तित्व शब्द अंग्रेजी के Personality शब्द का रूपान्तर है। सामाजिक मनोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व—यानी उसके विचार—नैतिक तथा बौद्धिक, उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण, स्वभाव इत्यादि, तथा सामाजिक चैतन्य (Social consciousness) उसके सामाजिक आवेष्टन का परिणाम हैं। व्यक्तित्व के मूल में प्राप्य मानसिक असन्तुलन तथा अस्वास्थ्य (Personality disorganisation) इत्यादि सामाजिक संस्कृति के मूल में अवस्थित पारस्परिक विरोधों का प्रतिफलन है। यह ठीक है कि व्यक्ति के जीवन के व्यष्टि और समष्टि दोनों ही रूप हैं, परन्तु व्यष्टि के आधारस्वरूप अहं (Self) का विकास समाज में ही सम्भव है, समाज के बाहर नहीं।

हमारे व्यक्तित्व का आधारभूत यह सामाजिक जीवन वैविध्य-सम्पन्न है, वह बहुपक्षीय है। उसमें पर्याप्त जटिलता है। समाज में जहाँ एक ओर तो सीधे-सादे समुदाय (Simple groups) हैं वहाँ दूसरी ओर अनेक प्रकारेण विकसित और जटिल (Complex) समूह (Groups) भी हैं जो कि हमारी दैनिक जिन्दगी में गौण (Secondary) हैं परन्तु सामाजिक जीवन में मुख्य हैं। वस्तुतः वे सामाजिक जीवन के विकास, उसके निर्माण और नियन्त्रण का मुख्य आधार हैं। हमारा यह बहुपक्षीय सामाजिक जीवन ही हमारे विभिन्न सामाजिक विज्ञानों की विषय-वस्तु है। **विषय-वस्तु की दृष्टि से हम विज्ञानों का वर्गीकरण प्राकृतिक विज्ञान और**

1. Society is web of social relationships,—*Maclver*.

सामाजिक विज्ञान के रूप में कर सकते हैं। प्राकृतिक विज्ञान से हमारा तात्पर्य उन विज्ञानों से है जो कि हमारे भौतिक और बाह्य जीवन का अध्ययन करते हैं, जिनकी मुख्य विषय-वस्तु प्रकृति या भौतिक जीवन (Material life) है। भौतिक विद्या, भूगर्भ-विद्या, रसायनशास्त्र इत्यादि ऐसे ही विज्ञान हैं।

दूसरी ओर सामाजिक विज्ञान विज्ञानों का वह वर्ग है जो कि हमारे सामाजिक जीवन और सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है। जैसा कि हम पीछे भी संकेत कर आये हैं कि हमारे सामाजिक जीवन के विविध रूप हैं, उसके विविध पक्ष हैं। इन पक्षों का विभिन्न सामाजिक विज्ञानों द्वारा अध्ययन किया जाता है। समाज में रहते हुए हम विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध दूसरे सामाजिक प्राणियों से स्थापित करते हैं। जब हम एक परिवार के सदस्य हैं या जब हम किसी विशेष समुदाय के सदस्य हैं और उस समुदाय की सदस्यता के परिणामस्वरूप हम अपने सामाजिक जीवन के कर्त्तव्य पूर्ण कर रहे हैं तो हमारा जीवन समाज-विज्ञान (Sociology) के अध्ययन की विषय-वस्तु बन जाता है। समाज में रहते हुए जब हम पाप और पुण्य, उचित और अनुचित, प्रगति और अप्रगति इत्यादि ऐसे विषयों का अध्ययन करते हुए अपने सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की मान-मर्यादा को निश्चित करते है तो हमारे अध्ययन का विषय नीतिशास्त्र कहलाता है। इसी प्रकार हमारे आर्थिक सम्बन्ध अर्थ-शास्त्र की विषय-वस्तु बन जाते हैं और जब हम अपने सामाजिक जीवन के विधि-निषेध, शासन-व्यवस्था, नगर-व्यवस्था, राज्य-विधान और दण्ड-व्यवस्था इत्यादि का अध्ययन करते हैं तो हमारा सीधा सम्बन्ध 'राज्य' से होता है। और जो विज्ञान हमारे सामाजिक जीवन के राजनीतिक पक्ष का अध्ययन करता है वह राजनीति विज्ञान कहलाता है। इस प्रकार सभी सामाजिक विज्ञान मानव के सदा परिवर्तित और विकसित होते हुए सामाजिक जीवन के विविध पक्षों का अध्ययन करते हैं। वैविध्यसम्पन्न सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने वाले सामाजिक विज्ञान यह हैं—समाज-विज्ञान (Sociology), अर्थशास्त्र (Economics), राजनीति विज्ञान (Political Science), इतिहास (History), नीतिशास्त्र (Ethics), मनोविज्ञान (Psychology) सामाजिक मनोविज्ञान इत्यादि।

प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान अपनी विषय-वस्तु में ही नहीं अपितु परिणाम और प्रकृति में भी एक दूसरे से भिन्न हैं। प्राकृतिक विज्ञान हमारे बाह्य भौतिक जीवन का अध्ययन करते हैं और यह भौतिक जीवन बहुत ही कम परिवर्तित होता है, वह प्रायः सदा एक-सा रहता है। उसमें निश्चयात्मकता (Exactness) होती है, जिसका हमारे सामाजिक जीवन में अभाव होता है। अतः प्राकृतिक विज्ञान के नियम (Laws) निश्चित और सर्वमान्य होते हैं। देश-काल की प्रकृति के अनुसार उसमें परिवर्तन नहीं होता रहता। सापेक्षवाद का सिद्धान्त (Theory of Relativity) या गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त (Law of Gravitation) इत्यादि कुछ ऐसे ही प्राकृतिक विज्ञान के नियम हैं जो कि सर्वत्र और सर्वदा सत्य हैं।

परन्तु सामाजिक विज्ञान में यह निश्चयात्मकता (Exactness) नहीं।

उसका बहुत बड़ी वजह हमारी विषय-वस्तु [illegible] सामाजिक विज्ञानों में हम जिस विषय-वस्तु का अध्ययन करते हैं वह सदा परिवर्तनशील है। मनुष्य का जीवन बहुत जटिल है। उसकी क्रियाएँ अत्यन्त सूक्ष्म चित्तवृत्तियों द्वारा निर्धारित और चालित होती हैं। इन चित्तवृत्तियों पर सामाजिक आवेष्टन और भौगोलिक वातावरण का प्रभाव रहता है। इस प्रकार प्रथम तो मनुष्य की सूक्ष्म चित्तवृत्तियों की पकड़ बहुत कठिन है फिर उस पर बाह्य-परिस्थितियों का जो प्रभाव रहता है और उसके साथ उसके मानसिक जीवन में जो परिवर्तन आते रहते हैं वह हमारी सम्पूर्ण अध्ययन-सामग्री को अत्यन्त जटिल बना देते हैं। परिणामस्वरूप हम सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में कोई अटल नियम नहीं बना सकते और न ही उसमें पर्याप्त निश्चयात्मकता ला सकते हैं।

२. राजनीति विज्ञान की विषय-वस्तु

हमारी सामाजिक प्रवृत्ति का परिणाम ही हमारा समाज है। जब हम मिलकर सामाजिक रूप में—किसी एक प्रदेश में रहते हैं तो पारस्परिक सम्बन्धों के नियमन के लिए कुछ विधि-विधानों का सृजन करते हैं। प्राचीन काल से ही यह विधि-विधान हमारे सामाजिक जीवन का नियमन करते आये हैं। कभी वह सामाजिक रीति-रिवाज के नाम से अभिहित किये जाते हैं तो कभी राजनीतिक कानून या विधि कहलाते हैं। इसी राजनीतिक विधि-विधान के लागू करने वाला राजनीतिक संगठन (Political organisation) सरकार (Government) कहलाता है जो कि राज्य का एक अभिन्न अंग है। **एक निश्चित प्रदेश के भीतर कानून के लिए संगठित जनता को राज्य कहते हैं।[1] इस राज्य का विज्ञान ही राजनीति शास्त्र है।**

गार्नर ने राजनीति शास्त्र की विषय-वस्तु के विस्तार की विवेचना करते हुए लिखा है—"**राजनीति शास्त्र का आरम्भ और अन्त राज्य के ही साथ होता है। सामान्यतया उसकी आधारभूत समस्याओं में तीन प्रकार की बातें सम्मिलित हैं—प्रथम, राज्य की प्रकृति तथा उत्पत्ति का अनुसन्धान; दूसरी, राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप, उनके इतिहास तथा विभिन्न रूपों की विवेचना; और तृतीय इन दोनों के आधार पर राजनीतिक विकास के नियमों का यथासम्भव अनुमान।**"[2] इस प्रकार गार्नर ने राज्य के ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक और तुलनात्मक अध्ययन पर बल देते हुए राजनीतिक संगठन या सरकार के अध्ययन की ओर संकेत नहीं किया। वस्तुतः गार्नर

---

1. The state is a people organised for law within a definite territory.—*Woodrow Wilson.*

2. Political Science begins and ends with the State. In organised way its fundamental problems include, first, an investigation of the origin and the nature of the State; second, an enquiry into the nature, history and forms of Political institution; and third, deduction therefrom, so far as possible, of the laws of Political growth and developments.—*Garner.*

केवलमात्र राज्य को ही राजनीतिशास्त्र की अध्ययन-वस्तु समझता है । उसी के मत का समर्थन करते हुए जर्मन राजनीति शास्त्री ब्लंशली के अनुसार, **"राजनीति-शास्त्र उस विद्या को कहते हैं, जिसका सम्बन्ध राज्य के साथ हो और जो यह समझाने का यत्न करती हो कि राज्य के आधारभूत तत्त्व क्या हैं, वह अपने को किन विविध रूपों में अभिव्यक्त करता है, और उसका विकास किस प्रकार हुआ ।"**

इसके विरुद्ध लीकाक ने राजनीति शास्त्र का उद्देश्य केवल राजकीय संगठन (Government) माना है । परन्तु राज्य की प्रकृति के समुचित अध्ययन के लिए राज्य और सरकार दोनों का ही अध्ययन आवश्यक है । राज्य और सरकार में साध्य और साधन का सम्बन्ध है । राज्य अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति और प्रतिपालन के लिए सरकार पर आश्रित है । बिना राज्य के सरकार की अवस्थिति असम्भव है । अतः यह आवश्यक है कि राजनीति शास्त्र में राज्य के साथ-साथ सरकार का भी अध्ययन किया जाय । **इसीलिए राजनीति शास्त्र को राज्य और सरकार का दर्शन और विज्ञान कहते हैं ।** प्रो० लास्की, गिलक्राइस्ट, गेटल तथा पोलक इत्यादि राजनीति-विशारदों ने राजनीति के विस्तृत स्वरूप का समर्थन किया है ।

सर फ्रेड्रिक पोलक (Sir Fredric Pollock) ने राजनीति शास्त्र की विषय-वस्तु के दो भाग इस प्रकार किये है—

(१) सैद्धान्तिक राज्य-विज्ञान (Theoretical Politics); और

(२) व्यावहारिक राज्य-विज्ञान (Applied Politics) ।

सैद्धान्तिक राजनीति के अन्तर्गत राज्य के उदय, विकास तथा उसके आदर्श और मूल तत्त्वों का सैद्धान्तिक विवेचन रहता है । सैद्धान्तिक राज्य-विज्ञान के अन्तर्गत (क) राज्य सिद्धान्त, (ख) शासन के सिद्धान्त, (ग) विधि-निर्माण के सिद्धान्त, और (घ) कृत्रिम व्यक्ति के रूप में राज्य की व्याख्या, ये सब तत्त्व आ जाते हैं ।

व्यावहारिक राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत सरकार का संगठन, शासन-व्यवस्था के निर्माण के सिद्धान्त, कानून और उनका निर्माण, कूटनीति, युद्ध-शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का वर्णन रहता है । वस्तुतः राजनीति शास्त्र के इस पक्ष के अन्तर्गत उन साधनों व उपायों का विवेचन होता है, जिनके माध्यम से राज्य अपनी सत्ता व शक्ति को अभिव्यक्त करता है । इस प्रकार पोलक के अनुसार राजनीति शास्त्र राज्य और सरकार दोनों का ही सैद्धान्तिक व क्रियात्मक विवेचन करता है ।

राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत राजनीतिक सत्ता और उसका संगठन, वैयक्तिक स्वतन्त्रता और उसका रक्षण, कानून की प्रकृति और उसका निर्माण, राजनीतिक संस्थाएँ और उन पर राजनीतिक विचारों का प्रभाव इत्यादि सभी का अध्ययन आवश्यक है । प्रो० गेटल के अनुसार **"यह विज्ञान राज्य की भूतकालीन स्वरूप की ऐतिहासिक गवेषणा, उसके वर्तमान स्वरूप की विश्लेषणात्मक व्याख्या तथा उसके आदर्श स्वरूप की राजनीतिक एवं नैतिक विवेचना है ।"** इस प्रकार राजनीति शास्त्र की विषय-वस्तु के मुख्य रूप में निम्न प्रकार हुए—

(१) **राज्य का ऐतिहासिक स्वरूप**—राजनीति शास्त्र के इस पक्ष के अन्तर्गत हमने यह देखना है कि राज्य और राजकीय संस्थाओं का विकास किस प्रकार हुआ। राज्य को वर्तमान स्थिति तक पहुँचने में किन-किन विशेष अवस्थाओं को पार करना पड़ा। किस प्रकार परिवार; और परिवार से कुल; और कुल से जन; और जनों से नगर-राज्यों और जनपदों; और जनपदों से वर्तमान राष्ट्रों और साम्राज्यों का विकास हुआ।

इसी प्रकार हमने यह भी देखना है कि राज्य सत्ता के विकास में किन तत्वों ने विशेष सहायता दी। किस प्रकार प्रारम्भिक परिवार और कबीलों में पिता या जन-नायक (सरदार) अपनी राज्य-सत्ता का प्रयोग करते थे। किस प्रकार जादू-टोना, वंश-परम्परा और धार्मिक सत्ता के सहयोग से प्रारम्भिक राजाओं ने अपनी राजकीय सत्ता को सुरक्षित और संगठित किया। यही नहीं ऐतिहासिक दृष्टि से व्यक्ति और राज्य, अधिकार और कर्तव्य इत्यादि विषयों का भी इसी पक्ष के अन्तर्गत सैद्धान्तिक विवेचन होगा।

(२) **राज्य के वर्तमान स्वरूप की विश्लेषणात्मक व्याख्या** उसके ऐतिहासिक विवेचन पर ही आधारित होगी। राज्य के वर्तमान स्वरूप के समुचित अध्ययन के लिए उसकी ऐतिहासिक गवेषणा अनिवार्य है। किस प्रकार विगत शताब्दियों में राज्य की सार्वभौम सत्ता (Sovereign power) का विकास हुआ और आज किस प्रकार हमारे समाज के अन्य समुदाय (Associations) राज्य की इस सत्ता के प्रति सिर उठा रहे हैं और परिणामस्वरूप किस प्रकार राज्य के कार्य उद्देश्य और प्रकृति सम्बन्धी नवीन सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हो रहा है, ये सब इसी के अन्तर्गत आ जाता है।

(३) **राज्य का आदर्श स्वरूप**—राजनीति शास्त्र राज्य क्या था और क्या है केवल इन्हीं प्रश्नों पर ही विचार नहीं करता। वह मानवीय संस्कृति द्वारा निर्मित नैतिक मूल्यों के आधार पर वर्तमान राज्य की प्रकृति, उसके, कार्य इत्यादि का मूल्य निर्धारित करता है, उसके दोष और गुण परखता है। साथ ही वह ऐसे नैतिक आदर्शों को प्रस्तुत करता है, जिनके आधार पर राज्य के भावी आदर्श स्वरूप की रचना हो सके।

राजनीतिक शास्त्र में ऐसे नैतिक-राजनीतिक विचारों का बहुत महत्त्व है। क्योंकि प्रारम्भ से ही राज्य के कार्य तथा उसकी प्रकृति का निर्माण ऐसी विचार-पद्धतियों से ही प्रभावित होते आये हैं। सब मुख्य-मुख्य राजनीतिक सिद्धान्त—आदर्श वाद, व्यक्तिवाद, समाजवाद, लोकतन्त्रवाद इत्यादि—किसी न किसी रूप में राज्य-सत्ता के संगठन, उपयोग और उद्देश्य को प्रभावित करते आये हैं।

अतः राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत राज्य के भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों पर ही विचार करना होता है। साथ ही उसमें उसकी प्रकृति और कर्तव्यों का ऐतिहासिक और नैतिक विवेचन भी रहता है।

३. राजनीति शास्त्र का विकास

ऊपर हमने राजनीति शास्त्र की विषय-वस्तु का विवेचन किया। इससे पूर्व

कि हम राजनीति के महत्त्व तथा उसकी पारिभाषिक शब्दावली का अध्ययन करें यह उचित होगा कि हम राजनीतिक विचारों के उद्भव और विकास का संक्षिप्त ब्यौरा दे दें।

मनुष्य ने राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण तो चाहे हाल ही में किया हो परन्तु राजनीतिक संस्थाओं के विषय में उसने उसी दिन से सोचना प्रारम्भ कर दिया होगा जिस दिन कि इनका प्रादुर्भाव हुआ होगा। यह ठीक है कि प्राचीन राजनीतिक विचार विशुद्ध रूप से राजनीतिक नहीं, क्योंकि प्राचीन काल में विभिन्न मानव-संस्कृतियाँ, धर्म, रीति-रिवाज तथा विधि के बीच कोई स्पष्ट भेद न कर पाई। तीनों चीजें एक दूसरे से इतनी सम्बन्धित हैं कि कोई एक लकीर तीनों के बीच नहीं खींची जा सकती। प्रत्येक प्राचीन संस्कृति के सामाजिक जीवन में धर्म की सत्ता सर्वोपरि थी। वस्तुत. प्राचीन सामाजिक जीवन धर्म द्वारा इस प्रकार से आच्छादित था कि जीवन के अन्य पक्ष प्रकाश में आ ही नहीं सके।

पूर्व के लोगों ने राज्य और उससे सम्बन्धित समस्याओं पर पाश्चात्यों से बहुत पहले ही विचार प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु उनकी राजनीतिक विचारधारा का विकास एक विशुद्ध और पूर्णतः विकसित राजनीति विज्ञान के रूप में न हो सका। पौर्वात्य राजनीति विचारों का जन्म और विकास मुख्य रूप से हिन्दुओं, यहूदियों और चीनियों में हुआ है। मिसर, बेबीलोनिया, असीरिया तथा फारस में राजनीतिक विचार-धारा का अधिक विकास न हो सका। परन्तु चीन और भारत में भी राजनीतिक विचारधाराएँ धर्मशास्त्र, अन्धविश्वास और पुराण (Mythology) से स्वतन्त्र न हो सकीं। धार्मिक नेता ही राजनीतिक नेता थे या राजनीतिक नेताओं के विधाता थे। उन्होंने राजनीतिक और धार्मिक निरंकुशता का परिपोषण किया और व्यक्ति के विरुद्ध समाज को सर्वशक्तिसम्पन्न बना उसे ही महत्त्व दिया।

भारत में नगर-राज्य और गणराज्यों का विकास ईसा से २००० वर्ष से भी पहले हो चुका था। अतः भारतीय विद्वानों ने यूनानियों से बहुत पहले ही गणतन्त्र, सरकार के संगठन तथा शासक और शासित के अधिकार और कर्त्तव्यों का विवेचन किया था। चाणक्य, शुक्र और मनु इत्यादि ने भी राज्य-विधि और राज्य-शासन के संगठन का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया। परन्तु उनके विचार राज्य-शासन की कला (State craft) का ही विवेचन प्रस्तुत करते हैं। किसी स्वतन्त्र राजनीतिक विचारधारा का नहीं।

वैज्ञानिक रूप से राजनीतिक विचारधारा का प्रारम्भ और विकास पश्चिम में प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों में ही हुआ। यूनानी राज्य-विज्ञान में भी मुख्यतः ऐसे दो विचारक हैं—प्लेटो और अरस्तू—जो यूरोप के राजनीति शास्त्र के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। शायद ही कोई ऐसा पाश्चात्य विचारक हो जो इन महान प्रतिभासम्पन्न दार्शनिकों से अलग-अलग या सामूहिक रूप से प्रभावित न हुआ हो। प्लेटो के विचारों में काव्य और कल्पना दोनों की प्रधानता है, परन्तु अरस्तू को ही मुख्य रूप से राजनीति शास्त्र को धर्मशास्त्र, अन्धविश्वास और पुराणों से पृथक कर एक स्वतन्त्र विज्ञान के

रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय प्राप्त है। यह ठीक है कि अरस्तू के पश्चात् क्रिश्चियन चर्च और विचारधारा का जोर बढ़ गया और एक बार फिर राजनीति शास्त्र धर्मशास्त्र का एक अंश बनकर ही रह गया। परन्तु इटली के सुप्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ मैकियावली ने अन्तिम रूप से राजनीति और धर्मनीति का पृथक्करण कर दिया। आज की राजनीतिक विचारधाराएँ नीति (Ethics) से प्रभावित अवश्य हैं परन्तु वे अपने आप में स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार राजनीति शास्त्र का विशुद्ध विज्ञान के रूप में विकास सर्वप्रथम पश्चिम में ही हुआ।

४. राजनीति दर्शन का महत्त्व

आजकल कुछ लोग राजनीति को केवल तार्किक और सैद्धान्तिक विवेचन कह उसके अध्ययन को अनावश्यक और व्यर्थ बतलाते हैं। उनका कथन है कि राजनीति शास्त्र में बहुत सी ऐसी कोरी तार्किक और काल्पनिक बातों का वर्णन रहता है, जिसका हमारे वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। सैद्धान्तिक राजनीति और क्रियात्मक राजनीति में बहुत बड़ा अन्तर वर्तमान रहता है। राजनीतिक सिद्धान्त क्रियात्मक राजनीति के विवादग्रस्त प्रश्नों का सुलझाव प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। अमेरिकन विचारक एमर्सन ने भी कहा था कि "इस शास्त्र में कुछ भी नवीन, सत्य और सम्पूर्ण नहीं है।"

राजनीतिक विचारधारा पर किये गये यह सब आरोप दार्शनिक पद्धति पर ही आरोप जान पड़ते हैं। आज के वस्तुवादी, यान्त्रिक और व्यावसायिक समाज में सैद्धान्तिक अध्ययन का ऐसे परिहास उड़ाना कोई बड़ी बात नहीं। किन्तु विचार-दर्शन और सिद्धान्त हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन की गतिविधि का रूप निर्धारित करते रहते हैं। विचार-दर्शन का हमारे जीवन में विशेष महत्त्व है। राज्य का आज का स्वरूप, उसके कर्तव्य और विधि-विधान हमारे राजनीतिक विचारों का ही परिणाम हैं। वर्तमान समय की लोकतन्त्र और समाजवाद की राज्य-व्यवस्थाएँ विगत शताब्दियों के एतद्विषयकचिन्तन का ही फल है। आज के युग में हम राज्य को केवल नकारात्मक कार्य ही नहीं सौंपते या उसे केवल शासन-व्यवस्था कायम रखने और दण्ड देने की मशीन मात्र ही नहीं समझते अपितु उसे सर्वसाधारण के कल्याण का एक मुख्य साधन समझते हैं। राज्य का वर्तमान क्षेत्र केवल राजनीति ही नहीं अपितु आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक भी है। वस्तुतः आज का राज्य माता-पिता, नर्स, डाक्टर, शिक्षक, उपदेशक आदि सभी के कार्य एक साथ करता है। राज्य का यह रूप हमारे राजनीतिक चिन्तन का ही फल है।

इस प्रकार राजनीतिदर्शन राज्य की गतिविधि निर्धारित करता है। आज के लोकतन्त्र के युग में तो राजनीतिक चिन्तन का महत्त्व और भी बढ़ गया है। लोकतन्त्र की शासन-प्रणाली के अन्तर्गत राज्य-शक्ति जनता के हाथ में रहती है। अतः यदि जनसाधारण में राजनीतिक चेतना का अभाव हो या उसे राजनीतिकदर्शन का ज्ञान ही न हो तो वह राज्य के कर्त्तव्य और उसकी प्रकृति का स्वरूप स्वयं

निर्धारित नहीं कर सकेंगे। राज्य-शक्ति उनके हाथ से निकल ऐसे लोगों के हाथ में चली जायगी जो कि सर्वसाधारण के हित का ध्यान ही नहीं रखेंगे।

राजनीतिदर्शन हमारे सम्मुख ऐसे नैतिक मूल्यों और मान्यताओं को प्रस्तुत करता है कि जिनके आधार पर हम राज्य के कार्य और कर्त्तव्य का निर्णय कर उसकी सफलता और विफलता को जाँच सकते हैं। राज्य-सत्ता की अवस्थिति और संचालन के कुछ नैतिक और दार्शनिक आधार होने चाहिएँ। ये आधार राज्य-दर्शन प्रस्तुत करता है, इन आधारों के बिना राज्य केवल दण्ड देने और दबाने की मशीन मात्र बनकर रह जायगा।

राजनीति शास्त्र का अध्ययन राजनीतिक शब्दावली के वैज्ञानिक प्रयोग और उसके विज्ञानसम्मत अर्थों को स्पष्ट करता है। इस प्रकार हमारे राजनीतिक चिन्तन में और व्यावहारिक राजनीतिक जीवन में सुनिश्चितता और सुस्पष्टता लाता है।

यह कहना सर्वथा गलत है कि सैद्धान्तिक राजनीति और क्रियात्मक राजनीति में बहुत अन्तर होता है। इसमें सन्देह नहीं कि सिद्धान्त और क्रिया में अन्तर अवश्य रहता है परन्तु हम यह भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि सैद्धान्तिक राजनीति क्रियात्मक राजनीति का पर्याप्त सीमा तक स्वरूप निर्धारित करती है। वस्तुतः प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था का एक व्यापक सैद्धान्तिक आधार होता है जिसके आधार पर उस व्यवस्था को युक्तियुक्त और न्यायसंगत कहा जा सकता है।

इस प्रकार राज्यदर्शन का हमारे व्यावहारिक राजनीतिक जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

५. राजनीति शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली

राजनीति शास्त्र का अध्ययन एक विज्ञान के रूप में हिन्दी में हाल ही में प्रारम्भ हुआ है। अतः हमारे यहाँ अभी ऐसी पारिभाषिक शब्दावली का अभाव है जो कि सर्वसम्मत और सर्वमान्य हो। हिन्दी में ही नहीं अंग्रेजी में भी सर्वसम्मत और सर्वमान्य राजनीतिक शब्दावली का अभाव है। राज्य, शासन, राजनीति और राष्ट्र इत्यादि बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। अतः उनके वैज्ञानिक अर्थ के अभाव में भ्रम उत्पन्न हो जाने की आशंका रहती है। प्राकृतिक विज्ञानों में अधिकतर पारिभाषिक शब्द सर्वमान्य वैज्ञानिक अर्थों के द्योतक होते हैं। राजनीति शास्त्र ऐतिहासिक दृष्टि से चाहे पुराना हो परन्तु समुचित विकास की दृष्टि से वह आधुनिकतम विज्ञानों में एक है। यही कारण है कि इसमें वैज्ञानिक तथा सर्वमान्य पारिभाषिक शब्दावली का अभी पूर्ण विकास नहीं हो पाया।

किसी भी विषय के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह अनिवार्य है कि हम उसमें प्रयुक्त आधारभूत शब्दों के वैज्ञानिक अर्थ से परिचित हों।

(१) राजनीति तथा राजनीति शास्त्र—सर्वप्रथम हमें राज्य विज्ञान के लिए प्रयुक्त प्रविभिन्न शब्दों के वैज्ञानिक अर्थ से अवगत होना चाहिए। प्राचीन काल से ही राज्य विज्ञान राजनीति के नाम से अभिहित किया जाता रहा है। राजनीति

अंग्रेजी के Politics शब्द का रूपान्तर है। Politics यूनानी भाषा के Polis से बना है, जिसका अर्थ है 'नगर अथवा राज्य'। प्राचीन यूनान में प्रत्येक नगर एक स्वतन्त्र राज्य होता था। **यूनानियों के दृष्टिकोण से राजनीति** (Politics) **में वह सब कुछ सम्मिलित है, जिसका सम्बन्ध राज्य के जीवन से हो।** नगर-राज्यों के राजनीतिक जीवन पर लिखी गई अपनी पुस्तक का नाम अरस्तू ने इसीलिए (Politics) राजनीति रखा था। इस विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त राजनीति शब्द राजनीति विज्ञान का द्योतक हो सकता है। गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि यदि राजनीति शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया जाय जिसमें यूनानी लोग करते थे तो उसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

जेलिन्क (Jellinck), जेनेट (Janet), एलेक्जेण्डर बेन (Alexander Bain), सर फ्रेड्रिक पोलक (Sir Fredric Pollock) इत्यादि राजनीति विज्ञान की अपेक्षा राजनीति शब्द का ही प्रयोग उचित समझते हैं। पोलक ने राजनीति शब्द का विस्तृत अर्थ में प्रयोग करते हुए उसे निम्नलिखित दो भागों में बाँटा है।

(१) सैद्धान्तिक राजनीति (Theoretical Politics)।

(२) व्यवहारिक राजनीति (Applied Politics)।

(१) सैद्धान्तिक राजनीति के अन्तर्गत राज्य के निम्न पक्षों का अध्ययन रहता है—

(क) राज्य के सिद्धान्त (Theory of the State)।

(ख) शासन के सिद्धान्त (Theory of Government)।

(ग) विधि-निर्माण के सिद्धान्त (Theory of Legislation)।

(घ) कृत्रिम राज्य-व्यक्तित्व सिद्धान्त (Theory of the State as an artificial person)।

(२) व्यावहारिक राजनीति के अन्तर्गत निम्न पक्ष हैं—

(क) सरकार का वास्तविक रूप (The form of Government)।

(ख) शासन का संगठन और कार्य-पद्धति आदि (Organisation and the working of Government administration)।

(ग) कानून और उसका निर्माण (Laws and Legislation)।

(घ) कूटनीति, युद्धशान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का वर्णन (Diplomacy, Peace, War and International dealings)।

इस प्रकार सैद्धान्तिक और व्यावहारिक राजनीति के अन्तर्गत राज्य का सम्पूर्ण दार्शनिक और क्रियात्मक जीवन गृहीत किया जा सकता है। राजनीति का ऐसा विभाजन सुविधाजनक और उपयोगी है। परन्तु आज राजनीति शब्द का प्रयोग अपने प्राचीन अर्थ से विभिन्न एक नवीन अर्थ में होने लगा है। ब्लंशली ने राजनीति और राजनीति शास्त्र शब्द का विभेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि "**राजनीति** (Politics) **विज्ञान की अपेक्षा कला अधिक है, उसका सम्बन्ध राज्य के व्यावहारिक कार्य तथा संचालन से है। परन्तु राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध राज्य के आधार, उसकी सारभूत**

प्रकृति, उसके रूप एवं विकास से है।"[1]

अतः आज राजनीति शब्द के प्रयोग से हमारा मतलब किसी भी देश या राजनीति दल की दिन-प्रतिदिन की क्रियात्मक राजनीति से होता है। प्रत्येक प्रजातन्त्र प्रणाली के अन्तर्गत प्रतिनिधियों का चुनाव होता है, राजनीतिक दलों का संगठन किया जाता है, सरकार के पदाधिकारियों का चुनाव होता है। ये सब कार्य देश की दिन-प्रतिदिन की राजनीति के अन्तर्गत गृहीत किये जाते हैं। एक देश की राजनीति दूसरे देश की राजनीति से भिन्न होती है। एक ही देश में पाये जाने वाले राजनीतिक दलों की भी अपनी-अपनी राजनीति होती है।

फिर प्रत्येक देश की राजनीतिक समस्याएँ विशुद्ध राजनीतिक नहीं होतीं। वह अधिकतर राजनीतिक और आर्थिक पक्षों का मिश्रण होती हैं।

राजनीति शास्त्र तो राज्य सम्बन्धी वस्तुओं और कार्यों का एक वैज्ञानिक अध्ययन है। वह तो राज्य के सैद्धान्तिक और क्रियात्मक पक्ष की एक ऐसी विवेचना है कि जिसका नैतिक और ऐतिहासिक आधार है। अतः राजनीति शास्त्र का आचार्य राजनीति शास्त्री कहलाता है राजनीतिज्ञ नहीं। राज्य की विधान-सभाओं के सदस्य तथा राज्य के अन्य पदाधिकारी राजनीतिज्ञ तो हैं परन्तु राजनीति शास्त्री नहीं। पं० जवाहरलाल मुख्य रूप से राजनीतिज्ञ हैं परन्तु बार्कर या प्रो० लास्की मुख्य रूप से राजनीति शास्त्री।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आज राजनीति शब्द राज्यनीति शास्त्र के लिए पर्यायवाची नहीं हो सकता, क्योंकि उसका प्राचीन, व्यापक और विज्ञानसम्मत अर्थ में प्रयोग नहीं होता।

(२) राजनीति शास्त्र तथा राजनीतिदर्शन (Political Philosophy)—राजनीतिदर्शन एक ऐसा शब्द है जो कि राजनीति शास्त्र के स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है। अनेक अंग्रेज और जर्मन विद्वानों का मत है कि राजनीति शास्त्र को विज्ञान न कह दर्शन (Philosophy) कहना चाहिए, क्योंकि राजनीति शास्त्र का मुख्य आधार तर्क और कल्पना है वैज्ञानिक अध्ययन नहीं। और दर्शनशास्त्र उस ज्ञान का नाम है जिसका आधार कल्पना तथा तर्क है। पर्यवेक्षण (Observation) और परीक्षण (Experimentation) नहीं। जीवन और जगत के विषय में अनेक तार्किक और कल्पनात्मक व्याख्याएँ दार्शनिकों ने प्रस्तुत की हैं। इसी प्रकार राज्य के जन्म, विकास, उसके कार्य, चरित्र, प्रकृति आदि के विषय में भी विद्वानों ने तार्किक और काल्पनिक अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। प्राचीन ग्रीस, रोम और भारत में लिखे गये राजनीति सम्बन्धी ग्रन्थ दार्शनिक तथ्यों से ही पूर्ण हैं उनमें वैज्ञानिक अध्ययन का आधिक्य नहीं। आधुनिक युग में भी राज्य की प्रकृति तथा स्वरूप और कार्य विषयक

---

1. Politics is more an art than a science which has to deal with the practical conduct or guidance of the State, whereas Political science is concerned with the foundations of the State, its essential nature, its forms or manifestations and its development."—*Bluntschli.*

बहुत सा चिन्तन दार्शनिक आधार पर ही आधारित होता है। दर्शनशास्त्र विश्व का और जीवन का विवेचन करता है, हमारा राजनीतिक जीवन उसी का एक भाग है। अतः वह इस विशाल ज्ञान समूह का एक उपविभाग मात्र है।

राजनीति शास्त्र का एक मुख्य भाग राजनीतिक संस्थाओं के विकास तथा राज-सत्ता के आधारों का अनुसन्धान करता है, वह राज्य के आधारभूत तत्त्वों का विश्लेषण एवं वर्गीकरण कर, राज्य के जन्म, विकास तथा कर्तव्य इत्यादि पर कुछ निश्चित मत प्रकट करता है, और इस प्रकार राजनीति शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष का आधार प्रस्तुत करता है। इसी भाग को दर्शनशास्त्र का प्रमुख भाग माना जाता है।

परन्तु राजनीति शास्त्र और राजनीतिदर्शन में भेद का स्पष्ट निर्देश कर सकना अत्यन्त कठिन है। दूसरा राजनीतिशास्त्र का जहाँ दार्शनिक आधार है वहाँ वैज्ञानिक भी है। वैज्ञानिक साधन द्वारा हम कुछ निश्चित घटनाओं के अध्ययन से कुछ निश्चित परिणाम (Conclusions) निकालते हैं और उनके आधार पर कुछ ऐसे नियमों के निर्माण का प्रयत्न करते हैं जो तर्कसम्मत हों, वैज्ञानिक हों और सब दशाओं में सत्य हों। अनेक राजनीति शास्त्रियों ने इस पद्धति का अनुसरण करते हुए राजनीतिक घटनाओं का और विविध राज्यों के विधानों का अध्ययन कर कुछ निश्चित नियमों की स्थापना का प्रयत्न किया है। प्राचीन ग्रीस के सुप्रसिद्ध राजनीतिक विचारक अरस्तू ने अपने समय के विभिन्न देशों के संविधानों का अध्ययन किया और कुछ ऐसे सिद्धान्तों की स्थापना का प्रयत्न किया जो कि सर्व काल और सर्व देश में सत्य हो सकें। आधुनिक युग में भी लार्ड ब्राइस इत्यादि ने विभिन्न देशों का भ्रमण कर वहाँ राजनीतिक संस्थाओं के कार्य को देख उनके संविधानों का अध्ययन कर कुछ ऐसे नियम स्थापित करने का प्रयत्न किया जो कि वैज्ञानिक सत्य सिद्ध हो सकें। आज तो इस पद्धति का बहुत व्यापके रूप में प्रयोग किया जा रहा है।

दूसरा राजनीति शास्त्र का अध्ययन क्षेत्र राजनीतिदर्शन से कहीं अधिक व्यापक और विस्तृत है, साथ ही इसका अर्थ भी अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित है। राज्यदर्शन मुख्य रूप से राज्य, उसके विकास, प्रकृति तथा कर्त्तव्य और नागरिकता तथा नागरिकता के कर्त्तव्य तथा अधिकार और राजनीतिक आदर्शों इत्यादि का अध्ययन करता है। वहाँ राजनीति शास्त्र राज्य के इन पक्षों के अतिरिक्त राज्य और सरकार का संगठन (Organisation) उनका वर्गीकरण, उनका कार्यक्षेत्र, उनका ऐतिहासिक और तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत करता है। इस प्रकार राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत राज्यदर्शन और राज्य विज्ञान दोनों ही आ जाते हैं।

(३) अनेक राजनीति शास्त्र (The Political Sciences)—कुछ फ्रेंच राजनीति शास्त्रियों का कथन है कि राजनीति शास्त्र कोई एक विज्ञान नहीं अपितु यह तो विज्ञानों का एक समूह है। राजनीति विज्ञान को केवल एक विज्ञान कहना वास्तविकता से अनभिज्ञ होने का ही परिणाम है। वर्तमान समय में हमारा राजनीतिक जीवन इतना जटिल और व्यापक हो गया है कि इसके समुचित ज्ञान के लिए केवल एक ही विज्ञान का या एक ही अध्ययन-पद्धति का आश्रय नहीं ग्रहण किया जा

सकता। इस वैविध्ययुक्त राजनीतिक जीवन के विविध पक्षों का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों से ही हो सकता है। राजनीति शास्त्र राज्य के इन विविध पक्षों का एक साथ विशेषाध्ययन (Special study) प्रस्तुत नहीं कर सकता। वह तो अनिवार्यतः राज्य के एक ही पक्ष से सम्बन्धित है। इस दृष्टिकोण के अनुसार राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन और विधान के अध्ययन करने वाला एक पृथक विज्ञान है, इसी प्रकार सार्वजनिक राजस्व (Public finance), सार्वजनिक कानून (Jurisprudence), कूटनीति (Diplomacy) इत्यादि सभी स्वतन्त्र विज्ञान हैं और राजनीति विज्ञान वर्ग के अन्तर्गत आयेंगे। इन सबका अध्ययन क्षेत्र राज्य के विविध पक्षों से सम्बन्धित है, इस कारण उन्हें राजनीति विज्ञान वर्ग के अन्तर्गत रखना भी सर्वथा असंगत होगा।

डा० गार्नर इत्यादि ने विभिन्न विज्ञानों में उचित भेद की अवस्थिति को स्वीकार करते हुए भी राज्य विज्ञान का प्रयोग दोनों वचनों में करना उपयुक्त समझा है। उनका कथन है कि **"जब केवल राज्य की विवेचना करनी हो तो राज्य विज्ञान शब्द का प्रयोग एकवचन में किया जाय और जब उनका प्रयोग राज्य के जीवन के विशिष्ट पहलुओं से सम्बन्ध रखने वाले सभी विज्ञान जैसे समाज विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि का वर्णन करने के लिए हो तब उसका प्रयोग बहुवचन में हो।"**[1]

परन्तु राजनीति शास्त्र का यह स्वरूप 'अतिव्याप्ति' दोष से दूषित हो जायगा। इस प्रकार राजनीति शास्त्र राज्य का एक विशेषाध्ययन (Special study) न रह राजकीय जीवन के अनेक पक्षों का अध्ययन बन जायगा। राज्य के अनेक पक्ष हैं जैसे हमारे समाज के हैं, यह सभी पक्ष राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत नही आ सकते। हमारे सामाजिक जीवन के विविध पहलू केवल मात्र समाज विज्ञान की विषय-वस्तु नहीं हो सकते, वह विविध पहलू अनेक स्वतन्त्र सामाजिक विज्ञानों द्वारा विशेषाध्ययन (Special study) के रूप में प्रस्तुत किये जाते है। उदाहरणार्थ अर्थशास्त्र हमारे सामाजिक जीवन के आर्थिक पक्ष का अध्ययन करता है तो नीतिशास्त्र नैतिक पक्ष का और राजनीति शास्त्र राजनीतिक पक्ष का। राज्य के सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक पक्षों का अध्ययन अन्य सामाजिक विज्ञानों द्वारा अवश्य किया जाता है। इसे हम अस्वीकार नहीं करते, उन विज्ञानों से राजनीति विज्ञान बहुत कुछ सहायता भी लेता है, परन्तु राज्य की उत्पत्ति, विकास, प्रकृति, उद्देश्य संगठन स्वरूप

1. "Without attempting to pass judgement upon the respective merits of the two views, it is safe to say that either form may be justified by distinguishing between political science in its strict sense, that is, the science which deals exclusively with the phenomena of the State, and political science in the wider sense as embracing all the sciences which deal with particular aspect of the State life, such as sociology, history, economics and others. When used in the former sense, the singular form should be employed, when in the latter sense, the plural is justifiable."—*Garner.*

इत्यादि का विशेषाध्ययन राजनीति शास्त्र ही प्रस्तुत करता है । सार्वजनिक राजस्व इत्यादि स्वतन्त्र सामाजिक विज्ञान के रूप में भी ग्रहण किये जा सकते हैं। राजनीति शास्त्र का अध्ययन क्षेत्र केवल राज्य और उसके संगठन तक ही सीमित है।

६. राजनीति शास्त्र—परिभाषा

इस प्रकार उपरिलिखित विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य दर्शन और विज्ञान का द्योतक एक मात्र शब्द राजनीति शास्त्र (Political Science) ही है। इससे राज्य सम्बन्धी हमारे समस्त ज्ञान का बोध होता है । समूचा राज्य सिद्धान्त इसके अन्तर्गत आ जाता है। सैद्धान्तिक राजनीति और क्रियात्मक राजनीति दोनों ही इसमें सम्मिलित हैं । फ्रेंच लेखक पॉल जेनेट ने राजनीति शास्त्र की परिभाषा इन शब्दों में की है कि **"राजनीतिशास्त्र समाज विज्ञान का वह अंग है जो राज्य के मूल आधार और शासन सिद्धान्तों का विवेचन करता है।"**[1]

जर्मन लेखक ब्लंशली के अनुसार **"राजनीति शास्त्र उस विद्या को कहते हैं जिसका सम्बन्ध राज्य के साथ हो, और जो यह समझाने का यत्न करती हो कि राज्य के आधारभूत तत्त्व क्या हैं, उसका आवश्यक स्वरूप क्या है, अपने को किन विविध रूपों में अभिव्यक्त करता है, और उसका विकास किस प्रकार होता है।"**

अंग्रेज राजनीति शास्त्री सीली का कथन है कि **"राजनीति शास्त्र शासन के सिद्धान्तों और कामों का उसी प्रकार विवेचन करता है, जैसे कि सम्पत्तिशास्त्र सम्पत्ति का, जीव विज्ञान जीवन का, अंकगणित अंकों का, और ज्यामिति स्थान व दूरी का।"**

७. क्या राजनीति शास्त्र विज्ञान है ?

यह प्रश्न पर्याप्त विवादग्रस्त है। अधिकांश राजनीतिक विचारक राजनीति शास्त्र को विज्ञान मानते हैं । **प्राचीन ग्रीक विचारक अरस्तू ने राजनीति को न केवल विज्ञान ही अपितु सर्वप्रमुख विज्ञान** (Master science) **माना है।** क्योंकि उसके विचार में राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव-हितकारी हमारे समाज की सर्वप्रमुख संस्था राज्य से है । अरस्तू ने अपने राजनीति शास्त्र विषयक अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण भी किया है। बाद के विचारकों में बोदीन (Bodin), हॉब्स (Hobbes) मॉन्टेस्क्यू (Montesquieu), इत्यादि ने भी अरस्तू के विचारकों को ही मान्यता प्रदान की। वर्तमान काल में लेविस, सिजविक, ब्राइस, जेलिन्क, ब्लंशली इत्यादि भी राजनीतिक अध्ययन को वैज्ञानिक आधार पर आधारित कर राजनीति शास्त्र को एक पूर्ण विज्ञान बनाने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। उन्होंने भी इस विषय में प्राचीन विचारकों के मत का अनुसरण किया।

---

1. "Political Science is that part of Social Science which treats of the foundations of the State and the principles of government."—*Paul Janet.*

परन्तु वर्तमान युग के कुछ राजनीतिक विचारकों के मतानुसार राजनीति शास्त्र को विज्ञान की मान्यता नहीं दी जा सकती। मेटलैण्ड जैसे राजनीति शास्त्री ने भी यहाँ तक लिख डाला है कि **"जब मैं किसी एक ऐसे प्रश्न-पत्र को देखता हूँ, जिसके ऊपर 'राजनीति विज्ञान' लिखा होता है तो मुझे उन प्रश्नों पर कोई आपत्ति नहीं होती परन्तु राजनीति के साथ विज्ञान शब्द देखकर मुझे अत्यन्त खेद होता है।"**[1]

फ्रेंच समाजशास्त्री अगस्त कॉमते ने राजनीति शास्त्र को विज्ञान स्वीकार न करने के तीन मुख्य कारणों का उल्लेख किया है—

(१) राजनीति की पद्धतियों, इसके सिद्धान्तों तथा निर्णयों के विषय में विद्वानों के विचार में भारी मतभेद है।

(२) ज्योतिष इत्यादि अन्य भौतिक और प्राकृतिक विज्ञानों में भविष्यवाणी सम्भव है, परन्तु राजनीति में नहीं।

(३) राजनीतिक अध्ययन में अविच्छिन्नता तथा क्रमागत विकास का अभाव है।

कॉमते (Comte) के इन आक्षेपों में सत्य का सर्वथा अभाव हो ऐसी बात नहीं। इन आक्षेपों में पर्याप्त सत्य है। इसमें सन्देह नहीं कि राजनीति शास्त्र में ऐसे सिद्धान्तों का अभाव है, जिन पर कि सभी राजनीति शास्त्री एकमत हों। यही नहीं राजनीति शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों पर भी मतभेद है। राज्य की कौनसी शासन-प्रणाली सर्वश्रेष्ठ और जन हितकारी है या विधानपालिका (Legislature) के संगठन के लिए एक सदन (Unicameralism) या दो सदन (Bicameral system) की व्यवस्था होनी चाहिए या नहीं इत्यादि प्रश्नों पर राजनीति विशारदों में गहरा मतभेद है।

राजनीति शास्त्र में निश्चयात्मकता (Exactness) का अभाव है। ऐसा कोई नियम या सिद्धान्त नहीं जो सर्वकाल और सर्वदेश में सत्य हो। गणित में दो और दो चार होंगे चाहे आप यूरोप में हों या अमेरिका में या एशिया में—यानी संसार के किसी भाग में हों इन नियमों में अन्तर सम्भव नहीं। भौतिक विज्ञान में गुरुत्वाकर्षण आदि सम्बन्धी सिद्धान्त भी ऐसे ही हैं।

यह भी ठीक है कि राजनीति शास्त्र में भविष्यवाणी सम्भव नहीं। हम यह नहीं कह सकते कि राजनीति के क्षेत्र में अमुक बात का अमुक परिणाम होगा। न ही राजनीति शास्त्र में प्रयोग किये जा सकते हैं। भौतिक विज्ञान में बहुत से परिणाम प्रयोगशालाओं (Laboratories) में प्रयोग (Experiment) कर निकाले जा सकते हैं, परन्तु राजीनीति शास्त्र में ऐसा सम्भव नहीं।

निश्चय ही राजनीति शास्त्र भौतिक विज्ञान या रसायन विज्ञान (Chemistry) की भाँति निश्चयात्मक विज्ञान नहीं। हमारे अध्ययन में निश्चयात्मकता

---

1. When I see a good set of examination questions headed by the word "Political Science" I regret not the questions, but the title."
—*Maitland.*

की कमी और एक मत का अभाव इसलिए नहीं कि हमारे पास वैज्ञानिक साधनों का अभाव है या प्रयोगशालाएँ नहीं। वस्तुतः राजनीति शास्त्र में हम जिस विषय-वस्तु का अध्ययन करते हैं, वह अत्यन्त जटिल (Complicated) है, उसमें स्थिरता नहीं। हमारा क्षेत्र मानवीय सम्बन्ध है। और मानवीय सम्बन्ध हमारी उन मानसिक वृत्तियों का परिणाम है जो क्षण-क्षण में अपना रूप परिवर्तित करती रहती हैं, उनकी गणना (Tabulation) या उनका वर्गीकरण और उनकी यथार्थ पकड़ हमारे बस के बाहर की बात है, ऐसी अस्थिर विषय-वस्तु का अध्ययन और उस अध्ययन पर आधारित नियम भला स्थिर कैसे हो सकते हैं, वह सर्वकाल और सर्वदेश में सत्य कैसे हो सकते हैं ? हमारी मानसिक प्रवृत्तियाँ अनेक प्रकार के बाह्य आवेष्टन (Environment) से प्रभावित और विकसित होती रहती है। अतः प्रत्येक देश की भौगोलिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियों को जन्म देंगी और उन्हीं पर विविध राजनीतिक और सामाजिक विधान तैयार होंगें। उनमें एकरूपता का अभाव साधारण बात है।

यही कारण है कि हमारे यहाँ प्रयोग सम्भव नहीं, वैसे प्रयोग जैसे कि वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में होते रहते हैं। सारे विश्व में एकरूप (Uniform) परिस्थितियों का निर्माण सम्भव नहीं जब कि प्रयोगशाला में यह सम्भव है। एकरूप परिस्थितियों के अभाव में किये गये प्रयोगों द्वारा प्राप्त परिणाम सर्वकालिक और सर्वदेशीय सत्य नहीं हो सकते।

सामाजिक विज्ञान में हम जीवित प्राणियों का अध्ययन करते हैं निर्जीव व जड़ पदार्थों का नहीं। मनुष्य सर्व प्रकार से प्रबुद्ध, जीवित, चेतनासम्पन्न और इच्छा-शक्तियुक्त प्राणी है। अत. उस द्वारा रचित सामाजिक विधि-विधान का अध्ययन सरल नहीं हो सकता। जड़ पदार्थों के गुण, परिमाण इत्यादि का बड़ी आसानी से अध्ययन किया जा सकता है।

अतः राजनीति विज्ञान अपनी विषय-वस्तु की अस्थिरता के कारण स्वभावतः ही अस्थिर है।

राजनीति शास्त्र एक विज्ञान है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। क्योंकि विज्ञान से हमारा प्रयोजन, जैसा कि **डा० गार्नर ने कहा है कि, किसी विषय के सम्बन्ध में उस एकीकृत ज्ञान भण्डार से है, जिसकी प्राप्ति विधिवत पर्यवेक्षण, अनुभव और अध्ययन द्वारा हुई हो और जिनके तथ्यों का परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित करके क्रमबद्ध वर्गीकरण किया गया हो।** इस प्रकार किसी भी विषय का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है, क्योंकि विज्ञान का मुख्य आधार अध्ययन की पद्धति है। और अध्ययन की वैज्ञानिक विधि किसी एक प्रकार के वैज्ञानिक वर्ग की बपौती नहीं हो सकती। उसे समाज विज्ञान और प्राकृत विज्ञान सभी में प्रयोग किया जा सकता है। राजनीति में राज्य तथा सरकार से सम्बन्धित क्रियाओं और तथ्यों को वैज्ञानिक अध्ययन का प्रयत्न किया जाता है, राजनीतिक तथ्यों का वैज्ञानिक पर्यवेक्षण (Observation) कर, उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कर फिर उनका

वर्गीकरण भी किया जाता है।

हमारे राजनीतिक जीवन में बहुत सी ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं जिनका सूक्ष्म दृष्टि से पर्यवेक्षण किया जा सकता है और उस द्वारा बाद में राजनीतिक सिद्धान्तों का निश्चित रूप भी प्रतिपादित किया जा सकता है। पर्यवेक्षण द्वारा ही अरस्तू ने अपने सिद्धान्त स्थापित किये जिनकी सत्यता में आज भी कोई अन्तर नहीं पड़ा। इस प्रकार लार्ड ब्राइस ने आधुनिक काल की प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का पर्यवेक्षण किया और प्रजातन्त्र की सफलता के लिए बहुत से ऐसे सुझाव दिये जो सर्वत्र लागू हो सकते हैं।

यद्यपि हमारे यहाँ प्रयोगशालाओं में परीक्षण नहीं होते तथापि हमारे राजनीतिक जीवन में परीक्षणों का अभाव नहीं। अनेक विधि-विधान नित्य राज्य-विधान-सभाएँ बनाती रहती हैं। वास्तविक जीवन में प्रयुक्त किये जाने पर वह पर्याप्त त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। आवश्यकतानुसार फिर उनमें परिवर्तन किया जा सकता है। सन् १९१९ में भारत में विभिन्न प्रान्तों में द्वैध शासन-प्रणाली (Dyarchy) लागू की गई, बाद में अनुभव से विदित हुआ कि ऐसी शासन-व्यवस्था त्रुटिपूर्ण है। फलतः वह परिवर्तित कर दी गई। हमारा वर्तमान संविधान अनेक देशों द्वारा किये गये एतद्विषयक प्रयोगों पर ही आधारित है। इसी प्रकार व्यक्तिवाद, समाजवाद और फैसिज्म इत्यादि विचारधाराओं का राजनीतिक जीवन में प्रयोग होता रहा और हो रहा है इस प्रयोग से जो परिणाम निकल रहे हैं वह स्पष्ट हो रहे है। वस्तुतः यह सर्वथा सत्य है कि इतिहास राजनीति की विशाल प्रयोगशाला है। इन ऐतिहासिक प्रयोगों के आधार पर ही हम राजनीतिक सत्यों से अवगत हो सकते हैं, परन्तु यह सत्य सर्वव्यापक सत्य नहीं हो सकते।

जहाँ तक भविष्यवाणी इत्यादि का सम्बन्ध है वहाँ हम प्राकृतिक विज्ञानों को भी पूरा उतरते हुए नहीं देखते। प्राकृतिक विज्ञानों में उदाहरण के लिए ऋतु-विज्ञान (Metorology) को लिया जा सकता है। ऋतुविषयक जो अनेक भविष्यवाणियाँ दिन-रात की जाती हैं उनमें अधिकांश असत्य साबित होती हैं। इसी प्रकार अन्य प्राकृतिक विज्ञानों में भी पूर्ण सत्यों (Absolute truths) का आधिक्य नहीं, सापेक्ष सत्य (Relative truth) ही अधिक होते हैं।

विषय-वस्तु की वैज्ञानिकता बहुत कुछ हमारे दृष्टिकोण पर भी आश्रित है। **वैज्ञानिक सत्य के अन्वेषण में निर्वैयक्तिक** (Objective) **दृष्टिकोण अनिवार्य हैं। वस्तुओं के वैज्ञानिक अध्ययन में हमें अपने पूर्व विश्वास को दूर रखना चाहिए। हमें यह देखना चाहिए कि हमारे विश्वास, हमारे विचार कहीं उस वास्तविकता को, उस सत्य को बिगाड़ न दें जिसे कि हम प्राप्त करने की सोच रहे हैं। वैज्ञानिक के रूप में हमारा उद्देश्य सत्य की खोज होना चाहिए उसका परिणाम नहीं।**[1] जहाँ हमारा दृष्टि-

1. "The demand of science is simply that we avoid bias in our treatment of them. We must always be on our guard lest our personal valuations distort the reality we are seeking to understand,

कोण वैयक्तिक (Subjective) हो जायगा, जहाँ हमारे विचार, उद्देश्य और धारणाएँ हमारे साथ रहेंगी, वहाँ पूर्ण वैज्ञानिक सत्य का अन्वेषण नहीं हो सकेगा और न ही हमारा अध्ययन वैज्ञानिक कहला सकेगा। सामाजिक संस्थाओं का वैज्ञानिक अध्ययन निर्वैयक्तिक (Objective) दृष्टिकोण से आवश्यक है। सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के साथ हमारा सान्निध्य (Attachment) होता है, परन्तु भौतिक विज्ञान के विद्यार्थी की भाँति हमें निरपेक्ष (Impartial) होकर ही अध्ययन करना चाहिए। ऐसे दृष्टिकोण का विकास कठिन अवश्य है परन्तु असम्भव नहीं। हमारी नैतिक और सांस्कृतिक धारणाएँ हमें किसी न किसी विशिष्ट राजनीतिक संस्था या वाद का पक्षपाती बना देती हैं या हमारी अपनी धारणाएँ ही उन्हें किसी विशेष रंग में रंग देती हैं, और इस प्रकार हम सत्य के अन्वेषण में सफल नहीं हो पाते। दूसरा क्योंकि राजनीतिक संस्थाएँ हमारे से सम्बन्धित हैं, इसलिए उनके प्रति हमारे मन में पक्षपात (Partiality) का होना स्वाभाविक भी है। इस कारण हमारा अध्ययन पूर्ण रूप से नीतिनिरपेक्ष (Value free) तथा निर्वैयक्तिक (Objective) नहीं हो सकता। फिर भी हमें इन सबको भेदकर सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न करना ही चाहिए।

इस प्रकार राजनीति शास्त्र विज्ञान की विस्तृत व्याख्या के अन्तर्गत आता है। पद्धति की दृष्टि से भी वह विज्ञान है, परन्तु विकास की दृष्टि से अभी तक समस्त सामाजिक विज्ञानों में सबसे अधिक अपूर्ण और अविकसित है।

८. राजनीति शास्त्र की पद्धतियाँ (Methods of Political Science)

राजनीति शास्त्र की विषय-वस्तु के वैज्ञानिक अध्ययन और उसमें वैज्ञानिक पद्धतियों के अपनाने में कुछ विशेष बाधाएँ हैं। जैसा कि पहले भी हम कह आये हैं कि राजनीति शास्त्र मानव के सामाजिक जीवन के एक पक्ष का अध्ययन प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दों में हमारा अध्ययन विषय नित्य परिवर्तित होने वाला मानव-जीवन हैं। इसी कारण राजनीतिक घटनाएँ अस्थिर और परिवर्तनशील होती हैं, वे किसी एक निश्चित क्रम का अनुसरण नहीं करतीं, अतः जिस प्रकार जड़ पदार्थों के अध्ययन में हम पर्यवेक्षण द्वारा कुछ परिणाम निकाल सकते हैं, वैसी सुगमता से राजनीति शास्त्र में नहीं।

दूसरा राजनीति शास्त्र में प्रयोगशालाएँ नहीं और न ही प्रयोगात्मक पद्धति है। अतः राजनीति शास्त्र की विषय-वस्तु का अध्ययन यंत्रों के सहयोग से सम्भव नहीं। मानव-वृत्तियाँ सामाजिक और राजनीतिक जीवन का आधार हैं, उन्हें रासायनिक द्रव्यों की भाँति तोला-नापा नहीं जा सकता। फिर इन सब परिस्थितियों का अध्ययन हम स्वयं करते हैं। हमारा अपना दृष्टिकोण बहुत सी बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होता है। वह कुछ विशिष्ट सांस्कृतिक और नैतिक तत्त्वों से प्रभावित होता

---

we must as scientists, care more for truth than for the consiquences of truth."—*MacIver*,

है, अतः वह राजनीतिक विषय-वस्तु को वैयक्तिक (Subjective) दृष्टिकोण से देखता है, उसे अपने रंग में रंग लेता है। जब कि वैज्ञानिक का दृष्टिकोण निर्वैयक्तिक (Objective) होता है, वह पारे या गन्धक के प्रति स्नेहपूर्ण या विद्वेषपूर्ण नहीं होता।

ये सब कठिनाइयाँ एक राजनीति शास्त्री के उत्तरदायित्व को बढ़ा देती हैं, उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह राजनीतिक जीवन और परिस्थितियों का अध्ययन करता हुआ बहुत सावधानी से काम ले। क्योंकि विषय-वस्तु की जटिलता और निश्चयात्मक स्थितियों के तथा यांत्रिक साधनों के अभाव में हमारे लिए वैज्ञानिक परिणामों का निकालना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

आधुनिक विचारकों ने राजनीतिक विषय-वस्तु के अध्ययन के लिए अनेक पद्धतियों पर विचार किया है। मिल (J. S. Mill) ने चार पद्धतियों का जिकर किया है—रासायनिक (Chemical) या प्रयोगात्मक (Experimental), अमूर्त्त (Geometrical or Abstract), भौतिक (Physical) अथवा मूर्त्त, (Concrete), तार्किक (Deductive) और ऐतिहासिक (Historical)। मिल ने इनमें से पहिले दो को गलत या भ्रामक और अन्तिम दो को ठीक माना है।

अगस्त कॉमते ने राजनीतिक अध्ययन की तीन पद्धतियाँ स्वीकार की हैं। पर्यवेक्षण (Observation) प्रयोग (Experiment) और तुलना (Comparison) ब्लंशली के अनुसार दार्शनिक पद्धति (Philosophical method) और ऐतिहासिक पद्धति (Historical method) ही राजनीतिक अध्ययन की समुचित रीतियाँ हैं।

आजकल जिन पद्धतियों को विशेष महत्त्व दिया जाता है, वह निम्न प्रकार से हैं—

१. प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental method)
२. ऐतिहासिक पद्धति (Historical method)
३. तुलनात्मक पद्धति (Comparative method)
४. दार्शनिक पद्धति (Philosophical method)

(१) प्रयोगात्मक पद्धति—प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental method) का, जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, राजनीति में सीमित रूप से ही प्रयोग हो सकता है। राज्य व्यक्तियों का समूह है। उसे प्रयोगशाला में बन्द कर उस पर परीक्षण नहीं हो सकते। समाज के संगठन में उसकी परिस्थितियाँ एवम् अवस्थाओं में स्वेच्छापूर्वक परिवर्तन लाना और फिर जीवित, इच्छाशक्तियुक्त, चेतन प्राणियों पर प्रयोग करना एक राजनीति शास्त्री के लिए असम्भव है। राजनीति के क्षेत्र में बार-बार प्रयोग नहीं हो सकते, विज्ञान के क्षेत्र में ऐसा सम्भव है, क्योंकि मनुष्य की कोई भी शक्ति एक ही जैसी अवस्थाओं और स्थितियों को बार-बार उत्पन्न नहीं कर सकती। फिर राज्य वैज्ञानिक अपनी अध्ययन वस्तु को बाह्य प्रभाव से किसी भी अवस्था में नहीं बचा सकता।

फिर भी हमारे व्यावहारिक राजनीतिक जीवन में जाने-अनजाने में नित्य नवीन प्रयोग होते रहते हैं और उनसे हम बहुत-कुछ सीखते रहते हैं। प्रत्येक नया कानून एक प्रयोग है। व्यवहार में आने पर वह त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। इस प्रकार परीक्षण किये जाने के पश्चात् उसे परिवर्तित किया जा सकता है। राजनीतिक वाद व्यवहार में प्रयुक्त होने पर संशोधित किये जा सकते हैं।

दूसरे देशों की सफल राजनीतिक संस्थाएँ अनुकरणीय हो सकती हैं। जबकि उनकी असफलताओं से हम पाठ भी पढ़ सकते हैं। इस प्रकार के नित्य नये प्रयोगों द्वारा हम राजनीति शास्त्र में कुछ निश्चित परिणाम निकाल सकते हैं।

(२) **ऐतिहासिक पद्धति** (Historical method)—राजनीति शास्त्र के अध्ययन में ऐतिहासिक पद्धति का बहुत महत्त्व है। इतिहास हमारे राजनीतिक जीवन को प्रकाशित कर उसे यथार्थ रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इस पद्धति के प्रतिपादकों में सीली (Seeley) और फ्रीमैन (Freeman) सर्वप्रमुख हैं। इस पद्धति द्वारा राजनीति शास्त्री अतीत के तथ्यों का अध्ययन कर उनके आधार पर सामान्य नियमों को स्थापित करने का प्रयत्न करता है।

प्रत्येक राजनीतिक संस्था का एक इतिहास होता है। उसके वर्त्तमान स्वरूप को समझने के लिए और उसके भविष्य का अनुमान लगाने के लिए उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन अनिवार्य है। राज्य का उद्भव, विकास और उसके वर्तमान स्वरूप की स्थिति इन सब का ठीक-ठीक ज्ञान इतिहास द्वारा ही सम्भव है। हमारी शासन-व्यवस्थाएँ अपने वर्तमान स्वरूप तक पहुँचने में एक लम्बी ऐतिहासिक यात्रा तय कर चुकी हैं। अतः इनके स्वरूप को भी समझने में इतिहास का ही आश्रय लेना पड़ता है। सर फ्रेड्रिक पोलक के मतानुसार **"ऐतिहासिक पद्धति यह विचार करती है कि संस्थाओं का क्या रूप है, उनका क्या रूप बनता जा रहा है और इस प्रयत्न में वह संस्थाओं के वर्तमान स्वरूप की व्याख्या करने की अपेक्षा इस बात का अधिक ध्यान रखती है कि उनका भूतकालीन स्वरूप क्या था और वर्तमान स्वरूप कैसे बना।"**[1] इतिहास वर्तमान युग में हमें रास्ता दिखा सकता है।

परन्तु यह पद्धति अपने आप में सब प्रकार से पूर्ण नहीं। सिजविक इत्यादि जर्मन राज्यवैज्ञानिकों ने राजनीति शास्त्र के अध्ययन में इसे बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं माना। इसमें कई कमियाँ हैं और सिजविक के अनुसार इसकी सबसे बड़ी कमी नैतिक मूल्यों (Ethical standards) का अभाव है। इतिहास अच्छे या बुरे, उचित व अनुचित का निर्णय नहीं करता। राजनीति में हम उचित, अनुचित का निर्णय किये बिना नहीं चल सकते। दूसरे शब्दों में राजनीति में नैतिक मानदण्ड (Ethical standards) का होना जरूरी है। यही कारण है आज ऐतिहासिक पद्धति

---

1. The historical method seeks an explaination of what institutions are and are tending to be, more in the knowledge of what they have been and how they come to be what they are, than in the analysis of them as they stand."—*Sir Frederik Pollock.*

को पूर्ण करने के लिए इसका मेल दार्शनिक पद्धति से भी करते हैं । इतिहास की कमी को पूर्ण करने के लिए दर्शन और नीति का सहयोग आवश्यक बन जाता है ।

ऐतिहासिक पद्धति को अपनाते हुए हमें कुछ अन्य बातों का भी ध्यान रखना चाहिए । सर्वप्रथम तो हमें इतिहास द्वारा अपने विचारों या कल्पनाओं के समर्थन का प्रयत्न नहीं करना चाहिए । इतिहास की घटनाओं को इस प्रकार बिगाड़कर प्रस्तुत करने से हमारा अध्ययन वैज्ञानिक नहीं रहेगा, उसमें पर्याप्त पक्षपात (Partiality) आ जायगा । हमें ऐतिहासिक घटनाओ को एक द्रष्टा (Observer) की तरह ही देखना चाहिए ।

लार्ड ब्राइस ने भी थोथी समानताओं (Superficial resemblances) के विरुद्ध चेतावनी दी है । उसका कथन है कि केवल ऊपरी समानताओं के आधार पर किये गये निर्णय अधिकतर भ्रामक और गलत होंगे । हमें सांस्कृतिक परिस्थितियों की भिन्नता को कभी नहीं भूलना चाहिए ।

फिर यह बात भी अर्द्धसत्य है कि इतिहास की पुनरावृत्ति होती है । इसका दूसरा अंश यह भी है कि इतिहास की पुनरावृत्ति कभी नहीं होती । क्योंकि ऐतिहासिक परिस्थितियाँ कभी भी अपने उसी रूप में पुनः घटित नहीं होतीं ।

कभी-कभी लेखक आदर्श और यथार्थ का मिश्रण कर देते हैं और इतिहास का सहारा लेकर ऐसे सिद्धान्त तैयार करेंगे जो कि स्वप्न-लोक में ही ठीक साबित हो सकते हों । प्लेटो के आदर्श राज्य (Ideal State) की कल्पना ऐसे ही गलत दृष्टिकोण का परिणाम थी ।

(३) तुलनात्मक पद्धति (Comparative method)—तुलनात्मक पद्धति और ऐतिहासिक पद्धति एक दूसरे को पूरक का काम देती हैं । ऐतिहासिक आधार पर नई और पुरानी राजनीतिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन कर अनावश्यक तत्त्वों को छोड़, कुछ ऐसे नियम स्थापित करने का प्रयत्न करना जो कि सब संस्थाओं पर लागू हो सकें और जो सर्वकाल के लिए पूर्ण या आंशिक सत्य भी हो—यही इसका उद्देश्य है । एक ही काल में प्राप्त होने वाले विभिन्न देशों की एक-सी राजनीतिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन कर कुछ सामान्य सिद्धान्त बनाये जा सकते हैं । प्राचीन ग्रीस में अरस्तू ने अपने समय के विभिन्न देशों के लगभग १५० संविधानों का तुलनात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन किया और बहुत से परिणामों के साथ एक यह भी परिणाम निकाला कि राज्य-क्रान्तियों का बहुत बड़ा कारण आर्थिक असमानता (Economic inequality) है । इस सिद्धान्त में पर्याप्त सत्य है ।

अरस्तू के अतिरिक्त वर्तमान युग में मॉण्टेस्क्यू, टाकविल तथा ब्राइस इत्यादि राजनीतिज्ञों ने भी इस पद्धति का अनुसरण किया । भारत का संविधान भी विभिन्न देशों के संविधानों के तुलनात्मक अध्ययन का ही फल है । परन्तु तुलनात्मक पद्धति को भी अपनाते हुए हमें पर्याप्त सावधान और सचेत रहना चाहिए । केवल ऊपरी समानताओं के आधार पर तुलना कर हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकते । किन्हीं दो राजनीतिक संस्थाओं की तुलना करते हुए हमें उनकी सामाजिक और ऐतिहासिक

परिस्थितियों की भिन्नता को नहीं भूलना चाहिए।

तुलना को समानता में भी नहीं बदल देना चाहिए। राज्य-संगठन और शरीर-संगठन की तुलना अवश्य हो सकती है, जैसे मुख और चाँद की, परन्तु दोनों को एकरूप नहीं कहा जा सकता। स्पेन्सर इत्यादि विचारकों ने राज्य संगठन की सजीव प्राणी के शरीर से तुलना करते हुए उनमें एकरूपता स्थापित कर दी। राज्य को भी उन्होंने सजीव शरीर (Living organism) मान लिया और उसके आधार पर अनेक भ्रामक सिद्धान्तों का निर्माण किया। दो वस्तुओं में सादृश्य स्थापित करने का अर्थ यह नहीं है कि उनमें एकरूपता ही स्थापित कर दी जाय।

(४) **पर्यवेक्षण-पद्धति** (The method of observation)—पर्यवेक्षण पद्धति का आधार है राजनीतिक संस्थाओं और कार्य-विधियों का निकट से अध्ययन और निरीक्षण। मुख्य रूप से यह पद्धति वैयक्तिक अनुभव और निरीक्षण पर आधारित है। राजनीति शास्त्र के अध्ययन में पर्याप्त काल से इसका प्रयोग होता आ रहा है। प्राचीन यूनान में प्लेटो ने अपने ज्ञान के पूर्ण करने के लिए एशिया माइनर से लेकर दक्षिणी इटली तक का भ्रमण किया और उन देशों की जहाँ तत्कालीन विद्याओं का अध्ययन किया वहाँ उनकी सामाजिक और राजनीतिक दशा का भी पर्यवेक्षण किया। प्लेटो का साम्यवाद और उसकी शिक्षा-पद्धति उसके अपने देश की देन नहीं वह इस विषय में क्रीट और स्पार्टा से प्रभावित था। प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने भी यद्यपि अनेक राज्यों का भ्रमण किया तथापि उसकी दृष्टि नगर राज्यों के बाहर न जा सकी। १८वीं सदी के फ्रेंच राजनीति विशारद मॉण्टेस्क्यू ने अपने वैयक्तिक निरीक्षण से पर्याप्त लाभ उठाया। फ्रांस के लुई १४वें के स्वेच्छाचारी शासन-काल में उसने इंग्लैण्ड का भ्रमण किया और वहाँ की शासन-व्यवस्था का अध्ययन और निरीक्षण किया। बाद में उसी की तुलना अपने शासन-विधान से की। राजकीय शक्तियों के विभाजन का सिद्धान्त (Theory of separation of powers) उस पर्यवेक्षण का ही फल है।

आधुनिक युग में लार्ड ब्राइस ने इस पद्धति का समुचित अनुसरण किया है। ब्राइस ने स्विट्ज़रलैण्ड, संयुक्तराज्य अमेरिका, फ्रांस, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैण्ड इत्यादि देशों का भ्रमण कर वहाँ के राज्याधिकारियों से मेल-मुलाकात कर राज्य संस्थाओं की कार्य-विधि का स्वयं निरीक्षण किया। तत्पश्चात् अपने वैयक्तिक अध्ययन और निरीक्षण के आधार पर उसने अपने विशाल ग्रन्थ "मॉडर्न डेमोक्रेसीज़ (Modern Democracies) और "अमेरिकन कॉमनवैल्थ" (American Commonwealth) की रचना की। इन ग्रन्थों में उसने इन देशों में प्रचलित शासन-विधानों का और राजनीतिक संगठनों का तुलनात्मक अध्ययन किया और साथ ही कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण परिणाम निकाले जो कि सभी लोकसत्तात्मक राज्यों (Democratic States) पर थोड़े-बहुत हेर-फेर के बाद लागू किये जा सकते हैं।

यह अध्ययन-पद्धति काफी हद तक यथार्थवादी होती है और राजनीतिक जीवन

के वास्तविक तथ्यों के निकट होती है।

परन्तु इस पद्धति के अनुसरण में भी पर्याप्त सावधानी की आवश्यकता है। लार्ड ब्राइस ने स्वयं ही ऊपरी समानताओं के विरुद्ध चेतावनी दी है। केवल बाह्य समानताओं पर आश्रित परिणाम बहुत कुछ झूठ साबित होंगे। दूसरा सांस्कृतिक, भौगोलिक और आर्थिक परिस्थितियों के भेद की कभी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। निरीक्षण द्वारा प्राप्त सामग्री के आधार पर जल्दबाजी में कभी कोई निर्णय नहीं करना चाहिए, उसकी अच्छी तरह जाँच-पड़ताल होनी चाहिए और फिर विभिन्न तथ्यों का पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार से स्थापित करना चाहिए कि स्वभावतः ही कारण और कार्य में तारतम्य आ जाय।

(५) **दार्शनिक पद्धति** (Philosophical method) राजनीति शास्त्र की एक प्रमुख अध्ययन पद्धति है। उपर्युक्त सम्पूर्ण पद्धतियाँ व्याप्तिमूलक (Inductive) हैं। परन्तु यह वियोजक (Deductive) है। व्याप्तिमूलक अध्ययन पद्धतियाँ विशेष अवस्थाओं या घटनाओं के आधार पर सामान्य नियमों (General rules) का सृजन करती हैं। परन्तु इसके विपरीत दार्शनिक पद्धति वियोजन (Deductive) होने के कारण निश्चित घटनाओं को अपना आधार नहीं बनाती अपितु एक नियम, कल्पना या विचार को आधार मान वास्तविक जीवन का अनुशीलन करती है। राजनीति में राजनीतिक घटनाओं या परिस्थितियों का अध्ययन कर यदि हम किसी सिद्धान्त की रचना करते हैं तो हम व्याप्तिमूलक (Inductive) अध्ययन-विधि का अनुसरण कर रहे होते हैं। परन्तु यदि हम किसी विशेष नियम को तो पहले बना लें और तब राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करें तो हम सामान्य से विशेष की ओर चलते हुए वियोजक अध्ययन-पद्धति (Deductive method of study) को अपनाते हैं। प्लेटो, रूसो, सिजविक तथा मिल इत्यादि राजनीति विचारकों ने दार्शनिक पद्धति का अनुसरण किया है। इन लेखकों ने पहले तो अपनी कल्पना के बल पर और नैतिक और दार्शनिक सिद्धान्तों का आश्रय ले कुछ सामान्य सिद्धान्त बना लिये फिर उनके आधार पर ऐसी राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं का चित्रण किया जो कि इन विचारों की प्राप्ति में सहायक हो सकें। इन्ही निश्चित आधारों पर ही यह इतिहास का अध्ययन भी करती है।

इस पद्धति का एक बड़ा लाभ यह है कि यह हमारे सम्मुख ऐसे सामान्य नैतिक और दार्शनिक आदर्श प्रस्तुत कर देती है कि जिसके आधार पर हम राज्य के कार्यों का, उसके विभिन्न पक्षों का औचित्य और अनौचित्य जान सकते हैं। राज्य हमारे नैतिक नियमों से स्वतन्त्र नहीं, उसकी चेष्टाओं को भी नैतिक नियमों के आधार पर अच्छा या बुरा कहा जा सकता है। अच्छाई और बुराई के नापने के मान-दण्ड नीति और दर्शन ही हमें देते हैं।

परन्तु इस पद्धति की सबसे बड़ी कमजोरी कल्पना का आधिक्य है। पुराने और नये युग में सर्वत्र ऐसे राजनीतिक विचारक मिल जायँगे जिन्होंने कि इस पद्धति का अनुसरण करते हुए ऐसे आदर्श राज्यों का चित्रण किया जो वास्तविकता से दूर केवल

स्वप्न-लोक की ही चीज है। प्लेटो के 'रिपब्लिक' (Republic) में एक ऐसे ही राज्य का चित्रण है जो कि पृथ्वी की चीज नहीं और जो मानवीय जीवन में अप्राप्य है। ऐसे आदर्श का हमारे यथार्थ जीवन में क्या महत्त्व जो कोरी भावुकता हो, जो कोरा स्वप्न हो। वस्तुतः आदर्श के यर्थाथ पर आधारित होने में ही उसका मूल्य है।

निष्कर्ष—ऊपर के अध्ययन से एक बात स्पष्ट है कि कोई भी एक पद्धति अपने आप में पूर्ण नहीं। वे एक दूसरे की पूरक बनकर ही पूर्ण बनती हैं। एक समुचित वैज्ञानिक पद्धति यथार्थ और आदर्श के समन्वय पर ही आधारित होगी। ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धतियाँ अपने आप में अपूर्ण है, उनकी पूर्णता दार्शनिक पद्धति के मिश्रण से ही सम्भव है। कोरा यर्थाथ अशिष्ट (Vulgar) हो जाता है, आदर्श या नैतिक मूल्य हमारे जीवन के अनुभव के परिणाम हैं, उनके बिना हमारा जीवन अर्थहीन है। और ऐसे आदर्श की भी हमें आवश्यकता नहीं जिसके पाँव पृथ्वी पर ही न हों और जो आकाश की बात हो। स्वस्थ आदर्श यथार्थ पर ही आधारित होगा उससे ऊपर या परे नहीं।

Important Questions

	Reference
1. Define "Political Science" and distinguish it from Politics and "Political Philosophy." (*P. U. 1937, 1953*)	**Art. 5**
2. Discuss the scope of Political Science. (*Punjab, 1939, Bombay, 1937, 1939*)	Art. 2
3. Is Political Science really a science ? (*Punjab, 1937*)	**Art. 7**
4 Discuss the meaning and scope of Political Science. (*Punjab, 1956*)	**Art. 1 & 2**
5. Discuss the nature and scope of Political Science and point out whether it is a science or not ?	Art. 2 & 5
6. "When I see a good set of examination questions headed by the word 'Political Science' I regret not the questions but the title."—*Maitland.* Discuss.	**Art. 7**
7. Disuss the different methods of studying Political Science.	Art. 8
8. Discuss the importance of the study of Political Science.	Art. 4

अध्याय २

राजनीति शास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

(Relations of Political Science to other Social Sciences)

६. विभिन्न सामाजिक विज्ञान

पिछले अध्याय में हमने कहा था कि समाज हमारे सामाजिक सम्बन्धों का समूह है (Society is web of social relationships)। ये सामाजिक सम्बन्ध विविध हैं। ये आपस मे इतने अधिक संश्लिष्ट हैं कि इन्हें एक दूसरे से सर्वथा पृथक कर देना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। हमारे सामाजिक जीवन के ये विविध रूप सामाजिक विज्ञानों की विषय-वस्तु है। जिस प्रकार हमारे सामाजिक जीवन के राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक पक्ष अन्योन्याश्रित हैं, एक दूसरे से सम्बन्धित है, इसी प्रकार इन विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने वाले सामाजिक विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास तथा मनोविज्ञान इत्यादि का भी एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। इन सब का आधारभूत अध्ययन-विषय एक ही है—मानवीय सामाजिक जीवन। राज्य मानव-समाज का एक अंग है, अतः उसे समाज के अन्य अंगों और पहलुओं से सर्वथा पृथक् कर सकना असम्भव है। राजनीतिक जीवन के व्यापक और समुचित अध्ययन के लिए हमें अन्य सामाजिक विज्ञानों का भी ज्ञान होना चाहिए। सब सामाजिक विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं। सुप्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान पाल जेनेट (Paul Janet) का यह कथन सर्वथा सत्य है कि **"राज्य विज्ञान का अनेक विज्ञानों से निकट सम्बन्ध है। यथा अर्थशास्त्र के साथ, विधान के साथ—चाहे वह प्राकृतिक विधान हो और चाहे सिद्ध का विध्यात्मक (Positive) विधान, जिसका विवेच्य विषय है नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध सूत्र। इतिहास के साथ जो उसके लिए आवश्यक तथ्य सुलभ बनाता है, दर्शनशास्त्र के साथ और विशेषकर नीतिशास्त्र के साथ जिससे उसे अपने कुछ सिद्धान्त प्राप्त होते हैं।"** कुछ विद्वानों ने मनोविज्ञान, भूगोल, जाति विज्ञान आदि से भी राजनीति का सम्बन्ध माना है।

इन सभी विज्ञानों में परस्पर आदान-प्रदान चलता रहता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इनमें से किसी विज्ञान की स्वतन्त्र स्थिति नहीं। ऐसा समझना सर्वथा भ्रामक होगा। ये सभी विज्ञान अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं। हमारे सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं के विशेषाध्ययन (Specialised study) हैं। इन विविध विज्ञानों का राजनीति से क्या सम्बन्ध है इसकी विवेचना नीचे की जाती है।

१०. राजनीति शास्त्र और समाजशास्त्र (Sociology)

सामाजशास्त्र सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है। यही कारण है कि इसे सामान्य रूप से सम्पूर्ण समाज का विज्ञान (Science of society) कहते हैं। हमारे सामाजिक जीवन के विविध पहलू हैं, उनके राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक इत्यादि अनेक रूप हैं, परन्तु अन्ततः वे सब हैं सामाजिक ही। इन विविध रूप सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन समाजशास्त्र करता है। इसी कारण समाजशास्त्र को सभी सामाजिक विज्ञानों का जनक भी कहते हैं। राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। राजनैतिक समाज (राज्य) का, सत्ता और संगठन का विकास कब और किस रूप में हुआ; राज्य और अन्य सामाजिक समुदायों में क्या सम्बन्ध है; किस प्रकार प्रकृत्या राज्य भी एक समुदाय था या है और किस प्रकार वह हमारे जीवन से सम्बन्धित है इत्यादि प्रश्नों का उत्तर हमें समाजशास्त्र से ही मिलता है। वस्तुतः दोनों में इतनी समानता है कि कहीं भी सुनिश्चित विभाजक रेखा खेंचना कठिन हो जाता है। रेटज़नहावर (Ratzenehofr) ने कहा है कि **'राज्य अपनी प्रारम्भिक स्थिति में एक राजनीतिक संस्था की अपेक्षा सामाजिक संस्था ही अधिक होता है। यह वास्तव में सत्य ही है कि राजनीतिक तथ्यों का आधार सामाजिक तथ्यों में है और यदि राज्य-विज्ञान समाज-विज्ञान से भिन्न है तो वह इसी कारण कि उसके विस्तृत क्षेत्र के समुचित विवेचन के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है, इसलिए नहीं कि राज्य-विज्ञान तथा सामाजिक विज्ञान के बीच कोई सुनिश्चित विभाजक रेखा है"** समाजशास्त्र का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, वह अपने विषय-वस्तु की दृष्टि से राजनीति शास्त्र से पृथक और स्वतन्त्र है इन दोनों में भेद इस प्रकार है—

(१) समाज विज्ञान समाज का शास्त्र है। वह मनुष्य की सम्पूर्ण सामाजिकता का अध्ययन करता है। धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक इत्यादि सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध उसके क्षेत्र में आ जाते हैं। परन्तु राजनीति शास्त्र का क्षेत्र संकुचित है। वह केवल राजनीतिक सम्बन्धों की ही विवेचना करता है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में **"समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। राजनीति शास्त्र राज्य का अथवा राजनीतिक समाज का विज्ञान है। समाजशास्त्र में मनुष्य का एक सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन होता है और क्योंकि राजनीतिक संगठन एक विशेष प्रकार का सामाजिक संगठन है इसलिए राजनीति शास्त्र समाजशास्त्र की अपेक्षा एक अधिक विशिष्ट शास्त्र है।"**[1]

(२) राज्य के पूर्व समाज की स्थिति थी। इस समाज की क्या स्थिति थी, इसका क्या संगठन था, समाजशास्त्र इसका जवाब देता है, परन्तु राजनीति शास्त्र नहीं।

---

1. "Sociology is the science of society. Political science is science of the state or political society. Sociology studies man as a social being, and as political organisation is a special kind of social organisation, political science is more specialised science than Sociology."—*Gilchrist.*

दूसरे शब्दों में समाजशास्त्र संगठित और असंगठित सभी प्रकार के समुदायों का अध्ययन करता है, परन्तु राजनीति शास्त्र केवल राजनीतिक दृष्टि से संगठित समुदायों का ही।

(३) समाजशास्त्र जहाँ आधुनिक राज्यों द्वारा निर्धारित विधि-विधान का अध्ययन करता है वहाँ वह सामाजिक नियमन के साधन विभिन्न रीति-रिवाज (Customs) और धार्मिक प्रथाओं का भी अध्ययन करता है। परन्तु राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध केवल उन्हीं कानूनों से ही होता है जो कि राज्य द्वारा निर्धारित किए जाते हैं।

(४) राजनीति शास्त्र और समाजशास्त्र में एक और बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ समाजशास्त्र में तथ्य कथन की प्रवृत्ति है वहाँ राजनीति शास्त्र में तथ्य कथन के साथ आदर्श निर्धारण की भी। समाजशास्त्र हमारे आदर्शों से सम्बन्ध नहीं रखता, वह तो केवल इसी बात का अध्ययन करता है कि समाज क्या है, क्या रहा है। परन्तु समाज विज्ञान यह बताने का यत्न नहीं करता कि समाज का स्वरूप क्या होना चाहिए। यही कारण है कि समाज विज्ञान एक वर्णनात्मक विज्ञान (Descriptive science) माना गया है और राजनीति एक आदर्श-परक विज्ञान (Normative science)। राजनीति शास्त्र में नैतिक मूल्यों और आदर्शों कि अवस्थिति होती है। वह यही नहीं विचारता की राज्य की स्थिति क्या है और क्या रही है, वह यह भी बतलाता है कि राज्य की स्थिति क्या होनी चाहिए। वह राज्य के स्वरूप, कर्त्तव्य, ध्येय और आदर्शों का निर्णय भी करता है। वह विज्ञान के साथ-साथ दर्शन भी है, जब कि समाजशास्त्र कोरा विज्ञान।

इन भेदों को होते हुए भी हमें सुप्रसिद्ध **समाजशास्त्री गिडिंग्ज़** (Giddings) **के इस कथन को भूलना नहीं चाहिए कि "समाज विज्ञान के प्राथमिक सिद्धान्तों से अनभिज्ञ लोगों को राज्य के सिद्धान्तों का पढ़ना वैसा ही निरर्थक है जैसा न्यूटन द्वारा बताये गये गति के नियमों से अनभिज्ञ व्यक्ति का ज्योतिष पढ़ना।"**

आज तो वस्तुतः राजनीति शास्त्र को समाजशास्त्री और समाज वैज्ञानिकों को राजनीति-विशारद होना चाहिए।

११. राजनीति शास्त्र और इतिहास (History)

इतिहास राजनीति की प्रयोगशाला और पुस्तकालय दोनों ही है। राजनीतिक प्रवृत्तियों तथा राजनीतिक संस्थाओं के समुचित ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ऐतिहासिक अध्ययन की परम आवश्यकता है। इतिहास के अध्ययन से ही हमें पता चलता है कि विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं का जन्म और विकास किस प्रकार हुआ और कहाँ तक वे अपने उद्देश्य-प्राप्ति में सफल हो सकीं। सभी मानवीय संस्थाओं की भाँति राज्य का भी ऐतिहासिक आधार है, इसको समझने के लिए इतिहास का अनुशीलन करना ही पड़ता है। इसी प्रकार इतिहास का भी पर्याप्त अंश राजनीतिक है। इतिहास न केवल युद्ध और शान्ति का ही वर्णन करता है वह यह भी बतलाता है कि अमुक काल

में राजनीतिक परस्थितियाँ क्या थीं, राजनीतिक वाद क्या थे और उनका ऐतिहासिक रूप में क्या परिणाम हुआ। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति या रूस की राज्य-क्रान्ति महान राजनीतिक घटनाएँ हैं, उनके समुचित अध्ययन के लिए हमें उन विचारधाराओं से परिचित होना ही चाहिए जिन्होंने क्रान्तिकारियों को प्रेरणा प्रदान की।

वर्तमान भारत का इतिहास राजनीतिक परिस्थितियों के वर्णन के बिना अपूर्ण है। वर्तमान भारत के इतिहास में क्या हम १९१९ के वैधानिक सुधार या १९३५ का विधान और उसके बाद क्रिप्स-योजना, कैबिनट मिशन प्लान इत्यादि छोड़ सकते हैं। इसी प्रकार क्या कोई इतिहास लेखक १९वीं सदी का इतिहास लिखता हुआ साम्राज्यवाद, व्यक्तिवाद, लोकतन्त्रवाद और साम्यवाद इत्यादि प्रसिद्ध राजनीतिक विचारधाराओं की उपेक्षा कर सकता है ? वस्तुतः राजनीति और इतिहास दोनों अन्योन्याश्रित हैं। सीली ने ठीक ही कहा है कि **"बिना राजनीति शास्त्र के इतिहास निष्फल है और बिना इतिहास के राजनीति शास्त्र निर्मूल है।"**[1] अन्यत्र सीली ने ही कहा है कि **"इतिहास के उदार प्रभाव से वंचित होकर राजनीति शास्त्र अशिष्ट हो जाता है और राजनीति शास्त्र से विलग होकर इतिहास कोरमकोरा साहित्य मात्र ही रह जाता है।"**[2] परन्तु इस घनिष्टता का अर्थ यह कदापि नहीं कि **"इतिहास अतीत की राजनीति है और राजनीति वर्तमान का इतिहास है।"**[3] दोनों एक दूसरे के पूरक होते हुए भी अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं। दोनों में कुछ आधारभूत भेद हैं।

(१) राजनीति और इतिहास प्रकृत्या विभिन्न हैं। राजनीति मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक है और इतिहास वर्णनात्मक। राजनीति में नैतिक और दार्शनिक आदर्श होते हैं और उनके आधार पर हम विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं और घटनाओं का मूल्य निर्धारित करते हैं। इतिहास केवल वर्णन करता है, वह वर्णन भी आधुनिकतम नहीं होता। राजनीति आधुनिकतम (Up-to-date) है।

(२) इतिहास में सभी कुछ राजनीति शास्त्र के काम की चीज नहीं। हमारा तो इतिहास के साथ वहीं तक सम्बन्ध है जहाँ तक कि वह राजनीतिक संस्थाओं के उद्भव और विकास का वर्णन करता है, जहाँ तक वह विभिन्न मतवादों के आधारभूत ऐतिहासिक तथ्यों का वर्णन करता है। कला, साहित्य, भाषा, धर्म इत्यादि का इतिहास राजनीति के लिए कोई विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं। इसी कारण यह भी कहा जाता है कि इतिहास का राजनीति की अपेक्षा क्षेत्र अधिक विस्तृत है।

(३) इतिहास की विवेचन-पद्धति भी राजनीति शास्त्र से विभिन्न है। इतिहास में प्रबन्धात्मकता रहती है, विभिन्न घटनाओं का कालक्रम सहित लेखा-जोखा रहता

---

1. Politics without history has no root,
History without politics has no fruit."—*Seeley.*
2. "Politics are vulgar when not liberalised by History and History fades into mere literature when it loses sight of its relations to Politics.'—*Seeley.*
3. "History is nothing but past politics and politics is nothing but current History."—*Freeman.*

है। परन्तु राजनीति का केवल उन्हीं घटनाओं से सम्बन्ध रहता है जो कि राजनीतिक दृष्टि से उपादेय और महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार राजनीति और इतिहास में केवल विषय-वस्तु का ही अन्तर नहीं, विवेचन-पद्धति, विस्तार और उद्देश्य का भी भेद है। उस भेद के रहते हुए भी राजनीति और इतिहास का कल्याण पारस्परिक आदान-प्रदान में ही है। बर्गेस का कथन ठीक ही है कि **यदि राजनीति शास्त्र और इतिहास को एक दूसरे से पृथक कर दिया जाय तो उनमें से एक मृत नहीं तो पंगु अवश्य हो जायगा और दूसरा केवल आकाश पुष्प हो जायगा।**

१२. राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र (Economics)

प्राचीन काल में अर्थशास्त्र राजनीति शास्त्र का एक भाग ही समझा जाता था। **प्राचीन ग्रीस के सुप्रसिद्ध विचारक अरस्तू ने अर्थशास्त्र को राजनीति की एक शाखा माना है।** भारत में भी अर्थशास्त्र और राजनीति में घनिष्ट सम्बन्धों की उपस्थिति को स्वीकार किया गया है। चाणक्य ने राज्य पर लिखे अपने ग्रन्थ का नाम अर्थशास्त्र रखा था।

आज यद्यपि अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र दोनों अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं तथापि दोनों एक दूसरे को बहुत प्रभावित करते हैं। आर्थिक परिस्थितियाँ राजनीतिक जीवन के स्वरूप को निर्धारित करती रहती है। इसी प्रकार हमारे समाज का आर्थिक जीवन न केवल राजनीतिक विचारधाराओं से प्रभावित होता है अपितु राज्य द्वारा नियन्त्रित भी किया जाता है।

प्रारम्भ से ही आर्थिक परिस्थतियों का राजनीतिक जीवन पर प्रभाव स्वीकार किया गया है। राज्य का स्वरूप उसकी शासन-विधि और उसके कर्त्तव्य तथा उद्देश्य आर्थिक परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होते रहते हैं। राजनीतिक विचारधाराओं का आधार भी बहुत सीमा तक आर्थिक हो सकता है। प्राचीन ग्रीस के विचारक प्लेटो ने भी अपने आदर्श राज्य की कल्पना में सम्पत्ति के समूहीकरण की योजना द्वारा आर्थिक संस्थाओं के राजनीतिक जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव को स्वीकार किया। आधुनिक युग में कार्ल मार्क्स ने तो हमारे राजनीतिक जीवन में आर्थिक परिस्थितियों का बहुत महत्त्व माना है। उसका कथन है कि हमारे समाज का सम्पूर्ण राजनीतिक ढाँचा आर्थिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब मात्र है। यह सिद्धान्त तो विवादग्रस्त हो सकता है, परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आर्थिक परिस्थितियाँ हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन का काफी हद तक स्वरूप निर्धारित करती हैं। आज के बहुत से राजनीतिक सिद्धान्त यथा साम्यवाद, समाजवाद, श्रेणी साम्यवाद (Guild Socialism) इत्यादि पुख्य रूप से आर्थिक समस्याओं से ही सम्बन्धित हैं। औद्योगिक क्रान्ति के अनन्तर तो यह सम्बन्ध और भी अधिक गहरा और स्पष्ट हो गया है। वर्तमान काल की आर्थिक परिस्थितियाँ ही राज्य के प्राचीन निषेधात्मक (Negative) रूप को बदल रही हैं। आज हम समझते हैं कि राज्य का काम

केवल हमारे राजनीतिक जीवन का नियन्त्रण ही नहीं, उसे हमारे आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन का भी नियमन करना चाहिए। प्रजातन्त्र का सिद्धान्त और उसकी शासन-प्रणाली हमारी आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तन का ही परिणाम हैं।

आज के राज्य का आर्थिक स्वरूप भी है। कर-पद्धति, सिक्के (Currency), श्रमिक विधान (Labour legislation), आयात-निर्यात सम्बन्धी कानून, रेल-बिजली व्यापार, उद्योगों का राजकीय नियन्त्रण, अनुबन्ध (Contracts) संस्थान व्यवस्था (Corporation system) का विकास इत्यादि बहुत से ऐसे आर्थिक प्रश्न हैं जिनका सुलझाव और नियमन राज्य द्वारा ही सम्पन्न होता है। आज के प्रत्येक राज्य में चाहे वह समाजवादी हो या पूँजीवादी, राज्य के आर्थिक कर्त्तव्य नित्य-प्रति बढ़ते चले जा रहे हैं। अमेरिका और इंग्लैण्ड जैसे पूंजीवादी देशों में भी राज्य दिन-प्रतिदिन आर्थिक जीवन में अधिक से अधिक दखल दे रहा है। रूस, चीन, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया आदि समाजवादी राज्यों में तो देश की आर्थिक व्यवस्था सर्वथा राज्य के ही नियन्त्रण में है।

इस प्रकार अर्थशास्त्र और राजनीति की घनिष्टता स्पष्ट है परन्तु इन निकट सम्बन्धों के बावजूद भी दोनों अपनी प्रकृति में एक दूसरे से भिन्न हैं और अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं।

(३) राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध, **आइवर ब्राउन** (Ivor Brown) **के अनुसार, समाज के अंगभूत व्यक्तियों से है। अर्थशास्त्र का मुख्यतया वस्तुओं से।** व्यक्ति से भी आज का अर्थशास्त्री सम्बन्ध स्थापित कर रहा है, परन्तु साध्य के रूप में नहीं साधन के रूप में ही। अर्थशास्त्र में व्यक्ति का वर्णन उत्पादक, विक्रेता और उपभोक्ता के रूप में ही है। राजनीति शास्त्र में भी वस्तुओं का अध्ययन होता है परन्तु वहीं तक जहाँ तक कि वह हमारे नैतिक मूल्यों से सम्बन्धित है, उससे परे या ऊपर नहीं।

राजनीति शास्त्र में नैतिक मानदण्ड हैं और उन्हीं के आधार पर विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं का मूल्य निर्धारित किया जाता है। दूसरे शब्दों में वह आदर्श-परक (Normative) विज्ञान है। परन्तु अर्थशास्त्र मुख्यतः व्याख्यात्मक विज्ञान (Descriptive science) है और इसी कारण आदर्शशून्य। वस्तुतः इस कथन में पर्याप्त सत्य है कि अर्थशास्त्री वह व्यक्ति है जो दाम (Price) तो सभी चीजों के जानता है पर मूल्य या महत्त्व (Value) एक का भी नहीं।

१३. राजनीति शास्त्र और नीतिशास्त्र (Ethics)

नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र मानवीय आचरण के अच्छे और बुरे, उचित और अनुचित इत्यादि के मानदण्ड की व्यवस्था करता है। राजनीति शास्त्र का भी मनुष्य के आचरण से सम्बन्ध है, वह उचित और अनुचित, अच्छे और बुरे की व्यवस्था करता है। यही कारण है कि दोनों विज्ञान परस्पर सम्बन्धित हैं। राज्य एक सामाजिक संस्था है, नीतिशास्त्र सामाजिक संस्थाओं के उद्देश्य निर्धारित करता है। राजनीति शास्त्र राज्य

का विज्ञान है, इसके उद्देश्य कर्तव्य और स्वरूप का निर्धारण करता हुआ वह सदा नीतिशास्त्र की सहायता लेता है। राज्य का आधार नैतिक (Moral) है। वह जन-कल्याण के लिए अवस्थित है। परन्तु जन-कल्याण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर नीतिशास्त्र के सहयोग से ही सम्भव है। अच्छे या बुरे राज्य या राज्य-व्यवस्था के क्या लक्षण हैं; अच्छे या बुरे नागरिक के क्या गुण और अवगुण हैं, इत्यादि प्रश्न भी नीतिशास्त्र की सहायता से ही हल किये जा सकते हैं।

राजनीति और नीतिशास्त्र का सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। प्राचीन ग्रीस और भारत में दार्शनिकों ने राजनीति और नीतिशास्त्र में कभी स्पष्ट भेद ही नहीं किया। प्राचीन यूनानी विचारक प्लेटो ने तो नीतिशास्त्र में ही सम्पूर्ण विज्ञानों की अवस्थिति को स्वीकार करते हुए राजनीति को इसी का एक अंग माना है। उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य नैतिक और सरकार का कर्त्तव्य इन नैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति है। इसीलिए प्लेटो के अनुसार राज्य के प्रत्येक नागरिक को सद्वृत्तियों में दीक्षित करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्लेटो की शिक्षा-व्यवस्था, साम्यवाद, आदर्श राज्य की कल्पना इत्यादि सभी नैतिक आदर्शों से प्रेरित है। उसका विश्वास था कि अच्छे राज्य में ही अच्छे नागरिक तैयार हो सकते है।

यह कहा जाता है कि प्लेटो के पश्चात् उसके शिष्य अरस्तू द्वारा किया गया इनका पार्थक्य इस बात को सिद्ध नहीं करता कि अरस्तू राज्य की नैतिक मर्यादाओं को स्वीकार नहीं करता या उसका कोई नैतिक उद्देश्य नहीं मानता। अरस्तू द्वारा किया गया यह विभाजन बहुत कुछ उस यथार्थवादी अध्ययन-पद्धति का परिणाम है जिसका कि वह अनुसरण कर रहा था। तात्विक दृष्टि से अरस्तू ने राज्य को एक नैतिक संस्था मानते हुए उसके उद्देश्यों की नैतिक दृष्टि से व्याख्या की है। वस्तुतः पश्चिमी राजनीति और नीतिशास्त्र में पूर्ण पार्थक्य स्थापित करने वालों में मेकियावली ही सर्वप्रमुख है। यह ठीक है कि यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो इसका आधार हमें सेंट आगस्टाइन की विचारधारा में मिल जायगा। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि ईसाई पादरियों ने अपने धार्मिक जोश में अनजान में ही एक ऐसी विचारधारा का प्रचलन किया जो अन्ततः नीतिशास्त्र और राजनीति का विभेद कराकर ही रुकी। सेण्ट आगस्टाइन ने मानवीय जीवन को लौकिक और पारलौकिक दो विभागों में विभक्त कर न केवल उसके कर्मों का ही ऐसा विभाजन किया अपितु उसके सामाजिक जीवन का भी बँटवारा कर डाला। अपने ग्रन्थ 'The City of God' में उसने ईश्वरीय नगर और सांसारिक नगर का वर्णन किया है। ईश्वरीय नगर का लौकिक रूप 'चर्च' है। इस प्रकार उसने हमारे आचरण के दो रूप मान लिये—एक तो दूसरे लोक से सम्बन्धित और दूसरा इस लोक से। एक तो धार्मिक, दूसरा राजनीतिक। इन दोनों में उसने धार्मिक जीवन की महत्ता ही स्वीकार की। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन यूनान में जीवन अपने समग्र रूप में (Wholeness) में ग्रहण किया जाता रहा है। उनके अनुसार राजनीतिक जीवन हमारे जीवन के सभी पक्षों को अपने भीतर समाये हुए हैं। आगस्टाइन द्वारा किया गया यह भेद राजनीतिक

और धार्मिक दो प्रकार की नीति-व्यवस्थाओं का जनक साबित हुआ । जब तक चर्च का जोर रहा चर्च की नीति-व्यवस्था चली और जब चर्च का जोर घटने लगा तो राजनीतिक नीति का जोर बढ़ गया । यह राजनीतिक आचरण-व्यवस्था नीति-निरपेक्ष हो गई, यह आकस्मिक बात नहीं थी । यह तो उस विचार-परम्परा के विकास का ही परिणाम था जिसे सेण्ट आगस्टाइन ने जन्म दिया । मेकियावली ने नीतिनिरपेक्ष राजनीति को जन्म दिया । उसके अनन्तर तो बोदीन (Bodin), ग्रोशियस (Grotious), हॉब्स (Hobbes), तथा लॉक (Locke) इत्यादि ने उसकी नीतिनिरपेक्ष राजनीति का पूर्ण अनुसरण किया। राजनीति और नीतिशास्त्र का पुनर्मिलन हम Rousseau के विचारों में पाते हैं । प्लेटो और अरस्तू के बाद रूसो ही एक ऐसा विचारक है कि जिसने राज्य को एक नैतिक संस्था स्वीकार किया और उसके उद्देश्य नैतिक माने। रूसो के विचारों का ही अनुसरण करते हुए कान्ट (Kant) हीगल (Hegal), ग्रीन (T. H. Green) इत्यादि आधुनिक विचारकों ने राजनीति शास्त्र और नीतिशास्त्र को एक दूसरे के सान्निध्य में ला दिया।

आधुनिक विचारक तो नीतिशास्त्र और राजनीति को एक दूसरे के लिए पूरक समझते ही हैं। आइवर ब्राउन (Ivor Brown) ने कहा है कि "**राजनीतिक सिद्धान्तों के अभाव में नैतिक सिद्धान्तवाद अपूर्ण रह जाता है, क्योंकि मानव एक सामाजिक प्राणी है और समाज से पृथक नहीं रह सकता । नैतिक सिद्धान्तों के अभाव में राजनीतिक सिद्धान्त सारहीन रह जाते हैं, क्योंकि उनका अध्ययन और उनके परिणाम मूलतः हमारी नैतिक मूल्यों की व्यवस्था पर, हमारी सही और गलत की धारणाओं पर आश्रित रहते हैं।**" एक अन्य लेखक का विचार है कि राजनीति शास्त्र और आचार शास्त्र का विभेद दोनों के लिए ही हितकर नहीं। **नीतिशास्त्र से अलग होकर राजनीति शास्त्र बालू के अस्थिर आधार पर टिकने का प्रयत्न करता है। और नीतिशास्त्र राजनीति से अलग होकर संकीर्ण और कल्पनात्मक हो जाता** है।" जार्ज काटलिन और लार्ड ऐक्टन ने भी दोनों के सम्बन्ध की निकटता को स्वीकार करते हुए कहा कि नीतिशास्त्र राज्य के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है और हमारे लिए मूल्य और मानदण्ड । वह हमारा राजनीतिक जीवन में पथ-प्रदर्शन करता है।

अन्त में हमें इस सान्निध्य को स्वीकार करते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि राजनीति और नीतिशास्त्र एक दूसरे से स्वतन्त्र स्थिति भी रखते हैं । राजनीति हमारे बाह्य जीवन का अध्ययन है, वह व्यक्ति के बाह्य जीवन के नियमन के लिए साधन प्रस्तुत करता है। राज्य द्वारा बनाये गये कानून हमारी बाहरी जिन्दगी से ही सम्बन्धित हैं। परन्तु आचारशास्त्र हमारे मन, विचार और अन्तःकरण की सूक्ष्म वृत्तियों का नियमन तो करता ही है साथ ही साथ बाहरी जिन्दगी के नियम भी सुझाता है।

१४. राजनीति शास्त्र और मनोविज्ञान (Psychology)

मनुष्य के मन की क्रिया-प्रक्रिया का अध्ययन करने वाले शास्त्र को मनो-

विज्ञान कहते हैं। राज्य मानव-संस्था है, अतः यह सर्वथा स्वाभाविक है कि उस पर मनुष्य की मानसिक क्रिया-प्रक्रिया का प्रभाव पड़े। हमारा सामाजिक आचरण मानसिक प्रेरणा का ही फल है। अतः राजनीति शास्त्र जब हमारी राजनीतिक क्रियाओं का अध्ययन करता है तो उसे मनोविज्ञान का भी आश्रय लेना पड़ता है। क्योंकि हमारे राजनीतिक, सामाजिक संगठनों का आधार तर्क-बुद्धि के साथ-साथ अन्तःप्रवृत्तियाँ और भावनाएँ भी हैं। इनके समुचित ज्ञान के बिना राज्य-संस्थाओं में होने वाले परिवर्तनों का समझना हमारे लिए कठिन हो जायगा।

व्यावहारिक राजनीतिक जीवन में तो मनोविज्ञान का और भी अधिक महत्त्व है। जनता की मानसिक दशा (Psychology) का अनुमान लगाये बिना जब कभी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग किया गया या जब कभी ऐसे क्रान्तिकारी, राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन किये गये जिनके लिए जन-सामान्य मानसिक रूप तैयार नहीं था, तभी उनका विरोध हुआ और उन्हें निष्फल कर दिया गया। इसी प्रकार एक सफल राजनीतिक नेता के लिए एक सफल मनोवैज्ञानिक होना भी आवश्यक है। जनता की मानसिक स्थिति को समझने वाला नेता ही उसे अपने पीछे चला सकता है। राजनीतिक शासन-प्रणालियाँ भी तभी सफल हो सकती हैं जब कि वह जनता की मानसिक प्रवृत्ति पर आधारित हों।

आज राजनीति शास्त्र के अध्ययन में मनोविज्ञान का प्रयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है। बार्कर ने ठीक ही कहा है कि "**मनुष्य के कार्यों की पहेली सुलझाने में मनोविज्ञान का प्रयोग आजकल एक फैशन हो गया है। यदि हमारे पूर्वज जीव-विज्ञान के दृष्टिकोण से विचार करते थे तो हम मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से।**"[1]

राज्य समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने वालों में इंग्लैण्ड में वाल्टर बेजहोट (W. Bagehot), ग्राहम वेलस (Graham Walles), मैक्डूगल फ्रांस में टार्ड (Tarde), दुरखियम (Durkheim), लेबां (Le-Bon) तथा अमेरिका के बाल्डविन (Baldwin) प्रमुख हैं।

इन राजनीतिक मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि राजनीतिक क्रियाओं में मनुष्य अपनी तर्क-बुद्धि (Reason) द्वारा नहीं अपितु भाव (Emotion), प्रवृत्ति (Instinct), प्रकृति (Habit), अनुकरण (Imitation), तथा संकेत (Suggestion) द्वारा कार्य प्रवृत्त होता है। अतः राजनीतिक क्रियाओं के समुचित अध्ययन के लिए इन मानव-स्वभाव के तत्त्वों के समझने की परम आवश्यकता है।

परन्तु मनोविज्ञान का राजनीति में प्रयोग कुछ निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत ही हो सकता है। पहले तो हमें यह समझ लेना चाहिए कि मनोवैज्ञानिक जिन मानसिक प्रवृत्तियों (Motive forces) को हमारी क्रियाओं का मूल प्रेरक मानते हैं वे अभी तक सर्वथा अनिश्चित हैं। मानव-मन की व्यवस्था बहुत जटिल (Com-

1. "The application of the psychological clue to the riddles of human activity has indeed become the fashion of the day. If our farthers thought biologically, we think psychologically." —*E. Barker*,

plex) है। वह किसी एक या दो-चार प्रवृत्तियों का परिणाम नहीं जैसा कि मैक्डूगल तथा वेलस मानते हैं। मैक्डूगल की Instinct theory—मन प्रवृत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त—तो आज स्वीकार ही नहीं किया जाता। वेलस के इस कथन में सत्य का पर्याप्त अंश है कि हमारे कुछ सामाजिक कार्य तर्क-बुद्धि के आधार पर उचित नहीं प्रतीत होते और हमारी विधान-पालिकाओं में अक्सर Mob Psychology का ही प्रदर्शन होता है। परन्तु तर्क-बुद्धि का राजनीतिक क्षेत्र में कुछ महत्त्व ही नहीं, यह सर्वथा भ्रामक है।

हमारी तथाकथित प्रवृत्तियाँ भी तो सामाजिक वातावरण में पालित, पोषित और परिवर्द्धित होती रहती हैं। उन सब का समाज में संस्कार होता रहता है, हम केवल असंस्कृत प्रवृतियों के आधार पर ही संस्कृत जीवन का अध्ययन नहीं कर सकते।

फिर राजनीति शास्त्र मूल्यों और आदर्शों को स्थापित करता है जब कि मनोविज्ञान का अध्ययन तथ्यपूर्ण होता है अत. राजनीति शास्त्र अधिकतर दर्शन तथा नीति इत्यादि आदर्शपरक शास्त्रों (Normative sciences) की ओर अधिक झुकता है, मनोविज्ञान की ओर कम।

१५. राजनीति शास्त्र और भूगोल (Geography)

मानव के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन पर भौगोलिक तथा भौतिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है, इस बात से सभी राजनीति शास्त्र और समाजशास्त्र के लेखक सहमत हैं। देश के राजनीतिक और आर्थिक जीवन पर पर्वत तथा नदियाँ, मैदान तथा रेगिस्तान, समुद्र और खनिज पदार्थ इत्यादि की उपस्थिति या अनुपस्थिति का विशेष प्रभाव होता है। इंग्लैण्ड संसार में बहुत देर तक समुद्र की लहरों पर शासन करता रहा है, क्योंकि उसके चारों ओर समुद्र की अवस्थिति ने उसे दुनिया की महान नौ शक्ति बना दिया। औद्योगिक दृष्टि से इंग्लैण्ड दूसरे देशों की अपेक्षा शीघ्र उन्नत हो गया इसका बड़ा कारण औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक खनिज-पदार्थों की बहुलता ही थी। भारत की अध्यात्मप्रधान संस्कृति यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों का ही परिणाम समझी जाती है। प्राचीन यूनान में बहुत देर तक स्वतन्त्र नगर राज्य टिक सके और उनके स्थान पर बहुत समय तक एक यूनानी साम्राज्य न बन सका, इसकी बड़ी वजह यूनान के मुश्किल से पार किये जाने वाले पहाड़ी प्रदेश थे। अफगानिस्तान और नेपाल दुनिया की प्रगति की दौड़ में अपनी भौगोलिक परिस्थितियों के कारण ही पीछे रह गये।

परन्तु कुछ राजनीति-विशारदों ने भौगोलिक परिस्थितियों का प्रत्यक्ष और निर्णयात्मक (Deterministic) प्रभाव स्वीकार किया है। उनका कथन है कि एक विशेष प्रकार का भौतिक वातावरण एक विशेष राज्य-प्रणाली का जन्मदाता होता है। रूसो (Rousseau) के मतानुसार ग्रीष्म जलवायु में एकतन्त्र स्वेच्छाचारी (Despotism) शासन का विकास होता है। अति शीत जलवायु में बर्बरता और

समशीतोष्ण (मध्यम प्रकार की) जलवायु में सुव्यवस्थित राज्य-पद्धति (Good polity) का विकास होता है। उसने छोटे-छोटे देशों के लिए प्रजातन्त्र और बड़े देशों के लिए राजतन्त्र (Monarchy) को उपयुक्त माना है।

मॉण्टेस्क्यू (Montesquieu) ने भी राजनीतिक जीवन और विचार-धाराओं पर भौगोलिक परिस्थितियों के निर्णयात्मक प्रभाव को स्वीकार किया है। उसका कथन है कि शीत जलवायु स्वतन्त्रता और जनतन्त्र के लिए विशेष अनुकूल है। उसके अनुसार गर्म जलवायु निरंकुश शासन (Despotism) के लिए और शीत जलवायु जनतन्त्रवाद (Democracy) के लिए विशेष उपयुक्त होता है।

आधुनिक काल में ब्लंशली, ट्रीटशे, हरिङ्गटन इत्यादि ने बाह्य भौगोलिक परिस्थितियों का हमारे राजनीतिक जीवन पर विशिष्ट प्रभाव स्वीकार किया है।

बकल (Backle) ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'सभ्यता का इतिहास' (Hisotry of Civilization) में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य की वैयक्तिक और सामाजिक प्रवृत्तियों का, उसकी राजनीतिक क्रियाओं और संस्थाओं का निर्माण और विकास मनुष्य की इच्छा-शक्ति द्वारा नहीं अपितु भौतिक तथा भौगोलिक वातावरण के प्रभावस्वरूप होता है। उसने जलवायु, भोजन, धरती तथा प्रकृति के अन्य सामान्य रूपों का मानव के सामाजिक जीवन में निर्णयात्मक रूप मान लिया है। भौगोलिक परिस्थितियों का इस प्रकार का स्वरूप अतिशयोक्तिपूर्ण है। यह बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बतलाया गया है। आज भूगोल का हमारे सामाजिक जीवन में वह महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं जो प्रारम्भिक युग में था। भौगोलिक परिस्थितियाँ हमारे जीवन को अप्रत्यक्ष (Indirect) रूप से प्रभावित करती हैं, प्रत्यक्ष रूप से नहीं, फिर आज तो हमने भौगोलिक परिस्थितियों को बहुत कुछ अपने वश में कर लिया है। हम प्रकृति के नाना रूपों को अपनी सभ्यता (Technical civilization) में प्राप्त नवीन साधनों से बहुत कुछ परिवर्तित कर सकते हैं।

यह कहना भी सर्वथा ग़लत है कि गर्म जलवायु एकतन्त्र और निरंकुश शासन के लिए उपयुक्त होता है और शीत प्रजातन्त्र के लिए। प्राचीन ग्रीस और भारत दोनों में ही गणतन्त्रों का विकास हुआ और मध्यकालीन पूर्व और पश्चिम दोनों में ही निरंकुश राजतन्त्रों का।

हमारे सामाजिक जीवन में भौगोलिक परिस्थितियाँ निर्णयात्मक रूप में बहुत कम आती हैं, विशेष रूप से आधुनिक जमाने में। यदि हम विभिन्न देशों के इतिहास का अध्ययन करें तो हमें यह स्पष्ट हो जायगा कि सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ इतनी शीघ्रता से परिवर्तित होती हैं जितनी कि भौगोलिक परिस्थितियाँ कभी भी नहीं। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि वैदिक काल से लेकर आज तक भारत की राजनीतिक परिस्थितियों में अनेक परिवर्तन हो गये, अनेक राजनीतिक व्यवस्थाएँ बनीं और मिटीं, अनेक राजनीतिक वाद प्रचलित हुए और समाप्त हो गये, परन्तु भौगोलिक परिस्थितियों में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। यूरोप में भी विगत शताब्दियों में दास-प्रथा, सामन्तवाद, राजतन्त्रवाद, प्रजातन्त्रवाद और अब समाजवाद

इत्यादि शासन-प्रणाली के अनेक रूप और सिद्धान्त प्रचलित हुए परन्तु भौगोलिक परिस्थितियाँ अपने आप में वही रहीं, उनमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुए।

इस प्रकार राजनीति और भूगोल का सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं अप्रत्यक्ष ही अधिक है, विशेष रूप से आज के युग में।

१६. राजनीति शास्त्र तथा अन्य विज्ञान

राज्य विज्ञान का उपर्युक्त विज्ञानों के अतिरिक्त जीव विज्ञान (Biology), मानव शरीर रचना विज्ञान (Anthropology), गणनाशास्त्र (Statistics), नागरिकशास्त्र (Civics) तथा विधानशास्त्र (Jurisprudence) इत्यादि से भी गहरा सम्बन्ध समझा जाता है। जहाँ तक नागरिकशास्त्र और विधानशास्त्र का सम्बन्ध है वे तो राजनीति शास्त्र के ही भाग समझे जाते हैं। नागरिकशास्त्र बहुत कुछ राजनीति शास्त्र पर ही आधारित है; क्योंकि नागरिकशास्त्र में वर्णित अधिकार और कर्तव्य राज्य और उसके स्वरूप, शासन और उसका संगठन इत्यादि सभी राजनीति शास्त्र में विस्तारपूर्वक समाविष्ट रहते हैं।

विधानशास्त्र राजकीय कानूनों का अध्ययन है। राज्य विधान पर ही आधारित है। अतः राज्य विज्ञान में कानून, उसके विविध स्रोत और रूप सभी सम्मिलित किए जाते हैं।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि सभी सामाजिक विज्ञान परस्पर सम्बन्धित हैं। वस्तुतः ज्ञान तो अखण्ड है, उसका विभाजन तो हम केवल अपने अध्ययन की सुविधा के लिए करते है। अतः इस अखण्ड ज्ञान का राजनीति शास्त्र एक अंग है, वह इन सबसे भली प्रकार से सम्बन्धित है; इसके समुचित ज्ञान के लिए अन्य विज्ञानों का अध्ययन भी आवश्यक है।

Important Questions

	Reference
1. Define the nature and the scope of Political Science and discuss its relations to Economics and Psychology. (*Punjab, 1946*)	Arts. 12 and 14
2. What is the relation of Political Science with (*a*) History, (*b*) Economics, (*c*) Ethics, (*d*) Sociology, (*e*) Psychology. (*Ag. 1941, 1939, Bom. 1936, 1937, 1941; Cal 1935, Pun. 1941, 1938, 1948, 1950, 1952, 1953*)	Arts. 9 to 14

अध्याय ३

राज्य और उसका स्वरूप

(State and its Characteristics)

१७. राज्य का महत्त्व

राजनीति शास्त्र का अध्ययन विषय राज्य है, अतः हमें 'राज्य' शब्द के अर्थ, उसकी व्यापकता और उसकी प्रकृति से भली भाँति परिचित होना चाहिए। हमारे सामाजिक जीवन में व्यवस्था और शान्ति स्थापित करने का उत्तरदायित्व राज्य पर है। मानवीय संस्कृति के प्रारम्भ में राज्य का क्या स्वरूप रहा होगा यह कह सकना तो कठिन है, परन्तु जहाँ कहीं भी सामाजिक संगठन होता है वहाँ किसी न किसी प्रकार की अधिकार शक्ति की स्थापना हो जाती है। यही अधिकार-शक्ति राज्य की नींव है। पुराने कबीलों (Tribes) में यह शक्ति सरदार या मुखिया (Chief) के पास होती थी और उसके आदेश का पालन सभी सदस्य करते थे। इसी सरदार की शक्ति ही बाद में विकसित हो राजकीय शक्ति बन गई।

राज्य शान्ति और व्यवस्था को कायम रख जहाँ वैयक्तिक जीवन की सुरक्षा (Security) का आश्वासन देता है वहाँ सामाजिक सहयोग के लिए उस वातावरण का सृजन भी करता है जो कि संस्कृति और सभ्यता के विकास के लिए परमावश्यक है।

राज्य हमारे लिए प्राकृतिक भी है और आवश्यक भी। राज्य प्राकृतिक तो इसलिए है कि वह हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का फल है। प्लेटो का यह कथन कि कोई भी मनुष्य स्वतःपूर्ण (Self-sufficient) नहीं है, एक परम सत्य है। हमारी बहुत सी ऐसी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति के लिए हम सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना करते हैं। परिवार की रचना हमारी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही हुई। अनेक परिवारों से मिलकर गाँव और गाँवों के समूह ही (नगर) राज्य के आधार बने। कोई भी परिवार अपने आप में पूर्ण नहीं होता, अतः अनेक परिवारों के आपस के सम्बन्धों की स्थापना उसी प्रकार स्वाभाविक है जिस प्रकार अनेक मनुष्यों में सामाजिक सम्बन्धों की। **अरस्तू का कथन है कि जो मनुष्य राज्य में रहने की आवश्यकता को अनुभव नहीं करता वह या तो देव है और या पशु।** अरस्तू के अनुसार तो राज्य प्राथमिक है। वह व्यक्तियों से भी पहले आता है। इसका अर्थ यह नहीं कि ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य का उदय व्यक्तियों से पहले हुआ, अपितु इसका मतलब यह है कि मानसिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राज्य का जन्म पहले ही हो चुका था। क्योंकि वास्तविक राज्य के जन्म से पूर्व ही बौद्धिक दृष्टि से मनुष्य के मस्तिष्क में राज्य का विचार (Idea) पूर्ण विकसित रूप धारण कर चुका था।

राज्य आवश्यक है, क्योंकि बिना राज्य के हम शान्तिपूर्ण व्यवस्थित जीवन नहीं बिता सकते। वस्तुतः बिना राज्य के समाज की अवस्थिति ही असम्भव है। कुछ देर के लिए राज्य के बिना मानव-जीवन का ख्याल कीजिए। पुलीस, अदालत, न्याय-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था के खत्म होने पर क्या हमारे समाज में 'मात्स्य-न्याय' नहीं चल पड़ेगा ? जैसे छोटी मछली बड़ी मछली को निगल जाती है, वैसे ही राज्य की अनुपस्थिति से कमजोर आदमी शक्तिशाली के लिए शिकार ही बन जायगा। अतः जीवन की सुरक्षा के लिए राज्य आवश्यक है।

अरस्तू (Aristotle) ने कहा था कि **"राज्य का अस्तित्व केवल जीवन के लिए ही नहीं, बल्कि उत्तम जीवन के लिए होता है।"**[1] दूसरे शब्दों में राज्य की आवश्यकता केवल इसीलिए नहीं है कि वह हमारी कुछ शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं को पूर्ण करता है बल्कि इसलिए भी है कि उसके बिना सर्वप्रकार से सुख-पूर्ण, सुसंस्कृत और सुसभ्य जीवन की प्राप्ति भी असम्भव होती है।

१८. राज्य शब्द की व्याख्या

हिन्दी का राज्य शब्द अंग्रेजी के State शब्द का पर्यायवाची है। प्राचीन यूनान में राज्य के लिए पोलिस (Polis) शब्द प्रयोग किया जाता था जिस का अर्थ नगर राज्य (City State) था। प्राचीन यूनान के छोटे-छोटे राज्यों के लिए यह शब्द सर्वथा उपयुक्त था परन्तु आज के विशाल राज्यों के लिए नहीं। स्टेट शब्द का राज्य के अर्थ में सर्वप्रथम प्रयोग इटली के राजनीति शास्त्री मेकियावली ने किया था।

अंग्रेजी के स्टेट (State) शब्द की भाँति हिन्दी के राज्य शब्द का प्रयोग भी विविध अर्थों में होता है। क्योंकि 'राज्य' शब्द का राजनीति शास्त्र में अत्यन्त महत्त्व है अतः इसके वैज्ञानिक अर्थ से हमें अवश्य अवगत होना चाहिए।

राज्य शब्द का प्रयोग 'राष्ट्र', 'समाज', 'सरकार' तथा 'देश' इत्यादि के अर्थ में किया जाता है। जहाँ फ्रांस, चीन, भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका को हम राज्य कहते हैं वहाँ बंगाल, पंजाब, उत्तर प्रदेश, हैदराबाद, न्यूयार्क, कैलीफोर्निया इत्यादि को भी राज्य कहा जाता है। भारत और अमेरिका संघ राज्य (Federation) हैं, बंगाल, पंजाब तथा न्यूयार्क इत्यादि इन राज्यों के सदस्य (Component units) हैं, स्वतन्त्र राज्य नहीं। वैज्ञानिक दृष्टि से इन्हें हम राज्य नहीं कह सकते, क्योंकि इन सब के पास प्रभुता या सर्वोपरि सत्ता (Sovereignty) का अभाव है, वे अपने अन्दरूनी और बाहरी मामलों में पूरी तरह से स्वतन्त्र नहीं। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत के बहुत से देशी राज्य (Native States) यथा जयपुर, जोधपुर, काश्मीर इत्यादि राज्य (States) कहलाते थे और उनके शासक महाराजा, राजा या नवाब कहलाते थे। परन्तु विशुद्ध राजनीति विज्ञान के अनुसार इन्हें राज्य

1. "The State exists for the sake of good life and not for life only."—*Aristotle.*

कहना सर्वथा गलत है । १५ अगस्त, १९४७ से पूर्व तो भारत स्वयं एक राज्य नहीं था, चाहे वह राष्ट्रसंघ (The League of Nations) का सदस्य था, क्योंकि भारत और ये अन्य सब राज्य ब्रिटिश सरकार के अधीन थे और प्रभुता-(Sovereignty) हीन थे। राजनीति शास्त्र में तो केवल प्रभुतासम्पन्न (Sovereign) राज्यों पर ही विचार किया जाता है, अन्य पर नहीं।

राज्य और सरकार शब्द भी बहुधा समानार्थक शब्दों के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। हम साधारणतः कहते हैं कि राज्य को हमारे आर्थिक जीवन का नियन्त्रण करना चाहिए या धर्म के मामले में दखल नहीं देना चाहिए तो दरअसल हमारा मतलब राज्य (State)से न हो सरकार (Government)से होता है। फ्रांस के १४वें लुई ने जब यह कहा था कि "मैं ही राज्य हूँ" (I am the State) तो वह स्वयं राज्य नहीं था अपितु राज्य का एक अंग—सरकार था । सरकार राज्य का एक हिस्सा है। वह राज्य की इच्छा-पूर्ति का साधन है । जिस प्रकार मस्तिष्क को हम शरीर नहीं कह सकते या एक कम्पनी के डायरेक्टरों के बोर्ड को ही कम्पनी नहीं कह सकते उसी प्रकार एक सरकार राज्य नहीं कहलाती। राज्य और सरकार का अन्तर हम विस्तार से आगे चलकर स्पष्ट करेंगे । यहाँ तो हमें यही जान लेना चाहिए कि राज्य स्थायी है, परन्तु सरकार बदलती रहती है । इंग्लैण्ड में युद्ध के दौरान में अनुदार दल (Conservative party) के नेता चर्चिल की सरकार थी परन्तु युद्ध के बाद मजदूर दल (Labour party) के नेता मि० एटली की सरकार बन गई । १५ अगस्त १९४७ से पूर्व भारत में ब्रिटिश शासन था बाद में काँग्रेसी सरकार बन गई। सरकार के चरित्र में अन्तर पड़ सकता है परन्तु राज्य का रूप हमेशा एक-सा रहता है । राज्य सम्पूर्ण जनता से मिलकर बनता है परन्तु सरकार चन्द व्यक्तियों की होती है। राज्य सर्वोपरि सत्ता-सम्पन्न होता है परन्तु सरकार की शक्तियाँ निश्चित होती हैं। राज्य के अधिकार हमेशा असीम (Unlimited) समझे गये हैं परन्तु सरकार के अधिकारों पर संविधान (Constitution) द्वारा बहुत कुछ पाबन्दियाँ लगा दी जाती हैं । इस प्रकार राज्य और सरकार एक चीज नहीं इन दोनों में काफी अन्तर है।

राज्य और समाज भी एक चीज नहीं। समाज (Society) शब्द बहुत व्यापक है, वह हमारे सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का प्रतीक है। राज्य हमारे राजनीतिक जीवन का ही नियन्त्रण करता है । इस दृष्टि से राज्य समाज का एक हिस्सा है। दूसरा समाज सर्वोपरि सत्तासम्पन्न (Sovereign) नहीं, न ही वह शारीरिक दण्ड दे सकता है।

१९. राज्य का लक्षण (Definition of State)

राज्य की अनेक परिभाषाएँ हैं, वस्तुतः उतनी ही जितने कि राज्य विज्ञान के लेखक। शुल्ज ने साफ ही कहा है कि राज्य के इतने अधिक लक्षण किये गये हैं कि उनकी संख्या निर्धारित करना भी मुश्किल है । राज्य के स्वरूप और उसकी

प्रकृति के विषय में पुराने और नये जमाने में विचारकों के क्या मत थे, इस बात को समझने के लिए हमें उन द्वारा की गई राज्य की विभिन्न परिभाषाओं को जानना चाहिए । पुराने और नये विचारकों द्वारा की गई बहुत सी परिभाषाओं में से कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

राजनीति शास्त्र के जनक अरस्तू (Aristotle) ने राज्य की परिभाषा इन शब्दों में की है, **"राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक ऐसा समुदाय है जिसका उद्देश्य पूर्ण और सम्पन्न जीवन की प्राप्ति है ।"**[1]

रोमन विचारक सिसरो ने राज्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि **"राज्य एक ऐसा बहुसंख्यक समुदाय है जो अधिकारों की सामान्य भावना तथा लाभों में पारस्परिक सहयोग द्वारा जुड़ा होता है ।"**[2]

ग्रेशियस (Grotious) ने सिसरो के मत का अनुसरण किया है । उसके अनुसार **"राज्य ऐसे स्वतन्त्र मनुष्यों का एक पूर्ण समाज है जो अधिकार के उपभोग के लिए तथा सामान्य उपयोगिता के लिए परस्पर बँधे हुए हैं ।"**

फ्रेंच विचारक बोदीन (Bodin) अरस्तू के मत को स्वीकार करता हुआ कहता है, **"राज्य अपनी सामान्य सम्पत्ति सहित परिवारों का एक समुदाय है तथा जो सर्वोच्च सत्ता और विवेक-बुद्धि द्वारा नियन्त्रित है ।"**[3]

राज्य की आधुनिक सन्तोषप्रद परिभाषा देने वालों में हालैण्ड, विल्सन, हाल, ब्लंशली, गार्नर तथा लास्की प्रमुख हैं । अंग्रेज विचारक हालैण्ड के मतानुसार **"राज्य मनुष्यों के उस समुदाय को कहते हैं, जो साधारणतया किसी निश्चित प्रदेश पर बसा हुआ हो, और जिसमें किसी एक वर्ग अथवा उल्लेखनीय बहुसंख्यक दल की इच्छा अन्य सबके मुकाबिले में चलती हो ।"**[4]

विल्सन के मत में **"एक निश्चित प्रदेश के भीतर कानून के लिए संगठित जनता का नाम राज्य है ।"**[5]

हॉल ने अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार राज्य की स्थिति का ख्याल करते हुए उसकी परिभाषा इस प्रकार की है, **"स्वतन्त्र राज्य के लक्षण यह हैं कि उसका**

---

1. "The State is a union of families and villages having for its end a perfect and self-sufficient life."—*Aristotle.*

2. "The State is a numerous society united by a common sense of right and mutual participation in advantages."—*Cicero.*

3. "State is an association of families and their common possessions, governed by a supreme power and by reason."—*Bodin.*

4. "The State is a numerous assemblage of human beings, generally occupying a certain territory, among whom the will of majority or of an ascertainable class of presons is, by the strength of such a majority or class, made to prevail against any of their number who oppose it." *–Holland.*

5. "The State is a people organised for law within a definite territory."—*Woodrow Wilson.*

निर्माण करने वाला समाज स्थायी रूप से राजनीतिक ध्येय की प्राप्ति के लिए संगठित है। उसका एक निश्चित प्रदेश होता है और वह बाहरी नियन्त्रण से मुक्त होता है।"[1]

ब्लंशली के अनुसार **"किसी निश्चित प्रदेश के राजनीतिक दृष्टि से संगठित लोगों का नाम ही राज्य है।"** (The State is the politically organised people of a definite territory.)

गार्नर द्वारा किया गया राज्य का लक्षण सर्वाधिक स्पष्ट और सन्तोष-प्रद है। उसका कथन है कि—

"The State as a concept of Political Science and public law is a community of persons more or less numerous, permanently occupying a definite portion of territory, independent or nearly so, of external control and possessing an organised Government to which the great body of inhabitants render habitual obedience."

अर्थात्—**राजनीति शास्त्र और सार्वजनिक कानून की धारणा के रूप में राज्य न्यूनाधिक बहुसंख्यक व्यक्तियों का एक ऐसा समुदाय है जो किसी प्रदेश के निश्चित भाग में स्थायी रूप से रहता हो, जो बाहरी शक्ति के नियन्त्रण से पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से स्वतन्त्र हो और जिसमें ऐसी स्वतन्त्र सरकार विद्यमान हो जिसके आदेश का पालन नागरिकों के विशाल समुदाय द्वारा स्वभावतः किया जाता हो।"**

प्रो० लास्की ने भी राज्य की परिभाषा इन शब्दों में दी है—

"राज्य शासक तथा शासित वर्गों में विभाजित एक प्रादेशिक समाज है जो अपने निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में अन्य समस्त संस्थाओं पर सर्वोच्च सत्ता का दावा रखता है।"[2]

२०. राज्य के आवश्यक तत्त्व (The essential Characteristics of the State)

ऊपर दी गई राज्य की परिभाषाओं के विश्लेषण के अनन्तर हमें पता चलता है कि राज्यों के लिए निम्नलिखित भौतिक (Physical) और आत्मिक (Spiritual) तत्त्वों की आवश्यकता है—

(१) **जनता** (Population)

(२) **भू-भाग या प्रदेश** (Territory)—यानि निश्चित भू-प्रदेश जहाँ कि

---

1. "The marks of an independent State are that the community constituting it is permanently established for a political end, that it possesses a defined territory, and that it is independent of external control."—*Hall.*

2. "The State is a territorial society divided into government and subjects, claiming within its allotted physical area a supremacy over all other institutions."—*Laski.*

स्थायी रूप से जनता निवास करे।

(३) **राजनीतिक संगठन या सरकार** (Government) जिसके द्वारा राज्य के नियमों की अभिव्यक्ति और निर्माण होता है और साथ ही जो उन्हें लागू भी करती है।

(४) **प्रभुत्व शक्ति** (Sovereignty)—जिसके आधार पर राज्य बाह्य और आन्तरिक दृष्टि से असीम राजकीय शक्ति का प्रयोग करता है।

राज्य के प्रथम दो तत्त्व उसके भौतिक पक्ष और पिछले दो उसके आत्मिक पक्ष का निर्माण करते हैं। राज्य का निर्माण इन चारों तत्त्वों की समान उपस्थिति द्वारा ही सम्भव है, किसी एक की भी अनुपस्थिति राज्य को खत्म कर देगी। केवल आबादी, प्रदेश या सरकार अलग-अलग शक्ल में राज्य की स्थापना नहीं कर सकते। राज्य का निर्माण वस्तुतः जनता, प्रदेश, सरकार तथा प्रभुत्व शक्ति के योग से ही होता है।

अब हम राज्य के इन चारों तत्त्वों (Elements) पर पृथक्-पृथक् विस्तार-पूर्वक विचार करेंगे।

(१) **जनता या आबादी** (Population)—जनसंख्या राज्य का प्रथम तत्त्व है। जनशून्य प्रदेश राज्य का निर्माण नहीं कर सकते। वस्तुतः जनता के बिना राज्य की कल्पना ही असम्भव है। परन्तु एक राज्य के निर्माण के लिए जनसंख्या कितनी होनी चाहिए, यह कह सकना अत्यन्त कठिन है। यह तो ठीक है कि एक या दो परिवार मिलकर किसी राज्य का निर्माण नहीं कर सकते तथापि इस विषय में किसी एक निश्चित नियम का निर्धारण करना मुश्किल है। अन्य तत्त्वों की उपस्थिति में जनसंख्या का अन्तर राज्य की प्रकृति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता। तो भी प्राचीन लेखकों ने राज्य की जनसंख्या के निर्धारण के प्रयत्न किये हैं। प्लेटो (Plato) ने अपनी पुस्तक 'लाज़' (Laws) में आदर्श राज्य की आबादी ५,०४० निश्चित की थी। अरस्तू ने किसी निश्चित संख्या को तो निर्धारित नहीं किया तथापि उसका विचार था कि जन संख्या न बहुत अधिक हो और न बहुत कम ही। आबादी का परिमाण अधिक से अधिक उतना होना चाहिए कि जिसमें राज्य आत्म-निर्भर (Self-sufficient) हो सके, और कम से कम इतना हो कि शासन ठीक ढंग से और सुविधापूर्वक चलाया जा सके। रूसो (Rousseau) यूनान की प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र प्रणाली (Direct democracy) का समर्थक था अतः उसके लिए राज्य की जनसंख्या का एक विशेष महत्त्व था। उसने एक राज्य की जनसंख्या दस हजार निश्चित की है।

परन्तु आज के राज्यों पर जनसंख्या विषयक ये प्राचीन नियम लागू नहीं हो सकते। प्राचीन यूनान के लेखक नगर-राज्यों के युग में रह रहे थे। अतः उनके लिए इस दृष्टिकोण से सोचना सर्वथा स्वाभाविक था। नगर-राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का प्रचलन था। जनता स्वयं अपने कानून बनाती थी और स्वयं शासक चुनती थी। प्रतिनिधि शासन-प्रणाली (Representative Govern-

ment) का प्रचलन न होने के कारण थोड़ी-थोड़ी आबादी वाले गणराज्य ही राजनीतिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त समझे गये।

परन्तु आज तो प्रतिनिधि शासन-प्रणाली के विकास के कारण अल्प जनसंख्या की प्राचीन मर्यादा निरर्थक है। फिर आज के विज्ञान के युग में यातायात के ऐसे साधनों का विकास हो गया है कि बड़े से बड़े आबादी वाले देश पर भी आसानी से शासन हो सकता है। संघ राज्य (Federal Government) और स्थानीय स्वायत्त शासन व्यवस्था (System of local Self-Government) इत्यादि के विकास के कारण जनता और शासकों में सीधा सम्पर्क भी रहता है। आज किसी भी देश की जनसंख्या न केवल उसकी सैनिक शक्ति का ही निर्माण करती है अपितु उसके आर्थिक और औद्योगिक निर्माण में भी सहायक साबित होती है। इस कारण आज के विचारक अधिकतर विशाल जनसंख्या वाले राज्यों के समर्थक हैं। अनेक देशों में आबादी के बढ़ाने के लिए राजकीय प्रयत्न किये जाते हैं। रूस में अधिक बच्चों की माताएँ राज्य द्वारा सम्मानित की जाती हैं। हिटलर के जर्मनी में भी जनसंख्या बढ़ाने के ऐसे ही अनेक प्रयत्न किये जाते थे।

आज के देशों की आबादी में बड़ा अन्तर है। कुछ राज्यों में जनसंख्या करोड़ों तक है जब कि कुछ में केवल कुछ सहस्रों तक ही सीमित है। इस प्रकार आज के जमाने में जनसंख्या के विषय में हम किसी प्रकार की भी सैद्धान्तिक या व्यावहारिक पाबन्दी नहीं लगा सकते। आज हम राज्य की जनसंख्या के दो रूप पाते हैं, एक रूप तो नागरिक का है और दूसरा प्रजा का। प्राचीन यूनान में नागरिकता के अधिकार दासों को प्राप्त नहीं थे, राज्य की केवल थोड़ी सी जनसंख्या ही नागरिक कहलाती थी। एक राज्य के सम्पूर्ण निवासी, चाहे उन्हें नागरिकता प्राप्त थी या नहीं, प्रजा कहलाते थे। वर्तमान युग में नागरिक वह लोग कहलाते हैं जिन्हें राजनीतिक अधिकार—वोट इत्यादि देने के अधिकार—प्राप्त हों। प्रत्येक राज्य में आबादी का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा होता है जिसे वोट देने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। बहुत से ऐसे विदेशी (Aliens) भी होते हैं, जो नागरिक तो किसी अन्य राज्य के होते हैं परन्तु रहते दूसरे देशों में हैं। इस प्रकार एक राज्य की सम्पूर्ण आबादी चाहे उसे राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं या नहीं उस राज्य की प्रजा (Subject) कहलाती है। परन्तु आजकल प्रजा शब्द का प्रयोग अरुचिकर (Distasteful) हो गया है, प्रजा शब्द का विशेष सम्बन्ध राजतन्त्र से है। अतः आज के लोकतन्त्र के युग में प्रजा के स्थान में देशज (National) तथा नागरिक (Citizen) शब्द का प्रयोग होने लगा है। आज प्रजा और राजा का भेद समाप्त हो गया है।

(२) भू-भाग अथवा प्रदेश (Territory)—राज्य के भौतिक स्वरूप को पूर्ण करने वाला दूसरा आवश्यक तत्त्व है भू-प्रदेश (Territory)। जिस प्रकार बिना जनता के राज्य-निर्माण असम्भव है वैसे ही बिना भू-प्रदेश के भी। एक घुमक्कड़ कबीला शासन-व्यवस्था से युक्त होता हुआ भी जब तक किसी निश्चित प्रदेश पर बस न जाय तब तक राज्य नहीं कहला सकता। प्राचीन युग में जब मनुष्य शिकार

मारकर या मछली पकड़कर अथवा भेड़-बकरी चराकर अपना निर्वाह करता हुआ खानाबदोश जिन्दगी गुजारता था तब उसने अपने यहाँ कुछ न कुछ नियम—रीति-रिवाज या परम्परा के रूप में—बनाए हुए थे, साथ ही उन कबीलों या जनों में कोई न कोई सरदार या मुखिया भी होता था । इसी प्रकार शासन की लगभग सम्पूर्ण व्यवस्था उनमें रहती थी, फिर भी वे राज्य नहीं कहे जा सकते थे, क्योंकि वे किसी एक निश्चित प्रदेश पर बसे हुए नहीं थे । जब कभी ये जन या कबीले किसी एक प्रदेश पर स्थायी रूप से बस गये तभी वे जनपद बन गये, तभी से उन्होंने राज्य का रूप ग्रहण कर लिया । इस प्रकार इन कबीलों ने क्रमशः राज्य रूप को प्राप्त किया ।

यहूदी विश्व की समृद्ध तथा सुसंस्कृत जातियों में हैं । उनकी संख्या और संगठन भी पर्याप्त है । फिर भी वे जब तक एक निश्चित प्रदेश में स्थायी रूप से बस न गये तब तक राज्य न बना सके । हाल ही में फिलस्तीन (Palistine) में वे एक प्रदेश पर कब्जा जमा वहाँ बस गये हैं । वही अब इज़राइल नाम से यहूदियों का राज्य प्रसिद्ध हो गया है । ब्लंशली ने वस्तुतः ठीक ही कहा है कि "जैसे राज्य का वैयक्तिक आधार जनता है उसी प्रकार उसका भौतिक आधार भूमि है । जनता उस समय तक राज्य का रूप धारण नहीं कर सकती जब तक कि उसका कोई निश्चित प्रदेश न हो ।"

राज्य विस्तार सीमा के विषय में लोगों में पर्याप्त मतभेद है । जहाँ प्राचीन यूनान (Greece) में छोटे-छोटे गणराज्यों को ही ठीक समझा जाता था वहाँ रोम में सम्पूर्ण विश्व को भी एक राज्य में समेटने का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मिल जाता है । परन्तु उस काल के विचारक साधारणतया विशाल राज्यों के पक्ष में न थे । प्लेटो, अरस्तू तथा रूसो इत्यादि सभी ने जिस प्रकार अल्प जनसंख्या वाले राज्यों का समर्थन किया वैसे ही उन्होंने उनके लिए छोटे प्रदेशों को उपयुक्त माना है । उनका विचार था कि विशाल राज्य में राज्य-प्रबन्ध ठीक-ठीक नहीं चलाया जा सकता, कानून का लागू करना कठिन हो जाता है, पारस्परिक सम्बन्धों की कमी के कारण जनता में पारस्परिक स्नेह की कमी होती है, साथ ही उसमें राज्य-भक्ति का भी अभाव रहता है । रूसो और मॉण्टेस्क्यू का मत है कि राज्य-प्रणाली और राज्य-विस्तार में गहरा सम्बन्ध होता है । रूसो के मतानुसार छोटे राज्य प्रजातन्त्र के उपयुक्त होते हैं और बड़े राजतन्त्र के । छोटे राज्य अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली माने जाते हैं । परन्तु आज प्रदेश के लिहाज से राज्यों के आकार में बहुत अन्तर है । जहाँ एक ओर सेन मेरिनो (San Marino) जैसे छोटे राज्य हैं जिनका क्षेत्रफल केवल ३८ वर्ग मील है वहाँ दूसरी ओर सोवियत रूस जैसे विशाल राज्य हैं जिनका क्षेत्रफल हजारों वर्ग मील है । आज के राज्यों की प्रवृत्ति विस्तार की ओर है । छोटे राज्यों का अस्तित्व सदा खतरे में रहता है । प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्ध ने इस बात को साबित कर दिया है कि छोटे राज्य बड़े राज्यों की दया पर जीवित रहते हैं । वैसे उनके लिए पर्याप्त आर्थिक उन्नति कर सकना भी कठिन होता है । वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना में सदा बाधा स्वरूप समझे जाते हैं । यह कहना कि प्रजा-

तन्त्र का विकास केवल छोटे-छोटे राज्यों में ही सम्भव है, सर्वथा गलत है। संयुक्त-राज्य अमेरिका में प्रजातन्त्र उतना ही सफल रहा है जितना इंगलैण्ड में। शासन के सुचारु रूप में चलाने में भी आकार विशेष बाधा के रूप में उपस्थित नहीं होता। हाँ, इस में सन्देह नहीं कि आज राज्य-शक्ति के विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) की आवश्यकता है, परन्तु उसका अर्थ यह नहीं कि विशाल राज्यों को तोड़ छोटे-छोटे राज्य स्थापित करने चाहिएँ। विशाल राज्यों के शासन में अधिक खर्च भी नहीं होता।

फिर भी राज्य-प्रदेश का सीमा निर्धारण असम्भव है। राज्य-क्षेत्र से हमारा तात्पर्य केवल भूमि से नहीं उसमें जलवायु तथा आकाश भी आते हैं। राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत उसकी सीमा के अन्तर्गत आने वाली नदियाँ, तालाब तथा झीलें सभी आ जाते हैं। साधारणतया समुद्र का किनारे से तीन मील का मार्ग राज्य की सीमा के अन्तर्गत आता है, परन्तु युद्ध-काल में राज्य सीमा इससे भी अधिक बढ़ जाती है। आकाश मार्ग पर भी प्रत्येक राज्य का अधिकार होता है। उसका दूसरे राज्यों द्वारा प्रयोग केवल अन्तर्राष्ट्रीय विधान और पारस्परिक समझौते द्वारा ही सम्भव है।

राज्य के प्रदेश का राज्य के स्वरूप पर भी विशेष प्रभाव पड़ता है। भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के असुरक्षित होने के कारण उसे सदा बाह्य आक्रमणों का शिकार बनना पड़ा। ग्रेट ब्रिटेन और जापान अपनी सामुद्रिक स्थिति के कारण ही संसार की नौ शक्तियाँ बन गईं। अमेरिका, रूस तथा चीन इत्यादि की प्रादेशिक विशालता भी उनके महान् राष्ट्र (Great Powers) होने का एक कारण है।

(३) राजनीतिक संगठन या सरकार (Government)—राज्य के आध्यात्मिक तत्त्वों में सरकार या शासन का प्रमुख स्थान है। एक निश्चित प्रदेश पर बस जाने के अनन्तर भी जनता राज्य नहीं बन जाती। निश्चित प्रदेश पर बसी जनता के शासन के लिए सरकार का होना आवश्यक है। सरकार के बिना जनता का न तो कोई संगठन होगा और न ही व्यवस्था। इसके अभाव में समाज में अराजकतापूर्ण स्थिति हो जायगी। लोगों की जान और माल किसी भी प्रकार की सुरक्षा नहीं होगी।

सरकार राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति (Expression) और उसकी पूर्ति का साधन है। राज्य तो एक भावात्मक परिभाषा (Abstract term) है, परन्तु सरकार स्पष्टतः मूर्त्त परिभाषा (Concrete term) है। सरकार के बिना राज्य की अवस्थिति असम्भव है। सरकार के विविध रूप हो सकते हैं। वह प्रजातन्त्र, राजतन्त्र, एकतन्त्र (Dictatorship), संसदीय (Parliamentary) या संघात्मक (Federal) आदि कई प्रकार की हो सकती है। चाहे उसका कैसा भी रूप क्यों न हो, सरकार के बिना कोई भी राज्य नहीं हो सकता। शासन का संचालन ही सरकार का काम नहीं होता वह जनता की नैतिक (Moral) सांस्कृतिक (Cultural), और आर्थिक (Economic) उन्नति के लिए प्रत्येक प्रकार के प्रयत्न कर सकती है। प्रारम्भ में सरकार का संगठन बहुत सीधा-सादा (Simple) होता था परन्तु आज वह बहुत ही जटिल (Complex) हो गया है। उसके कार्यों की संख्या बढ़

गई है साथ ही उसका संगठन भी पर्याप्त जटिल हो गया है।

साधारणतया सरकार के तीन प्रमुख भाग होते हैं—

(क) विधानपालिका (Legislature)

(ख) न्यायपालिका (Executive)

(ग) न्यायपालिका (Judiciary)

इन तीनों विभागों के पारस्परिक सहयोग से सरकार राज्य की इच्छा का निर्माण (Formation), अभिव्यंजन (Expression), और पालन (Execution) करती है।

सरकार में अपने आदेशों को पालन कराने की पूर्ण क्षमता होनी चाहिए।

(४) **प्रभुत्व शक्ति या सर्वोपरि सत्ता** (Sovereignty)—केवल जनता, प्रदेश और सरकार मिलकर ही राज्य नहीं बनते अपितु इन तत्त्वों के अतिरिक्त राज्यों में प्रभुत्व शक्ति (Sovereignty) का होना अनिवार्य है। कोई भी शासन के लिए संगठित एक विशिष्ट प्रदेश की जनता तब तक राज्य नहीं कहला सकती जब तक कि वह आन्तरिक तथा बाह्य दृष्टि से पूर्ण स्वतन्त्र न हो। राज्य में आदेश देने और उनके पालन कराने की पूर्ण क्षमता होनी चाहिए। इस प्रकार प्रभु शक्ति (Sovereignty) के दो रूप हैं—

(क) आन्तरिक प्रभुता (Internal sovereignty)

(ख) बाह्य प्रभुता (External sovereignty)।

आन्तरिक प्रभुता से हमारा मतलब है कि राज्य को अपनी प्रादेशिक सीमा के अन्तर्गत अवस्थित प्रत्येक व्यक्ति और व्यक्तियों के समुदाय एवं परिषद् और उनकी चेष्टाओं पर सर्वोच्च अनियन्त्रित एवं अमर्यादित (Unlimited) नियन्त्रण (Control) का कानूनी अधिकार प्राप्त हो। राज्य की यह शक्ति राज्य में स्थित अन्य समुदायों (Associations) में विभाजित नहीं की जा सकती, और यही कारण है कि राज्य अन्य सामाजिक समुदायों से भिन्न है, वह उनसे ऊँचा है।

बाह्य प्रभुता से हमारा मतलब राज्य का बाह्य नियन्त्रण से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होना है। यदि उस पर कोई अन्य देश कुछ पाबन्दियाँ लगाता है या उसकी वैदेशिक नीति का नियन्त्रण करता है या उसके मामलों पर शासन करता है तो वह राज्य नहीं कहला सकता। वह उसी राज्य का अंग बन जायगा जो उसका नियन्त्रण करता है।

यही कारण है कि भारत १५ अगस्त १९४७ से पूर्व राज्य नहीं था, वह ब्रिटिश साम्राज्य का ही भाग था। इससे पूर्व यद्यपि भारत में जनता थी, प्रदेश था, सरकार भी थी परन्तु प्रभुता नहीं थी।

प्रभुता के अभाव में ही भारत संघराज्य की या संयुक्त राज्य अमेरिका (U. S. A.) की पंजाब तथा बंगाल या न्यूयार्क व कैलीफोर्निया इत्यादि संघात्मक इकाइयाँ (Units of federation) राज्य नहीं कहला सकतीं।

राष्ट्रसघ (League of Nations) और संयुक्त राष्ट्रसंघ (United

Nations Organisation) विभिन्न राज्यों के संगठन हैं, कभी-कभी इन्हें विश्व का संघराज्य (World federation) भी कहा गया है। यह ठीक है कि इन संघों में कार्यपालिका, विधानपालिका तथा न्यायपालिका इत्यादि के समान रूप संगठन मिल जायेंगे परन्तु फिर भी इन्हें हम राज्य नहीं कह सकते। संघात्मक शासन के अन्तर्गत प्रभुसत्ता (Sovereignty) केन्द्रीय सरकार के पास होती है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वही सरकार उस राज्य का प्रतिनिधित्व करती है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के पास प्रभु शक्ति (Sovereignty) का अभाव है। वह सदस्य राज्यों को निर्देश तो दे सकता है परन्तु आदेश नहीं। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ में यह शक्ति नहीं कि वह सदस्य राज्यों पर अपना निश्चय थोप सके या उनसे उनकी इच्छा के विरुद्ध काम करवा सके। सभी राज्य प्रभुतासम्पन्न हैं, और उनमें से कोई भी अपनी प्रभुताशक्ति का कुछ भी भाग संयुक्त राष्ट्र को नहीं सौंपता, सब अपनी इच्छा से उसके सदस्य हैं, जब चाहें उसकी सदस्यता का त्याग कर सकते हैं। अतः संयुक्त राष्ट्रसंघ सर्वथा स्वतन्त्र राज्यों का समुदाय (Association) मात्र है, विश्व राज्य (World State) नहीं।

कभी कनाडा तथा आस्ट्रेलिया इत्यादि ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्यों के राज्यत्व (Statehood) में सन्देह प्रकट किया जाता है। यह कहा जाता है कि ये राज्य ब्रिटिश उपनिवेश हैं और ब्रिटिश साम्राट् को अपना सम्राट् मानते हैं, अतः ये राज्य उस प्रकार प्रभुतासम्पन्न नहीं जैसे कि अमेरिका तथा रूस। परन्तु ऐसा सोचना वस्तुस्थिति के विपरीत है। विगत वर्षों में इन उपनिवेशों ने अपने आन्तरिक और बाहरी मामलों में इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है कि वे अमेरिका और रूस की भाँति राज्य कहला सकते हैं। कनाडा, आस्ट्रेलिया इत्यादि संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य हैं, वे अपने राजदूत दूसरे देशों में भेजते हैं और दूसरे देशों से सब प्रकार की सन्धियाँ कर सकते हैं। दरअसल इंग्लैण्ड की भाँति वे अपने सभी कामों को करने से पूर्ण स्वतन्त्र हैं। सिद्धान्त रूप में वह इंग्लैण्ड के सम्राट् को अपना सम्राट् मानते हैं परन्तु व्यावहारिक रूप में वह इंग्लैण्ड का सम्राट् नहीं रहता वह तो कनाडा या आस्ट्रेलिया का सम्राट् बन जाता है। क्योंकि उसे उन देशों की विधानपालिकाओं (Legislative bodies) की इच्छा के अनुसार ही काम करना होता है।

इस प्रकार इन तत्त्वों के सम्मिलन से ही राज्य का निर्माण होता है। अन्त में हम कह सकते हैं कि **"एक निश्चित प्रदेश पर बसी राजनीतिक दृष्टि से संगठित अपने आन्तरिक और बाह्य मामलों में स्वतन्त्र जनता ही राज्य कहलाती है।"**

२१. राज्य तथा समाज (State and Society)

राज्य और समाज समान शब्दों के रूप में इस्तेमाल किये जाते हैं। समाज और राज्य में भेद न करने की प्रथा बहुत पुरानी है। प्राचीन यूनान के विचारकों ने राज्य और समाज में कभी भेद नहीं किया। प्लेटो और अरस्तू ने राज्य को समाज और समाज को राज्य माना है। उनके मतानुसार मनुष्य की जिन्दगी का कोई भी

ऐसा पहलू नहीं जो कि राज्य से बाहर हो या जो राज्य द्वारा नियन्त्रित न किया जा सकता हो। मनुष्य जीवन की सार्थकता समाज (राज्य) के लिए अपने स्वार्थों के बलिदान में ही निहित है। नागरिक और सामाजिक में या राजनीतिक तथा सामाजिक में उन्होंने कभी फर्क नहीं किया। प्लेटो और अरस्तू ने ही नहीं आधुनिक युग के हीगल, ब्रेडले तथा बोसांके इत्यादि आदर्शवादी विचारकों के अनुसार भी समाज और राज्य में कोई अन्तर नहीं। उन्होंने अपने इसी सिद्धान्त के आधार पर राज्य को दैवीय स्वरूप प्रदान किया और व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को राज्य का गुलाम बना दिया।

पुराने यूनान में छोटे-छोटे स्वतन्त्र नगर राज्य थे, उनमें आबादी अधिक नहीं थी, लोगों का आपस में बहुत हेल-मेल था, जैसे कि छोटी आबादियों में होना स्वाभाविक है। उनमें प्रत्यक्ष (Direct) और घनिष्ट (Intimate) सम्बन्ध होते थे, वे एक दूसरे को अच्छी तरह जानते थे। अक्सर राजनीतिक कामों के लिए वे एक स्थान पर इकट्ठे होते रहते थे। ऐसे हालात में उनके राजनीतिक और सामाजिक जीवन में कोई सूक्ष्म भेद नहीं था। समाज और राज्य शासन का संगठन भी बहुत सीधा-सादा था, सामाजिक श्रमविभाजन (Division of labour) का अधिक विकास नहीं हुआ था। समाज में अलग-अलग विशेष प्रकार के काम करने वाली संस्थाएँ पैदा नहीं हुई थीं। हरेक नगर अपने आप में राज्य भी था, चर्च भी और विद्यालय भी। ऐसे राज्य में रहते हुए प्राचीन विचारकों के लिए राज्य और समाज में भेद न करना कोई अस्वाभाविक बात नहीं। मनुष्य अपनी परिस्थितियों से बहुत ऊपर नहीं उठ सकता।

परन्तु आज राज्य और समाज में अन्तर न करना एक बहुत बड़ी भूल होगी। विगत शताब्दियों में राज्य और समाज में अभेद मानने के कारण ही अनेक अनर्थ हो गये हैं। हमारी अपनी ही आँखों के सामने हिटलर और मुसोलिनी ने राज्य और समाज में भेद न करते हुए ऐसे सम्पूर्णतावादी (Totalitarian) राज्यों का संगठन किया जिसमें व्यक्ति, उसके विचार तथा उसकी स्वतन्त्र स्थिति का कोई मूल्य नहीं था। राज्य और समाज के अन्तर को समझना राजनीनि शास्त्र के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः इस अन्तर को समझे बिना राज्य के किसी भी सही सिद्धान्त को निश्चित नहीं किया जा सकता। राज्य और समाज में निम्न भेद हैं—

(१) राज्य की अपेक्षा समाज एक विस्तृत अर्थ का परिचायक है। वह हमारे सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्धों का समूह है। राज्य तो हमारे सामाजिक सम्बन्धों के केवल एक वर्ग का ही विषय बनता है। अतः राज्य को हम समाज का एक भाग कह सकते हैं।

(२) समाज के भीतर अनेक समुदाय (Association) होते हैं जो कि मनुष्य की विविध प्रकार की सामाजिक इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। ये संस्थाएँ अपने संगठन में विश्वव्यापी भी हो सकती हैं। ऐसे ही बहुत से धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक समुदायों की तरह राज्य भी एक समुदाय मात्र है। वह अपनी प्रकृति में इन सामाजिक समुदायों से भिन्न नहीं। समाज के अध्ययन में हमें

इन सब प्रकार के सामाजिक समुदायों का अध्ययन करना होता है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन इन सामाजिक समुदायों के अन्तर्गत तो आ सकता है परन्तु किसी एक के अन्तर्गत नहीं। समाज की अवस्थिति इस बात को साबित करती है कि मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन राज्य के अधीन नहीं हो सकता—मनुष्य सम्पूर्ण रूप से नागरिक नहीं हो सकता। उसके जीवन के अन्य पहलू भी हैं और ये अन्य पहलू अन्य सामाजिक संस्थाओं से सम्बन्धित होते हैं। मेकआइवर (*MacIver*) के अनुसार **"परिवार, चर्च अथवा क्लब इत्यादि कुछ सामाजिक समुदाय ऐसे होते हैं जो राज्य की सृष्टि नहीं होते। न ही वे राज्य से प्रेरणा ही प्राप्त करते हैं। रीति, रिवाज, प्रतियोगिता इत्यादि अनेक सामाजिक शक्तियाँ ऐसी होती हैं जिनका राज्य संशोधन अथवा संरक्षण तो कर सकता है परन्तु जिन्हें वह जन्म नहीं दे सकता। इसी प्रकार मित्रता और ईर्ष्या सम्बन्धी कुछ ऐसी सामाजिक प्रेरक शक्तियाँ** (Motives) **होती हैं जिनके द्वारा स्थापित सम्बन्ध इतने घनिष्ट** (Intimate) **और व्यक्तिगत होते हैं कि राज्य का विशाल यन्त्र उन पर नियन्त्रण नहीं रख सकता।"**

(३) समाज में अन्तर्गत संगठित और असंगठित सभी प्रकार के समुदाय आ जाते हैं, परन्तु राज्य के लिए संगठन आवश्यक है। असंगठित मनुष्य समुदाय राज्य नहीं कहलाता। पुराने कबीले या जन जो राजनीतिक तौर पर संगठित नहीं थे राज्य नहीं कहलाते थे, यद्यपि वह समाज थे। आज भी अफगानिस्तान और पाकिस्तान के बीच के इलाके में बसे कबाइली पठान राज्य नहीं कहलाते।

(४) समाज में व्यक्ति के आचरण (Conduct) का नियन्त्रण सामाजिक परम्पराओं और रीति-रिवाजों (Customs) द्वारा होता है, जब कि राज्य में विधानपालिकाओं द्वारा निर्धारित कानूनों द्वारा। सामाजिक रीति-रिवाज को तोड़ने पर कोई शारीरिक दण्ड नहीं मिलता, फाँसी नहीं लटकाया जाता या जेल नहीं भेजा जाता। समाज तो केवल नैतिक दबाव से ही अपने नियमों को लागू करता है। जो व्यक्ति सामाजिक नियम भंग करता है लोग उसकी आलोचना करते हैं। यह जन-निन्दा (Public censure) का भय ही लोगों से सामाजिक नियम पालन करवाता है, परन्तु राज्य के नियमों के उल्लंघन से सजा का डर रहता है। राज्य बल का प्रयोग करता है, समाज ऐसा नहीं कर सकता। बार्कर के शब्दों में **"समाज का क्षेत्र है स्वेच्छापूर्ण सहयोग; सद्वृत्ति उसकी शक्ति है; और विनम्रशीलता उसकी विधि या उपाय है। इसके विपरीत राज्य का क्षेत्र है यान्त्रिक कार्यशीलता। बल-प्रयोग में उसकी शक्ति है और कठोरता या दृढ़ता उसकी विधि या कार्य-पद्धति है।"**[1]

राज्य की यह सर्वोच्च सत्ता ही उसे समाज से पृथक् कर देती है।

(५) ऐतिहासिक दृष्टि से समाज राज्य से पहले आता है। सामाजिक

---

1. "But roughly we may say that the area of the society is voluntary co-operation, its energy is goodwill and its method is elasticity, which in area of the State is mechanical action; its energy is force and its method is rigidity."—*Barker.*

सम्बन्धों के जन्म के बाद ही राजनीतिक शक्ति का विकास हुआ। हम कह सकते हैं कि राज्य का आधार भूमि है, परन्तु किसी एक निश्चित प्रदेश में बसने से पूर्व मानव-जाति गिरोह बनाकर इधर-उधर घुमक्कड़ कबीलों के रूप में फिरती रही है । उस समय चाहे हम उसे राज्य न कहें परन्तु वह समाज तो अवश्य थी।

यह आवश्यक नहीं कि राज्य का सम्बन्ध हमारी जिन्दगी से बहुत गहरा हो, वह हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू से सम्बन्धित हो । अधिकतर हमारे जीवन का स्वाभाविक विकास क्लब, मित्रमण्डली, परिवार इत्यादि समुदायों में होता है । इन समुदायों में हमारे सम्बन्ध किसी **विशिष्ट श्रेणी** के (Categorical) नहीं होते, इनमें हम मनुष्य रूप में अपने आपको स्पष्ट अभिव्यक्त करते हैं, इसी कारण इनका सम्बन्ध हमारे जीवन से बहुत गहरा होता है। समाज ऐसे ही समुदायों का समूह है । इसके विपरीत राज्य में **यान्त्रिक और श्रेय**—Categorical—सम्बन्धों का आधिक्य रहता है, इसी कारण वह समाज विज्ञान की भाषा में मुख्य (Primary) नहीं अपितु गौण (Secondary) संस्था कहलाती है।

राज्य और समाज के अन्तर को समझने के अनन्तर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इन दोनों का घनिष्ट सम्बन्ध भी है। राज्य समाज की अवस्थिति की एक शर्त है। राज्य के बिना समाज का ढाँचा बिखरकर टूट जायगा । बार्कर ने वस्तुतः ठीक ही कहा है कि **"समाज की व्यवस्था राज्य द्वारा कायम रहती है; और यदि राज्य इस प्रकार इस व्यवस्था को कायम न रखे तो उसका अस्तित्व ही न रहे।"**

२२. राज्य और सरकार (State and Government)

जैसा कि हम पीछे भी संकेत कर आये हैं कि राज्य और सरकार शब्दों का प्रयोग भी प्रायः एक ही अर्थ में अदल-बदलकर किया जाता है। अतः राज्य और समाज की भाँति राज्य और सरकार में भी विभेद को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। जहाँ हॉब्स ने राज्य व सरकार में किसी प्रकार का अन्तर नहीं माना वहाँ लॉक और रूसो दोनों में स्पष्ट भेद करते हैं।

गार्नर (Garner) ने सरकार की परिभाषा इस प्रकार की है—**"सरकार उस संगठन का नाम है जिसके द्वारा राज्य अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति करता है, अपने आदेश जारी करता है और अपने कामों का सम्पादन करता है।"**[1]

प्रो० लास्की **सरकार को राज्य का एजेंट कहते हैं। "उसका अस्तित्व राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होता है। सरकार स्वतः दबाव डालने वाली सर्वोपरि सत्ता नहीं, वह तो केवल शासन मात्र है जो इस सत्ता के उद्देश्यों को कार्य रूप देता है।"**[2]

---

1. "It is the collective name for the agency, magistracy or organisation through which the will of the state is formulated ; expressed and realised."—*Garner.*

2. "It exists to carry out the purposes of the state. It is not itself the supreme coercive power, it is simply the mechanism of administration which gives effect to the purposes of that power."—*Laski.*

सरकार के बिना राज्य की कल्पना भी असम्भव है । सरकार ही राज्य की इच्छा-पूर्ति का साधन है । उपर्युक्त परिभाषाओं में राज्य और सरकार का भेद पर्याप्त स्पष्ट है ।

(१) सरकार, जैसा कि लॉक और रूसो का विचार है, राज्य की सृष्टि है वह उसकी देन है । अतः जहाँ राज्य के अधिकार और शक्तियाँ असीम और अमर्यादित (Unlimited) हैं, वहाँ सरकार की सीमित और निश्चित । प्रत्येक राज्य संविधान द्वारा राज्य की शक्तियों को निश्चित व मर्यादित कर देता है। लॉक का कथन है कि सरकार अपनी शक्तियों को जन-समूह (Community) से प्राप्त करती है इसलिए वह कभी भी अमर्यादित नही होती । राज्य के अधिकार और शक्तियाँ मौलिक (Original) है परन्तु सरकार की नहीं, वह तो उसे राज्य द्वारा दी जाती हैं ।

(२) राज्य सम्पूर्ण जनसंख्या से मिलकर बनता है, परन्तु सरकार के सदस्यों की संख्या अधिक नहीं होती, वह सम्पूर्ण जनता को अपने भीतर समेट नहीं पाती । गार्नर ने सरकार की तुलना बोर्ड आफ डायरेक्टर्स (Board of directors) से की है, और राज्य की अनेक व्यापारिक साझीदारों से मिलकर बनी कम्पनी से । जिस प्रकार Board of directors कम्पनी नही हो सकते वैसे ही शासन भी सम्पूर्ण राज्य नहीं हो सकता । Board of directors कम्पनी का कारोबार चलाते है परन्तु उनका नियन्त्रण कम्पनी के साझीदार करते है, वैसे ही सरकार राज्य का कारोबार चलाती है परन्तु अन्ततः वह विधान द्वारा नियन्त्रित की जाती है ।

(३) राज्य स्थायी है और सरकार बदलती रहती है । हम पीछे भी बतला आए हैं कि अनेक कारणों से सभी देशों में सरकार के रूप में परिवर्तन होता रहता है । प्रजातन्त्र से राजतन्त्र और राजतन्त्र से कुलीनतन्त्र (Aristocracy) इत्यादि में सर्वत्र सरकार के स्वरूप में परिवर्तन देखा जा सकता है । इसी प्रकार सरकार का संघात्मक (Federal) और एकात्मक (Unitary) रूप भी हो सकता है । यही नही एक चुनाव में यदि मि० एटली ने मजदूर सरकार बना ली है तो दूसरे चुनाव में उसके हार जाने पर अनुदार दल के नेता मि० चर्चिल अनुदारदलीय (Conservative) सरकार बना लेते है । इस प्रकार सरकार का स्वरूप बदलता रहता है। परन्तु राज्य का स्वरूप स्थिर है, उसकी अवस्थिति के लिए जन, स्थल सरकार और प्रभुता इन चार तत्त्वों की आवश्यकता है । यह नियम अपरिवर्तनीय है । राज्य स्थिर है, इसका अर्थ यही है कि एक बार राज्य रूप में संगठित होने पर जनता फिर अराजकतापूर्ण स्थिति में नही आ सकती । राज्य मिट सकता है, उसकी समाप्ति की विधियाँ इस प्रकार है—

(क) एक राज्य का दूसरे राज्य को हराकर उस पर कब्जा कर उसे अपने राज्य में मिला लेना—उदाहरणस्वरूप इटली से हारने पर अबीसीनिया इटली के साम्राज्य का भाग बन गया था ।

(ख) स्वेच्छापूर्वक—इटली के छोटे-छोटे राज्य अपनी इच्छा से इटालियन राज्य में शामिल हो गये।

(ग) किसी राज्य के प्रदेश अथवा निवासियों के सर्वथा विनाश से भी राज्य मिट सकता है।

(४) राज्य को आत्मा और सरकार को शरीर भी कह सकते हैं। क्योंकि राज्य तो राज्य विज्ञान की एक अमूर्त्त (Abstract) धारणा (Concept) है और सरकार ठोस मूर्त्त रूप (Concrete) यन्त्र सादृश्य है।

(५) सरकार अपनी निर्माण प्रकृति में राज्य से विभिन्न है। राज्य मुख्य रूप से प्राकृतिक समुदाय है। वह हमारी प्रवृत्तियों का परिणाम है। परन्तु सरकार बनावटी (Artificial) है। वह हमारी सजग (Conscious) कोशिशों का फल है। उसके रूप में होने वाला परिर्तवन भी हमारे अपने प्रयत्नों का ही परिणाम होता है।

२३. राज्य तथा अन्य समुदाय (State and Associations)

मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति केवल राज्य के निर्माण तक ही समाप्त नही हो जाती। उसका स्वाभाविक विकास समाज में स्थित सैकड़ों ऐच्छिक समुदायों द्वारा होता है। **प्रो० लास्की ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य एक समुदाय निर्माण करने वाला प्राणी है** (Man is a community building animal)। मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति वह स्वयं नहीं कर सकता। उनकी पूर्ति के लिए उसे दूसरे सामाजिक प्राणियों का सहयोग लेना पड़ता है और तभी सामाजिक समुदायों की रचना होती है। **किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया गया मनुष्यों का संगठन ही समुदाय** (Association) **कहलाता है।** पुराने जमाने में हमारी सामाजिक जिन्दगी बहुत सीधी-सादी थी, इसलिए उस समय समुदायों की संख्या भी कम थी। परन्तु आधुनिक काल में जब कि हमारी सामाजिक जिन्दगी में बहुत जटिलता पैदा हो गई है इन समुदायों की संख्या बहुत बढ़ गई है। अपने धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्वार्थों और हितों की रक्षा के लिए हम नित्य-प्रति नये से नये समुदाय बना रहे हैं। चर्च, आर्यसमाज, शिरोमणि अकाली दल, ब्रह्मसमाज, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, रोटेरी क्लब, रेड क्रास सोसाइटी, ट्रेड यूनियन, श्रमिक पत्रकार संघ, कालेज टीचर्स यूनियन इत्यादि सभी समुदाय (Associations) हैं। इन समुदायों में से बहुत से ऐसे समुदाय हैं जिनसे हमारा बहुत गहरा सम्बन्ध होता है, और जिनके बिना हमारे व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव नहीं हो सकता। वस्तुतः ये समुदाय हमारी जिन्दगी पर इस तरह से छा गये हैं कि हमारे में से बहुत से लोगों का यह विचार हो गया है कि इन समुदायों को राज्य के बराबर स्थान देना चाहिए और राज्य की प्रभुता को इनमें बाँट देना चाहिए। यह विषय पर्याप्त विवादग्रस्त है, अभी इसे हम आगे के लिए छोड़ देते हैं, आगे चलकर इसका पूर्ण विवेचन करेंगे।

ऐसे समुदायों की कमी नहीं जिनका सीमा-क्षेत्र एक राज्य तक ही सीमित नहीं होता। उनके सदस्य एक देश के नहीं अनेक देशों के लोग होते हैं। उनका कार्य-क्षेत्र भी अन्तर्राष्ट्रीय होता है। बहुत से राजनीतिक विचारकों का यह विचार है कि राज्य की भाँति इन समुदायों का भी अपना व्यक्तित्व है और राज्य से वे किसी प्रकार भी भिन्न नहीं।

इसमें सन्देह नहीं कि राज्य भी अपनी प्रकृति में एक समुदाय (Association) ही है, परन्तु इस समुदाय के कुछ अपने विशेष लक्षण हैं, कुछ अपने विशेष कर्त्तव्य और अधिकार हैं जिनके आधार पर वह दूसरे समुदायों से भिन्न हो जाता है। राज्य और अन्य सामाजिक समुदायों में जो भेद है, वे इस प्रकार रखे जा सकते हैं—

(१) राज्य और समुदायों की सदस्यता की प्रकृति में अन्तर होता है। **राज्य की सदस्यता अनिवार्य** (Compulsory) **है और समुदायों की ऐच्छिक** (Voluntary), हमारे लिए आवश्यक नहीं कि हम प्रत्येक समुदाय के सदस्य बनें, परन्तु राज्य का सदस्य बनना अनिवार्य है। कोई भी व्यक्ति बिना राज्य का सदस्य बने नहीं रह सकता। किसी न किसी देश का नागरिक उसे बनना ही पड़ता है। एक समुदाय का सदस्य बनने के अनन्तर जब चाहें हम उसकी सदस्यता त्याग सकते हैं। परन्तु राज्य की सदस्यता स्वेच्छापूर्वक नहीं त्यागी जा सकती।

(२) एक ही समय में साधारणतया **एक मनुष्य एक ही राज्य का नागरिक हो सकता है, दो का नहीं। परन्तु एक ही समय में एक मनुष्य अनेक समुदायों का** सदस्य बन सकता है। ऐसे बहुत से उदाहरण मिल जाते हैं जब कि एक व्यक्ति एक ही समय में सैकड़ों समुदायों का सदस्य हो।

(३) एक राज्य **एक निश्चित प्रदेश में अवस्थित होता है, उसकी एक निश्चित सीमा होती है। परन्तु समुदायों की कोई निश्चित सीमा नहीं होती।** एक समुदाय राज्य की सीमाओं को लाँघ अन्तर्राष्ट्रीय हो सकता है। उसकी शाखाएँ अनेक देशों में हो सकती हैं। फिर एक प्रदेश में एक ही राज्य होता है जब कि एक ही प्रदेश में अनेक समुदाय हो सकते हैं। हमारे ही देश में आर्यसमाज, काँग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी, प्रजा-समाजवादी दल इत्यादि अनेक समुदाय हैं, परन्तु राज्य एक है।

(४) राज्य और समुदायों का एक बड़ा अन्तर उनके उद्देश्यों की विभिन्नता भी है। समुदाय प्रायः एक या एक से अधिक कुछ निश्चित हितों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, परन्तु राज्य का उद्देश्य जनता का सामान्य हित है। आर्यसमाज या प्रजा-सोशलिस्ट पार्टी एक निश्चित उद्देश्य को लेकर चलते हैं और उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। उसका कार्य केवल कानून और व्यवस्था बनाए रखना ही नहीं या विदेशी आक्रमण से राज्य की रक्षा ही नहीं, उसका कर्त्तव्य राज्य में रहने वाली जनता की नैतिक, भौतिक और अध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्न करना है।

(५) राज्य समुदायों के **अन्दरूनी और बाहरी मामलों का नियन्त्रण**

करता है। समुदायों के निर्माण आदि की व्यवस्था राज्य
राजनीतिक और आर्थिक इत्यादि सभी प्रकार के समुदायों
राज्य द्वारा नियन्त्रित की जाती है। इस प्रकार का अधिकार ख
जाय तो राज्य में प्रत्येक प्रकार की व्यवस्था खत्म हो जाय।

(६) समुदायों की स्थापना **निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के**
उन उद्देश्यों को पूर्ण करने पर वह भंग किए जा सकते हैं या स्वयमेव
जाते हैं। बहुत से समुदाय आपसी झगड़ों के कारण नष्ट हो जाते हैं।
सतत और स्थायी समुदाय है। सरकार बदल सकती है, प्रभुत्व शक्ति का
बदल सकता है परन्तु राज्य सदा एक जैसा रहता है, वह नहीं बदलता। काई

(७) एक समुदाय **में हम सम्पूर्ण जीवन नहीं बिता सकते। कालेज, स्कूल क्लब या किसी** धार्मिक अथवा सांस्कृतिक समुदाय में हम जिन्दगी की कुछ एक आवश्यकताओं को ही पूर्ण कर सकते हैं, सम्पूर्ण हितों का पालन वहाँ सम्भव नहीं। इन समुदायों के बिना भी जीवन यापन सम्भव है, परन्तु राज्य से अलग जीवन बिता सकना सम्भव नहीं।

(८) राज्य अपने उद्देश्यों का पालन **बल-प्रयोग से करवा सकता है, परन्तु अन्य समुदाय ऐसा नहीं कर सकते।** प्रत्येक समुदाय के अपने नियम होते हैं और सदस्यों से यह आशा की जाती है कि वह उसका पालन करेंगे, परन्तु उनके उल्लंघन का परिणाम शारीरिक दण्ड कभी नहीं होता। अधिक से अधिक सदस्य की सदस्यता छीन ली जाती है। परन्तु राज्य-नियमों के भंग करने का परिणाम सदा शारीरिक दण्ड होता है। समुदाय द्वारा निर्धारित नियमों का पालन जन-निन्दा के भय से किया जाता है।

(९) राज्य और समुदाय में सब से बड़ा **अन्तर "अन्तिम और निर्णयात्मक शक्ति"** का है। राज्य प्रभुत्व शक्ति (Sovereignty) सम्पन्न है परन्तु समुदायों (Associations) के पास ऐसी कोई शक्ति नहीं। एक राज्य के भीतर अवस्थित सभी समुदायों को राज्य की परम सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है। राज्य अपने इस रूप में सभी समुदायों के पारस्परिक झगड़ों को निपटाने और उनके आचरण (Conduct) के नियमन के लिए जिम्मेवार समझा जाता है। अपने इसी रूप में राज्य सर्वोच्च समुदाय है।

२४. राज्य तथा देश (State and Country)

अक्सर राज्य और देश शब्द भी समानार्थक शब्दों के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। ऐसा प्रयोग गलत और अवैज्ञानिक है। यह ठीक है कि राज्य की अवस्थिति प्रदेश के बिना असम्भव है, परन्तु केवल एक प्रदेश पर बसी जनता राज्य नहीं बन जाती। प्रदेश और जनता के अतिरिक्त राज्य के निर्माण के लिए सरकार और प्रभुसत्ता की भी आवश्यकता है। एक देश में यह दोनों तत्त्व जरूरी नहीं वर्तमान हों। देश तो एक भौगोलिक शब्द है, उसका राजनीतिक संगठन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं।

ा देश की सत्ता हो सकती है। द्वितीय विश्व-युद्ध के अन-
क राज्य रूप में खत्म हो गया जब कि देश रूप में विद्य-
ाद उसकी प्रभुसत्ता (Sovereignty) समाप्त हो गई थी
राज्यत्व (Statehood) भी समाप्त हो गया, परन्तु जर्मनी देश
न रहा। राज्य और राष्ट्र के पारस्परिक अन्तर को हम अगले
ष्ट करेंगे।

Important Questions

	Reference
. Examine the elements of the State (*Punjab, 1955*)	Art.19&20.
2. Examine the distinction between (*a*) State (*b*) Govern-nt (c) Society. (*Punjab, 1950, 1951, 1954 and 1956*)	Arts. 21 and 22.
3. What are the essential attributes of the State ? Say giving reasons, whether Punjab is a State ? (*Punjab, 1950*)	Art. 8, 19 & 20
4. How do you define a State ? Do the following come under your definition of a State ? (*a*) Hyderabad (Deccan) (*b*) New York (c) League of Nations ? Give reasons for your answer. (*C. U. 1936; Agra, 1943, 1942*)	Art.18 & 19.
5. Distinguish between the State and Associations. (*Agra, 1942*)	Art 23.

अध्याय ४

राज्य, राष्ट्र तथा उपराष्ट्र
(State, Nation and Nationality)

२५. राज्य तथा राष्ट्र शब्दों का प्रयोग

राज्य (State) राष्ट्र (Nation) और उपराष्ट्र या राष्ट्रीय इकाई (Nationality) शब्द हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में ही अदल-बदलकर एक दूसरे के लिए इस्तेमाल किये जाते है। परन्तु इन तीनों शब्दों के वैज्ञानिक अर्थ में अन्तर है, यद्यपि हम अपने दैनिक जीवन में इस अन्तर को स्पष्ट नही कर पाते। राज्य और राष्ट्र समानार्थक शब्दों के रूप में अनेक बार प्रयुक्त किये जाते हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर स्थापित 'राष्ट्र संघ' (League of Nations) राष्ट्र संघ न हो राज्य संघ था इसी प्रकार वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations Organisation) भी राष्ट्रों का संगठन न हो राज्यों का ही संगठन है।

राष्ट्र का जातीय और सांस्कृतिक स्वरूप होता है, पर यह जरूरी नही कि वह राज्य-रूप में संगठित हो। **राज्य प्रभुत्व सत्ता सम्पन्न एक राजनीतिक संगठन है जब कि राष्ट्र का निर्माण जाति, भाषा, रीति-रिवाज तथा धर्म की समानता पर होता है।** एक राज्य में विभिन्न राष्ट्रीयता वाले लोग रहते है, ऐसे राज्य एक राज्य तो अवश्य होंगे, परन्तु एक राष्ट्र नही। प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व आस्ट्रिया-हंगरी एक राज्य के रूप में संगठित दो राष्ट्र थे। आयर्लैण्ड और इग्लैण्ड एक राज्य अवश्य थे परन्तु एक राष्ट्र नहीं, आयर्लैण्ड अपने आप में एक पृथक् राष्ट्र था।

२६. राष्ट्र की परिभाषा

हिन्दी का **राष्ट्र** शब्द अंग्रेजी के **'नेशन'** (Nation) शब्द का पर्यायवाची है, और अंग्रेजी शब्द **'नेशन'** (Nation) लेटिन के **'नेशियो'** (Natio) शब्द से बना है, जिसका अर्थ है **'जन्म'** अथवा **जाति**। बर्गेस (Burgess) तथा लीकॉक (Leacock) ने राष्ट्र शब्द के जातीय पक्ष पर बल देते हुए उसकी परिभाषा इन शब्दों में की है—**"राष्ट्र जातीय एकता के सूत्र में बँधी वह जनता है जो किसी अखण्ड भौगोलिक प्रदेश पर निवास करती हो।"**[1]

राष्ट्र के जातीय आधार पर सबसे अधिक बल देने वालों में वर्तमान काल के नाजी और फासिस्ट दार्शनिक हैं। परन्तु राष्ट्र को जातीय स्वरूप देना वास्तविकता को विकृत रूप में प्रस्तुत करना है। रक्त की पवित्रता या शुद्ध जातीयता जैसी चीजें आज

---

1. "A Nation is a population of an ethnic unity inhabitating a territory of geographic unity."—*Burgess.*

के विश्व में कहीं नहीं मिलतीं। आज की जातियाँ देशान्तर-गमन और अन्तर्जातीय विवाह के कारण बुरी तरह से रक्त-मिश्रण का शिकार बनी हुई हैं। आज जातीयता के आधार पर या वैसे भी 'राष्ट्र' की परिभाषा दे सकना सरल काम नहीं। क्योंकि **राष्ट्रीयता आज मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक है, वह एक भाव है।** राष्ट्रीयता का यह भाव बहुत जटिल है, और अनेक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तत्त्वों का परिणाम है। राष्ट्रीयता की **'हम एक हैं'** (We-feelings) की भावनाएँ भाषा, संस्कृति, जाति, धर्म, सामान्य राजनीतिक अवस्थाएँ, ऐतिहासिक एकता और भौगोलिक एकता इत्यादि अनेक तत्त्वों का फल है। अनेक उदाहरण ऐसे हैं जहाँ एक साथ ही यह सब तत्त्व मौजूद हैं और ऐसे भी बहुत से राष्ट्र हैं जहाँ इनमें से अनेक तत्त्वों का सर्वथा अभाव है। उदाहरण-स्वरूप स्विस राष्ट्र जातीय तथा धार्मिक एकता के अतिरिक्त भाषा की एकता से भी वंचित है, परन्तु फिर भी एक राष्ट्र है। बेल्जियम में भी सामान्य जाति और भाषा का अभाव है, फिर भी वह एक राष्ट्र है। कनाडा में भी दो विभिन्न जातियाँ दो विभिन्न भाषाएँ बोलती हैं, दो विभिन्न धर्मों को मानती हैं, परन्तु उनका राष्ट्रीय रूप इन सबके बावजूद भी कायम है। वस्तुतः राष्ट्र-निर्माण के लिए समान मानसिक भूमि की ही आवश्यकता है। इसका एक विशेष आध्यात्मिक आधार होना अनिवार्य है। ए. ई. ज़िमर्न (A. E. Zimmern) लिखता है कि **"धर्म की भाँति राष्ट्रीयता भी वैयक्तिक या आत्मपरक** (Subjective) **है, मनोवैज्ञानिक है, मन की स्थिति है, एक आत्मिक सम्पत्ति है, एक भावना-पद्धति है, विचार और जीवन है।"** इसी लेखक के अनुसार **"राष्ट्रीयता मेरे लिए राजनीतिक प्रश्न बिल्कुल नहीं। यह मुख्य रूप से और आवश्यक रूप से एक आध्यात्मिक प्रश्न है।"**[1] डा० गार्नर ने राष्ट्र के इसी आत्मपरक रूप पर बल देते हुए राष्ट्र की परिभाषा करते हुए कहा है कि **"राष्ट्र सांस्कृतिक दृष्टि से संगठित एवं एकरूप सामाजिक समुदाय है जो आध्यात्मिक जीवन और उसकी अभिव्यक्ति की एकता के प्रति सचेत तथा दृढ़ संकल्पी होता है।"**[2] जनता में एकता की भावना को उत्पन्न करने वाले तत्त्व जातीय अथवा धार्मिक हो यह आवश्यक नहीं, ये मुख्य रूप से मानसिक और आध्यात्मिक हो सकते हैं। इस प्रकार इन लेखकों ने 'राष्ट्र' के राजनीतिक पक्ष पर कोई अधिक बल नहीं दिया। हेज़ (Hayes) ने तो यहाँ तक कह डाला है कि **'राज्य तत्त्वतः राजनीतिक होता है, राष्ट्रीयता प्रधान रूप से सांस्कृतिक होती है और केवल संयोगवश राजनीतिक हो जाती है।"**

२७. राष्ट्र का राजनीतिक रूप

परन्तु बहुत से राजनीति विज्ञ 'राष्ट्र' की उपर्युक्त परिभाषाओं को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि ये परिभाषाएँ संकुचित हैं और ये राष्ट्र के राजनीतिक

1. "Nationality to me is not a political question at all. It is primarily and essentially a spiritual question."—*Zimmern.*

2. "A Nation is a culturally homogeneous Social group which is at once conscious and tenuous of its unity of psychic life and expression."—*Garner.*

रूप का जिक्र ही नहीं करतीं । उनका विचार है कि आज राष्ट्र एक विशिष्ट राजनीतिक अर्थ रखता है जिसका विवेचन भी उतना ही अनिवार्य है जितना कि राष्ट्र के सांस्कृतिक और जातीय रूप का । गिलग्राइस्ट का कथन है कि 'राष्ट्र' और राज्य अपने वर्तमान रूप में एक दूसरे के बहुत निकट हैं--"राष्ट्र वस्तुतः व्यक्तियों का सांस्कृतिक और जातीय दृष्टि में संगठित वह समूह है जिसका एक राजनीतिक संगठन होता है या जो स्वतन्त्र राज्य के रूप में संगठित है ।" हेज़ का कथन है कि **"एक राष्ट्रीय इकाई स्वतन्त्रता, एकता और सत्ता को प्राप्त कर राष्ट्र बन जाती है ।"** लॉर्ड ब्राइस ने भी राष्ट्र की कुछ ऐसी ही परिभाषा की है । उसका कथन है कि "राष्ट्र एक **ऐसी राष्ट्रीय इकाई** (Nationality) **है जो एक राजनीतिक समुदाय के रूप में संगठित हो, और स्वतन्त्र हो अथवा स्वतन्त्र होने की इच्छा रखती हो ।"** गेटल ने भी इस मत का समर्थन करते हुए कहा है—**"गौण समुदाय का जो राष्ट्रीय इकाई या उपराष्ट्र के नाम से पुकारा जाता है, सामान्य भाव** (Common spirit), **रीति-रिवाज तथा सामान्य स्वार्थों के एकीकृत होने से उदय होता है, राजनीतिक संगठन को प्राप्त कर 'राष्ट्र'** (Nation) **के नाम से पुकारा जाता है ।"** मिल ने भी उपर्युक्त मत का ही समर्थन किया है ।

यद्यपि राज्य और राष्ट्र के सान्निध्य को स्वीकार किया जा सकता है और इससे भी कोई इनकार नहीं कि आज के राज्य का आधार भी राष्ट्रीयता ही बन रही है फिर भी दोनो में—राज्य और राष्ट्र मे—भेद है । उपर्युक्त राजनीति शास्त्रियों ने राज्य और राष्ट्र में एकरूपता स्थापित कर दी है । परन्तु राज्य और राष्ट्र एक नहीं । राज्य का एक निश्चित अर्थ है, एक वैज्ञानिक रूप है, परन्तु राष्ट्र के अर्थ में निश्चयात्मकता और वैज्ञानिकता का अभाव है ।

राज्य अनेक राष्ट्रों से मिलकर भी बन सकता है और एक राष्ट्र के आधार पर भी आधारित हो सकता है । राज्य की अनुपस्थिति में भी राष्ट्र की अवस्थिति सम्भव है । राज्य सर्वोपरि सत्ता (Sovereign power) युक्त होता है । राष्ट्र के लिए ऐसा अनिवार्य नहीं । भारत १५ अगस्त १९४७ से पूर्व राज्य नहीं था परन्तु उसका राष्ट्र (Nation) रूप कायम था । पोलैण्ड का रूस, प्रशा और आस्ट्रिया ने मिलकर बँटवारा कर लिया था, तब पोलैण्ड राज्य रूप में समाप्त हो गया । परन्तु राष्ट्र रूप में वर्तमान रहा । राष्ट्र अवश्य ही मुख्य रूप से एक मनोवैज्ञानिक भावना है ।

२८. राष्ट्र और राष्ट्रीय इकाई (Nation and Nationality)

अंग्रेजी में **'नेशन'** (Nation) शब्द का अन्य समानार्थक शब्द **नैशनेलिटी** (Nationality) भी है । Nationality शब्द का हिन्दी में कोई उपयुक्त समानार्थक शब्द नहीं । इसका अनुवाद 'राष्ट्रीयता' किया गया है जो ठीक नहीं जँचता । क्योंकि 'राष्ट्रीयता' शब्द हमारे यहाँ एक विशेष अर्थ रखता है । Nationality शब्द के लिए हम उपराष्ट्र या राष्ट्रीय इकाई शब्द का प्रयोग अधिक सुविधाजनक समझते हैं ।

लार्ड ब्राइस का कथन है कि राष्ट्र और राष्ट्रीय इकाई (Nationality) में राजनीतिक संगठन का ही अन्तर है। **जब भी कोई राष्ट्रीय इकाई भाषा, साहित्य, रीति-रिवाज इत्यादि सांस्कृतिक बन्धनों से बँध अपना एक ऐसा राजनीतिक संगठन कर लेती है जो या तो स्वतन्त्र हो, या फिर स्वतन्त्रता-प्राप्ति की इच्छा से अनुप्राणित हो तो वह राष्ट्र बन जाती है।** इस प्रकार एक राष्ट्र, वह उपराष्ट्र या राष्ट्रीय इकाई (Nationality) है जो कि स्वतन्त्र हो चुकी हो। उपराष्ट्र या राष्ट्रीय **इकाई राष्ट्र निर्माण रूप में होती है** (A Nationality is a nation in the making)।

परन्तु बहुत से विचारकों के मतानुसार राष्ट्र और उपराष्ट्र का अन्तर संगठन का नहीं अपितु संख्या का है। राष्ट्रीय इकाई थोड़े से लोगों से मिलकर बनती है, और एक राष्ट्र बहुत सी राष्ट्रीय इकाइयों से मिलकर बनता है। जहाँ एक राष्ट्र में अनेक विभिन्न भाषा-भाषी सामाजिक समूह हों तो वे उस राष्ट्र की राष्ट्रीय इकाइयाँ या उपराष्ट्र (Nationality) कहलायेंगे। भारत एक राष्ट्र है परन्तु यहाँ बहुत सी राष्ट्रीय इकाइयाँ हैं—गुजराती, बंगाली, पंजाबी, बिहारी इत्यादि भारत की विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयाँ हैं। इसी प्रकार ब्रिटिश राष्ट्र का निर्माण स्कॉच तथा वेल्श राष्ट्रीय इकाइयों से मिलकर हुआ है। इसी प्रकार अनेक राष्ट्रों में छोटी-छोटी इकाइयां रहती हैं, उन्हें राष्ट्र तो कदापि नहीं कहा जा सकता, न ही उन्हें 'राष्ट्र निर्माण पथ पर अग्रसर' उपराष्ट्र कह सकते हैं। वे तो राष्ट्रीय इकाइयाँ ही कहला सकती हैं।

ब्लंशली (Bluntschli) ने उपराष्ट्र की परिभाषा ठीक ही की है—**"उपराष्ट्र वे जन-समूह हैं 'जो विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए हों, वंश-परम्पराओं का अनुसरण करने वाले समाज के विभिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हों, समान आदर्शों और रीति-रिवाजों तथा भाषा के समान जातीय एवं सांस्कृतिक सूत्रों में बँधे हों तथा समस्त विदेशियों से भिन्न और आपस में एकता की भावना रखते हों।"** प्रत्येक राष्ट्र में ऐसे समूहों का अभाव नहीं होता। **'हम एक हैं'** (We-feelings) की जो भावना राष्ट्र में विशाल जनसंख्या में फैली हुई है, वही भावना एक छोटे जनसमाज में जब पाई जाती है, तो वह राष्ट्रीय इकाई (Nationality) बन जाती है।

इससे पूर्व कि हम राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए आवश्यक तत्त्वों पर विचार करें, यहाँ यह उचित होगा कि हम संक्षेप में राष्ट्रीयता की भावना के विकास का एक ऐतिहासिक पर्यालोचन कर लें।

२९. राष्ट्रीयता की भावना का विकास

जातीय या धार्मिक भावनाओं के आधार पर एकत्रित होकर रहने की भावना बहुत पुरानी है। बहुत पुराने समय में ही मनुष्य कबीले या जन (Tribe) बनकर रहते आये हैं। इन कबीलों या जनों में **एकत्व की भावना** (We-feelings) आज की छोटी राष्ट्रीय इकाइयों के समान बहुत मजबूत होती थी। जितना छोटा जन या कबीला होगा उतनी ही अधिक उसमें एकता की भावना होगी। युद्ध के समय यह

एकता की भावना तीव्र हो जाती है। प्राचीन युग में कबीलों के पारस्परिक लड़ाई-झगड़े होते रहते थे अतः बाह्य परिस्थितियाँ ही उनमें एकता की भावना को कायम रखती थीं। पुराने ग्रीस में, ऐथन्स, कोरिन्थ तथा स्पार्टा इत्यादि जनपदों का संगठन जन भावना की एकता पर ही हुआ था। हमारे यहाँ भी शाक्य, शिवि, मालव, आग्नेय इत्यादि जनों ने अपने-अपने जनपद बसाये हुए थे।

परन्तु इन जनों की एकता के आधार पर बने गणतन्त्रों का जीवन बहुत लम्बा न रहा। पूर्व और पश्चिम, सभी जगह बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये गये और पुरानी राष्ट्रीयता की अर्द्धविकसित भावनाओं को कुचल दिया गया। मध्य युग में सामन्तीय शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रीय भावनाओं का विकास न हो सका। धर्म और राज्य के झगड़े में प्रारम्भ में अधिकतर चर्च की ही विजय होती रही। परन्तु धीरे-धीरे स्थिति बदली, पोप की धार्मिक शक्ति पर आक्रमण प्रारम्भ हुए और इधर धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक विचारों (Secular political thoughts) के प्रचार भी बढ़ने लगे। यूरोप में सांस्कृतिक पुनर्जागरण (Renaissance) के अनन्तर स्वतन्त्र चिन्तन का प्रचार हुआ, धार्मिक अन्ध और मूढ़ विश्वासों के स्थान पर जनता में विवेक और तर्क (Reason) के आधार पर सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मसलों पर विचार करने की प्रवृत्ति बढ़ी। १५वीं तथा १६वीं सदी में यूरोप के चिन्तन में उस वैज्ञानिकता और विवेकयुक्त तार्किकता का प्रवेश हुआ जिसका विलोप प्लेटो और अरस्तू की मृत्यु के अनन्तर हो गया था। इस प्रकार उस जमाने में लोगों के लिए धर्म-निरपेक्ष राजनीति का विकास कोई बड़ी बात नहीं थी।

साथ ही इस युग में एक ऐसा व्यापारी वर्ग भी तैयार हो गया था जो कि सामन्त शासन-व्यवस्था का विरोधी और शक्तिशाली राजतन्त्रों का समर्थक था।

व्यापारिक उन्नति के लिए जिस शान्ति की आवश्यकता होती है वह शक्तिशाली राजतन्त्रों के विकास के अनन्तर ही सम्भव नजर आती थी। यही कारण था कि इंग्लैण्ड में हेनरी सप्तम और फ्रांस में ग्यारहवाँ लुई और स्पेन में फर्डीनेण्ड —पोप के आदेशों का पालन करना अपना कर्तव्य नहीं समझते थे। इन राज्यों में राष्ट्रीयता के आधार पर राज्य-व्यवस्था को कायम किया जा रहा था। फिर भी लार्ड एक्टन ने ठीक ही कहा है कि इस जमाने में राष्ट्रीय इकाइयों (Nationalities) की सत्ता को न तो स्वीकार ही किया जाता था और न ही जनता उनके लिए माँग करती थी। राज्यों की सीमाओं का निर्धारण राष्ट्रीय इकाइयों के हितों के लिए नहीं होता था, अपितु राजवंशों के स्वार्थों के दृष्टिकोण से ही ऐसा किया जाता था।

इंग्लैण्ड, स्पेन और फ्रांस में राष्ट्रीय भावनाओं का पर्याप्त विकास हो चुका था। स्पेन में से विधर्मियों और विदेशियों को निकाला गया और इधर फ्रांस पर इंग्लैण्ड के आक्रमणों के फलस्वरूप जान ऑफ आर्क जैसी देवी का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने फ्रांस में उग्र राष्ट्रीयता को जन्म दिया। १६वीं शताब्दी में इटली में मेकियावली का प्रादुर्भाव हुआ। मेकियावली के समय में इटली की केवल भौगोलिक सत्ता मात्र ही थी। राजनीतिक दृष्टि से इस देश का अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभाजन

हो चुका था, जिनका काम आपस में लड़ने के अतिरिक्त कुछ नहीं था। ऐसे इटली में पैदा होकर मेकियावली ने उग्र राष्ट्रवाद का समर्थन किया और इटली की जनता में राष्ट्रीय भावनाओं के जागरण का असफल प्रयास किया। मेकियावली ने ही सर्वप्रथम एक स्वतन्त्र इटेलियन राज्य की स्थापना का स्वप्न देखा था। परन्तु उसका स्वप्न स्वप्न ही रहा। इटली ने आस्ट्रिया की अधीनता स्वीकार कर ली। १८वीं सदी के अन्त में यूरोप के इतिहास में एक बड़ी दर्दनाक और लज्जाजनक घटना हुई। रूस, प्रशा और आस्ट्रिया ने मिलकर पोलैण्ड का आपस में बँटवारा कर लिया। यह बँटवारा न केवल नैतिक नियमों के ही विरुद्ध था अपितु सदा से माने जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भी विरुद्ध था। इस बँटवारे ने पोलैण्ड राज्य को तो खत्म कर दिया परन्तु उसमें प्रचण्ड राष्ट्रीयता की भावना को जागृत कर दिया। पोलिश राष्ट्रवाद ने सम्पूर्ण यूरोप के सम्मुख राष्ट्रीय एकता का एक नया आदर्श प्रस्तुत किया।

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के साथ ही यूरोप मे एक नये युग का उदय हुआ। जहाँ एक ओर फ्रांस की क्रान्तिकारी विचारधारा ने प्रजातन्त्र की भावनाओं का प्रसार किया वहाँ दूसरी ओर उसने राष्ट्रीयता के विकास को भी प्रोत्साहन दिया। सम्पूर्ण यूरोप पर फ्रांस की प्रभुत्व शक्ति को स्थापित करने की नैपोलियन की चेष्टाओं ने रूस, जर्मनी, इटली तथा स्पेन इत्यादि मे एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया उत्पन्न की। यूरोप के इन सभी देशो में राष्ट्रीयता की भावनाओं का विकास हुआ। प्रजातन्त्र की भावना ने राज्य भक्ति के स्थान पर राष्ट्र-प्रेम को उत्पन्न किया। जहाँ कही लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के लिए संघर्ष हुआ, वहाँ राष्ट्र-प्रेम की भावना सदा साथ रही। कवियों, नाटककारो तथा अन्य प्रकार के साहित्यकारों और कलाकारों ने देश-देश में राष्ट्रीयता के गीत गाये। जर्मनी में काण्ट, शिलर, हीगल और फिचे जैसे विचारकों ने आदर्शवाद के आश्रय से राष्ट्र-प्रेम की भावना को दार्शनिक रूप दिया। धार्मिक सुधारवाद (Reformation) के जिस आन्दोलन का नेतृत्व लूथर और कालविन ने किया था उसने भी राष्ट्र-प्रेम की भावना के प्रसार मे बडा सहयोग दिया।

नैपोलियन की पराजय के अनन्तर यह आशा की जाती थी कि यूरोप का पुनर्संगठन राष्ट्रीयता के आधार पर होगा। परन्तु Holy Alliance के सब सदस्य प्रतिक्रियावादी थे। उनका मुख्य उद्देश्य अपनी गद्दियों को बनाये रखना था। अतः उन्होंने न केवल प्रजातन्त्र और गणतन्त्र की भावनाओं को कुचलने का प्रयत्न किया अपितु राष्ट्रवाद की भावनाओं को भी दबाना चाहा। परन्तु राष्ट्रवाद और प्रजातन्त्र की भावनाएँ दब न सकीं। इटली, हंगरी, जर्मनी तथा पोलैण्ड इत्यादि देशों के राष्ट्रवादी नेताओं ने इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा स्विट्जरलैण्ड इत्यादि अपेक्षाकृत उदार देशों में आश्रय पा राष्ट्र-प्रेम की अग्नि को भड़काए रखा। मेजनी और गैरीबाल्डी जैसे इटेलियन नेताओं ने राष्ट्रवाद को एक क्रियात्मक दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया।

१९वीं सदी में अनेक नवीन राज्यों का राष्ट्रवाद के नियमों के आधार पर पुनर्संगठन हुआ। ग्रीस और बलकान देशों को तुर्कों की गुलामी से आजादी मिली,

बेल्जियम हालैण्ड से पृथक् हो गया । इटली और जर्मनी का पुनर्संगठन हुआ, अन्दरूनी दृष्टि से वे एक हो गये । प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर तो पोलैण्ड, लटविया, लथुनिया, बल्गेरिया, रूमानिया, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, फिनलैण्ड इत्यादि अनेक नवीन राष्ट्रों का जन्म हुआ ।

इधर राष्ट्रवाद की यही भावनाएँ एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों में फैल गई थी । प्रथम विश्व-युद्ध के बाद एशिया व अफ्रीका के इन देशों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के उग्र जन-आन्दोलन प्रारम्भ हुए । इन महाद्वीपों के अनेक देशों में विदेशी शासन कायम थे और ये यूरोपीय राष्ट्रों के उपनिवेश मात्र थे । द्वितीय विश्व-युद्ध में धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ाई लड़ते हुए अमेरिका के राष्ट्रपति और इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री एटलाण्टिक सागर में एक जलपोत पर मिले । उन्होंने मित्रराष्ट्रों के युद्ध-उद्देश्यों का निर्णय करते हुए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार कर एटलाण्टिक चार्टर के रूप में उसकी घोषणा की । इस घोषणा द्वारा यह स्वीकार कर लिया गया कि युद्ध की समाप्ति के अनन्तर प्रत्येक राष्ट्र और उपराष्ट्र को अपने राजनीतिक भाग्य निर्णय का अधिकार प्राप्त होगा ।

युद्ध की समाप्ति के अनन्तर यह ठीक है कि इन उद्देश्यों को एशिया पर लागू करने से इनकार कर दिया गया, परन्तु साम्राज्यवादी देश इस भू-भाग के देशों को अपने अधीन रखने में सफल न हो सके । इंग्लैण्ड को मजबूर हो भारतवर्ष और सिलोन को छोड़ना पड़ा और उसके साथ ही पूर्व में एक नवीन युग का उदय हुआ । आज एशिया में भी राष्ट्रों और उपराष्ट्रों को आत्मनिर्णय का अधिकार मिल रहा है ।

इस तरह जनों तथा कबीलों में संगठित मनुष्य जाति धीरे-धीरे अनेक पड़ावों को लाँघती हुई राष्ट्र के आधार पर आधारित विशाल राज्यों के रूप में संगठित हो रही है ।

३०. उपराष्ट्र के प्रमुख तत्त्व (Elements of Nationality)

राष्ट्रीयता की भावनाओं के विकास के अनेक तत्त्व हैं, इन तत्त्वों में मुख्य तत्त्व निम्नलिखित हैं ।

(१) जाति की समानता (Community of race) ।

(२) भाषा की समानता (Community of language) ।

(३) धार्मिक समानता (Community of religion) ।

(४) भौगोलिक एकता (Geographic Unity) ।

(५) सामान्य राजनीति की आकांक्षाएँ (Common political aspirations) ।

(६) हितों की समानता (Community of interests) ।

अब हम इन सब पर पृथक्-पृथक् विस्तारपूर्वक विचार करेंगे ।

(१) जाति की समानता (Community of race)—जातीय एकता राष्ट्रीय एकता का एक प्रमुख आधार है । बर्गेस तथा लीकॉक तो राष्ट्र का मुख्य

आधार जातीयता ही मानते हैं। जिर्मन भी इसे बहुत ऊँचा स्थान देता हुआ कहता है कि **"राष्ट्रीयता में एक विशेष प्रकार की सामूहिक आत्मचेतना का भाव मौजूद है जिसमें समान जातीयता का तत्त्व शायद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।"** लार्ड ब्राइस भी इसे राष्ट्र-निर्माण के प्रमुख तत्त्वों में से एक तत्त्व स्वीकार करते हैं।

परन्तु आज विशुद्ध जातीयता नाम की कोई चीज नहीं रही। संसार की सभी प्रमुख जातियाँ रक्त-मिश्रण का ही परिणाम हैं। पिल्ज़बरी (Pillsbury) ने इसी बात को अनुभव करते हुए कहा है कि **"साधारणतः राष्ट्रीयता के निर्माण में जाति का अब कोई महत्त्व नहीं है। किसी भी राष्ट्र में कोई भी शुद्ध जाति नहीं है। मनुष्य आज सब कहीं वर्णसंकर हैं।"** अतः जाति को हम राष्ट्र नहीं मान सकते। राष्ट्रीयता आज एक आध्यात्मिक तत्त्व है, उसका एक मनोवैज्ञानिक आधार है।

विश्व के आज सभी बड़े-बड़े राष्ट्र कई जातियों के संगम-स्थल बन चुके हैं। स्विट्ज़रलैण्ड, कनाडा तथा संयुक्त राज्य अमेरिका इसके प्रमुख उदाहरण हैं। स्विट्ज़रलैण्ड में जर्मन, फ्रेंच तथा इटेलियन; कनाडा में इंग्लिश तथा फ्रेंच; और संयुक्त राज्य अमेरिका में इंग्लिश, फ्रेंच, जर्मन, पोलिश इत्यादि नाना जातियों का मिश्रण है। इस प्रकार जातीय एकता का आधार आज कल्पनात्मक ही अधिक है, वास्तविक कम।

फिर भी इतनी बात हमें अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी कि तीव्र जातिगत भेदभाव राष्ट्रीय एकता को समाप्त भी कर सकते हैं। अतः आज यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय भावना की मज़बूती के लिए लोगो में सामान्य उत्पत्ति (Common origin) में विश्वास हो और वे अपने पुराने जातिगत भेद को भुला चुके हों। आज जाति की समानता को राष्ट्रीय एकता के निर्माण में अधिक महत्त्व नही दिया जाता।

(२) **भाषा की समानता** (Community of language) रेम्ज़े म्योर का विश्वास है कि जाति की अपेक्षा भाषा की एकता राष्ट्र-निर्माण में अधिक महत्त्वपूर्ण है। भाषा भावाभिव्यक्ति का साधन है। इस द्वारा जनता के विभिन्न विभाग एक दूसरे को समझ सकते हैं और एक ऐसे सामान्य साहित्य और संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं जो कि राष्ट्रीय एकता का आधार बन जाते हैं। एक ही प्रदेश पर रहने वाली जातियों को पहाड़ और नदियाँ एक दूसरे से इतना दूर नहीं करतीं जितना कि भाषा की अनेकता। आज विभिन्न देशों की जनता के दृष्टिकोण की विभिन्नता की बड़ी वजह भाषा और संस्कृति की विभिन्नता है न कि भौगोलिक दूरी। एक सामान्य भाषा के अभाव में एक दूसरे को जानने और समझने में कठिनाई उत्पन्न होती है और इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना (National consciousness) के प्रसार में बाधा उत्पन्न हो जाती है।

परन्तु भाषा की एकता भी निरपेक्ष रूप में जरूरी नहीं। अनेक ऐसे राज्य हैं जिनकी एक भाषा नहीं। स्विट्ज़रलैण्ड में कोई एक भाषा नहीं, वहाँ तीन भाषाओं—फ्रेंच, जर्मन तथा इटेलियन—का प्रचलन है, फिर भी स्विट्ज़रलैण्ड में राष्ट्रीय चेतना का अभाव नहीं। भारत में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं, फिर भी यहाँ राष्ट्रीय एकता

की कमी नहीं। बेल्जियम में भी दो भाषाएँ बोली जाती हैं, परन्तु राष्ट्रीय एकता वहाँ भी विद्यमान है।

केवल भाषा की एकता भी राष्ट्रीय एकता का कारण नहीं हो सकती। ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका में एक ही भाषा बोली जाती है फिर भी दोनों देशों में एक सामान्य राष्ट्रीयता के विकास की कोई प्रवृत्ति विकसित नहीं हुई।

इन सब अपवादों की मौजूदगी के बावजूद भी भाषा की एकता सामान्य राष्ट्रीयता के निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में राष्ट्रीय एकता विद्यमान है, परन्तु भाषा के विभेद के आधार पर आधारित बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्र तथा तमिलनाड आदि प्रदेशों में जो प्रान्तीयता की उग्र भावनाएँ वर्तमान हैं, क्या वह हमारी राष्ट्रीय एकता के लिए एक जबर्दस्त खतरा नहीं? यही कारण है कि हमारे यहाँ हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर उसे सम्पूर्ण देश की भाषा बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

पाकिस्तान में जो राजनीतिक संकट आज उपस्थित है उसका एक बडा कारण पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान की भाषाओं की भिन्नता है। बँगला और उर्दू दोनों ही राष्ट्रभाषा बनने का दावा करती हैं। इस स्थिति में पाकिस्तान के नेता संवैधानिक गुत्थी के सुलझाव में बहुत कठिनाई को अनुभव करते हैं।

भाषागत भिन्नता के आधार पर ही विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों का संगठन होता है। अतः राष्ट्रीय एकता के हित में सामान्य भाषा का विकास बहुत उपयोगी होता है।

(३) धर्म की समानता (Community of religion)—धार्मिक एकता राष्ट्रीय और जातीय एकता का आधार रही है। यहूदी अपने 'उपराष्ट्र रूप' को धर्म की एकता के आधार पर कायम रख सके। सदियो तक यह जाति एक देश से दूसरे देश में फिरती रही, इसका कोई राजनीतिक संगठन भी नही था, मुख्य रूप में धर्म के आधार पर आधारित एक ऐसी सामान्य संस्कृति ही इसके पास थी जो इसे एक उपराष्ट्र रूप में संगठित किये रही। पोलैण्ड, जापान और आयर्लैण्ड की राष्ट्रीयता भी धार्मिक एकता से काफी प्रभावित है। तुर्की के अत्याचार के विरुद्ध यूनानी लोग धार्मिक एकता के कारण ही अपने आपको जीवित रख सके। इस प्रकार धार्मिक एकता राष्ट्र-निर्माण में महत्त्वपूर्ण भाग लेती रही और धार्मिक मतभेद राष्ट्रीयता का एक बड़ा शत्रु रहा।

आज के युग में भी धर्म का प्रभाव सर्वथा समाप्त नहीं हो गया। १९वीं शताब्दी में हालैण्ड और बेल्जियम का विभाजन धर्म की विभिन्नता के कारण ही हुआ। आयर्लैण्ड और अल्स्टर के विभाजन का कारण भी धार्मिक अनैक्य ही था।

प्रोटैस्टेंटों और कैथोलिकों की तरह भारत में भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के अभाव में एक सामान्य राष्ट्रीयता के विकास में बहुत कठिनाई उत्पन्न हो गई। आखिर इस धार्मिक मतभेद का परिणाम देश का विभाजन और मुस्लिमप्रधान 'पाकिस्तान' नाम के एक नये राष्ट्र का निर्माण ही हुआ। आज भी हमारे यहाँ धार्मिक मतभेद

से कुछ लोग नाजायज लाभ उठा रहे हैं। परन्तु धार्मिक कट्टरता और धर्मान्धता कभी भी किसी भी जाति को उच्च और महान् नहीं बना सकती। आज के राजनीतिक जीवन में धर्म का जोर घटता जा रहा है। रेम्जे म्योर ने ठीक ही कहा है कि **"कुछ उदाहरणों में धार्मिक एकता ने राष्ट्रीय एकता के विकास और संवर्द्धन में महत्त्वपूर्ण योग दिया है, दूसरी ओर धार्मिक मतभेद ने राष्ट्रीयता के विकास में भारी बाधाएँ भी उपस्थित की हैं, फिर भी सम्पूर्ण स्थितियों देखते हुए कहा जा सकता है कि उपराष्ट्रों के निर्माण में धर्म का कोई विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं।"** इसी बात का समर्थन हेज (Hays) ने भी किया है—**"अधिकांश रूप में आधुनिक राष्ट्रीयता धार्मिक विश्वास या धार्मिक कृत्यों की एकरूपता पर जोर दिये बिना ही फल-फूल रही है।"**

इंग्लैण्ड, अमेरिका, रूस, चीन इत्यादि महान् राष्ट्रों में आज धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रीयता ही मौजूद है। इंग्लैण्ड में धर्म-सुधार (Reformation) के अनन्तर धार्मिक एकता कभी कायम ही नहीं हुई, फिर भी राष्ट्रीय भावनाओं का वहाँ कभी ह्रास नहीं हुआ। जर्मनी तथा स्विट्जरलैण्ड की जनता में भयंकर धार्मिक मतभेद हैं, फिर भी राष्ट्रीय एकता का अभाव नहीं। रूस, चीन और अमेरिका में तो धर्म को राजनीतिक जीवन में प्रवेश का अधिकार ही नहीं।

नवीन वैज्ञानिक युग में धर्म-सहिष्णुता (Religious tolerance) का प्रसार अधिक हो रहा है। राजनीति में धर्म को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। आज के सभी प्रगतिशील राष्ट्र धर्म-निरपेक्ष (Secular states) राज्य हैं। धार्मिक अन्धविश्वासों पर यकीन करने वाली जनता और धर्म को वैधानिक संगठन का आधार बनाने वाला राज्य हमेशा पिछड़ा हुआ अर्धसभ्य राष्ट्र ही समझा जाता है।

(४) **भौगोलिक एकता** (Geographic unity)—जनता का एक निश्चित भू-प्रदेश पर निवास उसमें राष्ट्रीय भावनाओं के विकास में सहायक होता है। यदि एक ही भू-भाग पर बहुत काल से विभिन्न जातियाँ रहती आयें तो कालान्तर में उनमें पारस्परिक व्यवहार और मेल-जोल उत्पन्न हो जायगा, जिसका परिणाम एक सामान्य संस्कृति और राष्ट्रीयता का निर्माण होगा। दूसरे अपने निवास-स्थान के प्रति भावपूर्ण प्रेम होना एक स्वाभाविक चीज है। प्रारम्भ से ही हम देखते आये हैं कि मनुष्य को अपने गाँव या नगर से एक विशेष ममत्व रहा है, वैसे ही आज के युग में राष्ट्रीय निवास-स्थान के प्रति होता है। हम अपने देश को 'मातृभूमि' 'पितृभूमि' आदि नाम देकर उसे स्वर्ग से भी श्रेष्ठ कहने के आदी हो जाते हैं। हम अपने ही देश में नदियों की पवित्रता, तीर्थ-स्थानों की श्रेष्ठता और प्राकृतिक दृश्यों की सुन्दरता का स्मरण करते हुए इसे देवताओं की जन्मभूमि 'देवलोक' से भी श्रेष्ठ मानते आये हैं।[1] अपने राष्ट्रगान में इसकी भौतिक एकता का भी गायन करते हैं।

---

१. गायन्ति देवा किल गीत कानि
धन्यास्तु ये भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतु भूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्। —विष्णु पुराण

जन्मभूमि के प्रति यह प्रेम सर्वथा स्वाभाविक है। यह ममत्व राष्ट्रीय भावनाओं के विकास में विशेष सहायक होता है।

परन्तु भौगोलिक एकता के अभाव में भी राष्ट्रीय भावनाओं के विकास के उदाहरण मिल जाते हैं। पोलिश लोग प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व अनेक राज्यों में पृथक्-पृथक् रहते थे, फिर भी उनमें राष्ट्रीय भावनाओं का प्रसार न रुक सका। इसी प्रकार यहूदी भी अनेक देशों में फैले हुए थे परन्तु उनकी राष्ट्रीयता कभी खत्म नहीं हुई। परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि पोलिश और यहूदी दोनों जातियों को एक विशिष्ट भौगोलिक प्रदेश से लगाव था और वे उसे प्राप्त करने की आशा से सदा अनुप्राणित रहते थे। पोल लोग पोलैण्ड को अपनी मातृभूमि समझते थे और यहूदी फिलस्तीन को अपना घर।

फिर भी हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि भौगोलिक एकता के अभाव में भी राष्ट्रीय भावनाओं के विकास की सम्भावना है। पाकिस्तान में भौगोलिक एकता का अभाव है, साथ ही उसमें एक सांस्कृतिक, जातीय और भाषा सम्बन्धी एकता का भी अभाव है। अतः पाकिस्तान की राष्ट्रीयता धार्मिक भावनाओं के कमजोर होने पर किसी भी दिन खतरे में पड़ सकती है। इस प्रकार जहाँ इन तत्त्वों का अभाव हो वहाँ राष्ट्रीय एकता के भंग होने का खतरा अवश्य रहता है।

(५) सामान्य राजनीतिक आकांक्षाएँ (Common political aspirations)—आज धर्म तथा जातीयता की अपेक्षा सामान्य राजनीतिक आकांक्षाओं को राष्ट्रीय भावना के विकास में अधिक महत्त्व दिया गया है। राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता या स्वशासन की माँग के रूप में होती है। एक साधारण राष्ट्रीय इकाई पूर्ण स्वतन्त्रता की भी माँग कर सकती है और स्वशासन की भी। आजकल प्रायः सभी प्रमुख उपराष्ट्रों के लिए आत्म-निर्णय (Self-determination) का अधिकार स्वीकार कर लिया गया है। पोलैण्ड और भारत में भी सामान्य राजनीतिक भावनाओं ने राष्ट्रीयता के प्रसार में पर्याप्त सहयोग दिया।

(६) हितों की समानता (Community of interests) मिल ने उपर्युक्त तत्त्वों की अपेक्षा सामान्य इतिहास और सामान्य संस्कृति को राष्ट्रीय भावना के विकास में अधिक महत्त्व दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज धर्म, जाति, भूगोल इत्यादि की अपेक्षा आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक हितों की समानता और विचार-सामञ्जस्य तथा सामान्य इतिहास राष्ट्रीय भावनाओं के विकास में अधिक सहायक सिद्ध होता है। राष्ट्रीयता मुख्य रूप से एक आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक चीज है; इसका विकास उन सामान्य परम्पराओं से होता है जो सूक्ष्म रूप से मनुष्य की आन्तरिक भावनाओं का नियन्त्रण करती हैं। भारत में अनेक भाषा-भाषी, धर्मावलम्बी और जातियों वाले उपराष्ट्र हैं परन्तु इन सब की एक ऐतिहासिक परम्परा है। ब्रिटिश शासन के दौरान में सभी ने अपने भेदभाव भुलाकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न किये। उन दिनों के अत्याचार और पीड़न ने सभी में उग्र राष्ट्रीयता की भावनाओं का प्रसार किया। जब कभी किसी देश की जनता किसी

विदेशी राज्य की अधीनता में रहती है और एक साथ मिलकर सब लोग अत्याचार और अपमान सहते हैं, तब राष्ट्रीयता की भावनाओं का विकास बड़ी शीघ्रता से होता है। पोलैण्ड, इटली और भारत इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। रूस में क्रान्ति के अनन्तर जब एकदम बाह्य राष्ट्रों ने आक्रमण किया तो उस समय रूसी जनता में भी राष्ट्रीय भावना का प्रबल विकास हुआ। युद्ध-काल में या संकट-काल में राष्ट्रीय भावनाएँ बहुत तेजी से बढ़ती हैं।

गेटल ने ठीक ही कहा है, "राष्ट्रीयता तो विशेषतया एक मानसिक स्थिति है, यह एक मानसिक प्रवृत्ति तथा रहने, विचार करने एवं अनुभव करने की पद्धति है। यह एकता की आत्मिक अनुभूति है जिसके अनेक आधार हैं तथा जो ऐतिहासिक विकास का प्रतिफल है।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि धर्म, जाति, भाषा तथा भूगोल इत्यादि की एकताएँ अनिवार्य नहीं, इनकी अनुपस्थिति में भी राष्ट्रीय भावनाओं का विकास सम्भव है। परन्तु इतना तो हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इन उपर्युक्त तत्त्वों के सर्वथा अभाव में भी राष्ट्रीय भावनाएँ कमजोर पड़ जायेंगी और कालान्तर में नष्ट भी हो सकती हैं।

३१. एक राष्ट्र-राज्य या बहुराष्ट्र-राज्य (Mono-national States and Multi-national States)

एक राज्य एक राष्ट्र पर आधारित हो या अनेक राष्ट्रों को मिलाकर एक राज्य का निर्माण किया जाय? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, और इस प्रश्न के उत्तर के विषय में भी मतैक्य नहीं।

एक राष्ट्र-राज्य के समर्थक अवसर मिल के इस कथन को उद्धृत करते हैं कि "स्वतन्त्र संस्थाओं की सामान्य तथा आवश्यक शर्त यह है कि राज्य तथा राष्ट्रीयता की सीमाएँ एक होनी चाहिएँ।" इस प्रकार प्रत्येक राज्य जो कि विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों में मिलकर बना है, उसे इस प्रकार संगठित किया जाना चाहिए कि उसकी प्रत्येक राष्ट्रीय इकाई अपने राजनीतिक भाग्य का निर्माण स्वयं कर सके। मिल का यह दृढ़ विश्वास था कि जहाँ कहीं कोई राष्ट्रीय इकाई (Nationality) संगठित होकर जोरदार शब्दों में अपने पृथक् और स्वतन्त्र राज्य-संगठन की माँग करे तो उसकी माँग स्वीकार की जानी चाहिए।

पिछले ५० वर्षों के दौरान में यूरोप में जिस आत्मनिर्णय (Right of self-determination) के अधिकार को माना गया है, वह मिल द्वारा प्रतिपादित, उपर्युक्त सिद्धान्त पर ही आधारित है। इस मत के अनुसार भारत की प्रत्येक राष्ट्रीय इकाई को संगठित होकर अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना का अधिकार प्राप्त होगा। बंगाल, पंजाब, तामिलनाड, आन्ध्र आदि सभी राष्ट्रीय इकाइयाँ अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग कर सकेंगी। यद्यपि सिद्धान्त रूप से इस मत का कोई भी विरोध नहीं करता परन्तु व्यावहारिक रूप में इस मत का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अराजकता के बीज

वो देगा । यदि प्रत्येक छोटी राष्ट्रीय इकाई को स्वतन्त्र राज्य-स्थापन का अधिकार दे दिया जाय तो उसका परिणाम यही होगा कि आज के सभी बड़े-बड़े राज्यों को भंग कर उनके स्थान पर अनेक नवीन राष्ट्रों की स्थापना की जायगी। इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, रूस, भारत, चीन इत्यादि राज्य अनेक स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित किये जा सकते हैं।

दूसरे, आज राष्ट्रीय इकाइयों का इस प्रकार से मिश्रण हो गया है कि उनमें विभाजक रेखा खींचना कठिन है। साथ ही उनका स्वतन्त्र राज्यों के रूप में संगठन करना भी असम्भव है नहीं तो कठिन अवश्य है।

फिर ये छोटे-छोटे राज्य आर्थिक और राजनीतिक रूप में सब प्रकार से स्वतन्त्र नहीं हो पाते । वे प्रायः बड़े-बड़े राज्यों की दया पर ही जीवित रहते हैं।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने इस बात को साबित कर दिया है कि छोटे राज्य बड़े राज्यों का मुकाबिला नहीं कर सकते । हिटलर ने थोड़े से दिनों में मध्य यूरोप के सम्पूर्ण देशों को अपने अधीन कर लिया था।

मिल का यह कथन कि जो देश या राज्य विविध राष्ट्रीय इकाइयों के मिश्रण से बने हैं उनमें स्वतन्त्र संस्थाओं की अवस्थिति असम्भव-सी है; बिलकुल गलत है। स्विट्ज़रलैण्ड तथा अमेरिका इसकी निस्सारता के द्योतक हैं । स्विट्ज़रलैण्ड में एक नहीं अपितु तीन-तीन राष्ट्रीय इकाइयाँ वर्तमान हैं, फिर भी वहाँ प्रजातन्त्र का जो स्वाभाविक रूप विकसित हुआ है, तथा अनेक प्रकार की जिन लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं का विकास हुआ है वह अन्यत्र नहीं हो सका । संयुक्त राज्य अमेरिका भी अनेक राष्ट्रीय इकाइयों का संगम है; फिर भी वहाँ स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं का पूर्ण विकास हुआ है। सोवियत रूस राष्ट्रीय इकाइयों का अजायबघर कहलाता है, परन्तु वहाँ के राष्ट्र-निर्माताओं ने राज्य को इस प्रकार संगठित किया है कि सभी राष्ट्रीय इकाइयाँ अपनी संस्कृति, भाषा और ऐतिहासिक परम्परा को सुरक्षित रखने में समर्थ हैं।

लार्ड एक्टन तथा ब्लंशली इत्यादि ने बहु राष्ट्रवाद का समर्थन किया है। अनेक राष्ट्रीय इकाइयों के समिश्रण से राज्य में उदारता और विस्तीर्णता आ जाती है, अनेक सभ्यताओं का मिश्रण होता है । श्रेष्ठ जातियों के साथ रहने से अविकसित जातियाँ भी उन्नत हो जाती हैं और पराजित तथा अर्द्ध मृत से राष्ट्र भी जीवित राष्ट्रों के सम्पर्क में पुनः जी उठते हैं ।

कुछ लोगों का मत है कि एक राष्ट्र के आधार पर आधारित राज्यों में अन्ध राष्ट्रीयता को उत्पन्न किया जाता है। उनमें साम्राज्यवादी धारणाओं का विस्तार होता है और इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के भंग होने का खतरा रहता है। इसमें सन्देह नहीं राष्ट्रीय भावनाओं की अतिशयता युद्धों की जनक होती है।

निश्चय ही राष्ट्रीय इकाइयों के आत्मनिर्णय के अधिकार को हम उस सीमा तक लागू नहीं कर सकते जहाँ तक कि मिल ने उसका समर्थन किया है । मिल स्वयं अपने सिद्धान्त की अव्यावहारिकता को स्वीकार करता है और उसे एक कोरा आदर्श

ही मानता है। जहाँ कहीं विविध राष्ट्रीय इकाइयाँ (Nationalities) अपनी इच्छा से किसी एक बड़े राष्ट्र का भाग हों वहाँ तो उनके द्वारा स्वतन्त्र राज्य की स्थापना का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। परन्तु जहाँ कहीं असन्तुष्ट राष्ट्रीय इकाइयाँ हों वहाँ न तो कोई विशेष प्रगति ही हो सकती है और न शान्ति ही कायम रह सकती है। एक असन्तुष्ट राष्ट्रीय इकाई अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए एक जीवित खतरा होती है, ऐसे समय में उसे जबरदस्ती किसी एक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं रखा जाना चाहिए।

हमारे विचार में तो आज की राष्ट्रीय इकाइयों की समस्या का सुलझाव इन द्वारा छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना से सम्भव नहीं। छोटी-छोटी राष्ट्रीय इकाइयाँ बड़े राज्यों का भाग बन जहाँ राजनीतिक गौरव प्राप्त करती हैं वहाँ आर्थिक लाभ भी हासिल करती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इन राष्ट्रीय इकाइयों की संस्कृति, भाषा और ऐतिहासिक परम्परा की सुरक्षा की वैधानिक गारंटी हो और फिर इन्हें स्वायत्त शासन भी प्राप्त हो। केवल पर्याप्त स्वायत्त शासन के अनुदान द्वारा ही विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों को सन्तुष्ट रखा जा सकता है।

३२. क्या भारत एक राष्ट्र है ?

भारत क्या एक राष्ट्र है ? ऊपर राष्ट्रीयता के तत्त्वों के विवेचन के अनन्तर हम इस प्रश्न का उत्तर पर्याप्त सरलता से दे सकते हैं। जहाँ तक जाति, संस्कृति, धर्म, भाषा इत्यादि की एकता का प्रश्न है भारत में ये सब विद्यमान नहीं। जातीयता की दृष्टि से भारत अनेक जातियों का मिश्रण है। मुख्य रूप से आर्य और द्रविड़ ये दो जातियाँ ही भारत में अधिक हैं, परन्तु शक, हूण और मंगोल इत्यादि जातियों का भी यहाँ पर्याप्त मिश्रण हो चुका है। इन जातियों में रक्त की विशुद्धता अन्य देशों की भाँति यहाँ भी अप्राप्य है। इसके अतिरिक्त भारत के विभिन्न सम्प्रदाय अनेक बिरादरियों, वर्णों तथा वर्गों में विभाजित हैं। हिन्दुओं का भारत में बहुमत है, परन्तु हिन्दू अपने आप में ही अनेक वर्णों और जातियों तथा उपजातियों में बँटे हुए हैं। इन सब में सामाजिक तथा वैवाहिक सम्बन्धों का अभाव है।

धर्म की दृष्टि से भी भारत में अनेकता है। हिन्दू, मुसलिम, ईसाई, बौद्ध, पारसी, सिख, जैन इत्यादि अनेक धर्म यहाँ वर्तमान हैं। इन धर्मों के अनुयायियों में कोई विशेष मित्रता-पूर्ण सम्बन्धों की अवस्थिति नहीं। आपस में पर्याप्त मतभेद है, विशेष रूप से हिन्दुओं और मुसलमानों में तो पर्याप्त धार्मिक विरोध वर्तमान है। भारत में लगभग २०० भाषाओं एवं उपभाषाओं का प्रयोग होता है। मराठी, बंगला, गुजराती, तमिल, तेलगू, कन्नड़ इत्यादि अनेक भाषाओं का अपना-अपना समृद्ध साहित्य है। अभी तक अंग्रेजी ही अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप में प्रयुक्त की जाती रही है। अभी हिन्दी अंग्रेजी का स्थान नहीं ले सकी और न ही व्यावहारिक दृष्टि में यह राष्ट्रीय भाषा ही बन सकी है।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी भारत की प्रत्येक भौगोलिक इकाई पर्याप्त स्वतन्त्र

है। बंगाल और पंजाब की दो विभिन्न संस्कृतियाँ हैं, इसी प्रकार उत्तर प्रदेश और आन्ध्र देश की अपनी-अपनी संस्कृतियाँ हैं। महाराष्ट्र की अपनी भाषा है, अपना साहित्य है, रहन-सहन का अपना तरीका है और एक दृष्टि से उसका अपना इतिहास भी है जो कि सुदूर पूर्व स्थित आसाम के लोगों से भिन्न है।

भौगोलिक दृष्टि से भारत उत्तर और दक्षिण दो स्पष्ट भागों में बँटा हुआ है। भारत के इन दोनों भागों के निवासियों में पर्याप्त अन्तर है। दक्षिण के लोगों का रहन-सहन, उनकी बोल-चाल, उनका साहित्य तथा उनकी संस्कृति उत्तर भारत के निवासियों से पर्याप्त भिन्न है। यही नहीं, जहाँ भारत में एक ओर सर्वथा सुसंस्कृत और सुसभ्य लोग रहते हैं, वहाँ दूसरी तरफ आदिम जातियों के ऐसे कबीलों की भी कमी नहीं जो कि शिकार खेलकर, बनों में रहकर वृक्षों तथा पशुओं की खाल पहनकर अपनी जिन्दगी बसर करते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी अंग्रेजों के आगमन से पूर्व शायद ही कभी सम्पूर्ण भारत बहुत अर्से तक किसी एक राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत रहा हो। भारत में अनेक स्वतन्त्र राज्यों की अवस्थिति रही है। ये राज्य अक्सर परस्पर युद्ध और लड़ाई-झगड़े में ही मग्न रहते थे। ऐसी स्थिति में भारतवर्ष के प्राचीन युग में एक शक्तिशाली राष्ट्रीय भावना का विकास न हो सका।

भारत में भाषा, धर्म, जाति इत्यादि की इतनी किस्में हैं जितनी कि शायद सारे यूरोप में नहीं। यही कारण है कि भारत को एक उपमहाद्वीप कहा गया और इसे एक नहीं अनेक राष्ट्रों का समूह समझा गया है। पाश्चात्य विद्वानों ने तो भारत को कभी एक राष्ट्र नहीं माना।

परन्तु ग्रह सब भेद बाह्य और ऊपरी हैं। इन भेदों के नीचे एक ऐसी विशिष्ट सांस्कृतिक एकता है जो भारत भूमि की विशेष उपज है। इस बात से हम इनकार नहीं करते कि जाति की दृष्टि से भारत के लोगों में भेद हैं, भाषा और धर्म की दृष्टि से भी लोगों में एकता नहीं। परन्तु यह विभेद भारत भूमि के निवासियों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। ये विभेद उस एकता के सामने—जो कि हमारे देश में वर्तमान है—बहुत मामूली दीखते हैं। इसका एक बड़ा कारण भारतवर्ष की भौगोलिक एकता है। प्राकृतिक दृष्टि से भारतवर्ष एक ऐसी इकाई है जो कि अपने आप में सर्वथा पूर्ण है। एशिया के अन्य देशों से पृथक् होने के कारण और अपने आप में सम्पन्न होने के कारण हमारा देश एक ऐसी संस्कृति को उत्पन्न कर सका जो सभी दृष्टियों से विशुद्ध भारतीय है। हमारे पूर्वजों ने देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक ऐसे तीर्थों की स्थापना की जो कि सभी हिन्दुओं के लिए समान रूप से पवित्र हैं। भगवान शंकराचार्य ने भारत की भौगोलिक एकता को ही अपनी दृष्टि में रखते हुए भारत के चारों कोनों में अपने मठों को स्थापित किया। प्रत्येक धार्मिक हिन्दू प्रातःकालीन स्नान के समय भरतवर्ष की तमाम पवित्र नदियों का स्मरण एक साथ करता है, वह जहाँ गंगा और सिन्धु को पवित्र मानता है वहाँ कावेरी और गोदावरी को भी। भारत के हिन्दुओं ने अपनी जन्म-भूमि को देव-भूमि से भी श्रेष्ठ

और पवित्र माना है।

जातीय दृष्टि से यह ठीक है कि भारत में आर्य और द्रविड़ों में भेद हैं, परन्तु आज यह भेद केवल मात्र वैज्ञानिकों की खोज का ही विषय है। आज वह एक दूसरे में पर्याप्त घुल-मिल गये हैं। उनकी सांस्कृतिक एकता ने उनके नसल के भेद को समाप्त कर दिया है। शक, हूण मंगोल इत्यादि आक्रमणकारी यहाँ आए, परन्तु आज वह विशाल हिन्दू जाति में इस प्रकार विलुप्त हो गये हैं जैसे कि एक विशाल सागर में अनेक नदियाँ। यह ठीक है कि विदेश से आए मुसलमान हिन्दुओं से पृथक् रहे। वह अपने आपको हिन्दुओं में न खपा सके। परन्तु अकबर के समय का और उसके बाद का इतिहास बतलाता है कि किस प्रकार ये दोनों महान् जातियाँ एक दूसरे के निकट आईं और आपस में मिलकर एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करने लगीं। यही संस्कृति हिन्दुस्तानी संस्कृति कहलाती है। भारत में धर्मों की विभिन्नता भी है। परन्तु वह भेद इतना तीव्र नहीं जितना कि बताया गया है। भारत के अंग्रेज शासकों ने "फोड़ो और शासन करो" (Divide and rule) की नीति का अनुसरण करते हुए बड़ी चालाकी से भारत के प्रमुख सम्प्रदायों को एक दूसरे का विरोधी बना दिया। बौद्ध और जैन विशाल हिन्दू समाज के ही भाग समझे जाते हैं। सिखों की संस्कृति और जीवन-दर्शन भी हिन्दुओं की संस्कृति के भीतर ही माना जाता है। मुसलमानों और हिन्दुओं में पर्याप्त काल से सांस्कृतिक और सामाजिक आदान-प्रदान चल रहा था जिसने दोनों सम्प्रदायों को पर्याप्त प्रभावित किया और उनके पारस्परिक भेदों को काफी हद तक खत्म कर दिया। मुसलमानों के अनेक फकीर और साधु हिन्दुओं के लिए भी पूज्य बन गये। अनेक रीति-रिवाजों और सामाजिक त्योहारों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही भाग लेने लगे। फिर उत्तर भारत के एक मुसलमान का जीवन, उसके रहन-सहन का ढंग और उसकी बोल-चाल दक्षिण भारत के मुसलमान से भिन्न हो गई। पंजाब और बंगाल के मुसलमानों में भी ऐसे ही भेद दृष्टिगोचर होते हैं, वे अपने यहाँ के हिन्दुओं के अधिक निकट हैं। भारत के मुसलमान का तुर्की, मिश्र अथवा अरब के मुसलमान से तो कोई मेल ही नहीं। जातीय दृष्टि से भी भारत के मुसलमान अधिकतर भारतीय जातियों के ही वंशज है।

सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से भी भारत में एक आधारभूत एकता है। दक्षिण और उत्तर भारत की भाषाओं के साहित्य के प्रेरणा-स्रोत समान हैं। तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम, गुजराती, मराठी, बंगला तथा हिन्दी इत्यादि सभी दक्षिणी और उत्तरी भाषाओं ने महाभारत और रामायण से पर्याप्त साहित्यिक सामग्री एकत्रित की है। वस्तुतः भारत की प्रायः सभी भाषाओं में राम और कृष्ण के जीवन की विभिन्न कथाओं का विभिन्न रूपों में वर्णन उपलब्ध हो जायगा। दक्षिण और उत्तर दोनों में संस्कृत साहित्य की समान महत्ता रही है, और अब भी है। भारत के इन दोनों ही भागों में प्राप्त समाजों में एक आधारभूत समानता है। विष्णु, राम तथा कृष्ण की पूजा उत्तर और दक्षिण दोनों ही प्रदेशों में होती है। रामानुज, शंकर, रामानन्द, वल्लभाचार्य, तुलसी, कबीर, सूर, मीरां, गुरू नानक इत्यादि विद्वानों और

सन्तों का भारत के सभी भागों में समान प्रभाव और समान सम्मान है।

भारत की सभी प्रमुख भाषाओं और वर्णलिपियों का जन्म भी एक ही सामान्य स्रोत से हुआ है, भारत की भाषाएँ मुख्य रूप से दो वर्गों—आर्य और द्रविड़ में बाँटी जाती हैं, परन्तु आज ये दोनों वर्ग एक दूसरे को पर्याप्त प्रभावित कर रहे हैं। पुराने जमाने में संस्कृत उत्तर और दक्षिण भारत की सामान्य भाषा थी, आज हिन्दी यह स्थान ग्रहण कर रही है।

वर्तमान भारत की एक सामान्य संस्कृति का विकास और भी अधिक आसानी से हो सकता है। यातायात के सरल साधनों के विकास के फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों को एक दूसरे के निकट आने और समझने का अवसर मिल सकता है। ब्रिटिश राज्य की भारत के लिए सबसे बड़ी देन भारत का राजनीतिक एकीकरण था। ब्रिटिश शासन ने सम्पूर्ण देश को एक राजनीतिक इकाई बना उसमें दृढ़ केन्द्रीय शासन की स्थापना की, उसके परिणामस्वरूप ही देश में सामान्य राष्ट्रीय भावनाओं का प्रसार हुआ। अंग्रेजी के अध्ययन द्वारा उत्तर और दक्षिण भारत के लोग एक दूसरे के विचारों से अवगत होने लगे और पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने लगे। ऐसे ही समय में हमारे देश में सामाजिक सुधार और सांस्कृतिक जागरण का युग प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश शासन एक विदेशी शासन था, अंग्रेजी भाषा एक विदेशी भाषा थी, भारत के सभी क्षेत्रों में विदेशियों का ही प्रभुत्व था, भारतीय अपने ही देश में अपमानित और लांछित होते थे। गुलामी द्वारा उत्पन्न हीनता की इसी स्थिति ने लोगों में राष्ट्रीय जागृति को उत्पन्न किया। बंगाली, गुजराती, सिन्धी, पंजाबी, बिहारी, काश्मीरी सभी अपने-अपने भेदभाव को भूलकर शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य से टक्कर लेने के लिए तैयार हो गये। स्वतन्त्रता के इस आन्दोलन में सभी प्रदेशों और सम्प्रदायों ने समान कष्ट उठाए और समान बलिदान दिए। इस प्रकार कष्टों का और बलिदानों का यह समान इतिहास भारत के विभिन्न भागों के लोगों में एकता की भावना को भरता रहेगा।

भारत एक राष्ट्र है, परन्तु इसमें राष्ट्रीय इकाइयाँ अनेक हैं।

भारत की राष्ट्रीयता को सबल और ओजपूर्ण बनाने के लिए हमें अपने देश में प्राप्त आधारभूत एकता पर जोर देना चाहिए। भाषाओं के भेद और धर्मों के भेद के नीचे छिपी हुई राष्ट्रीय एकता से हमें सभी नागरिकों को परिचित कराना चाहिए। हिन्दू और मुसलिम संस्कृतियों के मेल से बनी संस्कृति के प्रचार और प्रसार के प्रयत्न किए जाने चाहिएँ। अपनी राष्ट्रीय एकता की मजबूती के लिए अपनी राष्ट्रभाषा के विकास का पूर्ण प्रयत्न करना आवश्यक है। एक सामान्य भाषा के अभाव में देश के विभिन्न भाषा-भाषी भागों में एकता और मेल कायम नहीं हो सकता। भाषा की एकता हमारे जैसे विशाल देश में अत्यन्त आवश्यक है। एक सामान्य भाषा के विकास का अर्थ प्रादेशिक भाषाओं का विनाश नहीं है, प्रादेशिक भाषाएँ अपने-अपने प्रदेश में स्वतन्त्र होंगी। अपने इतिहास को भी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से लिखना चाहिए। ब्रिटिश शासकों ने हमारे इतिहास को विकृत रूप में प्रस्तुत किया है, उन्होंने हमारे में प्राप्य

भेदों और भिन्नताओं (Diversities) पर अधिक बल दिया और आधारभूत एकता (Unity) की सर्वथा उपेक्षा की । हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक युद्धों का और पारस्परिक भेदों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया । यह सब राष्ट्रीय हित में नहीं ।

देश की भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता का परिचय देने के लिए हमें विद्यार्थियों की—और जनसाधारण की भी—यात्राओं की व्यवस्था करनी चाहिए । लोग स्वयं अपने देश का भ्रमण कर विभिन्न ऐतिहासिक और सांस्कृतिक केन्द्रों को देख, अपने देश की भौगोलिक एकता से अवगत हो सकें । ऐसे सांस्कृतिक मेले और उत्सवों का भी आयोजन किया जाना चाहिए कि जिनके द्वारा लोग विभिन्न प्रदेशों की संस्कृतियों का ज्ञान प्राप्त कर सकें । अपनी शिक्षा-पद्धतियों को इस प्रकार से परिवर्तित करना चाहिए कि भारत के विभिन्न प्रदेशों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान बढ़े । बजाय विदेशी भाषाओं के हमें अपने यहाँ की प्रादेशिक भाषाओं के अध्ययन की आवश्यक रूप से व्यवस्था करनी चाहिए । इस प्रकार के अनेक प्रयत्नों द्वारा ही हम अपनी राष्ट्रीय भावना को कायम रख सकते हैं । यह राष्ट्रीयता की भावना हमारे लिए जीवन-मरण का प्रश्न है ।

इसके साथ ही राजनीतिक रूप में भी राष्ट्रीय इकाइयों को स्वतन्त्र सांस्कृतिक विकास के लिए पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए । वर्तमान संघशासन (Federal Government) की व्यवस्था इन उद्देश्यों को प्राप्त करने का एक सन्तोषजनक प्रयत्न है ।

३३. राष्ट्रीय इकाइयों के अधिकार

नीचे हम राष्ट्रीय इकाइयों (Nationalities) के अधिकारों का विवेचन करेंगे । इन अधिकारों में से अनेक अधिकार राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा भी माने जा चुके हैं ।

(१) **आत्म-निर्णय का अधिकार**—इस अधिकार का जिक्र हम पीछे भी कर आए हैं । इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक उपराष्ट्र को अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना का अधिकार होना चाहिए । हमने पीछे भी इस अधिकार की सीमाओं का निर्देश किया है, और यह बतलाया है कि यदि इस अधिकार को सख्ती से लागू किया जाय तो उसका परिणाम होगा संसार से बड़े-बड़े राज्यों का सर्वथा विलोप । अतः इस अधिकार का उपयोग बहुत सँभलकर करना चाहिए । जहाँ कहीं एक राष्ट्र दूसरे किसी राज्य के आधीन हो वहाँ इस अधिकार पर बल दिया जा सकता है । पोलैण्ड, भारत, इण्डोनेशिया, बर्मा इत्यादि देश इस अधिकार के बल पर स्वतन्त्रता-प्राप्ति पर बल दे सकते थे ।

अतः आज तो अनेक राष्ट्रीय इकाइयों से मिलकर ही एक राज्य की स्थापना होती है । अतः इन राष्ट्रीय इकाइयों के अन्य अधिकारों पर ही अधिक बल देना चाहिए ।

आत्म-निर्णय के अधिकार को मध्य युग में तथा उसके बाद भी आधुनिक युग के प्रारम्भिक भाग में कभी स्वीकार नहीं किया गया। 'वियना काँग्रेस' में जो कि १८१४ में वियना में हुई थी, यह आशा की जाती थी कि राष्ट्रों के इस अधिकार को स्वीकार कर उसके आधार पर यूरोप का राजनीतिक पुनर्संगठन होगा। परन्तु 'वियना काँग्रेस' में उपस्थित राजनीतिज्ञ प्रतिक्रियावादी थे, वह राष्ट्रवाद और प्रजातन्त्र के विरोधी थे, उन्होंने इस सिद्धान्त की सर्वथा उपेक्षा की। प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर यूरोप में जिन अनेक नवीन राज्यों की स्थापना हुई। उनमें से अधिकांश इसी सिद्धान्त के आधार पर ही संगठित किये गये थे। द्वितीय विश्व-युद्ध के अनन्तर तो एशिया के देशों को भी आत्म-निर्णय का अधिकार थोड़ी-बहुत हिचकिचाहट के अनन्तर दे दिया गया।

(२) **पृथक् सत्ता का अधिकार**—जहाँ एक राज्य का निर्माण बहुत सी राष्ट्रीय इकाइयों के मिश्रण से होता है, वहाँ अक्सर छोटी और गौण राष्ट्रीय इकाइयों की सत्ता को समाप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। भारत में जब ब्रिटिश राज्य था तो यहाँ के विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों को अनेक प्रकार से मिटाने के प्रयत्न किये गये। चेक तथा स्लोवाक लोग प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व आस्ट्रिया की अधीनता में थे, उनकी संस्कृति, भाषा और ऐतिहासिक परम्परा को मिटाने के पूरे-पूरे प्रयत्न किये गये।

इसलिए आज यह आवश्यक समझा जाता है कि प्रत्येक राज्य के संविधान में इन इकाइयों की पृथक् सत्ता की कानूनी गारंटी दी जाय और उन्हें स्वायत्त शासन भी प्रदान किया जाय।

(३) **भाषा की स्वतन्त्रता का अधिकार**—अनेक राष्ट्र-राज्यों में एक राष्ट्र-भाषा की अवस्थिति सम्भव है। परन्तु इसके साथ दूसरी राष्ट्रीय इकाइयों को अपनी भाषा की रक्षा, उसके प्रयोग और अपने बच्चों को उसके शिक्षण का अधिकार होना चाहिए। हमारे यहाँ हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया है, परन्तु उसके साथ ही प्रादेशिक भाषाओं की स्वतन्त्र स्थिति को भी माना गया। उनके शिक्षण और संवर्द्धन की बड़ी जिम्मेदारी प्रादेशिक सरकारों पर है। अन्य राष्ट्रीय इकाइयाँ भी अपनी भाषा का प्रयोग कर सकती हैं, उनमें शिक्षा देने के लिए स्कूल और कालेजों की स्थापना की भी उन्हें स्वतन्त्रता है।

भाषा सम्बन्धी साम्राज्यवाद का प्रचलन प्रायः सभी देशों में पाया जाता है। अक्सर अधीन राष्ट्रों की भाषा को दबाने के प्रयत्न सभी जगह किये जाते हैं। मुसलमान शासकों ने भारत की भाषाओं का त्याग कर फारसी इत्यादि विदेशी भाषाओं को राजकीय भाषा बनाया। इसी प्रकार अंग्रेजों ने भी भारत में अंग्रेजी को राज-काज की भाषा बनाया और उच्च शिक्षा का माध्यम भी उसे ही रखा।

(४) **सांस्कृतिक और धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार**—प्रत्येक सांस्कृतिक और धार्मिक अल्पमत को अपनी संस्कृति और अपने धर्म की रक्षा का और उसके पालन का अधिकार होना चाहिए। प्रत्येक जाति के और धार्मिक सम्प्रदाय के अपने रहन-सहन के तरीके, अपना साहित्य और अपने रीति-रिवाज होते हैं जिनका वे पालन

करते हैं। राज्य को उनकी रक्षा करनी चाहिए और बहुमत की इच्छा के अनुसार उन्हें कुचल नहीं देना चाहिए। आज के प्रायः सभी प्रगतिशील राज्यों में धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार की पूरी-पूरी सुरक्षा रहती है। धार्मिक असहिष्णुता राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ेपन का लक्षण है।

भारत के संविधान में सांस्कृतिक और धार्मिक स्वतन्त्रता की पूरी-पूरी गारंटी दी गई है। परन्तु सामाजिक और नैतिक हित के लिए बुरी सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं को बन्द करने के राज्य के अधिकार को सर्वथा स्वीकार किया जाता है।

३४. उग्र राष्ट्रवाद की हानियाँ

१९वीं सदी में राष्ट्रवाद जहाँ एक प्रगतिशील शक्ति थी, जहाँ उसके बल पर लोग एकत्र हो विदेशी राज्यों के जुए को उतार फेंकते थे, वहाँ २०वीं शताब्दी में यूरोप में इसका इतिहास कोई अधिक गौरवपूर्ण नहीं रहा। राष्ट्रवाद के नाम पर लोगों को गुमराह किया गया, दूसरे देशों की स्वतन्त्रता का अपहरण किया गया और लाखों व्यक्तियों की जानों और करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति को बरबाद किया गया। आज का राष्ट्रवाद विभिन्न राष्ट्रों में घृणा उत्पन्न करता है, उनमें आक्रामक प्रवृत्ति को उकसाता है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अशान्ति के बीज बोता है। प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर जर्मनी, जापान तथा इटली में उग्र राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। इन देशों के निवासियों में यह भावना भरी गई कि वे संसार की श्रेष्ठतम जातियाँ हैं; उनके राष्ट्र विश्व के सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र हैं, और वह संसार पर शासन करने के लिए ही उत्पन्न हुई हैं। जर्मनी में इस उग्र राष्ट्रीयता का आधार जातीयता था। इसी अन्धी राष्ट्रीयता के फलस्वरूप ही जर्मनी में सैकड़ों यहूदी कत्ल कर दिये गये, उनके घर-बार जला दिये गये और उन्हें देश से निकाल दिया गया। इसी उग्र राष्ट्रीयता का ही परिणाम द्वितीय महायुद्ध था जिसमें असंख्य मानवीय जीवनों की आहुति दी गई।

सांस्कृतिक क्षेत्र में तो राष्ट्रीयता एक प्रगतिशील शक्ति के रूप में काम कर सकती है परन्तु यही राष्ट्रीयता आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में फूट डालती है। जहाँ कहीं राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होने का प्रयत्न करते हैं, वहाँ अगला कदम वे साम्राज्यवाद और युद्ध की ओर ही रखते हैं। ऐसी राष्ट्रीयता विशुद्ध रूप से मूढ़ कट्टरपन है, वह मनुष्य को अन्धा बना देती है, वह जंगलीपने की देशभक्ति से अधिक कुछ नहीं।

एक शिष्ट और संयमित राष्ट्रीयता का आदर्श सह-जीवन (Co-existence) है। उसका आदर्श "जियो और जीने दो" है। ऐसी राष्ट्रीयता में साम्राज्यवादी प्रवृत्ति नहीं होती। वह कमजोर और पिछड़े देशों को दबाने की प्रेरणा नहीं देती। ऐसी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के हित में होती है, उसका उद्देश्य विश्व-शान्ति और विश्व-कल्याण होता है। ऐसी राष्ट्रीयता प्रभु सत्ता तथा राज्यों की असीम स्वतन्त्रता में भी यकीन नहीं करती।

जो राष्ट्रवाद मानवीय समूहों में घृणा और अविश्वास पैदा करता है, जिसका

उद्देश्य साम्राज्यवाद और युद्ध है, उससे हमें बचना चाहिए । राष्ट्रीयता का उद्देश्य विशुद्ध देश-भक्ति का विकास होना चाहिए । साथ ही हमें मानवतावाद को भी नहीं भूलना चाहिए। आदर्श राष्ट्रवाद राष्ट्रीय हित और मानवीय हित में, मानवीय हित को ही ऊँचा और श्रेष्ठ समझता है।

Important Questions

Reference

1. Distinguish between State and Nation. (*Agra, 1943, Cal. 1925. Pat. 1944*) — Arts. 25, 26 and 27

2 Discuss the distinction between (*a*) Nation and (*b*) Nationality. (*Punjab, 1955*) — Arts. 26. 27 and 28

3. What are the chief elements that go to constitute Nationality ? Is any one of them absolutely essential ? Distinguish between Nation and Nationality. (*Punjab, 1952*)

Or

Discuss the factors that creat a sense of unity in a State. (*C. U. 1954*) — Art. 30.

4. Discuss the development of Nationalism. — Art. 29.

5. Is India a Nation ? (*Cal. 1937, 1935, 1933*) — Art 32.

6. Explain the influence of Nationality on the formation of States. (*Punjab, 1942*) — Art. 29.

अध्याय ५

राज्य की उत्पत्ति

(The Origin of the State)

३५. राज्य की उत्पत्ति विषयक प्रश्न

मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह विभिन्न मानवीय संस्थाओं की उत्पत्ति और विकास विषयक प्रश्न पूछे। परिवार की उत्पत्ति कब और किस समय हुई? समाज का विकास कब, किस समय और कैसे हुआ? राज्य का जन्म क्यों, किस समय और किस लिए हुआ? यह सब स्वाभाविक प्रश्न हैं। इन प्रश्नों का सीधा-सादा निश्चित उत्तर दे सकना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

राज्य के जन्म का प्रश्न एक रहस्य है। इस प्रश्न का उत्तर इतिहास की सहायता से दिया जाना चाहिए। परन्तु इतिहास यहाँ आकर हमारी कुछ विशेष सहायता नहीं कर पाता। इतिहास यह तो बतला सकता है कि अमुक देश में शासन कैसे बदला या अमुक देश में राज्य का स्वरूप क्या रहा। उसका मुख्य क्षेत्र घटनाओं का वर्णन है, परन्तु इतिहास नहीं बतला सकता कि 'राज्य' नाम की सामाजिक संस्था का जन्म कब हुआ या मनुष्य में राजनीतिक चेतना कब उत्पन्न हुई, और हमारे लिए आधारभूत प्रश्न यही है।

अधिकांश में इस प्रश्न का उत्तर कल्पना के बल पर ही दिया गया है। आज अवश्य हम समाज विज्ञान, भाषा विज्ञान, जातिशास्त्र (Ethnology) तथा शरीर रचना विज्ञान (Enthropology) इत्यादि की सहायता से इस प्रश्न को वैज्ञानिक रूप से सुलझाने के प्रयत्न करते हैं, तथापि हमारे एतद्विषयक सिद्धान्त अधिकतर कल्पनात्मक और दार्शनिक हैं।

राज्य की उत्पत्ति से हमारा मतलब किसी राज्य विशेष की उत्पत्ति से नहीं। जब हम इस प्रश्न के उत्तर को खोजने का प्रयत्न करते हैं तो भारतीय ब्रिटिश या रूसी राज्य विशेष की उत्पत्ति की खोज का प्रयत्न नहीं करते। हमारा अध्ययन विषय 'राज्य' नाम की सामाजिक संस्था का जन्म होता है। मानव इतिहास के आकाश में राज्य का जन्म कब और कैसे हुआ? इस प्रश्न के उत्तर में प्राचीन काल से ही अनेक कल्पनाप्रधान दार्शनिक सिद्धान्तों की रचना की गई है, इनमें से प्रमुख यह हैं—

(१) दैवीय उत्पत्ति सिद्धान्त (The Divine origin theory)

(२) शक्ति सिद्धान्त (The Force theory)

(३) सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त (The Social contract theory)

(४) पितृसत्ताक तथा मातृसत्ताक सिद्धान्त (The Patriarchal and

Matriarchal theories)

आज इनमें से अधिकांश सिद्धान्त असत्य या अर्द्धसत्य सिद्ध हो चुके हैं, उन्हें अब स्वीकार नहीं किया जाता । फिर भी इनका अध्ययन आवश्यक है । प्रथम तो इसलिए कि इसके अध्ययन से हमें यह पता चलता है कि राज्य के स्वरूप की प्राचीन काल में किस प्रकार से व्याख्या की जाती थी । दूसरे, इनके अध्ययन से हमें उन परिस्थितियों का ज्ञान होता है जिनमें से कि राज्य को गुजरना पड़ा है। तीसरे, राजा के स्वरूप निर्माण में भी इन सिद्धान्तों का विशेष योग रहा है । अब हम इन सभी सिद्धान्तों की क्रमशः विवेचना करेंगे ।

३६. दैवीय उत्पत्ति सिद्धान्त (The Divine origin theory)

यह संसार और इसके विविध पदार्थ किसी दैवीय शक्ति की रचना है; ऐसा मानव-जाति का बहुत पुराना यकीन है । संसार के अन्य पदार्थों की तरह राज्य को भी दैवीय सृष्टि मानने का मत बहुत पुराना है, इतना ही पुराना जितना कि शायद राज्य अपने आप । इस सिद्धान्त के अनुसार मानवीय हित के लिए भगवान् ने स्वयं राज्य की सृष्टि की है । वह स्वयं राज्य चला सकता है या अपने किसी प्रतिनिधि को नियुक्त कर उस द्वारा शासन-व्यवस्था कायम रख सकता है । राज्य अधिकारियों के आदेशों को तोड़ना न केवल कानूनी दृष्टि से ही अपराध है, अपितु नैतिक और धार्मिक दृष्टि से भी । राजा ईश्वर का प्रतिनिधि समझा गया और उसके आदेश और आज्ञायें अपनी प्रकृति में दैवीय थे । इस कारण उनका पालन प्रजा का धार्मिक कर्त्तव्य था और उनका उल्लंघन पाप । जनता का कर्त्तव्य था—राजकीय आदेशों को बिना किसी शर्त के पालन करना ।

दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त का इतिहास और विकास—राज्य की दैवीय उत्पत्ति का सिद्धान्त सभी आदिम जातियों की धार्मिक भावनाओं में पाया जाता है; और इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक शासक 'धर्म-गुरु' और 'राजा' दोनों का ही एक मिश्रित रूप हुआ करते थे । प्राचीन साम्राज्यों में राजा लोग अपनी प्रजा की कार्यवाहियों को नियन्त्रित करना अपना ईश्वर-प्रदत्त अधिकार समझते थे ।

यहूदी, ईसाई तथा हिन्दू और मुसलिम इत्यादि सभी प्राचीन धर्मों में राज्य के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त के अनेक रूप मिल जाते हैं । यहूदियों का यह विश्वास था कि ईश्वर स्वयं राजाओं का चुनाव और नियुक्ति करता है, वह स्वयं उन्हें हटाता है, दण्ड देता है और दुष्ट राजाओं की हत्या भी करता है । प्राचीन यूनान में यद्यपि राज्य को मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति का ही विकास माना गया है, तथापि वह उसके धार्मिक स्वरूप को अस्वीकार नहीं करते । रोम में राजा को देवता मान उसे पूजनीय समझा गया । मध्यकालीन यूरोप में जब चर्च और राज्य में जबरदस्त संघर्ष चल रहा था तब इस सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष में पर्याप्त वाद-विवाद हुआ । राज्य की दैवीय उत्पत्ति के समर्थकों ने सेण्ट पॉल के एक उपदेश को अपना आधार बनाया । सेण्ट पॉल ने एक बार कहा था "प्रत्येक व्यक्ति को दैवीय शक्तियों के अधीन रहना

चाहिए, क्योंकि परमात्मा को छोड़कर अन्य कोई दूसरी शक्ति है ही नहीं । पृथ्वी पर जो शक्ति है वह परमात्मा के द्वारा ही आयोजित की जाती है।" राज्य भी एक शक्ति है, उसकी भी एक सत्ता है, अतः उसका स्रोत भी दैवीय शक्ति ही है।

इसके विपरीत चर्च की सर्वोपरि शक्ति को सिद्ध करने के लिए पादरियों ने कहा है कि सिर्फ पोप ने ही इस शक्ति को ईश्वर से प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त किया है। सम्राटों की शक्ति लौकिक (Temporal) है, और वे अपनी शक्ति को पोप से ही अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करते हैं। परन्तु राजाओं के समर्थकों ने पोप की शक्ति को आध्यात्मिक क्षेत्र तक सीमित रख सांसारिक मामलों के नियन्त्रण के लिए राज्य को ही सर्वोपरि सत्ता प्रदान की है।

राज्य की दैवीय सत्ता का समर्थन 'धार्मिक सुधार' (Reformation) के नेता लूथर और कालविन ने भी किया।

राज्य के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन साधारण जनता और विद्वानों ने इसलिए भी किया था कि वे राज्य की नींव नवीन राष्ट्रवादी भावनाओं के आधार पर रखना चाहते थे।

चर्च और राज्य का झगड़ा बहुत देर तक न रहा। आखिर चर्च को सांसारिक क्षेत्र में राज्य की सर्वोपरि सत्ता को स्वीकार करना ही पड़ा। परन्तु इन्हीं दिनों विभिन्न देशों में राजा-प्रजा का संघर्ष प्रारम्भ हो गया। अभी तक लोगों ने राजाओं की दैवीय सत्ता का समर्थन किया था परन्तु अब वे प्रजा के अधिकार की माँग करने लगे। उनका कथन था कि राज्य की अन्तिम शक्ति का स्रोत प्रजाजन हैं, राजा प्रजा का प्रतिनिधि है, उसे उनके प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। दूसरे शब्दों में लोक राजसत्ता या लोक-सम्मत प्रभुता (Popular sovereignty) के सिद्धान्त को विकसित किया गया। ऐसे समय में राज्य के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त ने एक नवीन रूप ग्रहण कर लिया, यह सिद्धान्त अब **राजा के दैवीय अधिकार** (Theory of the divine right of kings) के नाम से अभिहित किया जाने लगा। इस सिद्धान्त का प्रयोग जनतन्त्र की भावनाओं को कुचलने और स्वेच्छाचारी निरंकुश शासन के समर्थन के लिए किया गया।

इस सिद्धान्त के प्रधान समर्थकों में इंग्लैण्ड का प्रथम स्टुअर्ट राजा जेम्स राबर्ट फिल्मर और फ्रेंच विचारक बासेट (Bousset) थे। इन लेखकों का कहना था कि राजकीय सत्ता (Royal power) का अनुदान सीधा ईश्वर द्वारा राजा को हुआ है, अतएव राजकीय सत्ता का विरोध पाप है। जेम्स प्रथम ने इस सिद्धान्त का विवेचन बड़े विशद रूप में किया है। उसका कथन है कि राजा की नियुक्ति ईश्वर द्वारा होती है, वह प्रजाजन का प्रतिनिधि नहीं। वह दैवीय प्रतिनिधि है, अतः उसके अधिकार असीम हैं, वह जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं। वह केवल ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी है। उसको अपने कर्मों के लिए कोई सजा दे सकता है तो भगवान ही—और वह भी इस लोक में नहीं परलोक में ही। राजा के आदेशों की अवज्ञा स्वयं भगवान की अवज्ञा है। उसके आदेशों का उल्लंघन अधार्मिक कृत्य है, वह पाप

है। राजा के प्रति विद्रोह का अर्थ है भगवान के प्रति विद्रोही होना।

जेम्स प्रजा को बुरे से बुरे राजा को स्वीकार करने को कहता है। उसका कथन है जैसे भूचाल, बाढ़, महामारियाँ तथा अकाल इत्यादि दैवीय प्रकोप का फल हैं, वह प्रजाजनों के पाप का परिणाम हैं वैसे ही एक दुष्ट और क्रूर राजा भी प्रजा के कुकर्मों का दण्ड है उसका कथन है, "राजाओं को देवता कहा जाता है तो बिलकुल ठीक कहा जाता है, क्योंकि पृथ्वी पर वह ईश्वरीय शक्ति के अनुरूप ही व्यवहार करते हैं।" इसी प्रकार वह अन्यत्र कहता है, **"ईश्वर क्या कर सकता है, इस विषय पर बहस करना जैसे नास्तिकता तथा अधर्म है, इसी प्रकार प्रजा के लिए यह विवाद कि राजा क्या कर सकता है, अथवा यह कहना कि राजा अमुक काम नहीं कर सकता या अमुक काम कर सकता है वास्तव में धृष्टता, दुस्साहस तथा निन्दा की बात है।"** फिल्मर का मत था कि ईश्वर ने राजकीय शक्ति सृष्टि के प्रारम्भ में आदम को दी और वंशक्रम से उसी शक्ति को जेम्स आदि यूरोपियन सम्राटों ने प्राप्त किया।

भारत में भी अन्य देशों की भाँति राज्य उत्पत्ति के विषय में अनेक कल्पनाएँ की गई हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म पितामह युधिष्ठिर के एक प्रश्न के उत्तर में राज्य के जन्म के कारणों का विवेचन करते हैं। कृत युग में धर्म का शासन था, समाज के सभी सदस्य अपने-अपने धर्म का पालन करते थे और एक दूसरे की रक्षा करते थे; परन्तु पाप के उदय होने पर लालच और अधर्म फैल गया, स्त्रियों की अवस्था बिगड़ गई, समाज में अनाचार फैल गया और दिन-रात झगड़े होने लगे। ब्रह्मा ने इस स्थिति को देख मनु को मानव-समाज का सर्वप्रथम शासक नियुक्त किया।

अन्यत्र भी महाभारत में राज्य के दैवीय स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "राज्य का निर्माण वरुण, इन्द्र, मित्र, अग्नि आदि देवताओं के अंश लेकर किया गया है। राजा देवता है, इन्द्र, शुक्र और बृहस्पति है, सबको रास्ता दिखाने वाला है। सबका पूजनीय है।" ऐसे वाक्य वन पर्व और अन्यत्र भी बहुतायत से मिल जाते हैं।

मनु, शुक्राचार्य और चाणक्य ने भी दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है।

जी. पी. गूच (G. P. Gooch) के अनुसार राज्योत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त के मुख्य मन्तव्य निम्नलिखित हैं—

(क) राजा की नियुक्ति ईश्वर द्वारा होती है।

(ख) राज्याधिकार वंशानुक्रम से पिता से पुत्र को प्राप्त होना है।

(ग) राजा अपने कार्यों के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं, और न ही संसार के किसी अन्य अधिकारी के प्रति वह ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी है।

(घ) राजा के आदेशों का विरोध या उसके कार्यों की आलोचना पाप है।

राज्य के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्राचीन युग में एक विशेष महत्त्व था। पुराने समय में जबकि लोगों में अभी राजनीतिक चेतना का विकास नहीं हो पाया

था और समाज में पर्याप्त अव्यवस्था और अराजकता थी, उस समय इस सिद्धान्त ने लोगों के मनों में राज्य के प्रति और राजा के आदेशो के प्रति एक धार्मिक निष्ठा और श्रद्धा को उत्पन्न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ राजनीतिक दृष्टि से राज्य का पर्याप्त संगठन हुआ, शान्ति और व्यवस्था कायम हुई, लोगों में कानून और राज्यादेश पालन की प्रवृत्ति का भी विकास हुआ। परन्तु आज के युग में राज्यों की दैवीय उत्पत्ति में और राजाओं के दैवीय अधिकारों में कोई यकीन नहीं करता। इस बुद्धिवादी युग में प्रत्येक तथ्य की वैज्ञानिक बुद्धिवादी समीक्षा की जाती है। यह सिद्धान्त उस समीक्षा पर खरा नहीं उतरता। आज हम यह यकीन करते हैं कि राज्य तथा परिवार इत्यादि सभी सामाजिक संस्थाएँ मनुष्य की अपनी सृष्टि हैं, वह किसी दैवीय शक्ति की उपज नहीं। दैवीय शक्तियों को मनुष्य की सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं से कोई मतलब नहीं होगा। दैवीय उत्पत्ति का सिद्धान्त एक ऐसी निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासन-व्यवस्था का समर्थन करता है, जिसको आज के प्रजातन्त्र के युग में हम किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं कह सकते। वंशानुक्रम से राज्य-शक्ति का पिता से पुत्र के हाथ में जाना आज किसी भी प्रकार से उपयुक्त नहीं ठहराया जा सकता। जेम्स इत्यादि का यह विचार रहा है कि प्रजा सदा भूखी और अशिक्षित होती है, जब कि राजा सदा प्रतिभासम्पन्न होते हैं। परन्तु एक प्रतिभासम्पन्न और सर्वप्रकार से योग्य राजा का पुत्र भी वैसा ही, सुयोग्य हो, यह आवश्यक नहीं।

आज कोई भी ऐसी शासन-व्यवस्था जो कि प्रजाजनों की सम्मति (Consent) पर आधारित न हो उचित नहीं समझी जाती।

गिलक्राइस्ट के अनुसार राज्य की दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त के पतन के निम्नलिखित कारण हैं—

(क) सामाजिक अनुबन्ध (Theory of Social contract) सिद्धान्त का उदय और उसके अन्तर्गत जन-सहमति (Consent) पर जोर दिया जाना।

(ख) अध्यात्मप्रधान धर्म-शक्ति (Spiritual) के विपरीत सांसारिक शक्ति की प्रमुखता, दूसरे शब्दों में चर्च और राज्य का पृथक्करण।

(ग) प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के प्रचार से निरंकुश शासन के सिद्धान्त का विरोध।

३७. शक्ति सिद्धान्त (The Force theory)

राज्य की एकपक्षीय और भ्रामक व्याख्या करने वाले सिद्धान्तों में शक्ति सिद्धान्त का भी विशेष स्थान है। इसके अनुसार राज्य विशिष्ट शारीरिक शक्ति का परिणाम है (The State is the result of superior physical force)। प्रत्येक समाज में निर्बल तथा बलवान मनुष्य होते हैं। बलवान व्यक्ति निर्बलों को पराजित कर उन पर शासन स्थापित कर लेते हैं, उन्हें अपने आदेश पालन के लिए मजबूर कर लेते हैं। ऐसा मनुष्य ही जन-नायक बन जाता है। वह एक कबीले

या जन पर अपना शासन जमा दूसरे कबीलों पर अपना शासन स्थापित करने का प्रयत्न करता है। मनुष्यों में शुरू से ही सत्ता प्राप्ति की इच्छा (Lust for power) तो रही है। अतः ऐसा प्रयत्न स्वाभाविक ही है। जब एक शक्तिशाली कबीला (Tribe) दूसरे कबीलों को जीत अपने अधीन कर लेता है और एक निश्चित प्रदेश पर बस जाता है तभी राज्य का जन्म होता है।

प्राचीन ग्रीक और भारतीय जनपदों और बाद में साम्राज्यों की स्थापना सैनिक शक्ति से ही हुई थी। इसी प्रकार वर्तमान साम्राज्यों की स्थापना का आधार भी उच्चतर सैनिक शक्ति ही है। लीकॉक के अनुसार **"हमें राज्य का जन्म मनुष्य द्वारा मनुष्य के बन्दी तथा दास बनाए जाने में, अपेक्षाकृत निर्बल जनपदों की पराजय तथा पराधीनता में और साधारणतया उच्चतर पशुबल द्वारा प्राप्त स्वार्थपूर्ण स्वामित्व में खोजना चाहिए।** जनपद से राज्य, राज्य से समाज का उन्नतिशील विकास इसी प्रक्रिया का परिणाम मात्र था।

जेंक्स (Jenks) ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ पालिटिक्स' (History of Politics) में लिखा है कि यह सिद्ध करने में जरा भी मुश्किल नहीं कि आधुनिक राजनीतिक समाजों का मूल सफल युद्ध में है। इस सिद्धान्त के अनुसार युद्धों में ही राज्य का जन्म होता है; युद्ध से ही राजा की प्राप्ति होती है (War begets the king)।

इस कथन की पुष्टि हम अपने प्राचीन ग्रन्थों में भी प्राप्त करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में असुरों और देवों के युद्धों का जिक्र आता है। देवता असुरों से लड़ाई में हार गये। उन्होंने कहा, हम लोग **'अराजतया'** अर्थात् राजा न रखने के कारण हारे हैं। हमको राजा बनाना चाहिए **('राजनम् करवामहे')**। इस तरह युद्ध के फलस्वरूप राजा की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है कि एक बार देवों और असुरों में युद्ध हुआ। प्रजापति ने अपने बड़े लड़के इन्द्र को छुपा दिया कि कहीं बलवान असुर उसे मार न डालें। देवता प्रजापति के पास जाकर बोले कि "राजा के बिना युद्ध करना असम्भव है।" यज्ञ करके उन्होंने इन्द्र से राजा बनने की प्रार्थना की। उपर्युक्त कथा-प्रसंगों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारे यहाँ भी परम्परा से यह विश्वास चला आ रहा था कि युद्ध की आवश्यकताओं से ही राजा की सृष्टि होती है।

आज शक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादकों का कथन है कि शक्ति केवल ऐतिहासिक रूप से ही राज्य का आधार नहीं अपितु आज के राज्य की शासन-व्यवस्था शक्ति केवल मात्र शक्ति के सहारे ही टिकी हुई है। सभी जगह कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए बल प्रयोग करना पड़ता है। नागरिक अपनी-अपनी सीमा में रहें, इसीलिए पुलिस की व्यवस्था रहती है। एक देश दूसरे देश को सहज में ही हड़प न जाय, इसीलिए प्रत्येक राज्य अपनी सैनिक शक्ति का संगठन करता है। आज के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी 'मात्स्य न्याय' ही चल रहा है। शक्तिशाली राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को अपने वश में करके रखते हैं, वस्तुतः उनका जीवन, उनका अस्तित्व ही बड़े राष्ट्रों

की दया पर निर्भर है । शक्ति का राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसा प्रदर्शन ही उसे राज्य की मूलभूत सत्ता के महत्त्वपूर्ण आधार के रूप में प्रस्तुत करता है ।

शक्ति सिद्धान्त की विभिन्न व्याख्याएँ—शक्ति सिद्धान्त का प्रयोग जहाँ एक ओर राज्य की ऐतिहासिक व्याख्या के रूप में किया गया है वहाँ दूसरी ओर राज्य के अस्तित्व के औचित्य को सिद्ध करने और उसकी प्रकृति के विभिन्न रूपों को प्रकाशित करने के लिए भी किया गया है । अनेक राजनीतिक विचारकों ने राज्य विषयक अपनी धारणाओं के समर्थन के लिए भी इस सिद्धान्त का उपयोग किया है ।

मध्य युग में जब चर्च और राज्य में संघर्ष चल रहा था तो चर्च के अनेक धार्मिक अधिकारियों ने राज्य को बदनाम करने के लिए इस सिद्धान्त का एक विशेष रूप में प्रयोग किया । उनका कथन था कि राज्य का आधार पाशविक शक्ति (Brute force) है जब कि चर्च ईश्वर की रचना है, अतः चर्च राज्य से श्रेष्ठ है । पाशविक शक्ति पापमूलक है, राज्य भी पाप पर आधारित है, अतः जनकल्याण के लिए इसका चर्च के अधीन रहना आवश्यक है ।

इसके विपरीत संसार के पुराने और नये सभी अराजकतावादियों ने राज्य की, पाशविक शक्ति के आधार पर आधारित होने के कारण निन्दा की है । उनका कथन है कि राज्य मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विपरीत है । राज्य का मुख्य लक्षण है शक्ति-प्रयोग । अपने बल-प्रयोग द्वारा ही वह अन्यायपूर्ण राजनीतिक संस्थाओं की रक्षा करता है, लोगों में स्वाभाविक और सहज सहयोग के स्थान पर दण्ड के भय से अनिच्छित सहयोग की स्थापना करता है । अतः मनुष्य के स्वाभाविक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए राज्य को जितना जल्दी हो सके खत्म कर देना चाहिए । राज्य के स्थान पर ऐसे ऐच्छिक समुदायों का विकास होना चाहिए जिनका आधार स्वाभाविक सहयोग है ।

राज्य का आधार शक्ति है, अतः वह बुराई है । परन्तु यह बुराई आवश्यक है । इसके बिना सामाजिक जीवन सम्भव नहीं । व्यक्तिवादी विचारक इसलिए राज्य को थोड़े से थोड़े काम देने के हक में हैं । उनका कथन है कि राजकीय शक्ति व्यक्ति के लिए हितकर नहीं, वह उसकी स्वाभाविक स्वतन्त्रता पर एक निश्चित पाबन्दी है, वह उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधा है । परन्तु यह आवश्यक भी है क्योंकि इसकी अनुपस्थिति में स्वार्थी मनुष्य आपस में लड़ मरेंगे । यही कारण है कि मिल इत्यादि व्यक्तिवादी विचारकों ने राज्य के कर्त्तव्यों की संख्या थोड़ी से थोड़ी रखी है । शक्ति सिद्धान्त की एक अन्य व्याख्या स्पैन्सर तथा जर्मन विचारक लुडविग के लेखों में भी मिलती है । इनका विचार है कि शक्ति का शासन एक प्राकृतिक नियम है । 'सबल द्वारा निर्बल का शासन' यह हमारे जीवन का आधारभूत सत्य है । वस्तुतः इस व्याख्या के मूल में डार्विन के प्राणीशास्त्र विषयक कुछ नियम उपस्थित हैं । **स्पैन्सर ने प्राणीशास्त्र विषयक नियम 'उपयुक्ततम की अवस्थिति' (Survival of the fittest) को समाज पर लागू किया है** । उसका कथन है कि जिस प्रकार हमारे विश्व के पशु जगत में वही प्राणी बच पाते हैं और विकास-क्रम में अपनी सन्तति पीछे छोड़ जाते हैं जो

शक्तिशाली होते हैं, इसी प्रकार समाज में भी असीमित प्रतियोगिता (Unlimited competition) द्वारा उपयुक्ततम व्यक्तियों का ही चुनाव होना चाहिए। स्पैन्सर के विचार में राज्य एक आवश्यक बुराई है। वह एक अनैतिक व अस्वाभाविक संस्था है। समाज में इस कारण राज्य की अवस्थिति कम से कम होनी चाहिए और उसे व्यक्तियों की प्रतियोगितामयी क्रियाओं का नियन्त्रण नहीं करना चाहिए। स्पैन्सर के अनुसार राज्य को निर्धनों की रक्षा नहीं करनी चाहिए, बीमारों की दवा-दारू का प्रबन्ध नहीं करना चाहिए, स्कूल और कालेज नहीं खोलने चाहिएँ। प्रकृति की दौड़ में जो लोग भी पीछे रह जाते हैं, दब जाते हैं, मर जाते हैं उन्हें मरने दो, नष्ट होने दो। इन्हें बचाया नहीं जा सकता। प्रकृति का नियम है कि शक्तिशालियों के सामने शक्तिहीनों की पराजय होती है।

ओपनहाइमर (Oppenheimer) इत्यादि मार्क्स के अनुयायियों ने शक्ति के सिद्धान्त की व्याख्या अपने वर्ग संघर्ष (Class struggle) के सिद्धान्त की पुष्टि के लिए की है। उनका कथन है कि राज्य शक्ति पर आधारित है। इसकी शक्ति एक शोषण के साधन के रूप में प्रयुक्त की जाती है। प्रत्येक राज्य विभिन्न आर्थिक वर्गों में विभाजित होता है, जो वर्ग आर्थिक शक्ति को अपने हाथ में रखता है वही राज्य की शक्ति का प्रयोग भी अपने हित के लिए करता है। केवल राजकीय शक्ति के बल पर ही वर्तमान युग के पूँजीपति मजदूरों का शोषण करने में समर्थ हैं। अतः मार्क्स का विचार है कि इस राज्य को खत्म कर इसकी जगह पर शोषणहीन सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का संगठन होना चाहिए।

आलोचना—इस सिद्धान्त में सत्य का अंश जरूर है, इस बात से हम इनकार नहीं कर सकते। शक्ति (Force) राज्य के निर्माण में और उसे कायम रखने के प्रधान तत्त्वों में से एक है, यह सर्वमान्य बात है। आजकल के वैज्ञानिक अनुसन्धान से यह नतीजा निकला है कि युद्ध में शक्ति को एकत्र करने की, एक नेता रखने की आवश्यकता से ही संसार में शासन या राजत्व का आरम्भ हुआ था। आज भी राज्य की आन्तरिक एकता बनाये रखने और बाह्य आक्रमणों से रक्षा के लिए शक्ति का संगठन जरूरी है। शक्ति-संगठन के बिना राज्य ध्वंसात्मक शक्तियों का शिकार हो सकता है। उसकी सत्ता ही खत्म हो सकती है।

परन्तु इन सबके मानने का मतलब यह कदापि नहीं कि केवल मात्र शक्ति के आधार पर ही राज्य का संगठन हुआ और केवल शक्ति ही राज्य के स्थायित्व का कारण है। शक्ति तो राज्य-निर्माण का एक तत्त्व है। परन्तु यह सब से महत्त्व-पूर्ण तत्त्व नहीं। **शक्ति के अतिरिक्त, रुधिर सम्बन्ध, पारिवारिक सम्बन्ध, धर्म, काम और हितों की एकता इत्यादि अनेक तत्त्वों ने राज्य के निर्माण में सहयोग दिया।** आज की समाजशास्त्रीय खोजें यह सिद्ध करती हैं कि प्रारम्भिक कबीलों में या जनपदों (Tribes) में भाषा, रुधिर और धार्मिक विश्वासों की एकता इत्यादि ऐसे तत्त्व थे जिनका महत्त्व उनके संगठन में शक्ति से कहीं अधिक था। लीकॉक ने वस्तुतः ठीक ही कहा है कि "**शक्ति सिद्धान्त की भूल यह है कि जो वस्तु समाज विकास में**

केवल एक तत्त्व रही है उसे यह एक मात्र नियामक तत्त्व का महत्त्वपूर्ण स्थान दे देता है।"[1]

फिर कोई भी सामाजिक व्यवस्था केवल शक्ति के आधार पर नहीं टिक सकती। प्रत्येक प्रकार की शक्ति के प्रयोग का कोई न कोई नैतिक औचित्य सिद्ध किया जाना चाहिए। **"न्याय और औचित्य से विहीन शक्ति अपने सर्वोत्तम रूप में भी क्षणस्थायी** (Temporary) **ही होती है, न्याययुक्त शक्ति राज्य का स्थायी आधार बनती है।"** बोदीन ने ठीक ही कहा कि है **"केवल शक्ति डाकुओं के गिरोह का संगठन कर सकती है राज्य का नहीं।"[2]** संसार में क्रान्तियों का इतिहास बतलाता है कि जब कभी भी कोई राज्य-व्यवस्था या समाज-व्यवस्था केवल मात्र पाशविक शक्ति (Brute force) के आधार पर स्थापित की गई तभी वह जनता द्वारा बदल दी गई। फ्रांस, रूस, चीन इत्यादि देशों की राज्य-क्रान्तियाँ इस तथ्य का प्रमाण हैं। हमारे अपने ही देश में ब्रिटिश साम्राज्य जनता की सहमति (Consent) पर आधारित नहीं था और यही कारण था कि ब्रिटिश सरकार को भारत छोड़ना पड़ा।

वस्तुतः राजकीय व्यवस्थाएँ और सामाजिक संस्थाएँ शक्ति के सहारे इतनी देर नहीं टिकतीं जितनी कि जनता की इच्छा पर, उसकी सहमति पर। प्रत्येक कानून के पीछे जनता की राय होती है। प्रत्येक व्यवस्था के पीछे एक नैतिक बल होता है। यही कारण है कि आज हम ग्रीन (T. H. Green) के उस कथन में सत्य का पर्याप्त अंश पाते हैं कि **"इच्छा न कि शक्ति राज्य का आधार है।"[3]** गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि **"शारीरिक दबाव की शक्ति राज्य का एक असूल है, परन्तु उसका सार नहीं। यदि वह राज्य का सार बन जाय तो उसकी अवस्थिति तभी तक होगी जब तक वह शक्ति बनी रहे। शक्ति का विचारहीन प्रयोग सभी क्रान्तियों का कारण बना है। राज्य का स्थायी आधार नैतिक बल है।"**

केवल दण्ड के भय से ही राजकीय कानूनों का पालन नहीं किया जाता। राज्य की अधिकांश जनता इनकी उपयोगिता को स्वीकार कर या अपनी आदत के वशीभूत हो इन नियमों का अनुसरण करती है।

हमारे जीवन में आपसी सहयोग (Co-operation) का अत्यन्त महत्त्व है। केवल शक्ति के बल पर ही हम सामाजिक जीवन में कुछ नहीं प्राप्त कर सकते। यह हमारा आपस का सहयोग ही है जिसके बल पर हम विशाल मानवीय संस्कृति और सभ्यता का निर्माण कर सके हैं।

स्पैन्सर इत्यादि ने जिन सिद्धान्तों को समाज पर लागू किया है और जिस

---

1. "The theory of force errs in magnifying what has been only one factor in the evolution of society into the sub-controlling force."
—*Leacock*

2. "Superior force may make a band of robbers but not of a State".—*Bodin.*

3. "Will not force to the basis of State."—*T. H. Green.*

पाशविक शक्ति का गुणगान किया है वह समाज में अप्राप्य है। इस प्रकार की शक्ति राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अशान्ति और युद्ध के बीज बोयेगी। इस सिद्धान्त के व्यावहारिक रूप में अपनाये जाने पर विश्व के कमजोर, गरीब और शक्तिहीन मनुष्य बलवान और धनी मनुष्यों के शिकार मात्र बन जायेंगे।

वस्तुतः राज्य केवल पुंजीभूत शक्ति ही नहीं, वह उससे पर्याप्त ऊपर है। उसका उद्देश्य शक्ति का संचय नहीं, जैसा फिचे, नीत्शे और ट्रीटस्के इत्यादि जर्मन विचारकों का मत था। उसका उद्देश्य ग्रीन के शब्दों में **आत्म-ज्ञान** (Self realisation) के लिए उचित परस्थितियों की रचना करना है। उसका उद्देश्य मनुष्य का पूर्ण आत्मविकास करना है। एतदर्थ राज्य को अशिक्षा, निर्धनता, अज्ञान, कुविचार, कुप्रथाओं इत्यादि को दूर करना है, और सहयोग की भावना का विकास करना है, अर्थात् उसे राजकीय शक्ति का प्रयोग किसी नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए करना है। तभी उसका कुछ औचित्य है, अन्यथा नहीं।

३८. सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त (Social Contract theory)

सामाजिक समझौते या अनुबन्ध का सिद्धान्त (Social contract theory) राजनीतिक ज्ञान के इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। इस सिद्धान्त का प्रयोग जहाँ एक ओर राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या के रूप में किया गया है, वहाँ दूसरी ओर इसका प्रयोग शासक और शासित के सम्बन्धों की विवेचना के लिए भी किया गया है, यही कारण है कि इसका व्यावहारिक प्रभाव बहुत व्यापक रहा।

यह सिद्धान्त इस धारणा पर काम करता है कि राज्य एक बनावटी चीज है, इसकी रचना मनुष्यों ने आपस में मिलकर पर्याप्त विचार-विनिमय के अनन्तर स्वेच्छापूर्वक की। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक निम्नलिखित बातों पर सहमत हैं—

(१) प्राकृतिक अवस्था (State of nature)।

(२) सामाजिक समझौता या अनुबन्ध (Social contract)।

इस सिद्धान्त के प्रायः सभी प्रतिपादक इस बात पर सहमत हैं कि मानव इतिहास में एक ऐसा समय था जब न तो कोई राज्य था और न राजनीतिक विधान। कुछ विचारकों के अनुसार यह अवस्था न केवल प्राक् राजनीतिक (Pre-political) ही थी अपितु प्राक्-सामाजिक (Pre-social) भी। प्राक्-सामाजिक से उनका अर्थ है **समाज-विहीन स्थिति**। इस प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों का जीवन प्राकृतिक विधान (Law of Nature) के द्वारा नियन्त्रित किया जाता था। यह प्राकृतिक विधान क्या था, इस विषय में इस सिद्धान्त के समर्थकों में एकमत नहीं। प्राकृतिक अवस्था (State of nature) में मानवीय जीवन का क्या स्वरूप था, इस विषय में भी पर्याप्त मतभेद है। हॉब्स (Hobbes) के मतानुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य का जीवन अत्यन्त असुविधाजनक और असह्य था। स्वभाव से आक्रामक, स्वार्थी और लालची होने के कारण वे सदा आपस में लड़ते रहते थे। लोगों के जान, माल और इज्जत किसी की भी सुरक्षा (Security) नहीं होती थी। लॉक (Locke) और रूसो (Rousseau) के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में

लोगों का जीवन सुख और शान्तिपूर्ण था। पारस्परिक कलह का अभाव था। लॉक के अनुसार लोगों के पारस्परिक व्यवहार का नियन्त्रण प्राकृतिक विधान के नियमों के अनुसार होता था। परन्तु प्राकृतिक विधान की व्याख्या के विषय में लोगों में मतभेद था। दूसरा, उसको लागू करने को कोई विशेष अधिकारी नहीं था, परिणामस्वरूप प्राकृतिक अवस्था में लोगों का जीवन असुविधाजनक हो गया। रूसो के अनुसार मनुष्य समाज में तर्क-बुद्धि (Reason) और वैयक्तिक सम्पत्ति (Private property) के विकास के फलस्वरूप प्राकृतिक अवस्था असह्य और असुविधाजनक हो गई। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में मानवीय जीवन की स्थिति चाहे जो रही हो किसी न किसी कारण से वह असुविधाजनक हो गई। इस बात को सभी विचारकों ने माना है।

इस स्थिति का अन्त सभी ने आवश्यक माना है। अतः सभी ने मिलकर जान-बूझकर समझौता (Agreement) या अनुबन्ध (Contract) किया और इस प्रकार प्राकृतिक स्थिति को समाप्त कर राजनीतिक संस्था (Body politic) का निर्माण किया। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। **'प्राकृतिक अधिकारों'** (Natural Rights) का उपभोग करते हुए, वे जो चाहते कर सकते थे। परन्तु समझौते के अनन्तर उनकी प्राकृतिक स्वतन्त्रता सामाजिक स्वतन्त्रता के रूप में परिवर्तित हो गई। उनके असीम अधिकार निश्चित और मर्यादित हो गये। प्राकृतिक अधिकारों का स्थान **नागरिक अधिकारों** (Civil rights) **ने ले लिया**। सामाजिक सदस्य के रूप में मनुष्य के जीवन की, उसकी स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की सुरक्षा की जिम्मेवारी राज्य पर आ पड़ी। इस प्रकार मनुष्य ने जहाँ बहुत कुछ छोड़ा वहाँ सामाजिक सदस्य के रूप में बहुत कुछ प्राप्त भी किया।

सामाजिक अनुबन्ध (Social contract) की विभिन्न रूप से व्याख्या की गई है। हॉब्स के अनुसार व्यक्तियों ने आपस में समझौता कर आत्मशासन के अधिकार को छोड़ किसी एक व्यक्ति या परिषद् को सर्वोपरि सत्ता-सम्पन्न बना दिया। जिस व्यक्ति या परिषद् को यह सत्ता प्राप्त हुई वही प्रभु हो गया, वही राजा बन गया और शेष उसकी प्रजा। इसके विपरीत लॉक ने सामाजिक समझौते के दो रूप माने हैं। प्रथम, समझौता जनता अपने संगठित रूप में करती है और राजनीतिक संस्था को स्थापित करने का फैसला करती है।

दूसरा समझौता सामाजिक संगठन (Community) में और शासक में होता है। लॉक के मतानुसार जनता ने अपने प्राकृतिक अधिकार किसी राजा या परिषद् को नहीं सौंपे अपितु समाज को ही उनका समर्पण किया। राजा या शासक के अधिकार परिमित हैं। वह जनता का प्रतिनिधि है और अपनी सीमा से बाहर जाने पर पदच्युत किया जा सकता है। रूसो (Rousseau) भी लॉक से इस बात में सहमत है कि प्रभुत्व शक्ति (Sovereign power) का अन्तिम स्रोत जनता है, समाज है, न कि राजा या शासक। शासक के अधिकार तो सीमित हैं, असीम नहीं। लॉक ने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को ऐतिहासिक रूप में सत्य माना है, परन्तु अन्य विचारक इसे

केवल कल्पना मानते हैं, परन्तु इसमें निहित दार्शनिक सत्य को स्वीकार करते हैं।

अनुबन्ध सिद्धान्त का इतिहास (History of Social Contract Theory)—सामाजिक समझौते का सिद्धान्त बहुत पुराना है, शायद इतना ही पुराना जितना कि राज्य अपने आप। पूर्व और पश्चिम के दोनों राजनीतिक विचारों में इस सिद्धान्त का जिक्र मिल जाता है। पहले हम देखें कि पश्चिम में इसका सबसे पहले किसने जिक्र किया।

यूनान में प्लेटो से पूर्व सॉफिस्ट विचारक थे। उन्होंने ज्ञान के अन्य क्षेत्रों की भाँति राजनीति विज्ञान पर भी अपने विचार प्रगट किये हैं। राजनीतिक क्षेत्र में सॉफिस्ट प्लेटो और अरिस्टाटल (अरस्तू) के विपरीत व्यक्तिवादी हैं। उन्होंने सर्वप्रथम मनुष्य के हित को ही सर्वप्रमुख माना है। उन्होंने अपने राजनीति-दर्शन को मनुष्य की मनोवृत्ति के मनवैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित किया है। वे मानते थे कि मनुष्य अपने स्वभाव से ही लालची और स्वार्थी (Selfish) होता है। बिना किसी लोभ के मनुष्य के लिए कोई भी काम करना मुश्किल है। हॉब्स ने भी मनुष्य प्रकृति का ठीक ऐसा ही अध्ययन प्रस्तुत किया है। **राज्य मनुष्य की प्रकृति के विरुद्ध है।** यह प्राकृतिक नहीं, एक समझौते का परिणाम है। समाज में बल-प्रयोग होता था, सभी मनुष्य स्वार्थी थे। अतः या तो निर्बल मनुष्यों ने अपने आपको बलवानों के जुल्म के विरुद्ध संगठित किया या फिर बलवानों ने आपस में समझौता कर निर्बलों पर शासन का निश्चय कर राज्य-व्यवस्था को कायम किया। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ रिपब्लिक' (Republic) में न्याय तथा धर्म (Justice) का विवेचन करते हुए सॉफिस्टों की बड़ी कड़ी आलोचना की है। उसका तथा अरस्तू का यह मत था कि राज्य-व्यवस्था का संगठन सर्वथा स्वाभाविक है, वह मनुष्य प्रकृति के विपरीत नहीं। प्लेटो और अरस्तू के उत्तराधिकारियों में व्यक्तिवाद अधिक प्रचलित रहा। एपीक्यूरियन्स (Epicureans) भी व्यक्तिवादी हैं। उनके अनुसार मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है, वह उदार नहीं, संकीर्ण और संकुचित प्रवृत्ति वाला है। राज्य के अभाव में मनुष्य कष्ट उठाता है, अतः वह आपस में समझौता कर राज्य स्थापना करते हैं। कानून का पालन मनुष्य अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही करता है। न्याय पारस्परिक हित-सिद्धि की परम्परा के अतिरिक्त कुछ नहीं। न्याय अपने आप में कुछ नहीं, वह पारस्परिक समझौते पर ही आश्रित है।

स्टोइक्स (Stoics) ने भी राज्य के विषय में एपीक्यूरियन्स के मत का ही अनुसरण किया है। राज्य उनके लिए एक आवश्यक बुराई है, उससे बचा नहीं जा सकता। राज्य के अनुबन्ध सिद्धान्त को मानते हुए उन्होंने प्राकृतिक विधान (Natural Law) की बुद्धिसंगत व्याख्या की है।

रोम के राजनीतिक विचारकों में अनुबन्ध सिद्धान्त का सैद्धान्तिक रूप से विवेचन नहीं मिलता, उनके वैधानिक विवेचन से ही हम उनके एतद्विषयक विचारों से अवगत होते हैं। उनके मतानुसार राजनीतिक सत्ता का मूल स्रोत जनता है। जनता की राय पर ही राज्य का सम्पूर्ण ढाँचा कायम है। अनुबन्ध तो शासक और

शासित के बीच है, वह राज्य की उत्पत्ति का कारण नहीं । परन्तु यदि सरकार या शासन (Government) उत्तरदायित्व को पूर्ण करने में असमर्थ हो तो इसका अर्थ यह नहीं कि जनता उसे पदच्युत कर सकती है । दूसरे शब्दों में उनका विश्वास था कि एक बार समझौता हो जाने पर जनता को उसे तोड़ने का कोई अधिकार नहीं। यहाँ रोमन विचारकों का दृष्टिकोण हॉब्स से काफी मिलता है । परन्तु हॉब्स तो राज्य को अनुबन्ध का परिणाम मानता है । रोमन विचारक ग्रीक विचारकों की भाँति उसे स्वाभाविक मानते हैं, इतना स्वाभाविक और प्राकृतिक कि उसके जन्म का विवेचन वे आवश्यक ही नहीं समझते । हाँ, हॉब्स की भाँति वह शासक को निरंकुश अधिकार अवश्य देते हैं । मध्य युग की समान्तवादी व्यवस्था का थोड़ा बहुत आधार समझौता (Contract) भी माना जाता है । चर्च के धार्मिक अधिकारियों ने भी अनुबन्ध सिद्धान्त का समर्थन किया है । उनमें कुछ का विचार था कि राजा जनता की मर्जी से ही शासक बनता है । वह यदि जनता के मत के विरुद्ध जाता है तो जनता को उसे हटाने का या पदच्युत करने का अधिकार है । थॉमस एक्वीनॉस (Thomas Acquinas) के भी कुछ ऐसे ही विचार थे ।

इस सिद्धान्त का प्रचार १६वीं, १७वी और १८वीं सदी में बहुत बढ़ गया । इंग्लैण्ड में रिचर्ड हूकर (Richrad Hooker) ने अपनी राजनीति सम्बन्धी पुस्तक में राज्य की उत्पत्ति, सामाजिक अनुबन्ध, कानून और राजतन्त्र इत्यादि विविध विषयों पर अपने विचार अभिव्यक्त किये । हूकर का कथन था कि राजा अनुबन्ध का परिणाम है । इसकी आज्ञा का पालन हमारा कर्त्तव्य है । इस अनुवन्ध में परिवर्तन करने के लिए या इसे भंग करने के लिए सर्वसम्मति की आवश्यकता है । ऐसा असम्भव होने पर ही राजनीतिक अवज्ञा को अनुचित और अनैतिक ठहराया गया । हूकर समाज को कृत्रिम (Artificial) नहीं मानता, राज्य सम्बन्धी अनुबन्ध मानव की सामाजिक प्रवृत्ति का ही परिणाम है ।

हूकर के अतिरिक्त ह्यूगो ग्रोशियस (Hugo Grotious) ने भी अपने लेखों में सामाजिक अनुबन्ध और प्राकृतिक विधान (Natural Law) का विवेचन किया है ।

१७वीं और १८वीं शताब्दी में अंग्रेज विचारक हॉब्स, लॉक और फ्रेंच विचारक रूसो ने इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया । इन तीनों विचारकों के लेखों में अनुबन्ध सिद्धान्त का वैज्ञानिक विवेचन मिलता है । परन्तु रूसो के पश्चात् अनुबन्ध सिद्धान्त का पतन प्रारम्भ हो गया । इस पतन का बहुत बड़ा कारण राज्य की नैतिक और वैज्ञानिक धारणाओं का प्रचलन था । एक ओर तो ह्यूम, बेन्थम, मॉण्टेस्क्यू इत्यादि ने तार्किक और ऐतिहासिक पहलू के आधार पर इसका खण्डन किया, दूसरी ओर हीगल तथा ग्रीन इत्यादि जर्मन और अंग्रेज आदर्शवादी विचारकों ने नैतिक आधार पर ।

प्राचीन भारत का अनुबन्ध सिद्धान्त—राज्य की उत्पत्ति के अनुबन्ध सिद्धान्त का

विवेचन हमें भारतीय राजनीति शास्त्र में भी मिल जाता है। महाभारत के शान्तिपर्व में राजनीतिक विचारों का विवेचन मिलता है। लॉक की तरह ही महाभारतकार ने भी राज्योत्पत्ति से पूर्व एक ऐसी आदर्श स्थिति का चित्रण किया है जिसमें न कोई राज्य था न कोई राज्य विधान; न कोई दण्डनायक और न कोई दण्ड-विधान। इस युग में धर्म का राज्य था। सभी अपने-अपने धर्म का पालन करते और धर्म प्रजा की पालना करता। परन्तु यह आदर्श स्थिति बहुत देर तक न रह सकी। धीरे-धीरे मनुष्यों में धर्म-भावना का विनाश होने लगा, लोभ और मोह का विस्तार हुआ। अशान्ति बढ़ गई, अनाचार फैल गया। ऐसी अवस्थाओं में शासन-व्यवस्था के लिए राज्य-संस्था की आवश्यकता महसूस की गई। मनुष्यों ने परस्पर विचार-विनिमय कर एक समझौता किया और राजा की नियुक्ति की।

चाणक्य ने भी अपन 'अर्थशास्त्र' में इस सिद्धान्त का जिक्र किया है। चाणक्य के अनुसार प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में कोई नियम और कोई शासन नहीं था, केवल मात्स्य-न्याय था। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है वैसे ही बलवान दुर्बलों को दबाया करते थे। ऐसी स्थिति में सब ने मिलकर मनु को अपना राजा चुन लिया, और अपने धान्य का छठा भाग तथा पुण्य और सुवर्ण का दसवाँ भाग उन्हें भागधेय के रूप में देने की व्यवस्था की। राजा का मुख्य कर्त्तव्य प्रजा की जान, माल और इज्जत की रक्षा करना था। इसी प्रकार बौद्ध और जैन साहित्य में भी इस सिद्धान्त का जिक्र किया गया है।

आलोचन—अनुबन्ध सिद्धान्त का प्रभाव बहुत व्यापक रहा। जहाँ हॉब्स के विचार आस्टिन (Austin) के प्रभुसत्ता विषयक सिद्धान्त (Theory of Sovereignty) के आधार बने वहाँ लॉक और रूसो के विचार फ्रेंच और अमेरिकन क्रान्तियों के जनक कहे जा सकते हैं। अनुबन्ध सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने राज्य को जनता की सहमति (Consent) पर आधारित बतलाया है। राज्य को इसने मानवीय संस्था माना और परम्परा से चले आते दैवीय सिद्धान्त का खण्डन किया। राजाओं के दैवीय अधिकारों के सिद्धान्त को सर्वथा मिथ्या माना।

लॉक और रूसो के सिद्धान्तों ने ही नवयुग की जनतन्त्रवादी विचारधारा को जन्म दिया। राज्य और राज्य-सत्ता का आधार जन-मत है, अतः राजकीय शक्ति जन-हित में ही इस्तेमाल होनी चाहिए। सरकार राज्य नहीं, राजा लोग जनता के प्रतिनिधि हैं, उनकी शक्तियाँ प्रजा की देन हैं। वह अनियमित राज्य-सत्ता इस्तेमाल नहीं कर सकते। अयोग्य राजाओं को पदच्युत करने का अधिकार जनता को है। इस प्रकार इस सिद्धान्त ने राज्य-सत्ता का औचित्य एक नये दृष्टिकोण से पेश किया। परन्तु ऐतिहासिक और दार्शनिक दृष्टि से इस सिद्धान्त को सर्वथा मिथ्या ठहराया गया है। १८वीं तथा १९वीं शताब्दी में डेविड ह्यूम, बेन्थम बर्क, आस्टिन, हेनरी मेन, ग्रीन, ब्लंशली तथा पोलक इत्यादि राजनीति शास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की। ग्रीन (T. H. Green) ने यदि इसे 'कल्पना से अधिक कुछ

नहीं माना' तो बेन्थम ने इसे मनोरंजन के हित 'वृथा बकवाद' माना है। इस सिद्धान्त को निम्नलिखित आधारों पर अस्वीकृत किया जाता है—

(१) समझौते को एक कल्पना या वृथा बकवाद मानने का एक बहुत बड़ा कारण इसके ऐतिहासिक आधार की कमी है। आज तक यह नहीं साबित किया जा सका कि यह समझौता कब, किस समय और किन लोगों में हुआ। वस्तुतः यह सोचना सर्वथा भ्रम है कि किसी समय मनुष्य समाज से पृथक रहा या अराजक स्थिति में रहा। मानव प्रकृति मूल रूप से सामाजिक है। समाज में रहना मनुष्य का धर्म है। समाज से पृथक् मनुष्य की कल्पना असम्भव है। मनुष्य में ही क्यों अपितु जीव-जन्तुओं—वानरों तथा वनमानुषों इत्यादि में भी यह प्रवृत्ति मिल जाती है। अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के आदिनिवासियों में चाहे कोई राजकीय सत्ता नहीं फिर भी वे समुदाय में रहते हैं। गिरोह बाँधकर रहने की प्रवृत्ति (Herd instinct) पशुओं में भी है और मनुष्यों में भी।

वस्तुतः राज्य हमारे लिए वैसे ही प्राकृतिक है जैसे परिवार। वह हमारी बहुत सी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं का परिणाम है। माल वर्ग ठीक ही कहता है कि राज्य व्यक्तियों के बीच स्वेच्छा से किए समझौते से नहीं बना। मनुष्यों को उन सामाजिक आवश्यकताओं से मजबूर होकर राज्य में रहना पड़ा जिससे वह बच नहीं सकता था।

अनुबन्ध सिद्धान्त के समर्थकों द्वारा चित्रित प्राकृतिक अवस्था का कभी मानवीय इतिहास में अस्तित्व ही नहीं रहा। वह कोरी गप्प मात्र है। कभी-कभी अनुबन्ध सिद्धान्त के समर्थन में *May flower compact* (*1630*) तथा *Providence Agreement* (*1632*) का उल्लेख किया जाता है। यह समझौते यूरोपियन प्रवासियों ने अमेरिका पहुँच कर किये थे और इन द्वारा परस्पर मिलकर राज्य स्थापना की थी।

परन्तु इन उदाहरणों को देते हुए हम यह भूल जाते हैं कि यह सब लोग जिन्होंने यह समझौते किये वे संस्कृत और सुसभ्य देशों से आ रहे थे। वह राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं के प्रकार, उनके कार्य इत्यादि से भली प्रकार परिचित थे। उनके लिए परस्पर विचार-विमर्श कर राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण करना कोई असम्भव बात नहीं। परन्तु अराजक अवस्था में रहते हुए उन मनुष्यों के लिए जिन्होंने कभी किसी राजनीतिक संस्था को देखा ही नहीं, राज्य जैसी जटिल और पर्याप्त विकसित सामाजिक संस्था का निर्माण सर्वथा असम्भव है। यह बात हमारी तर्क-बुद्धि मान ही नहीं सकती। समझौते के लिए तो पर्याप्त राजनीतिक चेतना चाहिए और यह राजनीतिक चेतना उनमें थी ही नहीं, और यदि थी तो वह कभी राज्य के बिना रह ही नहीं सकते थे।

(२) यह सिद्धान्त इस बात को मानकर चलता है कि आदि-युग में हमारे जीवन की इकाई (Unit) पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति (Individual) था। यह व्यक्ति अपने आप में सर्वथा पूर्ण और स्वतन्त्र था। इसलिए स्वतन्त्र व्यक्तियों ने ही

परस्पर मिलकर समझौता कर राज्य की रचना की। परन्तु समाज विज्ञान की वर्तमान खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य का आरम्भिक जीवन साम्प्रदायिक (Communal) अधिक था और व्यक्तिपरक (Individualistic) बहुत कम। व्यक्ति किसी न किसी परिवार, कबीले या समुदाय का सदस्य था, उनसे पृथक् किसी भी अवस्था में वह नहीं रहा। उसके जीवन का अधिकांश भाग राज्य द्वारा नियन्त्रित किया जाता था। अतः प्रारम्भिक समाज की इकाई व्यक्ति न हो परिवार या कबीला था।

(३) राज्य का जन्म सर्वथा आकस्मिक भी नहीं कहा जा सकता। ऐसा मानना मानव इतिहास के सर्वथा विपरीत है। मानव इतिहास यह बतलाता है कि हमारी सामाजिक संस्थाओं का विकास धीरे-धीरे हुआ। परिवार, कुल, कबीले और फिर राज्य, मानव के सामाजिक जीवन के विकास का क्रम कुछ ऐसा ही रहा होगा।

(४) प्रारम्भिक मानव-जीवन में व्यक्ति के जीवन का नियन्त्रण परम्परा से चले आये रीति-रिवाजों से होता था। उसका जीवन इन नियमों से, जो व्यक्तिपरक न हो साम्प्रदायिक (Communal) होते थे, जकड़ा हुआ था।

(५) सर हेनरी मेन तथा द्युग्वी (Duguit) इस सिद्धान्त को वैधानिक और समाजशास्त्रीय दोनों ही दृष्टियों से मिथ्या मानते हैं। मेन का कथन है कि अनुबन्ध एक कानूनी संस्था है, इसका विकास मानव-जीवन के प्रारम्भ में नहीं, अपितु बहुत बाद में हुआ। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से पहले राज्य और उसके नियम और फिर समझौते की भावना उत्पन्न हुई। इसी कारण मेन ने इस सिद्धान्त को सर्वथा निस्सार माना है।

(६) द्युग्वी का कथन है कि इस सिद्धान्त के अनुसार यह मानना पड़ता है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य में समझौते की भावना थी। यह असम्भव है, क्योंकि जो मनुष्य समाज में नहीं रहते उनमें समझौते और उससे उत्पन्न दायित्वों की कोई भावना हो ही नहीं सकती।

(७) समझौता पहले हुआ और राज्य की स्थापना बाद में। परन्तु किसी भी समझौते का तब तक कोई अर्थ नहीं जब तक कि वह किसी बाह्य शक्ति द्वारा लागू न किया जाता हो। राज्य की शक्ति के उदय से पूर्व ही किये गये इस अनुबन्ध का पालन राज्य कैसे करवा सकता है? वह तो उस अनुबन्ध का फल है। वह लोग जो सब प्रकार से असामाजिक थे एक ही दिन में सामाजिक कैसे बन गये?

फिर जो समझौता हमारे पुरखों ने किया था, वह हमारे पर कैसे लागू हो सकता है? इस प्रकार अनुबन्ध सिद्धान्त की ऐतिहासिक और वैधानिक तौर पर कड़ी आलोचना की गई। इस कारण इसके बहुत से समर्थकों ने इसे दूसरे रूप में भी प्रस्तुत किया। इसका यह रूप दार्शनिक कहलाता है। काण्ट तथा फिचे इत्यादि विचारक इस सिद्धान्त के इस पक्ष को मानने वाले हैं। उनका कथन है कि ऐतिहासिक रूप में यह सिद्धान्त अर्थहीन है, परन्तु दार्शनिक रूप में यह एक महत्त्वपूर्ण सत्य को सिद्ध करता है। वर्तमान लोकतन्त्र शासन, शासित और शासक के पारस्परिक समझौते

पर ही आधारित हैं। इस समझौते के टूटने पर जनता विद्रोह कर सकती है, वह शासन का रूप बदल सकती है। दूसरे शासन-व्यवस्था एक निश्चित मर्यादा के अनुसार ही चलनी चाहिए, अमर्यादित रूप से नहीं। राज्य और जनता दोनों की मर्यादाएँ इस इकरारनामे (Contract) में सन्निविष्ट होती हैं।

परन्तु अनुबन्ध सिद्धान्त की यह व्याख्या भी निम्नलिखित कारणों से अस्वीकृत की गई है—

(१) इसमें सन्देह नहीं कि राज्य नाम की सामाजिक संस्था मनुष्य की इच्छा पर ही आधारित है उसके विपरीत नहीं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि राज्य एक अप्राकृतिक संस्था है, या वह एक ज्वॉयण्ट स्टॉक कम्पनी (Joint stock company) की तरह है जिसे जब चाहे हम बदल दे या भंग कर दें। वह हमारी प्रकृति का परिणाम है, हमारी आवश्यकताओं का फल है। अंग्रेज विचारक बर्क ने सर्वथा ठीक कहा है, **"यदि राज्य को एक प्रकार की साझेदारी ही मान लिया जाए, तो भी यह ऐसी साझेदारी नहीं है जैसी काली मिर्च, कहवा आदि के व्यापार में होती है—जो इच्छानुसार समाप्त की जा सकती है, यह साझेदारी सम्पूर्ण विज्ञान की साझेदारी है, सभी कलाओं की साझेदारी है, समस्त सद्गुणों की साझेदारी है और सब प्रकार की शक्ति की साझेदारी है। और क्योंकि ऐसी साझेदारी का लाभ एक-दो पीढ़ियों में ही नहीं प्राप्त किया जा सकता, इसलिए वह साझेदारी जो जीवित हैं उनके, जो मर चुके हैं उनके, और जो आगे जन्म लेंगे उन सबके बीच है।"**

राज्य एक ऐच्छिक (Voluntary) समुदाय नहीं। इसकी सदस्यता वैसे ही आवश्यक है, जैसे परिवार की। हम परिवार में उत्पन्न होते हैं, अतः परिवार की सदस्यता जन्मजात है, इसी प्रकार राज्य की नागरिकता भी अनिवार्य है, उसका अपनी इच्छा से त्याग नहीं कर सकते। राज्य यदि एक कम्पनी या फर्म की तरह हो तो इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह आजादी है कि वह चाहे तो इसका सदस्य रहे और चाहे तो अलग हो जाय।

(२) राज्य का ऐसा सिद्धान्त बहुत खतरनाक है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह जब चाहे राज्य के प्रति विद्रोह करदे, जब चाहे राज्य के विरुद्ध खड़ा हो जाय। अनुबन्ध सिद्धान्त के समर्थक यह भूल जाते हैं कि राज्य हमारी भक्ति का भी विषय है। उसके साथ हमारे ऐसे ही भावात्मक सम्बन्ध हैं जैसे कि परिवार के साथ। अतः राज-भक्ति समझौते का विषय नहीं हो सकती।

(३) राज्य का उद्देश्य महान् नैतिक उद्देश्य है, उसका काम एक या दो उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं। उसका सम्बन्ध समग्र मनुष्य जीवन से है। जिस प्रकार माता-पिता बच्चों का पालन-पोषण करते हैं वैसे ही राज्य का कार्य भी जनकल्याण है। कम्पनी या फर्म का उद्देश्य एक या दो स्वार्थों की सिद्धि है राज्य का ऐसा उद्देश्य नहीं होता।

(४) अनुबन्ध सिद्धान्त के समर्थकों का कथन है कि राज्य से पूर्व जो कुछ

वर्तमान था वह सब प्राकृतिक (Natural) था, जो कुछ बाद में आया वह सब अस्वाभाविक है, कृत्रिम (Artificial) है । अतः राज्य से पूर्व के विधान प्राकृतिक विधान कहे गये । राज्य के पूर्व के अधिकार प्राकृतिक अधिकार और राज्य के पूर्व की स्वतन्त्रता प्राकृतिक स्वतन्त्रता (Natural Liberty) । बाद के राजनीतिक अधिकार और राजनीतिक विधान सब कृत्रिम हैं ।

दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि हमारी बर्बर अवस्था स्वाभाविक थी और हमारी संस्कृति और सभ्यता कृत्रिम । पिछले जमाने में जंगलों में रहना, और वृक्षों का छाल पहनकर रहना स्वाभाविक और प्राकृतिक है और मकानों और शहरों में सुसंस्कृत रूप में रहना अस्वाभाविक और कृत्रिम है । यह सम्पूर्ण धारणा भ्रामक तथा अवैज्ञानिक है । हमारा सुसंस्कृत और सभ्य जीवन भी उतना ही स्वाभाविक है जितना कि पुराने जमाने का बर्बर जीवन । राज्य हमारी उसी प्रकृति का फल है जिसका पुराने जमाने की बर्बरता ।

(५) अधिकारों के सम्बन्ध में भी अनुबन्ध सिद्धान्त के समर्थकों की कड़ी आलोचना की गई है । यह कहना कि प्राकृतिक अवस्था में अधिकार और स्वतन्त्रता की अवस्थिति थी, बिल्कुल गलत है । अधिकार और स्वतन्त्रता, यह सापेक्ष तत्त्व हैं । कानून के अभाव में अधिकारों की और स्वतन्त्रता की सत्ता सम्भव ही नहीं । प्राकृतिक अवस्था की स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता नहीं अपितु अराजकता थी । अधिकार हमारी नैतिक आवश्यकताओं के तथा राजनीतिक चेतना के फल हैं । अतः समाज से स्वतन्त्र रूप में न तो अधिकारों की सत्ता ही सम्भव है और न स्वतन्त्रता की ही । अधिकार की अवस्थिति सामाजिक स्वीकृति पर ही सम्भव है ।

इस प्रकार राज्योत्पति के अनुबन्ध सिद्धान्त की आलोचना सभी दृष्टिकोणों से की गई । ऐतिहासिक, वैधानिक और दार्शनिक सभी दृष्टियों से इसे त्रुटिपूर्ण पाया गया । अनुबन्ध सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक विधान तथा प्राकृतिक अधिकार की डेविड ह्यूम ने बहुत कड़ी आलोचना की । उसका कथन है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य इतना समझदार नहीं था कि वह अनुबन्ध जैसी जटिल व्यवस्था की रचना करता । उसके कथनानुसार राज्य सत्ता जनता की सहमति पर आधारित नहीं । यह तो सैनिक विजय का फल है । राज्य के अधिकारियों की आज्ञा इसलिए नहीं मानी जाती कि वह हमारी सहमति (Consent) पर आधारित है । वस्तुतः इसके कई कारण हैं । प्रथम, हम अपनी आदतों (Habits) की वजह से राजकीय नियमों का पालन करते हैं, दूसरा इसलिए कि हम मानते हैं कि यह हमारे हित में हैं । हम समझते हैं कि उनकी एक विशेष उपयोगिता है । उनके बिना समाज की और सामाजिक जीवन की सत्ता सम्भव नहीं । इसलिए ह्यूम के अनुसार राज्य का आधार उपयोगिता (Utility) है सहमति (Consent) नहीं ।

३९. पितृसत्ताक तथा मातृसत्ताक सिद्धान्त (The Patriarchal and the Matriarchal theories)

आज राज्य एक ऐतिहासिक संस्था समझी जाती है, इसका विकास आकस्मिक

नहीं अपितु शताब्दियों में हुआ। परन्तु राज्य ने विकास की अपनी इस लम्बी यात्रा में प्रारम्भ में क्या रूप अख्तियार किया इस विषय में लोगों में मतभेद है। पितृसत्ताक सिद्धान्त (The Patriarchal theory) इसी प्रारम्भिक अवस्था की प्रमुख व्याख्या है।

सर हेनरी मेन का कथन है कि समाज की उत्पत्ति ऐसे परिवारों के सम्मिलन से हुई जो कि एक कुलपिता से (Patriarch) सम्बद्ध थे या जो सबसे वृद्ध पुरुष के नियन्त्रण में रहते थे। मेन के अनुसार परिवार अपने प्रारम्भिक रूप में छोटे-छोटे समूह थे, जिसमें पति, पत्नी तथा सन्तान मिलकर रहते थे। धीरे-धीरे एक से अनेक परिवार बने, और वे सब वृद्ध पिता के संरक्षण और नियन्त्रण में एक साथ रहने लगे। ऐसे परिवारों में पिता की आज्ञा ही अन्तिम आज्ञा होती थी, झगड़ों के निपटारों में उसी का फैसला अन्तिम फैसला होता था, वह पूजा का, अधिकार का, शासन का, मर्यादा व धर्म का सभी का स्रोत था।

यह परिवार मिलकर कुल (Clan) बन गये। इनमें सभी सदस्य रक्त-बन्धन से बँधे हुए सबसे बड़े पुरुष की अधिकार सत्ता को स्वीकार करते थे। यही कुल कबीले (Tribes) बन जाते हैं, कबीले ही राज्य का आधार बनते हैं। विकास की इन स्थितियों में मुख्य संयोजक शक्ति रक्त के बन्धन ही रहे और पितृ-सत्ता की प्रमुखता रही। हेनरी मेन के शब्दों में **"प्रारम्भिक इकाई एक ऐसे परिवार की है जो सबसे बड़े पूर्व पुरुष के सामान्य प्रभुत्व में बँधी हुई है। इन परिवारों से मिलकर वंश या कुल बनता है। कुलों से मिलकर कबीला या जनपद और कबीलों से राज्य बनता है।"** लीकॉक ने भी इस विकास-क्रम को इस प्रकार रखा है—**"पहले एक गृहस्थी, फिर पितृसत्ताक परिवार, फिर एक समान जाति के पुरुषों का कबीला और अन्त में एक राष्ट्रीय सामाजिक क्रम का निर्माण इस आधार पर हुआ है।"**[1]

सर हेनरी मेन ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि यहूदियों, यूनानवासियों, रोम-वासियों तथा भारतीय परिवारों के उदाहरण द्वारा की है। इन सभी देशों में ऐसे परिवार मिल जाते हैं जो कि वर्तमान काल में एक परिवार न कहला परिवारों के समूह ही कहलाएँगे। इन संयुक्त परिवारों में सभी निकट-दूर के सम्बन्धी आ जाते हैं। ऐसे संयुक्त परिवारों के मुखिया ही राज्य-सभा में प्रतिनिधि बनते थे। चीन, मिश्र इत्यादि पूर्वी देशों में भी ऐसे ही परिवारों की अवस्थिति के उदाहरण मिलते हैं। इनमें पिता का अपने पारिवारिक सदस्यों पर असीम अधिकार होता था। पुराने फलस्तीन (Palestine) में पिता अपनी लड़कियों को बेच सकता था और रोम में वह अपने बच्चों की जिन्दगी का मालिक था। सीनेट (Senate) का अभिप्राय वृद्धों की संसद है जब कि नगरपालिकाओं के सदस्य आज भी नगरपिता (City fathers) कहलाते हैं। फ्रेंच विचारक बोदीन (Bodin) राज्य परिषद् में केवल परिवारों के

1. "First a household, then a patriarchal family, then a tribe of persons kindered descent and finally a nation—so runs the social series erected on this basis."—*Leacock.*

मुखिया को ही स्थान देता है, और उसे ही वोट का हक भी है। अरस्तू ने भी राज्य की उत्पत्ति कुलों से मानी है। वह कहता है, "सबसे पहले परिवार या कुल का जन्म होता है, जब अनेक कुल मिल जाते हैं, और उनके संगठन का मतलब अपनी रोज की आवश्यकताओं को पूरा करने की अपेक्षा काफी विस्तृत हो जाता है, तो गाँव का जन्म होता है। जब अनेक गाँव मिलकर अपना संगठन बनाते हैं, और यह संगठन इतना पूर्ण और विशाल बन जाता है कि लगभग आत्म-निर्भर हो जाता है तो राज्य का जन्म होता है।" हमारे यहाँ भी जनपदों का विकास कुलों से ही हुआ है। आग्नेय, मालव, वज्जि, अन्धक, वृष्णि, मुद्रक, कोशल इत्यादि ऐसे अनेक जनपद अपने प्रारम्भिक रूप में जातीय समुदाय थे।

पितृसत्ताक सिद्धान्त के आधारभूत तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(१) स्थायी वैवाहिक सम्बन्ध और मनुष्य का परिवार बनाकर रहना।

(२) राज्य का विकास परिवार से हुआ है। परिवारों के मिलने से कुल और कुल से जनपद और जनपद ही राज्य के आधार हैं।

(३) राज्य-सत्ता का मूल स्रोत पितृसत्ताक परिवार के प्रधान मुखिया की वह असीमित शक्ति थी जिसके अन्तर्गत परिवार के सभी सदस्य आ जाते थे।

आलोचना—निस्सन्देह पितृसत्ताक सिद्धान्त राज्य-निर्माण की महत्त्वपूर्ण स्थिति की ओर निर्देश करता है, परन्तु राज्योत्पत्ति की यह बहुत सीधी-सादी व्याख्या है। प्रारम्भिक सामाजिक समुदाय अपने संगठन में इतना सरल नहीं था जितना कि इस सिद्धान्त के समर्थक मानते हैं। सामाजिक संस्थाओं के विकास में केवल रक्त सम्बन्ध या पारिवारिक सम्बन्ध ही आधारभूत रहे हों, ऐसी बात नहीं। इन तत्त्वों के अतिरिक्त राज्य-निर्माण में अनेक अन्य तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दूसरा वर्तमान युग के समाजशास्त्रियों ने पितृसत्ताक परिवार को सार्वभौम नहीं पाया। न ही इसे परिवार का आदि रूप माना जाता है। मैक्लैनन (Mac-Lennan) तथा जेंक्स (Jenks) इत्यादि ने परिवार के प्रारम्भिक रूप से मातृ-सत्ताक (Matriarchal) माना है।

वे हेनरी मेन के सामाजिक विकास-क्रम को भी नहीं मानते। उनका विचार है कि प्रारम्भिक समाज की मूलभूत इकाई (Unit) वैयक्तिक परिवार नही था, अपितु कबीला या जन (Tribe) था।

जन से कुलों का विकास हुआ और तदन्तर परिवार का प्रादुर्भाव हुआ। वंशानुक्रम का प्रारम्भ पिता से नहीं अपितु माता से होता है। मॉर्गन का कथन है कि बहुत से प्रमाणों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि प्रारम्भिक परिवार का मुखिया कोई वृद्ध पुरुष न हो वृद्धा स्त्री होती थी, पितृसत्ताक परिवार से पूर्व मातृसत्ताक परिवार की अवस्थिति थी।

मातृसत्ताक सिद्धान्त—(The Matriarchral theory) इस प्रकार मातृसत्ताक सिद्धान्त के अनुसार आरम्भ में निश्चित तथा स्थायी विवाह सम्बन्धों का अभाव था। अधिकतर लोग रेवड़ (Pack) बनाकर रहते थे, उत्सवों में विभिन्न

टोटम (रेवड़ का विशेष चिन्ह) के रेवड़ मिलते और स्त्री और पुरुष स्वाभाविक प्रकृति के वश हो समागम करते। बच्चे अपने पिता को नहीं जानते थे और माता के परिवार में रहते थे। मातृसत्ताक परिवार के मुख्य आधार निम्न थे—

(क) स्थायी और निश्चित वैवाहिक सम्बन्धों का अभाव ऐसी अवस्था में वंशानुक्रम माता से ही शुरू किया जाता था। बच्चों का पालन-पोषण माता के परिवार में होता था पिता के परिवार में नहीं। माता अपने परिवार के साथ रहती। कभी-कभी उसका अस्थायी पति अतिथि के रूप में उसके परिवार में आता और चला जाता।

(ग) मातृसत्ताक परिवार में सत्ता (Power) पति के हाथ में नहीं अपितु पत्नी के परिवार के किसी पुरुष सम्बन्धी के हाथ में होती थी। कभी यह सत्ता माता के बड़े भाई के हाथ में होती जैसे कि मलाया में होता है, तो कभी माता-पिता के हाथ में, जैसा कि अमेरिका के रेड इंडियन्स के कुछ कबीलों में पाया जाता है। बहुत से समाजशास्त्री मातृसत्ता और सम्पत्ति पर माता के अधिकार को अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझते। मेकाइवर (MacIver) का कथन है कि मातृसत्ता प्रधान परिवार की अवस्थिति में पर्याप्त सन्देह है। हाँ, वह ऐसे परिवार की अवस्थिति अवश्य मानता है जिसमें वंशानुक्रम माता से प्रारम्भ होता हो। मातृसत्ताक परिवारों की अवस्थिति भारत की द्रविड़ जातियों तथा मालाया और आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों में है। मातृसत्ताक परिवार के अनन्तर पितृसत्ताक परिवार का विकास हुआ। मातृसत्ताक परिवार के विलोप का कारण हमारी आर्थिक परस्थितियों का परिवर्तन है। घुमक्कड़ या खानाबदोश जिन्दगी के खत्म होने पर जब पशु-पालन तथा कृषि-व्यवस्था का जन्म हुआ तो उसके साथ ही स्थायी वैवाहिक सम्बन्ध और वैयक्तिक परिवारों का विकास भी हुआ। मातृसत्ताक परिवार के समर्थकों के अनुसार समाज विकास का क्रम इस प्रकार है--

(१) कबीला (Tribes)।

(२) कुल (Clans) कबीले के विभाजन के अनन्तर उत्पन्न हुए।

(३) घराने (House holds) का विकास कुलों से हुआ।

(४) परिवार विकास-क्रम में घरानों के पश्चात् और सबसे अन्त में आता है।

आलोचना—मातृसत्ताक परिवार के उदाहरण संसार के अनेक आदिम असभ्य जातियों में मिल जाते हैं, परन्तु इसे सर्वव्यापी नहीं कहा जा सकता।

हम पहले ही कह आए हैं कि सामाजिक विकास का स्वरूप इतना सरल नहीं जितना कि इन सिद्धान्तों के समर्थक मानते हैं। फिर परिवार और राज्य संगठन, स्वरूप तथा कार्यों में एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। अतः राज्य को परिवार का एक विस्तृत रूप समझना सर्वथा गलत है। पारिवारिक और राजकीय सत्ता और उनकी प्रकृति में बहुत अन्तर है।

हमारा प्रारम्भिक राजनीतिक जीवन अनेक तत्त्वों द्वारा नियन्त्रित किया जाता था, केवल पारिवारिक सम्बन्धों द्वारा ही नहीं। अन्त में हमें यह मानना पड़ेगा कि यह सिद्धान्त राजनीतिक कम और समाजशास्त्रीय अधिक है। इसका

उद्देश्य समाज का विकास और उन्नयन ढूँढ़ना है न कि राज्य का।

४०. विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary Theory)

राज्योत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों का विवेचन ऊपर किया गया है। परन्तु जैसे कि हम देख ही चुके हैं इनमें कोई भी सिद्धान्त अपने आप में सन्तोषजनक और सही नहीं। राज्य, जैसा कि डाक्टर गार्नर ने कहा है, **"न तो दैवीय संस्था है न ही मनुष्यकृत, और न ही यह शारीरिक शक्ति का फल है तथा न ही परिवार का विस्तृत रूप।"**[1] आज राज्योत्पत्ति के विकासवादी सिद्धान्त को ही स्वीकार किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति किसी निश्चित समय पर अथवा किसी निश्चित योजना के अनुसार नहीं हुई, न ही उसके प्रारम्भ की कोई निश्चित ऐतिहासिक तिथि है। विकासवादी सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि राज्य हमेशा हमारे साथ रहा है। समाज के प्रारम्भिक अविकसित रूप में भी राजनीतिक सत्ता की अवस्थिति अवश्य थी। परन्तु साथ ही यह भी स्वीकार किया जाता है कि प्राचीन राजनीतिक संस्थाओं का स्वरूप आज की राजनीतिक संस्थाओं में बहुत भिन्न है। इसका विकास धीरे-धीरे हुआ, अचानक नहीं।

मनुष्य की संघ प्रेमी प्रवृत्ति का उल्लेख हम कर चुके हैं। इसी संघ प्रेमी प्रवृत्ति का परिणाम है, विभिन्न समुदायों की रचना। कुछ निश्चित समानताओं के आधार पर या सामान्य स्वार्थों के आधार पर संगठित अनेक समुदाय पुराने और नये समाज में हमें मिल जाते हैं। ऐसे **समुदाय रुधिर सम्बन्ध** (Kinship), **स्थान** (Locality), **आयु** (Age), **लिंगभेद** (Sex), **पेशा** (Occupation) **तथा पद** (Status) इत्यादि के आधार पर संगठित किये जाते हैं। इनमें संगठन और नियमन की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, यही विभिन्न प्रकार के राजनीतिक संगठनों का आधार बन जाती है। प्रारम्भिक अवस्था में इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति बहुत सीधे और भद्दे (Crude) रूपों में होती है, धीरे-धीरे इसका विकास हुआ। राज्य भी अपने प्रारम्भिक रूप में पर्याप्त सरल और सीधा था। इसका विकास धीरे-धीरे हुआ। आज तो राज्य शायद मानव-समाज की सबसे अधिक जटिल, विकसित और संस्कृत (Refined) संस्था है।

विकासवाद के अनुसार राज्य-निर्माण में निम्न तत्त्वों का विशेष महत्त्व है—

(१) रुधिर सम्बन्ध (Kinship)।
(२) धर्म (Religion)।
(३) युद्ध (War)।
(४) राजनीतिक चेतना (Political consciousness)।

अध्ययन की सुविधा के लिए हमने इन विभिन्न तत्त्वों को पृथक्-पृथक् रखा

---

1. "The state is neither the handiwork of God, nor the result of superior force, nor the creation of resolution or convention, nor a mere expansion of family."—*Garner*.

है, परन्तु वस्तुतः यह सब तत्त्व एक दूसरे से घुले-मिले हैं, उनको पृथक् नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि देश-काल के भेद से इन तत्त्वों की उपस्थिति और मात्रा में कुछ अन्तर रहा हो परन्तु राज्य-निर्माण में सब सामान्य रूप से अवश्य उपस्थित रहे हैं।

यह सब तत्त्व हमारे जीवन की स्थायी और मौलिक शक्तियाँ हैं, इन्हीं से राज्य-निर्माण में अपेक्षित एकता का विकास होता है। यह मनुष्य की अपनी प्रकृति का परिणाम हैं। यही हमारे समान्य हितों और आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन हैं और इन्हीं से राज्य के आत्मिक (Subjective) स्वरूप का निर्माण होता है।

(१) रुधिर सम्बन्ध (Kinship)—यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकृत की जाती है कि प्रारम्भिक सामाजिक सम्बन्धों में रुधिर सम्बन्धों का विशेष महत्त्व था। रेवड़ या टोलियों में तो अवश्य ही रक्त-सम्बन्धों के आधार पर एकता आधारित थी। सब अपने आपको एक पुरुष की सन्तान समझते थे। परिवार, चाहे उसका प्रारम्भिक स्वरूप कुछ भी क्यों न रहा हो, राज्य का आधार है। पितृसत्ताक (Patriarchal) परिवार में ज्येष्ठ पुरुष या पिता (Patriarch) की विशेष स्थिति, उसके अधिकार उस द्वारा पारिवारिक जीवन का नियमन राजकीय जीवन के लिए आवश्यक ट्रेनिंग का विद्यालय ही समझा जा सकता है। परन्तु राज्य की उत्पत्ति प्रत्यक्षतः पितृसत्ताक परिवार से हुई, ऐसा आज नहीं माना जाता। पारिवारिक स्थिति में सत्ता का आधार वैयक्तिक था, स्वार्थ सार्वजनिक नहीं वैयक्तिक थे, नागरिकता का अभाव था। हाँ, परिवारों के मिलन से कुलों और कबीलों का निर्माण हुआ और यही राज्य के आधार बने। कबीलों की एकता का एक बड़ा आधार रुधिर की एकता थी। कबीलों में जिस जीवन की अवस्थिति थी उसे राज्य का आधार कहा जा सकता है। प्रत्येक कबीले में एक सरदार हुआ करता था, जिसके हाथ में सेना, न्याय तथा धर्म तीनों के अधिकार केन्द्रित थे। कबीलों के पारस्परिक युद्धों में यह अपने कबीले का नेतृत्व करता था। शासन में यह सार्वजनिक हित की अपेक्षा अपने सहयोगियों के हित का ही अधिक ध्यान रखता था।

प्राचीन गणराज्यों में जातीय एकता की भावना मुख्य होती थी। आज की राष्ट्रीयता की भावना के पीछे भी रुधिर की एकता की भावना—जो बहुत कुछ कल्पनात्मक है—काम करती है।

गेटल का कथन है कि "**पितृसत्ताक परिवारों के चिन्ह प्रारम्भिक राज्यों में वर्तमान थे तथा उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन में पितृसत्तात्मक परिवार के कुछ नियमों तथा संगठनों को ग्रहण कर लिया था। रुधिर सम्बन्ध के बन्धन से परस्पर अधीनता और एकता (Salidarity) के भाव प्रबल होते हैं जिनका रहना राजनीतिक जीवन के लिए आवश्यक है।**"

रुधिर सम्बन्धों के आधार पर आधारित समाज के कुछ अपने विशिष्ट पहलू थे, गेटल के अनुसार यह इस प्रकार हैं—

(क) समाज का आधार प्रादेशिक (Territorial) न होकर वैयक्तिक

(Personal) था। सामुदायिक सदस्यता का आधार सामान्य वास-स्थान नहीं अपितु वास्तविक या काल्पनिक रुधिर सम्बन्ध थे। ऐसे समुदाय किसी एक प्रदेश से बँधे हुए नहीं होते थे, वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से और सुविधापूर्वक आ-जा सकते थे। इसलिए कहा गया है कि प्रारम्भिक शासक अपनी प्रजा के शासक होते थे, अपनी धरती या प्रदेश के नहीं।

(ख) प्रारम्भिक समाज का रूप निषेधात्मक (Exclusive) था। बाहर के लोग शत्रु समझे जाते थे, विदेशी लोग गोद लेकर या गुलाम बनाकर ही समुदाय में प्रवेश पा सकते थे।

(ग) ये समाज-प्रतियोगिता की भावना से रहित (Non-competitive) थे, सामाजिक रीति-रिवाज और प्रथाएँ ही सामाजिक जीवन का नियन्त्रण करती थी। प्रगति या परिवर्तन सम्बन्धी विचार बुरे समझे जाते थे।

(घ) यह समाज सामूहिक या साम्प्रदायिक (Communal) था। इस समाज की आधारभूत इकाइयाँ (Basic units) व्यक्ति न होकर गुट या समूह थे। वैयक्तिक स्वतन्त्रता या स्वच्छन्दता का कोई स्थान नहीं था। स्वाधीनता का अर्थ समुदाय की स्वाधीनता थी न कि व्यक्ति की। सहयोग और अन्योन्याश्रय सम्बन्ध (Interdependence) ही समाज के आदर्श थे।

(२) धर्म (Religion)—प्रारम्भिक समाज में धर्म का भी उतना ही महत्त्व था जितना कि रुधिर सम्बन्धों का। जनों या कबीलों के पर्याप्त विकसित और विशाल हो जाने पर रुधिर सम्बन्धों के बन्धन कम पड़ने लगे। परिवारों तथा जातियों की एकता खतरे में पड़ गई। ऐसे समय में धर्म-भावना ने इन विशृंखल होती हुई जातियों को बचा लिया। प्रारम्भ में धर्म का केन्द्र-बिन्दु पितरों की पूजा (Ancestor worship) थी। पितरों की पूजा की भावना के साथ-साथ वीर-पूजा की भावना भी काम करती थी। कबीले के पारस्परिक युद्धों में वीर-गति पाने वाले लोगों की पूजा तो होती ही होगी, उनकी वीरता की कहानियाँ भी जातीय धरोहर बन जाती थीं। पितर-पूजा ने लोगों में एक जातीयता की भावना को भी जीवित रखा।

धर्म और रुधिर सम्बन्ध का घनिष्ठ सम्बन्ध तो इसी बात से पता चलता है कि जाति या कबीले के मुखिया न केवल राजनीतिक नेता ही होते थे वे धर्म-पूजा के अधिकारी भी होते थे। परिवार या कुल के सम्पूर्ण धार्मिक कृत्य उन्हीं के आदेशानुसार होते थे।

धीरे-धीरे पितर-पूजा का स्थान प्रकृति-पूजा ने ले लिया। प्रकृति के शक्ति-चिन्ह सूर्य, जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु इत्यादि सभी देवताओं के पद पर आसीन कर दिये गये और पितरों की आत्माओं के साथ-साथ उनकी पूजा भी की जाने लगी। विधर्मी लोग बुरी दृष्टि से देखे जाते थे, उन्हें एक प्रकार से शत्रु समझा जाता था। विभिन्न धार्मानुयायी कबीलों में युद्ध भी होते थे। धर्म ने लोगों में पर्याप्त एकता उत्पन्न की।

राजा या शासक का स्थान इस समय महापुरोहित या मुख्य धर्माधिकारी ने

ग्रहण कर लिया, या यूं कहना चाहिए कि राजा ही मुख्य धर्माधिकारी बन गया।

धर्म ने प्रारम्भिक सामाजिक जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया था। जहाँ उसने एक ओर लोगों में एकता उत्पन्न की वहाँ दूसरी ओर उसने लोगों में राज्य और शासन के प्रति श्रद्धा और भक्ति की भावना को उत्पन्न किया। केवल शारीरिक शक्ति के बल पर ही प्राचीन काल के निरंकुश शासन नहीं टिक सकते थे। धर्म ने लोगों में विश्वास उत्पन्न किया कि राजा दैवीय शक्ति के प्रतिनिधि हैं और उनके आदेश भगवान के आदेश हैं। उनका उल्लंघन पाप है। राजा का कोप देवता का कोप है, उस द्वारा किये गये अत्याचार प्रजा के अपने पाप-कर्मों के फल हैं। इस प्रकार के विचार प्राचीन भारत, मिश्र, सुमेरिया तथा यूरोप में भी मिल जाते हैं। इस प्राचीन अराजक स्थिति में धर्म ने शासन और व्यवस्था कायम रखने में मदद की। गेटल ने लिखा है कि **"प्रारम्भिक धर्म स्थानीय (Local) और संकीर्ण था। राज्य-विस्तार या विजय के कारण जातियों के प्रसार के साथ-साथ रुधिर सम्बन्ध के बन्धन और पूर्वजों की पूजा भी कम होती गई, यद्यपि आदिम समाज में बहुधा सामान्य उत्पत्ति की गाथाएँ और गोद लेने की भी प्रथा थी। विस्तृत प्रदेश तथा विभिन्न जातियों के तथा राज्य के प्रादेशिक आधार के लिए प्रकृति-पूजा विशेष उपयोगी थी, और इसके विकास ने प्राचीन पारिवारिक पूजा-प्रथा के अवशेष तथा जातीय वीरों की गाथाओं से मिलकर, एक सामान्य राष्ट्रीय धर्म का काम किया जिसने सरकार और कानून को भी प्रमाणित किया।"**

(३) **युद्ध** (War)—युद्ध की आवश्यकताओं से भी राजा की उत्पत्ति हुई, इसका जिक्र हम पीछे भी कर आये हैं। पीछे हमने देखा है कि किस प्रकार देवासुर संग्राम में देवता पराजित हो कहते हैं कि हम लोग **'अराजतया'** अर्थात् राजा न रखने के कारण हारे हैं। हम को राजा बनाना चाहिए (**राजनम् करवामहे**)। प्राचीन परिवार या कुल जो रक्त सम्बन्धों पर आश्रित थे वे संगठित रूप में कबीले का रूप तभी अख्तियार कर सके जब या तो बाहर से आक्रमण का खतरा हुआ या फिर किसी नेता ने उन्हें युद्ध के लिए संगठित किया। वैसे भी हमारे में सत्ता-प्राप्ति की इच्छा (Lust for power) रहती है। पुराने जमाने के आदिम समाज में ये प्रवृत्ति और भी अधिक मजबूत थी, अतः इसकी अभिव्यक्ति सैनिक संगठन और युद्धों में स्वाभाविक ही थी। युद्ध के फलस्वरूप एकता का आधार प्रादेशिक हो गया। जातीयता का महत्त्व कम हो गया। एक ही प्रदेश के रहने वाले लोग चाहे उनका पद या सामाजिक स्थिति कुछ भी हो, युद्ध के समय एक ही जाति या कबीले के लिए एक नेता के नेतृत्व में लड़ते थे। इस प्रकार युद्ध ने सर्वप्रथम राजनीतिक एकता को जन्म दिया।

एक प्रदेश पर अधिकार कर उसमें किसी नेता की अधीनता स्वीकार करने से ही जनपद का जन्म हुआ।

(४) **राजनीतिक चेतना** (Political Conciousness)—रुधिर सम्बन्ध, धर्म तथा युद्ध की भाँति राजनीतिक चेतना का भी राज्य-निर्माण में विशेष

महत्त्व है। राजनीतिक चेतना से कुछ ऐसे उद्देश्यों की अवस्थिति का ज्ञान होता है जिनकी प्राप्ति के लिए राजनीतिक संगठन की आवश्यकता हो। सबसे बड़ी आवश्यकता थी संगठन और नियमन (Regulation) की। मनुष्य के आर्थिक जीवन के विकास के साथ नियमन की यह आवश्यकता और भी अधिक बढ़ गई। ज्यों-ज्यों मनुष्य ने अपनी घुमक्कड़ जिन्दगी को छोड़ पशु-पालन और कृषि जैसे व्यवसायों को अपनाना शुरू किया त्यों-त्यों हमारे सामाजिक जीवन की जटिलता बढ़ती गई। पहले तो सामान्य शत्रु के विरुद्ध संगठन होता था, उसका उद्देश्य केवल सामूहिक जीवन की रक्षा था। परन्तु अब आबादी बढ़ जाने से तथा वैयक्तिक सम्पत्ति के विकास के कारण मनुष्य के आर्थिक जीवन के नियमन की आवश्यकता भी महसूस की जाने लगी। इधर भूमि पर बस जाने से श्रम का विभाजन भी हुआ, विभिन्न वर्ग बन गये, वैयक्तिक परिवार भी स्थापित हो गये। इस तरह जीवन का सामाजिक पहलू भी पर्याप्त जटिल हो गया। इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राज्य की आवश्यकता को अनुभव करने का नाम ही तो राजनीतिक चेतना है। राजनीतिक संगठन का काम व्यक्ति के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा, परिवार और विवाह सम्बन्धों का नियमन, शान्ति और बाह्य आक्रमणों से रक्षा, कानून का बनाना और लागू करना, हो गया।

सामाजिक और आर्थिक जीवन के विकास के साथ-साथ राजनीतिक चेतना जहाँ विकसित हुई वहाँ विशुद्ध और सुसंस्कृत भी हो गई। प्रारम्भ में वह सीधे-सादे राजनीतिक संगठन में अभिव्यक्त हुई, धीरे-धीरे हमने अपनी विवेक-बुद्धि से काम लिया, इसके संगठन में आवश्यक परिवर्तन किये और इसके उद्देश्यों की संख्या को बढ़ा इसके नैतिक और सांस्कृतिक कर्तव्यों की भी स्वीकार किया। ऐसी राजनीतिक चेतना के फलस्वरूप ही आज राज्य सर्वोच्च सामाजिक समुदाय माना जाता है।

इस प्रकार विकासवाद का सिद्धान्त हमारे उस प्रश्न का उत्तर देता है जो कि हमने इस अध्याय के प्रारम्भ में किया था। हमने ऊपर देख लिया है कि इस प्रश्न का उत्तर सीधा और सरल नहीं हो सकता और न ही कोई सीधी-सरल व्याख्या मानी जा सकती है। राज्य दैवी संस्था नहीं फिर भी राज्य के विकास में इस विचार का महत्त्व रहा। राज्य केवल शक्ति का परिणाम नहीं, फिर भी शक्ति राज्य-संगठन का एक प्रमुख तत्त्व है। राज्य केवल व्यक्ति की सहमति पर आधारित नहीं फिर भी हम मानते हैं कि वह हमारी राजनीतिक चेतना का परिणाम है। राज्य केवल परिवार का विस्तृत रूप नहीं परन्तु राज्य-निर्माण में रुधिर सम्बन्धों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, इस प्रकार विकासवाद का सिद्धान्त सभी अर्द्धसत्य सिद्धान्तों के सत्यांश को ग्रहण कर हमारे प्रश्न का एक सन्तोषजनक और वैज्ञानिक उत्तर देता है।

Important Questions

Reference

1. Critically discuss the theory of Divine Origin of the State. (*All. 1933, 1930, Pb. 1955, 1951*) — Art. 36

2. State and criticise the theory of force regarding the origin of the State.
(*Pb. 1940, 1936, 1954; All. 1933; Cal. 1944, 1942, 1938, 1930.*)

Or,

"Will, not force, is the basis of the State." (*P. U. 1939*) — Art. 37

3. Carefully examine the doctrine of Social Contract. How far does it furnish the true explaination of the Origin of the State ?
(*Ag. 1939, 1936; Pb. 1943, '40, '37, '35; Nag. 1943, 1935, Bom. 1938*)

Or,

"The contract theory of the State is bad history, bad law and bad philosophy." Comment. (*Pb. 1954*) — Art. 38

4. Describe in outline the patriarchal and matriarchal theories of the origin of society. (*Pb. 1943, 1935; Mad. 1947*) — Art. 39

5. Discuss the evolutionary theory of the origin of the State. (*Bom. 1941, '27; Nag. 1943; Pb. 1934, 1935, 1952*)

Or,

Comment on the statement that the state is based neither on force, nor contract, but on natural instincts of co-operation. (*Ag. 1943*)

Or,

Discuss the theory of the origin of the State which you regard as most satisfactory. (*Pb. 1955*)

Or,

"The State is not an invention, it is a growis; an evolution, the result of a gradual process running through out the known history of man."—*Leacock.* Discuss. — Art. 40

6. Examine the main *speculative theories* of the origin of the State and State the element of truth contained in each. (*Pb. 1952*) — Arts. 36, 37, 38, 39 and 40

अध्याय ६

राज्य की उत्पत्ति (२)

४१. हॉब्स, लॉक तथा रूसो के अनुबन्ध सिद्धान्त (Social Contract theories of Hobbes, Locke and Rousseau)

राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन हम पीछे विस्तारपूर्वक कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि अनुबन्ध सिद्धान्त (Theory of social contract) का राज्योत्पत्ति विषयक सिद्धान्तों में क्या महत्त्व है। हॉब्स, लॉक तथा रूसो इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हैं। इन्होंने इस सिद्धान्त का बहुत विशद विवेचन किया है। इनके विचार राजनीति शास्त्र में विशेष महत्त्व रखते हैं अतः इस अध्याय में हम इन विचारकों के दर्शन का विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे।

४२. थॉमस हॉब्स (Thomos Hobbes 1528-1679)

हॉब्स के राजनीतिक विचार उसके अपने समय की राजनीतिक परिस्थितियों का परिणाम हैं। हॉब्स के जीवन-काल में इंग्लैण्ड में गृह-युद्ध चल रहा था। स्टुअर्ट राजा जेम्स प्रथम के विरुद्ध जनता विद्रोही हो उठी थी, राज्य-व्यवस्था विशृंखल हो गई थी। हॉब्स अपने राजा के पुत्र चार्ल्स द्वितीय के साथ, जिसका वह शिक्षक था, फ्रांस चला गया। वहाँ उसे राजतन्त्र के अन्तर्गत अपेक्षाकृत शान्ति और व्यवस्था के दर्शन हुए। उसने अनुभव किया कि राजा-विहीन प्रजा अव्यवस्था का मूल कारण है। राज्य और व्यवस्था की स्थापना केवल राजतन्त्र में ही सम्भव है।

हॉब्स ने 'अनुबन्ध सिद्धान्त' की व्याख्या राज्य के जन्म और उसके विकास के अध्ययन के लिए नहीं की थी, उसका तो उद्देश्य था इंग्लैण्ड की जनता के लिए राजभक्ति के एक नये आधार को प्रस्तुत करना। उस समय एक ओर तो जनता अपने अधिकार माँगती थी, दूसरी ओर राजतन्त्र के समर्थक राजा के दैवीय अधिकारों की दुहाई देते थे। दैवीय अधिकारों (Divine Rights of Kings) का सिद्धान्त बहुत अरसे तक लोगों को काबू मे न रख सका, अतः हॉब्स ने निरंकुश राजतन्त्र के समर्थन में अपने अनुबन्ध सिद्धान्त को पेश किया।

हॉब्स प्रथम अंग्रेज दार्शनिक था जिसके राजनीतिक दर्शन का सम्पूर्ण यूरोपीय महाद्वीप पर प्रभाव पड़ा, उसके दर्शन की सर्वत्र चर्चा की गई। उसने समाजशास्त्र, दर्शन तथा गणित आदि का गम्भीर अध्ययन किया था। राज्यशास्त्र के विवेचन में उसने इतिहास का सहारा नहीं लिया, अपने असूल बनाकर उनके अनुसार उसने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। दूसरे शब्दों में उसके अध्ययन में कल्पना का अधिक प्रयोग हुआ, इसी कारण उसकी अध्ययन-पद्धति वियोजक (Deductive) है।

हॉब्स का सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेवायथन' (Leviathan) है।

मनुष्य प्रकृति—हॉब्स के दर्शन का आधार मानव-प्रकृत्ति की मनोवैज्ञानिक व्याख्या है। उसके मतानुसार मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति (Motivating force), स्वार्थ-सिद्धि (Self-interest) और आत्मरक्षा (Self-preservation) है। हमारी सम्पूर्ण क्रियाओं का स्रोत आत्मरक्षा की भावना है। उसका मुख्य उद्देश्य अपनी शक्ति को बढ़ाना, यश प्राप्त करना और अपने जीवन को सुरक्षित रखना है। वह सब कुछ उचित है जो इन उद्देश्यों की प्राप्ति में मदद करता है और जो इनके विरुद्ध है, इसमें रुकावट है, वह बुरा है। मनुष्य की शक्ति-लिप्सा (Lust for power) असीम है, वह कभी तृप्त नहीं होती, वह उसकी मृत्यु के साथ ही खत्म होती है।

प्राकृतिक अवस्था (State of Nature)—ऐसे निपट स्वार्थी मनुष्य ही राज्य के उत्पन्न होने के पूर्व प्रकृति की अवस्था में रहते थे। प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक मनुष्य इन्हीं इच्छाओं से प्रेरित किया जाता था। शारीरिक और मानसिक शक्तियों में सभी बराबर थे। अतः सभी एक-दूसरे से डरते थे, एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते थे। किसी भी नियामक शक्ति (Regulating power) के अभाव में मनुष्य के जीवन की सुरक्षा का सर्वथा अभाव था। आपस में लोगों में विश्वास नहीं था। वे निपट असामाजिक थे। बिना वजह के मार-काट करते थे, एक-दूसरे को खत्म करने की कोशिश करते थे, इस डर से कि अगर वे खत्म नहीं करेंगे तो उनकी अपनी जिन्दगी खतरे में पड़ जायगी। अतः सुरक्षा, शान्ति और व्यवस्था के अभाव में सम्पत्ति, कृषि, उद्योग, कला, साहित्य-संस्कृति तथा सभ्यता का विकास ही न हो सका। **"लोगों की जिन्दगी सूनी, दरिद्र, गन्दी, पाशविक तथा छोटी थी।"**[1] न्याय-अन्याय, अच्छे और बुरे, धर्म तथा अधर्म का ज्ञान मनुष्य में पैदा ही नहीं हुआ था। कानून और व्यवस्था के अभाव में ऐसा हो सकना सम्भव भी नहीं था। हॉब्स के इस प्राकृतिक अवस्था के वर्णन का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं। यह तो कल्पना मात्र है। हाँ, उसका विश्वास था कि राज्य के या प्रभुशक्ति के अभाव में ऐसा सम्भव है। गृह-युद्ध के दौरान में ऐसी स्थिति रहती ही है।

समझौता और राज्य की उत्पत्ति—यदि मनुष्य केवल स्वार्थी और असामाजिक प्राणी होता तो शायद राज्य की स्थापना कभी हो ही न सकती। वह विवेक-युक्त (Rational) प्राणी है। इच्छा (Desire) और विवेक (Reason) उसकी प्रकृति के दो भाग हैं। अपनी विवेक-बुद्धि के बल पर ही वह समाज-निर्माण की ओर अग्रसर हो सका है।

हॉब्स के विचार में यहाँ दो परस्पर विरोधी तत्त्व मिलते हैं। एक ओर तो मनुष्य सर्वथा असामाजिक विवेकहीन प्राणी के रूप में प्रस्तुत किया गया है और दूसरी ओर समाज-निर्माण के लिए उसे विवेकयुक्त माना गया है। समाज-स्थापना से पूर्व उसकी पहली अवस्था थी। यदि वह विवेकपूर्ण प्राणी था तो वह बिना

---

1 "The life of man in the State of Nature was solitary, poor, nasty, brutish and short."—*Hobbes.*

समाज के रह ही कैसे सकता था ?

अस्तु, जैसा भी हो। हॉब्स यह मानता है कि मनुष्य विवेकशील स्वार्थी प्राणी है, वह आत्मरक्षा के लिए विवेकपूर्वक समाज की स्थापना करता है। अतः आत्मरक्षा की प्रवृति से प्रेरित हो प्रत्येक व्यक्ति सोच-विचारकर एक सामाजिक समझौता करने के लिए तैयार हो जाता है। इस समझौते द्वारा राज्य की स्थापना कर वह अपने जीवन की सुरक्षा को सम्भव समझता है।

इस प्रकार सबने मिलकर समझौता कर अराजक दशा को खत्म किया। प्रथम उन्होंने आपस में मिलकर यह समझौता किया कि वह सर्वसम्मति से एक ऐसी शक्ति उत्पन्न करें, जो सब पर शासन करे, सबसे अपनी आज्ञा मनवा सके। फिर, इस समझौते के परिणामस्वरूप उन्होंने एक व्यक्ति को या व्यक्तियों के एक समुदाय (Assembly of men) को अपनी सारी शक्तियाँ, अपने सब अधिकार जो वे प्राकृतिक अवस्थाओं में अपने पास रखते थे, सौप दिये। इस प्रकार हॉब्स के मतानुसार यह अनुबन्ध प्राकृतिक अवस्था को खत्म करने वाले लोगों के बीच ही परस्पर हुआ न कि जनता और शासक के बीच। यह समझौता शासक की स्थापना के हेतु ही लोगों में हुआ। हॉब्स ही के शब्दों में यह समझौता इस प्रकार हुआ—**"जैसे हरेक व्यक्ति हर दूसरे व्यक्ति से कहे कि मैं अपने स्वयं के शासन के अधिकार को इस एक व्यक्ति को या इस समिति को सौंपता हूँ, बशर्ते कि तुम भी मेरी तरह अपना यह अधिकार इसी व्यक्ति या समिति को सौंपने के लिए तैयार हो।"**[1]

समाज और राज्य दोनों ही इस समझौते के फल हैं। राज्य सर्वाधिकार सम्पन्न संस्था है, व्यक्ति अपने सम्पूर्ण अधिकार अपने शासक को सौंप देते हैं, उन्हें राज्य के या शासक के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नहीं। शासक निरंकुश, जनता के प्रति अनुत्तरदायी और निष्पक्ष और सब प्रकार से स्वतन्त्र है। एक बार जनता उसे सब अधिकार सौंपकर वापिस नहीं ले सकती, इसलिए जनता को उसके प्रति विद्रोह करने का कोई अधिकार नहीं। हॉब्स राज्य और सरकार में भेद नहीं करता। अतः सरकार का परिवर्तन भी हॉब्स के मतानुसार राज्य को उलट सकता है।

शासक को कानून बनाने के असीम अधिकार प्राप्त हैं, धर्म तथा दैवीय विधान (Divine laws) भी उसकी असीम शक्ति पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं लगाते।

प्रभुसत्ता (Sovereignty)—समझौते के परिणामस्वरूप उत्पन्न शासक की प्रभुत्वशक्ति (Sovereign power) के निम्नलिखित लक्षण हैं—

(१) जिस समझौते के परिणामस्वरूप समाज और प्रभुसत्तासम्पन्न शासक (Sovereign) का जन्म हुआ वह व्यक्तियों में आपस में था, राजा उसमें शामिल

---

1. "As if every man should say to every man. I authorise and give up my right of governing myself to this man, or to this Assembly of men on this condition, that thou give up, thy Right to him, and authorise all his Actions in like manner."—*Hobbes.*

नहीं हुआ था, वह उसका परिणाम था। वे सब प्रकृत अधिकार जो प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य भोग रहे थे वे राजा को सौंप दिए गये। परन्तु राजा क्योंकि इस समझौते का भागीदार नहीं था इसलिए वे अधिकार किसी को नहीं सौंपता। उसके अधिकारों में कोई परिवर्तन नहीं होता। राजा प्रजा के प्रति उत्तरदायी नहीं था। प्रजा को उसकी हर उचित-अनुचित आज्ञा का पालन करना चाहिए।

(२) शासक की शक्तियाँ अपरिमित (Unlimited) हैं, इसलिए उसके अधिकार पर किसी प्रकार की पाबन्दी नहीं लग सकती। कोई भी वैधानिक पाबन्दी कानूनी तौर पर भी ठीक नहीं हो सकती। केवल प्राकृतिक विधान ही एक पाबन्दी है, परन्तु प्राकृतिक विधान क्या है इसका निर्णय वह अपने आप करता है।

(३) प्रजा द्वारा रचित शासक प्रजा को कोई नुक्सान नहीं पहुँचा सकता, क्योंकि वह उन्हीं का नुमायन्दा है। उसके कार्य गैरकानूनी नहीं हो सकते, क्योंकि वह स्वयं कानून का स्रोत है, और वह स्वयं उन कानूनों की व्याख्या करता है। कानून प्रजा के आचरण का नियमन करते हैं, उसके आचरण का नहीं.

(४) राजा को प्रजा दण्ड नहीं दे सकती, अगर ऐसा करती है तो वह सरासर अन्याय है।

(५) सम्पत्ति राजा का अनुदान है अतः वह सम्पत्ति तथा कर सम्बन्धी कानून बना सकता है। वह युद्ध की घोषणा कर सकता है। और न्याय सम्बन्धी निर्णय भी दे सकता है।

(६) शासक प्रजा को भाषण की स्वतन्त्रता दे सकता है और वह खत्म भी कर सकता है।

(७) राजा प्रजा को बाह्य और आन्तरिक हमलों से बचाने के लिए जिम्मेवार है, इन्हीं कर्तव्यों के पालन के लिए ही उसकी रचना की गई है।

(८) राजा या शासक राज्य-सत्ता की अन्तिम सर्वोच्च और एकाकी अवस्था का प्रतीक है। सिवा आत्मरक्षा के हित कोई भी व्यक्ति अन्य अवस्थाओं में उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता।

(९) राज्य या शासक की प्रभु-सत्ता के विरुद्ध भगवान् के आदेशों को नहीं रखा जा सकता, क्योंकि हॉब्स के अनुसार ईश्वर-आदेशों की व्याख्या भी वही करता है। यदि राजा अनुबन्ध की परवाह नहीं करता तो भी प्रजा उसको कुछ नहीं कह सकती। राजा ही दण्ड, मान, इज्जत तथा यश प्रदान करने और पारितोषिक देने का अन्तिम स्रोत है।

(१०) प्रभुसत्ता अविच्छेद्य (Inalienable) और अविभाज्य (Indivisible) है। अपनी प्रभु-सत्ता को वह किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को नहीं सौंप सकता। जिस प्रकार हम अपने जीवन को दूसरों को सौंपकर जिन्दा नहीं रह सकते, वैसे ही राजा भी प्रभु-सत्ता को किसी अन्य को देकर प्रभु-सत्ता सम्पन्न नहीं रह सकता। प्रभु-सत्ता के विभाजन का अर्थ है उसे नष्ट करना।

यह प्रभु-सत्ता किसी एक व्यक्ति में भी रह सकती है और व्यक्तियों के एक

समूह में भी।

निष्कर्ष—इस प्रकार हॉब्स ने एक ऐसे निरंकुश शासक की कल्पना की जो कि न केवल सर्वसत्तासम्पन्न ही है अपितु निरंकुश और अनुत्तरदायी भी। व्यक्ति की स्वतन्त्रता, उसकी सम्पत्ति, उसका जीवन, उसके अधिकार, सब कुछ उसके अधीन हैं। वस्तुतः हॉब्स अराजक व्यवस्था की अपेक्षा निरंकुश से निरंकुश शासक को भी अच्छा समझता है। जनता गुलामी में रह सकती है, परन्तु राजा की अनुपस्थिति में नहीं, तब राज्य नहीं रहता, हमारी सामाजिक स्थिति खत्म हो जाती है। शासक की उपस्थिति में ही समाज और राज्य सम्भव हैं।

समाज या राज्य हैं व्यक्ति की सुरक्षा के गुलाम ही, वे किसी महान् उद्देश्य की प्राप्ति के अर्थ जन्म नहीं लेते। हॉब्स वस्तुतः पूर्ण उपयोगितावादी है। राज्य की शक्ति और उसके अधिकार के औचित्य का केवल एक आधार है; वह यह कि राज्य व्यक्ति के जीवन की सुरक्षा की गारण्टी है। राज्य की आज्ञाओं के पालन का केवल एक बुद्धिसम्मत कारण है कि वह हमारे हित में है, हमारे लिए उपयोगी और लाभदायक है। समाज केवल व्यक्तियों का समूह मात्र है, उसका नैतिक आधार नहीं, उसका कोई नैतिक उद्देश्य नहीं।

इस प्रकार का **भावविहीन सूखा** परन्तु क्रान्तिकारी व्यक्तिवाद हॉब्स की अपने युग के राजनीति शास्त्र को सबसे बड़ी देन थी। उस द्वारा किया गया राजतन्त्र का समर्थन राजतन्त्रवादियों को बहुत महँगा पड़ा। हॉब्स ने राज-शक्ति की भावनाओं पर कुठाराघात किया। उसने परम्परा से चली आई विचार-पद्धति और राजनीतिक उद्देश्यों को सर्वथा ठुकरा दिया। राज्य एक बड़े 'देव' (Leviathan) की तरह है, उसे कोई चाहता नहीं, कोई उसका भक्त नहीं, वह एक आवश्यक बुराई मात्र है।

यही वजह है कि हॉब्स की अपने समय में भी और उसके बाद भी बड़ी कड़ी आलोचना की गई।

आलोचना—हॉब्स के अपने जमाने के सभी वर्गों के प्रतिनिधियों ने उसकी आलोचना की। उसने राजतन्त्र के हक में लिखा था, उसका उद्देश्य इंग्लैण्ड में स्टुअर्ट राजाओं की सत्ता को बचाना था। परन्तु राजतन्त्रवादी उसकी दलीलों से इतना चिढ़ गये कि वह उसका नाम लेना भी मुनासिब नहीं समझते थे। क्लैरेण्डन (Clarendon) ने कहा था, काश! हॉब्स ऐसी दलीलों से अपने राजकीय शिष्य के समर्थन के लिए कभी पैदा ही न होता। उसी ने अन्यत्र कहा—**"मैंने कभी कोई ऐसी अन्य पुस्तक नहीं पढ़ी जिसमें इतना राज्य-द्रोह तथा धर्म-द्रोह हो।"** हॉब्स के जमाने के राजतन्त्र के समर्थक अभी दैवीय अधिकार के सिद्धान्त से आगे नहीं बढ़ सके थे।

हॉब्स के विचारों से चर्च-अधिकारी तथा साधारण जनता तो रुष्ट थी ही। जहाँ धर्माधिकारियों को उसने राज्य के नजदीक ही नहीं आने दिया वहाँ साधारण जनता को उसने राज्य या राज्य-सत्ता का गुलाम ही बना दिया।

आज तो हॉब्स की आलोचना अनेक प्रकार के तर्कों तथा तथ्यों के आधार पर की जाती है। जैसा कि पहले ही हम देख चुके हैं कि हॉब्स मनुष्य की एक निश्चित मनोवैज्ञानिक विवेचना के अनन्तर अपने राज्य-सिद्धान्तों का निर्माण करता है। परन्तु हॉब्स का मनोवैज्ञानिक अध्ययन त्रुटिपूर्ण है। मनुष्य को उसने सर्वथा स्वार्थी और असामाजिक प्राणी के रूप में चित्रित किया है। उसमें उसने केवल दुर्गुण ही पाये हैं, अच्छाइयाँ नही। यही कारण है कि उसने ऐसे बुरे और स्वार्थी मनुष्य के लिए ऐसे निरंकुश शासन की कल्पना की। मनुष्य प्रकृति की यह व्याख्या एकांगी (Onesided) है, मनुष्य में परोपकार और सेवा की वृत्ति होती है। यही नहीं मनुष्य-प्रकृति अपने आप में बहुत जटिल है। सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना केवलमात्र भय या स्वार्थ-साधना के लिए नहीं की जाती।

फिर, हॉब्स अगर इस प्रकार से मनुष्य को स्वार्थी और झगड़ालू चित्रित करता है तो वह एक ही दिन में अपनी इस प्रकृति को छोड़, समाज का निर्माण कर उसमें सर्वप्रकार से शान्तिपूर्ण नागरिक कैसे बन जाता है? हॉब्स का कथन है कि मनुष्य विवेकशील प्राणी है, और विवेक के परिणामस्वरूप ही उसने राज्य की रचना की। परन्तु यदि वह विवेकशील प्राणी है तो वह समाज या राज्य के बिना कह ही कैसे सकता था? इस प्रकार प्रो० सेबाइन (Sabine) के अनुसार **हॉब्स के विचार परस्पर विरोधी हैं।**

अरस्तू के उस कथन को कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, हम कभी नहीं भूल सकते। आज के समाज विज्ञान की खोजें इस बात की पुष्टि करती हैं। आपस का सहयोग उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति उसके मानवीय समाज में ही नहीं अपितु पशु-समाज में भी देखी जा सकती है। हॉब्स के सम्पूर्ण तर्क का आधार सर्वथा **एकाकी** व्यक्ति (Isolated individual) है। उसके अनुसार प्रारम्भिक प्राकृतिक स्थिति में वे व्यक्ति एक दूसरे से अलग रहते थे। परन्तु ऐसा सोचना सर्वथा भ्रामक और गलत है। व्यक्ति कभी भी किसी भी समय **एकाकी** रूप से नहीं रहा। प्रारम्भिक जीवन में तो सामूहिक जीवन का और भी अधिक महत्त्व था। जैसा कि हम पीछे भी लिख आए हैं व्यक्ति किसी सम्प्रदाय, ग्रुप-परिवार या कबीले (Tribe) का सदस्य होता था। हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक स्थिति मानवीय इतिहास में कभी नहीं रही, वह गप्प मात्र है।

हॉब्स के निरंकुश शासन की कल्पना भी हमारी विवेक-बुद्धि को ठीक नहीं जँचती। उसका कथन है कि प्राकृतिक अवस्था से निकलते ही मनुष्य ने अपने सम्पूर्ण अधिकार राजा को सौंप दिये यह बात तर्कसंगत नहीं। एकदम स्वार्थी और सर्वथा स्वतन्त्र व्यक्ति अपने सभी अधिकारों को किस प्रकार एक ही व्यक्ति को सौंप सकते हैं? और फिर वे किस प्रकार इस बात पर राजी हो सकते हैं कि राजा जो चाहे करे और प्रजा चुप बैठी रहे?

हॉब्स के अनुसार राज्य, समाज और सरकार में कोई अन्तर नहीं। राजा के खत्म होने पर राज्य खत्म हो जाता है, सरकार के विरुद्ध खड़े होने का अर्थ है राज्य

के विरुद्ध जाना। परन्तु हम पीछे ही देख चुके हैं कि राज्य, समाज और सरकार ये तीनों चीजें अलग-अलग हैं। सरकार राज्य का एक साधन है, उसकी शक्ति निश्चित और मर्यादित है। राजा के खत्म होने पर समाज खत्म नहीं होता। यह कहना भी बिल्कुल गलत है कि सर्वोपरिसत्तासम्पन्न शासक के अभाव में राज्य तथा समाज कायम ही नहीं रह सकते। मध्य युग में राजकीय सत्ता किसी एक व्यक्ति के हाथ में नही होती थी, वह राजा, चर्च और सामन्तों में विभाजित होती थी। ऐसी अवस्था में राज्य और समाज की स्थिति थी। राज्य की सत्ता की भी सीमाएँ हैं, धर्म तथा देशीय रीति-रिवाज सभी राजकीय सत्ता पर पाबन्दियाँ हैं। कोई भी शासक इनके विरुद्ध नहीं जा सकता। हॉब्स का कथन है कि कानून का स्रोत शासक है। परन्तु यह मत केवल वर्तमान काल पर ही लागू हो सकता है, पुराने जमाने पर नहीं। पुराने जमाने में कबीलों में या बिरादरियों में बहुत सी ऐसी अलिखित प्रथाएँ तथा रीति-रिवाज होते थे जो कि न केवल व्यक्ति अपितु शासक के व्यवहार का भी नियन्त्रण करते थे। ये रीति-रिवाज किसी शासक विशेष की रचना नहीं होते थे। केवल भय के कारण शासनादेश को मानने की बात भी गलत है। राज्यादेशों का पालन हम एक नहीं अपितु अनेक प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रभावों के फलस्वरूप करते हैं। दण्ड का भय तो मामूली चीज है। अनेक बार लोग उच्च उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपने जीवन तक की बलि देने को तैयार हो जाते हैं। अनेक बार अन्यायपूर्ण कानूनों और आदेशों का शान्तिपूर्ण ढंग से भी उल्लंघन किया जाता है। अतः कानून और शासनादेश का पालन अक्सर हम इसलिए करते हैं कि हम समझते हैं कि वे हमारे हित में हैं, वे सामाजिक व्यवस्था के कारण हैं और सामाजिक व्यवस्था हमारे सभ्य और सुसंस्कृत जीवन की पहली शर्त है। सर हेनरी मेन का कथन है कि कानूनों का पालन आदत के कारण भी किया जाता है।

हॉब्स का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त अत्यन्त संकुचित है। उसका कोई नैतिक स्वरूप नहीं। वह पुलीस-राज्य मात्र है, जिसका मुख्य कर्तव्य शासन-व्यवस्था कायम रखना, अपराधियों को दण्ड देना है। उसका कोई नैतिक कर्त्तव्य नहीं। जनता की नैतिक, आर्थिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्न करना उसके लिए आवश्यक नहीं। वह तो एक आवश्यक बुराई मात्र है।

इस प्रकार हॉब्स के राजनीतिक विचारों का व्यावहारिक प्रयोग वैयक्तिक स्वतन्त्रता और उसकी नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए बहुत खतरनाक साबित हो सकता है।

इन सबके बावजूद भी हम यह नहीं भूल सकते कि हॉब्स ने राजनीति शास्त्र को अनेक नई चीजें दी हैं। अध्ययन-पद्धति की ही दृष्टि से हॉब्स अपने युग से बहुत आगे है। उसकी अध्ययन-पद्धति वैज्ञानिक है, उसकी तर्क-शक्ति बड़ी निर्मम है। उसने प्रत्येक व्यवस्था को तर्क-बल पर कसा और तभी उसका प्रतिपादन किया। धर्म तथा नीति निरपेक्ष राजनीति शास्त्र का जैसा विकास उसके ग्रन्थों में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं।

ऑस्टिन तथा बेन्थम ने अपने प्रभुत्वसत्ता (Sovereignty) सम्बन्धी

सिद्धान्त के आधार हॉब्स के राज्य-दर्शन से प्राप्त किये । वस्तुतः वर्तमान युग के उपयोगितावादी व्यक्तिवाद का जनक हॉब्स कहा जा सकता है । हम ऊपर देख चुके हैं कि किस प्रकार शान्त मन और बुद्धि से राज्य के सम्पूर्ण नैतिक आधारों को एक ओर रख उसने उसे वैयक्तिक जीवन की सुरक्षा का गुलाम बना दिया। राज्य की क्यों आवश्यकता है ? क्योंकि वह हमारे जीवन की सुरक्षा की गारण्टी है । राज्य का क्या कर्त्तव्य है ? वैयक्तिक जीवन की सुरक्षा । इसी से राज्य शुरू होता है और यहीं खत्म हो जाता है ।

इस प्रकार उसके विचार आगे आने वाले विचारकों के लिए प्रेरणा-स्रोत बन गये ।

४३. जॉन लॉक (John Locke 1632-1708)

हॉब्स की भाँति लॉक के राजनीतिक विचार भी उसकी अपनी परिस्थितियों के परिणाम हैं । लॉक का उद्देश्य भी राज्य और उसकी उत्पत्ति का विवेचन नहीं था, उसका उद्देश्य था १६८८ में इंग्लैण्ड में हुई ग्लोरियस रिवोल्यूशन (The Glorious Revolution) का औचित्य सिद्ध करना । हॉब्स और लॉक की समस्याओं में अन्तर है । हॉब्स की समस्या थी शान्ति और व्यवस्थायुक्त राज्य की स्थापना, लॉक की समस्या थी ऐसे राजतन्त्र का समर्थन और औचित्य सिद्ध करना जो वैधानिक हो, जो सीमित शक्तियों से युक्त हो—१६८८ की क्रान्ति के अनन्तर स्थापित राजतन्त्र ऐसा ही था । लॉक ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है ।[1]

लॉक ने हॉब्स द्वारा प्रतिपादित असीम प्रभुत्ता (Sovereignty) के सिद्धान्त का खण्डन किया और साथ ही फिल्मर (Sir Robert Filmer) द्वारा तथा एंग्लिकल चर्च द्वारा समर्थित दैवीय अधिकार के सिद्धान्त की भी कड़ी आलोचना की ।

लॉक के शासनविषयक दो निबन्ध प्रसिद्ध हैं । पहले निबन्ध में उसने फिल्मर द्वारा राजतन्त्र के समर्थन में लिखी 'Patriarcha' नामक पुस्तक की आलोचना की और दूसरे निबन्ध में राज्य, शासन और प्रभुसत्ता की विवेचना की ।

मानव-प्रकृति तथा प्राकृतिक अवस्था—हॉब्स की भाँति लॉक ने मानवीय जीवन के दो भाग किये हैं—(१) अराजक अवस्था या प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) और (२) राज्य का प्रादुर्भाव । परन्तु इन दोनों अवस्थाओं के विवेचन में हॉब्स तथा लॉक के दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है ।

लॉक मनुष्य को एक झगड़ालू और असामाजिक प्राणी नहीं मानता । उसका कथन है—मनुष्य स्वभाव से ही शान्तिप्रिय है, वह सहयोग और सामाजिक सहायता चाहता है । अतः लॉक द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था में अशान्ति नहीं, लड़ाई-झगड़े

---

1. "To establish the throne of our great restorer, our present King William and make good his title in the consent of the people".
—*Locke.*

नहीं । हॉब्स तथा लॉक के प्राकृतिक अवस्था के भी वर्णन में भी पर्याप्त अन्तर है। लॉक की प्राकृतिक अवस्था "शान्ति, सद्भावना, पारस्परिक सहायता और सहयोग की अवस्था है"। उस समय प्राकृतिक विधान (Law of Nature) विद्यमान थे, सभी लोग उनका पालन करते थे। ये प्राकृतिक नियम विवेक-बुद्धि पर आधारित हैं, वे आन्तरिक नैतिकता के नियम हैं । इन्हीं के आधार पर जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों का उपभोग किया जाता था।

प्रकृत-विधान पर आधारित कुछ प्राकृतिक अधिकार भी हैं । इन प्राकृतिक अधिकारों को प्रत्येक मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में अपने व्यक्तित्व का एक भाग समझता था। जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार मौलिक अधिकार हैं, इन्हें कोई भी मनुष्य किसी अन्य व्यक्ति के भरोसे नहीं छोड़ सकता । हॉब्स के अनुसार मनुष्य की प्राकृतिक शक्तियाँ ही उसके प्राकृतिक अधिकार हैं।

इस प्रकार प्रो० लास्की के शब्दों में लॉक की प्राकृतिक अवस्था राज्य-हीन अवश्य थी परन्तु समाज-हीन नहीं। वह प्राक्-राजनीतिक (Pre-political) अवश्य है परन्तु प्राक्-सामाजिक (Pre-social) नहीं।

परन्तु इस अराजक दशा में कुछ असुविधाएँ थीं, जिस कारण यह आवश्यक हो गया कि राज्य-हीन अवस्था को खत्म कर, राज्य का निर्माण किया जाय। ये असुविधाएँ इस प्रकार हैं— (१) पहली असुविधा यह थी कि प्राकृतिक विधान का कोई निश्चित और निष्पक्ष व्याख्याकार नहीं था । प्रत्येक व्यक्ति अपनी विवेक-बुद्धि के अनुसार उसकी व्याख्या करता और उसका अनुसरण करता। ऐसी हालत में अराजक अवस्था में पर्याप्त हड़बड़ पैदा हो गई और व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार असुरक्षित हो गये।

(२) यदि कोई व्याख्याकार मिल भी जाता तो उसके द्वारा किये गये निर्णय को लागू करने वाला कोई नहीं था।

लॉक के शब्दों में यह कमियाँ इस प्रकार हैं—

(क) एक व्यवस्थित, निश्चित, प्रतिष्ठित विधान का अभाव।

(ख) एक निश्चित और निष्पक्ष न्यायाधीश का अभाव।

(ग) दण्ड या निर्णय को कार्यान्वित करने की संगठित शक्ति का अभाव।

समझौता तथा राज्य की स्थापना—यही कारण है कि अन्ततः अराजक स्थिति को खत्म कर समझौते द्वारा राज्य-निर्माण किया गया। इस समझौते के दो रूप हैं—सामाजिक तथा राजनीतिक। प्रथम समझौता तो जनता में आपस में होता है और दूसरा जनता तथा शासक में। राजनीतिक अनुबन्ध द्वारा सरकार की सृष्टि की जाती है जिसके प्रधान अंग विधानपालिका (Legislature), कार्यपालिका (Executive) तथा न्यायपालिका (Judiciary) हैं। जनता अपने सम्पूर्ण अधिकार शासनतन्त्र को नहीं सौंपती। इसे केवल वही अधिकार सौंपे गये हैं जिनसे कि उक्त असुविधाओं का निवारण किया जा सके। तदनुसार राज्य का काम विधान का निर्माण, उसकी व्याख्या और उसको कार्यान्वित करना है । राज्य का उद्देश्य

व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा है।[1] ये अधिकार राज्य की शक्तियों पर पाबन्दियों के रूप में हैं। सरकार के अधिकार सीमित हैं, उसकी स्थिति भी वैधानिक है। हॉब्स की भाँति वह उसे अपरिमित (Unlimited) अधिकार नहीं सौंपता। न ही हॉब्स की भाँति लॉक किसी असीम शक्ति-सम्पन्न प्रभु (Sovereign) की रचना करता है।

लॉक समाज और सरकार में भी स्पष्ट अन्तर करता है। समाज तो सम्पूर्ण व्यक्तियों का समूह है, जब कि सरकार इस समाज का एजेन्ट मात्र। सरकार या शासन की समाप्ति का मतलब समाज की समाप्ति नहीं होती। एक सरकार के खत्म होने का अर्थ है दूसरी सरकार का चुनाव।

लॉक के मतानुसार शासनतन्त्र (Government) **एक ट्रस्ट** (Trust) **की भाँति है।** उसका एक निश्चित उद्देश्य है, एक निश्चित विधान है। इस विधान को तोड़ने वाले ट्रस्ट के सदस्यों को हटाया जा सकता है। इसी प्रकार यदि कोई शासक अपने निश्चित कर्तव्यों का पालन नहीं करता अथवा व्यक्ति के मौलिक और प्राकृतिक अधिकारों के अपहरण की कोशिश करता है अथवा राज्य-शासन को जन-हित में नहीं चलाता या वह स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश हो जाता है, तो जनता उसे हटा सकती है, और उसके स्थान पर अन्य शासक का चुनाव कर सकती है। इस प्रकार लॉक ने ग्लोरियस रिवोल्यूशन (Glorious Revolution) के फलस्वरूप जेम्स द्वितीय के हाथ से राज्य-शक्ति को छीनकर **विलियम** के हाथ में दे देना सर्वथा उचित और समझौते की शर्तों के अनुसार माना है।

इस प्रकार लॉक जनता को राज्य-क्रान्ति का अधिकार देता है। हॉब्स ने यह अधिकार प्रजा को नहीं दिया।

लॉक के राजनीतिक विचारों तथा उस द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यों में यदि कोई सर्वसत्तासम्पन्न अधिकारी है तो वह जनता है। जनता ही अन्तिम रूप से राज्य के तथा शासन के रूप का निर्धारण करती है। इस प्रकार यदि कहीं प्रभु-सत्ता राज्य में है तो वह जनता में है। इस प्रकार लॉक ने सर्वप्रथम जन-प्रभुत्व (Popular sovereignty) के सिद्धान्त का निर्माण किया।

हॉब्स की भाँति उसने प्रभु-सत्ता का कोई निश्चित और निर्णयात्मक रूप हमारे सामने प्रस्तुत नहीं किया। कहा जाता है कि प्रभु-सत्ता अविभाज्य और अविच्छेद्य होनी चाहिए, परन्तु लॉक ने ऐसा नहीं माना।

लॉक के अनुसार यह न तो सर्वोच्च सत्ता ही है और न अविभाज्य। वह

---

1. "Each individual contracts with each to unite into and constitute a Community. The end for which this agreement is made is the protection and preservation, in the broad sense of the word—that is, of life, liberty and estate—against the dangers both from within and without the Community."—*Locke.*

जनता और शासकों में बँटी हुई है । उसका वास्तविक प्रयोग सरकार द्वारा होता है, परन्तु यदि सरकार जनता का विश्वास खो बैठे तो वह फिर जनता के पास लौट आती है । इस प्रकार जनता को सरकार बदलने का विशेषाधिकार प्राप्त है । लॉक ने अनुबन्ध सिद्धान्त की विशेषताओं को इस प्रकार रखा जा सकता है ।

(१) मनुष्य शान्तिप्रिय सामाजिक प्राणी है अतः प्राकृतिक अवस्था में उसका जीवन लड़ाई-झगड़े से भरपूर नहीं था, अपितु पारस्परिक सहयोग और विश्वासपूर्ण था । हाँ, कुछ असुविधाओं के फलस्वरूप उसे समझौते द्वारा खत्म करना पड़ा ।

(२) यह समझौता दो प्रकार का है । सामाजिक और राजनीतिक । राजनीतिक समझौते द्वारा शासनतन्त्र (Government) की रचना की जाती है ।

(३) सरकार एक ट्रस्ट की तरह है, उसके अधिकार सीमित तथा निश्चित हैं । व्यक्ति उसे अपने सम्पूर्ण अधिकार नहीं सौंप देता । उसका मुख्य कर्तव्य व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा करना है ।

(४) लॉक समाज और सरकार में भेद करता है । सरकार की समाप्ति का अर्थ समाज का खात्मा नहीं ।

(५) सरकार के तीन मुख्य कर्तव्य हैं—कानून बनाना, उन्हें लागू करना और उनकी व्याख्या करना । तदनुसार राज्य के तीन भाग हैं—विधान-पालिका (Legislature), कार्यपालिका (Executive) तथा न्यायपालिका (Judiciary) इन तीनों के पृथक्-पृथक् कार्य हैं । इस प्रकार लॉक शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त (Theory of separation of powers) की नींव रखता है ।

(६) प्रभु-सत्ता लॉक के अनुसार जनता में होती है । सरकार ट्रस्ट की तरह है । उसके कार्य निश्चित और मर्यादित हैं । यदि वह अपनी सीमा से बाहर जाय तो जनता उसे भंग कर एक नयी सरकार बना सकती है ।

लॉक का व्यक्तिवाद—लॉक के दर्शन के उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि उसके राज्य की आधारभूत इकाई व्यक्ति (Individual) है । राज्य का निर्माण ये स्वतन्त्र व्यक्ति ही मिलकर करते हैं । यह उन्हीं की कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन मात्र है, और यदि वे उससे सन्तुष्ट नही तो उसे भंग भी कर सकते हैं ।[1] वॉहन ने ठीक ही कहा है कि **"लॉक की व्यवस्था में हर वस्तु व्यक्ति के इर्द-गिर्द चक्कर काटती है, हरेक वस्तु को इस प्रकार बनाकर रखा गया कि व्यक्ति की प्रभु-सत्ता हर तरह से सुरक्षित रहे ।"**

वह प्रथम तो प्रभु-सत्ता की बात ही नहीं करता और यदि कोई उसकी राज्य-व्यवस्था में सर्वोपरि सत्ता है भी तो वह व्यक्ति के पास है । व्यक्ति के अधिकार

---

1. Men "agreed to join and unite into a Community for their comfortable, safe and peaceable living, amongst one another in a secure enjoyment of their properties and a greater security against any that were not before it".—*Locke.*

राज्य-सत्ता पर पाबन्दी का काम करते हैं । वे उसके मौलिक अधिकार हैं, जिन्हें राज्य समाप्त नहीं कर सकता, वस्तुतः राज्य का काम उनकी रक्षा करना है । **प्रो० डनिंग** (Dunning) **ने ठीक ही कहा है "व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न समाज के अधिकारों को ठीक उसी प्रकार मर्यादित करते हैं जिस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में एक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार दूसरे व्यक्ति के अधिकारों को सीमित करते हैं।"**

वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार ही बहुत सर्वव्यापी अधिकार है । उसके निर्माण में भी राज्य का कोई हाथ नहीं, जब कि राज्य का विलोप हो सकता है उसका रूप तबदील किया जा सकता है, परन्तु वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार नहीं छीना जा सकता ।

लॉक राज्य को वैयक्तिक अधिकारों का रखवाला बना उसे कोई नैतिक आधार नहीं देता और न ही उसे कोई नैतिक कर्तव्य ही सौपता है । वह केवल मात्र पुलीस राज है ।

आलोचना—लॉक के अनुबन्ध सिद्धान्त की अनेक प्रकार से आलोचना की गई है । लॉक ने जिस प्राकृतिक अवस्था का चित्रण किया है, वह ऐतिहासिक कसौटी पर खरी नहीं उतरती । प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य नैतिक नियमों का पालन करता है । उसका जीवन सुखी, सम्पन्न और विवेकपूर्ण है । प्रत्येक व्यक्ति के पास सम्पत्ति है, जीवन यापन के अन्य साधन हैं। लोगों में परस्पर मेल है, उनमें सहयोग की भावना काम करती है । इस प्रकार का सुनहरी चित्रण जिन्दगी के कठोर तथ्यों से मेल नहीं खाता । यदि यह मान लिया जाय कि वस्तुतः यह स्थिति सत्य रूप में रही है तो फिर राज्य-स्थापना की क्या आवश्यकता थी ? ऐसी स्थिति की मौजूदगी वर्तमान समाज को नैतिक दृष्टि से गिरा हुआ साबित करती है, जो कि सत्य के सर्वथा विपरीत है ।

लॉक का अनुबन्ध सिद्धान्त भी विश्वसनीय नहीं । प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य में इतनी राजनीतिक चेतना कहाँ थी कि वह विधानपालिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सहित शासनतन्त्र की कल्पना कर ले ? लॉक के राज्य का नियामक तत्त्व व्यक्ति है, सर्वथा स्वतन्त्र व्यक्ति । उसी की सुरक्षा का वह गुलाम है । उसका कोई नैतिक उद्देश्य नही । लॉक की राज्यविषयक व्याख्या बहुत ही संकुचित और त्रुटिपूर्ण है । राज्य केवल व्यक्तियों का ही समूह नहीं, वह कृत्रिम भी नहीं वह हमारी स्वाभाविक आवश्यकताओं का परिणाम है । उसका काम केवल सुरक्षा का या रखवाली करना ही नही, उसका आधार नैतिक है, उसके उद्देश्य नैतिक हैं ।

लॉक के अनुबन्ध-सिद्धान्त में भी पर्याप्त त्रुटियाँ है । वह यह नहीं स्पष्ट कर पाता कि उस द्वारा प्रस्तुत सामाजिक समझौता समाज की स्थापना करता है य. सरकार की ?

लॉक के सिद्धान्त के अनुसार तो राज्य की स्थिति बड़ी दुविधापूर्ण तथा अस्थिर रहती है । व्यक्ति को या व्यक्तियों के एक समूह को यह पूर्ण अधिकार है

कि वह जब चाहे राज्य की आज्ञाओं को किन्हीं भी आधारों पर अस्वीकार कर दें और राज्य को उलटा दें। इस प्रकार राज्य का जीवन सदा व्यक्ति की दया पर निर्भर होगा। मानव-जाति के इतिहास के उषःकाल से लेकर अब तक ऐसे बहुत कम उदाहरण मिलेंगे जबकि राज्य की स्थापना केवल सहमति (Consent) के आधार पर हुई हो। आधुनिक राज्यों का आधार अनेक प्रकार के विभिन्न तत्त्व है।

लॉक द्वारा प्रस्तुत प्राकृतिक विधान तथा प्राकृतिक अधिकार की धारणाएँ भी दोषपूर्ण है। वे न तो इतिहास के आधार पर ही और न दर्शन के आधार पर ही ठीक उतरती है। अधिकारों की व्यवस्था समाज से बाहर या समाज से पहले सर्वथा भ्रामक और अयथार्थ है।

इन कमियों के होते हुए भी हम लॉक के व्यापक प्रभाव की उपेक्षा नहीं करते। यह ठीक है कि लॉक में मौलिकता की कमी है, यह भी ठीक है कि उसमें हॉब्स जैसी निर्मम तार्किकता भी नहीं, तथापि यह अस्वीकार नही कर सकते कि उसके विचार राजनीति शास्त्र में एक विशेष महत्त्व रखते है। **उसकी सबसे बड़ी देन है व्यक्ति के अधिकारों की महत्ता, लोकप्रभुता** (Popular sovereignty) **का सिद्धान्त तथा प्राकृतिक अधिकारों की व्याख्या। लॉक वस्तुतः लोकतन्त्र का दार्शनिक है। उसके सिद्धान्त प्रजातन्त्र के जनक हैं।** हॉब्स की तरह उसके सिद्धान्त अपने समय के प्रतिकूल नही थे। लॉक के सिद्धान्त जिस उद्देश्य के प्रतिपादन के लिए प्रस्तुत किये गये थे उसमें सफल हुए।

लॉक के विचारों के आधार पर ही मॉण्टेस्क्यू ने अपने शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का निर्माण किया। इंग्लैण्ड के उपयोगितावादी दर्शन का सूत्रपात भी एक दृष्टि से लॉक ने ही किया था। बैन्थम की उपयोगितावादी नीति (Pleasure pain theory) के बीज लॉक के दर्शन में मिल जाते है। फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के जनक रूसो केविचार लॉक से बहुत प्रभावित थे। यही नही, अमेरिकन विधान के जनक भी लॉक के व्यक्तिवादी दर्शन से बहुत प्रभावित हुए।

इस प्रकार हॉब्स की अपेक्षा लॉक का प्रभाव बहुत व्यापक रहा। आज भी हम चाहे लॉक के सिद्धान्त को मानें या न मानें परन्तु इतना अवश्य मानते हैं कि किसी भी उच्च तथा प्रगतिशील राज्य-व्यवस्था का आधार जनता की सहमति (Consent) ही हो सकती है।

४४. रूसो (Rousseau)

हॉब्स तथा लॉक की भाँति रूसो भी अपने युग की देन है। उसका दर्शन, उसकी विचारधारा अपने युग की सम्पूर्ण विषमताओं का प्रतिनिधित्व करती है। रूसो अपने युग में रहता हुआ भी अपने युग की विचारधाराओं का ही गुलाम नहीं रहा। उसने कल्पना के बल पर बहुत लम्बी उड़ान की। वस्तुतः वह दार्शनिक की अपेक्षा साहित्यिक अधिक था, उसका दर्शन कल्पनात्मक काव्य अधिक हो गया है। उसमें हॉब्स, लॉक तथा ह्यूम जैसी तार्किकता नहीं। वह भावुक है और बुद्धिवाद का

विरोधी । परन्तु अपनी स्वाभाविक चेतना के आधार पर उसने ऐसे विचारों का प्रतिपादन किया है जो कि हॉब्स और लॉक के विचारों से किसी प्रकार भी कम महत्त्व-पूर्ण नहीं ।

उसके सिद्धान्त भ्रान्त धारणाओं, परस्पर विरोधी विचारों और विषमताओं से भरे पड़े हैं, फिर भी वे हॉब्स और लॉक दोनों से ही अधिक प्रभावोत्पादक और लोकप्रिय सिद्ध हुए । उसके विचारों का प्रभाव केवल फ्रांस या यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा अपितु सुदूर अमेरिका तक पहुँचा । फ्राँस की राज्य-क्रान्ति का तो वह जनक माना जाता है । वर्तमान युग की प्रजातन्त्रवाद और व्यक्तिवाद की विचारधाराओं को भी उसने पर्याप्त सीमा तक निर्धारित किया । जर्मनी के आदर्शवादी विचारक काण्ट और हिगल अपने बहुत से विचारों के लिए रूसो के ऋणी हैं ।

अपने राजनीतिक विचारों में रूसो हॉब्स, लॉक तथा मॉण्टेस्क्यू के अतिरिक्त प्राचीन यूनानी और रोमन विचारकों से भी पर्याप्त प्रभावित हुआ । प्राचीन यूनान के कल्पनावादी विचारक प्लेटो से तो उसने बहुत कुछ सीखा । प्राचीन यूनान की प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की शासन-व्यवस्था को वह आदर्श मानता था । ग्रोशियस और पफण्डोर्फ के राजनीतिक विचारों ने भी उसे प्रभावित किया ।

मनुष्य स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था—सभी अनुबन्धवादी विचारकों की तरह रूसो ने भी मनुष्य-स्वभाव और राज्य-विहीन प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) का विवेचन किया है । रूसो हॉब्स के विपरीत मानव-स्वभाव को सामाजिक, शान्तिप्रिय और परोपकारी मानता है । मनुष्य बुराई का शिकार हो सकता है, परन्तु यह बुराई उसका स्वभाव नहीं । यह बाह्य वस्तु है और इसे हटाया जा सकता है ।

प्राकृतिक अवस्था के वर्णन में रूसो हॉब्स की अपेक्षा लॉक के अधिक निकट है । राज्य-स्थापना से पहले जो अराजक स्थिति थी वह आदर्श थी, सब प्रकार से पूर्ण थी और सामाजिक अनुबन्ध के बाद स्थापित सामाजिक अवस्था से कहीं अधिक अच्छी थी । अपनी पुस्तक *'The Origin of Inequality'* में इस राज्य-हीन अवस्था का उसने बहुत सुन्दर और मनमोहक चित्र प्रस्तुत किया है । परन्तु रूसो सदा ही इन विचारों पर स्थिर नहीं रहा, एतद्विषयक उसके विचार बदलते रहे हैं ।

रूसो के अनुसार राज्य की स्थापना से पूर्व प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य बहुत सुखी था । उसे कोई चिन्ता नहीं थी, वह वनों में रह कन्द-मूल खा अपना जीवन बिताता । वस्त्र का उसे ध्यान नहीं था, शिकार में मारे जानवरों की खालें पहनकर रहता था या फिर वस्त्र-हीन ही घूमता । भाषा का ज्ञान उसे नहीं था, न ही उसने कभी कुछ सोचा ही । उसका जीवन अधिकार-भावनाओं और मूल प्रेरणाओं (Primary instincts) पर ही आधारित होता था । वह सब प्रकार से आत्म-निर्भर, सन्तुष्ट और प्रसन्न था । इस प्रकार रूसो का प्राकृतिक मनुष्य एक विवेक-हीन भद्र वनचारी (Noble savage) था ।

परन्तु यह आदर्श राज्य-हीन अवस्था बहुत दिन न टिक सकी, अनेक कारणों से इसका विलोप हो गया। जनसंख्या की वृद्धि, वैयक्तिक सम्पत्ति की व्यवस्था के विकास और मनुष्य में विवेक-बुद्धि के प्रादुर्भाव के साथ ही यह सुनहली अवस्था खत्म हो गई। स्थायी परिवार व्यवस्था के जन्म के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति का जन्म हुआ। श्रम-विभाजन (Division of labour) की व्यवस्था समाज का एक स्थायी और निश्चित रूप बन गई। कृषि-व्यवस्था का विकास हुआ और इस प्रकार भू-सम्पत्ति का जन्म हुआ। समानता खत्म हो गई, लोगों में भेदभाव बढ़ गये, अमीर और गरीब के वर्ग बन गये, 'मेरी और तेरी' की भावना का विकास हुआ और इस प्रकार अशान्ति और अव्यवस्था फैल गई।

रूसो का यह विवेचन ऐतिहासिक नहीं कल्पनात्मक है। यद्यपि यह अवश्य स्वीकार किया जाता है कि हॉब्स तथा लॉक की अपेक्षा रूसो की प्राकृतिक अवस्था का वर्णन तथ्य के अधिक निकट है। हॉब्स तथा लॉक के विपरीत उसने सामाजिक विकास में मनुष्य की तर्क-बुद्धि (Reason) को कतई महत्व नहीं दिया, वह उसे प्राकृतिक मनुष्य के स्वभाव का तत्त्व ही स्वीकार नही करता।

समझौता तथा राज्य की उत्पत्ति—इस प्रकार इस कष्टपूर्ण अराजक स्थिति को समाप्त करने के लिए राज्य संस्था की आवश्यकता अनुभव की गई। रूसो के सामने मुख्य प्रश्न वैयक्तिक स्वतन्त्रता और अधिकार का सामाजिक व्यवस्था और नियन्त्रण के साथ मेल बिठाना था। उसे यह सिद्ध करना था कि सामाजिक व्यवस्था वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षक और पोषक है।

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए अनुबन्ध सिद्धान्त का आश्रय लिया गया। अनुबन्ध द्वारा मनुष्य स्वेच्छापूर्वक राज्य का निर्माण करते है। रूसो के मतानुसार सभी व्यक्तियों की सहमति राज्य-व्यवस्था की स्थापना के लिए आवश्यक है क्योंकि सहमति (Consent) पर आधारित राज्य-सत्ता ही वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षक और पोषक हो सकती है।

अनुबन्ध द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वाधीनता तथा अधिकार समाज को सौंप देता है। समाज व्यक्तियों से ही मिलकर बना है अतः व्यक्ति इसके अंगस्वरूप उसे पुनः प्राप्त कर लेता है। रूसो के शब्दों में—**"हम में से प्रत्येक अपने व्यक्तित्व तथा अपनी सभी शक्तियों को सामान्य इच्छा को सौंप देता है और अपनी सामूहिक सत्ता के रूप में हम प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण शक्ति का अविभाज्य अंग मानते हैं।"**[1] व्यक्ति राज्य को अपने सम्पूर्ण अधिकार सौंप देता है, अपने पास कुछ भी नहीं रखता, और क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकार समाज को सौंपता है, इस कारण सभी अपनी स्थिति में बराबर हो जाते हैं। व्यक्ति ही सामूहिक रूप से समाज का निर्माण करते

1. 'Each of us (men) puts his person and all his natural power in common under the supreme direction of the general will, and, in our corporate capacity, we receive each member as an indivisible part of the whole,"—*Rousseau.*

है इस कारण वह इस सामूहिक शक्ति के बराबर साझीदार हैं । उसके अधिकार उसके पास रहते हैं । परन्तु वह उसकी वैयक्तिक स्थिति के फल नहीं अपितु उसकी नागरिकता के फल हैं । समाज-स्थापना से पूर्व उनकी रक्षा की जिम्मेवारी किसी पर नहीं थी परन्तु अब उनकी समाज द्वारा रक्षा की जाती है । इस प्रकार रूसो के तर्क से यह सिद्ध हुआ, क्योंकि राज्य व्यक्ति की सहमति (Consent) पर आधारित है और राज्य-शक्ति का प्रत्येक व्यक्ति बराबर का समझीदार है अतः उसकी स्वतन्त्रता और उसके अधिकार सर्वथा सुरक्षित हैं ।

समझौता व्यक्तियों के वैयक्तिक और सामाजिक स्वरूप के बीच होता है । क, ख, ग इत्यादि व्यक्ति मिलकर एक ऐसे समुदाय का निर्माण करते हैं जिसके अंग क, ख, ग हैं । अतः क, ख, ग इत्यादि व्यक्तियों ने ही अपने सामूहिक रूप समाज को अपने अधिकार सौंपे ।

इस प्रकार रूसो एक ओर जहाँ हॉब्स का अनुसरण करता हुआ असीम प्रभु-सत्ता सम्पन्न राज्य की सृष्टि करता है, दूसरी ओर लॉक के पथ का अनुसरण कर इस प्रभु-सत्ता को वह प्रजा में निहित करता है । राज्य-सत्ता वस्तुतः जन-सत्ता ही है । राज्य-सत्ता का प्रयोग जनता के हित में होता है और जनता की सहमति से होता है ।

सामान्य इच्छा (General Will)—रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त (Theory of General will) राजनीति शास्त्र को उसकी सबसे बड़ी देन है । इस सिद्धान्त ने वर्तमान युग की राजनीतिक विचारधारा को बहुत प्रभावित किया है । नूतन आदर्शवादी कान्ट, हीगल, ग्रीन ब्रेडले तथा **बोसांके** इत्यादि सभी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का किसी न किसी रूप में अनुसरण करते हैं ।

ऊपर हम देख चुके हैं कि अनुबन्ध (Contract) के परिणामस्वरूप जिस समूह का संगठन हुआ वह अपने स्वरूप और संगठन में असाधारण है । वह अपनी इच्छा और व्यक्तित्व से युक्त है । यह इच्छा क्या है ? यह सामान्य इच्छा (General will) है और राज्य की सम्पूर्ण शक्तियों का स्रोत है । परन्तु इस सामान्य इच्छा (General will) का स्वरूप क्या है ? इसका समझना जरूरी है ।

सामान्य इच्छा (General will) समाज की इच्छा (Will) है, परन्तु न ही तो वह 'सबकी इच्छा' (Will of all) है, और न ही वह 'बहुमत की इच्छा' (Will of majority) है । सामान्य इच्छा समाज की वह नैतिक इच्छा है जो सबके हित में होती है ।

सामान्य इच्छा (General will) के इस नैतिक स्वरूप को समझने के लिए हमें रूसो द्वारा किये गये मनुष्य की भावनाप्रधान इच्छा (Actual will) तथा यथार्थ इच्छा (Real will) के भेद को समझ लेना चाहिए । रूसो के अनुसार प्रत्येक मनुष्य की इच्छा के दो स्वरूप हैं । उसकी भावनाप्रधान इच्छा (Actual will) अविवेकपूर्ण, अस्थिर, स्वार्थपरक, संकुचित और आत्मविरोधी होती है । भावनाप्रधान इच्छा (Actual will) समाज हित की बजाय वैयक्तिक हित का ही ध्यान रखती है, इसका आधार वैयक्तिक स्वार्थ है ।

इसके विपरीत यथार्थ इच्छा (Real will) का आधार तर्क-बुद्धि, समाज-हित तथा विचारपूर्ण चिन्तन है। यह आदर्श और नैतिक इच्छा है। यह वैयक्तिक हित और सामाजिक हित में समरसता स्थापित करती है। यह अस्थायी नहीं, यह व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का हित सोचती है। यथार्थ इच्छा ही मनुष्य की वास्तविक स्वतन्त्रता का आधार है।

सामान्य इच्छा समाज के व्यक्तियों की इन्हीं वास्तविक इच्छाओं का समन्वय है। इस प्रकार सामान्य इच्छा का आधार व्यक्तियों के उच्चतम गुण, उनकी उच्चतम नैतिकता है। समाज अपने स्वरूप में नैतिक इसी कारण है, क्योंकि वह इस नैतिक और आदर्श इच्छा से युक्त है।

सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के परिणाम—

(१) मनुष्य की तरह राज्य भी सावयविक (Organic) है।

(२) सावयविक राज्य का स्वरूप नैतिक है और वह अपने व्यक्तित्व और इच्छा से युक्त है।

(३) सबके हित के साथ वैयक्तिक हित का संयोग स्थापित करने वाली सामान्य इच्छा कानून और विधान का अन्तिम स्रोत है।

(४) विराट सामान्य इच्छा व्यापक रूप से न्यायशील होगी।

(५) समाज के सम्पूर्ण नागरिक सामान्य इच्छा के अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः सामान्य इच्छा व्यक्ति के प्रत्येक कार्य के स्वरूप की न्याय के आधार पर परीक्षा कर सकती है।

(६) सामान्य इच्छा सदा ही जनहित में होती है।

सामान्य इच्छा (General will) की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। सर्वप्रथम, क्योंकि सामान्य इच्छा तर्क-बुद्धि पर आधारित है, उसमें आत्मविरोध नहीं, अतः वह ऐक्यकारी है। वह अविच्छेद्य है, क्योंकि यदि उसे विभाजित कर दिया जाय तो वह सामान्य इच्छा न रहकर वर्गीय या दलीय इच्छा हो जायगी। सामान्य इच्छा स्थायी है। क्षणभंगुर नहीं, न ही उसमें परिवर्तन की कभी कोई गुंजाइश है, वह। तर्क-बुद्धि पर आधारित है और सदा जनहित में है अतः उसका ऐसा होना नामुमकिन नहीं। जिस प्रकार एक मनुष्य अपने जीवन को देकर जीवित नहीं रह सकता उसी प्रकार सामान्य इच्छा भी किसी को सौंपी नहीं जा सकती।

रूसो के अनुसार राजकीय प्रभुसत्ता का निवास-स्थान सामान्य इच्छा है। अतः उसके मतानुसार प्रभुसत्ता असीम, अविभाज्य, अमर्यादित, शाश्वत, व्यापक तथा अविछेद्य और परम पूर्ण है। हॉब्स तथा रूसो के प्रभुसत्ता विषयक विचारों में साम्य है। हॉब्स की भाँति रूसो की प्रभुसत्ता (Sovereignty) भी असीम शक्ति-सम्पन्न है। परन्तु रूसो की प्रभु-सत्ता का अन्तिम स्रोत जनमत है, वह उसे हॉब्स की तरह किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह में नही रखता अपितु सम्पूर्ण जनता को ही इसका साझीदार बना देता है। दूसरा हॉब्स राज्य और सरकार के भेद नहीं कर पाता, परन्तु रूसो सरकार को राज्य का केवल ऐजेण्ट मात्र मानता है और उसे

लॉक की भाँति केवल निश्चित अधिकार सौंपता है । इस प्रकार रूसो, हॉब्स तथा लॉक दोनों के दर्शन के गुणों को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है ।

आलोचना—रूसो के सामान्य इच्छा सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना अनेक प्रकार से की गई है । सर्वप्रथम तो उसका यह सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टि से सर्वथा त्रुटिपूर्ण है । यह अमूर्त्त और संकीर्ण है । व्यवहार में सामान्य इच्छा का 'सबकी इच्छा' से भेद कैसे किया जा सकता है ? सामान्य इच्छा न तो सबकी इच्छा ही है न वह बहुमत की इच्छा है और न ही अल्पमत की । सामान्य इच्छा का आधार सामान्य इच्छा स्वयं ही है । व्यावहारिक रूप में सामान्य इच्छा केवल बहुमत की इच्छा मात्र ही बनकर रह जाती है ।

सामान्य इच्छा का आधार भावप्रधान इच्छा और यथार्थ इच्छा के विभाजन पर आधारित है जो सर्वथा भ्रामक और अवैज्ञानिक है । रूसो के अनुसार हमारी इच्छा का वह अंश जो कि जन-हित के पक्ष में है वास्तविक है और दूसरा अवास्तविक। वैयक्तिक इच्छा का ऐसा विभाजन सम्भव नहीं । हमारी वास्तविक और अवास्तविक इच्छाएँ दोनों ही हमारे व्यक्तित्व का अखण्ड भाग है, वह सम्पूर्ण एकता है ।

फिर सामान्य इच्छा का आधार 'सामान्य हित' और नैतिकता है । 'सामान्य हित' के स्वरूप का निर्धारण कर सकना असम्भव है । वह परिस्थितियों और व्यक्तियों के साथ बदलता रहता है । आज के 'जनहित' की कल्पना भविष्य में निरर्थक हो सकती है । मेरी 'जनहित' की परिभाषा आप से भिन्न हो सकती है । 'जनहित' की दुहाई देकर राज्य बड़े से बड़ा अत्याचार कर सकता है ।

रूसो की असीम अधिकारसम्पन्न प्रभुसत्ता की धारणा बहुत खतरनाक है । उसका परिणाम व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का विनाश होगा । सामान्य इच्छा सदा ठीक होती है, वह सदा जनहित में होती है और वह व्यक्ति की उच्चतम नैतिक आदर्श तथा नैतिक इच्छा पर आधारित होती है । ऐसी अवस्था में व्यक्ति के लिए राज्य के आदेश का पालन उसका राजनीतिक ही नही अपितु नैतिक कर्त्तव्य है । और जो व्यक्ति राजकीय कानूनों को तोड़ता है, वह अपनी नैतिक इच्छा के और अपने हित के विरुद्ध जाता है । ऐसी अवस्था में यदि राज्य व्यक्ति पर बल-प्रयोग करता है तो वह उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण न कर उसकी वास्तविक स्वतन्त्रता को बढ़ाता है । इस प्रकार रूसो के इस सिद्धान्त का परिणाम राज्य की परले दर्जे की निरंकुशता की स्थापना होगी । हॉब्स ने तो केवल वैधानिक रूप से राज्य की असीम शक्ति को उचित ठहराया, परन्तु रूसो के सिद्धान्त के अनुसार वैधानिक तौर पर ही नहीं बल्कि नैतिक रूप से भी राज्य की अनिश्चित शक्ति सर्वथा उचित समझी जायगी । रूसो व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का राज्य अधिकार के साथ सामरस्य (Harmony) स्थापित करना चाहता था, परन्तु अनजान में ही वह व्यक्ति स्वातन्त्र्य को राज्याधिकार की बेदी पर बलि चढ़ा देता है ।

हीगल, बोसांके तथा ब्रेडले इत्यादि नूतन आदर्शवादियों ने रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के इसी पक्ष के आधार पर ही निरंकुश राज्य-शासन का समर्थन

किया है । बाद के फासिस्त राज्यों ने जन-हित के नाम पर ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसके अधिकारों का बलात् अपहरण किया ।

रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त बड़े-बड़े राज्यों पर लागू नहीं हो सकता । आज की अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र-प्रणाली भी इसके लिए उपयुक्त नहीं, उसका आदर्श प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र शासन प्रणाली है, जिसकी अवस्थिति छोटे-छोटे नगर-राज्यों में ही मुमकिन है, राष्ट्रीयता के आधार पर आधारित बड़े राज्यों में नहीं ।

रूसो के दर्शन की अनेक अन्य आधारों पर भी आलोचना की जाती है । उसके विचारों में असंगति और आत्मविरोध की भरमार है । प्रारम्भ में तो वह बड़े जोरदार शब्दों में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का समर्थन करता है, परन्तु अन्त में वह व्यक्ति को समाज का और उसकी सामान्य इच्छा का दास बना देता है ।

रूसो में मौलिकता का अभाव है, परन्तु दूसरों की बात को अपना बनाकर कहने में वह बहुत चतुर है । रूसो की राज्य-विधि की परिभाषा अनुबन्ध की व्याख्या तथा प्रभुसत्ता की धारणा भी त्रुटिपूर्ण है ।

परन्तु उपर्युक्त आलोचना के बावजूद भी हम रूसो की राजनीतिक देन तथा उसके प्रभाव की व्यापकता की उपेक्षा नहीं कर सकते । प्लेटो और अरस्तू के पश्चात् रूसो ही सर्वप्रथम राजनीतिक विचारक था जिसने राज्य को नैतिक स्वरूप प्रदान किया और उसे मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति का फल माना । ग्रोशियस, हॉब्स तथा लॉक इत्यादि सभी ने राज्य को एक अप्राकृतिक परन्तु आवश्यक यन्त्र मान उसे व्यक्ति के अधिकार और उसकी सुरक्षा का गुलाम बना दिया । परन्तु रूसो प्लेटो के दर्शन का अनुसरण करता हुआ राज्य को उच्चतम नैतिक संस्था मानता है । रूसो के आदर्श का अनुसरण करते हुए ही टी. एच. ग्रीन ने कहा था—"शक्ति नहीं बल्कि इच्छा राज्य का आधार है ।"[1]

रूसो ने ही राज्य के जन-कल्याणकारी रूप की स्थापना की, राज्य और सरकार में स्पष्ट भेद निर्देशित किया, राज्य के राष्ट्रीयता के आधार की पुष्टि की और प्रजातन्त्र की नीव रखने में बहुत सहायता की । व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसकी सुरक्षा, रूसो के सामने यही प्रमुख उद्देश्य थे, और जितना व्यापक और शक्तिपूर्ण समर्थन रूसो ने इनका किया उतना शायद ही अन्य किसी ने किया हो । रूसो के विचारों के प्रभाव की व्यापकता का हम पीछे उल्लेख कर आये है । वस्तुतः वर्तमान युग की बहुत कम ऐसी विचारधाराएँ है जो कि रूसो के प्रभाव से रहित हों ।

४५. हॉब्स, लॉक तथा रूसो

ऊपर हमने इन तीनों दार्शनिकों की विचारधाराओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । इन तीनों में समानताएँ भी हैं और अन्तर भी । रूसो हॉब्स तथा लॉक दोनों से ही प्रभावित है । वह हॉब्स के अनुबन्ध-सिद्धान्त को मानता है तथा उसके

1. "Will, not force, is the basis of the State."—*T. H. Green.*

अनुसार ही राज्य का असीम सार्वभौम सत्ता (Sovereign power) प्रदान करता है। दूसरी ओर वह लॉक का अनुसरण करता हुआ प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करता है। सरकार और राज्य में भेद करता है और प्रभुसत्ता को जन-सत्ता बनाकर हॉब्स के प्रभु का सिर ही काट डालता है।[1] लॉक तथा रूसो ने सरकार को सीमित अधिकार ही दिए हैं, परन्तु हॉब्स ने ऐसा नहीं किया। रूसो और लॉक दोनों ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को महत्त्व देते है और उसकी सुरक्षा के लिए प्रयत्न भी करते हैं, परन्तु हॉब्स राज्य को सर्वथा निरंकुश शक्ति प्रदान कर व्यक्ति के अधिकारों को सर्वथा राज्याधीन कर देता है। परन्तु लॉक और रूसो में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। रूसो व्यक्ति के जीवन के नागरिक पक्ष पर अधिक बल देता है जब कि लॉक, और हॉब्स भी, उसके वैयक्तिक पक्ष पर।

Important Questions

	Reference
1. Examine the views of Hobbes and Rousseau on the origin of the State and the nature of Sovereignty. (*P. U. 1953*)	Arts. 42, 44 and 45
2. Examine the Doctrine of Social Contract as—expounded by Hobbes and Locke. How far does it furnish the true origin of the State ? (*Pb. 1948*)	Arts. 42 and 43
3. How do Hobbes, Locke and Rousseau differ from one another in their interpretations of the social contract theory and its implications ? (*Ag. 1940; Cal. 1950, '51; Punjab 1938*)	Arts. 42, 43, 44 and 45
4. "Rousseau tries to combine the theories of Hobbes and Locke." Elucidate.	Arts. 44 and 45

1. "Rousseau's sovereign is Hobbes' Leviathan with its head chopped off."

अध्याय ७

राज्य का विकास
(Evolution of State)

४६. राज्य का विकासशील स्वरूप

पीछे हम राज्योत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों का विवेचन कर आये हैं और यह देख चुके है कि उनमें से कोई भी एक अपने आप में पूर्ण नहीं । राज्य न ही तो अप्राकृतिक है और न ही किसी निश्चित समय या काल में निर्मित किया गया है । शताब्दियों के विकास के अनन्तर अनेक स्थितियों को पार करता हुआ राज्य अपनी वर्तमान स्थिति में पहुँच सका है । इस विकास-काल में अनेक तत्त्वों ने राज्य-निर्माण में सहयोग दिया । हमारी स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति, रुधिर सम्बन्ध, धर्म तथा राजनीतिक चेतना इनमें विशेष महत्त्व के हैं ।

राज्य एक विकासशील संस्था है, यह बात तो सभी मानते हैं । परन्तु यह कह सकना अत्यन्त कठिन है कि इस विकास का स्वरूप क्या रहा है । न तो राज्य की उत्पत्ति ही एक प्रकार से हुई और न उसका विकास निश्चित क्रमागत रूप से हुआ । प्राकृतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के विभेद के कारण विभिन्न स्थानों पर विभिन्न रूपों में राज्योत्पत्ति हुई । परिणामस्वरूप परिस्थिति तथा काल-भेद के अनुसार राज्य का प्रादुर्भाव विभिन्न रूपों में हुआ । उनके शासकीय और वैधानिक रूप भी देश तथा काल-भेद के अनुसार एक दूसरे के अनुरूप नहीं । ऐसी स्थिति में राज्य विकास का एक निश्चित और क्रमागत रूप निर्धारित कर सकना कठिन है । हमें विकास के इस सम्पूर्ण इतिहास में एक निश्चित रूप-रेखा का अभाव मिलेगा । हम यह नहीं कह सकते कि सभी राज्यों ने राज्य-विकास की एक-सी ही स्थिति पार की है । परन्तु फिर भी साधारण रूप से वर्तमान काल के राष्ट्रीय राज्य (National State) को जिन स्थितियों को पार करना पड़ा और विभिन्न रूपों को ग्रहण करना पड़ा उनका एक निश्चित क्रम हम इस प्रकार रख सकते हैं—

आदिवासी राज्य (The Tribal State) ।
प्राच्य साम्राज्य (The Oriental empire) ।
ग्रीक नगर राज्य (The Greek City State) ।
रोमन विश्व साम्राज्य (The Roman world empire) ।
सामन्त राज्य (The Feudal State) ।
आधुनिक राष्ट्रीय राज्य (The National State) ।

४७. आदिवासी राज्य (The Tribal State)

राज्य का प्रारम्भिक रूप बहुत सरल था, उसमें आज की सी जटिलता नहीं

थी । आकार में ये राज्य बहुत छोटे थे और इनका आधार कबीला या जन (Tribe) था । यह तो नहीं कहा जा सकता कि यह जन-राज्य (Tribal State) केवल एक सरदार (Chief) द्वारा ही शासित होते थे या बहुत से सरदारों द्वारा, परन्तु सरदारों की सलाहकार समितियों (Advisory Council) की अवस्थिति अवश्य थी ।

ये जनराज्य अक्सर खानाबदोश कबीलों के थे, परन्तु स्थायी रूप से एक स्थान पर बसे जन-राज्य (Tribal State) भी मिल जाते हैं । आज भी आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका की पिछड़ी हुई आदिम जातियों में ऐसी राज्य-व्यवस्था मिल जाती है । विश्व के प्रायः सभी राज्य इस स्थिति में से गुजर चुके हैं । इन राज्यों में से कुछ का आधार प्रजातन्त्र और कुछ का आनुवंशिकता था । राज्यों का आन्तरिक संगठन, सामान्य रुधिर सम्बन्ध (Common blood relationship), सामान्य धर्म (Common religion), तथा सामान्य आर्थिक हित (Common economic interests) पर आधारित था, परन्तु आन्तरिक व्यवस्था की रक्षा, युद्ध और सुरक्षा भी इसके संगठन के प्रधान लक्ष्य कहे जा सकते है ।

राजनीतिक शक्ति का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पाया था, पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन धार्मिक आदेश व सामाजिक रीति-नीति से होता था । आज की-सी जटिल शासन व्यवस्था का तो अभी जन्म भी नहीं हो पाया था ।

४८. प्राच्य साम्राज्य (The Oriental Empire)

राज्य की विकसित रूपरेखा का प्रारम्भ कृषि-व्यवस्था के प्रादुर्भाव के साथ होता है, क्योंकि कृषि-व्यवस्था के जन्म के साथ घुमक्कड कबीले एक निश्चित भू-प्रदेश पर बस गये, आबादी बढ़ गई, सम्पत्ति-सचय होने लगा । ऐसी खुशहाली की-हालत में ही सभ्यता और संस्कृति का विकास सम्भव था, और इसी स्थिति में ही राज्य-निर्माण शुरू हुआ ।

मानवीय सभ्यता और संस्कृति के आदिस्रोत प्रकृति के कृपापात्र निम्न-लिखित मुख्य क्षेत्र थे—

(१) भारत में गंगा तथा सिन्ध नदी की उपजाऊ घाटी ।

(२) चीन में ह्वांग-हो तथा यान्तिसी-क्याँग नदियों की घाटियाँ ।

(३) उत्तरी अफ्रीका में नील नदी की घाटी ।

(४) पश्चिमी एशिया में यूफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों की घाटी ।

इन सभी प्रदेशों में राज्य-निर्माण का प्रारम्भ छोटी-छोटी बस्तियों के रूप में हुआ । परन्तु पारस्परिक युद्धों के फलस्वरूप वे सभी धीरे-धीरे विशाल साम्राज्यों में परिवर्तित हो गये ।

भारत में वैदिक युग के आर्य लोग प्रारम्भिक अवस्था में छोटे-छोटे जनराज्य बनाकर रहते थे । इनमें राज्य-शक्ति एक व्यक्ति में केन्द्रित न हो सम्पूर्ण जन में व्याप्त रहती थी, कभी वह उसका वरण, करती तो कभी उसके उत्तराधिकारी की

विधिवत् स्वीकृति देती। परन्तु धीरे-धीरे महत्त्वाकांक्षी राजाओं में साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा बढ़ी, पारस्परिक युद्धों के फलस्वरूप साम्राज्य और सम्राटों का जन्म हुआ। परन्तु प्राचीन भारत के साम्राज्य छोटे-छोटे राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता को सर्वथा समाप्त नहीं कर देते थे, वह तो भेंट लेकर या सैनिक सहायता प्राप्त करा अथवा केवल मात्र अपना आधिपत्य स्वीकार करा सन्तुष्ट हो जाते थे।

सुमेरियन, असीरियन, पर्शियन तथा मिस्र और चीन के साम्राज्यों का विकास भी कुछ इसी रूप में हुआ। इन सब देशों में साम्राज्य-विकास का केन्द्र नगर थे, और इन सभी साम्राज्यों का विकास युद्ध के कारण हुआ। प्रारम्भ में इन साम्राज्यों के जीवन में गति थी, परन्तु शीघ्र ही गतिविहीनता उत्पन्न हो गई। सामाजिक और राजनीतिक जीवन का विकास रुक गया। जाति-भेद उत्पन्न हुआ, दास-प्रथा चल पड़ी और निरंकुश शासन की स्थापना हो गई। यह ठीक है कि इनमें से बहुत से साम्राज्यों में तो प्रारम्भिक धार्मिक कट्टरता समाप्त हो गई थी, परन्तु पुरोहित वर्ग का बोलबाला सर्वत्र रहा।

जहाँ तक राजनीतिक व्यवस्था के विकास का सम्बन्ध है यह साम्राज्य काफी पिछड़े हुए थे। सम्राटों की सत्ता भय पर आधारित थी, सैनिक शक्ति ही उसका मुख्य आधार था। राजाओं का मुख्य कर्त्तव्य अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाना और एतदर्थ कर संग्रह करना था। प्रजा का हाल सदा ही बुरा रहता था, उन्हें न तो वैयक्तिक स्वतन्त्रता ही थी और न राजनीतिक अधिकार ही। राज्य का कोई सर्वमान्य उद्देश्य नहीं था और न ही राज-भक्ति का कोई सामान्य आधार।

यातायात के साधनों के अभाव के कारण इन साम्राज्यों में न स्थायित्व का अभाव था और न ही इनमें शक्ति तथा शासन का केन्द्रीकरण था। साम्राज्यों के दूरस्थ प्रदेश अपने आन्तरिक मामलों में पर्याप्त स्वतन्त्र होते थे और अवसर मिलने पर उनके अधिकारीगण सम्राटों के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतन्त्र राज्य-स्थापना का बराबर प्रयत्न करते रहते थे। कभी-कभी राजसत्ता के कमजोर हो जाने पर दरबार के शक्तिशाली सामन्त राजा को पदच्युत कर स्वयं अपने हाथ में राज्य-सत्ता ले लेते। कभी शासक वंश के कमजोर होने पर बाहर से आक्रमण प्रारम्भ हो जाते थे और राजवंशों का पतन हो जाता था।

वस्तुतः इन राज्यों में वास्तविक एकता (Cohesion) समुचित संगठन और राजनीतिक एकता और स्थायित्व का सर्वथा अभाव था। परन्तु राजनीतिक दृष्टि से इन साम्राज्यों की एक विशेष देन है। ये साम्राज्य मानवीय सभ्यता के प्रारम्भिक क्रीडा-स्थल थे, इन्हीं में प्रारम्भ की कृषिप्रधान संस्कृतियों का विकास हुआ, इन्हीं प्रदेशों में ही आदिवासी संगठन के संकुचित स्थानीय (Local) आधार के स्थान पर विस्तृत राज-सत्ता का प्रथम परिचय मानव ने प्राप्त किया।[1]

1. "These great empires performed valuable service in establishing the beginnings of culture, in breaking down the narrow local basis of the tribal organisation, and in familiarising mankind with wide-spread authority."—*Gettell.*

४६. ग्रीक नगर-राज्य (The Greek City State)

राज्य विकास की दूसरी स्थिति ग्रीक नगर-राज्य है। यूरोप में जाकर बसे आर्यों ने एजीअन (Aegean) तथा भूमध्य सागर के तटों पर छोटे-छोटे नगर-राज्यों की स्थापना की जिन द्वारा राजनीतिक सत्ता का एक नवीन और युग-विधायक रूप हमारे सम्मुख आया।

इन प्रदेशों की भौगोलिक स्थिति एशियायी साम्राज्यों से पर्याप्त भिन्न थी। यूनान, जहाँ कि नगर-राज्यों के विभिन्न रूपों का विकास हुआ, पर्वतों और समुद्र के कारण अनेक घाटियों और द्वीपों में बँटा हुआ है। जलवायु समसीतोष्ण है, उपज विविध और बहुरंगी है। समुद्र के कारण एशियायी आक्रमण से पूर्ण सुरक्षा थी, साथ ही समुद्र ने इन नगर-राज्यों के व्यापारिक मार्गों को खोल दिया। देश के अन्तर्गत न तो बड़े-बड़े पहाड़ थे, न ही बडी-बड़ी नदियाँ थी। अन्य प्राकृतिक बाधाओं की भी अनुपस्थिति थी। इस रूप में बहुमुखी सभ्यता का विकास बड़ी सुविधा से इन प्रदेशों में हो सका। पशुपालक खानाबदोशों तथा कृषक जातियों दोनों की ही खूबियाँ सामुद्रिक यूनानी लोगों में मिल जाती थी उनमें इसी कारण गतिशीलता थी। धर्म के प्रति भी उनका दृष्टिकोण सकुचित और परम्परावादी नही था, उनका धर्म प्राकृतिक था; जीवन का दृष्टिकोण भी ऐसा ही था। देवताओं से उन्हे विशेष भय नहीं था।

पितृ-सत्ताक कबीलों ने मिलकर पहाड़ की तलहटियों में गाँव बसाए और सुरक्षा के लिए रक्त-सम्बन्धों की एकता या वंशगत एकता को छोड़ प्रादेशिक प्रेम (Local patriotism) को जन्म दिया। यही भावना यूनानी नगर राज्यों की प्रारम्भिक शक्ति का मुख्य कारण थी।

इस अवस्था में यूनान के विभिन्न नगर राज्यों में विविध राजनीतिक संगठनों का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ में कुलीनतन्त्र (Aristocracy), कुछ में राजतन्त्र तो कुछ में प्रजातन्त्र (Democracy) का प्रचलन था। केवल स्पार्टा ही अपने राज्य संगठन में अपरिवर्तनशील और रूढ़िवादी रहा। एथेन्स में प्रजातन्त्र का प्रचलन था और यहीं प्लेटो और अरस्तू ने सर्वप्रथम राजनीतिक मसलों पर गम्भीर विचार किया।

प्राचीन ग्रीक राजनीतिक विचारकों ने राज्य और समाज में कभी कोई अन्तर नहीं किया। उन्होंने मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को राज्य के अन्तर्गत ही समाविष्ट किया है और उसे मनुष्य की संस्कृति, सभ्यता, विचार और दर्शन, कला और साहित्य सभी के विकास का परमावश्यक साधन माना है। यूनानी विचारकों ने वैयक्तिक जीवन की उच्चता तथा पूर्णता राज्य के अन्तर्गत मानी है, उससे बाहर नही। व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध अटूट समझे जाते थे। नागरिकों में राज्य के प्रति पर्याप्त श्रद्धा होती थी, वह राजनीतिक जीवन में भाग लेना अपने जीवन का परम उद्देश्य मानता था।

परन्तु प्राचीन नगर-राज्य में अनेक दुर्गुण भी थे। उनका आधार कोई विशेष प्रगतिशील और स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था नहीं थी। दास-प्रथा ही उनकी राज-

नीतिक व्यवस्था का मुख्य आधार थी, इसी कारण पारस्परिक द्वेष और अविश्वास की भावना विद्यमान रहती थी। प्रजातन्त्र के अन्तर्गत दलबन्दी के कारण जन-जीवन में अनेक बुराइयाँ घर कर गई थीं। दूसरी बड़ी त्रुटि स्थानीय देश-भक्ति थी, इसी भावना का ही परिणाम था कि नगर-राज्य अपने आपको एक महान् राष्ट्र के रूप में संगठित न कर सके। उनका दृष्टिकोण प्रायः अत्यन्त संकुचित था, वह नगर-राज्यों से ऊपर उठ एक महान् राष्ट्र की कल्पना न कर सके। युद्धों के कारण उनकी आन्तरिक शक्ति सर्वथा क्षीण हो गई और जब **मेसीडोन** (Macedon) के **फिलिप** और उसके पुत्र सिकन्दर (Alexander), और तत्पश्चात् रोमन लोगों के आक्रमण हुए तो ये उनके सामने न टिक सके। इन आक्रामकों ने ग्रीक नगर-राज्यों का एकीकरण (Unification) तो अवश्य कर दिया परन्तु यूनान की प्राचीन शासन-प्रणालियों और विचार-पद्धतियों का विलोप हो गया।

यूरोपीय इतिहास के उषःकाल में विकसित इन राज्यों का मानवीय इतिहास में एक विशेष महत्त्व है। इन्हीं राज्यों में ही सर्वप्रथम राज्य के नैतिक आधार, वैयक्तिक स्वतन्त्रता और स्वायत्त शासन के बहुमूल्य सिद्धान्तों की रचना की गई।

ग्रीस के नगर-राज्यों मे राज्य-विकास राजतन्त्र (Monarchy) से कुलीन-तन्त्र (Aristocracy), कुलीन तन्त्र से अत्याचारी शासन (Tyranny) और आखिर में अत्याचारी शासन से प्रजातन्त्र (Democracy) के रूप मे हुआ।

भारतीय गणराज्य—प्राचीन यूनान की तरह प्राचीन भारत में भी छोटे नगरों में या गाँवों के समूहों में गणराज्य की अवस्थिति का वर्णन मिल जाता है। इन गणराज्यों के दो प्रकार थे। एक तो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct democracy) के सिद्धान्तों पर आधारित थे। इनमें सम्पूर्ण नागरिक एक सभा में एकत्रित हो अपने राज्य के संचालन के लिए राजकीय कर्मचारियों का निर्वाचन करते।

दूसरे प्रकार के गणतन्त्रों में परिवारों के मुखिया मिलकर राज्य-कार्य का संचालन करते थे। कहीं-कहीं राजाओं का चुनाव भी होता था और उनको परामर्श देने के लिए जनता द्वारा निर्वाचित या सैनिक सामन्तों से युक्त सभा-समितियों की व्यवस्था रहती थी।

परन्तु प्राचीन भारत में इन राज्यों के आधार पर व्यक्तिवादी तथा प्रजा-तान्त्रिक विचारधाराओं का विकास न हो सका।

५०. रोम का विश्व-साम्राज्य (The Roman world Empire)

ऊपर हम बतला चुके हैं कि किस प्रकार ग्रीक नगर-राज्यों के पतन के अनन्तर सिकन्दर ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इस विशाल साम्राज्य में उसने पूर्वी ढंग पर निरंकुश शासनतन्त्र का विकास किया, परन्तु उसकी मृत्यु के कुछ काल बाद ही उस द्वारा स्थापित सम्पूर्ण साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

राज्य-विकास का केन्द्र ग्रीस से हटकर रोम पहुँच गया। रोम यूनान के पश्चिम में टाइबर नदी के तट पर स्थित एक नगर-राज्य था। यूनान या भारत में

विकसित होने वाले नगर-राज्यों की तरह ही इसका विकास हुआ । उसकी आबादी अनेक कबीले के लोगों को मिलाकर बनी थी।

यूनान के विपरीत रोम के आर्थिक जीवन का आधार कृषि था। परन्तु रोम टाइबर नदी के मुहाने पर स्थित जहाजरानी का एक मुख्य केन्द्र था, प्रारम्भ में यह एक साधारण नगर-राज्य के रूप में विकसित हुआ परन्तु धीरे-धीरे इसने आस-पास के नगर-राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया।

रोम का प्रारम्भिक राजनीतिक विकास राजतन्त्र के रूप में हुआ । राजतन्त्र का आधार पितृसत्तात्मक परिवार थे। जैसा कि पितृसत्तात्मक **परिवार का मुखिया** धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक इत्यादि सभी प्रकार की शक्तियों का केन्द्र होता था ठीक वैसे ही रोमन राजा भी प्रारम्भ में धार्मिक और राजनीतिक सभी प्रकार की शक्तियों का उपयोग करता था। वह न केवल शासक ही था अपितु वह न्यायाधीश और पुरोहित भी था।

राजा की मृत्यु के अनन्तर सम्पूर्ण राजकीय शक्ति वृद्धों की एक परिषद् (Council of elders) में सन्निहित हो जाती थी । यही परिषद् प्रजा की स्वीकृति ले राजा का चुनाव करती । राजा के अधिकार अपरिमित थे, केवल दो परम्परागत पाबन्दियाँ थीं। एक तो राजा से यह आशा की जाती थी कि वह सदा नगर के वृद्धों की परिषद् (Council of elders) की सलाह से काम करेगा, दूसरा किसी भी व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड देने पर वह अपने फैसले की स्वीकृति जनता से करवायेगा। राजकीय शक्ति पर जो भी नियन्त्रण था वह केवल कुलीनों (Patrician) के हाथ में था । साधारण जनता (Plebeians) को राज्य-शक्ति के नियन्त्रण में कोई अधिकार नहीं था । राजतन्त्र के समाप्त होने से कुछ काल पूर्व अवश्य राजाओं को विवश हो कुछ अधिकार साधारण प्रजा को भी सौंपने पड़े।

रोम में राजतन्त्र का अन्त ईसा से ५०० वर्ष पूर्व हुआ, तत्पश्चात् राजतन्त्र का स्थान जनतन्त्र ने लिया। राजकीय और सैनिक शक्ति का केन्द्रीयकरण दो शासनाधिकारियों में हो गया । ये शासनाधिकारी प्रारम्भ में मजिस्ट्रेट (Magistrate) कहलाते थे। बाद में यही 'कान्सल' (Consul) कहलाने लगे। इनका निर्वाचन प्रतिवर्ष किया जाता था।

ऊपर जैसा कि हम लिख आये हैं रोम की जनता दो वर्गों में बँटी हुई थी। एक वर्ग तो कुलीन (Patrician) कहलाता था और दूसरे साधारण जन (Plebeians)। इन दोनों में वैवाहिक और सामाजिक सम्बन्ध भी नहीं थे। राजनीतिक शक्ति कुलीनों के हाथ में केन्द्रित थी । परिणामस्वरूप साधारण जनता में बहुत असन्तोष फैला हुआ था, वे निरन्तर अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए कुलीनों के विरुद्ध संघर्ष करते आ रहे थे। एक बार तो उन्होंने रोम छोड़ अन्यत्र जा बसने का निश्चय ही कर लिया था, परन्तु कुलीनों के आश्वासन देने पर उन्होंने इस निश्चय का परित्याग कर दिया। अन्ततः कुलीनों को उनके सम्मुख झुकना पड़ा और उन्हें बहुत से अपने विशेषाधिकार छोड़ने पड़े । धीरे-धीरे साधारण जनता भी शासना-

धिकार में बराबर ही हिस्सेदार हो गई । फिर तो यह आवश्यक ही हो गया कि राज्य के दो शासनाधिकारियों में से एक साधारण जनता का प्रतिनिधि हो ।

रोमन गणतन्त्र के राजनीतिक विधान के तीन मुख्य आधार इस प्रकार थे—

(१) विभाजित राजसत्ता;

(२) राज्याधिकारियों की निश्चित पदावधि (Short Centre of Officers); और

(३) जनता द्वारा महत्त्वपूर्ण मसलों का फैसला ।

इसी समय रोमन लोगों ने साम्राज्य विस्तार के प्रयत्न किये । प्रथम तो इटली में ही स्थित छोटे-छोटे राज्यों को जीतकर रोम में मिला लिया गया, तत्पश्चात् इसने पश्चिम में स्थित अपने शक्तिशाली प्रतिद्वंदी राज्य कार्थेज (Carthage) को नष्ट किया । इसके पश्चात् रोम का मार्ग सफा हो गया । वह जल और स्थल दोनों ही दृष्टियों से एक शक्तिशाली राज्य बन गया । फिर रोम की दृष्टि यूनान पर गई जहाँ कि सिकन्दर द्वारा स्थापित साम्राज्य के अनेक भाग अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे । बिना किसी विशेष कठिनाई के सिकन्दर के यूनानी साम्राज्य के सम्पूर्ण प्रमुख भाग रोम के कब्जे में गये । धीरे-धीरे रोम का विशाल साम्राज्य एशिया माइनर से प्रारम्भ हो पश्चिम में अतलान्तिक महासागर तक और उत्तर में आल्पस की पर्वत-श्रेणियों से लेकर दक्षिण में मिश्र तथा मोरक्को तक फैल गया । इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, स्पेन, आस्ट्रिया, बल्कान राष्ट्र और भूमध्य सागर के सभी देश विशाल रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत ही आते थे ।

यह विशाल रोमन साम्राज्य रोम के गणतन्त्र राज्य के अधीन था । लोग साम्राज्य स्थापना के अनन्तर भी अपने राज्याधिकारियों का चुनाव उसी प्रकार करते जैसा कि वह पहले करते आए थे । परन्तु अब स्थिति में कुछ परिवर्तन हो गया था । प्रथम तो रोम के बहुत से नागरिक सेना में भरती होकर साम्राज्य के विभिन्न भागों में रहने लगे थे, वे रोम के निर्वाचनों में भाग नही ले सकते थे । दूसरा रोम के राजनीतिक जीवन में अनेक बुराइयाँ घुस गई थीं । विदेश से लोटकर आये सैनिकों के पास बहुत सम्पत्ति होती थी, वे चुनाव लड़ते और पानी की तरह पैसा बहाते । फलतः नागरिक लोग धन के लालच से अपने वोट बेच डालते । राज्य-शक्ति धीरे-धीरे कुछ एक लोगों के हाथ में केन्द्रित होनी शुरू हो गई ।

साम्राज्य-विस्तार के फलस्वरूप रोम के स्थानीय समाज के संगठन में धीरे-धीरे अन्तर आगया । गणतन्त्रात्मक विधान का स्थान अधिनायकतन्त्र ने ले लिया । साम्राज्य के सफल शासन के लिए प्रभावपूर्ण केन्द्रीय शासन-व्यवस्था का जन्म अनिवार्य था । निरंकुश सैनिक राज्य की स्थापना हो गई । लोकतन्त्र के आधार पर आधारित राज्य परिषदों के अधिकार निकलकर सम्राट के हाथ में आ गये, और वे सर्वथा शक्तिहीन हो गईं ।

साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों के समुचित शासन के लिए उन्हें विभिन्न सूबों

में बाँट दिया गया और इन सूबो का शासन रोम द्वारा नियुक्त शासकों (Pro-Consuls) द्वारा होता था। ये सूबे अपने आन्तरिक मामलों के नियन्त्रण और नियमन में पर्याप्त स्वतन्त्र होते थे। परन्तु इनके शासकों को सदा अभियोग (Impeachment) लगाए जाने का भय रहता था।

रोम के नागरिकों के पास किसी ऐसी शक्ति का अभाव था कि जिस के द्वारा वे अपने अधिकारो की रक्षा कर सकते। वास्तविक शक्ति सैनिक अधिकारियों के पास थी और अन्त में एक महात्त्वाकांक्षी जूलियस सीजर नामक सैनिक वहाँ का अधिनायक बन बैठा, और उसी ने रोम की परम्परागत प्रजातन्त्र प्रणाली को भी समाप्त कर डाला। यह सिद्धान्त विलुप्त हो गया कि सम्राट प्रजा का प्रतिनिधि है और उसके अधिकार प्रजाप्रदत्त है। इसके विपरीत सम्राट की नई स्थापित की गई सत्ता के धार्मिक अनुमोदन के लिए राज्योत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त (Divine origin theory) का विकास हुआ। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मान उसकी पूजा का विधान भी किया जाने लगा।

इस साम्राज्यवादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप प्राचीन व्यक्तिवादी और प्रजातन्त्रीय मर्यादाएँ नष्ट हो गई। यूनान के वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा जनतन्त्र के सिद्धान्तों का गला घोट दिया गया। उनका स्थान एकता और प्रभुता ने ले लिया। स्थानीय स्वशासन के स्थान पर सब प्रकार की केन्द्रीय शासन-व्यवस्था का विकास हुआ।

रोमन साम्राज्य की सबसे बड़ी राजनीतिक देन सुव्यवस्थित सुशासित शासन-प्रणाली का निर्माण है। यूरोप के एक बहुत बड़े भाग पर लगातार १,५०० वर्ष तक रोम ने शासन किया और शान्ति और व्यवस्था कायम रख एक नई मानवीय संस्कृति का विकास किया। बाद के बहुत से धार्मिक तथा राजनीतिक संगठनों को रोमन साम्राज्य के संगठनों के आधार पर संगठित करने के अनेक प्रयत्न किये गये।

इसमें सन्देह नही कि रोमन लोग ग्रीक लोगो की तरह रचनात्मक प्रतिभासम्पन्न नहीं थे। साहित्य, कला और संगीत के क्षेत्र में उनकी देन नगण्य है। परन्तु राजनीतिक विधान और व्यवस्था के वे निस्सन्देह जनक कहे जा सकते है। राज्य के विधान उपनिवेशों की शासन-व्यवस्था तथा नगरपालिकाओं की शासन-व्यवस्था के संगठन इत्यादि में आज भी रोमन आदर्श अनुकरणीय समझे जाते है। फिर भी हमें यह बात मानने से कोई इनकार नही कि रोमन लोग स्थायी मूल्यवान राजनीतिक दर्शन के सिद्धान्तों की सृष्टि न कर सके।

रोम के लोगों ने ही प्रभु-सत्ता (Sovereignty) नागरिकता के सिद्धान्त और अनेक जातियो के शासन के लिए शासन-व्यवस्थाओं की रचना की। राष्ट्रीय विधान या कानून विषयक उनकी देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

रोम के पतन के अनेक कारण थे। इन में से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार रखे जा सकते हैं—(१) गुलामों की संख्या का आधिक्य, (२) एकता के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विनाश, (३) शासन में लोकप्रिय तत्त्वों का और देश-भक्ति की भावना का अभाव, (४) उच्च वर्गों का नैतिक पतन, (५) साम्राज्य के आर्थिक

आधार की शिथिलता, (६) सम्राटों के उत्तराधिकार नियमों का अभाव, (७) संहारक बीमारियाँ, और (८) बर्बर जातियों के आक्रमण। इस प्रकार यह विशाल साम्राज्य अपनी ही घुन लगी व्यवस्थाओं का शिकार हुआ।

५१. सामन्त राज्य (The Feudal State)

तीसरी सदी में ट्यूटन बर्बरों (Teutonic barlbarians) के प्रबल आघातों के फलस्वरूप रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। रोमन साम्राज्य के पतन के अनन्तर जिस व्यवस्था का जन्म हुआ उसमें किसी भी प्रभुत्व सत्ता (Sovereign power) का अभाव था। छोटे-छोटे सरदारों की भरमार थी और वही भू-स्वामी (Land lords) बन जनता पर शासन करने लगे। रोमन-युग के साम्राज्यवाद के पतन और वर्तमान युग के राष्ट्रीय राज्यों के प्रादुर्भाव के बीच के परिवर्तन काल को सामन्तिक राज्यों का युग कहते हैं।

केन्द्रीय राज्य के पतन के अनन्तर रोम के और साम्राज्य के विविध भागों के सेनापतियों और शक्तिसम्पन्न नेताओं ने विविध प्रदेशों पर अपना अधिकार जमा अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया। यह सरदार या सेनापति अपने प्रदेशों को अपने साथियों तथा सहयोगियों में बाँट दिया करते। यही लोग सामन्त कहलाते थे। ये सामन्त अपने भू-प्रदेश के स्वयं स्वामी होते और अपनी जागीर को काश्तकारों तथा नौकरों में बाँट देते। राजा के साथ या मुख्य सामन्त के साथ इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता था। जब कभी राजा को आवश्यकता होती तो ये कुछ सेना और भेंट लेकर उसकी सेवा में उपस्थित हो जाते। इन्हें कोई निश्चित टैक्स या कर नहीं देना पड़ता था। सामन्त लोग अपनी-अपनी जागीर के शासन के स्वयं जिम्मेवार होते। किसी सर्वमान्य प्रभुसत्ता का सर्वथा अभाव था। 'राज्य' वस्तुतः समाज में विलुप्त हो गया। प्राचीन रोमन साम्राज्य की सामान्य प्रभुसत्ता की कल्पना अब कल्पनामात्र ही रह गई। समाज में एक ऐसी व्यवस्था का जन्म हुआ कि जिसमें सम्राट का या राजा का स्थान स्थानीय भू-स्वामी या जागीरदार ने ले लिया और उसकी शासकीय व्यवस्था का आधार वैयक्तिक भक्ति (Personal loyalty) हो गई।

समाज का आर्थिक और व्यावसायिक (Occupational) नियन्त्रण निगम (Guilds) के हाथ में केन्द्रित हो गया। ये निगम (Guilds) अपने अन्दरूनी मामलों के नियन्त्रण में बहुत सीमा तक स्वतन्त्र होते और कभी-कभी सामन्तों से भी टक्कर ले लेते।

इधर अनेक प्रतापी जागीरदार और सामन्त अपने राजा के या सामन्त मुखिया के प्रति विद्रोही हो अपनी स्वतन्त्र राज्य-स्थापना का प्रयत्न करते, अनेक सामन्त पारस्परिक कलह में लीन रहते, परिणामस्वरूप सामन्त-युग में अक्सर अशान्ति, अव्यवस्था और युद्ध का बोलबाला रहता। यही कारण है कि इस युग को प्रायः अराजकता और अव्यवस्था का युग कहते हैं।

सामन्त-युग की राजनीतिक व्यवस्था का आधार वस्तुतः ट्यूटन जाति की

राजनीतिक संस्थाएँ ही हैं । ट्यूटन लोग ही रोमन साम्राज्य के पतन के अनन्तर यूरोपीय संस्कृति पर काबू पा चुके थे । ट्यूटन लोगों के यहाँ आर्थिक जीवन अभी अपनी अर्द्ध विकसित अवस्था में था, उनकी संस्कृति ग्रामीण और कृषिप्रधान थी, नागरिक और व्यावसायिक सभ्यता का विकास नहीं हो पाया था । व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, स्वायत्त-शासन और वैयक्तिक भक्ति (Personal loyalty) यह इनकी राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था के मुख्य आधार थे । फलतः रोमन साम्राज्य के पतन के अनन्तर उन्होंने रोम के केन्द्रीकरण सम्बन्धी आदर्शों और प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के विपरीत अपनी संस्कृति के आधारभूत व्यक्तिगत भक्ति (Personal loyalty), स्वतन्त्रता और स्थानीय स्वशासन पर अधिक बल दिया । सामन्तीय राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएँ इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित थी ।

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि सामन्त-युग में व्यवस्था और शान्ति का सर्वथा अभाव था । इसमें सन्देह नहीं कि 'राज्य' नाम की संस्था का लगभग विलोप हो चुका था, और सम्राट और 'राजा' भी वास्तविक अर्थ में पुराने शब्द हो चुके थे, फिर भी इन सामन्तीय संस्थाओं ने यूरोपीय जीवन में पर्याप्त समय तक शान्ति और व्यवस्था को बनाए रखा।

रोमन साम्राज्य के पतन के अनन्तर समाज में शान्ति और व्यवस्था को बनाए रखने में रोमन कैथोलिक चर्च (Roman Catholic church) ने भी विशेष सहयोग दिया । रोमन कैथोलिक चर्च में भी रोमन साम्राज्य की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति मौजूद थी । रोम और पश्चिमी यूरोप के एक बड़े भाग में ईसाई धर्म का विस्तार हो गया था; धीरे-धीरे ईसाई धर्म उन प्रदेशों में फैल गया जहाँ रोमन साम्राज्य रह चुका था । रोमन कैथोलिक चर्च के नियन्त्रण का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत था । उसने न केवल धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन का ही नियन्त्रण किया अपितु सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन का भी पर्याप्त सीमा तक नियमन किया । रोम के पोप ने ही शार्लमेगन (Charlemagne) को पवित्र रोमन सम्राट की पदवी प्रदान की थी ।

परन्तु चर्च राजनीतिक संस्थाओं के स्वस्थ विकास में बाधक सिद्ध हुआ । चर्च अधिकारियों की हमेशा यह इच्छा रही कि यूरोप में कोई शक्तिशाली राजनीतिक शक्ति उत्पन्न न हो जो कि चर्च से अधिक समर्थवान हो । चर्च का हित सामन्तीय पद्धति की मौजूदगी में ही था । शक्तिशाली राजनीतिक संस्थाओं के अभाव में रोमन पोप ही सम्पूर्ण ईसाई-जगत् का सम्राट-सा बना हुआ था । लोगों में अन्ध श्रद्धा थी । वह राजनीतिक नेताओं की अपेक्षा धर्म-गुरुओं में अधिक विश्वास करते थे । फल-स्वरूप राज्य के स्थान पर चर्च की प्रभुता स्थापित हो गई ।

१५वीं और १६वीं शताब्दियों में चर्च के प्रभाव में कमी हो गई । इसके अनेक कारण थे । अनेक देशों में राष्ट्रीयता के आधार पर आधारित राज्यों का निर्माण शुरू हुआ, सामन्तीय पद्धति समय के प्रतिकूल हो गई, शक्तिशाली राजनीतिक सत्ताओं का आविर्भाव हुआ । पोप-पद के उम्मीदवारों के पारस्परिक झगड़ों से पोप-शक्ति और

प्रतिष्ठा को विशेष धक्का लगा। इधर व्यावसायिक कुलीन वर्ग (Mercantile and Commercial aristocracy) का आविर्भाव हुआ और अनेक समृद्ध नगरों में प्रजातन्त्र के आधार पर शासन-व्यवस्था का प्रचलन हो गया। पोप की शक्ति को सबसे बड़ा धक्का प्रोटेस्टैण्ट रिफार्मेशन के आन्दोलन से लगा।

५२. राष्ट्रीय राज्य (The National State)

यूरोप में वर्तमान युग का प्रारम्भ सांस्कृतिक पुनरुत्थान (Renaissance) और धार्मिक सुधार के आन्दोलन (Reformation) से माना जाता है। यूरोप के सांस्कृतिक जीवन में इन दो आन्दोलनों का विशेष महत्त्व है। सांस्कृतिक जागरण के फलस्वरूप न केवल कला, साहित्य और संगीत इत्यादि में ही परिवर्तन हुए अपितु दर्शन और चिन्तन के आधारभूत उसूलों में भी अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। प्लेटो और अरस्तू के बाद प्रथम बार मनुष्य ने सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का शुद्ध तार्किक विवेचन प्रारम्भ किया। अनेक सदियों बाद पहली बार मनुष्य की धर्म-बुद्धि का स्थान विवेक-बुद्धि और तर्क ने लिया। अध्ययन-विधियाँ वैज्ञानिक और धर्म-निरपेक्ष हो गईं।

धार्मिक सुधार के आन्दोलन ने भी चर्च की शक्ति पर घातक चोटें की और वर्तमान राष्ट्रीय राज्यों के विकास में परम सहयोग दिया। चर्च-अधिकारी दम्भ, अभिमान और भौतिक वासनाओं के शिकार हो चुके थे। जनता में भी अन्ध परम्परा चल रही थी। धर्म-सुधार के नेता लूथर और कालविन ने स्थान-स्थान पर जनता को पोप की मनमानी के विरुद्ध चेतावनी दी। व्यक्तिगत विवेक और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की महत्ता पर जोर दिया। व्यक्ति और भगवान् के सम्बन्धों में धर्माधिकारियों के हस्तक्षेप को अनावश्यक दम्भ मात्र माना। उन्होंने पोप की अपेक्षा राजा की शक्ति और स्वतन्त्रता का समर्थन किया और जनता को पोप के आदेशों की बजाय राजा के आदेशों को मानने के लिए प्रेरित किया।

इन्हीं दिनों अनेक स्थानों पर व्यावसायिक वर्गों का प्रादुर्भाव हो गया। व्यापारी वर्ग शान्ति और व्यवस्था चाहता था। इसका हित निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना में था, वे सामन्तीय पद्धति के शत्रु थे, फलस्वरूप इन्होंने पोप और सामन्तों के विरुद्ध सर्वत्र ही धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना में सहयोग दिया।

एक ही प्रदेश में अनेक सदियों तक एक साथ रहने के और एक धर्म और रीति-नीति के पालन के फलस्वरूप अनेक देशों की जनता में सामान्य धर्म विश्वास, सामान्य इतिहास, सामान्य भाषा तथा सामान्य सभ्यता और संस्कृति का विकास हो गया। इन प्रदेशों में दूसरे शब्दों में राष्ट्रीय भावनाओं की नीव पड़ गई। अतः इन प्रदेशों में जनता राजा को ही अपनी राष्ट्रीय भावनाओं का प्रतीक समझने लगी। सर्वप्रथम इंग्लैण्ड, फ्रांस और स्पेन में पोप की प्रभुता की उपेक्षा करते हुए स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों की नींव पड़ी। इन्हीं देशों के शासकों ने सर्वप्रथम पोप के अभिमान-पूर्ण आदेशों की अवहेलना और उपेक्षा की। राजाओं ने इन सभी देशों में स्थायी

सेनाओं का संगठन किया और अनेक युद्धों में पराजित सामन्त वर्ग को अपने अधीन कर लिया। अब इनकी सत्ता अपने सामन्तों और सरदारों की सहायता पर अवलम्बित न रही।

चर्च और राज्य के इस मुकाबिले में राज्य की उच्चता को सिद्ध करने के लिए राज्य के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त की स्थापना की गई। धर्म-सुधार के नेताओं ने घोषित किया कि "जो भी राजकीय सत्ता है वह ईश्वर द्वारा नियुक्त है"। राजा को ईश्वर का घटक माना गया। उसके आदेश ईश्वरीय आदेश माने गये। उनका उल्लंघन पाप समझा गया। उसका आज्ञा-पालन एक धार्मिक कर्त्तव्य माना गया। इन धार्मिक आधारों पर सम्राट के असीम अधिकारों का समर्थन किया गया। रूस, जर्मनी इत्यादि देशों में भी इंग्लैण्ड तथा फ्रांस की भाँति निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना हो गई।

परन्तु राजाओं की निरंकुश सत्ता बहुत दिन तक टिक न सकी। राजनीतिक विचारों में परिवर्तन हुए, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ बदलीं और राज्य के दैवीय आधार के स्थान पर मानवीय आधार माने गये। वैज्ञानिक चिन्तन और औद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप जनता में जागृति उत्पन्न हुई और वह राजाओं और कुलीनों के विशेषाधिकारों (Privileges) के त्याग और अपने अधिकारों की माँग करने लगी। औद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप नागरिक सभ्यता का विकास हुआ, अनेक नये औद्योगिक केन्द्रों की स्थापना हुई, राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के नवीन आधार सामने आये और मजदूरों का एक विशाल वर्ग प्रत्येक देश में तैयार हो गया। कुलीनों की महत्ता घट गई। हॉब्स, लॉक तथा रूसो इत्यादि विचारकों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से व्यक्तिवाद और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का समर्थन किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया कि राजकीय शक्ति का आधार व्यक्ति है, राज्य कानून उसकी स्वीकृति पर आधारित है। राजा अपनी शक्तियों का प्रयोग प्रजा की सहमति से कर सकता है। इंग्लैण्ड में लॉक ने ग्लोरियस रिवोल्यूशन (Glorious Revolution) के फलस्वरूप स्थापित सीमित अधिकारसम्पन्न राजतन्त्र का समर्थन किया और राजा की शक्ति का मूल स्रोत जन-सहमति माना। रूसो ने जनसम्मत प्रभुता (Popular sovereignty) के सिद्धान्त की स्थापना कर फ्रांस में क्रान्ति के बीज बो दिये।

प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के विपरीत राजाओं के दैवीय अधिकारों (Divine rights of kings) के सिद्धान्त को भी प्रस्तुत किया गया। परन्तु समय और परिस्थितियों के आवेग के सामने यह न टिक सका। प्रजातन्त्र का विकास सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में हुआ, तत्पश्चात् फ्रांस में राज्य-क्रान्ति हुई और सम्राट के निरंकुश शासन को उखाड़ फेंका गया। धीरे-धीरे प्रजातन्त्र और राष्ट्रवाद की यह लहर सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप में फैल गई। सम्राटों को प्रजा के सामने झुकना पड़ा और अपने बहुत से अधिकारों का परित्याग कर अपनी वैधानिक स्थिति से ही सन्तुष्ट रहना पड़ा।

१९वीं तथा २०वीं शताब्दी में यूरोप में सर्वत्र धर्म-निरपेक्ष राज्यों की स्थापना हो गई। सामन्तीय प्रवृत्तियाँ समाप्त हो गईं, प्रजातन्त्र के विभिन्न रूपों का विकास

हुआ। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के अनन्तर पूर्वी तथा पश्चिमी यूरोप में अनेक राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना की गई। विश्व-युद्ध की समाप्ति पर संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन के प्रबल अनुरोध पर 'राष्ट्रीय इकाइयों' के आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार किया गया, और उसी के आधार पर यूरोप के मानचित्र का निर्माण हुआ।

द्वितीय विश्व-युद्ध के अनन्तर तो इस सिद्धान्त का पालन एशिया तथा अफ्रीका के देशों में भी हुआ।

आज के राष्ट्रीय राज्य अपनी रूपरेखा और संगठन में न केवल रोमन-साम्राज्य से ही भिन्न हैं वे प्राचीन काल के गणतन्त्र राज्यों से भी भिन्न हैं। इनमें जनसंख्या प्राचीन काल के सभी साम्राज्यों से अधिक है, प्रजा के राजनीतिक अधिकार भी अधिक हैं। इन राज्यों की सबसे बड़ी विशेषता एकता और स्वतन्त्रता का मेल है। यह ऐक्य वर्तमान युग की राष्ट्रीयता का फल है जिसका आधार भाषा, संस्कृति, कला, साहित्य, इतिहास-परम्परा तथा राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थों की एकता है। ये राज्य सब प्रकार से सुसंगठित और सुव्यवस्थित हैं।

५३. राज्य का भविष्य

सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के विकास में राष्ट्रीय राज्य अन्तिम सीढ़ी नहीं। विकास की सम्भावना सदा बनी रहती है। वस्तुतः यह कहना अधिक सत्य होगा कि विकास अवश्यम्भावी (Inevitable) है। प्राचीन युग के आदी राज्य से वर्तमान राष्ट्रीय राज्य तक पहुँचने में इस संस्था को अनेक पड़ावों को पार करना पड़ा। प्रारम्भ में इसका स्वरूप और संगठन अत्यन्त सरल था, इसके निश्चित कर्त्तव्य थे और कुछ निश्चित अधिकार थे। परन्तु आज का राज्य अपने स्वरूप और संगठन में पर्याप्त जटिल (Complex) हो गया है।

विगत दो-तीन सदियों में राज्य शासन के संगठन और उसके कर्त्तव्यों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। प्रारम्भ में राज्य मुख्य रूप से शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए ही जिम्मेवार था, आर्थिक क्षेत्र में भी राज्य के कर्त्तव्य सीमित थे। परन्तु आज राज्य के कर्त्तव्य-क्षेत्र की सीमा बहुत विस्तृत हो गई है। राज्य का मुख्य कर्त्तव्य वैयक्तिक जीवन की नैतिक तथा भौतिक पूर्णता के लिए प्रयत्न करना है, एतदर्थ आज राज्य नैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक सभी प्रकार के कर्त्तव्यों के पालन में संलग्न है।

राज्य के आन्तरिक स्वरूप और कर्त्तव्य में ही केवल अन्तर हो, यह बात नहीं। राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी पर्याप्त अन्तर पड़ गया है। अरस्तू ने भले ही राज्य और समाज में कोई अन्तर न माना हो और उसे सब प्रकार से पूर्ण मान लिया हो, इसी प्रकार आस्टिन ने चाहे उसको वैधानिक दृष्टि से सर्वोच्च मान लिया हो, फिर भी आज राज्य और समाज में एकत्व नहीं माना जाता और न ही उसे सब प्रकार से पूर्ण और सर्वोच्च कहा जा सकता है।

अपूर्णता और अन्योन्याश्रयता (Inter-dependence) मनुष्य जीवन के प्रधान अंग हैं। हमारे सामाजिक सम्बन्ध इसी अपूर्णता को दूर करने के प्रयत्न मात्र हैं। राज्य मानवीय संस्था है, वह अपने आप में पूर्ण नहीं हो सकती। अतः आज के युग में विभिन्न राज्यों के सम्बन्ध अनिवार्य रूप से शत्रुतापूर्ण ही नहीं हो सकते उनमें मित्रता और सहयोग अनिवार्य है।

विगत युगों की असाधारण ज्ञान-विज्ञान की उन्नति ने यह काम और भी सरल कर दिया है। एक जमाना था जब कि एक जगह से दूसरी जगह जाना आसान नहीं था, अनेक बाधाएँ थी, इसलिए समाज और राज्य स्वयंपूर्ण बनने का प्रयत्न कर सकते थे। परन्तु आज तो यातायात के साधनों (Means of communication) ने हमें एक दूसरे के बहुत निकट ला दिया है। हमारी सभ्यता का स्वरूप भी कुछ ऐसा ही हो गया है कि प्रत्येक देश को एक-दूसरे पर किसी न किसी चीज के लिए आश्रित रहना पड़ता है। आज के राज्यों का एक-दूसरे से पृथक् रह सकना असम्भव है।

वस्तुतः आज की हमारी सभ्यता और संस्कृति की जीवन-रक्षा तभी सभव है जब कि हम एक-दूसरे पर विश्वास करें और एक दूसरे से सहयोग करें। एटम बम जैसे शस्त्रों के आविष्कार के अनन्तर किसी राज्य के साम्राज्य स्थापना के स्वप्न या युद्ध में जीतने के स्वप्न केवल मात्र स्वप्न ही हो सकते हैं, और कुछ नहीं। रूस और अमेरिका की शक्ति ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि राज्य की सर्वोच्चता का सिद्धान्त केवल सिद्धान्त ही है, व्यावहारिक जीवन में उसका कोई महत्त्व नही। आज फ्रांस, इटली, जापान, पाकिस्तान, ईरान इत्यादि देश यदि सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न है तो वह केवल सिद्धान्त रूप से ही, व्यावहारिक रूप से नहीं। उनका आन्तरिक और बाह्य जीवन विभिन्न राजनीतिक गुटो द्वारा संचालित होता है। यह हाल केवल इन्हीं राज्यों का ही नही है अपितु अधिकांश राज्य आज इसी स्थिति में है।

अतः भविष्य में राज्य की सीमाएँ बहुत विस्तृत हो जायेंगी और वे स्वायत्त-शासनपूर्ण एक विश्व-राज्य का स्वरूप धारण कर लेंगे। प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर स्थापित राष्ट्रसंघ (The Leauge of Nations) और द्वितीय विश्व-युद्ध के अनन्तर विश्व में शान्ति स्थापना के प्रयत्नों का फल संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations Organisation) राज्य के भावी स्वरूप की ओर संकेत करते हैं। यह ठीक है कि यह संगठन अपने आप में पूर्ण नहीं और इनमें अनेक कमियाँ है, परन्तु हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि विश्व की नैतिक और आर्थिक शक्तियाँ हमें इसी ओर लिये जा रही हैं। वस्तुतः मानवीय संस्कृति और सभ्यता का बचाव अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, सद्भावना और विश्वास पर आश्रित है; सर्वथा स्वतन्त्र राज्य मानव-समाज के आज के सबसे बड़े शत्रु हैं।

Important Questions

	Reference
1. Describe the evolution of the National State (*Pb. 1951 Sept.*)	Art. 52.
2. Trace the evolution of the Nation State from primitive communities. (*Pb. 1950 Sept.*)	
3. Trace the process by which the primitive tribal communities have been developed into modern political communities. (*Pb. 1949*)	Aat. 52.
4. Trace the evolution of the State from the primitive time to the present day. (*Pb. 1947*)	Arts. 47 to 52

अध्याय ८

राज्य-प्रभुत्व
(State Sovereignty)

५४. प्रभुसत्ता की महत्ता

राज्य-प्रभुत्व का सिद्धान्त राजनीति शास्त्र के सर्वप्रमुख सिद्धान्तों में से एक है। परन्तु इस सिद्धान्त के वास्तविक स्वरूप और 'प्रभुत्व' शब्द के वास्तविक अर्थ के विषय में पर्याप्त मतभेद और भ्रम है। इस शब्द के वास्तविक अर्थ और इन सिद्धान्तों के वास्तविक स्वरूप को समझना हमारे लिए आवश्यक है।

हिन्दी का 'प्रभुसत्ता' 'प्रभुत्ता' या 'प्रभुत्व' शब्द अंग्रेजी के सावरेन्टी (Sovereignty) शब्द का अनुवाद हैं। अंग्रेजी का यह शब्द लेटिन भाषा के (Superanus) शब्द से निकला है जिसका अर्थ है 'सर्वोच्च'। प्रत्येक राज्य में किसी ऐसे एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का होना आवश्यक है जो उस राज्य की सीमा के अन्तर्गत रहने वाले सभी मनुष्यों या मनुष्य-समुदायों को आदेश दे सके और आवश्यकता पड़ने पर उन आदेशों के पालन करवाने के लिए बल-प्रयोग कर सके। वह व्यक्ति या व्यक्ति-समूह जो इस प्रकार के आदेश दे सकता है, प्रभुसत्ताधारी है। उसके आदेश कानून कहलाते हैं।

प्रभुसत्ता राज्य का एक विधायक तत्त्व है। इसी के आधार पर राज्य और विभिन्न मानवीय समुदायों में भेद किया जाता है। अक्सर प्रत्येक मानवीय समुदाय का अपना संगठन होता है, अपने नियम होते हैं और अपना प्रदेश भी हो सकता है, परन्तु उनके पास सर्वोच्च सत्ता का अभाव होता है। मानवीय समुदाय के नियम वास्तविक अर्थ में कानून नहीं कहला सकते, क्योंकि उन नियमों का पालन बल-प्रयोग से नहीं हो सकता, दूसरे शब्दो में बल-प्रयोग का अधिकार केवल मात्र प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य को ही है। अतः समुदायों का संगठन, उनका आन्तरिक जीवन, उनकी आकांक्षाएँ, सभी का बहुत बड़ी सीमा तक राज्य द्वारा नियन्त्रण किया जाता है।

५५. प्रभुसत्ता की परिभाषा (Definitions of Sovereignty)

प्रभुसत्ता की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। इन परिभाषाओं में से अनेक अपूर्ण हैं। वह केवल प्रभुसत्ता के एक ही पक्ष पर बल देती हैं, फिर भी इन परिभाषाओं का ज्ञान हमारे लिए आवश्यक है। फ्रेंच विचारक बोदीनो ने सर्वप्रथम प्रभुसत्ता की विवेचना करते हुए उसकी परिभाषा इन शब्दों में की है—

"राज्य को अपने नागरिकों तथा प्रजाजनों पर जो सर्वोच्च शक्ति प्राप्त होती

है और जो कानून द्वारा भी सीमित नहीं की जा सकती, वही प्रभुसत्ता है।"[1]

अन्य विद्वान ग्रोशियस ने प्रभुसत्ता की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"जिसके कार्य किसी दूसरे के अधीन न हों और जिसकी इच्छा का कोई उल्लंघन या अतिक्रमण न कर सके, ऐसे किसी व्यक्ति में निहित सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति प्रभुसत्ता होती है।[2]

पोलक (Pollock) के अनुसार **"प्रभुसत्ता वह शक्ति है जो न तो क्षणिक है और न किसी दूसरे द्वारा दी गई है और न वह किन्हीं ऐसे नियमों के अधीन है जिन्हें वह बदल न सके।"[3]**

बर्गेस के अनुसार **"राज्य के सब व्यक्तियों व व्यक्तियों के समुदायों के ऊपर जो मौलिक, अखण्ड और असीम शक्ति है वही प्रभुसत्ता है।"[4]**

विलोबी (Willoughby) ने **"राज्य की सर्वोच्च इच्छा को प्रभुसत्ता माना है।"[5]**

सुप्रसिद्ध फ्रेंच समाजशास्त्री ड्युग्वी (Duguit) के मतानुसार **"प्रभुसत्ता राज्य के आदेशदायिनी शक्ति है, वह राज्य रूप में संगठित राष्ट्र की इच्छा है। वह राज्य के अन्तर्गत निर्बाध रूप से आदेश देने का अधिकार है।"[6]**

ऊपर दी गई परिभाषाओं द्वारा राज्य की प्रभुसत्ता का स्वरूप ठीक-ठीक रूप से स्पष्ट हो जाता है। यह बात सर्वमान्य है कि राज्य में वह शक्ति है जिसके बल पर वह अपने प्रदेश में स्थित सभी व्यक्तियों और व्यक्ति-समुदायों का नियन्त्रण करता है। प्रो० लास्की ने सर्वथा सत्य कहा है कि **"राज्य अपने प्रदेश में स्थित सभी व्यक्तियों तथा व्यक्ति-समुदायों को आदेश देता है, परन्तु वह इसमें किसी भ द्वारा आदिष्ट नहीं किया जाता।"[7]**

---

1. "Sovereignty is the supreme power of in State over citizens and subjects, unrestrained by law."—*Bodin.*

2. "Sovereignty is the supreme political power vested in him whose acts are not subject to any other and whose will cannot be overridden."—*Grotious.*

3. Sovereignty is the power which is neither temporary nor deligated nor subject to particular rules which it can not alter, no answer able to any other power on earth."—*Pollock.*

4. "Sovereignt in the original, absolute and unlimited power over the individual subjects and over all associations."—*Burgess.*

5. "Sovereignty is the supreme will of the State."—*Willoughby.*

6. "Sovereignty is the commanding power of the State, it is the will of the nation organised in the State, it is the right to give unconditional orders to all individuals in the territory of the State."
—*Duguit.*

7. "The State issus orders to all men and all associations within (its) area, it receives orders from none of them."—*Laski.*

५६. प्रभुसत्ता सिद्धान्त का विकास (Developement of the Theory of Sovereignty)

जिस अर्थ में आज हम प्रभुसत्ता (Sovereignty) शब्द का प्रयोग करते हैं, वह निश्चय ही आधुनिक है। पुराने युग में राज्य की सर्वोच्च सत्ता के विषय में पर्याप्त अस्पष्टता है। फिर भी हमें अरस्तू के राजनीतिक विचारों में यदि प्रभुसत्ता का नहीं तो 'राज्य की सर्वोपरि सत्ता का वर्णन अवश्य मिल जाता है। यह 'सर्वोच्च सत्ता' एक व्यक्ति के हाथ में भी रह सकती है, एक वर्ग के पास भी और अनेक व्यक्तियों के समूह में भी। अरस्तू के बाद स्टोइक (Stoics) दार्शनिकों ने राज्य का अनुबन्ध सिद्धान्त स्वीकार कर राज्य को कानून की रचना माना है। उनकी दृष्टि में **"कानून ही राज्य का रचयिता है, वही सर्वोच्चसत्ता सम्पन्न है।"**[1]

रोमन राजनीति शास्त्रियों ने 'प्रभुसत्ता' के सिद्धान्त की उपेक्षा की है। उनके यहाँ राज्य न हो एक साम्राज्य था। ऐसी अवस्था में प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त के विकास की आवश्यकता ही नही समझी गई। कानून बनाने की क्षमता केवल उन्होंने राजा में ही स्वीकार की है, क्योंकि वह उसे ही जनता का प्रतिनिधि मानते थे। वास्तविक राजसत्ता, उनके दृष्टिकोण के अनुसार जनता में ही रहती है, जनता सामूहिक रूप से राजा को सौंप देती है। अतः वैधानिक दृष्टि से राजा ही प्रभुसत्ता सम्पन्न है।

मध्ययुगीन सामन्तीय समाज-व्यवस्था के फलस्वरूप राज्य की अवस्थिति वास्तविक अर्थ में थी ही नहीं। सर्वोपरि सत्ता के तीन दावेदार थे—चर्च, राज्य और सामन्त वर्ग। सेण्ट आगस्टाइन (St. Augustine) ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'सिटी ऑफ गॉड' (City of God) लिख चर्च की नैतिक उच्चता को साबित किया और यह सिद्ध किया कि राज्य आध्यात्मिक दृष्टि से चर्च से बहुत नीचे है। उसने राज्य को पाप का परिणाम माना है। फलतः बाद में आने वाले सभी ईसाई विचारकों ने राज्य के विपरीत चर्च को ही नैतिक और भौतिक दृष्टि से एक उच्च संस्था स्वीकार किया। मध्ययुगीन यूरोप का सम्पूर्ण इतिहास चर्च और राज्य के संघर्ष का इतिहास है।

यही नहीं राज्य का एक और भी प्रतिद्वन्द्वी था—वह थी सामन्तशाही! सामन्त-व्यवस्था के फलस्वरूप राजकीय सत्ता कभी भी केन्द्रित न हो पाई। राज्य-सत्ता सामन्तों में तथा राजा में बँटी हुई थी, राजा सामन्तों के मामलों में दखल नहीं दे सकते थे।

---

१. स्टोइक दार्शनिकों के और आधुनिक युग के समाजशास्त्री द्युग्वी (Duguit) के विचारों में बहुत साम्य है। द्युग्वी तथा क्रेब दोनों ही कानून की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करते हैं, राज्य की नहीं। राज्य को वह कानून की रचना मात्र मानते हैं। (विशेष अध्ययन के लिए राजकीय विधान विषयक अध्याय को देखें)

ऐसी व्यवस्था में एक ओर तो दैवीय कानूनों का बोलबाला था, जनता को उन्हीं में विश्वास था; दूसरी ओर सामन्तीय व्यवस्था के फलस्वरूप राज्य के प्रति भक्ति (Loyalty) का आधार वैयक्तिक था। राजा की उच्चता केवल नाम मात्र की ही रही।

मध्य युग की समाप्ति के अनन्तर राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। पारस्परिक युद्धों के कारण सामन्तिक सरदारों की राजनीतिक स्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया, युद्ध के नये साधनों के विकास के कारण सैनिक दृष्टि से भी राजा के लिए उनकी विशेष महत्ता न रही। धार्मिक सुधार की लहर के और चर्च अधिकारियों की पारस्परिक कलह के परिणामस्वरूप चर्च भी पर्याप्त शक्ति-हीन हो गया। ऐसी परिस्थितियों में महत्त्वाकांक्षी राजाओं को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिल गया और अनेक देशों में उन्होंने ऐसे राज्य स्थापित कर लिये जो कि सर्वोच्चसत्तासम्पन्न कहे जा सकते थे।

इन राज्यों में सम्पूर्ण राजकीय सत्ता केन्द्रित हो गई। राज्य-सत्ता के इस केन्द्रीकरण का फल ही वर्तमान काल का प्रभुता सिद्धान्त है।

फ्रांस में धार्मिक मतभेद के फलस्वरूप राज्य-सत्ता का अस्तित्व खतरे में पड़ा हुआ था। प्रोटेस्टैण्ट और कैथोलिक लोगों में बहुत अधिक फूट थी, वह राजा को भी धर्म के मामलों में खेंचते थे। ऐसे समय में फ्रांस के राष्ट्र-प्रेमी विधान शास्त्रियों ने राजा की सर्वोपरि सत्ता के सिद्ध करने के लिए प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त की रचना की। **१६वीं सदी में जीन बोदीन** (Gean Bodin) प्रथम फ्रेंच विचारक थे जिन्होंने इस सिद्धान्त का स्पष्ट विवेचन किया। उन्होंने अपनी पुस्तक (Republic) में अपने प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन करते हुए उसकी परिभाषा इस प्रकार की है, "नागरिकों और प्रजाजनों पर ऐसी सर्वोच्च आधार शक्ति जो कानून द्वारा नियन्त्रित न हो।" उन्होंने प्रभुसत्ता को इस प्रकार से उच्च, पूर्ण, असीम, अबाध और अविभाज्य माना है। बोदीन सम्राट् को असीम अधिकार दे सर्वथा निरंकुश बनाने का प्रयत्न करता है।

राजकीय प्रभुसत्ता के **अन्तर्राष्ट्रीय** पक्ष का निर्माण करने का श्रेय डच विचारक **ग्रोशियस** (Grotious) को है। उन्होंने राजकीय प्रभुसत्ता को बाह्य और आन्तरिक दृष्टि से सर्वथा स्वतन्त्र माना है। परन्तु वह उसे अन्यत्र राष्ट्रों के कानून के अधीन भी मान लेता है। ग्रोशियस वस्तुतः मुख्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धित था। उसने राष्ट्रों की समानता के सिद्धान्त का जोरदार समर्थन किया और उन्हें अपने आन्तरिक और बाह्य मामलों मे समान रूप से स्वतन्त्र माना।

ग्रोशियस प्रभुसत्ता का स्रोत जनता को मानता है, परन्तु उसका वास्तविक अधिकारी सरकार को समझता है। उसने प्रभुसत्ता को अविभाज्य और अखण्ड नहीं माना, न ही वह शासक को असीम और अबाध अधिकार देता है।

आधुनिक समय के प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त का आधार **हॉब्स** के एतद्विषयक विचार हैं। वह प्रभुसत्ता को अविभाज्य, पूर्ण, सर्वव्यापी, स्थायी तथा मौलिक और

अविछेद्य मानता है। प्राकृतिक स्थिति से निकलकर मानव ने अपने सम्पूर्ण अधिकार शासक (Sovereign) को सौंप दिये। यह समझौता अपरिवर्तनीय था, अतः एक बार प्रभुसत्ता की रचना के अनन्तर उसका विनाश सम्भव नहीं। हॉब्स के विचारों के आधार पर ही आधुनिक युग में बेन्थम और आस्टिन ने अपने-अपने प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्तों की रचना की।

हॉब्स का समर्थन हमें **रूसो** के विचारों में भी मिलता है। वह भी प्रभुसत्ता को अखण्ड, अविभाज्य और निर्बाध तथा असीम मानता है। परन्तु वह हॉब्स के विपरीत प्रभुसत्ता की अवस्थिति एक व्यक्ति में नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज में मानता है। एक राजनीतिक समाज में प्रभुसत्ता का प्रगटीकरण जनता की सामान्य इच्छा (General will) द्वारा होता है।

लॉक (Locke) का प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त हॉब्स तथा रूसो से भिन्न है। वस्तुतः लॉक के विचारों में असीम शक्ति सम्पन्न प्रभुसत्ता का वर्णन नही मिलता। वह तो 'सर्वोच्च सत्ता' (Supreme power) शब्द का ही प्रयोग करता है।

आधुनिक युग में 'प्रभुसत्ता' के विकास का श्रेय **बेन्थम** और **आस्टिन** को है। आस्टिन ने अपनी पुस्तक 'Lectures on Jurisprudence' में वैधानिक प्रभुसत्ता का विश्लेषण करते हुए यह माना है कि प्रत्येक राज्य में ऐसे निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय का रहना अत्यावश्यक है, जिसके हाथों में वैधानिक दृष्टि से असीम और अखण्ड सत्ता रहे। ऐसे प्रभु के आदेश ही कानून कहलाते है।

आस्टिन ने शारीरिक बल की उच्चता को निर्णायक तत्त्व माना है और प्रभुसत्ता को नैतिक औचित्य या न्याय से ऊपर समझा है। जन-इच्छा का उससे कोई सम्बन्ध नहीं। रूसो की भाँति वह उसे जनसामान्य की नैतिक इच्छा (General will) का परिणाम नहीं समझता।

वैधानिक दृष्टि से आस्टिन की प्रभुसत्ता सम्बन्धी परिभाषा आज भी विधान शास्त्र (Jurisprudence) का मुख्य आधार समझी जाती है। परन्तु इधर बहुसमुदायवादियों (Pluralists) ने आस्टिन की प्रभुसत्ता की धारणा का तीव्र प्रतिवाद किया है और उसे वास्तविक सामाजिक जीवन के तत्त्वों के सर्वथा विपरीत माना है। पुराने राजनीतिक विचारकों ने प्रभुसत्ता को राजा मे निहित माना है। उन्होंने शासन की सत्ता (Governmental authority) और राज्य-सत्ता (State authority) में भेद नहीं किया। यही कारण है कि उनके प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त भ्रामक हैं, परन्तु आस्टिन ने इस अस्पष्टता को दूर कर दिया और प्रभुसत्ता को राज्य-सत्ता का प्रमुख तत्त्व माना।

५७. प्रभुसत्ता के विभिन्न अर्थ (Different Meanings of Sovereignty)

प्रभुसत्ता का सिद्धान्त राजनीति शास्त्र का एक प्रमुख सिद्धान्त है, परन्तु प्रभुसत्ता के वास्तविक अर्थ के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान के लेखकों ने प्रभुसत्ता के दो पक्ष—**आन्तरिक प्रभुता तथा बाह्य प्रभुता**—माने हैं। प्रत्येक राज्य में कोई एक व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय ऐसी सर्वोच्च स्थिति में होता है कि वह **अपनी सीमा में स्थित सभी व्यक्तियों तथा व्यक्ति-समुदायों को आदेश दे सके और उन्हें अपने आदेश मनवाने के लिए बल प्रयोग कर सके।**[1] इस प्रकार आन्तरिक प्रभुत्व से सम्पन्न प्रत्येक राज्य अपने आन्तरिक मामलों में सर्वथा स्वतन्त्र होता है और वह अपने सम्पूर्ण नागरिकों पर और उनके समुदायों पर असीम राज्य-सत्ता का प्रयोग करता है। बाह्य प्रभुता से हमारा मतलब राज्य की युद्ध-घोषणा, शान्ति सम्बन्धी तथा अन्य राज्यों से सम्बन्ध बनाये रखने की शक्ति से है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सभी पाबन्दियाँ राज्य की सहमति से ही लागू की जाती हैं, वह उसकी सर्वोपरि सत्ता पर कानूनी पाबन्दियाँ नहीं और न ही वह उसकी सर्वोपरि सत्ता का किसी प्रकार का खण्डन करती हैं। अतः सभी राज्य पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना और नियमन में पूर्ण स्वतन्त्र हैं।

राज्य की बाह्य प्रभुता (External sovereignty) सम्बन्धी धारणा त्रुटिपूर्ण समझी जाती है। राजनीति-विशेषज्ञों का मत है कि प्रभुसत्ता की धारणा संविधानशास्त्र (Constitutional law) की धारणा है अन्तर्राष्ट्रीय विधान (International law) की नहीं। अतः इस धारणा से राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या नहीं हो सकती। यह धारणा गार्नर के शब्दों में भयानक और अनर्थकारी है। बाह्यप्रभुता के स्थान पर हमें स्वाधीनता (Independence) शब्द का प्रयोग करना चाहिए। बहुत से विचारकों के अनुसार बाह्य नियन्त्रण (External control) से मुक्ति ही बाह्य प्रभुता (External sovereignty) है। आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र राज्य को बाह्य मामलों में भी स्वतन्त्र होना चाहिए, तभी वह राज्य कहला सकता है।

नाम मात्र की प्रभुसत्ता (Nominal sovereignty)—प्रभुता के अनेक प्रयोगों में नाम मात्र की प्रभुता भी एक है। नाम मात्र की प्रभुसत्ता से उन शासकों का बोध होता है जो किसी समय में वास्तविक प्रभुसत्ताधारी शासक थे परन्तु अब नहीं रहे, उदाहरणार्थ इंग्लैण्ड का सम्राट कानूनी रूप से आज भी सम्पूर्ण राजकीय शक्ति का स्रोत समझा जाता है परन्तु वस्तुतः वह केवल नाम मात्र का ही शासक है, इसकी सम्पूर्ण शक्तियों का प्रयोग उसके मन्त्रियों द्वारा किया जाता है। हाँ, एक समय अवश्य रहा है जब कि वह सर्वसत्तासम्पन्न सम्राट था। अब तो वह पुराने रिवाज के मुताबिक ही 'प्रभु' कहलाता है।

राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण के फलस्वरूप इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा स्पेन इत्यादि देशों में निरंकुश राजतन्त्र का विकास हुआ और राजा ही प्रभुसत्ता का स्रोत समझा जाने लगा। परन्तु शीघ्र ही जनता में राजनीतिक चैतन्य का उदय हुआ और प्रजा-

---

1. "It issues orders to all men and all associations within (its) area, it receives order from none of them."—*Laski.*

तन्त्र के विचारों का प्रसार हुआ । जन-सामान्य सम्राटों की असीम शक्ति के प्रति विद्रोही हो गये, वह शासन में स्वयं भागीदार बनने के लिए आन्दोलन करने लगे। प्रारम्भ में राजाओं के दैवीय अधिकारों के सिद्धान्त द्वारा राजाओं के असीम और अबाध प्रभुत्व का समर्थन किया गया । बार-बार यह साबित करने का प्रयत्न किया गया कि राजाओं की प्रभुत्व शक्ति ईश्वरीय देन है और वह सब प्रकार से मानवीय बाधाओं से परे है।

परन्तु सांस्कृतिक पुनर्जागरण के अनन्तर वैज्ञानिक विचारधारा का उदय हुआ, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं का तर्क और बुद्धि के बल पर परीक्षण किया जाने लगा। अन्ततः ऐसे राजनीतिक आन्दोलनों की विजय हुई जिसमें असीम और राजकीय शक्ति की पराजय और जनता की विजय हुई । राजाओं की शक्तियाँ वैधानिक साधनों द्वारा सीमित और निश्चित कर दी गई। वे अपने मन्त्रियों और विधान-सभाओं के आदेशों पर कार्य करने लगे। इस प्रकार नाम मात्र को प्रभुता का जन्म हुआ।

आज तो सम्राटों को सरकार का एक भाग मात्र समझा जाता है, और सरकार प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र है। अतः वह प्रभुत्व का स्रोत नहीं।

वैध (कानूनी) प्रभुत्व (Legal sovereignty)—प्रभुसत्ता के वैधानिक (कानूनी) रूप की व्याख्या विधानशास्त्र (Jurisprudence) के अनुसार की जाती है। यह प्रभुत्व के सम्बन्ध में वकील के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है । इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रभुत्व का आशय उस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह से होता है जिसे वैधानिक रूप से अन्तिम आदेश देने की शक्ति प्राप्त हो । कानूनी प्रभु की शक्ति सदा असीम और अबाध होती है । वह दैवीय विधान, नैतिक सिद्धान्त और जनमत द्वारा सीमित नही की जा सकती। यह शक्ति एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति समूह में निवास करती है, इसके आदेश कानून कहलाते है और न्यायालय उन्हीं का अनुसरण करते हैं, इन आदेशों की अवज्ञा करने वाला व्यक्ति राज्य द्वारा दण्डित किया जाता है।

वैध प्रभुसत्ता का सर्वप्रसिद्ध उदाहरण इंग्लैण्ड की सम्राट सहित पार्लियामेण्ट (संसद) (King in Parliament) है। कानूनी दृष्टि से पार्लियामेण्ट की शक्ति असीम और अबाध है। वह सर्वशक्तिमान (All powerfull) है। डायसी (Dicey) का कथन है कि "**पार्लियामेण्ट इतनी सर्वशक्तिमान है कि कानूनी रूप से एक बच्चे को बालिग घोषित कर सकती है; मृत्यु के बाद भी किसी व्यक्ति को राजद्रोह का अपराधी बना सकती है; वह किसी अवैध बच्चे को वैध करार दे सकती है; अथवा यदि वह उचित समझे तो किसी भी आदमी को अपने ही मामले में न्यायाधीश बना सकती है**"।[1]

---

1. Legally the British Parliament is so omnipotent that "it can adjudge an infant of full age, it may attaint a man of treason after

कानूनी प्रभुता का विस्तृत विवेचन हमें आस्टिन के विचारों में मिलता है।

राजनीतिक प्रभुत्व (Political Sovereignty)—परन्तु कानूनी प्रभुत्व की असीम और अबाध सत्ता की उपस्थिति केवल विधानशास्त्र में ही सम्भव है, वास्तविक जीवन में नहीं। कहीं भी किसी भी राज्य में कोई भी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह निरंकुश शासन नहीं करता और न ही असीम शक्ति का प्रयोग करता है। उसकी इच्छा का स्वरूप निर्धारण अनेक प्रकार के प्रभावों से होता है। आज के प्रजातन्त्रवादी राज्यों में सर्वोच्चसत्तासम्पन्न विधानपालिकाएँ भी जन-सामान्य की इच्छा की उपेक्षा नहीं कर सकतीं। अतः आज वैधानिक प्रभु से भी महत्त्वपूर्ण एक अन्य प्रभु है—जिसे राजनीतिक प्रभु कहते हैं। डायसी (Dicey) ने भी कहा है कि **"जिस प्रभु को वकील लोग स्वीकार करते हैं, उसके पीछे एक दूसरा प्रभु रहता है, जिसके सामने वैधानिक प्रभु को सिर झुकाना पड़ता है।"**[1] इसको इन्होंने राजनीतिक प्रभुत्व माना है। यह प्रभुत्व जनमत द्वारा या किसी अन्य प्रकार से भी अभिव्यक्ति ग्रहण करता है। प्रो० गिलक्राइस्ट ने **इसे राज्य की उन प्रभावशाली शक्तियों का समूह माना है जो कानून की निर्माता हैं।**[2]

परन्तु राजनीतिक प्रभुत्व की एक निश्चित परिभाषा कर सकना असम्भव है। वह अनिश्चित और भ्रामक है। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रवादी राज्यों में राजनीतिक और कानूनी प्रभुता में कोई अन्तर नही होता, परन्तु अप्रत्यक्ष (Indirect) प्रजातन्त्र में राजनीतिक और वैधानिक प्रभुता एकरूप नहीं होती, इस कारण कानूनी पण्डित इसकी अवस्थिति को स्वीकार ही नहीं करते। प्रभुत्व का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण "निश्चित और संगठित होना" है। राजनीतिक प्रभुता को कुछ विद्वान राज्य की सम्पूर्ण आबादी, कुछ जनमत तथा निर्वाचकों के साथ एकरूप मानते हैं। परन्तु विश्लेषण करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि कानून की दृष्टि से इनकी कोई अवस्थिति नहीं। किसी भी देश की जनता सम्पूर्ण रूप से राज्य-शासन में भागीदार नहीं होती, न ही सभी को मताधिकार होता है और न ही वह अन्य किसी प्रकार से प्रभुसत्ता के निश्चय को प्रभावित कर सकते हैं। जनसामान्य में संगठन का भी अभाव होता है।

राजनीतिक प्रभुत्व को निर्वाचकों या मतदाताओं में अवस्थित भी माना जाता है। ग्रेट ब्रिटेन की पार्लियामेण्ट जनता की प्रतिनिधि संस्था है। उसका समय-समय पर चुनाव होता रहता है। ऐसी अवस्था में उसके लिए अपने निर्वाचकों के मत की उपेक्षा करना कठिन है। साधारण रूप से आज सभी जगह जहाँ प्रजातन्त्र का प्रचलन

---

death, it may legitimise and illegitimate child, or, if it sees fit, make a man a judge in his own case".—*Dicey.*

1. "Behind the sovereign which the lawyer recognises. there is another sovereign to whoms the legal sovereign must bow".—*Dicey.*

2. "Political sovereign is the sum total of influenes in a State which lie behind the law".—*Gillchrist.*

है, विधानपालिकाएँ (Legislative bodies) असीम और अबाध शक्ति का उपयोग नहीं कर सकतीं। उनके असली स्वामी मतदाता हैं। परन्तु मतदाताओं का न तो कोई संगठन होता है और न ही उनका अपना कोई निश्चित मत। उनकी धारणाएँ प्रचार के अनेक साधनों—प्रैस, प्लेटफार्म और राजनीतिक दल इत्यादि से प्रभावित होती हैं। ऐसी हालत में वास्तविक प्रभुत्व जनता में न होकर जनमत को प्रभावित करने वाले इन साधनों में ही अवस्थित होगा। इस प्रकार विविध प्रभावों के वश में होने के कारण निर्वाचकमण्डल प्रभु नहीं कहला सकता।

निर्वाचकमण्डल की तरह जनमत (Public opinion) भी अनिश्चित और भ्रामक है। जनमत क्या है? इस प्रश्न का निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। फिर, जनमत के स्वरूप-निर्धारण में भी बहुत से साधन प्रयुक्त किये जाते हैं। अन्तिम रूप में इन्हीं प्रभावपूर्ण साधनों को ही जो कि वस्तुतः अनिश्चित, विविध और भ्रमपूर्ण हैं—सर्वोच्चसत्ता सम्पन्न कहना पड़ेगा।

कानूनन, जनमत या निर्वाचकमण्डल की इच्छाओं की तब तक कोई कीमत नहीं जब तक कि उनकी अभिव्यक्ति वैध साधनों द्वारा नहीं होती। राजनीतिक प्रभु और वैध प्रभु (Legal sovereign) में संघर्ष होने पर वैध प्रभु की सत्ता ही मान्य होगी। राजनीतिक प्रभु के आदेशों की उचितता और न्याय्यता के बावजूद भी वकील और न्यायालय केवल कानूनी प्रभु की अवस्थिति और उसके आदेशों को ही स्वीकार करते हैं।

यही कारण है कि बहुत से राजनीतिक विचारक राजनीतिक प्रभुसत्ता की अवस्थिति को ही स्वीकार नहीं करते। गेटल के मतानुसार "**कानूनी प्रभुसत्ता के पीछे किसी राजनीतिक प्रभुसत्ता की खोज का प्रयत्न प्रभुसत्ता की सम्पूर्ण धारणा को ही नष्ट कर देता है और वह अपने ऊपर पड़ने वाले प्रभावों की एक सूची मात्र रह जाता है।**"[1]

वैध तथा राजनीतिक प्रभुत्व का सम्बन्ध—राजनीतिक प्रभुत्व की धारणा की इस आलोचना के बावजूद भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रत्येक राज्य में वैध प्रभु की इच्छा के निर्माता अनेक ऐसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव के काम करते हैं, जिन्हें चाहे एक वकील स्वीकार न करे परन्तु जिनकी उपस्थिति और शक्ति/सत्ता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि वैध प्रभुत्व और राजनीतिक प्रभुत्व में क्या सम्बन्ध है? प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की प्रणाली द्वारा शासित राज्य में वैध प्रभु और राजनीतिक प्रभु में कोई अन्तर नहीं होता। अप्रत्यक्ष (Indirect) प्रजातन्त्र में जन-प्रतिनिधि विधान-निर्माता होते हैं। ऐसी अवस्था में जन-प्रतिनिधियों से निर्मित विधानपालिकाएँ तो वैध प्रभु कहलाएँगी और जनता या निर्वाचकमण्डल राजनीतिक प्रभु।

---

1. "Any attempt.....to find a 'political sovereign' at the back of the legal–sovereign destroys the value of the entire concept and reduces sovereignty to a mere catalogue of influences."—*Gettell.*

लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्थाओं के फलस्वरूप कोई भी प्रतिनिधि सभा जनमत की अवहेलना नहीं कर सकती । यदि विधानपालिका और जनमत में पारस्परिक कलह हो तो राजनीतिक विद्वेष या विद्रोह का भय रहता है । जनता-जनार्दन की शक्ति उसके संगठन और प्रभाव की अवहेलना कर वैध-प्रभु जीवित रहने की कामना नहीं कर सकता । किसी भी राज्य के व्यवस्थापूर्ण शासन के लिए दोनों में पारस्परिक सहयोग की अवस्थिति अनिवार्य है । प्रोफेसर रिची (Ritchie) ने ठीक ही कहा कि **"श्रेष्ठ शासन की समस्या अधिकांश में वैध प्रभु तथा राजनीतिक प्रभु के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या है ।"** बहुत से राजनीतिक विचारकों का तो यह कथन है कि वैध प्रभु और राजनीतिक प्रभु में कोई यथार्थ अन्तर नहीं । वह तो वस्तुतः एक ही वस्तु के दो पहलू हैं । असंगठित अवस्था में जनमत राजनीतिक प्रभु की स्थिति में है; संगठित रूप धारण कर वही कानूनी प्रभु बन जाता है । ऐसी अवस्था में प्रभुसत्ता का विभाजन नहीं हो पाता । राजनीतिक प्रभु के पारस्परिक सम्बन्धों को और भी अधिक स्पष्टता से समझने के लिए हम ब्रिटिश पार्लियामेण्ट का उदाहरण ले सकते हैं । ब्रिटेन में सम्पूर्ण वैधानिक शक्तियाँ उसी संस्था में निहित हैं । कानूनी दृष्टि से इसकी शक्तियों पर कोई भी प्रतिबन्ध नहीं । फिर भी यह संस्था कोई भी ऐसा नियम नहीं बनाएगी जो कि जनमत के विरुद्ध हो । इसी प्रकार इसके सम्पूर्ण आदेशों को इस संस्था को वैधानिक रूप देना पड़ेगा । जनता द्वारा ही निर्वाचित होकर यह संस्था भला जनता के आदेशों के विपरीत कैसे जा सकती है ? इस अवस्था में पार्लियामेण्ट की बजाय निर्वाचकमण्डल को ही राज्य की सर्वोपरि सत्ता माना जा सकता है ।

लोकसम्मत प्रभुत्व (Popular sovereignty)—लोकसम्मत प्रभुत्व का सिद्धान्त १६वीं तथा १७वीं शताब्दियों में विकसित हुआ । इस समय यूरोप के प्रायः सभी राज्यों में निरंकुश राजतन्त्रों का बोलबाला था । जनता का शोषण होता था, प्रत्येक प्रकार से पिछड़ी हुई होने के कारण वह पददलित और पराजित-सी थी । परन्तु इन्हीं दिनों स्वेच्छाचारी शासकों के विरुद्ध घोर असन्तोष फैला हुआ था । ऐसी अवस्था में रूसो इत्यादि विचारकों ने जनसम्मत प्रभुता के सिद्धान्त का विकास किया । इस सिद्धान्त के समर्थकों ने राज्य-शक्ति का अन्तिम स्रोत जनता को स्वीकार किया । अपने मत के समर्थन में उन्होंने प्राकृतिक विधान (Law of Nature), प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) और संविदा सिद्धान्त (Theory of social contract) का आश्रय लिया । रूसो से पूर्व मार्सिगलियो आफ पदुआ (Marsiglio of Padua), विलियम आफ ओकम (William of Ockam), एल्थ्यूसियस (Althusis) इत्यादि ने राजतन्त्र के विरोध में लोकसम्मत प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की स्थापना की । परन्तु वस्तुतः रूसो ने ही सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का व्यापक प्रचार किया और बड़े जोर-शोर के साथ यह साबित करने का प्रयत्न किया कि वास्तविक राज-सत्ता जनसामान्य में निहित है, किसी एक राजपुरुष या राजसभा में नहीं । रूसो के लोकसम्मत प्रभुता (Popular sovereignty) के सिद्धान्त का परिणाम

ही फ्रांस की राज्य-क्रान्ति थी, उसी के आधार पर ही संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में जनसामान्य के अधिकारों की घोषणा की गई। धीरे-धीरे इस सिद्धान्त का सम्पूर्ण विश्व में प्रचलन हो गया और आज लार्ड ब्राइस के शब्दों में यह लोक-राज्य का आधार एवं आदर्श समझा जाता है।

परन्तु अपनी सर्वप्रियता के बावजूद भी यह सिद्धान्त पर्याप्त भ्रामक और दोषपूर्ण है। जितना ही इसके स्वरूप को निश्चित किये जाने का प्रयत्न किया जाता है उतना ही यह अस्पष्ट नजर आता है। राजनीतिक प्रभुता की सम्पूर्ण अपूर्णताएँ इसमें भी विद्यमान है। यह अनिश्चित है कि 'जनता' से क्या तात्पर्य है? इस सिद्धान्त के समर्थक इसका कोई उत्तर नही दे पाते। जनता से तात्पर्य राज्य की आबाल वृद्ध सम्पूर्ण आबादी से भी हो सकता है, परन्तु इस अर्थ में जनता किसी भी अर्थ में प्रभुसत्तासम्पन्न नही हो सकती। राज्य की सम्पूर्ण आबादी राज्य-शासन मे हिस्सेदार नही होती। जैसा कि हम पहले देख चुके है, वोट देने का अधिकार भी सम्पूर्ण आबादी के एक विशिष्ट भाग को होता है, सबको नही। निर्वाचकमण्डल राजनीतिक नेताओं, धर्माधिकारियों, सामन्तों या भूस्वामियों के प्रभावान्तर्गत हो सकते है। इसी प्रकार जनसामान्य की इच्छा का निर्माण भी अनेक वाह्य प्रभावों से होता है।

प्रोफेसर गेटल का यह विचार सर्वथा युक्तियुक्त है कि एक असंगठित जन-समुदाय किसी भी रूप में राज्य की सर्वोच्च सत्ता का संचालक नही हो सकता। राज्य-सत्ता का प्रयोग कानूनी तरीकों से ही सम्भव है। यदि जनमत किसी वैध-प्रभु से असन्तुष्ट है तो वह उसका परिवर्तन कर पुन. संगठन कर सकता है। यदि हम कहें कि सब काल में ही प्रभु-सत्ता जनता के हाथ में रहती है तो इसका अर्थ हुआ राज्य-सत्ता सदा जनता की दया पर निर्भर है। ऐसी हालत में राज्य में कानून और व्यवस्था बनाये रखना असम्भव हो जाएगा, सदा ही क्रान्ति या विद्रोह का भय रहेगा। जनसामान्य की इच्छा और उसका प्रभाव अस्वीकार नही किया जा सकता परन्तु उसे राज्य की सर्वोच्च सत्ता मान लेने का अर्थ राज्य की कानूनी सत्ता का नाश ही होगा। प्रभु-सत्ता का वैध और संगठित होना अनिवार्य है। जनसामान्य में संगठन का अभाव होता है और जनसामान्य की इच्छा कानून तभी बनती है जब उसे कानूनी साधनों द्वारा प्रगट किया जाता है। अव्यवस्थित लोकमत चाहे कितना भी प्रभावोत्पादक और शक्तिशाली क्यों न हो तब तक प्रभुसत्ता का स्वरूप धारण नही कर सकता जब तक कि कानूनी साधनों द्वारा प्रगट नही किया जाता।

आज के प्रजातन्त्र के युग में हम यही कह सकते है कि जनसम्मत प्रभुता का अर्थ जनमत (Puletic opinion) ही है। यह ठीक है कि लोकसम्मत प्रभुता का स्वरूप निर्धारण कठिन है, परन्तु जनमत के प्रभाव की अवहेलना नहीं की जा सकती। इस सिद्धान्त की महत्ता इस बात में है कि यह राज्य को और उसकी शक्ति को जनसत्तात्मक आधार देता है। यह इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है कि जन-सहमति के बिना किसी भी राजकीय व्यवस्था का देर तक टिक सकना सम्भव नहीं। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न पर जनमत का जल्दी से जल्दी जान लेना

राजकीय व्यवस्था के ही हित में है । डा० आर्शीवादम् के अनुसार इस सिद्धान्त में निम्नलिखित सत्यांश है—

(१) सरकार का अस्तित्व अपने हित के लिए नही होता । जनहित ही उसका उद्देश्य है ।

(२) जान-बूझकर जनमत को दबाने मे या कुचलने से क्रान्ति की सम्भावना बनी रहती है ।

(३) जनमत के प्रगट करने के कानूनी किन्तु सरल साधनों की व्यवस्था रहनी चाहिए ।

(४) जल्दी-जल्दी चुनाव करके तथा स्थानीय स्वायत्त शासन (Local self-government) जनमत-संग्रह, (Referendum), प्रस्तावाधिकार (Initiative) और जन प्रतिनिधि के प्रत्याह्वान (Recall) द्वारा सरकार को जनमत के प्रति अधिक प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होना चाहिए ।

(५) राजकीयसत्ता का प्रयोग सरकार द्वारा संवैधानिक (Constitutional) तरीकों से होना चाहिए मनमाने ढंग से नहीं ।[1]

कानूनी और यथार्थ प्रभुसत्ता (Dejure and Defacto sovereignty)—प्रभुसत्ता के दो अन्य रूप भी है जिनमें प्रायः भेद किया जाता है, वह भेद है —कानूनी (Dejure) और यथार्थ (Defacto) प्रभुसत्ता । कानूनी प्रभुसत्ता का आधार संविधान (Constitution) है । वह कानून के आधार पर आदेश जारी करता है और जनता द्वारा उन्हें पालन करवाने की क्षमता रखता है । यथार्थ प्रभु वह है जिसके आदेशों का पालन वास्तव में जनता करती है, परन्तु उसकी सत्ता का कानूनी आधार नहीं होता । वह व्यवहार रूप में प्रभु होता है ।

इन दोनों का भेद युद्ध या क्रान्ति के समय स्पष्ट हो जाता है । अगर कहीं क्रान्ति हो जाती है और बलपूर्वक वैध प्रभु के अधिकारों को छीनकर कोई अन्य व्यक्ति या व्यक्ति-समूह राज्य-सत्ता पर कब्जा कर लेता है और अन्तिम आदेश देने लग जाता है तो वह वैध प्रभु न होता हुआ भी वास्तविक प्रभु कहलाता है । वास्तविक प्रभुता शारीरिक बल पर या धार्मिक अथवा राजनीतिक शक्ति पर आधारित हो सकती है । इस प्रभुता के अनेक रूप हो सकते है । वह धर्माधिकारी, राज्य-शक्ति अपहरण-कर्त्ता, पुरोहित, सैनिक-अधिनायक या परिषद् किसी भी रूप में हो सकती है ।

वास्तविक प्रभुता को गैर कानूनी नही कहा जा सकता, क्योंकि प्रभुता का मुख्य लक्षण आदेश देने और पालन करने की क्षमता है । अपनी सत्ता को स्थिर बना लेने पर और पर्याप्त समय तक राज्य की आबादी पर पूर्ण नियंत्रण रखने में सफल होने पर वास्तविक प्रभु ही वैधानिक प्रभु बन जाता है ।

प्रायः राज्यों में वैधानिक और वास्तविक प्रभु एक रूप ही होते हैं, क्रान्ति या राजकीय परिवर्तन के अनन्तर ही दोनों में भेद उपस्थित होता है ।

वास्तविक प्रभुसत्ता के अनेक उदाहरण वर्तमान युग के इतिहास में मिल

---

१. देखिए डा० आर्शीवादम् लिखित "Political Theory" पृष्ठ २३० ।

जाते हैं। १९१७ में रूस में क्रान्ति के फलस्वरूप जार के शासन को समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी ने शासन स्थापित कर लिया। बहुत समय तक रूस की वास्तविक प्रभुसत्ता तो कम्युनिस्ट पार्टी के हाथ में रही जब कि कानूनी प्रभु जार ही माना जाता रहा। कम्युनिस्ट शासन की स्थिरता के फलस्वरूप उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वैधानिक प्रभु मान लिया गया और वही वहाँ की वैध प्रभुसत्ता हो गई।

अनेक बार वास्तविक प्रभु की वैधानिक सत्ता अन्य देशो की स्वीकृति और कानूनी मंजूरी (Legal recognition) पर भी आधारित होती है अर्थात् जब तक उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे वैधानिक मंजूरी न मिल जाए वह राज्य का वास्तविक प्रभु रहता हुआ भी अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार वैध प्रभु नही बन पाता।

वास्तविक प्रभु के वैध बनने के अनेक उदाहरण वर्तमान इतिहास में मिल जाते हैं। अभी हाल में मिश्र में जनरल नजीब के नेतृत्व में बादशाह फारूक के विरुद्ध सैनिक विद्रोह हुआ था। फलस्वरूप बादशाह फारूक को सिंहासन-च्युत कर देश निर्वासित कर दिया। इस तरह वैध प्रभु का स्थान जनरल नजीब और उसके साथियों ने वास्तविक प्रभु के रूप मे ग्रहण कर लिया। नवीन शासन के स्थिर होने पर उसे अन्य देशों द्वारा भी मान्यता (Recognition) मिल गई और शीघ्र वह मिश्र का वैध प्रभु हो गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के खत्म होने पर चीन में साम्यवादी दल ने च्यांग और उसके दल को निकाल बाहर किया और अपना शासन सम्पूर्ण देश पर स्थापित कर लिया, च्यांग की सरकार ने भागकर फारमोसा में शरण ली। आज चीन मे वास्तविक प्रभुसत्ता साम्यवादी दल के हाथ में है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रूस और अमेरिका के पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप चीन की साम्यवादी सरकार को अभी तक बहुत से देशों ने केवल वास्तविक प्रभु ही स्वीकार किया है, वैधप्रभु च्यांग की राष्ट्रवादी सरकार ही समझी जाती है। राष्ट्रों के अन्य दल ने चीन की मौजूदा साम्यवादी सरकार को चीन राज्य का वास्तविक और वैधप्रभु दोनो ही रूपो मे स्वीकार कर लिया है। चीन की साम्यवादी सरकार की वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह निश्शंक कहा जा सकता है कि निकट भविष्य मे संयुक्त राज्य अमेरिका आदि राज्यों को भी उसे वैधप्रभ के रूप में स्वीकार करना ही पड़ेगा, और यह अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के यथार्थ तत्त्वों के सर्वथा अनुकूल ही होगा।

इस प्रकार वास्तविक प्रभु के कालान्तर में वैधप्रभु बन जाने की सदा ही सम्भावना रहती है।

५८. प्रभुत्व की विशेषताएँ (Characteristics of sovereignty)

प्रभुत्व की विभिन्न विशेषताओं का हम निम्न प्रकार से विवेचन कर सकते हैं—

(१) स्थायित्व (Permanence)—राज्य के समान प्रभुत्व भी स्थायी है।

जब तक राज्य है तब तक प्रभुत्व भी है। राज्य के आन्तरिक संगठन में हेर-फेर हो सकता है, प्रभुत्वधारी शक्ति का भी अन्त हो सकता है, परन्तु प्रभुत्व में कोई अन्तर नहीं आता, वह राजा की मृत्यु के साथ खत्म नहीं हो जाता। एक राष्ट्रपति या राजा को पद त्याग करने पर अथवा पदच्युत होने पर प्रभुसत्ता तुरन्त दूसरे पदाधिकारी के हाथ में चली जाती है।

वर्तमान युग में लोकतन्त्रात्मक राज्यों में सरकारों में परिवर्तन होता रहता है, कभी किसी एक दल की सरकार होती है तो कभी दूसरे की। इस परिवर्तन में प्रभुता की अटूट गति में किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती। ब्रिटेन में लोग प्रायः कहते हैं—'सम्राट मर गया है; सम्राट् दीर्घजीवी हो' (The King is dead; long live the King) इस द्वारा प्रथम सम्राट से तो नाशवान राज्याधिकारी का बोध होता है, जब कि दूसरे सम्राट् शब्द द्वारा राज्य के स्थायी प्रभुत्व का।

(२) **अविच्छेद्यता** (Inalienability)—प्रभुत्व राज्य की सर्वोच्च सत्ता है, उसका सार है, उसका जीवन है। उसके बिना राज्य का जीवन विनष्ट हो जाता है, राज्यत्व समाप्त हो जाता है। लाइबर (Lieber) का कथन है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य आत्म-विनाश के बिना अपने जीवन को अपने शरीर से विलग नहीं कर सकता ठीक उसी प्रकार राज्य भी आत्म-विनाश के बिना प्रभुत्व को उपहार-स्वरूप हस्तान्तरित नहीं कर सकता।

एक राज्य जब कभी किसी अपने प्रदेश के एक भाग को दूसरे राज्य को सौंप देता है, तो वह उस पर अपने सम्पूर्ण अधिकार खो बैठता है, वह दूसरे राज्य का एक अभिन्न भाग बन जाता है। परन्तु अपने प्रदेश में राज्य की प्रभुसत्ता सर्वथा सुरक्षित रहती है।

(३) **मौलिकता** (Originality)—अनेक राजनीति-विशारदों का कथन है कि राज्य की प्रभुसत्ता ईश्वरप्रदत्त है। कुछ एक का कथन है कि वह जनता द्वारा राज्य को सौंपी गई है। ग्रेशियस, वुल्फ तथा हॉब्स इत्यादि का यह विचार था कि वह प्रारम्भिक समझौते द्वारा जनता ने राज्य को या सम्राट को सौप दी। रोमन विचारकों ने भी सम्राट की प्रभुसत्ता का अन्तिम स्रोत जनता को ही माना है। परन्तु ऑस्टिन इत्यादि का विचार है कि राज्य की प्रभुसत्ता सर्वथा मौलिक है, वह किसी द्वारा उसे दी नही गई। यदि ऐसा न माना जाय तो उसका अर्थ यह है कि राज्य से भी ऊपर कोई अन्य शक्ति वर्तमान है, इस अवस्था में राज्य की सर्वोच्च सत्ता का विनाश हो जायगा।

(४) **परमपूर्णता** (Absoluteness)—राज्य की प्रभुसत्ता परमपूर्ण और असीम है, उसे किसी भी प्रकार सीमित या मर्यादित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः धरती पर ऐसी कोई सत्ता नहीं जो उसका नियमन और नियन्त्रण कर सके। यदि कोई अन्य शक्ति उसकी शक्ति का नियन्त्रण करती है तो वही शक्ति प्रभु कहलायेगी।

राज्य की इस परमपूर्ण और असीम प्रभुसत्ता के दो स्वरूप हैं। प्रथम तो

राज्य में प्राप्त सभी व्यक्ति और व्यक्ति-समूह राज्य द्वारा नियन्त्रित किये जाते हैं। राज्य-सत्ता पर लगाई गई पाबन्दियाँ स्वयं आरोपित होती हैं, वह किसी अन्य द्वारा लागू नहीं की जातीं। धर्म, न्याय, औचित्य, नैतिक सिद्धान्त और नियम, रीति-रिवाज इत्यादि सभी राज्य-सत्ता के नियामक कहे जाते हैं, इसी प्रकार ईश्वरादेश या दैवीय नियम और प्रकृत विधान भी राज्य-सत्ता के नियन्त्रणकर्ता कहलाते हैं। परन्तु कानूनी दृष्टि से उनकी अवस्थिति राज्य की इच्छा मे ही सम्भव है, बिना राज्य की मर्जी के वह जीवित नहीं रह सकते।

इस प्रकार राज्य-शक्ति को बाह्य पाबन्दियों से सीमित बतलाया जाता है। यह कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय विधान के नियम और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के नैतिक नियम सभी राज्य की बाह्य प्रभुसत्ता को नियन्त्रित करते हैं। परन्तु यह विचार भी भ्रामक है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो नियमों को लागू कर सके, जो राज्य को इस नियम-पालन के लिए मजबूर कर सके। उनकी मान्यता तभी तक है जब तक कि राज्य चाहे।

इस प्रकार राज्य की प्रभुशक्ति कानून की दृष्टि से सर्वथा असीम और पूर्ण है। हाँ, वह स्वयं अपनी शक्ति-सीमा निर्धारित कर सकता है।

(५) **सर्वव्यापिता** (Universality or All comprehensiveness)—प्रभुत्व शक्ति की एक अन्य बड़ी विशेषता सर्वव्यापकत्व है। इस अर्थ में राज्य-शक्ति, राज्य के अन्तर्गत आने वाले सम्पूर्ण प्रदेश, उनमे स्थित व्यक्ति तथा व्यक्ति समुदाय या संघ सभी पर अबाध रूप से लागू होती है। उसके नियन्त्रण से **मुक्ति का दावा** उनमें कोई भी नहीं कर सकता। हाँ, राज्य अपनी इच्छा से अनेक व्यक्तियों या व्यक्ति-समूहों को अपने नियन्त्रण से बाहर रख सकता है। यही कारण है कि विदेशी राजदूतावास तथा राजदूत राज्य-शक्ति के नियन्त्रण से मुक्त होते हैं। जब कभी कोई अन्यदेशीय सम्राट राष्ट्रपति या उच्च राज्य-प्रतिनिधि अस्थायी रूप से किसी अन्य राज्य की यात्रा कर रहा होता है या निवास करता है तो वह उस राज्य के नियन्त्रण से मुक्त होता है। परन्तु हमें यह नही भूलना चाहिए कि राज्य-नियन्त्रण से यह अस्थायी मुक्ति केवल मात्र अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार (International Courtesy) का ही परिणाम है, जिसे राज्य जब चाहे हटा सकता है।

(६) **अविभाज्यता** (Indivisibility)—प्रभुसत्ता की पूर्णता, असीमता और सर्वव्यापिता का ही परिणाम अविभाज्यता है। गेटल ने ठीक ही कहा कि **"यदि प्रभुसत्ता परमपूर्ण नहीं तो किसी राज्य का कोई अस्तित्व नहीं यदि प्रभुसत्ता विभाजित है तो एक से अधिक राज्यों का अस्तित्व हो जाता है।"**[1] जेलिनेक का कथन है कि विभाजित खण्डित, क्षीण, सीमित तथा सापेक्षक प्रभुत्व प्रभुत्व भावना के सर्वथा विपरीत है। प्रभुता की विशेषता उसकी एकता है।

---

1. "If sovereignty is not absolute, no State exists ; if sovereignty is divided, more than one State xiets".—*Gettell.*

एक से अनेक में पहुँचने पर उसकी सर्वोपरिता (Supremacy) विनष्ट हो जाती है। मध्य युग में राज्य की प्रभु शक्ति विभाजित थी। राजा, सामन्त और पोप सभी अपने आपको प्रभुसत्ता के अधिकारी समझते थे, और यही कारण था कि उस युग में राज्य नामक संस्था का ही अभाव था।

आज बहुसमुदायवादियों (Pluralists) का यह विचार है कि समाज का संगठन संघात्मक है, राज्य भी एक संघ या समुदाय (Association) की भाँति है, अतः वह असीम प्रभुसत्ता का अधिकारी नहीं। प्रभुसत्ता राज्य और समुदायों में विभाजित है। परन्तु यह धारणा सर्वथा मिथ्या और भ्रामक समझी जाती है। सामाजिक संघों (Associations) को राज्य के बराबर मान लेने से और राज्य-शक्ति को उनमें बाँट देने से प्रभुत्व शक्ति टुकड़े-टुकड़े हो जायगी, राज्य में अराजकता फैल जायगी, सम्पूर्ण व्यवस्था और शान्ति खत्म हो जायगी। राज्य अपनी इसी शक्ति के बल पर ही व्यक्ति और व्यक्ति-समुदायों के आपसी सम्बन्धों का नियन्त्रण करता है और राज्य में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखता है।

परन्तु संघ-राज्य (Federation) में प्रभुसत्ता के विभाजन को तो आज बहुत से राजनीति-विशारद मानते हैं। **ए. एल. लोवेल** (A. L. Lowell) ने बड़े जोरदार शब्दों में कहा था कि **"एक ही प्रदेश में दो प्रभुओं का अस्तित्व सम्भव है जो कि एक ही प्रजावर्ग की विभिन्न विषयों में अपने-अपने आदेश देते हैं।"**[1] संयुक्त राज्य अमेरिका में राज्य-शक्ति के विभाजन को माना जाता है, यह कहा जाता है कि इस संघ राज्य में दो प्रभुशक्तियाँ हैं। संघ राज्य तो अपने क्षेत्र में प्रभु है और राज्य अपने क्षेत्र में, दोनों एक दूसरे के क्षेत्र में दखल नहीं दे सकते। हैमिल्टन तथा मेडीसन ने इसी मत का समर्थन किया था। १७९२ में सुप्रीम कोर्ट ने अपने फैसले में इस बात को स्वीकार किया कि संयुक्त राज्य अपने राष्ट्रीय मामलों में सर्वथा स्वतन्त्र है और राज्य अपने-अपने सुरक्षित विषयों (Residuary powers) में। टाकविल, हर्ड, ब्लिस तथा कूले और स्टोरी जैसे राजनीति-विशारदों और न्यायाधीशों ने भी इसी मत का समर्थन किया। परन्तु विधानशास्त्रियों ने संघराज्य की इस विभाजित प्रभुत्व की कल्पना का सर्वथा खण्डन किया है। उनका कथन है कि संघ राज्य में वस्तुतः प्रभुशक्ति संविधान को परिवर्तित करने वाले साधन में स्थित है। उसका उपयोग न तो राज्य ही करते हैं और न संघीय सरकार ही। संघीय सरकार और राज्य सरकारें दोनों मिलकर ही उसकी अभिव्यक्ति करती हैं। यह कहा है कि संघ में और राज्यों में राजकीय विषयों का विभाजन है, प्रभुत्व का नहीं। प्रभुत्व का प्रगटीकरण अवश्य अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग साधनों द्वारा होता है। **केल्हून** (Calhoun) ने इस विषय पर विचार करने के अनन्तर इस

---

1. "There can exist within the same territory two sovereigns issuing commands to the same subjects touching different matters."
—*Lowell.*

प्रकार कहा है "प्रभुता एक समग्र वस्तु है, उसके विभाजन करने का अर्थ है उसे नष्ट करना । किसी भी राज्य में प्रभुसत्ता सर्वोपरि शक्ति है और आधी प्रभुसत्ता कहना उतना ही असंगत और हास्यास्पद है जैसे आधा वर्ग या आधा त्रिभुज कहना ।"[1]

५९. आस्टिन का प्रभुत्व सिद्धान्त (Austins theory of sovereignty)

प्रभुत्व सिद्धान्त के विकास-क्रम का दिग्दर्शन हम पीछे करा आये हैं । हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार विभिन्न अवसरों पर विभिन्न राजनीति-विशारदों ने प्रभुत्व की व्याख्या की और उसके विभिन्न लक्षण दिए । परन्तु वैधानिक प्रभुत्व की वैज्ञानिक और विशुद्ध व्याख्या का श्रेय सुप्रसिद्ध अंग्रेज विधानशास्त्री जॉन आस्टिन को दिया जाता है । जॉन आस्टिन अपने विचारों में हॉब्स तथा बेन्थम की एतद्विषयक धारणाओं से प्रभावित थे । बेन्थम की तरह उनका प्रमुख उद्देश्य विधानशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावलि का रूप स्थिर करना और कानून की तर्कसंगत व्याख्या करना था । हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आस्टिन के प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त का राजनीति शास्त्र से प्रत्यक्ष और मुख्य सम्बन्ध नहीं, या उसकी रचना राजनीति शास्त्र के विचार से नहीं की गई । परन्तु इस कारण उसके एतद्विषयक विचारों की महत्ता किसी भी प्रकार कम नहीं हो जाती । वस्तुतः राजनीति शास्त्र के सम्पूर्ण इतिहास में पाये जाने वाले एतद्विषयक विचारों की जितनी स्पष्ट व्याख्या आस्टिन द्वारा की गई है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती, यही कारण है कि हम आस्टिन की प्रभुत्व सम्बन्धी धारणा की यहाँ विस्तारपूर्वक व्याख्या करेंगे । कानून की व्याख्या करते हुए उसने प्रभुत्व की इस प्रकार परिभाषा की है—**"यदि कोई निश्चित मानव, जो उच्च और श्रेष्ठतम है, जो उसी प्रकार के किसी अन्य श्रेष्ठतम व्यक्ति से आदेश प्राप्त करने का अभ्यस्त नहीं, एक निश्चित समाज के एक बड़े भाग से आमतौर पर अपने आदेशों का पालन करवाने का अभ्यासी है, तो वह उस समाज में प्रभु है, और वह समाज उस श्रेष्ठतम मानव सहित राजनीतिक तथा स्वतन्त्र समाज है ।"[2]**

इसी प्रकार कानून की परिभाषा करते हुए आस्टिन ने कहा कि **"उच्च सत्ताधारी व्यक्ति अपने से निम्न सत्ता रखने वाले व्यक्ति को जो आदेश देता है उसे कानन कहते हैं ।"[3]**

निष्कर्ष—आस्टिन द्वारा की गई प्रभुसत्ता की इस परिभाषा से अनेक

---

1. "Sovereignty is an entire thing, to divide it is to destroy it. It is the supreme power in a State and we might just as well speak of half a square or half a triangle as of half a sovereignty".—*Calhoun.*

2. "If a determinate human superior, not in a habit of obedience to a like superior, receives habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is sovereign in the society, and the society (including superior) is a society political and independent."
—*Austin.*

3. "Law is a command given by a superior to an inferior."-*Austin.*

निष्कर्ष निकाले गये हैं, जिन्हें हम इस प्रकार रख सकते हैं—

(१) प्रत्येक राज्य में प्रभुसत्ता एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय में स्थापित होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में प्रभुसत्ता 'सामान्य इच्छा' (General will) या दैवीय इच्छा (Divine will) अथवा जनता (Public opinion) में नहीं रह सकती। क्योंकि यह सभी अनिश्चित और अस्पष्ट हैं।

(२) निश्चित व्यक्ति या समुदाय में स्थित प्रभुसत्ता किसी अन्य भौतिक या दैवीय शक्ति द्वारा नियन्त्रित नहीं की जाती। प्रभु की शक्ति असीम और अबाध होती है। वह अविवेकपूर्ण, असत्य और अनैतिक कार्य भी कर सकता है।

(३) प्रभुसत्ता ऐसे व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय में स्थापित होनी चाहिए कि जिसकी ओर स्पष्ट रूप से संकेत किया जा सके।

(४) प्रभशक्ति के आदेशों का पालन समाज की आबादी के एक बड़े अंश द्वारा होना आवश्यक है। जहाँ समाज के अधिकांश भाग द्वारा अभ्यस्त रूप से प्रभु के आदेशों का पालन न होता हो, वहाँ प्रभुत्व का अस्तित्व असम्भव है।

(५) शासक के आदेश कानून होते हैं और उनका उल्लंघन दण्डनीय है। प्रजा के अधिकार शासक के आदेश द्वारा निर्धारित होते हैं। राज्य शक्ति के विरुद्ध प्रजा को कोई अधकार प्राप्त नही होता।

आस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना—आस्टिन के सिद्धान्तों की बड़ी कड़ी आलोचना की गई है। प्रो० लॉस्की का विचार है कि यदि प्रभुसत्ता सम्बन्धी सम्पूर्ण सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया जाये तो इससे राजनीति शास्त्र को स्थायी लाभ होगा। हेनरी मेन (Henry Maine), हेनरी सिजविक (Henry Sidgwick) तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनेक समर्थको का मत है कि आस्टिन का सिद्धान्त अत्यन्त भ्रामक और अनिष्टकारी है। समाजविज्ञान के अध्येता इसे सर्वथा असत्य मानते हैं। यथार्थवादी इसे केवल कानूनी कल्पना कहकर उड़ा देते है। नीचे हम आस्टिन के सिद्धान्त पर किये गये अनेक आक्षेपों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे—

(१) **असीम और अबाध सत्ताधारी व्यक्ति का अभाव**—आस्टिन का विचार है कि प्रत्येक राज्य में किसी न किसो ऐसे व्यक्ति या व्यक्ति समदाय की अवस्थिति रहती है जो कि असीम और अबाध शक्ति का प्रयोग करता है। यह विचार ऐतिहासिक और राजनीतिक विवेचन करने पर सर्वथा असत्य सिद्ध होता है। प्रत्येक राज्य में अनेक ऐसी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव शक्तियाँ कार्य करती हैं जिनकी अवहेलना कोई भी बड़े से बड़ा राज्याधिकारी नहीं कर सकता।

सर हेनरी मेन ने इस विषय में सिख राजा रणजीतसिंह का उदाहरण प्रस्तुत किया है। महाराजा रणजीतसिंह निरकुश शासक था, उसके आदेश की अवहेलना का अर्थ मृत्यु-दण्ड या अंग भंग होता था। फिर भी उसने कभी भी आस्टिन के अर्थों में आदेश द्वारा कानून का निर्माण नहीं किया। उसकी प्रजा का आचरण परम्परागत रीत-रिवाजों द्वारा होता था। वह स्वयं भी उन धार्मिक और राजनीतिक रीति-रिवाजों

के विरुद्ध नहीं जा सकता था।

भारतीय इतिहास के प्राचीन और मध्ययुग के निरंकुश शासक भी धार्मिक रीति नीति और पुरोहित वर्ग के आदेशों की अवहेलना करने का साहस नहीं कर सकते थे। हेनरी मेन ने यह भी कहा है कि पाश्चात्य देशों में भी कोई शासक, वह चाहे जितना निरंकुश क्यों न हो, समुदाय के सम्पूर्ण इतिहास की उपेक्षा नहीं कर सका है।"

(क) प्रो० लॉस्की ने वास्तविक ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर यह सिद्ध किया है कि **"कहीं भी किसी भी अधिपति ने कभी असीमित अधिकार शक्ति का प्रयोग नहीं किया। हमेशा ऐसे अधिकार प्रयोग करने का परिणाम संरक्षणों की स्थापना ही हुआ है।"**[1]

उनका कथन है इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट सैद्धान्तिक दृष्टि से चाहे परिपूर्ण शक्ति-सम्पन्न हो, परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में उसकी शक्ति सीमित है। **"कानूनी दृष्टि से सम्राट सहित पार्लियामेण्ट जनमत की अवहेलना कर सकती है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह केवल इसी शर्त पर कर सकता है कि ऐसा करने पर सम्राट और पार्लियामेण्ट दोनों ही समाप्त हो जायँगे।"**[2]

(ख) वैयक्तिक हित की दृष्टि से भी राज्य की असीम प्रभुशक्ति का सिद्धान्त अत्यन्त खतरनाक है। यह राजकीय तानाशाही का समर्थन करता है, और वैयक्तिक हित की अवहेलना करता है। यह सिद्धान्त शक्ति (Force) को राज्य का प्रमुख तत्त्व मान लेता है और वैयक्तिक सहमति (Individual consent) का तिरस्कार करता है। राज्य का उद्देश्य वैयक्तिक और सामूहिक हित है, उसका मुख्य कर्त्तव्य बल-प्रयोग नहीं सेवा है। ऐसे असीम अधिकारसम्पन्न प्रभु की कल्पना एक अराजक युग में तो ठीक हो सकती है या उस राज्य के लिए उपयुक्त हो सकती है, जिसका काम सेवा-सुश्रूषा न हो केवल मात्र दण्ड देना है, परन्तु वर्तमान युग के राज्यों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है, क्योंकि वर्तमान राज्य का उद्देश्य शक्ति-प्रदर्शन नहीं अपितु समाज-कल्याण है।

(२) **प्रभुत्व शक्ति अविभाज्य नहीं** (Sovereignty is not indivisible)—प्रभुत्व शक्ति की अविभाज्यता का भी खण्डन किया जाता है। इस मत के समर्थन में इंग्लैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका और भारत की विधानपालिकाओं के उदाहरण दिये जाते हैं। ब्रिटिश शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत राजकीय शक्ति और कर्तव्य का विभाजन मिल जाता है। सम्राट, हाउस ऑफ लार्ड्स (House of Lords) और हाउस ऑफ़ कॉमन्स (House of Commons) राज्य के तीन

1. "No soveregin has anywhere possessed unlimited power, and in attempt to exert it has always resulted in the establishment of safeguards."—*Laski*.

2. "Legally.....the King in Parliament may outrage public opinion, practically, it can do so only on the implied conditions that it ceases as a consequence, to be the King in Parliament."—*Laski*.

पृथक भाग हैं; और तीनों ही सर्वोपरि सत्ता में हिस्सेदार हैं।

(क) डायसी ने **यह बात बहुत स्पष्ट रूप में कही है कि ब्रिटेन में कानूनी प्रभु के अतिरिक्त राजनीतिक प्रभु भी है और इस प्रकार उसने प्रभुत्व को दो रूपों में बाँट दिया। आस्टिन भी राजनीतिक प्रभुत्व की सत्ता को स्वीकार करता है।** हम पीछे देख चुके हैं कि किस प्रकार आज के प्रजातन्त्रवादी राज्यों में राजकीय शक्ति जनता द्वारा नियन्त्रित की जाती है। कोई भी व्यक्ति, जिसे आज के राजनीतिक संगठन का थोड़ा-सा भी परिचय है वह यह अस्वीकार नहीं कर सकता कि राज्य-शक्ति कभी अनियन्त्रित और असीम नहीं हो सकती। इसका अनुत्तरदायी रूप पुराने जमाने की बात है, अतः आज के प्रत्येक कानूनी प्रभु को राजनीतिक प्रभु के सम्मुख झुकना पड़ता है। प्रत्येक राज्य में कानूनी प्रभु के साथ-साथ राजनीतिक प्रभु की अवस्थिति को भी स्वीकार किया जाता है। आस्टिन ने इस सिद्धान्त द्वारा जनमत की अवहेलना कर प्रजातन्त्र का ही अपमान किया है।

(ख) जैसे कि हम पीछे भी देख चुके हे कि संयुक्त राज्य अमेरिका में न तो संघीय काँग्रेस और न ही राजकीय विधानपालिकाएँ इस स्थिति में है कि वह अबाध और असीम प्रभता का प्रयोग कर सके। राजकीय शक्तियों का इस ढग से बँटवारा किया गया है कि संघीय सरकार और राज्य सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं। वह एक-दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप नही कर सकतीं। इस प्रकार सम्पूर्ण संघीय राज्यों में प्रभुत्व का विभाजन रहता है।

(ग) प्रभुसत्ता की अविभाज्यता के **मुख्य आलोचक आज के बहुसमुदायवादी** (Pluralists) **हैं**। प्रो० लास्की, मैकाइवर, कोल इत्यादि ने राज्य का असीम और अविभाज्य शक्ति का खण्डन करते हुए उसे राज्य और समुदायों में विभाज्य बतलाया है। राज्य अपनी प्रकृति में और कर्तव्यों में भी सामाजिक संघों और समुदायों से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं। तमाम धार्मिक तथा सांस्कृतिक समुदाय जनसंगठन तथा कर्तव्य-क्षेत्र में राजकीय नियन्त्रण से स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक समुदाय का अपना व्यक्तित्व है, अपनी इच्छा है और अपने नियम हैं, ये राज्य द्वारा नहीं बनाये गये। ऐसी अवस्था में वैयक्तिक जीवन में उनका वही स्थान है जो राज्य का, बल्कि कुछ क्षेत्रों में वह राज्य से भी महत्वपूर्ण हैं। बहुसमुदायवादियों का कथन है कि प्रभुसत्ता राज्य में और इन समुदायों में विभाजित रहती है। कोई भी राज्य असीम और अविभाज्य प्रभुता का प्रयोग नहीं कर सकता।

(३) **प्रभुसत्ता में निश्चयात्मकता का अभाव**—आस्टिन का कथन है कि प्रभु-शक्ति किसी एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय में अवस्थित होनी चाहिए। उसने अपने कथन के समर्थन में इंग्लैण्ड के पार्लियामेण्ट सहित सम्राट (The King in Parliament) का उदाहरण दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि इंग्लैण्ड में वैधानिक प्रभुत्व सम्राट और पार्लियामेण्ट के दोनों सदनों में स्थित है। जो बिल दोनों सदन पास कर दें वह सम्राट की सहमति प्राप्त कर कानून बन जाते हैं। परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका इत्यादि देशों में जहाँ लिखित विधान है और शासन-व्यवस्था

संघात्मक है, प्रभुसत्ता का खोज निकालना आसान काम नहीं। **प्रो० लास्की ने तो उसे एक असम्भव जोखम** (Impossible adventure) **कहा है।**

संयुक्त राज्य अमेरिका में कहा जाता है कि प्रभुता का स्रोत संविधान है, परन्तु संविधान को एक निश्चित (मानवीय) समूह कहना दुस्साहस मात्र है। जैसे कि पहले देखा जा चुका है संघात्मक व्यवस्था के फलस्वरूप संविधान के अन्तर्गत राजकीय शक्तियों का संघ सरकार में और राज्य सरकारों में विभाजन कर दिया गया है। दोनों को ही सीमित शक्तियाँ प्राप्त हैं और दोनों संविधान के अनुसार ही कार्य कर सकती हैं। संविधान के संशोधन के निम्न प्रकार है—

(क) कांग्रेस (संघीय विधानपालिका) दो-तिहाई बहुमत से किसी वैधानिक संशोधन को प्रस्तुत कर सकती है, परन्तु वह तब तक कानून नही बन सकता जब तक कि कम से कम तीन चौथाई-राज्य विधानपालिकाएँ उसे स्वीकार न कर लें।

(ख) दो-तिहाई राज्य विधानपालिकाओं की प्रार्थना पर एकत्रित राज्यों की एक विशेष सभा में संविधान सम्बन्धी संशोधन प्रस्तुत किया जा सकता है, परन्तु वह संविधान का भाग तभी बनेगा जब कि तीन-चौथाई राज्य विधान पालिकाएँ स्वीकार कर लें।

(ग) कांग्रेस दो-तिहाई वोट से संविधान सम्बन्धी संशोधन प्रस्तुत करे और तीन-चौथाई राज्यों का विशेष सम्मेलन इसे स्वीकार कर ले, तो वह संविधान का भाग बन जायगा।

इस प्रकार हम देखते है विभिन्न समयों पर इस प्रकार के विभिन्न समूहों द्वारा संविधान संशोधित हो सकता है। इस स्वरूपविहीन सदा परिवर्तित होते रहने वाली संस्था को हम निश्चित किस प्रकार कह सकते है, इसे निश्चित संस्था कहना भाषा का दुरुपयोग ही है।

स्विट्ज़रलैण्ड इत्यादि में संविधान सम्बन्धी संशोधन पर अन्तिम स्वीकृति के लिए जनमत-संग्रह होता है, और जनता द्वारा स्वीकृत होने पर ही वह कानून बन सकते हैं। ऐसी अवस्था में स्विट्ज़रलैण्ड में प्रभु शक्ति का स्रोत जनता को स्वीकार किया जाएगा, और आस्टिन के मतानुसार जनता प्रभु नही कहला सकती, क्योंकि न तो उसका कोई संगठन ही है और न वह एक निश्चित समुदाय है।

इस प्रकार इंग्लैण्ड के अतिरिक्त अन्य देशों में प्रभुसत्ता का कोई निश्चित (Determinate) रूप नहीं मिलता।

(४) **कानून राज्य का आदेश मात्र नहीं** (Law is not merely a command of the sovereign)—आस्टिन के मतानुसार राज्यादेश ही कानून हैं। विधानशास्त्र के ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय व्याख्याकारों ने उपर्युक्त मत की तीव्र आलोचना की है। सर हेनरी मेन के मतानुसार कानून को किसी भी दृष्टि से सर्वोच्च सत्ता का आदेश नहीं माना जा सकता। प्रत्येक समाज में अनादिकाल से अनेक ऐसी प्रथाएँ और परम्पराएँ चलती आ रही हैं जिसे किसी भी प्रभु ने आदेश रूप में जारी नहीं किया, ये नियम हमारे समाज के धार्मिक और नैतिक स्तर के

प्रतिबिम्ब होते हैं। कोई भी शासक इनके परिवर्तन में तब तक समर्थ नहीं होता जब तक कि जनता की सत्य, औचित्य, न्याय और नैतिकता की भावनाओं में परिवर्तन न हो जाय। ऐसे नियमों का पालन जनता स्वयं अपनी इच्छा से करती रहती है, दण्ड-भय से नही।

प्राचीन काल के समाज के लिए तो आस्टिन का कानून सम्बन्धी सिद्धान्त सर्वथा गलत है। प्राचीन काल के समाजों में किसी निश्चित और असीम शक्ति-सम्पन्न प्रभु को खोज निकालना असम्भव-सी बात थी। वस्तुतः प्राचीन समाजों के लिए यह ठीक ही कहा गया है कि उनमें राजा का प्रभुत्व नहीं था बल्कि प्रथा और परम्परा का शासन था। राजा भी प्रथाओं और परम्पराओं की अवहेलना नहीं कर सकता था।

आज भी भारत की आम जनता में बीसियों ऐसे नियम माने जाते है जिनका आधार राजकीय आदेश नही अपितु परम्परागत निष्ठा-भावना है।

आज के इंग्लैण्ड में भी अनेक ऐसी संविधानीय प्रथाएं विद्यमान है जो कि पार्लियामेण्ट, सम्राट और न्यायालयों द्वारा समान रूप से स्वीकृत की जाती है, किन्तु जो कभी भी सम्राट द्वारा आदेश रूप में प्रचलित नहीं की गई। आस्टिन ने इसी को दृष्टिकोण में रखकर कहा था कि **"सम्राट जिस बात की अनुमति देता है वह भी आदेश ही है।"**[1] परन्तु आश्चर्य है कि जिसे सम्राट बदल न सके वह उसका आदेश कैसे हो गया !

सर हेनरी मेन ने ठीक ही कहा है कि **"कानून जनता के साथ ही बढ़ता और विकसित होता है। कानून किसी निरंकुश कानून-निर्माता की इच्छा के परिणाम की बजाय समाज के विविध, प्रगतिशील, मन्द व दीर्घकालीन शक्तियों का परिणाम है।"**[2] कानून की समुचित व्याख्या के लिए हमें उसके सामाजिक और ऐतिहासिक स्वरूप से भी अवगत होना चाहिए।

आस्टिन ने कानून को केवल आदेश मानकर उसके शक्ति-तत्त्व पर अनावश्यक बल दिया। कानून का पालन भय से ही नही किया जाता। हम अभ्यास, आदत और स्वार्थवश भी राजकीय आदेशों का पालन करते है।

फ्रेंच समाजशास्त्री ड्युग्वी (Duguit) **कानून को हमारे सामाजिक जीवन का परिणाम मानते हैं। उनका कथन है कि हम कानून का पालन इसलिए करते हैं कि वह समाज के हित में हैं उनके बिना सामाजिक व्यवस्था का कायम रह सकना असम्भव है।** एक अन्य विचारक क्रेब (Krabbe) का कथन है कि **वह हमारे औचित्य तथा अनौचित्य ज्ञान के परिणाम हैं।** चोरी करना बुरा है, यह हमारे

---

1. Whatever the sovereign permits he commands."—*Austin.*
2. Law grows as the people grow, develops with the people. Law is the result of varying, progressive, slow and lengthy formation by society rather than of the arbitrary will of a law giver
—*Henry Maine.*

सामाजिक ज्ञान का फल है और इसी कारण हम समाज में ऐसे कानून बनाते हैं जो चोरी के लिए दण्ड देते हैं। इन लेखकों का विचार है कि राज्य कानून का निर्माता नहीं अपितु कानून का परिणाम है। प्रत्येक राज्य की शक्ति कानून द्वारा निर्धारित की जाती है। एक अन्य **फ्रेंच विचारक शार्ल बेनोआ ने भी कानून को राज्य की शक्ति का नियायक बतलाया है**। उसका कथन है कि कानून ही राज्य की शक्ति को मर्यादित करता है, वह उसके कर्तव्यों को कानूनी और गैरकानूनी ठहराता है।

इन सब अलोचनाओं में पर्याप्त सत्य है, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। केवलमात्र राज्य ही कानून का स्रष्टा नहीं, आस्टिन का ऐसा विचार एकांगी और भ्रामक है। विविध सामाजिक और राजनीतिक प्रभावों की अवहेलना नहीं की जा सकती।

आस्टिन के विचार आवश्यकता से अधिक सैद्धान्तिक हैं, वह कानूनी सत्य की खोज में रहा। परन्तु कानूनी सत्य राजनीतिक असत्य भी हो सकता है यह हमें नहीं भूलना चाहिए।

(५) **प्रभुत्व-धारणा घातक है**—आन्तरिक दृष्टि से अगर हम राज्य की सर्वोच्च सत्ता को मान भी लें तो भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसे किसी भी रूप में स्वीकार नही किया जा सकता। बोदीन तथा हॉब्स के समय राज्य के राष्ट्रीय रूप का विकास हो रहा था, राष्ट्रीय हित में सुसंगठित और ऐक्यपूर्ण राज्यों की व्यवस्था आवश्यक थी, अतः तत्कालीन परिस्थितियों में राज्य की असीम प्रभुशक्ति को उचित ठहराया जा सकता था। आज की परिस्थितियाँ बहुत बदल गई हैं। औद्योगिक तथा वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप मानवीय संस्कृति ने एक नया रूप धारण कर लिया है, वह आज देशीय और राष्ट्रीय होने के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय अधिक है। ससार के विविध राज्य आज एक दूसरे के सन्निकट आ चुके हैं। आर्थिक दृष्टि से संसार के राज्य जितना आज एक दूसरे पर आश्रित हैं उतना पहले कभी नहीं थे। वस्तुतः अरस्तू का यह कथन कि कोई भी मनुष्य अपने आप में पूर्ण नहीं राज्यों पर और भी अधिक सच्चाई के साथ लागू होता है। राज्य मनुष्य-समाज के ही भाग हैं, वे अपने आप में पूर्ण नहीं हो सकते। कोई भी राज्य आज के युग में सर्वथा अपने आप में ही नहीं रह सकता। विश्व प्राकृतिक स्रोतों के समुचित प्रयोगों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता है, परन्तु राज्य-प्रभुत्व इस सहयोग में बाधक है।

राजनीतिक सहयोग में भी तो राज्य-प्रभुत्व बाधक है ही वह विश्व-युद्धों का भी कारण है। **नारमन ऐंजेल** (Norma Angell) **ने अपनी पुस्तक** "Unseen Assassins" **में राज्य प्रभुत्व को प्रमुख हत्यारों में माना है**। प्रभुत्वसम्पन्न होने के कारण प्रत्येक राज्य अपने पड़ौसी राज्य के साथ मनमानी कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बलशाली राज्य कमजोर राज्यों को दबा लेते हैं। परिणाम-स्वरूप युद्ध शुरू हो जाते हैं, और आज के युद्धों का प्रभाव एक देश तक ही सीमित नहीं रहता। **दूसरा** वह प्रलयंकारी बन चुके हैं। वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्र की उपस्थिति में

युद्ध की भयंकरता और भी बढ़ गई है । राज्यों की शक्ति पर नियन्त्रण न होने के कारण वह अपने क्षुद्र स्वार्थों के निमित्त अथवा अपनी सर्वोपरिता को बनाये रखने के लिए ही युद्ध छेड़ सकते हैं ।

प्रो० लास्की का यह कथन विचारणीय है कि **"अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से एक स्वतन्त्र तथा प्रभुत्वसम्पन्न राज्य का विचार मानवीय सुख-समृद्धि के लिए घातक है । एक राज्य को दूसरे राज्य के साथ किस तरह बरतना चाहिए, यह ऐसा विषय है जिसके निर्णय करने का अधिकार किसी एक राज्य को नहीं हो सकता । राज्यों का समान्य जीवन उनकी सामान्य सहमति का विषय है । इंग्लैण्ड को यह फैसला स्वयं ही नहीं करना चाहिए कि वह कौन से अस्त्र-शस्त्र रखे व किन लोगों को बाहर से आकर अपने प्रदेशों में बसने दे । ये ऐसे विषय हैं जिनका समग्र मानव-समाज के जीवन से सम्बन्ध है, इनकी व्यवस्था के लिए एक विश्व संगठन की आवश्यकता है ।"**[1]

प्रो० लास्की का यह कथन आज की विश्व की स्थिति को देखते हुए पूर्णतया सत्य है । विश्व-शान्ति और मानवीय हित में राज्यों की असीम प्रभुशक्ति का नियन्त्रण अनिवार्य है । अनेक ऐसे मसले हैं जो कि सम्पूर्ण मानवता से सम्बन्धित हैं, किसी एक राज्य की इच्छा पर उनको छोड़ नहीं देना चाहिए । आज एटम बम्ब और हाइड्रोजन बम्ब के नये से नये परीक्षण किये जा रहे हैं, पर क्या यह परीक्षण केवल रूस या अमेरिका पर ही असर रखते हैं ? नहीं, इनके साथ सम्पूर्ण मानवता का जीवन सम्बन्धित है । ऐसे मसलों का हल अन्तर्राष्ट्रीय संघ द्वारा ही होना चाहिए ।

यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से भारत, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, अमेरिका तथा रूस इत्यादि सभी देश बराबर हैं, परन्तु वास्तविक दृष्टि से इनकी स्थिति में बहुत अन्तर है । अणु-शक्ति के विकास के अनन्तर तो वस्तुतः रूस और अमेरिका ही वास्तविक अर्थ में स्वतन्त्र देश रह गये हैं, अन्य राज्य केवल नाममात्र के प्रभुत्व धारी हैं । क्या आज पुर्तगाल, फ्रांस, इटली या बेल्जियम की कोई स्वतन्त्र स्थिति है ? इसी प्रकार क्या आज बल्गारिया, रूमानिया तथा हंगरी आदि की कोई सार्वभौम सत्ता है ? शक्ति की दृष्टि से रूस और अमेरिका इतने अधिक आगे बढ़ चुके हैं कि आज पाकिस्तान, सीलोन या इराक तथा ईरान इत्यादि देशों की पूर्ण सार्वभौम सत्ता की घोषणा करना हास्यास्पद ही है ।

अतः अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य की प्रभुसत्ता न केवल घातक ही है वह अव्यावहारिक भी है ।

---

1. "The notion of an independent sovereign State is, on the international side, fatal to the well-being of humanity. The way in which a State should live its life in relation to other States is clearly not a matter in which that State is entitled to be the sole judge. The common life of States is a matter for common agreement between States. England ought not to settle what armaments she will erect, or the immigrants she will permit to enter. These matter affect the common life of the peoples, and they imply a unified world organised to administer them."—*Laski.*

निष्कर्ष—फ्रेंच विचारक **द्यूग्वी** (Duguit) ने प्रभुसत्ता के विकास का विश्लेषण करते हुए बतलाया कि इस सिद्धान्त का प्रारम्भ १६वीं सदी में हुआ। तब राज्य अपने आन्तरिक संगठन में सरल था। उसके कार्य थोड़े से थे वे भी केवल रक्षा और कानून-व्यवस्था बनाये रखने से ही सम्बन्धित थे, तब तो वह आदेश दे सकता था। परन्तु आज उसका स्वरूप परिवर्तित हो गया है। आज का राज्य सभी कल्याणकारी कर्तव्यों को पूर्ण करता है। उसके कर्तव्यों की सीमा बहुत विस्तृत हो गई है। अतः उसके स्वरूप की व्याख्या १६वीं सदी के पुराने सिद्धान्त द्वारा नहीं की जा सकती।

राज्य प्रभुत्व की इस आलोचना के बावजूद भी हमें यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि कानून की दृष्टि से प्रत्येक राज्य में किसी न किसी व्यक्ति-समुदाय की सर्वोच्च सत्ता विद्यमान रहती है। आस्टिन का सिद्धान्त सभी प्रकार के राज्यों पर समान रूप से लागू नहीं होता। परन्तु आज के राज्य की शक्ति इतनी समृद्ध है कि वह निश्चय ही हमारे आन्तरिक जीवन का पर्याप्त नियन्त्रण करता है। आस्टिन मुख्य रूप से विधानशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली पर विचार कर रहा था, उसका क्षेत्र राजनीतिक दर्शन नहीं था। राजनीतिक दर्शन के अनुसार तो उसका सिद्धान्त निश्चय ही त्रुटिपूर्ण है।

६०. बहुसमुदायवाद (Pluralism)

बहुसमुदायवाद के सिद्धान्त का विकास प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर राज्य की असीम प्रभुसत्ता की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं राज्य की असीम और अबाध प्रभुता के सिद्धान्त का विकास बोदीन, ग्रोशियस, हॉब्स, रूसो तथा आस्टिन इत्यादि ने किया। उन्होंने कानून की दृष्टि से राज्य की इच्छा को व्यक्ति और व्यक्ति-समुदायों से उच्च माना।

इस कानूनन प्रभु को नैतिक और आध्यात्मिक उच्चता प्रदान करने का श्रेय जर्मनी के आदर्शवादी (Idealist) विचारकों को है। ग्रोशियस, हॉब्स तथा आस्टिन इत्यादि प्रभुतावादियों ने राज्य को हमेशा ठीक और गलती न करने वाला नहीं माना, उन्होंने उनकी वैधानिक उच्चता ही स्वीकार की, नैतिक और आध्यात्मिक नहीं। न ही उन्होंने उसे (नैतिक दृष्टि से) सर्वथा उत्तरदायित्व-हीन माना। परन्तु जर्मनी आदर्शवादी विचारकों ने राज्य की कानूनी प्रभुता को नैतिक प्रभुता का रूप दे उसे सब प्रकार से उच्च मान उसकी सत्ता का विरोध एक अनैतिक कार्य मान लिया। जर्मन-विचारक हीगल का विचार था कि राजनीतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से राज्य व्यक्ति और व्यक्ति-समुदायों से ऊँचा है। उसकी सत्ता का विरोध अविचारणीय है। उसकी इच्छा सदा जनहित में होती है। वस्तुतः हीगल राज्य को पृथ्वी पर दैवीय शक्ति के रूप में देखता है। जिस प्रकार इंग्लैण्ड में कहा जाता है कि **"सम्राट् कोई भूल नहीं कर सकता** (King can do no wrong); **हीगल का भी ठीक यही विचार था कि राज्य कोई भूल नहीं कर सकता**। बहुसमुदायवाद राज्य की इस कानूनन और

नैतिक उच्चता के विरुद्ध एक स्पष्ट प्रतिक्रियास्वरूप है।

प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान में राज्य की शक्तियों का बहुधा केन्द्रीकरण हो गया था। राष्ट्रवाद के नाम पर जनता को बहुत बलिदान देने पड़े, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अपहरण हो गया, नैतिक और आध्यात्मिक पराधीनता का प्रसार हुआ। राज्यों की विधान-सभाएँ बहुमत द्वारा शासित होतीं, अल्पमत को कुचला जाता। वस्तुतः इन सभाओं में विभिन्न आर्थिक और राजनीतिक मामलों का शुद्ध बौद्धिक विवेचन नहीं हो पाता था, दलगत स्वार्थों के कारण सत्य को कुचल दिया जाता और असत्य का प्रसार होता। विश्व के अर्थ-संकट ने तो संसदीय सरकारों को बिल्कुल पंगु बना दिया। इस हालत में बहुसमुदायवाद के विकास द्वारा राज्य की शक्तियों के विकेन्द्रीकरण की माँग की गई।

राज्यों की विधान-परिषदों में प्रादेशिक प्रतिनिधित्व होता है बहुसमुदायवादी इसे त्रुटिपूर्ण मानते हैं। उनका कथन है कि इस प्रकार एक तो बहुमत की निरंकुशता स्थापित हो जाती है और दूसरे समाज के विभिन्न स्वार्थों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। वह प्रादेशिक प्रतिनिधित्व (Territorial representation) के स्थान पर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional representation) को जारी करना चाहते हैं।

आज राज्य के कार्य-भार में वृद्धि हो गई है परन्तु शक्ति का विकेन्द्रीकरण नहीं हो पाया। फलस्वरूप राज्य किसी भी कार्य को कुशलतापूर्वक नहीं कर पाता। मेकाइवर का कथन है कि **सर्वसामर्थ्यवान राज्य** (Omnipotent State) का अर्थ अयोग्यता और असामर्थ्य है। राज्य-कार्य में कुशलता लाने के लिए राज्य-शक्तियों का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है।

इस प्रकार वैयक्तिक स्वातन्त्र्य राज्य कर्तव्य-पालन में कौशल तथा लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं के समुचित विकास के लिए बहु समुदायवादी राज्य-संगठन में पर्याप्त परिवर्तन चाहते हैं। एतदर्थ बहुसमुदायवादी राज्य प्रभुत्व का खण्डन करते हैं, परन्तु अराजकवादी या साम्यवादियों की तरह वह राज्य का विनाश नहीं करना चाहते। वह तो वर्तमान राज्य को उसकी प्रभुसत्ता से वियुक्त कर उसे अन्य सामाजिक संघों के बराबर बना देना चाहते हैं। उनका कथन है कि राज्य प्रभुसत्ता का सिद्धान्त आज पुराना हो चुका है, १६वीं या १७वीं सदी में उसकी उपयोगिता थी परन्तु आज नहीं। **ए० डी० लिंडसे** का कथन है कि **अगर हम यथार्थ तथ्यों की ओर देखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि राज्य की प्रभुसत्ता का सिद्धान्त खत्म हो चुका है।"**[1]

प्रो० लास्की का कथन है कि वैधानिक प्रभुता के सिद्धान्त को राजनीति-दर्शन के लिए उपयुक्त सिद्ध करना असम्भव है।[2] **प्रो० बार्कर** भी कहते हैं कि **"कोई भी**

---

1. "If we look at the facts it is clear enough that the theory of the sovereign State has broken down."—*A. D. Lindsay.*

2. "It is impossible to make the legal theory of sovereignty valid for political philosophy."—*Laski.*

राजनीतिक सिद्धान्त इतना निष्प्राण और निष्फल नहीं हो गया जितना कि प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त।"[1] **क्रेब** का तो कथन है कि **"प्रभु-सत्ता की धारणा को राजनीति शास्त्र से निकाल ही देना चाहिए।"[2]**

राज्य और समुदाय का प्रकृति-साम्य—राज्य प्रभुसत्ता के खण्डन का मुख्य कारण राज्य और समुदायों का प्रकृति-साम्य है। प्रो० लास्की ने मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए बड़े स्पष्ट शब्दों में इस बात पर बल दिया है कि राज्य अपनी प्रकृति में सामाजिक समुदायों से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं। राज्य समाज नहीं, अपितु समाज का एक भाग है। समाज में उसकी मुख्यता आवश्यक है, परन्तु मुख्यता का अर्थ सर्वोपरिता नहीं। मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से होती है। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त अनेक समुदायों और संघों को रचता है। ये संघ सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और अन्य अनेक प्रकार के हो सकते हैं। इनमें से बहुत से समुदाय तो राज्य से भी पहले वर्तमान थे, जैसे परिवार, धार्मिक ग्रुप इत्यादि, वे राज्य-रचित नहीं। उनका प्रादुर्भाव बिना राज्य-प्रयास के हुआ है। राज्य भी अपनी प्रवृत्ति में इन समुदायों की भाँति ही एक सामाजिक समुदाय है।

मेकाइवर ने हमारे स्वार्थों को दो भागों में बाँटा है। एक तो **मुख्य स्वार्थ** (Primary interests) **है और दूसरे गौण स्वार्थ**(Secondary interests)। **राज्य हमारे मुख्य स्वार्थों का प्रतिनिधि नहीं, वह हमारे जीवन के बाह्य प्रकार से सम्बन्धित है, आन्तरिक से नहीं। दूसरे शब्दों में इसका क्षेत्र हमारी बाहरी जिन्दगी है, इस कारण हमारे दैनिक जीवन में उसके साथ हमारे घनिष्ट सम्बन्ध नहीं हो पाते।** इसके विपरीत वह परिवार, क्लब, साहित्य-गोष्ठी, ट्रेड यूनियन इत्यादि को प्रमुख स्वार्थों से सम्बन्धित मान प्रमुख समुदायों (Primary groups) में रखता है। इन समुदायों में हमारे व्यक्तित्व का बहुत सहज और स्वाभाविक विकास होता है। उनके बिना हमारा जीवन अपूर्ण और अपरिपक्व रह जाता है। जितनी घनिष्टता से हम परिवार, क्लब या चर्च से सम्बन्धित होते हैं उतना राज्य से नहीं। हमारे दैनिक जीवन में इन संघों का अधिक महत्त्व है, और राज्य का उतना नहीं। यद्यपि दोनों आवश्यक हैं। जैसे कि प्रो० लास्की ने दर्शाया है अनेक बार इन समुदायों में और राज्य में टक्कर होने पर हम राज्य की बजाय संघों का पक्ष लेंगे। दूसरे शब्दों में **हमारी समुदाय भक्ति** (Group loyalty) **और राज्य भक्ति** (State loyalty) **ज्यादा टिकाऊ और महत्त्वपूर्ण होती है।**

प्रो० लास्की का ही कथन है कि हमारे सामाजिक जीवन के अनेक पक्ष हैं, वे सभी पक्ष राज्य के नियन्त्रण में नहीं रखे जा सकते। हम केवल नागरिक ही नहीं

---

1. "No political common place has become more arid and unfruitful than the doctrine of the sovereign State."—*E. Barker.*

2. "The notion of sovereignty must be expunged from political theory."—*Krabbe.*

एक परिवार, राजनीतिक दल, क्लब और चर्च के भी सदस्य हैं, और कई अवस्थाओं में हमारे जीवन में प्रथम रूप की बजाय द्वितीय रूप की अधिक महत्ता होती है। वर्तमान समाज में तो इन संघों की संख्या बहुत बढ़ गई है, वह वैयक्तिक जीवन में महत्त्वपूर्ण हो चुके हैं। वर्तमान युग के विशाल सामाजिक संगठनों में व्यक्ति बहुत कुछ अपने आपको अकेला (Isolated) सा महसूस कर सकता है, क्योंकि इन सामाजिक संगठनों में यन्त्रवत् गौण सम्बन्धों (Secondary relations) का विस्तार अधिक है और व्यक्तिपरक घनिष्ठ सम्बन्धों का अभाव। विशाल सामाजिक संगठन में व्यक्ति बड़ी मशीन के केवल एक पुर्जे की तरह रहता है। ऐसी अवस्था में उसके आन्तरिक जीवन की अभिव्यक्ति इन छोटे-छोटे समूहों में होती है जो कि प्रत्येक राज्य में सैंकड़ो की संख्या में मिल जाते हैं। वर्तमान युग में उसके प्रकृत जीवन के प्रकृत विकास की सम्भावना इन समुदायों में अधिक है।

प्रो० लास्की का यह मत सर्वथा उचित है कि "**समाज संघात्मक है, इस कारण उसका संगठन भी संघ-प्रणाली पर होना चाहिए।**"[1] राज्य को प्रभुत्व प्रदान कर उसे सर्वोच्च पद देना न उचित है और न ही तर्कसंगत।

बहुसमुदायवाद के सिद्धान्त का विकास—बहुसमुदायवाद के सिद्धान्त के प्रेरणा-स्रोत मध्य युग के व्यापारिक और व्यावसायिक संघ (Guilds) हैं। जर्मनी के गिरके (Gierke) और इंग्लैण्ड के मेटलैण्ड (Maitland) ने मध्य युग की स्वायत्त शासनसम्पन्न संस्थाओं (Corporations) का अध्ययन किया। ये समुदाय या संघ स्वायत्त शासनाधिकारसम्पन्न थे और अपने सदस्यों पर पर्याप्त नियन्त्रण रख सकते थे। अनेक बार इनमें से संघों ने राज्यों से भी टक्कर ली। गिरके और मेटलैण्ड ने इन संघों को स्वाभाविक और प्रकृत माना है। उनका कथन है कि ये राज्य की सृष्टि नहीं और इनमें से अनेक तो राज्य-स्थापना से पूर्व भी वर्तमान थे। इन सभी का अपना वैसा ही यथार्थ व्यक्तित्व है, वैसी ही यथार्थ इच्छा है जैसी कि राज्य की। इनके अपने नियम हैं और अपने संगठन, जो कि राज्य से पर्याप्त स्वतन्त्र हैं। राज्य संगठन में इन समूहों की पृथक् सत्ता को अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए।

ब्रिटेन के मनोविज्ञानवेत्ता प्रो० मैक्डूगल (McDougall) ने भी प्रत्येक समुदाय के सामूहिक व्यक्तित्व की सत्ता को स्वीकार करते हुए उनके विकास के लिए स्वतन्त्रता का समर्थन किया है।

वर्तमान युग में कुछ समाज विज्ञानवेत्ताओं ने परम्परागत प्रजातन्त्र-व्यवस्था की आलोचना करते हुए राज्य के पुनर्संगठन की माँग की है। फ्रेंच समाजशास्त्री एमली दुरखिम विधान-सभाओं के प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के आधार पर किये गये संगठन के विरुद्ध है। वह पुराने समय की तरह के व्यावसायिक (Occupational) तथा कार्य के आधार पर संगठित समुदायों की पुनः स्थापना चाहता है। प्रत्येक शिल्पीसंघ (Guild) को अपने सदस्यों के अधिकारों

1. "Society is federal authority must be federal also."—*Laski.*

और कर्तव्यों को निश्चित कर सकने का अधिकार होना चाहिए । साथ ही राज्य-विधानपालिकाओं में इन विभिन्न आर्थिक और व्यावसायिक संघों को प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए।

कुछ विचारकों ने कुछ विशिष्ट संघों के लिए स्वायत्त शासन का समर्थन किया है। डा० फिगिस (Figgis) ने राज्याधिकारियों द्वारा समाज के आवश्यक और महत्त्वपूर्ण संघों के आन्तरिक मामलों में दखल देने की प्रवृत्ति की कड़ी आलोचना की है। डा० फिगिस ट्रेड यूनियन और चर्च के स्वशासन के प्रबल समर्थक हैं। वह इनके स्वाभाविक विकास को स्वीकार करते हैं और इनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का समर्थन करते हैं। वह प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को एक समादरणीय अन्धविश्वास मात्र मानते हैं।

पाल बाँकर (Paul Boncour) भी व्यावसायिक समुदायों की स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं। वह राज्य में दो अधिपतियों की स्थापना देखना चाहते हैं—एक राष्ट्रीय, जो राष्ट्रीय मामलों का नियन्त्रण करे और दूसरा संघीय जो विशिष्ट स्वार्थों का निर्णायक हो।

जी० डी० एच० कोल समाज से प्रभुसत्ता का सर्वथा विलोप चाहते हैं। यदि राज्य को रखना ही है तो उसके कर्त्तव्य राजनीतिक ही होने चाहिएँ, समाज के आर्थिक जीवन में उसका कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। सम्पूर्ण समाज को वे दो भागों में बाँटते हैं, एक उत्पादक (Producers), दूसरे उपभोक्ता (Consumers)। ये दोनों मिलकर राज्य की प्रभुसत्ता का उपयोग करेंगे। उत्पादकों का श्रमसंघ के रूप में विभिन्न उद्योग-धन्धों में बाकायदा संगठन रहेगा, उपभोक्ता अपना पृथक् संगठन रखेंगे। राष्ट्र की विधानपालिका व्यावसायिक आधार पर चुनी जाएगी। न्यायपालिका विधान की व्याख्या करेगी। दो संघों के पारस्परिक कलह को निपटाने के लिए एक दबाव डालने वाली संस्था की अवस्थिति अवश्य स्वीकार की गई है।

प्रो० लॉस्की राज्य की कानूनी और नैतिक उच्चता को स्वीकार नहीं करते। वह राज्य-कार्यों का अन्तिम निरीक्षक व्यक्ति को समझते हैं। राज्य के प्रति निष्ठा या भक्ति व्यक्ति की अपनी आत्मा की आवाज पर अवलम्बित होनी चाहिए। यदि व्यक्ति की आत्मा यह स्वीकार करे कि राज्य की व्यवस्था न्याय, सदाचार तथा औचित्य के सिद्धान्तों के विपरीत है तो उसे यह अधिकार है कि वह राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर सके और उसके आदेशों का उल्लंघन कर सके। वह राज्य को असीम और अबाध शक्ति सौंपने के विरुद्ध है। राज्य-शक्ति का प्रयोग कुछ विशिष्ट शर्तों और पाबन्दियों के अधीन ही हो सकता है, सर्वथा निरंकुश रूप में नहीं। उनका कथन है कि असीमित और गैरजिम्मेवार राज्य का सिद्धान्त मानवता के कल्याण से मेल नहीं खाता। राज्य-व्यवस्था का संगठन इस ढंग से किया जाना चाहिए कि संघों को पूरा-पूरा स्वायत्त शासन प्राप्त हो और राज्य मानवीय स्वार्थों का एक मात्र प्रतिनिधि न हो जाय। राज्य ही हमारी सामाजिक प्रवृत्ति का एकमात्र परिणाम नहीं,

समाज में प्राप्त अन्य समुदाय भी समान रूप से हमारी सामाजिकता के परिणाम हैं। अतः वे प्रभु-सत्ता के संघ और राज्यों में बाँटे जाने के समर्थक हैं।

मेकाइवर, बार्कर तथा लिण्डसे इत्यादि ने भी राज्य की प्रभु-शक्ति की आलोचना की है, और उसे विभाज्य माना है। मेकाइवर ने अपनी पुस्तक 'Modern State' और 'Society' में राज्य की प्रकृति की बड़ी विशद विवेचना की है। वह प्रकृत्या राज्य को संघों (Associations) से भिन्न नहीं मानता। यद्यपि वह यह स्वीकार करता है कि उसके कर्तव्य दूसरे सामाजिक समुदायों से भिन्न होते हैं। वह राज्य को केवल मात्र सामाजिक सम्बन्धों की सम्पूर्ण व्यवस्था में एकता स्थापित करने का ही कार्य सौंपता है। बार्कर यद्यपि संघों के व्यक्तित्व-सिद्धान्त को नहीं मानता फिर भी वह यह अवश्य स्वीकार करता है कि वर्तमान राज्य-व्यवस्था में संघों को पर्याप्त स्वशासन प्राप्त होना चाहिए। लिण्डसे (A. D. Lindsay) राज्य को संघों पर उतना अधिकार देना चाहते हैं जितना कि नागरिक देने को तैयार हों। वह राज्य तथा संघ किसी के व्यक्तित्व को स्वीकार नहीं करते।

राज्य प्रभुत्व का बहुसमुदायवादियों ने अन्तर्राष्ट्रीयता और कानून के आधार पर भी खण्डन किया है, अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से प्रभुत्व किसी प्रकार घातक हो सकता है और किस प्रकार कानून राज्य का आदेश मात्र ही नहीं, इस विषय पर हम पीछे पर्याप्त लिख आये हैं। उनको यहाँ दोहराने की आवश्यकता नही।

गेटल ने बहुसमुदायवादियों के सम्पूर्ण सिद्धान्त को संक्षिप्त शब्दों में इस प्रकार रखा है—**"बहुसमुदायवादी राज्य की असाधारणता से इनकार करते हैं। उनका विचार है कि दूसरे संघ भी (राज्य के) समान ही महत्त्वपूर्ण और प्रकृत हैं। ये समुदाय अपने मामलों में उतने ही प्रभुत्वपूर्ण हैं जितना राज्य अपने मामलों में। वे इस बात पर विशेष बल देते हैं कि व्यवहाररूप में राज्य अनेक बार अपनी इच्छा को अपने भीतर स्थित समुदाय के विरोध पर लागू नहीं कर सकते। वे इस बात से इनकार करते हैं कि केवल शक्तिसम्पन्न होने के कारण राज्य उच्चाधिकार सम्पन्न भी है। वे उन सब समुदायों को बराबर अधिकार देते हैं जिनके प्रति व्यक्ति निष्ठावान है और जो समाज में महत्त्वपूर्ण कर्तव्य पूर्ण करते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक संघ प्रभुता-सम्पन्न है। राज्य एक अविभाज्य इकाई नहीं, राज्य सर्वोच्च नहीं, (और उसके अधिकार) असीम नहीं।"**[1]

1. "The pluralists deny that the State is a unique organisation, they hold that other associations are equally important and natural, they argue that such associations for their purpose are as sovereign as the State is for its purpose. They emphasize the inability of the State to enforce its will in practice against the opposition of certain groups within it. They deny that the possession of force by the State gives it any superior right. They insist on the equal rights of all groups that command the allegiance of their members and that perform valuable functions in society. Hence sovereignty is possessed by many associations. It is not an indivisible unit, the State is not supreme or unlimited."—*Gettell.*

आलोचना—बहुसमुदायवाद के सिद्धान्त में निश्चय ही पर्याप्त सत्यांश है। राज्य की निरंकुशता के विरुद्ध इन्होंने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और अधिकारों की महत्ता का जोरदार समर्थन किया है। आस्टिन के कानूनी प्रभु को नैतिक रूप देकर हीगल इत्यादि आदर्शवादियों ने एक ऐसे सर्वशक्तिसम्पन्न राज्य की स्थापना का समर्थन किया, जो कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और अधिकार को कुछ भी महत्त्व नहीं देता था। वे राज्य की बलि-वेदी पर व्यक्ति के अधिकारों को विसर्जित कर देते हैं। बहुसमुदायवाद इस विचारधारा के प्रति एक प्रशंसनीय प्रतिक्रिया कही जा सकती है।

१९वीं शताब्दी में व्यक्तिवादी विचारकों ने राज्य के विरुद्ध व्यक्ति को रखा था, और उसके हित-समर्थन में राज्य-शक्ति के नियन्त्रण का समर्थन किया। परन्तु उनका दृष्टिकोण भ्रामक और अवैज्ञानिक था। बहुसमुदायवाद ने राज्य और व्यक्ति समुदाय को बराबर रखा है। नागरिक के व्यक्तित्व का विकास संघ या समूह से बाहर सम्भव नहीं, विशेष रूप से वर्तमान समाज के जटिल संगठन में इन समुदायों का व्यक्ति जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः राज्य संगठन में उनको समुचित महत्त्व दिया जाना चाहिए। सामाजिक संघों तथा समूहों में संगठित व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा का यह निश्चय ही एक सद्प्रयत्न है।

इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि यदि सम्पूर्ण प्रभुत्वशक्ति राज्य में स्थापित कर दी जाय और राज्य को हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का अधिकार हो तो हमारी वैयक्तिक स्वतन्त्रता सदा राज्य की दया पर निर्भर रहेगी। असीम राज्य-शक्ति का परिणाम अधिनायकतन्त्र की स्थापना होगा। ऐसे खतरों से बचने के लिए राज्य की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान आवश्यक है।

राजकीय सत्ता का केन्द्रीकरण भी अनेक बुरे परिणामों का जनक हो सकता है। राजकीय शक्ति के समुचित प्रयोग के लिए उस पर नियन्त्रण अनिवार्य है। अनियन्त्रित शक्ति का सदा दुरुपयोग होता है। दूसरा राज्य-शासन में यथोचित कौशल लाने के लिए शक्ति का बँटवारा होना ही चाहिए। जिस प्रकार श्रम-विभाजन प्रगतिशील समाज-व्यवस्था का द्योतक है, ठीक वैसे ही राज्य के कर्तव्यों का बँटवारा भी उन्नतिशील राज्य-व्यवस्था के लिए आवश्यक है। आज के युग में किसी भी राज्य के लिए संघों की महत्ता को अस्वीकार कर सकना असम्भव है। व्यावसायिक चुनाव और संघात्मक व्यवस्था की योजना वस्तुतः विचारणीय है। परन्तु बहुसमुदाय-वादियों का दृष्टिकोण बहुत-कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण है। इसमें सन्तुलन का अभाव है। उन्होंने हीगल के असीम प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की जोरदार आलोचना की है, परन्तु उसके साथ ही वह यह भूल जाते हैं कि हीगल के अनुयायियों को छोड़कर अन्य सभी राज्य की सत्ता पर नैतिक और बौद्धिक पाबन्दियों को स्वीकार करते हैं। हॉब्स, रूसो और आस्टिन सभी राज्य की शक्ति को नैतिक और व्यावहारिक दृष्टि से सीमित मानते हैं।

संघ और समुदाय सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु इतने अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं कि वह राज्य का स्थान ग्रहण कर सकें। यह

सभी समुदाय राज्य के भीतर ही अवस्थित रह सकते हैं, उनके पारस्परिक सम्बन्धों का नियन्त्रण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नहीं।

बहुसमुदायवादी यद्यपि अराजकतावादी नहीं, परन्तु उनके सिद्धान्त का व्यावहारिक परिणाम अराजकता के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा। सभी समुदायों को बराबर की स्थिति में रखने से और नियामक शक्ति के अभाव में क्या समाज में मात्स्य न्याय नहीं फैल जायगा? क्या दो समुदायों के पारस्परिक कर्तव्य क्षेत्रों में कभी संघर्ष उत्पन्न नहीं होगा? इनके पारस्परिक विरोध का कौन निपटारा करेगा? हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारे सामूहिक जीवन का आधार राज्य की नियन्त्रण शक्ति है, उसके अभाव में सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था बालू की दीवार की तरह ढह जायगी। फिर समाज में सैकड़ों समुदायों के पारस्परिक कार्य-क्षेत्र और स्वार्थों में संघर्ष सम्भव है। इस संघर्ष का निपटारा उच्च शक्ति सम्पन्न राज्य ही कर सकता है।

समुदाय अपनी प्रकृति और कर्तव्यों में भी राज्य के समान नहीं। राज्य एक आवश्यक समुदाय है, उसकी सदस्यता हमारे लिए अनिवार्य है। समुदाय चन्द एक स्वार्थों से सम्बन्धित होते हैं। उनका सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन या उसके सम्पूर्ण स्वार्थों से नहीं होता। राज्य का सम्बन्ध हमारे सम्पूर्ण जीवन और हमारे विविध स्वार्थों से है। मिस फालेट ने ठीक ही कहा है कि **"राज्य विभिन्न समुदायों से नहीं बन सकता, क्योंकि किसी भी समुदाय या संस्था द्वारा मेरे सम्पूर्ण जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। आदर्श राज्य सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करता है। नागरिकता किसी भी व्यवसायात्मक समुदाय की सदस्यता से बहुत ऊपर है। राजनीति में सम्पूर्ण मनुष्यत्व की आवश्यकता होती है। आदर्श राज्य अपने में लोगों को लीन नहीं करता। राज्य व्यक्तियों का समावेश करता है, अर्थात् व्यक्तियों का उसमें उचित स्थान रहता है। सच्चा राज्य अपने में सभी प्रकार के वर्ग और हित के लोगों को एकत्रित करता है और विभिन्न भक्तियों के एकीकरण की कोशिश करता है। आत्मा का निवास-स्थान राज्य में ही है।"**[1] केवल मिस फालेट ही नहीं अन्य बहुसमुदायवादी भी राज्य की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसे सर्वोपरि शक्तिसम्पन्न भी स्वीकार कर लेते हैं। बहुसमुदायवाद के प्रबल समर्थक प्रो० लास्की भी राज्य के सम्पूर्ण विनाश के हक में नहीं। वह राज्य और समुदाय में भेद स्वीकार करते हुए राज्य को वह संघ मानते हैं जो कि मनुष्य के नागरिक रूप के अधिकारों की रक्षा करता है। अन्यत्र वह राज्य को समाज

1. "The State cannot be composed of groups because no group nor any number of groups can contain the whole of me, and the ideal State demands the whole of me. My citizenship is something bigger than my membership in the vocational group. We want the whole of man in politics. The ideal unified State is not all absorptive. It is all inclusive. The true State must gather up every interest within itself. It must take our many loyalties and find how it can make them one. The home of my soul is in the State."—*Follett.*

की सुरक्षित शक्ति के रूप में देखता है, जिसका काम विभिन्न समुदायों की कार्य-वाहियों का नियन्त्रण और नियमन करना है।

पाल बॉकर (Paul Boncour) **सामाजिक हित और राष्ट्रीय एकता का एक मात्र प्रतिनिधि राज्य को ही मानता है। उनके अनुसार राज्यों का काम समुदायों के पारस्परिक कलह को रोकना और नागरिकों के हित की रक्षा करना है। गिरके** (Gierke) **राज्य की विशेष स्थिति को स्वीकार करता है और यह मानता है कि इसकी इच्छा सम्पूर्ण जनहित का प्रतिनिधित्व करती है।**

बार्कर ने भी स्वीकार किया है कि चाहे हम **धर्म संघ या व्यावसायिक संघों की महत्ता को कितना ही क्यों न मानें तो भी हमें राज्य को उच्च शक्ति के रूप में पर्याप्त अधिकार देने ही पड़ेंगे।**

बहुसमुदायवादियों की एक और बड़ी कठिनाई यह है कि वह यह नहीं स्पष्ट कर पाते कि संघ-प्रणाली पर आधारित समाज में राज्य के क्या कर्तव्य होंगे? दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यद्यपि वह राज्य को समाप्त करने के पक्ष में नहीं परन्तु उसके कर्तव्य क्या हों, यह नहीं बता पाते। निश्चय ही वे राज्य-शक्ति के विकेन्द्रीकरण के हिमायती हैं, इस बात के औचित्य से आज इनकार भी नहीं किया जा सकता। परन्तु विकेन्द्रीकरण का अर्थ राज्य-शक्ति का विलोप तो नहीं है। राज्य की प्रभुशक्ति में और राज्य शक्ति के विकेन्द्रीकरण में कोई मौलिक विरोध नहीं। संघ-प्रणाली के आधार पर समाज-व्यवस्था की स्थापना के बावजूद भी सर्वोच्च-शक्तिसम्पन्न राज्य रह सकता है। बहुसमुदायवाद का यह कथन तो सत्य है कि राज्य नैतिक दृष्टि से सर्वोच्च नहीं, वह दैवीय संगठन नहीं, उसकी असीम और अबाध शक्ति नहीं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि राज्य की कानूनन उच्चता और नियन्त्रण-शक्ति को ही सर्वथा अस्वीकार कर दिया जाय। शान्ति और व्यवस्था के हित में प्रत्येक राज्य में वैधानिक दृष्टि से ऐसे संगठन की परम आवश्यकता रहती है जिसे कि सर्वोच्च शक्तिसम्पन्न माना जाय।

Important Questions

	Reference
1. Discuss the characteristics of Sovereignty. [*Pb. 1954 (Supp.), Calcutta 1948, 1933, 1928*]	Art. 58.
2. What is Pluralism? Discuss. (*Pb. 1954*)	Art. 60.
3. 'To divide Sovereignty is to destroy it.' Discuss the nature of Sovereignty. (*Pb. 1953*)	Art. 58.
4. Define Sovereignty and distinguish between 'Legal' 'Political' and 'Popular' Sovereignty. (*Pb. 1952*)	Art. 57.
5. Critically examine Austin's theory of Sovereignty. (*Pb. 1951, 1950, 1946, Ag. 1938, All. 1930, Nag. 1942*)	Art. 59.
6. What do you understand by Sovereignty? What are its implications, regarding the internal and external relations of the State? (*Pb. 1950, 1947*)	Arts. 55 and 57.
7. Distinguish between De Jure and De Facto Sovereignty. (*Cal. 1951*)	Art. 57.
8. Give a brief history of the doctrine of Sovereignty. (*All. 1934, Bombay 1953*)	Art. 56.

अध्याय ६

राज्य-प्रकृति

(Nature of the State)

राज्य की प्रकृति क्या है या उसका कैसा स्वरूप है ? राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों की क्या स्थिति है ? ये कुछ ऐसे विचारणीय प्रश्न हैं कि जिनके उत्तर राज्य-विज्ञानवेत्ताओं ने विभिन्न प्रकार से दिये हैं। इस अध्याय में हम व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों की विवेचना करने वाले विभिन्न सिद्धान्तों पर विचार करेंगे।

६१. राज्य का सावयव सिद्धान्त (The Organic theory of the State)

राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों के विवेचन के निमित्त रचित सिद्धान्तों में यह एक प्रमुख सिद्धान्त है। राज्य का संगठन एक शरीर के समान है और जिस प्रकार शरीर और उसके विभिन्न अंग परस्पर सम्बन्धित होते हैं, ठीक वैसे ही राज्य और व्यक्ति भी परस्पर सम्बन्धित हैं। जिस प्रकार एक शरीर में विभिन्न अंग होते हैं और वे अन्योन्याश्रित होते हैं, वैसे ही राज्य अनेक व्यक्तियों से मिलकर बनता है, वे सब परस्पर सम्बन्धित होते हैं और अन्त में अपने जीवन के लिए सम्पूर्ण समाज-शरीर पर आश्रित होते हैं। गार्नर के अनुसार "**सावयव सिद्धान्त एक प्राणि-वैज्ञानिक धारणा है जो राज्य को एक शरीरधारी व्यक्ति मानती है। उसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों को जीवकोष** (Sells) **के समान समझती है, और राज्य तथा व्यक्तियों के बीच ठीक उसी प्रकार के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों की कल्पना करती है, जैसा शरीर और उसके अंगों के बीच होता है।**"[1] इस सिद्धान्त की रचना मुख्य रूप से संविदा सिद्धान्त के परिणामों को मिथ्या साबित करने के लिए की गई। संविदा सिद्धान्त (Theory of social contract) राज्य को एक बनावटी (Artificial) और अप्रकृत (Unnatural) संगठन मात्र मानता है। उसके अनुसार राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध यन्त्रवत् (Mechanical) हैं। राज्य एक यन्त्र की तरह कार्य करता है और व्यक्ति इन विशाल यन्त्रों को अपनी इच्छानुसार चलाते हैं।

सावयव सिद्धान्त का प्रयोग कुछेक विचारकों ने तो केवल उपमा के रूप में

1. "It is a biological conception which describes the State in terms of natural science, views the individuals who compose it as analogous to the cells of a plant or animal, and postulates a relation of interdependence between them and society such as exists between the organs and parts of a biological organism and the whole structure."—*Garner.*

किया। उन्होंने राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों की स्पष्ट व्याख्या के लिए व्यक्ति-शरीर और समाज-शरीर में साम्य माना। दूसरी ओर अनेक विचारक राज्य को दरअसल एक शरीरधारी प्राणी मानते हैं, वे उसे उसी प्रकार जीवनसम्पन्न मानते हैं जैसे मनुष्य या पशु को। कुछ विचारक तो उसे देवी-देवता का रूप दे उस पर लिंग-भेद का भी आरोप करते हैं। जर्मन विचारक ब्लंशली राज्य को पुल्लिग और चर्च को स्त्रीलिंग मानता है। मानवीयकरण (Personification) की यह प्रवृत्ति पिछली कुछ सदियों में बहुत महत्त्वपूर्ण हो गई है फलतः सभी राज्यों और राष्ट्रों को कोई न कोई दैवीय या मानवीय स्वरूप प्रदान किया ही गया है।

सावयव सिद्धान्त का विकास (History of the organic theory)—राज्य का सावयव सिद्धान्त उतना ही पुराना है जितना कि राज्य-दर्शन। सभी युगों में किसी न किसी रूप में इस सिद्धान्त का विवेचन मिल जाता है। प्राचीन यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो के विचारों में एतद्विषयक धारणा का बड़ा स्पष्ट विवेचन मिलता है। प्लेटो के समय में अनेक राजनीतिविशारद राज्य-व्यवस्था को अप्राकृतिक मानते थे। वे राज्य की यन्त्रवत् स्थिति में यकीन करते थे। प्लेटो राज्य को देहधारी प्राणी के समान मानता है। वह कहता है कि राज्य एक विशालकाय व्यक्ति के समान है, वह इच्छा और व्यक्तित्वसम्पन्न है। मानवात्मा को उसने तीन गुणों से सम्पन्न माना है। ये गुण हैं—बुद्धि, साहस तथा इच्छा। इन तीनों गुणों के समन्वय और सहयोग से ही मानवात्मा स्थितप्रज्ञ और धर्मयुक्त हो सकती है। राज्य में भी मानवात्मा के तीन गुणों के प्रतिरूप तीन वर्ग हैं, ये वर्ग हैं—शासक, योद्धा और श्रमिक। इन तीनों के पारस्परिक सहयोग से ही राज्य में धर्म (Justice) की स्थापना सम्भव है। उसके शिष्य अरस्तू ने भी मानव-शरीर के संगठन में और राज्य-संगठन में समानता को स्वीकार किया है।

रोमन विचारक सिसरो (Sicero) भी प्राचीन यूनानी विचारधारा से प्रभावित था। उन्होंने शासक की तुलना आत्मा से की है। जिस प्रकार आत्मा मनुष्य-शरीर पर शासन करती है, ठीक वैसे ही शासक राज्य-शरीर पर शासन करता है।

प्राचीन भारत में भी अनेक विचारकों ने मनुष्य शरीर संगठन की और राज्य संगठन की तुलना की है। भारतीय समाज चार वर्गों में विभाजित हैं। ये वर्ग हैं—"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। इन चार वर्गों की मनुष्य शरीर के चार भागों से तुलना की गई है। यजुर्वेद के एक मन्त्र के अनुसार समाजरूपी शरीर का मुख ब्राह्मण है, भुजाएँ क्षत्रिय हैं, पेट या जाँघें वैश्य तथा पैर शूद्र हैं।"[1] अन्यत्र शुक्र नीति तथा महाभारत में भी राज्य शरीर और मनुष्य-शरीर की तुलना कर व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों की व्याख्या की गई है।

(२) वर्तमान युग में सावयव सिद्धान्त का विकास—मध्यकालीन यूरोप में

1. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्य कृतः
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भयां शूद्रोऽजायत ॥

भी अनेक विचारकों ने राज्य और मानव-शरीर की तुलना की है । अनेक ईसाई विचारकों ने चर्च को जीवित प्राणी के सदृश माना है । इसी प्रकार थॉमस एक्वीना (Thomas Acquinas), जॉन ऑफ सैलिसबरी (John of Salisbury), मार्सिलियो (Marsigio), ओकहम (Orekham), और अलथ्यूसियस (Althusis), इत्यादि ने भी समाज, राज्य और अन्य सामाजिक संघों की तुलना मनुष्य-शरीर से की है ।

आधुनिक युग के प्रारम्भ में यद्यपि हॉब्स और रूसो ने सामाजिक संविदा सिद्धान्त की रचना की और समाज को एक अप्राकृतिक (Artificial) रचना माना तो भी उन्होंने सावयव सिद्धान्त को अनेक स्थान पर उपमा के रूप में प्रयुक्त किया । हॉब्स ने राज्य को एक बड़े शरीर वाला दानव माना है । यद्यपि यह एक कृत्रिम दानव ही है । अपनी शक्ति में वह मनुष्य से बहुत ऊपर है । रूसो राज्य की कार्यपालिका और विधानपालिका को क्रमशः राज्य का मस्तिष्क और हृदय मानता है । वह राज्य तथा मानव-शरीर दोनों में ही बल तथा इच्छा की प्रेरणा शक्ति की अवस्थिति स्वीकार करता है ।

वर्तमान युग के प्रारम्भ में डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त (Theory of evolution) का बहुत प्रचार हुआ । सामाजिक जीवन और संस्थाओं के विकास-क्रम का इसी सिद्धान्त द्वारा अध्ययन किया गया । १६वीं तथा १७वीं सदी में संविदा-सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि राज्य एक बनावटी और अप्राकृतिक रचना है । १९वीं सदी में इस सिद्धान्त का तीव्र विरोध हुआ, और विकासवाद के सिद्धान्त का आश्रय ले राज्य के सावयाव सिद्धान्त की बड़े जोर-शोर से पुनः स्थापना की गई । इस सिद्धान्त द्वारा यह साबित करने का प्रयत्न किया गया कि राज्य मनुष्य-प्रकृति के क्रमिक और आवश्यक विकास-क्रम का फल है । प्रारम्भ में जर्मनी में इस सिद्धान्त का विशेष प्रचलन हुआ । क्रौज (Krause), वेट्ज़ (Waitz), गोरेज़ (Gorres), तथा ज़करिया (Zacharia), इत्यादि अनेक विचारकों ने इसका जबरदस्त समर्थन किया । इनके अतिरिक्त जर्मनी के आदर्शवादी विचारक हीगल फिचे (Fitche) तथा नीत्शे वगैरह ने भी यूनान के प्राचीन राजनीतिक विचारकों का अनुसरण करते हुए राज्य को व्यक्तित्वसम्पन्न मान व्यक्ति और समाज के अन्योन्याश्रित (Interdependent) सम्बन्धों की व्याख्या की ।

जर्मन विचारकों में ही ब्लंश्ली भी राज्य के सावयव सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं । परन्तु ब्लंशली ने राज्य और मानव-शरीर की तुलना बहुत बढ़ा-चढ़ाकर की है । जैसा कि हम पीछे देख आये हैं वह राज्य को न केवल जीवात्मासम्पन्न शरीर ही समझता है अपितु उस पर लिङ्ग-भेद का भी आरोप करता है । ब्लंश्ली का कथन है कि **"जैसे एक तैल चित्र तैल-बिन्दुओं का संग्रह मात्र नहीं है, उससे कुछ अधिक है, जैसे एक प्रस्तर मूर्ति पत्थर के टुकड़ों का संग्रह मात्र नहीं है और जैसे मनुष्य जीव-कोष और रुधिर-कोषों का संग्रह मात्र नहीं बल्कि उससे कुछ अधिक है, उसी**

प्रकार राष्ट्र नागरिकों का समूह मात्र नहीं, और राज्य केवल बाह्य विधियों का संग्रहमात्र ही नहीं, उससे कुछ अधिक है।"[1]

अंग्रेज विचारक हर्बर्ट स्पैन्सर सावयव सिद्धान्त के समर्थकों में प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त आस्ट्रिया के अलबर्ट रॉयल, जर्मनी के गिरके (Gierke) फ्रांस के अगस्त कामते तथा इंग्लैण्ड के मेटलैण्ड ने भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

६२. स्पैन्सर का राज्य विषयक सावयव सिद्धान्त (Spencer's Theory of State Organism)

राज्य के सावयव सिद्धान्त का हर्बर्ट स्पैन्सर (Herbert Spencer) ने बड़ा विशद विवेचन किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'Principles of Sociology' में डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए प्राणिशास्त्र के अनेक नियमों को सामाजिक विकास पर घटित किया है।

समाज को स्पैन्सर एक प्राकृतिक शरीर के समान मानता है। उसका विचार है कि दोनों एक दूसरे से अपने संगठन और आवश्यक लक्षणों में भिन्न नहीं।

(१) जिस प्रकार एक शरीर जीव-कोषों (cells) के संगठन से बनता है, राज्य भी व्यक्तियों से मिलकर बनता है। दोनों रूपों में घटक शरीर के कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

(२) राज्य शरीर और प्राणि शरीर अपने विकास-क्रम में एक जैसे नियम या गति का अनुसरण करते हैं। दोनों का विकास कीटाणु (Germs) के रूप में होता है। दोनों ही अपने संगठन में सरल और एक जैसे होते हैं। जैसे-जैसे उनका विकास होता है वैसे-वैसे उनमें असमानता और जटिलता बढ़ती जाती है। जिस प्रकार प्राणि-शरीर अपने प्रारम्भिक रूप में बहुत सरल था ठीक वैसे ही समाज में शरीर भी अपने संगठन में बहुत सरल था। जीवों में जो सबसे निम्न श्रेणी के थे उनके पृथक्-पृथक् कार्यों को सम्पन्न करने के लिए पृथक् अंग नहीं थे। उनके न तो पृथक् उदर थे, न कान, न फेफड़े और न आँखें और कान। उनके संगठन में एक ही जीवकोष होता था और वही यह सब कार्य सम्पन्न कर देता था। अगर हम उस प्राणि-शरीर का आज के मनुष्य शरीर से मुकाबला करें तो यह हमें बहुत ही उन्नत और अपने संगठन में जटिल नजर आयेगा। मनुष्य शरीर में विशिष्ट कामों के सम्पन्न करने के लिए विशिष्ट अंग हैं। यहाँ श्रम विभाजन (Division of labour) है।

समाज का प्रारम्भिक संगठन भी बहुत सरल था। प्रारम्भिक समाज भी

---

1. "As an oil painting is something more than a mere aggregation of drops of oil, as a statue is something more than a combination of marble particles, as a man is something more than a mere quantity of cells and blood corpuscles, so the nation is something more than a mere aggregation of citizens, and the State something more than a mere collection of externalregulations."—*Bluntschli.*

एक ही प्रकार के वर्ग से बना हुआ होता था, या तो सभी शिकारी होते या सभी औजार बनाने वाले या योद्धा अथवा कुटीर-निर्माता होते। विभिन्न प्रकार के कामों को सम्पन्न करने के अर्थ विभिन्न वर्गों का अभाव होता अथवा यूं कहिए कि श्रम-विभाजन (Division of labour) का अभाव था। आज का समाज अपने संगठन में बहुत जटिल है, पूर्ण श्रम-विभाजन है। अलग-अलग कार्य करने के लिए अलग-अलग वर्ग हैं, वे अपने क्षेत्र में निपुण हैं। आज सैनिक, वैधानिक, शासकीय व्यापारिक तथा व्यावसायिक कर्तव्यों के पालन के लिए विभिन्न वर्ग हैं, जो अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में निपुण (Specialized) हैं। इस प्रकार प्राणि-शरीर और समाज शरीर अपने संगठन के विकास में एक जैसे नियमों का अनुसरण करते हैं।

(३) प्राणि-शरीर के अंग-प्रत्यंग एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। प्रत्येक अंग के ठीक-ठीक कार्य सम्पन्न करने पर ही शरीर का स्वास्थ्य और बल कायम रहता है। किसी भी एक अंग की बुरी अवस्था शरीर के अन्य अंगों की शक्ति-हीनता का कारण बन जाती है। ठीक इसी प्रकार राज्य की शक्ति व समृद्धि भी राज्य में प्राप्य विविध मनुष्यों व वर्गों के स्वास्थ्य, सामर्थ्य और शक्ति पर आश्रित है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अवयवों के ठीक-ठीक काम न करने पर शरीर को हानि पहुँचती है, उस प्रकार समाज के वर्गों के पारस्परिक सहयोग के अभाव में सामाजिक जीवन पंगु हो जाता है।

(४) प्राणि-शरीर में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। पुराने जीवकोष और रुधिरकोष नष्ट होते रहते हैं, उनका स्थान नये जीवकोष और रुधिरकोष लेते रहते हैं। समाज शरीर में वृद्ध, रोगी तथा अनुपयुक्त व्यक्ति मर जाते हैं और उनका स्थान नये व्यक्ति ले लेते हैं। इस प्रकार प्राणि-शरीर और समाज शरीर दोनों ही अपने को कायम रखते हैं।

(५) प्राणि-शरीर किसी एक जीवकोष या अंग पर आश्रित नहीं होता, हाथ काट देने से शरीरान्त नहीं हो जाता। ठीक इसी प्रकार समाज में कोई एक व्यक्ति, वर्ग या समुदाय ही राज्य के जीवन का कारण नहीं है उसके नष्ट होने पर भी राज्य कायम रहता है।

शरीर-संगठन और राज्य-संगठन की समानताएँ—स्पैन्सर ने केवल समाज-शरीर और प्राणि-शरीर के विकास क्रम की ही एकता का वर्णन नहीं किया, उसने दोनों के संगठन में भी समानता को पाया है। जिस प्रकार शरीर में पोषण, वितरण और नियमन की तीन प्रक्रियाएँ होती हैं, राज्य में भी उन्हीं के अनुरूप तीन प्रक्रियाओं की अवस्थिति रहती है। प्राणि-शरीर में मुख, पेट तथा आँतों द्वारा सम्पूर्ण शरीर का पोषण होता है, इन्हीं द्वारा अन्न पेट में जाता और पचता है। राज्य में भी पोषण-व्यवस्था (Sustaining system) रहती है और इस व्यवस्था के आधार-कृषि और उद्योग व्यवस्था हैं।

शरीर में नसें सभी अंग-प्रत्यंग में खून पहुँचाती हैं और इस प्रकार उनकी शक्ति को कायम रखती हैं। ठीक इसी तरह यातायात के साधन रेल, सड़कें तथा

डाक-तार इत्यादि राज्य-शरीर में नसों का काम देते हैं । इस प्रकार शरीर और राज्य दोनों में ही वितरण व्यवस्था (Distributary system) रहती है।

प्राणि-शरीर में नियमन व्यवस्था (Regulating system) का आधार दिमाग है । वह हमारी शरीर-चेष्टाओं का नियन्त्रण करता है, इसी के समानान्तर राज्य में सरकार (Government) रहती है । सरकार राज्य शरीर में व्यक्ति और व्यक्ति-समूह की चेष्टाओं का नियन्त्रण करती है।

राज्य-संगठन में पूर्ण एकता सम्पन्न नहीं—इन सभी तुलनाओं से स्पैन्सर ने यह सिद्ध किया कि राज्य सावयव है। परन्तु वह यह स्वीकार करता है कि प्राणि-शरीर और समाज शरीर के संगठन और प्रकृति में अन्तर है । प्राणि-शरीर (Animal organism) का स्वरूप निश्चित होता है, उसके अंग-प्रत्यंग आपस में जुड़े हुए होते हैं, वह अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रखते, वह शरीर के **यांत्रिक** (Mechanical) भाग हैं। इस प्रकार शरीर अपने संगठन में **स्थूल** (Concrete) **होते हैं** और राज्य के अंग **सूक्ष्म और चेतन** (Discrete) **होते हैं** । राज्य के अंग व्यक्ति आपस में जुड़े हुए नहीं होते, वे एक दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं।

समाज शरीर और व्यक्ति शरीर में दूसरा बड़ा अन्तर चेतना-केन्द्र की अवस्थिति के सम्बन्ध में है । व्यक्ति शरीर में **चेतना शरीर के एक छोटे** से भाग में केन्द्रित होती है और वही शरीर का ज्ञान-केन्द्र होती है, परन्तु **समाज शरीर में ऐसे चेतना-केन्द्र** (Centre of common consiousness) का अभाव होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने ज्ञान या चेतना-केन्द्र से युक्त होता है।

स्पैन्सर के विचारों का निष्कर्ष—व्यक्ति शरीर और समाज शरीर में प्राप्य यह मूलभूत भेद स्पैन्सर के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं । वह इन्हीं भेदों के आधार पर अपने व्यक्तिवाद के सिद्धान्त की पुष्टि करता है । वह यह नहीं मानता कि इन भेदों की अवस्थिति में राज्य का सावयव सिद्धान्त बेकार हो जाता है, उसका आधार ही नहीं रहता । वह तो समाज के शरीर संगठन को स्वीकार करता हुआ और इन भेदों को भी मानता हुआ अपने विशिष्ट परिणाम निकालता है।

शरीर का संगठन इस प्रकार का कि उसमें है शरीर-कल्याण से सभी अंगों का कल्याण सम्भव है। परन्तु समाज शरीर में समृद्धि का चेतना-केन्द्र के अभाव में और बिखरे हुए संगठन के कारण सामूहिक हित का सवाल ही नहीं पैदा होता। प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण में ही सामाजिक कल्याण है । अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने हित साधन की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। समाज व्यक्ति-कल्याण के लिए स्थित है आत्म-कल्याण के लिए नहीं।

स्पैन्सर के ये विचार आत्म-विरोधी हैं । अपने इन निष्कर्षों द्वारा समाज के सावयव सिद्धान्त को ही खत्म कर डालता है।

६३. सावयव सिद्धान्त की आलोचना

राज्य का सावयव सिद्धान्त १९वीं सदी के व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया है। हम

पहले ही देख चुके हैं कि संविदावादियों की राज्य के बनावटी होने की धारणा के विपरीत इन्होंने राज्य को मनुष्य शरीर की भाँति सर्वथा प्रकृत माना है । उन्होंने राज्य को ऐतिहासिक माना है और विकासवाद का परिणाम कहा है । व्यक्ति और राज्य को अन्योन्याश्रित मान व्यक्ति तथा समाज-विरोध विषयक भ्रान्त धारणा को इसके समर्थकों ने दूर किया । इस सिद्धान्त द्वारा यह साबित करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया कि व्यक्ति और समाज एक दूसरे से पृथक् नहीं रह सकते, इन दोनों का मेल अप्राकृतिक और आवश्यक बुराई नहीं, यह सर्वथा स्वाभाविक है। इस प्रकार १९वीं शताब्दी के व्यक्तिवाद द्वारा फैलाई अनेक भ्रान्तियों को इस सिद्धान्त ने खत्म कर दिया । इस सिद्धान्त को जब कभी केवल तुलना के रूप में प्रयुक्त किया गया और जब कभी इसे समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों की स्पष्ट व्याख्या के लिए उदाहरणस्वरूप पेश किया गया तो यह सर्वथा उपर्युक्त रहा। इसमें कोई दोष नहीं माना गया । **यह निश्चय ही एक सत्य है कि समाज और व्यक्ति अन्योन्याश्रित हैं, समाज की व्यक्तियों से परे कोई अवस्थिति नहीं हो सकती, उसका व्यक्तियों से पृथक् कोई जीवन नहीं** । प्राचीन विचारकों ने इस सिद्धान्त को इसी रूप में प्रस्तुत किया था, उन्होंने समाज और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों की घनिष्टता का ही प्रदर्शन इस द्वारा किया।

यह सिद्धान्त तभी बेतुका और बेकार हो जाता है जब कि इसे उदाहरण या उपमा के रूप में प्रयुक्त न कर एक वास्तविकता मान लिया जाता है । इस स्थिति में ही इस सिद्धान्त की निम्नलिखित प्रकार से आलोचना की जाती है—

(१) समाज को देहधारी मान व्यक्ति को उस देह के जीवकोष (Cells) स्वीकार करना बिलकुल अर्थहीन और असंगत-सी बात है । समाज के व्यक्तियों को और शरीर के जीवकोषों (Cells) को समान नहीं माना जा सकता । शरीर के जीवकोष निष्प्राण हैं, वे इच्छा-युक्त नहीं, उनके शरीर के भीतर घूमने-फिरने तथा सोचने-समझने की कोई सम्भावना नहीं, न ही उनमें ऐसा करने की शक्ति है । वे तो शरीर के यांत्रिक भाग (Mechanical parts) हैं। इसके विपरीत समाज के सदस्य व्यक्ति हैं, जो जीवित हैं, इच्छा और संकल्प शक्तिसम्पन्न हैं । वे बौद्धिक और नैतिक स्वतन्त्रता युक्त होते हैं। उनमें विचार करने की शक्ति और उस विचार-शक्ति के अनुप्रेरणा पर कार्य करने की स्वतन्त्रता भी है। ऐसी अवस्था में वे समाज शरीर के केवल मात्र यांत्रिक भाग (Mechanical parts) नहीं हो सकते।

व्यक्ति और जीवकोषों (Cells) की इस विभिन्नता को मानकर स्वयं स्पन्सर ने राज्य की सावयवता का खण्डन कर दिया है।

(२) शरीर से पृथक् उसके अंगों का स्वतन्त्र जीवन सम्भव नहीं । हाथ को शरीर से काट देने पर उसका नष्ट हो जाना लाजमी है। एक डाल वृक्ष से काट देने पर सूख जाती है। परन्तु राज्य से अलग होकर व्यक्ति जीवित रह सकता है, चाहे उसका जीवन पूर्ण और सब प्रकार से सम्पन्न भले ही न हो।

(३) समाज शरीर और राज्य शरीर के अन्य के अंग भी एक नहीं। यदि

शरीर दो प्राकृतिक शरीरों के संयोग से जन्म ग्रहण करता है। राज्य शरीर का जन्म इस ढंग से नहीं हो पाता। एक व्यक्ति असमर्थ होने पर, वृद्ध होने पर अथवा रोग-ग्रस्त होने पर मृत्यु का ग्रास बनकर सदा के लिए नष्ट हो जाता है, परन्तु राज्य के विकास-क्रम पर शैशव, यौवन, प्रौढ़त्व और वृद्धत्व इत्यादि प्रक्रियाओं को लागू नहीं किया जा सकता। न ही वह मानव-शरीर के सदृश काल-कवलित ही होता है। समाज में होने वाले परिवर्तन अत्यन्त सूक्ष्म और अलक्ष्य होते हैं, उनकी सही-सही नाप-जोख असम्भव है।

(४) शरीर के विकास-क्रम और समाज के विकास-क्रम में अन्तर होता है। शरीर का विकास भीतरी संयोजन द्वारा होता है। अंगों का विस्तार और विकास मानव की इच्छा-शक्ति से बहुत हद तक बाहर से होता है, उस विकास-क्रम का नियन्त्रण नहीं होता। वातावरण के अनुसार उसमें जो परिवर्तन होते हैं, वे भी भीतर से होते हैं, बाहर से आरोपित नहीं होते।

परन्तु राज्य शरीर स्वयं विकासशील नहीं। उसका विकास उसके अंगों—व्यक्तियों—की इच्छा शक्ति द्वारा निर्धारित होता है। प्राणि शरीर के विकास को उसके अंग निर्धारित नहीं करते। राज्य, उसकी व्यवस्था, उसका संगठन और स्वरूप सभी हमारी इच्छा के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। समय तथा परिस्थितियों की माँग के फलस्वरूप हमारी आवश्यकताएँ परिवर्तित होती रहती हैं और उन्हीं के अनुरूप राज्य-व्यवस्था भी बदलती रहती है। आज राज्य का जो स्वरूप है, उनके जो कर्त्तव्य हैं, उसके संगठन की जो व्यवस्था है, वह हमारी परिवर्तित होती हुई आवश्यकताओं का ही फल है।

(५) राज्य का सावयव सिद्धान्त केवल असंगत और बेतुका ही नहीं अपितु खतरनाक भी है। राज्य को शरीर मान लेने पर व्यक्तियों के अधिकारों की कोई स्थिति नहीं रहती। सम्पूर्ण शरीर के हित में अंगों के क्या अधिकार हो सकते हैं? हाथ या पाँव के सम्पूर्ण शरीर के मुकाबले में क्या अधिकार हैं? क्या उनकी स्वतन्त्र अवस्थिति हो सकती है? क्या उनका स्वतन्त्र जीवन हो सकता है? ठीक इसी प्रकार राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में कहा जा सकता है। हीगल, ब्लंशली इत्यादि ने राज्य के मुकाबले में व्यक्ति और उसके अधिकारों की कोई महत्ता नहीं समझी। हिटलर और मुसोलिनी ने भी राज्य के सावयव सिद्धान्त को स्वीकार कर व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसके अधिकारों का अपहरण किया, इस सिद्धान्त के आधार पर समाज-हित के नाम पर अनेक मनमानियाँ की गई हैं।

(६) फिर, यह सिद्धान्त न तो व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों की कोई सन्तोषजनक व्याख्या ही कर पाता और न ही राज्य के कर्त्तव्यों की एकमत विवेचना ही करता है। स्पैन्सर ने इस सिद्धान्त द्वारा व्यक्तिवाद का समर्थन किया और राज्य के कर्त्तव्यों की संख्या को घटा दिया, जब कि दूसरे विचारकों ने इस द्वारा समूहवाद (Collectivisiom) की स्थापना की और राज्य को अनेक कर्त्तव्य सौंपे।

इस सिद्धान्त का मूल्य तुलना के रूप में ही है । अन्य रूप में वह व्यक्ति हित के विरुद्ध जाता है और उससे लाभ की बजाय हानि की ही अधिक सम्भावना रहती है ।

६४. राज्य का संविदा सिद्धान्त (Contract theory of the State)

राज्य के सावयव सिद्धान्त के विपरीत राज्य का समझौतावादी सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त का प्रचार १८वीं सदी में हुआ था, हॉब्स, लॉक तथा रूसो इसके विशेष समर्थकों में हैं । हम पीछे राज्योत्पत्ति के सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए इस सिद्धान्त का पर्याप्त विवरण कर आये हैं । यहाँ हम इस सिद्धान्त के कुछ एक पक्षों को ही दोहरायेंगे । इस सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य तो राज्योत्पत्ति के प्रश्न का निर्णय करना ही था, परन्तु साथ ही यह शासित और शासक के सम्बन्धों पर भी प्रकाश डालता है ।

इस सिद्धान्त के समर्थकों का कथन है कि, राज्य एक बनावटी चीज (Artificial creation) है, वह प्राकृतिक संस्था नहीं । राज्योत्पत्ति से पूर्व प्राकृतिक अवस्था में रहते हुए मनुष्य ने कुछ असुविधाएँ अनुभव कीं । उन्हीं को दूर करने के निमित्त राज्य नामक संस्था का निर्माण किया गया । यह एक यान्त्रिक रचना है, इसका आधार वैयक्तिक सहमति है । इसकी अपनी कोई इच्छा नहीं, अपना कोई व्यक्तित्व नहीं और न ही कोई अपने अधिकार हैं । इसके संगठन का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति-कल्याण है ।

व्यक्ति राज्य के द्वारा निर्मित विधि-विधानों का अनुसरण केवल स्वार्थ-वश करता है । उसकी राज्य-भक्ति का मुख्य आधार राज्य द्वारा समाजोपयोगी कर्त्तव्यों का पालन है । राज्य यदि वैयक्तिक अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकता या वह हमारे जीवन की रक्षा नहीं कर सकता तो व्यक्ति नागरिक राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों से निवृत्त हो जाता है ।

आलोचना—पीछे हम इस सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना कर आये हैं । राज्य हमारे सचेतन प्रयत्नों का फल नहीं, वह कोई बनावटी चीज नहीं, वह केवल व्यक्तियों का ढीला-ढाला समूह मात्र नहीं । राज्य का अपना स्वरूप है और अपना व्यक्तित्व है । वह उसी प्रकार प्राकृतिक है जैसे परिवार और अन्य सामाजिक संघ । सामाजिक समझौते की भावना खतरनाक है । वह प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्णायक बना डालती है । राज्य के कर्त्तव्यों के औचित्य और अनौचित्य का वह स्वयं परीक्षक हो जाता है । ऐसी अवस्था में राज्य की अवस्थिति ही खतरे में पड़ जाती है ।

राज्य केवल हमारी स्वार्थ-भावना का ही परिणाम नहीं, वह केवल हमारी अनुमति पर ही आश्रित नहीं, उसकी सदस्यता और राजभक्ति समझौतों के परिणाम नहीं । राज्य हमारी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं का परिणाम है । राज्य नियमों का पालन हम किसी समझौते के कारण नहीं करते, वह तो हमारी

सामाजिक प्रवृत्ति का परिणाम है।

वर्तमान युग के लगभग सभी विचारकों ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। सर हेनरी मेन इसे सर्वथा निस्सार मानता है, ग्रीन इसे कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं समझता, वुल्जे इसे सर्वथा 'मिथ्या' कहता है।

६५. राज्य का शक्ति सिद्धान्त (Force theory of the State)

राज्य को शारीरिक शक्ति का परिणाम मानने वालों के अतिरिक्त कुछ अन्य विचारक राज्य को शक्ति-व्यवस्था मानते हैं। राज्य केवल शक्ति के आधार पर टिका हुआ है और इसका सबसे बड़ा लक्षण शारीरिक बल की उच्चता है। राज्य-संगठन का आधार शक्ति-संचय की प्रवृत्ति है। वर्तमान युग में जर्मन विचारकों ने इसे दार्शनिक रूप दिया है। उन्होंने न केवल शक्ति को एक नियामक तत्त्व ही माना अपितु उसका सर्वोच्च गुण भी कहा। राज्य का कर्त्तव्य शक्ति-वर्द्धन है। युद्ध राज्य के लिए उसी प्रकार आवश्यक माने गये जैसे स्त्री के लिए मातृत्व।

मध्य युग में इटेलियन विचारक क्रियावली ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का प्रचार किया। इन दिनों जर्मन विचारक त्रीत्शके (Treitsehke), नीत्शे (Neitzche) तथा हीगल के अन्य अनुयायियों ने इसका जोरदार समर्थन किया।

राज्य की अन्य एकपक्षीय व्याख्याओं की तरह यह सिद्धान्त भी भ्रामक और अनर्थकारी है। शक्ति राज्य के आवश्यक तत्त्वों में से एक है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु यह राज्य का सार कभी नहीं कहला सकती। राज्य का उद्देश्य शक्ति-संचय या युद्ध नहीं, अपितु जन-सेवा है। केवल पाशविक शक्ति के आधार पर आधारित समाज-व्यवस्था चिरस्थायी नहीं हो सकती, केवल शक्ति का पोषण पशुपन है। शक्ति-संचय भी किसी उद्देश्य के निमित्त किया जाता है। राज्य-व्यवस्था का आधार हमारी सत्प्रेरणाएँ, सामाजिक प्रवृत्तियाँ और अनेक मिश्रित भावनाएँ हैं। विवेक मनुष्य को युद्धों से दूर, व्यवस्था, शान्ति और समृद्धि की ओर ले जाता है। मनुष्य की विवेकशीलता ही उसके पशुओं से पृथक् करती है। शक्ति सिद्धान्त शारीरिक बल और युद्ध पर जोर दे मानव-बुद्धि और विवेक का अपमान करता है। विश्व-शान्ति और व्यवस्था की दृष्टि से भी यह सिद्धान्त अत्यन्त हानिकारक है।

६६. विधानशास्त्र के अनुसार राज्य का सिद्धान्त (The Juridical theory of the State)

विधानशास्त्र के पण्डितों ने भी राज्य-प्रकृति की व्याख्या की है। उनके अनुसार राज्य एक ऐसी संस्था है जिसका कार्य कानून बनाना, उसकी व्याख्या करना और उनको लागू करना है। विधानशास्त्री भी राज्य की कानूनन प्रकृति की विभिन्न दृष्टिकोण के अनुसार व्याख्या करते हैं। आस्टिन और उसके समर्थकों का जो कानून की शास्त्रीय व्याख्या में यकीन करते हैं, यह कहना है कि राज्य ही एक मात्र कानून का स्रोत है। उसी के आदेश कानून कहलाते हैं, और उनका उल्लंघन

करने वाला राज्य द्वारा दण्डित होता है। न्यायालय केवल उन्हें ही कानून मानते हैं जो राज्य द्वारा आदेश के रूप में जारी किया गया हो।

विधानशास्त्र के ऐतिहासिक व्याख्याकारों का मत उपर्युक्त मत से कुछ भिन्न है। उनका कथन है कि कानून केवल राज्य के आदेश मात्र ही नहीं होते, न ही वे केवल राज्य द्वारा रचे जाते हैं। वे कानून की ऐतिहासिक व्याख्या करते हुए उसे समाज की आर्थिक तथा नैतिक परिस्थितियों की उपज समझते हैं। प्रत्येक देश का विधान अनेक परम्परागत प्रथाओं, रीति-रिवाजों तथा व्यावहारिक नियमों के सम्मिलन से बना है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने भारत तथा ब्रिटेन के वर्तमान कानून के अनेक उदाहरण दिये हैं।

फ्रांस के सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री द्युग्वी कानून की समाजशास्त्रीय व्याख्या करते हैं। उसका कथन है कि कानून राज्य की सृष्टि नहीं। वह राज्य से भी पूर्व वर्तमान था। कानून, उसके मतानुसार, हमारी सामाजिक जिन्दगी का नतीजा है। सामाजिक जिन्दगी के ठीक-ठीक चलाने के लिए बहुत से असूल बन जाते हैं; इन असूलों का आधार हमारा जिन्दगी का अनुभव होता है। हमारे जीवन के नैतिक तथा व्यावहारिक सिद्धान्त होते हैं। राज्य उन्हें मान्यता भर प्रदान करता है, उनकी रचना नहीं करता। जो कानून राज्य बनाता भी है, वे भी लोगों के मौजूदा नैतिक और सामाजिक आदेशों के ही अनुरूप होते हैं।

क्रेब और द्युग्वी दोनों ही राज्य को कानून की रचना मात्र मानते हैं।

कानून और राज्य की जो भी स्थिति हो, इतनी बात तो सभी मानते हैं कि राज्य का मुख्य कर्त्तव्य कानून को लागू करना है।

राज्य का कानूनी व्यक्तित्व—क्या राज्य को एक आत्म-चेतना और संकल्प-शक्ति युक्त व्यक्ति माना जा सकता है? मध्यकालीन लेखकों ने इस प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर दिया है। उन्होंने राज्य के एक काल्पनिक या कृत्रिम व्यक्तित्व (Artificial person) की अवस्थिति को स्वीकार किया है।[1] उनके मतानुसार राज्य के अपने अधिकार हैं, उसके अपने स्वार्थ हैं, अतः जो कोई उन पर आक्रमण करता है, राज्य उन पर मुकदमा चला सकता है। राज्य के विरुद्ध भी मुकदमा चलाया जा सकता है। न्यायालय राज्य के विरुद्ध कार्यवाही भी कर सकते हैं। इसी प्रकार उन्होंने चर्च को भी व्यक्तित्वसम्पन्न माना।

आधुनिक विचारकों में जर्मनी के गिरके (Gierke) राज्य व्यक्तित्व के प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने प्राचीन विचारकों की इस आधार पर आलोचना की कि वे राज्य को केवल काल्पनिक व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। उसका विचार है कि राज्य का व्यक्तित्व एक वास्तविकता है, वह कृत्रिम नहीं। यही नहीं वह समाज के अन्य संघों

---

१. १९वीं शताब्दी में भी अनेक विधानशास्त्रियों ने राज्य के व्यक्तित्व की अवस्थिति स्वीकार की है। इन विचारकों में स्टाल (Stall), स्टीन (Stein) गर्बर (Gerber) तथा ब्लंशली और जेलिनेक इत्यादि प्रमुख हैं।

और समुदायों के भी वास्तविक व्यक्तित्व को स्वीकार करता है, और उन्हें इच्छा और संकल्प शक्ति युक्त मानता है।

ब्लंशली ने राज्य के व्यक्तित्व को यथार्थ मानते हुए उसे व्यक्ति के व्यक्तित्व से स्वतन्त्र और ऊँचा माना है। नागरिकों की अपनी इच्छा और व्यक्तित्व होता है, परन्तु इन सभी की सामूहिक इच्छाएँ राज्य की इच्छा नहीं होतीं। राज्य की इच्छा स्वतन्त्र है। राज्य में एक ही काल के व्यक्तियों की इच्छाएँ सन्निहित नहीं होतीं, वह तो राष्ट्र की अनेक पीढ़ियों की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करता है। अतः यह आवश्यक नहीं कि उसकी इच्छा किसी युग विशेष की जनता की इच्छा को ही प्रकट करे, वह उससे भिन्न भी हो सकती है। वस्तुतः जर्मन विचारकों के अनुसार राज्य की इच्छा ही वास्तविक इच्छा है, राज्य का व्यक्तित्व ही वास्तविक व्यक्तित्व है। वह अमर और अमिट है।

समीक्षा—राज्य-व्यक्तित्व के सिद्धान्त की कड़ी आलोचना लेफ़र और द्युग्वी ने की है। द्युग्वी इसे एक पुराना आध्यात्मिक भाव मात्र मानते हैं और आज के सामाजिक जीवन में इसका कोई मूल्य नहीं समझते। द्युग्वी के मतानुसार तो यह कोरी कल्पना है, इसमें वास्तविकता से तनिक भी मेल नहीं। लेफर भी इसे जीवन की वास्तविकता के विपरीत मानते हुए अस्वीकार करते हैं।

परन्तु इस मत में कुछ सत्य अवश्य है, वह निरा अवास्तविक नहीं। जर्मनी में इस मत को जिस रूप में स्वीकार किया गया है, वह अन्यत्र स्वीकार नहीं किया जाता। अन्यत्र कानूनशास्त्री राज्य के व्यक्तित्व राज्य की सामूहिक इच्छा चेतना में अधिकार से ऊपर नहीं मानते। वह यह स्वीकार नहीं करते कि राज्य का कोई ऐसा व्यक्तित्व है जो अपने आप में स्वतन्त्र है, राज्य के सभी व्यक्तियों से ऊपर या श्रेष्ठ है। वह तो राज्य के व्यक्तित्व को केवल मात्र कानूनी स्वीकृति देते हैं। कानून राज्य को ही नहीं अन्य भी बहुत से ऐसे समुदाय हैं जिनके व्यक्तित्व को स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ कालेज, यूनिवर्सिटी, ज्वायण्ट स्टाक कम्पनी और अन्य व्यापारिक तथा शिक्षा-संस्थाएँ कानून की दृष्टि में व्यक्ति हैं। राज्य के व्यक्तित्व में वास्तविकता भी है। क्योंकि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसके अपने अधिकार और अपनी जिम्मेवारियाँ हैं।

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि राज्य का कोई ऐसा व्यक्तित्व है जो कि व्यक्ति नागरिकों से ऊपर या स्वतन्त्र हो। राज्य केवल कानून की दृष्टि में अपने संगठन, अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के फलस्वरूप व्यक्ति कहलाता है। राज्य के वैधानिक स्वरूप के साथ-साथ उसके नैतिक और आध्यात्मिक स्वरूप को भी स्वीकार करना चाहिए।

६७. राज्य का उपयोगितावादी स्वरूप (Utilitarian view of the State)

१४वीं शताब्दी में राजनीतिक उपयोगितावाद का इंग्लैण्ड में जन्म हुआ।

इस विचारधारा के प्रवर्त्तक बेन्थम (Jeremy Bentham) कहलाते हैं। परन्तु बेन्थम से पूर्व भी इंग्लैण्ड में यह सिद्धान्त एक नैतिक विचारधारा के रूप में मिल जाता है। इसे स्पष्ट और व्यवस्थित रूप देकर राजनीति में प्रयुक्त करने का श्रेय अवश्य ही बेन्थम को दिया जाना चाहिए।

यह मुख्य रूप से एक नैतिक सिद्धान्त है, और इसका एक मनोवैज्ञानिक आधार है। मनुष्य की **क्रियाप्रेरक** शक्तियों का विश्लेषण करते हुए बेन्थम उनके दो मुख्य स्रोत स्वीकार करते हैं। ये दो स्रोत हैं (१) सुख-प्राप्ति और (२) दुःख से बचने की इच्छा। प्रत्येक मनुष्य सुख या आनन्द खोजता है और दुःख से बचना चाहता है। नैतिक दृष्टि से वह चीज अच्छी है जिससे सुख का अनुभव होता है और वह चीज़ बुरी होती है जो दुखःजनक हो। जीवन के अन्य प्रेरणा-स्रोत भी हो सकते हैं, परन्तु उन सबसे ऊपर और महत्त्वपूर्ण है जीवन में सुख या आनन्द की कामना।

आनन्दवाद या सुखवाद का यह सिद्धान्त नया नहीं। इससे पूर्व भी पश्चिम में सुखवादी विचारधारा मिल जाती है। प्राचीन यूनान में अनेक आनन्दवादी विचारक हुए हैं, उदाहरणार्थ एरिस्टिपस (Aristippus) के विचार आनन्दवाद से भरे पड़े हैं। इसी प्रकार एपिक्यूरस के सिद्धान्तों में भी आनन्दवाद का अत्यन्त महत्त्व है।

हमारे यहाँ भारत में भी आनन्दवाद के दो रूप मिल जाते हैं, एक तो आध्यात्मिक आनन्दवाद है जिसने 'आत्मनस्तु कामाय' में ही सर्वसुख की उपलब्धि मानी है। यह आनन्द भौतिक आनन्द नहीं, लोकोत्तर आनन्द है। इस आनन्द की प्राप्ति योगी और सिद्ध जन के लिए ही सम्भव है। बेन्थम या उपयोगितावादियों का आनन्द इस श्रेणी का आनन्द नहीं।

बेन्थम का आनन्दवाद भौतिक आधार पर खड़ा है। उसका प्रतिरूप हमारे यहाँ चार्वाक दर्शन में मिल जाता है। उपयोगितावादी सुख और आर्थिक सुख कामना भौतिक सुखवाद (Hedonism) पर आधारित है। परन्तु बेन्थम का सुखवाद व्यावहारिक और सामाजिक है. जहाँ कि आर्थिक सुखवाद में असामाजिकता और उच्छृंखलता थी।

सुखवाद का व्यावहारिक प्रयोग—जैसा कि हम ऊपर ही लिख आए हैं कि बेन्थम का सुखवाद व्यावहारिक है, वह सामान्य जीवन में प्रयुक्त किया जा सकता है। मनुष्य, बेन्थम के अनुसार, एक स्वार्थी जीव है, वह अपने सुख-दुख की भावना से कार्य-प्रवृत्त होता है। परन्तु क्योंकि उसका सुख केवल वैयक्तिक ही नहीं सामाजिक भी है, अतः वह सामाजिक संस्थाओं के संगठन और नियन्त्रण पर भी आश्रित है। प्रत्येक व्यक्ति के सुख के साथ अन्य व्यक्तियों का भी सुख बँधा हुआ है। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है अतः वह समाज में रहता हुआ अपनी क्रियाओं का इस प्रकार संचालन करता है कि सभी को सुख की प्राप्ति हो।

राज्य की उपयोगिता इसी में है कि वह वैयक्तिक और सामाजिक सुख की अभिवृद्धि करे। उपयोगितावादियों के मतानुसार राज्य का उद्देश्य अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख। (Greatest happiness of the greatest number)

की अनुभूति है। उसे ऐसे कानून बनाने चाहिएँ जिससे कि समाज में अधिक से अधिक सुख की प्राप्ति हो सके।

इस प्रकार राज्य एक उपयोगितावादी (Utilitarian) संस्था है। वह न तो एक रहस्यमय व्यक्ति (Mystical entity) ही है और न ही वह एक ऐसा बनावटी यन्त्र है कि जिसकी रचना केवल मात्र व्यक्ति के प्रकृत अधिकारों की रक्षा के लिए की गई हो। राज्य की कार्यवाहियों का मानदण्ड उपयोगिता (Utility) है, न कि प्रकृति-नियम (Natural Laws)। प्रकृत अधिकार या दैवीय आदेश, अन्तरात्मा की आवाज (Dictate of concionsuas) अथवा कोई अमूर्त्त सिद्धान्त (Abstract principles) कोरे दार्शनिक या काल्पनिक मानदण्ड के आधार पर राज्य के संगठन, उस द्वारा बनाए कानून और व्यवस्थाओं की उपयोगिता को नहीं माना जा सकता। राज्य व्यक्तियों का समूह मात्र है। उसका उद्देश्य व्यक्ति-सुख की अभिवृद्धि करना है अतः उसके कार्यों की माप-जोख उपयोगिता के सिद्धान्त पर होनी चाहिए—हमें देखना चाहिए कि उनसे सामाजिक हित की अधिक से अधिक अभिवृद्धि होती है या नहीं।

उपयोगितावाद की देन—इंग्लैण्ड के व्यावहारिक जीवन में उपयोगितावाद की कुछ अपनी देन हैं। औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के अनन्तर इंग्लैण्ड में कुछ ऐसी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई थीं जिनका हल तत्कालीन राजनीतिक दर्शन से सम्भव नहीं था। प्राचीन समझौता वादी विचारकों ने जिन प्रकृत अधिकारों (Natural rights) की व्यवस्था की थीं, और जिस प्रकार से उनका प्रयोग किया जा रहा था, वह सामाजिक हित में नहीं था। इन्हीं अधिकारों के आधार, वैयक्तिक सम्पत्ति और उद्योगवाद में सरकारी हस्तक्षेप न केवल अनावश्यक ही माना जाता था, अपितु वह नैतिक दृष्टि से अनुचित भी समझा जाता था। उपयोगितावादियों ने ऐसे राजकीय विधि-विधानों का उपयोगिता की दृष्टि से समर्थन किया जिनका उद्देश्य आर्थिक नियन्त्रण था।

उपयोगितावादियों ने कानून तथा दण्ड-व्यवस्था के सुधार, पार्लियामैण्ट के निर्वाचन-क्षेत्र विस्तार के निमित्त मताधिकार सम्बन्धी सुधार, खानों तथा मिलों में काम करने वाले मजदूरों के सुधार के अनेक प्रशंसनीय प्रयत्न किये।

राजनीतिदर्शन को भी उपयोगितावादियों की विशेष देन है। उन्होंने संविदावाद और आदर्शवाद दोनों द्वारा फैलाई गई भ्रान्तियों का खण्डन किया, राजनीतिक और वैधानिक शब्दावली को स्पष्ट रूप दिया। यही नहीं बेन्थम के विचारों के आधार पर दी आस्टिन ने राज्य प्रभुसत्ता (State sovereignty) के सिद्धान्त की रचना की। यह सिद्धान्त आज के विधानशास्त्र का आधार है। उपयोगितावादियों ने राज्य के विपरीत व्यक्ति-हित की महत्ता पर बल दिया और राज्य के दैवीय व्यक्तित्व को अस्वीकार कर उसे व्यक्ति-हित का संरक्षक माना।

उपयोगितावादी राज्य कर्त्तव्यों को जाँचने के लिए एक निश्चित मानदण्ड देते हैं, उसी के आधार पर हम राज्य द्वारा निर्धारित नियम और कानून व्यवस्था की

उपयोगिता को भी जाँच सकते हैं। उपयोगितावाद की सबसे बड़ी विशेषता उसका व्यावहारिक सुधारवाद है।

आलोचना—(१) इन विशेषताओं के रहते हुए भी उपयोगितावाद की कड़ी आलोचना की जाती है। उपयोगितावाद का दार्शनिक आधार बहुत उथला है, उसमें गम्भीरता का अभाव है। वह मानव जीवन के ऊपरी सतह तक ही रह जाता है, उसके भीतर नहीं पहुँच पाता। **जेम्स सेठ** (James Seth) के अनुसार **"जीवन का आनन्दवादी सिद्धान्त बहुत सरल और स्पष्ट है, पर वह सरलता दृष्टिकोण की व्यापकता और गहराई की कीमत पर मिली है। इसका आधारभूत सिद्धान्त आवश्यकता से अधिक सरल है।"**[1]

(२) मानव-जीवन की क्रियाप्रेरक शक्तियों (Motivating forces) की समस्या बहुत जटिल है, उनकी कोई सीधी और सरल व्याख्या सम्भव नहीं। बेन्थम तथा अन्य उपयोगितावादी इस सम्बन्ध में इस सरलता के शिकार हो गये हैं। उन्होंने बहुत सीधे और सरल रूप में मनुष्य की क्रिया-प्रवृत्तियों की व्याख्या कर डाली है। मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य केवल मात्र सुख की अभिलाषा के ही फल नहीं होते, वे अनेक प्रकार की जटिल और उलझी हुई प्रवृत्तियों के फल हैं। **सुख-प्राप्ति की इच्छा के अतिरिक्त क्षमा, दया, प्रेम, परोपकार इत्यादि अनेक रागानुराग हमारी भूलभूत क्रिया-प्रवृत्तियों में मिश्रित रहते हैं।**[2]

(३) उपयोगितावादी आनन्द की केवल मात्रा (Quantity) पर ही अधिक जोर देते हैं उसके गुणात्मक (Qualitative aspect) स्वरूप की उपेक्षा करते हैं। उनके लिए कम और अधिक का महत्त्व है, उच्चतर और निम्नतर का कोई महत्त्व नहीं। हम यह भूल नहीं सकते कि काव्य-पाठ के आनन्द में तथा रसगुल्ले खाने के स्वाद में कोई अन्तर ही नहीं। आनन्द की आत्मिक और शारीरिक भूमि में अन्तर आवश्यक और स्वाभाविक है।

(४) फिर आनन्द की अनुभूति वैयक्तिक होती है, सामूहिक नहीं। समूह या समाज के पास कोई मन नहीं या कोई अनुभूति का सामान्य केन्द्र नहीं, अन्तिम रूप से सामाजिक सुख या आनन्द में वैयक्तिकसुख या आनन्द से परे कुछ नहीं। यदि वह इससे ऊपर कुछ है तो इसका अर्थ है कि समाज व्यक्तियों का समूह मात्र ही नहीं, वह और कुछ भी है, क्योंकि उसके सुख या आनन्द अनुभव करने की शक्ति है। सुख को उपयोगितावादी ऐन्द्रिय मानते हैं। ऐन्द्रिय मनुष्य ही हो सकता है, समाज नहीं।

---

1. "The hedonistic theory of life purchases its simplicity and lucidity at the expense of depth and comprehensiveness of view. Its formula is too simple."—*James Seth.*

२. मनुष्य की क्रियाप्रेरक शक्तियों के विषय में फ्रायड, एडलर, युंग, रसल इत्यादि ने विभिन्न और परस्पर विरोधी मत प्रगट किये हैं। यह विषय अपनी गम्भीरता के कारण किसी सरल सिद्धान्त द्वारा हल नहीं हो सकता।

(५) उपयोगितावादी मनुष्य को एक पूर्ण बौद्धिक प्राणी मानते हैं। उनका विचार है कि वह एक बुद्धिसम्पन्न स्वार्थी प्राणी है। परन्तु यह विचार नितान्त गलत है। सेबाइन का कथन है कि मनुष्य को इतना अधिक बुद्धिसम्पन्न स्वार्थी प्राणी समझना गलत है जितना कि उपयोगितावादी मानते हैं। वह अपने सुख-दुःख का अनुमान और उनके परिणामों का पूरा-पूरा लेखा-जोखा नहीं कर सकता।

आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ताओं ने तो मनुष्य की क्रियाप्रेरक शक्तियों को अबौद्धिक (Irrational) माना है। **ग्राहम वेलस** (Graham wallas) **तथा मैकडूगल** (Mcdouggall) **दोनों ही मनुष्य-कार्यों को बुद्धि-प्रेरित न मान भावना-प्रेरित मानते हैं।** उन्होंने राजनीतिक और अन्य संस्थाओं के कार्य में भी इसी अबौद्धिक प्रवृत्ति की प्रधानता स्वीकार की है। मनुष्य को सर्वथा स्वार्थी समझना भी गलत है। उसके व्यक्तित्व का परम विकास तो तभी होता है जब कि वह अपने क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठ सामाजिक हित के लिए अपने जीवन की आहुति भी देने को उद्यत हो जाता है।

(६) सुख क्या है? आनन्द क्या है? यह एक ऐसा पेचीदा सवाल है कि जिसका कोई भी ऐसा सीधा और सरल जवाब सम्भव नहीं जैसा कि उपयोगितावादी समझ बैठते हैं। प्रत्येक देश तथा काल की परिस्थितियों के अनुसार 'आनन्द' और 'सुख' की परिभाषा बदलती रहती है। ऐसी स्थिति में आनन्दवाद राज्य का एक स्थायी उद्देश्य कैसे हो सकता है?

(७) अनेक बार 'उपयोगिता' के नाम पर व्यक्ति-हित को बहुत ही अधिक हानि पहुँचाई जाती है। 'समाज-हित', 'राष्ट्र-हित', 'सामूहिक उपयोगिता' की आड़ में क्या-क्या अनर्थ नहीं हुए? 'उपयोगिता,' 'सुख' और 'आनन्द', 'प्रगति' इत्यादि धारणाएँ वैयक्तिक (Subjective) होती हैं। वह व्यक्ति-समुदाय के साथ बदलती रहती हैं। इस अर्थ में इस सिद्धान्त में अनिश्चितता और अस्पष्टता है। हालोवेल (Hallowell) का कथन सर्वथा सत्य है कि "**बेन्थमवाद एक ऐसा उदारतावाद है जो निरंकुशता के लिए बहुत ही अनुकूल है?**"[1]

इस प्रकार उपयोगितावाद में अनेक ऐसे दोष हैं कि जिस वजह से शीघ्र ही इस द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त राज्य और समाज के सर्वथा अनुपयुक्त हो गये। इस सिद्धान्त में भौतिकता का आधिक्य और नैतिकता का अभाव था। जीवन और समाज की एकपक्षीय भौतिक व्याख्या निश्चय ही एक जाग्रत समाज को बहुत देर तक प्रभावित नहीं कर सकती थी। व्यक्ति और राज्य-सम्बन्धों की भी केवल उपयोगिता के आधार पर ही व्याख्या नहीं की जा सकती, न ही अधिकारों को हम केवल राज्य की कानूनी रचना ही स्वीकार कर सकते हैं। राज्य भी केवल व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं। संविदावाद को अस्वीकार करते हुए भी वे उससे ऊपर नहीं उठ सके। आस्टिन का प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त भी आज वास्तविक राजनीति के लिए सर्वथा

1. "Benthamism is a liberalism that is congenial to tyranny."
—*Halowell.*

अनुपयुक्त माना जाता है । बेन्थम, मिल तथा उसके पुत्र जान स्टुअर्ट मिल ने जिस व्यक्तिवादी राज्य का समर्थन किया वह आज सर्वथा अस्वीकार किया जाता है । उपयोगितावाद का सही अर्थ तो समूहवाद था, परन्तु उसको व्यक्तिवाद में परिणत कर उन्होंने इसे सर्वथा अव्यावहारिक बना दिया ।

उपयोगितावाद की इस आलोचना के बाद भी हमें यह मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं कि आज की राजनीति में भी इस सिद्धान्त के कुछ मूल तत्त्व किसी न किसी रूप में मिल ही जाते हैं । अधिकतम संख्या के अधिकतम लाभ का सिद्धान्त आज भी किसी न किसी रूप में राज्य की क्रियाओं का एक मानदण्ड समझा जाता है ।

६८. राज्य का वर्गवादी सिद्धान्त (Class character of the State)

मार्क्स और उसके साम्यवादी अनुयायी राज्य की प्रकृति की वर्गवादी व्याख्या करते हैं । यह उपर्युक्त सभी प्रकार की व्याख्याओं से भिन्न है । कार्ल मार्क्स के मतानुसार राज्य एक वर्ग-व्यवस्था है । इसकी शक्ति के आश्रय से एक वर्ग दूसरे वर्ग पर शासन करता है । वास्तविक राज्य-शक्ति आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली वर्ग के हाथ में रहती है, और वह राज्य-शक्ति को अपने स्वार्थ की वृद्धि और दूसरे वर्ग के शोषण के लिए इस्तेमाल में लाताहै । इसके कार्य न्याय पर आधारित नहीं होते, इसका आधार शक्ति या शारीरिक बल है न कि जन-सहमति ।

प्रिंस क्रोपाटकिन तथा बाकुनिन इत्यादि अराजकतावादी और सोरेल इत्यादि सिण्डीकेलिस्ट भी उपर्युक्त मत का समर्थन करते हैं । उनका कथन है कि राज्य अनैतिक, अप्राकृतिक और अनावश्यक है । मनुष्य के व्यक्तित्व का समुचित विकास राज्य के अन्तर्गत सम्भव नहीं, वह तो राज्य की अनुपस्थिति में ही सम्भव हो सकता है । वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य को देन नहीं, न ही कभी राज्य में उसकी अनुभूति सम्भव है । राज्य वस्तुतः व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का सबसे बड़ा शत्रु समझा जाता है ।

कम्यूनिस्ट, अराजकतावादी और सिण्डीकेलिस्ट सभी राज्य का अन्त चाहते हैं । साम्यवादी कुछ देर के लिए राज्य को कायम रखेंगे, परन्तु अन्ततः वह उसका स्वाभाविक विलोप अनिवार्य समझते हैं । अराजकतावादी और सिण्डीकेलिस्ट क्रान्ति के एकदम बाद 'राज्य' नाम की संस्था को सदा के लिए खत्म कर देना जरूरी समझते हैं ।

राज्य के वर्गवादी सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन तो हम आगे ही करेंगे । यहाँ तो हम इतना कह देना चाहते हैं कि यह सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण और भ्रामक है । मार्क्स और उसके अनुयायियों की राज्य प्रकृतिविषयक धारणा किसी विशेष राज्य के लिए तो ठीक हो सकती है, परन्तु 'राज्य मात्र' का ही ऐसा रूप हो यह सर्वथा गलत है । वस्तुतः उनका दृष्टिकोण एक अस्वस्थ राज्य के लिए ठीक हो सकता है, पूर्ण स्वस्थ राज्य के लिए नहीं । यह कहना भी बिल्कुल गलत है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की वास्तविक अनुभूति राज्य के बाहिर सम्भव है, राज्य के भीतर नहीं । ऐसा कहना राज्य को प्रकृति और समाज की स्थिति की अनभिज्ञता का ज्ञापन है । राज्य ही

वस्तुतः वह परिस्थितियाँ बनाता है जिनमें बलवान और निर्बल एक साथ रह सकते हैं, और एक साथ एक जैसे अधिकारों का उपयोग कर वास्तविक स्वतन्त्रता की अनुभूति करते हैं। राज्य व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का शत्रु न हो उसका संरक्षक है।

६६. राज्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

वस्तुतः राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में मनोविज्ञान का प्रयोग उसी प्रकार से महत्वपूर्ण है जिस प्रकार से प्राणीशास्त्र का। यदि हम यह मानकर चलें कि मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है और उसकी सामाजिक और राजनीतिक क्रिया-विधियों के अध्ययन के लिए उसकी मनःप्रवृत्तियों का अध्ययन पर्याप्त उपयोगी होता है तो हम देखेंगे कि प्रायः सभी राजनीतिक विचारकों ने मानव-प्रवृत्ति के किसी न किसी पक्ष पर बल दे अपने राजनीतिक सिद्धान्तों को रचा। प्लेटो, अरस्तू मेकियावली, हॉब्स, लॉक तथा रूसो इत्यादि सभी इस तथ्य के उदाहरण हैं, उन्होंने अपने सिद्धान्त मनुष्य की प्रवृत्तियों के अध्ययन पर आधारित किये।

परन्तु वर्तमान युग में राजनीति में मनोविज्ञान का प्रवेश कुछ दूसरे ढंग का है। वह राज्य के स्वरूप के किसी ऐसे विशिष्ट सिद्धान्त की स्थापना नहीं करता जैसे कि आदर्शवाद या उपयोगितावाद करते हैं। वह तो वस्तुतः आदर्शवाद और उपयोगितावाद की तार्किकता की एक प्रतिक्रिया है। इन दिनों मनुष्य के राजनीतिक और सामाजिक चरित्र की व्याख्या में मनोविज्ञान का प्रयोग एक आम बात हो गई है। बार्कर का कथन है कि **"अगर हमारे पूर्वज प्राणीशास्त्र के दृष्टिकोण से सोचते थे तो हम मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से विचार करते हैं।"**[1]

वर्तमान युग मे राजनीति में मनोविज्ञान का प्रयोग करने वालों में बेजहोट (Bagehot) सर्वप्रथम हैं। बेजहोट ने अपनी पुस्तक (Physics and Politics) में राजनीतिक समाजों में दो प्रकार की मुख्य प्रवृत्तियाँ मानी हैं—(१) अनुकरण की प्रवृत्ति और (२) विचार-विमर्श की प्रवृत्ति। अनुकरण-प्रवृत्ति तो सभी सामान्यतया सभी समाजों में प्राप्त हो जाती है, परन्तु विचार-विमर्श की प्रवृत्ति केवल कुछ एक प्रगतिशील समाजों में ही मिलती है। सामाजिक इतिहास को भी वह दो युगों में बाँटता है, एक तो सैनिक शक्ति का युग, जिसमें अनुकरण-प्रवृत्ति की प्रधानता थी, दूसरा तर्क युग जिसमें विचार-विमर्श की प्रमुखता होती है।

राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के अध्ययन में मनोविज्ञान के प्रयोग का गम्भीर प्रयत्न तो वस्तुतः ग्राहम वेलस (Graham Wallas) द्वारा किया गया है। वेलस ने अपनी पुस्तक 'Human Nature in Politics' में यह साबित करने की कोशिश की है कि हमारा राजनीतिक और सामाजिक आचरण बहुत कम अंशों में बुद्धि या तर्क (Reason) का परिणाम होता है। हमारे आचरण का अधिकांश भाग अबौद्धिक (Irrational) क्रियाप्रेरक शक्तियों का

1. "If our fathers thought biologically, we think psychologically."—*Barker.*

परिणाम होता है। इनके नाम हैं अभ्यास (Habit), सहज बुद्धि (Instinct), संकेत (Suggestion) तथा अनुकरण (Immitation) हैं।

ग्राहम वेलस का कथन है कि वर्तमान लोकतन्त्र के युग में जनता राजनीतिक क्रियाओं में सोच-समझकर प्रवृत्त नहीं होती। अधिकांश में वह संकेतों तथा नारों का अनुसरण कर भावावेश में राजनीतिक कार्य करती हैं। जनमत का निर्माण राजनीतिक नेता जनता के दिमाग को अपील कर नहीं करते अपितु उनकी भावुकता उभारकर करते हैं।

अपने सामूहिक राजनीतिक जीवन में एक **नागरिक** ऐसे-ऐसे कार्य करता है, जिस पर बाद में अगर वह ध्यानपूर्वक विचार करे तो बहुत लज्जित हो। जनतन्त्र के अन्तर्गत सामाजिक और राजनीतिक जीवन के प्रत्येक पक्ष में अबौद्धिक तत्त्वों की प्रधानता रहती है और सोच-समझ का अभाव होता है। केवल निर्वाचक और जनसाधारण ही अपने कर्त्तव्यों का पालन भावावेश में आकर नहीं करते, अपितु पार्लियामैण्ट भी इसी प्रकार की अबौद्धिक और तर्कशून्य प्रवृत्तियों का शिकार हो जाती है।

ग्राहम वेलस जनतन्त्र का विरोधी नहीं। उसका विचार है कि निर्वाचन नियमों की कठोरता, शिक्षा के प्रसार तथा ज्ञान की वृद्धि के परिणामस्वरूप व्यापक दृष्टिकोण के विकास की सम्भावना है। प्रजातन्त्र की एक और बड़ी विशेषता यह है कि यह शासन-व्यवस्था जन-सहमति पर आधारित है। जन-सहमति के अभाव में शासनतन्त्र विकृत हो जाता है।

मैक्डूगल का 'समाज मन' का सिद्धान्त (Group mind theory of McDouggall)—ग्राहम वेलस की तरह मैक्डूगल भी अबौद्धिक तत्त्वों को प्रधानता देता है और तर्क-शक्ति को गौण समझता है। इसी आधार पर उसने आदर्शवादी और उपयोगितावादी सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना की है। उसके विचारानुसार मनुष्य में तर्क-बुद्धि की मात्रा थोड़ी होती है और अबौद्धिक तत्त्वों की प्रधानता होती है। मैकडूगल ने मनुष्य की क्रियाप्रेरक शक्तियों (Motivating forces) का नाम सहज प्रवृत्तियाँ (Instincts) रखा है। मनुष्य की तर्क-बुद्धि इन सहज प्रवृत्तियों द्वारा नियन्त्रित की जाती है, वह इनका शासन नहीं करती।

मैक्डूगल का दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त समाज-चेतना का है। उसका कथन है कि बहुत से व्यक्तियों के सम्मिलन से जिस समुदाय का निर्माण होता है वह समुदाय भी अपना एक व्यक्तित्व और मन रखता है जो कि व्यक्तियों के व्यक्तित्व और मन से ऊपर होता है। एक समुदाय में मनुष्य अपनी तर्क-बुद्धि की प्रेरणा पर आचरण नहीं करता वह समुदाय-मन (Group mind) की प्रेरणा पर कार्य करता है। इस समुदाय-मन का रूप हमें एक भीड़ या गिरोह की कार्यवाहियों के संचालन में सृष्ट नजर आ जाता है। ऐसे ग्रुपों में मनुष्य असहाय रूप से अपने दूसरे साथियों के साथ ऐसे-ऐसे कार्य करता है कि जिनको वह कभी भी अपने वैयक्तिक जीवन में करने को उद्यत नहीं होगा। अक्सर हम देखते हैं कि दंगा-फसाद के समय मनुष्य की

तर्क-बुद्धि काम करना छोड़ देती है, और अच्छे-भले आदमी भी ऐसे-ऐसे काम करते हैं जिन्हें कि वैयक्तिक जीवन में वे कभी भी करना पसन्द नहीं करेंगे।

आज की लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्थाओं में राजनीतिक नेता इस समुदाय-मन को ही अपील करते हैं।

इसी प्रकार विलियम ट्राटर (William Trotter) ने भी मनुष्य में समुदाय (Crowd) के मन के अनुसरण करने की प्रवृत्ति मानी है।

आलोचना—इसमें सन्देह नहीं कि मनोविज्ञानवेत्ताओं ने हमारे राजनीतिक जीवन में तर्क-बुद्धि के अतिरिक्त हमारी सहज प्रवृत्तियों, अबौद्धिक तत्त्वों या भाव तत्त्वों की महत्ता को सिद्ध कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि हमारे दैनिक राजनीतिक जीवन में राजनीतिक नेता हमारी भावनाओं को उभारने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार जन-समूह में हमारे आचरण की क्या प्रवृत्ति होती है, किस प्रकार तर्क का प्रश्रय छोड़ हम भावावेश में बुरे से बुरे काम कर डालते हैं, और किस प्रकार क्रान्ति या विद्रोह के समय जनता का आचरण होता है। इन सबका यथार्थ मनोवैज्ञानिक विवेचन कर मनोविज्ञानशास्त्रियों ने राजनीतिक जीवन के अबौद्धिक पक्ष की ओर हमारा ध्यान खींचा है।

इसी प्रकार उनके इस कथन में भी पर्याप्त सत्य है कि हमारे समाज का आधार तर्क ही नहीं, रीति-रिवाज परम्परा, अभ्यास, अनुकरण, रागानुराग तथा अन्य मनोभाव भी हैं।

परन्तु मनोविज्ञानवेत्ता हमारे सामाजिक जीवन की वैसी ही एकांगी और अपूर्ण व्याख्या करते हैं जिस प्रकार आदर्शवादी और उपयोगितावादी। उन्होंने अबौद्धिक शक्तियों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है, वह सोच-समझ सकता है। हमारे सामाजिक जीवन में तर्क की उससे कहीं अधिक महत्ता है जितनी कि मनोविज्ञानवेता मानते हैं। वस्तुतः हमारे सामाजिक आचरण में तर्क और भाव दोनों का ही मिश्रण रहता है।

राज्य-भक्ति और राष्ट्रीय एकता का आधार केवल अबौद्धिक तत्त्व ही नहीं हो सकते। समाज का संगठन केवल संकेत या अनुकरण पर आधारित नहीं। राजनीतिक जीवन में अनेक नैतिक मूल्य वर्तमान रहते हैं, वह हमारी गति-विधि निर्धारित करते हैं।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक विचार के निम्न तत्त्वों के आधार पर उच्च तत्त्वों की व्याख्या का असफल प्रयास करते हैं।

७०. राज्य की आदर्शात्मक व्याख्या (The Idealist theory of the State)

राज्य प्रकृति की एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या आदर्शवादी व्याख्या भी है। इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन तो हम राज्य के कार्य-क्षेत्र की व्याख्या के समय करेंगे, यहाँ तो हम संक्षेप से इस सिद्धान्त द्वारा की गई राज्य प्रकृति की व्याख्या विषयक

मातों का ही विवरण देंगे।

राज्य की आदर्शवादी व्याख्या बहुत पुरानी है। प्राचीन ग्रीक विचारक प्लेटो और अरस्तू के विचार से इस सिद्धान्त का प्रारम्भ माना जाता है। ग्रीक विचारकों ने मनुष्य को स्वभावतः सामाजिक मान राज्य को एक प्राकृतिक संस्था माना है। उनका विचार था कि राज्य मनुष्य के मस्तिष्क की सृष्टि है। प्लेटो कहता है, **"राज्य और कुछ नहीं, मानव-मस्तिष्क का विस्तृत स्वरूप ही है। राज्य की उत्पत्ति वृक्षों अथवा चट्टानों से नहीं होती, वे उन मनुष्यों के मस्तिष्क से उत्पन्न होते हैं जो उनमें निवास करते हैं।"**[1] इस प्रकार राज्य की प्रकृति के ज्ञान के लिए उसके विचारात्मक स्वरूप का समझना आवश्यक है। प्लेटो और अरस्तू राज्य को अपने आप में सर्व प्रकार से पूर्ण एक विशालकाय व्यक्ति के समान समझते हैं। उसका संगठन मनुष्य शरीर (Human organisation) की तरह है। वे समाज और राज्य को एक रूप समझते हैं। वर्तमान युग की आदर्शवादी विचारधारा का जनक रूसो को कहा जा सकता है। रूसो राज्य को एक नैतिक संस्था मानता है। वह कहता है कि राज्य की अपनी एक इच्छा होती है। यह इच्छा समाज के सदस्यों के नैतिक या आदर्श इच्छाओं से युक्त होती है। वह व्यक्ति के वास्तविक हित को प्रगट करती है। राज्य की इच्छा हमेशा ठीक होती है, वह सदा जनहित में होती है। रूसो के इस सामान्य इच्छा (General will) के सिद्धान्त के आधार पर ही वर्तमान युग में कान्ट तथा हीगल ने आदर्शवादी राज्य की कल्पना की। जर्मन विचारकों का प्रभाव इंग्लैण्ड पर भी पड़ा और इंग्लैण्ड के टी. एच. ग्रीन, बोसाँ के तथा ब्रैडले (Bradley) इत्यादि ने भी राज्य की आदर्शवादी कल्पना का समर्थन किया।

आदर्शवादी विचारधारा का परिपक्व रूप हीगल के विचारों में मिलता है। हीगल रूसो का अनुसरण करता हुआ राज्य को उच्चतम नैतिक संस्था मानता है। मनुष्य के व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव है, राज्य के बाहर नहीं। राज्य एक पूर्ण विकसित व्यक्ति के समान है। वह नैतिक शरीर है, उसकी एक नैतिक इच्छा है, व्यक्ति इस नैतिक शरीर का एक अविभाज्य अंग है। राज्य व्यक्ति की उच्चतम इच्छा की अभिव्यक्ति करता है, अतः राज्य नियमों को मानकर ही मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्रता की अनुभूति कर सकता है। राज्य व्यक्ति-कल्याण के लिए नहीं अपितु आत्म-कल्याण के लिए अवस्थित है। राज्य को हीगल एक प्रकार की दैवीय शक्ति मानता है। वह कहता है कि राज्य तो पृथ्वी पर भगवान के 'साक्षात् स्वरूप' के सदृश है। व्यक्ति को इसकी पूजा करनी चाहिए। राज्य के प्रति विद्रोह अनैतिक है। व्यक्ति का सब से बड़ा कर्तव्य राज्य की उन्नति के लिए प्रयत्न करना है। राज्य के लिए उसे अपने जीवन तक का बलिदान कर देना चाहिए।

---

1. "The State is nothing but human mind writ large...States donot come out of oak or rock. They result from the mind of the people that live in them."—*Plato.*

आलोचना—राज्य की आदर्शात्मक व्याख्या की बड़ी आलोचना की जाती है। यह कहा जाता है कि आदर्शवादी विचारधारा अयथार्थ है। उसका जीवन की वास्तविकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं। राज्य को नैतिक संस्था मानते हुए भी उसे अपने आप में अन्त नहीं मान सकते। राज्य का उद्देश्य व्यक्ति-कल्याण है, आत्म-कल्याण नहीं। अतः राज्य को असीम और अबाध अधिकार नहीं सौंपे जा सकते। राज्य हमेशा ही ठीक नहीं होता, वह हमेशा ही अपने कार्यों में किसी उचित नीति का पालन करने वाला नहीं होता।

राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और उसके अधिकारों को नष्ट कर देता है, वह व्यक्ति जीवन की कोई कीमत नहीं समझता। ऐसी अवस्था में यह सिद्धान्त स्वस्थ राज्य-व्यवस्था का आधार नहीं बन सकता।

निष्कर्ष—ऊपर हमने राज्य विषयक अनेक अर्द्ध-सत्य सिद्धान्तों का विवेचन किया है। राज्य की केवल एक ही सिद्धान्त के आधार पर व्याख्या करना भ्रामक और असत्य है। राज्य मानवीय संस्था है, उसके मानवीय स्वरूप को समझने के लिए हमें अपने जीवन की विविधता को नहीं भूलना चाहिए।

Important Questions

	Reference
1. The organismic theory of the State is neither a satisfactory explaination of the nature of the State nor a trustworthy guide to the State activity. Discuss. (*Pb. 1953*)	Arts. 61, 62 and 63
2. Carefully examine the organic theory of Herbert Spencer and point out the chief-weaknesses in Spencer's arguments. (*Pb. 1942*)	Arts. 62 and 63
3. State and discuss the origin and development of the Organic Theory of the State.	Art. 61
4. Make critical evaluation of the Utilitarian Theory of the State.	Art. 67
5. What do you understand by the Idealistic Theory of the State ? How far it is true to the real facts of social life.	Art. 70
6. Describe the psychologists' conception of State.	Art. 69

अध्याय १०

कानून

(Law)

७१. कानून शब्द का परिचय

कानून शब्द अंग्रेजी शब्द **'लॉ'** (Law) का हिन्दी पर्यायवाची है। साधारण बोलचाल में और वैज्ञानिक अर्थ में भी 'कानून' शब्द अनेकार्थक है। जब हम किसी भी एक ऐसे नियम की ओर संकेत करते हैं जो निश्चित और एकरूप है और जिसका पालन साधारणतया होता है या किया जाता है, तो वह कानून कहलाता है। यह कानून शब्द की एक विस्तृत व्याख्या है। इसके अन्तर्गत प्राकृतिक, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी प्रकार के कानून आ जाते हैं।

हम प्राकृतिक जीवन में कुछ ऐसे नियम देखते हैं जो निश्चित और एकरूप हैं और जिनका पालन नित्य होता है। ऐसे नियमों को हम प्राकृतिक कानून (Physical law) कह सकते हैं। गुरुत्वाकर्षण का नियम (Law of gravitation) इत्यादि ऐसे ही भौतिक नियम हैं जो कि अपरिवर्तनीय हैं, और सम्पूर्ण विश्व में एकरूप हैं।

परन्तु हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन में कानून शब्द का प्रयोग उपर्युक्त अर्थ में नहीं होता। **सामाजिक जीवन में कानून से हमारा अभिप्राय उन नियमों से होता है जो हमारे जीवन का नियमन करते हैं। यदि ये नियम हमारे आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित हैं यानी हमारी क्रियाप्रेरक शक्तियों और हमारी इच्छाओं के उद्देश्यों से सम्बन्धित हैं तो वह नैतिक नियम** (Moral laws) **कहलाते हैं। यदि ये नियम हमारे बाह्य जीवन से सम्बन्धित हैं तो ये सामाजिक और राजनीतिक कानून कहलायेंगे।**

सामाजिक और राजनीतिक कानून भी अपनी प्रकृति में एक-दूसरे से भिन्न हैं। सामाजिक नियम परम्परागत रीति-रिवाज, फैशन तथा रूढ़ियों पर आधारित होते हैं। उनकी मान्यता लोकमत तथा समाज की नैतिक चेतना द्वारा दी जाती है। फलतः उनको तोड़ने या उल्लंघन करने का नतीजा शारीरिक दण्ड नहीं होता। अक्सर सामाजिक नियम तोड़ने पर समाज द्वारा हमारे आचरण की आलोचना की जाती है या उपहास उड़ाया जाता है। यह ठीक है कि कभी-कभी सामाजिक नियमों के तोड़ने का ढंग बहुत सख्त हो सकता है, परन्तु वह मृत्यु-दण्ड या जेल नहीं होता, अधिक से अधिक समाज हमें अपनी सदस्यता से वंचित कर सकता है, हमारा बाइकाट कर सकता है। **दहेज-प्रथा, अन्तर्जातीय विवाहों का निषेध, विधवा-विवाह का निषेध**

. **सामाजिक नियम हमारे हिन्दू समाज में मिल जाते हैं।** इन नियमों के के लिए कोई शारीरिक दण्ड-व्यवस्था नहीं, केवल लोकमत के आधार ाज में इनका अनुसरण होता रहता है । सामाजिक नियम अधिकतर शील सामाजिक व्यवस्था के बनाये रखने में मदद करते हैं।

सामाजिक कानून के विपरीत राजनीतिक कानून वे नियम होते हैं जिन्हें ाज्य द्वारा जारी किया जाता है और जिन्हें राज्य ही लागू करने के लिए उत्तरदायी होता है । राजनीतिक नियमों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी उच्चता होती है। क्योंकि उनको लागू करने वाली राजकीय शक्ति और दण्ड-व्यवस्था होती है।

राजनीति शास्त्र के अध्ययन में हम केवल राजनीतिक कानूनों का ही विवेचन करते हैं। अतः यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल राजनीतिक कानून से ही है। राजनीतिक कानून की अनेक व्याख्याएँ की गई हैं। नीचे हम इन व्याख्याओं का विवरण देंगे।

७२. कानून की शास्त्रीय व्याख्या (Classical version of law)

पीछे हम कानूनी प्रभुसत्ता के रूप पर विचार कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि आस्टिन इत्यादि कानूनी प्रभुसत्ता के समर्थक कानून को राज्य का आदेश मात्र मानते हैं। आस्टिन से पूर्व बोदीन, हॉब्स तथा बैन्थम भी उपर्युक्त विचार का ही समर्थन कर चुके थे। इस विचार के अनुसार प्रत्येक राज्य में एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय सर्वोच्च शक्ति सम्पन्न होता है, उसी के आदेश कानून कहलाते हैं। इन आदेशों के भंग करने का परिणाम शारीरिक दण्ड होता है। दण्ड के भय से ही नागरिक जन राज्य-नियमों का पालन करते हैं । इस प्रकार राज्य की शारीरिक शक्ति की उच्चता का आधार कानून की सबसे बड़ी विशेषता है । इस विशेषता के अभाव में कोई भी नियम 'कानून' नहीं कहला सकता और चाहे वह जो कुछ हो।

नवीन लेखकों में हालैण्ड (T. F. Holland) तथा विलोबी (W. W. Willoughby) इस सिद्धान्त के विशेष समर्थकों में से है।

७३. कानून की ऐतिहासिक व्याख्या (Historical version of law)

कानून की उपर्युक्त व्याख्या का विरोध सर हेनरी मेन और सेविनी (Sevigny) ने किया है। आज एफ. डबल्यू. मेटलेण्ड (F. W. Maitland) और सर फ्रेडरिक पोलॉक (Sir Frederick Pollock) भी कानून की शास्त्रीय परिभाषा का खण्डन करते हैं । वे कानून की शास्त्रीय व्याख्या को बहुत संकुचित समझते हैं। उनका कथन है कि यह जरूरी नहीं कि कानून एक निश्चित प्रभुसत्ता के आदेशों का ही फल हो। कानून को केवल मात्र राजकीय आदेश मानना बिल्कुल गलत है। कानून तो प्रगतिशील, परिवर्तनशील तथा दीर्घकालीन सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है । दूसरे शब्दों में हम कानून की तब तक कोई भी उचित व्याख्या नहीं कर सकते जब तक कि उसकी उत्पादनकर्त्ता ऐतिहासिक परिस्थितियों का अध्ययन न कर लें। प्रत्येक समाज की अपनी धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक आवश्य-

कताएँ होती हैं, इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त कानून बनाये जाते हैं। राजकीय प्रभुसत्ता तो कानून का केवल वैधानिक (Formal) स्रोत मात्र है, वास्तविक नहीं। अतः कानून का अध्ययन ऐतिहासिक परिस्थितियों के संदर्भ से ही होना चाहिए।

सर हेनरी मेन ने कानून के तीन उद्भव स्रोत माने हैं—

(१) परम्परागत रीति-रिवाज (Customs and conventions)।

(२) जन-सहमति (Public consent)।

(३) कानून निर्माण की योग्यता वाली निश्चित राजनीतिक संस्था (The definite political authority compitent to make law)

उपर्युक्त प्रथम दो निर्माण के वास्तविक स्रोत (Material source) हैं, जब कि अन्तिम केवल वैधानिक (Formal) स्रोत है। जन-परम्पराएँ वैधानिक स्वीकृति प्राप्त करने पर ही वास्तविक कानून बनती हैं।

हेनरी मेन आस्टिन के इस मत का भी समर्थक नहीं कि कानून राज्य की रचना है, राज्य तो केवल परम्परागत रीति-रिवाजों को मान्यता दे उन्हें कानून स्वीकार करता है। हेनरी मेन का विचार है कि जनसामान्य कानून का पालन दण्ड के भय मात्र से ही नहीं करता, राज्य-शक्ति की उच्चता ही उसके पालन कराने का कारण नहीं। लोग कानून का पालन बहुत कुछ अभ्यासवश करते हैं और बहुत कुछ इसलिए करते है कि वह उनकी नैतिक धारणा के अनुकूल होता है।

७४. कानून की समाजवैज्ञानिक व्याख्या (The sociological version of law)

द्युग्वी, क्रेब तथा लॉस्की इस विचारधारा के प्रबल समर्थक हैं। वे राज्य की सर्वोच्च सत्ता को नही मानते और न ही उसे कानून का स्रोत समझते हैं। कानून के शास्त्रीय सिद्धान्त को वह एक अयथार्थ और उथला सिद्धान्त मानते हैं। कानून की समाजवैज्ञानिक व्याख्या अधिकांश में मनोविज्ञान, समाज विज्ञान तथा व्यवहारवाद (Pragmatism) के व्यावहारिक दर्शन पर आधारित है।

द्युग्वी का कथन है कि कानून सामाजिक शक्तियों का प्रतिफल है। राज्य में निश्चित और संगठित विधानपालिकाएँ हो सकती है, परन्तु उनके आदेश मात्र कानून नहीं बन जाते। कानून हमारी सामाजिक आवश्यकताओं का परिणाम है। उसका पालन भय से नही किया जाता, अपितु स्वार्थवश किया जाता है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है, वह जानता है कि सामाजिक जिन्दगी तभी सम्भव है जब कुछ नियमों या असूलों का पालन किया जायगा। इन नियमों या असूलों की अनुपस्थिति में समाज में अराजकता फैल जायगी, संस्कृति और सभ्यता खत्म हो जायगी। अतः सामाजिक एकता (Social solidarity) के उद्देश्य को सामने रखते हुए हम कानून का पालन करते हैं। द्युग्वी कानून की परिभाषा इस प्रकार करता है, **"आधारभूत अर्थ में कानून उन चरित्र-पालन के नियमों के समूह को कहते हैं जिनका पालन साधारण**

मनुष्य सामाजिक जिन्दगी से प्राप्त सम्पूर्ण लोगों के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए करता है।"[1]

क्रेब कानून के नैतिक पक्ष पर अधिक बल देता है। उसका कथन है कि कानून राज्य से स्वतन्त्र और उच्च है। राज्य का वास्तविक रचयिता कानून है, न कि राज्य कानून का। इस प्रकार वह राज्य की सर्वोच्च सत्ता की अवस्थिति को सर्वथा अस्वीकार करता है। **कानून का स्रोत हमारी न्याय और औचित्य की ज्ञान भावना** (Sense of right) **है। अतः कानून हमारी नैतिक धारणा का परिणाम है।** जिसको हम बुरा समझते हैं कानून उसे दूर करने का प्रयत्न करता है और जो हमारी नैतिक धारणा के अनुसार उचित है, कानून उसे निर्धारित करने का प्रयत्न करता है। क्रेब का मत है कि हम कानून का पालन दण्ड के भय से नहीं करते, बल्कि, क्योंकि कानून उचित और न्यायसंगत है, वह हमारी नैतिक धारणा पर आधारित है, इसी कारण कानून का पालन किया जाता है।

लॉस्की की कानून की व्याख्या उपयोगितावाद पर आधारित है। उसका कथन है कि कानून का आधार व्यक्ति की सहमति है। कानून का पालन इसलिए किया जाता है क्योंकि वह हमारी कामनाओं की पूर्ति में सहायता करता है। कानून हमारे कल्याण का साधन है, यही कारण है कि हम उसका आचरण करते हैं। क्रेब तथा लॉस्की दोनों का ही यह विचार है कि यदि कानून हमारे कल्याण का पोषक न हो निरंकुश हो जाए तो व्यक्ति को राज्य-व्यवस्था के विरोध और कानून के उल्लंघन का अधिकार है।

निष्कर्ष—कानून की उपर्युक्त व्याख्याओं के अतिरिक्त दार्शनिक और तुलनात्मक नामक दो अन्य व्याख्याएँ भी की गई हैं, परन्तु वह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं।

कानून की ठीक-ठीक व्याख्या इन तीनों सिद्धान्तों के मिश्रण से ही सम्भव है। इन तीनों का अलग-अलग प्रयोग इसकी समुचित व्याख्या नहीं कर पाता। इसमें सन्देह नहीं कि कानून की तीनों प्रकार की धारणाओं में पर्याप्त सत्य है, परन्तु वह पूर्ण नहीं। वे कानून के विविध पक्षों को ही उपस्थित करती हैं। निश्चय ही कानून केवल मात्र राज्यादेश ही नही हो सकता, वह परिवर्तनशील है, समाज की परिवर्तित होती हुई आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। समाज की नैतिक धारणा, उसका न्याय और औचित्य ज्ञान तथा जनमत सभी कानून के रूप को निश्चित करते हैं। रीति-रिवाज तथा परम्परा की भी कोई राज्य अवहेलना नहीं कर सकता।

परन्तु इन सबके बावजूद भी हमें यह मानना पड़ेगा कि जनमत और नैतिक धारणाएँ आज के युग में तब तक कानून नहीं बन सकतीं जब तक कि वे विधान-

---

1. "Laws, in the fundamental sense, are the rules of conduct which normal men know they must observe in order to preserve and promote the benefits derived from life in society."—*Duguit.*

पालिकाओं द्वारा आदेश रूप में जारी न की जायँ । आज कानून का मुख्य स्रोत विधानपालिकाएँ हैं, रीति-रिवाज और परम्परा का स्थान आज राज्य विधान-पालिकाओं द्वारा रचित अधिनियम ले रहे हैं ।

कानून का पालन निस्सन्देह हम अभ्यासवश और स्वार्थवश भी करते हैं, परन्तु राज्य-दण्ड का भय भी कानून-पालन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । प्रत्येक समाज में कुछ न कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें नैतिक धारणाएँ कानून-पालन के लिए प्रेरित नहीं करतीं । उन्हें अवैधानिक और समाज-विरोधी कार्यों को करने से रोकने का एक तरीका है—वह तरीका है राज्य-दण्ड । राज्य-दण्ड के बिना बहुत से कानून केवल नैतिक नियम मात्र ही रह जायेंगे और उनका बार-बार उल्लंघन होता रहेगा । राज्य-दण्ड की व्यवस्था समाज में एकता, संगठन, शान्ति और व्यवस्था को बनाये रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कानून की तीनों व्याख्याएँ एक-दूसरे की पूरक हैं और इन तीनों के मेल से ही हम कानून की प्रकृति से वास्तविक रूप में अवगत हो सकते हैं ।

७५. कानून की परिभाषा

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर हमारे लिए कानून की एक निश्चित परिभाषा करना आसान हो जाता है । आस्टिन के कानूनविषयक शास्त्रीय दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए **हालैण्ड** ने कानून की परिभाषा इस प्रकार की है, **"कानून आचरण का वह साधारण नियम है जो केवल बाह्य आचरण को ही पहिचानता हो और किसी निश्चित सत्ता द्वारा लागू किया जाता हो, और यह सत्ता मानवीय हो, तथा मानवीय सत्ताओं में भी वह हो जिसे राजनीतिक समाज में सर्वोच्च शक्ति-सम्पन्न माना जाता हो । या संक्षेप में एक प्रभुसत्तासम्पन्न राजनीतिक शक्ति द्वारा लागू किये जाने वाले बाह्य आचरण के सामान्य नियम को कानून कहा जा सकता है ।"**[1]

हालैण्ड के विपरीत **विल्सन** (Wilson) ने कानून के ऐतिहासिक तथा विकासवादी पक्ष पर बल देते हुए कानून की परिभाषा इन शब्दों में की है, **"कानून सुस्थापित विचारधारा तथा अभ्यास का वह अंश है जो शासन की सत्ता व शक्ति द्वारा समर्थित सामान्य नियमों के रूप में सुस्पष्ट तथा वैधानिक स्वीकृति प्राप्त कर**

---

1. "A law is a general rule of action taking cognizance only of external acts, enforced by a determinate authority, which authority is human and among human authorities is that which is paramount in a political society, or briefly, a law is a general rule of external action enforced by a sovereign political authority."—*Holland.*

चुका है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कानून हमारे बाह्य सामाजिक जीवन के नियामक वह परम्परागत अथवा राज्य-निर्मित लिखित तथा अलिखित नियम हैं जिनको लागू करने का उत्तरदायित्व राज्य पर होता है।

कानून के लिए आवश्यक तत्त्व—उपर्युक्त परिभाषाओं से हम यह परिणाम निकालते हैं कि कानून के लिए निम्नलिखित तत्त्वों की उपस्थिति आवश्यक है—

(१) कानून को केवल नागरिक समाज में ही लागू किया जा सकता है।

(२) कानून का निर्माण समाज में स्थित सर्वोच्च राज्य-सत्ता द्वारा होता है।

(३) कानून उस नियम-संग्रह का नाम है जिसको व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा व्यक्ति-समुदायों के आचरण के नियमन के लिए राज्य द्वारा लागू किया जाता है।

(४) कानून के ये विभिन्न नियम केवल मात्र हमारे बाह्य आचरण का नियमन करते हैं, उनका हमारी आन्तरिक प्रवृत्तियों, कार्य-प्रेरक शक्तियों तथा मन के विचारों से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

७६. कानून के स्रोत (Sources of law)

अंग्रेज विधानशास्त्री हालैण्ड के मतानुसार कानून के निम्नलिखित छः स्रोत हैं—

(१) रीति-रिवाज (Customs); (२) धर्म (Religion); (३) न्यायालयों के निर्णय (Judicial decisions); (४) शास्त्रीय व्याख्याएँ (Legal commentaries); (५) औचित्य व न्याय-निर्णय (Equity); और (६) विधि-निर्माण (Legislation)।

अब हम इन सब पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

(१) **रीति-रिवाज** (Custom) कानून का सब से पुराना स्रोत समझा जाता है। रीति-रिवाज सामाजिक आचरण के उन नियमों को कहते हैं जिनका पालन समाज के अधिकांश भाग द्वारा होता है। इन रीति-रिवाजों का उद्भव अभ्यास सफल अनुभव, उपयोगिता अथवा न्याय-व्यवस्था की सामान्य आकांक्षा से हो जाता है। अनेक बार इन रीति-रिवाजों का उद्भव अचानक हो जाता है और अनेक बार परिवार जन अथवा किसी समुदाय के परम्परागत व्यवहार (Usage) इसके आधार बन जाते हैं। परन्तु कोई भी निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि कब

---

1. "Law is that portion of the established thought and habit which has gained distinct and formal recognition in the shape of uniform rules backed by the authority and power of government."
—*Woodrow Wilson.*

और कैसे रीति-रिवाजों का प्रचलन हो गया। सामान्यतया हम यही कह सकते हैं कि ये रीति-रिवाज हमारी सामाजिक प्रवृत्ति के परिणाम हैं। इनका पालन अधिकतर इनकी उपयोगिता अथवा जन-सामन्य की अमनपसन्द इच्छा से होता है।

अविकसित अथवा अर्द्ध विकसित पुराने समाज में परम्परागत व्यवहार नियमों तथा रीति-रिवाजों का विशेष महत्त्व था। ऐसे समय में समाज-व्यवस्था सरल थी लोगों के जीवन की आवश्यकताएँ अधिक नहीं थीं, अतः यही नियम उनके सामाजिक आचरण की व्यवस्था करते थे। वस्तुतः यह ठीक ही कहा जाता है कि पुराने समाज में सम्राटों के शासन की बजाय रीति-रिवाज और परम्परागत व्यवहार-नियमों का शासन होता था। सम्राट् या गाँव अथवा जन के मुखिया केवल इन रीति-रिवाजों के व्याख्याकार ही थे।

धीरे-धीरे ये परम्पराएँ धार्मिक, दैवीय तथा अलौकिक शक्तियों के आधार को ग्रहण कर सामाजिक रूढ़ियाँ बन गईं, जिनकी उपेक्षा अधार्मिक कृत्य या पाप समझा जाने लगा।

राजनीतिक अर्थ में रीति-रिवाज कानून नहीं कहलाते परन्तु कोई भी राज्य उनकी अवहेलना नहीं कर सकता। जब कभी राज्य किसी लोकप्रिय परम्परा या रिवाज पर आक्रमण करता है तो जनता उसका कड़ा विरोध करती है। लोकमत के परिवर्तन के अनन्तर ही परम्परागत रिवाजों को राजकीय सहायता से बदला जा सकता है। बहुत से रिवाज राज्य द्वारा मान्यता प्रदान किये जाने पर कानून बन जाते हैं। इस प्रकार प्रायः सभी राज्यों में कानून का अधिकांश भाग परम्परागत रीति-रिवाजों पर आधारित होता है। इंग्लैण्ड का 'कॉमन लॉ' (Common law) परम्परागत रीति-रिवाज पर ही आधारित है।

(२) **धर्म** (Religion)—धर्म तथा रीति-रिवाज का चोली-दामन का-सा घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। हम ऊपर ही कह चुके हैं कि पुराने रीति-रिवाज धीरे-धीरे धार्मिक आधार को पाकर धार्मिक दृष्टि से अनुलंघनीय हो गये। राज्य-संस्था के विकास में धर्म का एक विशेष हाथ रहा है। पुराने समाज के 'पुरोहित राजा' (Priest king) की व्यवस्था इस मत के समर्थन के लिए पर्याप्त है।

धर्म ने प्रत्यक्ष रूप से भी कानून-निर्माण में सहायता की है। अनेक ऐसे राजकीय नियम जारी किये गये जिनका प्रत्यक्ष आधार धर्म था। पुराने धर्माधिकारियों ने भी अनेक ऐसे धार्मिक नियमों की रचना की जो कि बाद में राज्य-नियमों के बराबर हो गये। प्राचीन रोमन कानून धर्म पर आधारित था। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था मनु, पराशर तथा याज्ञवल्क्य द्वारा प्रतिपादित धार्मिक नियमों पर आधारित है। मुसलमानों का कानून भी शरीयत का आश्रय लेकर चलता है।

(३) **न्यायालयों के निर्णय** (Judicial Decisions) **प्रो० गेटल का कथन है कि राज्य का अभ्युदय कानून निर्माता के रूप में नहीं, बल्कि रूढ़ियों की व्याख्या**

तथा कार्यान्वित करने वाले के रूप में हुआ।"[1] परम्परागत रीति-रिवाज सामाजिक जीवन का नियमन करते आरहे थे परन्तु उनके स्थिर और स्पष्ट रूप के अभाव में अनेक बार अनेक झगड़ों के निपटारे में कठिनाई पड़ती थी। अनेक बार ऐसे भी झगड़े उत्पन्न हो गये जिनका निर्णय किसी भी मौजूदा रीति-रिवाज से सम्भव नहीं था। ज्यों-ज्यों समाज के संगठन में जटिलता उत्पन्न हो गई, रीति-रिवाज और धर्म में भी पर्याप्त पार्थक्य हो गया। फलतः यह कठिनाई और भी बढ़ गई, ऐसी अवस्था में कानून निर्धारण का एक अन्य स्रोत सामने आया। प्रायः रीति-रिवाज की व्याख्या सम्बन्धी झगड़ों का निर्णय सम्प्रदाय या समाज के पुरोहितों, वृद्धों या सरदारों या पंचों से कराया जाता। ये लोग या तो पम्परागत रीति-रिवाज की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल व्याख्या करते या रीति-रिवाज के अभाव में अपनी न्याय-बुद्धि के अनुसार निर्णय देते। यह निर्णय भविष्य के लिए परम्परा का रूप धारण कर कानून बन जाते। जब कभी ऐसे ही झगड़े समाज या राज्य के सम्मुख आते तो न्यायाधीश उनका फैसला करते हुए इन पूर्वनिर्णीत निर्णयों का जिक्र करते, और उन्हीं को अपने फैसले का आधार बनाते।

न्यायालयों के निर्णय केवल पुराने समाज में ही कानून-निर्माण के स्रोत रहे हों और वर्तमान समाज में उनका महत्त्व न हो, ऐसी बात नहीं। वर्तमान समाज में चाहे कानून पर्याप्त, निश्चित और सुव्यवस्थित हो गये हैं तथापि समय-समय पर न्यायाधीश उनकी व्याख्या कर उनका विस्तार करते रहते हैं। प्राय: प्रत्येक राज्य में जहाँ कानून लिखित तथा अलिखित किसी भी रूप में विद्यमान हो, न्यायाधीश उसकी व्याख्या कर उसका परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों के अनुसार संशोधन और विस्तार करते हैं।

(४) शास्त्रीय व्याख्याएँ (Legal commentaries)। प्रत्येक राज्य में विद्वान वकीलों और विधानशास्त्रियों के कानूनविषयक मतों का आदर किया जाता है, और न्यायाधीश लोग अपने निर्णय देते हुए उनके विचारों का स्थान-स्थान पर आदरपूर्वक जिक्र करते है। इंग्लैण्ड में कोक (Coke) ब्लैक्स्टोन (Blackstone) तथा केंट (Kent) की कानून सम्बन्धी शास्त्रीय व्याख्याओं का और हमारे यहाँ मनु, पराशर तथा याज्ञवल्क्य और उन पर भी की गई कुल्लूकभट्ट तथा मिताक्षरा इत्यादि की टीकाएँ कानून-निर्माण का महत्त्वपूर्ण स्रोत समझी जाती हैं। इन लोगों ने परम्परागत रीति-रिवाजों का संग्रह किया और अनिश्चित तथा अस्पष्ट परम्पराओं की व्याख्या की। यही नहीं उन्होंने कानून सम्बन्धी अमूर्त सिद्धान्तों का विवेचन कर ऐसे तर्कपूर्ण सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना की जो कि आज भी कानून-निर्माताओं का पथ-प्रदर्शन करते हैं।

औचित्य तथा न्याय-निर्णय (Equity)—यह भी 'न्यायाधीश निर्णय' का

---

1. "The State arose not as the creator of law, but as the interpreter and enforcer of custom."—*Gettell.*

ही एक प्रकार है । जहाँ न्यायाधीश निर्मित कानून में न्यायाधीश मौजूदा कानून की व्याख्या करता है वहाँ न्याय-निर्णय द्वारा वह कानून की मौजूदा कमियों को पूरा भी करता है । अनेक ऐसे झगड़े न्यायालय के सामने आ सकते हैं जिनका फैसला मौजूदा कानून से नहीं किया जा सकता । उस समय न्यायाधीश अपनी न्याय-बुद्धि से (Sense of justice) से निर्णय कर कानून का विस्तार करता है । यह कानून को लचीला बनाने का एक प्रकार है । जब कानून परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार नहीं बदल पाता उस समय इस साधन द्वारा बिना किसी वैधानिक तरीके को अपनाये कानून को बदला जा सकता है ।

कानून परिवर्तन की इस विधि का आधार निष्पक्षता, न्याय-बुद्धि तथा व्यावहारिक समानता है ।

(६) **कानून-निर्माण** (Legislation)—आज कानून-निर्माण का सर्वप्रमुख स्रोत विधानपालिकाएँ (Legislative bodies) हैं । कानून-निर्माण के अन्य सभी स्रोतों का स्थान आज विधि-निर्माण ने ले लिया है । परम्परागत रीति-रिवाज, न्यायिक निर्णय (Judicial decision) इत्यादि कानून निर्माण के अनिश्चित प्रकार धीरे-धीरे विधान-पालिकाओं द्वारा बनाये गये स्पष्ट विधि नियमों द्वारा स्थानान्तरित किए जा रहे हैं । इसमें संदेह नही कि धर्म, सदाचरण के नियम तथा रीति-रिवाज सभी आज भी कानून-निर्माण को प्रभावित करते हैं, परन्तु वह अब कानून-निर्माण के प्रत्यक्ष स्रोत न रहकर अप्रत्यक्ष प्रभावमात्र हैं । कानून के संग्रह (Codification) और लिखित रूप ग्रहण करने के फलस्वरूप न्यायिक निर्णयों (Judicial decisions) का विस्तार भी सीमित हो गया है । कानून सम्बन्धी शास्त्रीय व्याख्याओं का प्रयोग विभिन्न वैधानिक मामलों के वाद-विवाद में ही किया जाता है ।

हमने ऊपर कहा है कि आज कानून का मुख्य स्रोत व्यवस्थापिका सभाएँ हैं, परन्तु कानून-निर्माण के साधन सदा एकरूप नहीं रहे, उनके स्वरूप में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है । प्राचीन काल में नगर शासक (Magistrate) धार्मिक पुरोहित, जन-नायक (Feudal chief) और सर्वप्रिय राजा लोग **व्यवस्थापनाधिकारी** होते थे । परन्तु आज तो जनता द्वारा निर्वाचित व्यवस्थापिका सभाएँ ही मुख्य रूप से कानून निर्माण करती हैं । कहीं-कहीं जनता स्वयं प्रजातन्त्र के प्रत्यक्ष साधनों (Direct methods of democracy) द्वारा कानून-निर्माण में हिस्सा लेती है । प्रथम प्रकार की व्यवस्था का जन्म स्थान इंग्लैण्ड है, जब कि स्विट्जरलैण्ड ने कानून-निर्माण के प्रत्यक्ष साधनों का विकास किया ।

आज कानून का आधार जनमत है । व्यवस्थापिका सभाएँ तो कानून-निर्माण का (Formal source) व्यावहारिक स्रोत ही समझी जाती है । उनका समय-समय पर चुनाव होता रहता है, अतः वे जनमत की अवहेलना किसी भी हालत में नहीं कर सकतीं । इसके साथ कानून की प्रकृति में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है । पहले कानून-निर्माण केवल शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए होता था परन्तु आज वह समाज-कल्याण का एक मुख्य साधन है । यह परिवर्तन राज्य के कर्त्तव्यों की प्रकृति

के बदल जाने का ही फल है।

७७. कानून के प्रकार (The various kinds of Laws)

कानून का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जाता है। शासक और शासित सम्बन्धों को दृष्टि में रखते हुए प्रो० गेटल कानून का विभाजन इस प्रकार करते हैं—

(१) व्यक्तिगत कानून (Private law), जो व्यक्ति व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करता है।

(२) सार्वजनिक कानून (Public law), जो राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करता है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International law), जो राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को नियमित करता है।

व्यक्तिगत कानून (Private law) के अन्तर्गत राज्य का कार्य एक संरक्षक का कार्य है, वह नागरिकों के अधिकारों की रक्षा और उनके पारस्परिक झगड़े का फैसला करता है। सार्वजनिक कानून राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों और अधिकारों का निर्णय करता है। जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध है।

प्रो० हालैण्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सत्ता को न मानते हुए कानून के केवल सार्वजनिक कानून और व्यक्तिगत कानून दो ही प्रकार माने हैं।

कानून का विभाजन उद्गम-स्थल के आधार पर भी किया जाता है। इस आधार पर कानून का विभाजन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

संवैधानिक कानून (Constitutional law)—संवैधानिक कानून राज्य की शासन-व्यवस्था का आधार होता है। वह राज्य के कर्तव्य, राज्य-शासन का संगठन, उसके विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध और शासितों के अधिकारों तथा शासक और शासित के सम्बन्धों का नियमन करता है। संविधान के अनेक रूप हो सकते हैं। वह लिखित भी हो सकता है और अलिखित भी। आजकल प्रायः अधिकांश संविधान लिखित ही होते हैं। अमेरिका भारत तथा रूस इत्यादि राज्यों के संविधान लिखित हैं। ग्रेट ब्रिटेन का संवैधानिक कानून अधिकांश रूप से अलिखित है।

(१) संवैधानिक कानून का निर्माण भी विभिन्न प्रकार से होता है। अधिकांश में उनका निर्माण संविधान निर्माण के लिए ही आयोजित संविधान समितियों द्वारा होता है, जैसा कि अमेरिका और भारत में हुआ। इन दोनों राज्यों में संविधान निर्माण विशेष संविधान समितियों द्वारा हुआ, जिन्हें कि उनके एतद्विषयक कार्य समाप्त करने पर भंग कर दिया गया।

ग्रेट ब्रिटेन के संवैधानिक कानून का निर्माण किसी एक विधान परिषद् द्वारा नहीं हुआ, जैसा कि अमेरिका और भारत में हुआ। उसका विकास ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम है। उसका आधार परम्परागत समझौते, रीति-रिवाज, न्यायिक निर्णय और अनेक व्यवस्थाएँ हैं।

संवैधानिक कानून का स्वरूप जो भी हो, वह किन्हीं भी परिस्थितियों का परिणाम क्यों न हो, वह एक राज्य के राजनीतिक और शासकीय जीवन का आधार होता है।

(२) **साधारण कानून** (Ordinary law)—संविधान द्वारा स्थापित विधानपालिकाओं द्वारा निर्मित कानून विधि (Statutes) या साधारण कानून कहलाते हैं। राज्य जहाँ संवैधानिक कानून की रचना है वहाँ वह साधारण कानून का जनक भी है। साधारण कानून नागरिक तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों के नियमन के अतिरिक्त नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों का भी नियमन करता है। राज्यों की विधानपालिकाएँ साधारण कानून का उद्गम-स्रोत होती हैं।

(३) **अध्यादेश** (Ordinances)—कानून का एक अन्य प्रकार अध्यादेश कहलाता है। इसकी व्यवस्था अस्थायी रूप से संकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए की जाती है। साधारणतया प्रत्येक राज्य में व्यवस्थापिका सभाएँ ही कानून बनाती हैं, परन्तु उनके अधिवेशन की अनुपस्थिति में संकटकालीन स्थिति का मुकाबला करने के लिए कार्यपालिका (Executive) को स्थायी कानून बनाने का अधिकार होता है। अध्यादेश जारी करने का एक दूसरा मकसद शासकीय सुविधा भी हो सकता है।

(४) **सामान्य कानून** (Common law) की व्यवस्था इंग्लैण्ड में है। यह इंग्लैण्ड की वैधानिक व्यवस्था का एक विशेष अंग है। इनका आधार परम्परागत रीति-रिवाज और व्यवस्था है न कि व्यवस्थापिका सभा के आदेश। अलिखित और परम्परा पर आधारित होने के बावजूद भी न्यायालय इन्हें मान्यता प्रदान करते हैं और उनको अनेक मुकदमों के फैसलों में लागू भी करते हैं।

(५) **प्रशासकीय कानून** (Administrative law)—प्रशासकीय कानून का फ्रांस तथा यूरोपीय महाद्वीप के पश्चिमी भाग के अन्य अनेक राज्यों में प्रचलन है। डायसी ने इसकी परिभाषा इन शब्दों में की है—"**प्रशासकीय कानून से उस व्यवस्था से मतलब है जिसके द्वारा राज्य के सभी अधिकारियों की स्थिति उनकी जिम्मेवारी का, राज्य के प्रतिनिधि सरकारी अधिकारियों के साथ अपने सम्बन्धों में नागरिकों के अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों का, और इन अधिकारों तथा जिम्मेवारियों को प्रभावोत्पादक बनाने की प्रक्रिया को निर्णय और नियमन किया जाता है।" इस व्यवस्था के अन्तर्गत जहाँ एक ओर अधिकारियों की क्षमता को निश्चित किया जाता है वहाँ नागरिकों को ऐसे प्रतिकार भी बतलाए जाते हैं जिस द्वारा वह अपने अधिकारों की रक्षा कर सकते हैं।**"[1] प्रशासकीय कानून साधारण नागरिक और सरकारी अधिकारियों में भेद करता है। जब कभी साधारण नागरिक को सरकारी

---

1. "It is that part of public law which fixes the organisation and determines the competence of the administrative authorities, and indicates to the individual remedies for the violation of its rights."
—*Gettell.*

अधिकारी के प्रति कोई शिकायत होती है या जब कभी सरकारी अधिकारियों के अपराधों की समीक्षा की जाती है तो वह साधारण न्यायालय तथा साधारण कानून द्वारा न होकर प्रशासकीय कानून और प्रशासकीय न्यायालयों द्वारा ही की जाती है।

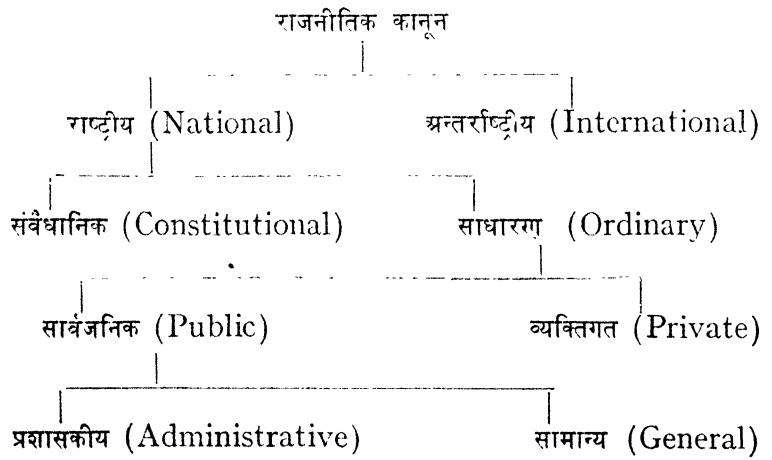
प्रशासकीय कानून का निर्माण किसी व्यवस्थापिका सभा द्वारा नहीं होता, इसका आधार राज्यादेश और अधिकांश में न्याय-निर्णय होते हैं।

कानून के उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त दण्ड-विधान और दण्डविधि (Criminal law and procedure) की व्यवस्था भी की जाती है। सामाजिक शान्ति और व्यवस्था के भंग करने-कराने वाले कार्यों को राज्य अपने विरुद्ध अपराध समझता है, अतः इनके लिए एक निश्चित दण्ड व्यवस्था रहती है, इसे ही दण्ड-विधान और व्यवस्था कहते हैं।

कानून के सभी प्रकार जिनका प्रचलन और प्रयोग, राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत किया जाता है **राष्ट्रीय कानून** (National law) **या म्यूनिसिपल कानून** (Municipal law) **कहलाते हैं।**

अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International law) राष्ट्रीय कानून या म्यूनिसिपल कानून के विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्था करता है। राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा इसका क्षेत्र विस्तृत और व्यापक है। कानून के इस प्रकार का विवेचन हम आगे चलकर विस्तारपूर्वक करेंगे।

मैकाइवर (MacIver) ने अपनी पुस्तक 'Modern State' में कानून का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है—



७८. कानून का विकास

पाश्चात्य तथा भारतीय कानून-व्यवस्था का विकास-क्रम एक नहीं। दोनों में पर्याप्त भेद है। विश्व की महान् कानूनी पद्धतियों तथा विधि-संग्रहों का विकास पूर्वी

साम्राज्यों में हुआ है। परन्तु पश्चिम में कानून-व्यवस्था के विकास के दो मुख्य स्रोत हैं—ट्यूटोनिक तथा रोमन कानून। पाश्चात्य जगत की वर्तमान कानून-व्यवस्था का प्रादुर्भाव ५वीं सदी में ट्यूटोनिक और रोमन राज्य-पद्धतियों के एक हो जाने के फलस्वरूप हुआ।

रोमन-विजेता जहाँ कहीं गये वहीं वे अपनी कानून-व्यवस्था भी साथ लेते गये, यद्यपि उन्होंने विभिन्न प्रदेशों की स्थानीय कानून-व्यवस्था को कभी खत्म नहीं किया। रोमन और ट्यूटोनिक कानून अपनी प्रकृति में एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न हैं। रोमन लोग राज्याधिकारियों के आदेश को ही कानून स्वीकार करते थे, जब कि ट्यूटोनिक कानून का आधार वैयक्तिक था, वह रीति-रिवाज के आधार पर बना था और प्रत्येक परिवार या जन के अनुसार उसमें भेद होते थे। रोमन कानून एक संगठित राज्य का आधार था और वह सभी नागरिकों पर सामान्य रूप से लागू होता था, परन्तु ट्यूटोनिक कानून में सर्वमान्यता और व्यापकता का अभाव था, वह अलिखित और अस्पष्ट था, तथा प्रत्येक जन (Tribe) के साथ उसका स्वरूप बदलता रहता था। ट्यूटोनिक कानून में अनेक परस्पर विरोधी व्यवस्थाएँ साथ-साथ मिल जाती थीं।

सामन्तवादी समाज-व्यवस्था के जन्म के साथ ही रोमन कानून ने ट्यूटोनिक कानून-व्यवस्था पर उच्चता स्थापित कर ली। रोमन कानून-व्यवस्था की उच्चता के अनेक कारण थे, एक तो यूरोप के उच्च वर्गों में लेटिन भाषा का प्रचलन था फलतः लेटिन भाषा में लिखित रोमन कानून का अध्ययन सर्वत्र उच्च वर्ग में किया जाता था। दूसरा रोमन साम्राज्य के विनष्ट हो जाने पर भी रोमन कानून की महत्ता और उच्चता को बर्बर राजाओं ने स्वीकार कर लिया था। फिर रोमन कानून विधि-संग्रह (Code) के रूप में मिल जाता था।

सामन्त व्यवस्था के प्रचलन के फलस्वरूप और रोमन कानून की सर्वप्रियता के परिणामस्वरूप कानून का पुराना वैयक्तिक आधार खत्म हो गया और उसका स्थान प्रादेशिक आधार ने ले लिया, अतः अब यह माना जाने लगा कि एक निश्चित प्रदेश में रहने वाले सभी व्यक्ति एक ही कानून के अधीन होते हैं।

रोमन कानून-व्यवस्था के विस्तार में चर्च का भी विशेष हाथ रहा है। रोमन चर्च-व्यवस्था का आधार रोमन साम्राज्य व्यवस्था और कानून दोनों ही थे। चर्च शिक्षा का केन्द्र था, उसने आर्थिक और अधार्मिक दोनों प्रकार ही कानून-व्यवस्थाओं के विकास और प्रचलन में सहयोग दिया।

उधर ११वीं सदी के अन्त तक रोमन कानून के अध्ययन की अनेक व्यवस्थाएँ की गई। बोलोग्ना विश्वविद्यालय (University of Bologna) ने इस दिशा में विशेष कार्य किया। इसी विश्वविद्यालय के अनेक विद्यार्थियों ने पहले-पहल इटली के विभिन्न नगर-राज्यों में प्राचीन रोमन कानून में लोगों की अभिरुचि को जागृत किया। यहीं से फ्रांस, स्पेन तथा हालैण्ड के नागरिक भी कानून में शिक्षा पाकर अपने देश को लौटे। यहाँ तक कि ट्यूटोनिक कानून-व्यवस्था का घर इंग्लैण्ड भी उस

प्रभाव से अछूता न रहा। इन सभी प्रदेशों में राष्ट्रीय शक्ति के विकास के फलस्वरूप राज्य-व्यवस्था केन्द्रीकृत हो रही थी फलतः वकील और विधानशास्त्रियों ने सभी जगह 'राजा के कानून' के मत का समर्थन किया।

पाश्चात्य कानून-व्यवस्था के विकास में नैपोलियन द्वारा आयोजित विधि-संग्रह (Code Napoleon, 1804) का विशेष स्थान है। इस कोड का आयोजन मुख्य रूप से रोमन कानून फ्रांसीसी रीति-रिवाज तथा विधानशास्त्रियों के विचारों पर किया गया था। इसी विधि-संग्रह के आधार पर बेल्जियम, हालैण्ड, इटली तथा स्पेन इत्यादि देशों में कानून-व्यवस्था की गई।

यूरोप के अन्य देशों से भौगोलिक स्थिति की विभिन्नता के फलस्वरूप इंग्लैण्ड में कानून-व्यवस्था का विकास उसी प्रकार नहीं हुआ जैसा अन्यत्र हुआ। इंग्लैण्ड की कानून-व्यवस्था का आधार ट्यूटोनिक रीति-रिवाज है। बहुत काल तक रोमन शासन के अन्तर्गत रहने के फलस्वरूप वह रोमन प्रभाव से भी अछूता नहीं रहा। चर्च इत्यादि धार्मिक संस्थाओं ने रोमन कानून प्रभाव के अधिक व्यापक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, परन्तु अंग्रेज न्यायाधीशों ने इस प्रभाव को बहुत सीमा तक रोके रखा। इंग्लैण्ड की कानून व्यवस्था के विकास में वहाँ के न्यायाधीशों द्वारा दिए गए न्याय निर्णयों का भी बहुत महत्वपूर्ण हाथ है। रीति-रिवाज की व्याख्या कर अंग्रेज न्यायाधीशों ने जहाँ कानून का विस्तार किया वहाँ उसे परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों के अनुकूल भी बनाया। न्याय-निर्णय न्यायाधीश द्वारा बनाए गए कानून ही बन गये। इस प्रकार अंग्रेजी कानून-व्यवस्था में रोमन कानून की अपेक्षा पर्याप्त लचीलापन (Flexibility) था। वह अलिखित होने के कारण और न्यायाधीशों के निर्णयों पर आधारित होने के कारण बदलते हुए हालात के अनुसार बदला जा सकता था, परन्तु रोमन कानून संग्रह-बद्ध होने के कारण शीघ्र नहीं बदल सकता था। अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया इत्यादि भूतपूर्व बृटिश उपनिवेश भी अंग्रेजी कानून-व्यवस्था से पर्याप्त सीमा तक प्रभावित हैं।

पाश्चात्य कानून-व्यवस्था प्राचीन यहूदी न्याय-व्यवस्था से भी प्रभावित है। प्राचीन ईसाई धर्म व्यवस्था के विकास में और उसके नियम में पुरानी यहूदी सामाजिक व्यवस्था के अनेक तत्त्व मिल जाते हैं। वही प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पाश्चात्य न्याय-व्यवस्था को प्रभावित करते हैं।

वर्तमान स्थिति में यूरोपीय महाद्वीप के मुख्य-मुख्य देशों में तो रोमन कानून व्यवस्था का अधिक प्रचलन है, परन्तु ग्रेट ब्रिटेन में ट्यूटोनिक और रोमन कानूनों का सम्मिश्रण मिल जाता है।

भारत में कानून-व्यवस्था का विकास—प्राचीन भारतीय कानून-व्यवस्था का आधार धर्म-व्यवस्था थी। भारतीय जीवन में धर्म की सदा ही प्रधानता रही है, अतः प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था का जन्म धर्म से ही माना जाता है। यह यकीन किया जाता है कि हिन्दू कानून-व्यवस्था का प्रारम्भ वेद द्वारा निर्धारित व्यवस्था से हुआ और उसका आधार वैदिक युग के रस्मो-रिवाज हैं। परन्तु परिवर्तित हुई परिस्थितियों

के अनुसार वे बदलते रहे । स्मृतिकारों ने उनकी व्याख्या इस प्रकार की कि उनके आदि रूप और बाद के रूप की पारस्परिक तुलना ही मुश्किल हो गई । इसी प्रकार स्मृतिकारों के साहित्य का भी बार-बार पर्यालोचन होता रहा और बदलते हुए हालात के अनुसार उनका रूप बदलता रहा । हिन्दू-कानन व्यवस्था का आधार इस प्रकार धर्म, रस्मो-रिवाज और विधानशास्त्रियों की व्याख्याएँ हैं ।

भारतीय न्याय-व्यवस्था को दूसरा बड़ा अनुदान इस्लाम की कानून-व्यवस्था से भी मिला है । वस्तुतः ब्रिटिश शासन की स्थापना तक हमारे यहाँ इन दोनों सम्प्रदायों के सदस्यों के सामाजिक जीवन का नियमन इन दोनों प्रकार की कानून-व्यवस्थाओं के अनुसार होता रहा । अब भी इस व्यवस्था में विशेष परिवर्तन नहीं हो पाया । मुस्लिम कानून-व्यवस्था का आधार कुरान तथा उस पर की गई अनेक टीकाएँ हैं । हिन्दू कानून-व्यवस्था की अपेक्षा मुस्लिम कानून अधिक विस्तृत और व्यापक है ।

ब्रिटिश शासन-व्यवस्था की स्थापना के अनन्तर भारतीय कानून का संग्रहकरण (Codification) हुआ और पाश्चात्य कानून-व्यवस्था से प्रभावित हो वह पर्याप्त स्पष्ट भी हो गया । वर्तमान कानून के आधार जहाँ प्राचीन काल से चले आ रहे धार्मिक रस्मो-रिवाज हैं वहाँ विधानपालिकाओं द्वारा स्थापित अनेक अधिनियम भी हैं ।

७९. कानून में परिवर्तन के कारण

कानून-व्यवस्था कभी एक-सी नहीं रह सकती, उसमें परिवर्तन आवश्यक हैं । ऐसा सम्भव है कि कभी-कभी कानून का बाह्य रूप तो न बदला हो, ऊपर से देखने मात्र से सर्वथा अपरिवर्तित और गतिविहीन लगता हो, फिर भी आन्तरिक दृष्टि से उसमें बहुत परिवर्तन हो जाते हैं, वस्तुतः कहना चाहिए कि वह सर्वथा ही बदल जाता है । फिर भी प्राचीन समाज में कानून-व्यवस्था में परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे होते थे, विशेष रूप से उस स्थिति में तो परिवर्तन बहुत ही कम हो पाते थे जब कि यह समझा जाता था कि कानून भगवान् के आदेश हैं, वे दैवीय विधान हैं । इन सबके होते हुए भी परिवर्तन हुए । जब कभी विभिन्न प्रकार के जनसमुदायों का सामूहिक सम्मिश्रण हुआ तो उसके फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था और रस्मो-रिवाज भी बदल गये । ऐसे सम्मिश्रण प्रायः युद्ध में पराजित होने पर किसी जन के पराधीन होने पर होते थे । यदि विजित जन उच्च संस्कृतिसम्पन्न हुआ तो उसने पराजित समुदाय की व्यवस्थाओं को पर्याप्त परिवर्तित किया । अन्यथा दोनों ही एक दूसरे को अपनी क्षमता के अनुसार प्रभावित करते रहे ।

विविध लोगों के शान्तिपूर्ण सम्पर्क से भी कानून-व्यवस्था में परिवर्तन हुए हैं । बदलती सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार कानून-व्यवस्था बदल नहीं पाती थी, वह अक्सर पीछे रह जाती थी, ऐसी अवस्था में पुराने कानूनों की नई परिस्थितियों के अनुसार व्याख्या की जाती थी । यह व्याख्या प्रायः बड़े-बूढ़े लोग करते और उसका

आधार उनकी अपनी न्याय-बुद्धि होती। धीरे-धीरे न्यायालयों के विकास के फलस्वरूप कानून-व्यवस्था की व्याख्या का उत्तरदायित्व न्यायाधीशों पर आ पड़ा। किसी लिखित कानून-व्यवस्था के अभाव में उन द्वारा किये गये निर्णय सामाजिक न्याय-व्यवस्था के आधार बन जाते थे।

इस प्रकार कानून संग्रहकर्त्ताओं ने भी कानून के रूप को संशोधित और परिवर्द्धित किया। अक्सर एक समय पर समाज में एक ही प्रकार के झगड़ों के निपटाने के लिए दो या दो से भी अधिक परस्पर विरोधी व्यवस्थाएँ मिल जातीं या अनेक ऐसी पुरानी व्यवस्थाएँ मिल जातीं जो अब सर्वथा मूल्य-विहीन हो चुकी थीं। इनके विरोध को खत्म कर और अनावश्यक रस्मो-रिवाज का त्याग कर समन्वयात्मक कानून-व्यवस्था का निर्माण विधि-वेत्ताओं द्वारा किया जाता था। विधानशास्त्रियों ने प्राचीन कानूनों का संग्रह करते हुए अपनी विवेक-बुद्धि से काम लिया होता था, अतः वे जाने-अनजाने में अनेक ऐसे नवीन कानूनों की व्यवस्था कर डालते जिनका कि पहले कभी प्रचलन नहीं था परन्तु जिनकी आवश्यकता अवश्य थी। यही विचार धर्म की स्वीकृति प्राप्त कर कानून बन जाते।

आज के युग में शासन तथा व्यवस्थापन कानून-परिवर्तन के मुख्य स्रोत हैं। राजकीय कार्यों के बढ़ जाने के कारण कानून-निर्माण विशेषज्ञों का कार्य हो गया है। अतः उसकी व्यवस्था कार्यपालिका तथा विधानपालिका दोनों द्वारा ही होती रहती है। युद्ध-काल या संकट-काल में कार्यपालिका कानून-व्यवस्था में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने में सफल हो जाती है, कार्यपालिका द्वारा निर्मित बहुत से कानून तो अस्थायी होते हैं, परन्तु उपयोगी साबित होने पर उनमें से अनेक स्थायी रूप धारण कर लेते हैं।

कानून-व्यवस्था के परिवर्तन का एक मुख्य कारण जनमत भी है। स्विट्ज़रलैण्ड इत्यादि प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र द्वारा शासित देशों में जनमत का प्रभाव बहुत स्पष्ट और शक्तिशाली होता है। प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली द्वारा शासित सभी राज्यों में जनमत कानून परिवर्तन का कारण बन जाता है।

८०. कानून तथा सदाचरण (Law & Morality)

कानून तथा सदाचरण दोनों क्रमशः राजनीति तथा नीतिशास्त्र के अध्ययन विषय हैं। हम पीछे राजनीति तथा नीतिशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्धों की घनिष्टता पर विचार कर चुके हैं। समाज और राज्य ऐसे व्यक्तियों के समुदाय हैं जिनके जीवन के कुछ न कुछ नैतिक उद्देश्य हैं। राज्य का उदय केवलमात्र जीवन-रक्षण के लिए ही नहीं अपितु उसे सब तरह से नैतिक दृष्टि से पूर्ण और सम्पन्न बनाना है। राज्य अपने लिए कार्य नहीं करता, उसका उद्देश्य व्यक्ति समूह का नैतिक और भौतिक कल्याण है। कानून राज्य के उद्देश्य-प्राप्ति के साधन हैं, अतः वे निश्चय ही सदाचरण के नियमों से सम्बन्धित होते हैं।

कानून तथा सदाचरण में भेद—परन्तु कानून तथा सदाचरण में विषय-

वस्तु तथा प्रकृति की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है । नीचे हम इस अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे ।

सदाचरण का क्षेत्र बहुत विस्तृत है । वे मनुष्य जीवन के आन्तरिक—बाह्य पक्ष का—भी नियमन करते हैं । उनका सम्बन्ध हमारे विचार, उद्देश्य क्रिया प्रेरणा स्रोत तथा कार्यों से है । वे जहाँ मनुष्य के कार्यों की प्रकृति का विश्लेषण कर उनको अच्छे, बुरे वर्ग में स्थापित करते हैं वहाँ वे उनके प्रेरणा स्रोतों का भी अध्ययन करते हैं ।

परन्तु कानून का **सम्बन्ध हमारे बाह्य जीवन से है । उसका सम्बन्ध हमारे उन कार्यों से है जिनका प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है ।** उसका हमारी भावनाओं और आन्तरिक क्रियाओं से कोई सम्बन्ध नहीं । झूठ बोलना, क्रोध, मिथ्याचार, ईर्ष्या इत्यादि सभी अनैतिक कार्य हैं, परन्तु जब तक कानून भंग नहीं होता और दूसरे किसी सामाजिक सदस्य को कोई वास्तविक नुक्सान नहीं होता तब तक वे गैर-कानूनी कार्य नहीं कहला सकते ।

नैतिक नियमों का पालन व्यक्ति अपने सद् और असद्विवेक के अनुसार करता है । अथवा सामाजिक आलोचना के भय से । झूठ बोलना बुरा है, समाज में झूठे आदमी की निन्दा होती है, उसे बुरा समझा जाता है, इस भावना से वह सत्य-वादन सम्बन्धी नैतिक नियम का पालन करता है । नैतिक नियमों के तोड़ने पर कोई भी दण्ड नहीं दिया जाता । हाँ, समाज निन्दा या सामाजिक बहिष्कार हो सकता है । कभी-कभी समाज निन्दा और सामाजिक बहिष्कार बहुत भयंकर रूप धारण कर लेते हैं, परन्तु **कानून तोड़ने वाले आदमी को उसके अपराध के अनुसार राज्य द्वारा शारीरिक दण्ड दिया जाता है ।** यह कानून की एक प्रमुख विशेषता है । कानून का पालन दण्ड-भय से किया जाता है, उसका बल राज्य-बल है ।

नैतिक नियम आचरण के ऐसे नियमों को निर्धारित करते हैं जिनका उल्लंघन सदा ही बुरा समझा जाता है, परन्तु कानून का आधार सुविधा है । यही कारण है कि प्रत्येक अनैतिक कार्य गैर कानूनी नहीं होता और न ही प्रत्येक गैर-कानूनी कार्य अनाचरणपूर्ण होता है । मिथ्याचार, ईर्ष्या-द्वेष तथा क्रोध इत्यादि अनैतिक हैं परन्तु गैर-कानूनी नहीं । इसी प्रकार सड़क पर दाहिने ओर गाड़ी चलाने के नियम का उल्लंघन गैरकानूनी हो सकता है, परन्तु अनैतिक नहीं । नैतिक नियमों का उल्लंघन किसी भी अवस्था में उचित नहीं, परन्तु अनेक बार कानूनी कार्यवाही करने के लिए नैतिक नियमों को भंग किया जाता है और उन्हें गैरकानूनी नहीं कहा जाता है । विश्वासघात एक अनैतिक कार्य है, परन्तु जब तक उस द्वारा समाज के किसी अन्य सदस्य को शारीरिक या अन्य प्रकार से नुक्सान नहीं पहुँचाया जाता तब तक वह गैरकानूनी नहीं हो सकता ।

नैतिक नियम अस्पष्ट और अनिश्चित होते हैं, प्रत्येक समुदाय या सम्प्रदाय अथवा व्यक्ति के साथ नैतिक नियमों की धारणा बदलती रहती है । समय और स्थान के अनुसार भी उसमें परिवर्तन होते रहते हैं । हमारे पूर्वजों की नैतिक धारणा

में और हमारी नैतिक धारणा में बहुत अन्तर है। यही नहीं एक ही काल और एक ही स्थान में रहने वाले लोगों की सदाचरण की धारणा भी परस्पर नहीं मिल पाती। उदाहरणार्थ भारत में रहने वाले विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की अपनी-अपनी नैतिक धारणाएँ हैं। **वस्तुतः नैतिकता एक वैयक्तिक** (Subjective) **धारणा है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शिक्षा और अपने संस्कारों के आधार पर अच्छे-बुरे का निर्णय करता है।** यही कारण है कि मेरी सदाचरण की धारणा मेरे मित्र, भाई या पिता के विचारों से आवश्यक नहीं कि मेल खावे। सामाजिक नैतिकता भी विषयगत (Objective) नहीं हो सकती। वह समाज या राष्ट्र की आत्मा का ही प्रतिबिम्ब होगी और निश्चय ही अन्य राष्ट्र या समाज के सदाचरण सम्बन्धी विचारों से भिन्न होगी। **परन्तु कानून में ऐसी विभिन्नता तथा ऐसी परस्पर विरोधी बातें नहीं मिल पातीं। वे समाज के सभी नागरिकों पर समान रूप से लागू होता है, उनमें सार्वभौमिकता** (Universality) **है।** कानून नैतिक नियमों की अपेक्षा बहुत स्पष्ट होते हैं, जहाँ कहीं संशय या भ्रम हो वहाँ उपयुक्त अधिकारियों द्वारा स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

राज्य मनुष्य को **नैतिक उच्चता की प्राप्ति में सहायता अवश्य कर सकता है, परन्तु उसे कानून द्वारा नैतिक नहीं बना सकता।** कानून कुछ भी क्यों न हो हमारे आन्तरिक विचारों का नियन्त्रण नहीं कर सकता, वे उसकी पकड़ से परे हैं।

कानून तथा नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध—इन सब भेदों के होते हुए भी नैतिकता और कानून का घनिष्ट सम्बन्ध है, ऊपर भी हम यह दर्शा चुके हैं। दोनों का उद्देश्य मनुष्य जीवन का नियमन है, उसे पूर्ण और उच्च बनाना है। पुराने समय में यह सम्बन्ध और भी अधिक घनिष्ट थे। आज के जीवन में भी हम प्रायः सभी सामाजिक संस्थाओं के उद्देश्य को नैतिक समझते हैं और उनकी सफलता और विफलता के अनेक मानदण्डों में नैतिक नियमों को भी एक महत्वपूर्ण मानदण्ड मानते हैं।

कानून का आधार हमारी उचित-अनुचित की धारणा होती है। क्रेब ने ठीक ही कहा था कि **कानून का उदय जनता की नैतिक भावना और सामाजिक वातावरण से होता है।** उनका विश्वास था कि कानून का हमारी न्याय-भावना (Sense of justice) पर आधारित होना लाजमी है। आज कानून और सदाचरण में हम दो प्रकार के सम्बन्धों की अवस्थिति को स्वीकार करते हैं, वे हैं—स्वीकारात्मक (Positive) तथा नकारात्मक (Negative)।

स्वीकारात्मक दृष्टिकोण की भी हम दो प्रकार की व्याख्या कर सकते हैं। प्रथम व्याख्या के अनुसार तो **कानून की सर्वप्रियता के लिए यह आवश्यक है कि वह हमारी नैतिक धारणा के अनुकूल हो।** दूसरे कानून का उद्देश्य हमारे लिए ऐसी परिस्थितियों को उत्पन्न करना होना चाहिए कि जिनकी उपस्थिति में हम अपने व्यक्तित्व के नैतिक पक्ष का पूर्ण विकास कर सकें। अगर कानून हमारे लिए प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य बना देता है तो वह ऐसी ही परिस्थितियों के विकास में सहयोग

देता है। नकारात्मक रूप में ऐसे कानून की रचना नहीं होनी चाहिए कि जिस द्वारा हमारी नैतिक धारणाओं पर आघात हो। जो कानून हमारी नैतिक धारणा के विपरीत हो उसका पालन नहीं होता, उसका सदा विरोध होता है, और अधिक तनातनी होने पर जनता ऐसे कानूनों के परिवर्तन के लिए हिंसात्मक कार्यवाही पर भी उतर आती है।

अक्सर यह कहा जाता है कि नैतिकता की अपेक्षा कानून अधिक प्रगतिशील होता है। वह ऐसी सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करेगा जिनके विनाश के लिए अभी जनता की नैतिक भावना तैयार नहीं। सती-प्रथा, दास-प्रथा इत्यादि अनेक ऐसी सामाजिक प्रथाएँ थीं, जिन्हें तत्कालीन जनता का पर्याप्त नैतिक समर्थन प्राप्त था, परन्तु जिन्हें शिक्षित तथा उदार विचारों वाले लोग अनैतिक तथा अमानवीय समझते थे। फलतः कानून द्वारा ऐसी प्रथाओं के नष्ट करने के लिए व्यवस्था की गई, धीरे-धीरे जनता ऐसी सामाजिक बुराइयों का विरोध अपना नैतिक कर्त्तव्य समझने लगी। इस प्रकार यहाँ कानून ने नैतिक नियमों के परिवर्तन का मार्ग तैयार किया।

कभी-कभी जनमत को इस प्रकार तैयार कर लिया जाता है कि वह पुराने नैतिक नियमों के परिवर्तन के लिए बिना विरोध तैयार हो जाता है या उसके परिवर्तन के लिए आंशिक रूप से सहमत हो जाता है। छुआछूत की प्रथा हमारे यहाँ प्रबल नैतिक आधार पर आधारित थी, और अन्य किसी भी समय उसको नष्ट करने के प्रयत्न का जबरदस्त विरोध होता, परन्तु देश के नेताओं ने हमारे यहाँ ऐसे जनमत को तैयार कर लिया कि आज उसे गैरकानूनी करार देने में सरकार को किसी भी प्रकार के विरोध का सामना नहीं करना पड़ा।

अनेक बार **राज्य को जनता के नैतिक मत के थोड़े-बहुत विरोध का भी सामना करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में राज्य को ऐसे कानून के लागू करने में हिचकिचाहट नहीं करनी चाहिए,** जो जनता के हित में हो। परन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब कि कानून सार्वजनिक हित में हो और व्यक्ति यत्किंचित् विरोध मात्र ही हो। परन्तु एक अप्रिय कानून को लागू कर सरकार राज्यादेश की अवज्ञा की भावना को भी पैदा कर सकती है और बार-बार ऐसा करने से राज्य-शक्ति के जनसत्तात्मक आधार के खत्म होने की सम्भावना रहती है। ऐसी अवस्था में सामाजिक कल्याण की अपेक्षा हानि ही अधिक होगी।

अन्त में हमें टी. एच. ग्रीन के शब्दों में इस बात को स्वीकार करना पड़ेगा कि राज्य कानून द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक हित से सम्बन्धित या सामाजिक नैतिकता को प्रभावित करने वाले कार्यों को करने के लिए व्यक्ति को विवश कर सकता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक और भौतिक कल्याण है, एतदर्थ उसे अपने कानून को इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इस्तेमाल में लाना चाहिए।

८१. अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International law)

कानून का वर्गीकरण करते हुए हमने अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी जिक्र किया था। यहाँ हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रकृति का विवेचन करेंगे।

राज्य मानवीय समाज का एक भाग है, वे अपने ही जैसे अन्य भागों से पृथक् और स्वतन्त्र नहीं। **व्यक्ति अपने आप में पूर्ण नहीं होता, अपने जीवन को सुख-सम्पन्न बनाने के लिए उसे अन्य सामाजिक सदस्यों का सहयोग प्राप्त करना पड़ता है। इसी प्रकार मनुष्य के राजनीतिक समुदाय भी अपने आप में पूर्ण नहीं होते, उन्हें भी पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता रहती है।** अतः सभी राज्य अन्योन्याश्रित होते हैं। आज के युग में यह अन्योन्याश्रयता और भी अधिक बढ़ गई है। औद्योगिक और यांत्रिक उन्नति ने विभिन्न राज्यों में वर्तमान दूरी को खत्म कर दिया है और उन्हें एक दूसरे पर अधिक से अधिक आश्रित होने के लिए मजबूर कर दिया है। पुराने जमाने में भी राज्यों में पारस्परिक सहयोग होता था और उनके पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन भी होता था। आज राज्यों के यह पारस्परिक सम्बन्ध और भी अधिक बढ़ गये हैं।

राज्यों के इन पारस्परिक सम्बन्धों के नियमन करने वाले नियमों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहा जाता है। जिस प्रकार राज्य के अन्तर्गत रहने वाले व्यक्तियों को कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है इसी प्रकार विभिन्न राज्य भी अपने पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना में कुछ नियमों का अनुसरण करते हैं। इन नियमों का सम्बन्ध युद्ध-परिचालन, शान्ति-स्थापन, कूटनीतिक सम्पर्क, युद्धकाल में तटस्थ-राज्यों के अधिकार एक देश के नागरिकों का दूसरे देश में रहने का अधिकार इत्यादि से होता है।

राजनीति शास्त्र में इन नियमों का विशेष महत्त्व है, क्योंकि राजनीति शास्त्र राज्य के केवल मात्र आन्तरिक पक्ष का ही अध्ययन नहीं करता अपितु राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का, उनकी प्रकृति का भी विश्लेषण करता है। आज अन्तर्राष्ट्रीय विधान (International law) राजनीति शास्त्र का एक स्वतन्त्र भाग है।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून वस्तुतः कानून है?—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रकृति के सम्बन्ध में यह प्रश्न अक्सर पूछा जाता है। राज्यसत्ता की उच्चता तथा अबाधता को स्वीकार करने वाले लेखकों **ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून मानने से इनकार किया है, और उसे केवल अन्तर्राष्ट्रीय सदाचरण के नियमों** (Rules of International morality) **के अतिरिक्त कुछ नहीं माना,** जर्मन विचारक हीगल तथा जेलिनेक का यही विचार था। उनका विचार था कि अन्तर्राष्ट्रीय विधान या अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ जिन नियमों की रचना करते हैं उनका पालन राज्य स्वयं अपनी इच्छानुसार करते हैं, उनका पालन बल-पूर्वक नहीं कराया जा सकता। इन नियमों का मूल्य तभी तक है जब तक कि राज्य उन्हें मानें, प्रत्येक राज्य इन नियमों की अवहेलना

करने में स्वतन्त्र है । हिटलर, मुसोलिनी इत्यादि अधिनायकों ने भी अन्तर्राष्ट्रीय विधान को खेल के नियमों से अधिक महत्त्व नहीं दिया ।

पुराने विचारकों में हॉब्स तथा पफण्डोर्फ (Pufendorf) अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून नहीं मानते । बेन्थम, आस्टिन और प्रो० हालैण्ड का भी यही विचार है । लार्ड सेलिसबरी (Salisbury) ने हाउस ऑफ लार्डस में भाषण देते हुए उपर्युक्त मत का ही समर्थन किया था । **उसका कथन है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून उस अर्थ में कानून नहीं जिस अर्थ में हम 'कानून' शब्द का प्रयोग करते हैं । यह तो पाठ्य-पुस्तकों के लेखकों के पूर्वाग्रह का ही फल है । यह किसी भी न्यायालय द्वारा लागू नहीं किया जा सकता और इस कारण इसके लिए कानून शब्द का प्रयोग करना बहुत हद तक निरर्थक और भ्रामक है ।"**[1] इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन के न्यायालय यह स्वीकार करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई भी नियम किसी भी ब्रिटिश न्यायालय द्वारा तब तक मान्यता प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा उसे कानून का रूप देकर राज्य में जारी न कर दिया जाय ।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध आक्षेप---ऑस्टिन इत्यादि शास्त्रीय विधान-शास्त्रियों का मत है कि कानून एक निश्चित उच्च राज्याधिकारी का आदेश है । उसका पालन राज्य-बल द्वारा होता है और उसे भंग करने वाले को राज्य द्वारा सजा दी जाती है । इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय विधान को कानून कह सकना सर्वथा असम्भव है । **अन्तर्राष्ट्रीय विधान किसी भी निश्चित उच्च राज्याधिकारी का आदेश नहीं,** और न ही उसे लागू करने वाली उच्च राज्य-शक्ति ही है । अगर अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवस्थिति को स्वीकार किया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय राज्य की उपस्थिति को भी मानना पड़ेगा, और इस प्रकार तब प्रत्येक राज्य प्रभुताहीन हो राज्य-पद ही खो बैठेगा । दूसरे शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को मानने का अर्थ है, राजकीय प्रभुता की अवस्थिति से इनकार करना ।

शास्त्रीय **विधानशास्त्रियों का कथन है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन राज्यों की अपनी इच्छा पर निर्भर है, वे जैसा चाहें उसका मनमाना प्रयोग कर सकते हैं और वस्तुतः करते भी हैं ।** ऐसा कभी भी राजकीय कानून के विषय में होता हुआ नहीं देखा गया ।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायपालिकाओं की उपस्थिति भी लाजमी है । परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसा कोई न्यायालय नहीं जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या कर सके और जिसके द्वारा किये गये फैसले सभी राज्यों को मान्य हों ।

---

1. "International law has not any existence in the same sense in which the term law is usually understood. It depends generally on the prejudices of the writers of the textbooks. It can be enforced by no tribunal, and therefore, to apply to it the pharse law is to some extend misleading."—*Lord Salisbury*.

अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाज पर आधारित कानून को कानून नहीं कहा जा सकता। उन्हें तो अन्तर्राष्ट्रीय सदाचरण के नियम कहना ही पर्याप्त है, इससे अधिक नहीं।

आक्षेपों का प्रत्युत्तर—परन्तु उपर्युक्त सभी आक्षेपों के उत्तर आज के विधान-शास्त्रियों ने विभिन्न रूप से दिये हैं। सर्वप्रथम आस्टिन की पुरानी कानून सम्बन्धी परिभाषा आज ठीक नहीं मानी जाती और न ही उसका प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त ही सत्य और यथार्थ माना जाता है। लास्की तथा द्युग्वी इत्यादि आधुनिक राजनीति शास्त्री प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में न केवल अयथार्थ ही मानते हैं अपितु अनिष्टकर भी समझते हैं। आज राष्ट्रों के जीवन परस्पर आश्रित हैं, उनका एक-दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र होकर रह सकना न तो सम्भव ही है न उचित ही।

कानून राज्यादेश मात्र नहीं। इस विचार की असत्यता पर हम पीछे भी विचार कर चुके हैं। कानून की समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक व्याख्या की जाती है। सैविजनी (Savigny) तथा सर हेनरी मेन (Sir Henery Maine) का कथन है कि कानून को केवल मात्र राज्यादेश ही नहीं माना जा सकता। कानून रीति-रिवाज तथा परम्परा पर आश्रित हैं, वे ऐतिहासिक तथा विकासशील हैं। केवल मात्र शारीरिक बल के प्रयोग से कानून का पालन नहीं करवाया जा सकता। उसका पालन जनमत के दबाव से तथा अभ्यास और आदत से होता है। राज्य नियमों का सदाचरण के नियमों पर आधारित होना भी लाजमी है। दरअसल सारी बहस तो कानून की परिभाषा से सम्बन्धित है। आस्टिन इत्यादि द्वारा की गई कानून की परिभाषा बहुत ही संकुचित है, वह रीति-रिवाज और परम्परा का तथा जनमत की सर्वथा अवहेलना करता है। वह कानून के मानवीय और सामाजिक रूप को समझ ही नहीं पाता। कानून वस्तुतः सामाजिक जीवन का परिणाम है, वह विकासशील है, वह जनमत पर आधारित होता है।

प्रो० गिलक्राइस्ट का कथन है कि **"कानून का अर्थ केवल निश्चित विधि-संग्रह मात्र नहीं, अपितु अपेक्षाकृत पहले से ही जनता के वर्तमान नियमों की स्वीकृति मात्र है, कानून की अनुमति जिसका प्रथम दर्शन राज्य में होता है, वस्तुतः जन-सहमति है।"**[1] कानून का वास्तविक आधार जन-सामान्य की सहमति है, और उसके उल्लंघन होने पर राज्य द्वारा सजा की व्यवस्था भी तभी रहती है कि उन नियमों को जनता का समर्थन प्राप्त होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून रीति-रिवाज और परम्परा पर आधारित है, और उसका पालन दण्ड-भय से नहीं होता अपितु मानवीय समाज की आलोचना के भय से होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अनुमति (Sanction) का

---

1. "Law does not consist merely in the making of a definite code, it is rather the recognition of the State of principles already definitely existing among the people ; and the sanction of the law, which in the first place is shown in the machinery of the state, really is the common agreement of the people."—*Gilchrist.*

आधार भी म्युनिसिपल कानून के आधार की तरह जन-सामान्य की सहमति है। यह बात ठीक है कि अभी इस जन-सहमति का ठीक उसी प्रकार से संगठन नहीं हो सका जिस प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्र में मिल जाता है, परन्तु जन-सामान्य की अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं का विकास बहुत तेजी से हो रहा है।

यह कहना भी ठीक नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ही नहीं। पंचायती न्यायालय (Court of arbitration) तथा पहले राष्ट्रसंघ (League of Nations) और बाद में संयुक्त राष्ट्रसंघ (The United Nations Organisation) द्वारा स्थापित स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Permanent court of International Justic) द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधान की व्याख्या और प्रशासन होता रहता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अनेक अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा करता रहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान को लागू करने के लिए अनेक बार बल-प्रयोग भी किया जाता है और अनेक बार आर्थिक तथा व्यापारिक बहिष्कार इत्यादि साधनों के प्रयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन करवाने के भी प्रयोग किये जा सकते हैं। अभी हाल में संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से कोरिया में सैनिक कार्रवाई की गई थी, इसी प्रकार से पहले राष्ट्रसंघ द्वारा इटली के विरुद्ध आर्थिक और व्यापारिक बहिष्कार का भी प्रयोग किया गया था।

अनेक देशों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को म्युनिसिपल कानून के भागस्वरूप स्वीकार कर लिया गया है। अमेरिका में चीफ जस्टिस मार्शल ने यह स्वीकार किया था कि यद्यपि प्रत्येक राज्य अपने क्षेत्र में स्थित हरेक व्यक्ति और व्यक्ति समुदाय पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है, फिर भी उसे अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की मौजूदगी को स्वीकार करना ही पड़ेगा। इंग्लैण्ड और अमेरिका के न्यायालय अनेक अभियोगों के निर्णय में राष्ट्रीय कानून को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भाग के रूप में स्वीकार कर चुके हैं, बशर्ते कि वे राष्ट्रीय कानून के नियमों के विरुद्ध न हों। कुछेक राज्यों ने तो अपने संविधान द्वारा भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून का अंग स्वीकार कर लिया है।

इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में व्यापारी लोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों को कानून रूप में स्वीकार करते हैं। अनेक बार जब कभी अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का फैसला होना होता है तो उस समय वकील लोग उन पर उसी प्रकार बहस करते हैं और पुराने फैसलों का हवाला देते हैं, जिस प्रकार कि राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में किया जाता है। वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण कानूनी तर्क के आधार पर होता है और उनका इस्तेमाल भी कानूनी तरीके से किया जाता है।

इस प्रकार ऊपर लिखे गये तर्कों द्वारा यह साबित होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सभी तत्त्व वर्तमान हैं जो कि उसे कानून के रूप में प्रस्थापित कर सकते हैं। फिर भी हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि अभी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का रूप अस्थिर है, और उसमें वह शक्ति नहीं जो राष्ट्रीय कानून में मिल जाती है।

कानून के इन नियमों का पालन स्वेच्छापूर्वक होता है, दण्ड की कोई मर्यादा नहीं होती, विशेष रूप से बड़े राज्यों द्वारा कानून भंग किये जाने पर तो कोई भी ऐसी व्यवस्था नहीं कि जिस द्वारा उन्हें सजा दी जा सके। वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मनमाना इस्तेमाल करते हैं। क्षेत्र की संकुचितता तथा अनिश्चितता इत्यादि और अन्य अनेक दोष इसमें मिल जाते हैं, जो कि कानून की प्रारम्भिक स्थिति में अनिवार्य हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समाज तथा कानून की इस अपरिपक्वता को ध्यान में रखते हुए ही **सर फ्रेडिक पोलक** ने इसकी परिभाषा इन शब्दों में की है, **"अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक अपूर्व संगठन वाले समाज के ऐसे रीति-रिवाजों और कार्यों का संग्रह है जिन्हें अभी कानून का पूरा स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ है परन्तु जो कानून बनने की ओर बढ़ रहे हैं।"**[1] अन्तर्राष्ट्रीय विधान के प्रमुख अधिकारी ह्वीटन (Wheaton) के मतानुसार **"अन्तर्राष्ट्रीय विधान स्वतन्त्र राष्ट्रों में विद्यमान समाज की प्रकृति के अनुकूल तर्क पर आधारित न्यायोचित पारस्परिक व्यवहार के नियम हैं जो कि जन-सम्मति के आधार पर निश्चित और संशोधित किये जाते हैं।"**[2] गिलक्राइस्ट का कथन है कि **"अन्तर्राष्ट्रीय विधान उन नियमों का संग्रह है जो कि सभ्य राष्ट्र अपने नैतिक मानदण्ड और सुविधानुसार पारस्परिक व्यवहार में इस्तेमाल करते हैं।"**[3]

८२. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत (Sources of International law)

साधारण कानून की तरह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भी विभिन्न उद्गम स्रोत हैं। उसी की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय कानून रीति-रिवाज, परम्परा और कुछ निश्चित समझौतों के अतिरिक्त रोमन कानून, इस विषय पर लिखे गये शास्त्रीय लेख, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और पंचायती अदालतों के फैसले राज्यों के कानून (म्युनिसिपल कानून) कूटनीतिक पत्र-व्यवहार पर आधारित हैं। नीचे हम क्रमशः इन सब का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

(१) रीति-रिवाज तथा परम्परा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सर्वप्रमुख स्रोत कहा जा सकता है। पारस्परिक व्यावहार में किसी विशेष राज्य ने कुछ ऐसी प्रथाओं तथा रिवाजों का प्रचलन किया जिन्हें सुविधाजनक समझ अन्य राज्यों ने भी अपना लिया। बाद में वही कानून का रूप धारण कर गये। राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों

---

1. "International law is a body of customs and observances in an imperfectly organised society which have not fully acquired the character of law, but which are on the way to become law."
—*Pollock.*

2. "International law is those rules of conduct which reason deduces as consonant to justice from the nature of the society existing among independent nations, with such definitions and modifications as may be established by general consent."—*Wheaton.*

3. "International law is the body of rules which civilised states observe in their dealings with each other, these rules being enforced by each particular state according to its own moral standard or convenience."—*Gilchrist.*

के नियामक यह कानून अपनी प्रकृति में वैसे ही है जैसे इंग्लैण्ड के रीति-रिवाज पर आधारित प्रचलित कानून (Common law)।

(२) **अन्तर्राष्ट्रीय समझौते तथा सन्धियाँ** बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के जन्मदाता हैं। अनेक राज्य अपने पारस्परिक सम्बन्धों के नियमन के लिए सन्धियाँ करते हैं। ये सन्धियाँ व्यापारिक, व्यावहारिक तथा राजनीतिक उद्देश्यों से की जाती हैं। और यह सब यह साबित करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार राज्यों की सहमति है। ये सन्धियाँ दो प्रकार की हैं, एक तो साधारण और दूसरी कानून-निर्माता। जब कभी महान् राष्ट्रों के बीच पारस्परिक व्यवहार के नियमों की स्थापना के हेतु सन्धियाँ होती हैं, तो उन्हें हम कानून-निर्माता सन्धियाँ कह देते हैं। ऐसी सन्धियों में नये नियमों के निर्माण के अतिरिक्त पुराने नियमों की व्याख्या, संशोधन तथा पुनर्स्थापना की जाती है।

(३) **रोमन कानून**—जैसा कि हम देख चुके हैं कि सम्पूर्ण यूरोपीय कानून व्यवस्था का आधार है। प्रारम्भिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था रोमन कानून के अनुसार ही की जाती थी। रोमन कानून नागरिकों की समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है, इसी सिद्धान्त के आधार पर ही राज्यों की समानता को भी माना जाता है। रोमन कानून के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के नैतिक औचित्य को स्वीकार किया गया।

(४) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून की शास्त्रीय व्याख्याएँ** भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में बहुत सहायक सिद्ध हुई हैं। ये व्याख्याएँ सुप्रसिद्ध विधानशास्त्रियों द्वारा की गई हैं। उन्होंने न केवल प्राचीन काल से चले आ रहे एतद्विषयक नियमों का संग्रह ही किया बल्कि उनकी व्याख्या भी की और परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल संशोधन के सुझाव भी दिये। अन्तर्राष्ट्रीय विधान के शास्त्रीय व्याख्याकारों में डच लेखक ग्रोशियस (Grotious) का सर्वप्रमुख स्थान है। उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'युद्ध और शान्ति के कानून' (The Law of War and Peace) ने पाश्चात्य राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्था को बहुत हद तक प्रभावित किया। इसी प्रकार वैटल (Vattel), केण्ट (Kent), ह्वीटन (Wheaton), वूल्से (Woolsey), वेस्टलेक (Westlake), लारेन्स (Lawrence) तथा हाल (Hall) इत्यादि ने भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्याएँ कर एतद्विषयक साहित्य की पर्याप्त अभिवृद्धि की है।

(५) **अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन तथा पंचायती फैसले** भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रमुख स्रोत कहे जा सकते हैं। महान् अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में वही काम करते हैं जो साधारण कानून-व्यवस्थापन के लिए राजकीय विधानपालिकाएँ।

हेग (Hague) में हुए विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को सम्पूर्ण मानव-जाति की विधानपालिका (Parliament of menkind) कहा गया है। इन्हीं सम्मेलनों में अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनेक नियमों को व्यवस्थित किया गया

और उन्हें अन्तिम रूप दिया गया । उन्हीं सम्मेलनों का परिणाम हेग की पंचायती अदालत (The Hague court of Arbitration) है । इस अन्तर्राष्ट्रीय अदालत के पास सभी राज्य स्वेच्छापूर्वक निपटारे के लिए अपने-अपने झगड़े ला सकते थे, और अनेक विवादों में अदालत के फैसलों को राज्यों ने माना भी । इसी प्रकार बाद में स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना भी की गई और अनेक विवादों में उसके फैसले राज्य के लिए अन्तिम फैसले माने गये ।

इनके अतिरिक्त राष्ट्रीय कानून तथा कूटनीतिक पत्र-व्यवहार भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रमुख स्रोत हैं । प्रायः प्रत्येक राज्य के स्थायी कानून देशीकृत नागरिकता (Naturalised citizenship) तथा कूटनीतिक सम्बन्ध की स्थापना सम्बन्धी नियम अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों का नियमन करते हैं । इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीतिक सम्बन्धों का इतिहास भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक स्रोत कहा जा सकता है ।

इस प्रकार ऊपर के तर्कों से यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधान का विकास भी उसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार कि राष्ट्रीय कानून का ।

Important Questions

	Reference
1. Discuss the nature of law. (*Cal. 1956, 1938, 1935.*; *Nag. 1943, 1934*; *Ag. 1943*; *Pb. 1953*)	Arts. 71 to 75
2. What is the relationship between law and morality ? Discuss. (*Pb. 1956, 1955, 1940.*; *Ag. 1934.*: *Cal. 1938*)	
3. Discuss the sources of law. (*Cal. 1935 1932.*; *Pb. 1940.*; *Nag. 1943, 1934*)	Art. 76
4. Discuss briefly the principal kinds or types of law. (*Pb. 1955, 1950*)	Art. 77
5. Discuss the relations between law and liberty. (*Pb. 1953*)	Art. 80
6. Discuss the different theories of law.	Arts. 71 to 75
7. What is International Law ? Can it be described as law in the strict sense of the word ? (*Pb. 1936, 1939, 1954, 1951.*; *Cal. 1940.*; *Bom. 1941*)	Art. 81
8. Discuss the sources of International law.	Art. 82

अध्याय ११

संविधान

(Constitution)

८३. संविधान की महत्ता

संविधान राज्य के उन विधायक तत्त्वों में से तो नहीं जिनका कि वर्णन हम पीछे कर आये हैं, फिर भी संविधान के बिना किसी भी राज्य की कल्पना असम्भव-सी है। क्योंकि संविधान उन लिखित और अलिखित नियमों का संग्रह है जो राज्य-व्यवस्था के आधार होते हैं। ऐसे आधारभूत नियमों के अभाव में राज्य-शासन-व्यवस्था का प्रचलन अत्यन्त कठिन है। पुराने या नये सभी राज्यों में ऐसे नियमों की व्यवस्था अवश्य रही है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान जेलिनेक का कथन है कि राज्य के लिए संविधान अत्यन्त आवश्यक है और प्रत्येक राज्य का अपना विधान होना चाहिए और होता भी है, यहाँ तक कि निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी राज्य में भी विधान आवश्यक है। उसके अभाव में राज्य राज्य नहीं रहता, वह अराजकता और अव्यवस्था का रूप धारण कर लेता है। अनेक बार यह कहा जाता है कि इंग्लैण्ड में कोई संविधान नहीं या फ्रांस में एक हजार वर्ष तक कोई संविधान नहीं रहा और फिर भी वहाँ अराजकता नहीं फैली। परन्तु यह कहना गलत है, क्योंकि प्राचीन राज्यों में भी राज्य व्यवस्था और शासन के कुछ नियम अवश्य रहते थे। हाँ, वे आज की तरह निश्चित, स्पष्ट और विस्तृत रूप में विद्यमान नहीं होते थे। इंग्लैण्ड की बात तो दूर फ्रांस में भी राज्य के आधारभूत कानूनों (Fundamental laws of the kingdom) और राज के कानूनों (Laws of the King) में अन्तर किया जाता था। आधारभूत कानून के अन्तर्गत कुछ विशिष्ट सिद्धान्त, रीति-रिवाज और परम्परा और कानून शामिल थे जो सदियों से धीरे-धीरे राजकीय जीवन के नियमों के रूप में विकसित हो रहे थे। राजा को उनमें स्वयं परिवर्तन का अधिकार नहीं था। प्रायः प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे नियमों की मौजूदगी को होती थी, जिन्हें कि वहाँ की व्यवस्था का आधार समझा जाता था और जिन्हें प्रकृति या ईश्वर की देन के रूप में स्वीकार किया जाता था।

आज के जटिल राजनीतिक और सामाजिक जीवन में संविधान एक परम आवश्यकता है। संविधान में निम्नलिखित तत्त्वों का समावेश रहता है—

(१) सरकार के संगठन की व्यवस्था।

(२) सरकार के विभिन्न विभागों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्णय।

(३) प्रत्येक सरकारी विभाग के कर्त्तव्यों का निर्णय।

(४) शासक तथा शासित के पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्था।

८४. संविधान की परिभाषा

संविधान की अनेक परिभाषाएँ मिल जाती हैं । यद्यपि आधुनिक युग के प्रारम्भ से पूर्वलिखित संविधानों का रिवाज नहीं था, फिर भी प्राचीन युग में संविधानों की अवस्थिति अवश्य रही है । तभी तो प्राचीन यूनानी विचारक अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'पालीटिक्स' में विभिन्न विधानों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है । अरस्तू के मतानुसार **"संविधान राज्य के पदों का संगठन है और वह शासक वर्ग तथा समाज के उद्देश्यों को निश्चित करता है ।"**

वर्तमान युग के प्रमुख विधानशास्त्री **वूल्से** (Woolsey) के मतानुसार **संविधान उन नियमों का संग्रह है जिनके अनुसार शासन की शक्तियाँ तथा शासितों के अधिकारों तथा दोनों के सम्बन्धों की व्यवस्था की जाती है ।"**[1]

जर्मन विद्वान् जेलिनेक (Jellinek) के अनुसार **"संविधान उन असूलों का संग्रह है जिनके द्वारा राज्य के सर्वोच्च अंगों का निर्धारण और उनके निर्माण की विधि, उनके आपस के सम्बन्धों, उनके कार्य-क्षेत्रों और राज्य के सम्बन्ध में उनके आधारभूत स्थान का निश्चय होता है ।"**[2]

लार्ड ब्राइस ने संविधान की परिभाषा इस प्रकार की है, **"किसी राज्य अथवा राष्ट्र के संविधान का निर्माण उन नियमों अर्थात् कानूनों के मेल से होता है जो सरकार के स्वरूप और सरकार के प्रति नागरिकों के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का निर्णय करते हैं ।"**[3]

डायसी के कथनानुसार **"वे सम्पूर्ण नियमों जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से राज्य में प्रभुसत्ता के अथवा उसके प्रयोग को प्रभावित करते हैं, संविधान कहे जाते हैं ।"**[4]

जार्ज कार्नवाल लेविस ने कहा कि **"संविधान शब्द से समाज में प्रभुत्व-शक्ति**

---

1. "A constitution is the collection of the principles according to which the powers of the government and the rights of the governed and the relations between the two are adjusted."—*Woolsey.*

2. "The constitution is a body of juridical rules which determine the supreme organs of the State, prescribe their modes of creation, their mutual relations, their sphere of action and finally the fundamental place of each of them in relation to the State."—*Jellinek*

3. "The constitution of a State or nation consists of those of its rules or laws which determine the form of the government and the respective rights and duties of the citizens towards the government."
—*Bryce.*

4. "The constitution of a State consists of all rules which directly or indirectly affect the distribution or the exercise of sovereign power in the State."—*Dicey.*

की व्यवस्था तथा उसका वितरण या शासन के रूप का बोध होता है।"[1]

ऊपर लिखी गई संविधान की विभिन्न परिभाषाओं द्वारा संविधान के रूप को विभिन्न प्रकार से निश्चित करने का प्रयत्न किया गया है। यह स्पष्ट है कि संविधान उन लिखित तथा अलिखित आधारभूत नियमों का संग्रह है जो राज्य-व्यवस्था, सरकारी शक्ति के विभाजन और नियमन तथा शासक तथा शासितों के पारस्परिक सम्बन्धों का निश्चय करता है।

८५. संविधानों का वर्गीकरण (Classification of the Constitutions)

संविधानों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है। यह वर्गीकरण दो मुख्य नियमों पर आधारित है, प्रथम नियम के अनुसार संविधान के उद्गम-स्रोत को दृष्टिकोण में रखा गया है और दूसरे के अनुसार संविधान और साधारण कानून के प्रकृति भेद को। प्रथम नियम के अनुसार संविधानों को (१) विकसित (Evolved) या ऐतिहासिक (Historical) तथा दूसरे के अनुसार सैद्धान्तिक (Theoretical) या निर्मित (Enacted) के रूप में विभाजित किया जाता है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत उन संविधानों को शामिल किया जाता है जो अपनी प्रकृति में ऐतिहासिक हैं और जिनका विकास सदियों के राजनीतिक अनुभव का परिणाम है। इस प्रकार का संविधान किसी एक विचारपूर्ण प्रयत्न का फल नहीं होता, न ही वह आवश्यक रूप से तर्कसम्मत आधार पर ही आधारित होता है। उसका आधार तो अनुभव तथा सुविधा होता है। ग्रेट ब्रिटेन का विधान ऐसा ही विधान है। वह तर्क और विचार-विमर्श पर आधारित न हो अनुभव और अवसरोपयोगी सुविधाओं का फल है। वह अधिकतर रीति-रिवाज तथा परम्परा और व्यवहार के साधारण नियम तथा न्यायालयों के निर्णयों पर आधारित है। ये नियम तथा परम्पराएँ किसी एक विशिष्ट अवसर का परिणाम न हो ऐतिहासिक हैं।

निर्मित विधान राजकीय जीवन के वे आधारभूत नियम हैं जिन्हें पर्याप्त विचार-विमर्श तथा सैद्धान्तिक बहस के अनन्तर संविधान सभा अथवा राजा के आदेश से जारी किया जाता है। अमेरिकन तथा भारतीय संविधान इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार के संविधान एक निश्चित अवसर पर तैयार किये जाते हैं। सैद्धान्तिक विधानों के अन्तर्गत कभी-कभी उन कल्पनात्मक संविधानों को भी शामिल किया जाता है जिन्हें कुछ राजनीतिक दार्शनिक आदर्श राज्य के संगठन के लिए प्रस्तुत करते हैं। प्लेटो (Plato) ने अपने आदर्श राज्य के स्वप्न को वास्तविक रूप देने के लिए एक ऐसे ही कल्पनात्मक संविधान की रचना की थी। इसी प्रकार थामस मूर (Thomas Moor) तथा बेकन (Bacon) द्वारा रचित आदर्श राज्यों के संविधान मिल जाते हैं।

---

1. "The term constitution signifies the arrangment and distribution of the sovereign power in the community, or the form of the government."— *George Cornewall Lewis.*

८६. लिखित तथा अलिखित संविधान (Written & Unwritten Constitutions)

उपर्युक्त विभाजन की बजाए कुछ लोग संविधान को लिखित या अलिखित रूप में विभाजित करते हैं। वस्तुतः निर्मित तथा ऐतिहासिक विधान में लगभग वही अन्तर है जो कि एक लिखित तथा अलिखित विधान में होता है। लिखित संविधान वह नियम संग्रह है जिसमें राजकीय जीवन के लगभग सम्पूर्ण नियामक नियम लिखित रूप में होते हैं। ये नियम किसी एक निश्चित अधिकार-पत्र में भी शामिल किये जा सकते हैं और अनेकों में भी। आम तौर पर एक लिखित विधान किसी एक निश्चित तिथि पर निर्धारित किया जाता है और वह पवित्र तथा उच्चतम कानून माना जाता है। विधान परिषदों के प्रयत्नों के परिणाम होने के कारण ही उन्हें निर्मित विधान भी कहा जाता है।

उसके विपरीत एक अलिखित विधान सामान्यतया राजकीय शासन-व्यवस्था के आधारभूत नियमों के लिखित रूप में नहीं होता। डा० गार्नर के मतानुसार **"अलिखित विधान वह है जिनकी अधिकांश बातें (सम्पूर्ण नहीं) कभी किसी लेख पत्र या लेख-पत्रों के संग्रह में लिखी हुई नहीं होतीं।"**[1] अलिखित संविधान राष्ट्रीय जीवन का विकसित रूप है। वह राज्य के क्रमिक ऐतिहासिक विकास का फल है। इसमें राजकीय जीवन के मूलभूत नियम भी सामाजिक जीवन की परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों के मुताबिक बदलते रहते हैं, उनमें स्थायित्व तथा निश्चयात्मकता का अभाव होता है। वे एक यांत्रिक रचना न हो, जीवनमय विकास का फल होता है। अलिखित संविधान रीति-रिवाज, राजनीतिक परम्परा तथा व्यावहारिक नियम और न्याय-निर्णयों पर आधारित होता है।

लिखित तथा अलिखित संविधानों के उदाहरण—लिखित संविधानों के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, स्विट्ज़रलैण्ड, सोवियत रूस तथा भारत इत्यादि राज्यों के लिखित विधान हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका का विधान तो सन् १७८९ में अन्तिम रूप से लागू किया गया था। यह संविधान एक अधिकार-पत्र के रूप में राज्यों के एक सम्मेलन में स्वीकार किया गया था, इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका की लगभग सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था के आधारभूत नियमों को लिख दिया गया था। इसी प्रकार फ्रांस की शासन-व्यवस्था का निर्णय १८७५ में तीन विभिन्न तिथियों पर स्वीकार किये गये अधिकार-पत्रों के द्वारा किया गया। वर्तमान फ्रांसीसी विधान भी लिखित अधिकार-पत्र के रूप में वर्तमान है। भारत के संविधान की रचना के—बिनेट मिशन की योजना के अन्तर्गत १९४६ में स्थापित विधान परिषद् द्वारा की गई, और उसको २६ जनवरी १९५० में लागू किया गया। यह भी लिखित संविधान है, जिसका निर्माण पर्याप्त सैद्धान्तिक बहस और विचार-विमर्श के अनन्तर

1. "An unwritten constitution is one in which most, but not all, of the prescriptions have never been reduced to writing and formerly embodied in a document or collection of documents."—*Garner.*

हुआ। इससे पूर्व भारत के संविधान की व्यवस्था ब्रिटिश पार्लियामैण्ट द्वारा स्वीकृत १९३५ के एक्ट के मातहत की गई थी।

अलिखित संविधान का उदाहरण ब्रिटिश शासन-व्यवस्था है। ब्रिटेन की अधिकांश शासन-व्यवस्था का आधार अलिखित रीति-रिवाज, राजनीतिक परम्परा, व्यावहारिक नियम और न्याय-निर्णय हैं। अंग्रेजी सम्राट् का वैधानिक स्थिति, मन्त्रिमण्डल तथा प्रधान मन्त्री के कार्य तथा शक्तियाँ, उनकी पार्लियामेण्ट के प्रति जिम्मेवारी इत्यादि सभी संवैधानिक तत्त्वों का आधार परम्परा और रीति-रिवाज हैं। सैद्धान्तिक रूप से ब्रिटिश सम्राट् असीम शक्तिसम्पन्न है, परन्तु व्यावहारिक रूप में वह केवल सीमित शक्तियों से युक्त वैधानिक शासक है। इसी प्रकार वैधानिक रूप से इंग्लैण्ड राजतन्त्र है परन्तु व्यावहारिक रूप से प्रजातन्त्र। ब्रिटिश राजनीतिक जीवन में इस प्रकार सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक जीवन में जो अन्तर है उसका मुख्य आधार संवैधानिक परम्पराएँ, व्यावहारिक नियम तथा रीति-रिवाज हैं, जो अलिखित हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरण की आलोचना—संविधानों के लिखित तथा अलिखित रूप में किये गये वर्गीकरण को आज असन्तोषजनक समझ अस्वीकार किया जाता है। कोई भी संविधान न तो सम्पूर्ण रूप से लिखित ही है और न अलिखित ही। लिखित संविधान परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। मनुष्य जीवन की परिवर्तनशीलता उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। उसके जीवन का प्रतिफलन समाज तथा राज्य के जीवन में भी मिल जाता है। राष्ट्रों का जीवन भी व्यक्ति के जीवन की भाँति विकासशील है, अतः लिखित विधानों में परिवर्तन अनिवार्य है। प्रत्येक लिखित संविधान में बरबस ऐसे नियमों का उद्भव हो जाता है जो लिखित रूप में तो वर्तमान नहीं होते, परन्तु जो राजकीय जीवन के आधारभूत भाग हो जाते हैं। लिखित तथा अलिखित विधान का भेद मात्रा का भेद है, प्रकार का नहीं।

लार्ड ब्राइस का कथन है कि **"लिखित कहे जाने वाले संविधान व्याख्याओं द्वारा विकसित हो जाते हैं, निर्णयों द्वारा मर्यादित हो जाते हैं और रिवाजों द्वारा बढ़ जाते हैं। फलतः कुछ समय के बाद उनकी शब्दावली से उसका पूरा मतलब नहीं निकलता।"**[1] इस प्रकार लिखित विधान अनेक अलिखित रीति-रिवाज, न्याय-निर्णय तथा परम्पराओं के अनुसार बदलते रहते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका का विधान लिखित है, परन्तु वर्षों के अनुभव के आधार पर अब उसमें अनेक ऐसे तत्त्व शामिल हो गये हैं जो लिखित नहीं और जो रीति-रिवाज और परम्परा पर आधारित हैं। उदाहरण के रूप में हम अमेरिकन राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल, उसकी अवधि तथा राजनीतिक दलों को ले सकते हैं, अमेरिकन विधान राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल की कहीं व्यवस्था नहीं करता, वह केवल विभिन्न राजकीय विभागों के अध्यक्षों को नियुक्ति का ही आदेश देता है। फिर भी

1. "Written constitutions are developed by interpretation, fringed with decisions and enlarged by customs, so that, after a time, the letter of their text does not convey the full effect."—*Bryce.*

प्रत्येक राष्ट्रपति अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है जो उसकी शासन-कार्य में सहायता करता है । इसी प्रकार अमेरिकन संविधान राष्ट्रपति के पुनर्निर्वाचन पर किसी किस्म की पाबन्दी नहीं लगाता, फिर भी जार्ज वाशिंग्टन द्वारा स्थापित रिवाज के फलस्वरूप बहुत समय तक कोई भी व्यक्ति दो बार से अधिक राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार के रूप में नहीं खड़ा होता था । संयुक्त राज्य अमेरिका में राजनीतिक दल सरकार के चौथे भाग के रूप में समझे जाते हैं परन्तु उनका कोई वैधानिक अस्तित्व नहीं। सुप्रीम कोर्ट की न्यायिक पर्यालोचन (Judicial review) की शक्ति भी परम्परा का ही फल है, वैधानिक व्यवस्था का नहीं । इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान यद्यपि मुख्य रूप से लिखित है, फिर भी उसमें समयानुसार अनेक अलिखित तत्त्वों का समावेश हो गया है।

इसी प्रकार मुख्य रूप से अलिखित कहे जाने वाले संविधान भी अनेक लिखित तत्त्वों से पूर्ण होते हैं । उदाहरणार्थ ब्रिटिश संविधान का अधिकांश भाग अलिखित है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसका एक महत्त्वपूर्ण भाग लिखित रूप भी ग्रहण कर चुका है। प्रजा तथा सम्राट और हाउस आफ लार्ड्स (House of Lords) तथा हाउस ऑफ कामन्स (House of Commons) के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्णय अनेक प्राचीन समझौतों द्वारा हो चुका है जो कि लिखित रूप में विद्यमान हैं। मेग्नाकार्टा (Magnacharta) तथा पटीशन ऑफ राइट्स इत्यादि ऐसे ही समझौते हैं। इसी प्रकार ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने अनेक बार ऐसे बिल व अधिनियम पास किये हैं जिन्हें कि संवैधानिक दृष्टि से हम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कह सकते हैं। १९११ में पास किया गया पार्लियामेण्ट्री एक्ट ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के दोनों सदनों (Houses) के पारस्परिक सम्बन्धों का निश्चय करता है और इस प्रकार संविधान का एक लिखित हिस्सा है । इसी प्रकार ब्रिटिश संविधान के अन्य भाग भी लिखित रूप धारण कर चुके हैं । सर हेनरी मेन के मतानुसार ब्रिटिश शासन-व्यवस्था का अधिकांश भाग लिखित रूप धारण कर चुका है । उसका कथन है कि **"ताज की अनेक शक्तियाँ, न्यायिक शक्तियों समेत हाउस ऑफ लार्ड्स् की अनेक शक्तियाँ, हाउस आफ कामन्स के संविधान का बड़ा भाग और उसका निर्वाचकों से सम्बन्ध इत्यादि पर्याप्त अंशें से ही पार्लियामेण्ट के अधिनियमों द्वारा निश्चित किये जा चुके हैं।"**[1] इस बात से तो इनकार नहीं किया जा सकता कि ब्रिटिश संविधान ऐतिहासिक विकास का ही परिणाम है। और ये लिखित अंश भी पुराने समय से चले आते रस्मो-रिवाज पर ही आधारित हैं, केवल मात्र उनके लिखित संस्करण हैं। लार्ड ब्राइस के कथनानुसार **ब्रिटिश संविधान मानव-मस्तिष्क में मौजूद या लेखबद्ध परम्परा तथा उदाहरणों, वकीलों या राजनीतिज्ञों के**

---

1. "Many of the powers of the Crown—many of the powers of the House of Lords, including the whole of its judicial powers—much of the constitution of the House of Commons and its entire relation to the electoral body have long since been defined by Act of Parliament."—*Sir Henry Maine.*

कथन रस्मो-रिवाज, विश्वासों तथा समझौतों इत्यादि के साथ घुले-मिले अनेक कानूनी और उनके फलस्वरूप विकसित न्याय-निर्णयों तथा राजनीतिक अभ्यासों का संग्रह है।"[1]

इस प्रकार ऊपर दिये गये तथ्यों से यह साबित हो जाता है कि कोई भी संविधान न तो पूर्ण रूप से लिखित ही होता है और न ही अलिखित। सभी में लिखित और अलिखित तत्त्व विद्यमान होते हैं, अतः उपयुक्त विभाजन सन्तोषप्रद नहीं।

८७. परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील संविधान (Flexible and Rigid Constitutions)

आज संविधान को अलिखित अथवा लिखित कहने की बजाए परिवर्तनशील या लचीला तथा अपरिवर्तनशील या कठोर कहना अधिक ठीक समझा जाता है। संविधान के इस प्रकार के वर्गीकरण का श्रेय लार्ड ब्राइस को दिया जाता है। इस वर्गीकरण को अधिक तर्कसम्मत तथा वैज्ञानिक समझा जाता है। संविधानों का ऐसा वर्गीकरण, संविधान के परिवर्तन के तरीकों तथा साधारण कानून के साथ उसका जो सम्बन्ध हो, उसको आधार मानकर किया जाता है।

जहाँ संवैधानिक कानून में और साधारण कानून में कोई भेद नहीं किया जाता और प्रत्येक प्रकार के कानून को निर्मित करने, संशोधित करने या परिवर्तित करने का एक प्रकार का तरीका होता है और जहाँ साधारण कानून से उच्चतर किसी कानून की व्यवस्था नहीं होती, वहाँ लचीले या परिवर्तनशील संविधान की मौजूदगी मानी जाती है। इस अवस्था में संवैधानिक कानून और साधारण कानून एक ही परिषद् अथवा संसद् द्वारा तैयार किये जाते हैं, और संवैधानिक कानून को किसी प्रकार उच्च अथवा विशिष्ट या पवित्र नही माना जाता। वे चाहे लिखित हों अथवा अलिखित हों, अवश्य ही परिवर्तनशील हैं।

इसके विपरीत अपरिवर्तनशील अथवा कठोर संविधान के अन्तर्गत साधारण कानून तथा संवैधानिक कानून में भेद किया जाता है। अपरिवर्तनशील संविधान एक विशेष तरीके से ही बदला या संशोधित किया जा सकता है। साथ ही इसके अन्तर्गत कोई भी विधानपालिका सर्वोच्च सत्तासम्पन्न नहीं हो सकती, संविधान ही उच्च होता है और वह राज्य का पवित्र तथा उच्चतम कानून समझा जाता है। इस प्रकार परिवर्तनशील संविधान की अपेक्षा कठिन तरीके से परिवर्तित किये जा सकने के कारण ही यह कठोर या अपरिवर्तनशील संविधान कहलाता है।

परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील संविधानों के उदाहरण—परिवर्तनशील संविधान का सर्वप्रसिद्ध उदाहरण इंग्लैंड का संविधान है। इंग्लैंड में संवैधानिक

---

1. "The English constitution is a mass of precedents carried in man's mind or recorded in writing, dicta of lawyers or statesmen, customs, usages, understandings and beliefs, a number of statutes mixed-up with customs and all covered with a parasite growth of legal discussions and political habits."—*Bryce.*

कानून में तथा साधारण कानून में कोई अन्तर नहीं, और पार्लियामेण्ट सभी प्रकार के कानूनों का उद्गम स्रोत है। डायसी के अनुसार—

(१) इंग्लैण्ड में ऐसा कोई कानून नहीं जिसे पार्लियामेण्ट नहीं बना सकती।

(२) इंग्लैण्ड में ऐसा कोई कानून नहीं जिसे पार्लियामेण्ट संशोधित या परिवर्द्धित न कर सकती हो।

(३) इंग्लैण्ड में संवैधानिक कानून और साधारण कानून में कोई अन्तर नहीं किया जाता।

यही कारण है कि शुरू-शुरू में अनेक विधानशास्त्रियों का मत था कि इंग्लैण्ड में कोई संविधान ही नहीं। **डी टाकवेल** (De Tocqueville) ने ही कहा था कि **"सैद्धान्तिक रूप से इंग्लैण्ड में कोई संविधान नहीं।"** इसका मुख्य कारण यही है कि इंग्लैण्ड में ऐसा कोई कानून नहीं जिसे दूसरे कानूनों से अलग करके निश्चय रूप से वैधानिक कहा जा सके, दूसरे शब्दों में साधारण तथा संवैधानिक कानूनों में भेद करने के मानदण्ड का सर्वथा अभाव है। इंग्लैण्ड के पास संयुक्त राज्य अमेरिका का सा निश्चित संवैधानिक कानून नहीं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वहाँ कोई संविधान ही नहीं; संविधान अवश्य है, यद्यपि उसका स्रोत भी वही पार्लियामेण्ट है जो कि साधारण कानून का निर्माण करती है। अगर तो हम संविधान शब्द को समुचित अर्थ में प्रयुक्त करें तो डी टाकवेल का कथन सत्य ही समझा जायेगा, परन्तु संविधान शब्द का ऐसा प्रयोग न केवल अव्यावहारिक ही होगा अपितु अवैज्ञानिक भी।

इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विट्ज़रलैण्ड तथा भारत के संविधान अपरिवर्तनशील हैं। इन राज्यों में संवैधानिक परिवर्तन के लिए एक विशेष साधन का प्रयोग करना पड़ता है। इंग्लैण्ड की तरह साधारण विधानपालिकाओं को संविधान में परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। संयुक्त राज्य अमेरिका में साधारण कानूनों का निर्माण काँग्रेस द्वारा होता है, परन्तु वह संवैधानिक परिवर्तन नहीं कर सकती। संवैधानिक कानून में परिवर्तन करने के लिए एक विशेष कार्य-प्रणाली की व्यवस्था इस प्रकार कर दी गई है—काँग्रेस के दोनों सदनों में दो-तिहाई मत द्वारा पास किये गये प्रस्ताव का राज्य की तीन-चौथाई विधानपालिकाओं द्वारा मंजूर किया जाना लाजमी है, तभी वह विधान के संशोधन के रूप में स्वीकार किया जा सकेगा।

इसी प्रकार स्विट्ज़रलैण्ड में भी साधारण कानून के लिए तथा संवैधानिक कानून के संशोधन के लिए अलग-अलग कार्य-प्रणाली का अनुसरण करना पड़ता है। वहाँ संघीय विधानपालिका तथा राज्य विधान-सभाओं के अतिरिक्त जनसाधारण को भी संविधान संशोधन पर मत प्रगट करने का अधिकार है। संघीय तथा राज्य-विधानपालिकाओं के बहुमत के अतिरिक्त जनसाधारण के बहुमत प्राप्त होने पर ही संवैधानिक कानून का संशोधन स्वीकृत माना जाता है।

८८. विविध संविधानों के गुण-दोष

दोनों प्रकार के संविधानों में गुणावगुण मिल जाते हैं। नीचे हम दोनों प्रकार के संविधानों के गुण-दोष की विवेचना करेंगे।

परिवर्तनशील संविधान के गुण—

(१) परिवर्तनशीलता तथा संयोजनशीलता (Adaptability) ही परिवर्तनशील संविधान की सबसे बड़ी विशेषता है। मनुष्य-जीवन सदा प्रगतिशील है, उसमें समय तथा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसी अवस्था में बिना किसी विशेष प्रयत्न के संविधान को परिवर्तित हालतों के अनुसार बदला जा सकता है।

(२) प्रत्येक राज्य के जीवन में ऐसे संकटकालीन अवसर आ जाते हैं जिनका सामना करने के लिए संविधान में परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। अपरिवर्तनशील संविधान में ऐसा करना बहुत कठिन हो जाता है। अमेरिका तथा इंग्लैण्ड दोनों ही इस विषय के बहुत अच्छे उदाहरण हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान में इंग्लैण्ड और अमेरिका में एक जैसी संकटकालीन स्थिति उत्पन्न हुई थी। अमेरिका के विधान के अनुसार वहाँ प्रत्येक चार वर्ष के अनन्तर राष्ट्रपति का चुनाव अनिवार्य है, अतः युद्धकालीन स्थिति में भी चुनाव हुए। यदि प्रेज़िडेण्ट रूज़वेल्ट के स्थान पर मि० ड्यूए का चुनाव हो जाता तो सम्भव है राजनीतिक तथा शासकीय नीतियों में पर्याप्त परिवर्तन होता, जिसका परिणाम शायद सम्पूर्ण देश के लिए हितकर न हो पाता। संकटकालीन स्थिति के दौरान में ऐसा कोई भी परिवर्तन खतरनाक सिद्ध हो सकता है। इसके विपरीत इंग्लैण्ड में संवैधानिक लचीलेपन के कारण लोकसभा के चुनाव स्थगित किये गये और युद्ध-संचालन के लिए मि० चर्चिल जैसे व्यक्ति को प्रधान मन्त्री के पद पर रखा गया। युद्धकालीन स्थिति के खत्म होते ही इंग्लैण्ड के लोगों ने अपनी नई आवश्यकताओं के अनुसार नवीन प्रधान मन्त्री का चुनाव किया। **लार्ड ब्राइस** ने ब्रिटिश संविधान के लिए ठीक ही कहा है कि, **"लचीले संविधान उनके ढाँचे का विनाश किये बिना इच्छानुसार, झुकाये या खींचे जा सकते हैं, और जब संकट टल जाता है, तब वे उसी प्रकार अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त कर लेते हैं, जिस प्रकार वह वृक्ष जिसके नीचे गाड़ी को ले जाने की सुविधा के लिए उसकी लटकती हुई टहनियों को खींचकर एक ओर कर दिया गया हो।"**[1]

(३) परिवर्तनशील संविधान जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, अतः उनके होते हुए हिंसात्मक क्रान्तियों की आवश्यकता ही नहीं रहती। इंग्लैण्ड में संविधान की परिवर्तनशील प्रकृति का ही फल है कि वहाँ आज तक कोई

1. "They (flexible constitutions) can be stretched or bent so as to meet emergencies without breaking their framework, and when the emergency has passed, they slip back into their form like a tree whose outer branches have been pulled aside to let a vehical pass."
—*Lord Bryce.*

जबरदस्त हिंसात्मक राजनीतिक परिवर्तन नहीं हो पाया। लार्ड मैकाले का कथन है कि अक्सर विश्व की हिंसात्मक क्रान्तियों का कारण संविधान की कठोरता होता है। **अमेरिकन सुप्रीम कोर्ट के जज कूली** (Cooly) ने ठीक ही कहा है कि **"जनसाधारण के शासन के लिए संसार में जितने भी संविधान बनाये जा सकते हैं, उनमें सब से अच्छा वही है जो राष्ट्रीय जीवन के स्वाभाविक विकास का परिणाम है और जो राष्ट्र के प्रौढ़ होने के साथ-साथ अपने आप भी विस्तृत तथा विकसित होकर किसी भी अवसर पर सरकार तथा नागरिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता के स्वीकृत सिद्धान्तों को प्रकट कर सकता है।"**[1]

(४) लिखित संविधान किसी एक निश्चित काल की परिस्थितियों का परिणाम होता है। वह सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन के इतिहास को एक लेखपत्र में बन्द कर देना चाहता है। विधान-निर्माता चाहे कितने भी विचारशील और अनुभवी शासक क्यों न हों, फिर भी वे कभी भी राष्ट्र के विकासशील जीवन के भविष्य का पूरा-पूरा अनुमान नही लगा सकते। अतः समय पाकर वह विकसित राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल नहीं रह पाता। डॉ० गार्नर का कथन है कि **"अपरिवर्तनशील विधान का निर्माण एक ऐसा ही प्रयत्न है जैसे कि एक व्यक्ति के लिए उसकी भावी शारीरिक वृद्धि तथा आकार का विचार किये बिना एक कोट बनाना।"**[2] संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान उन दिनों बनाया गया था जब कि अमेरिकन राष्ट्र एक अविकसित राष्ट्र था, जब उसके सम्पूर्ण अर्थतन्त्र का आधार कृषिप्रधान व्यवस्था थी और उसके राजनीतिक जीवन में व्यक्तिवाद का बोलबाला था। परन्तु आज अमेरिका एक महान् राष्ट्र है, उसकी अर्थ-व्यवस्था का आधार विस्तृत उद्योग-धन्धे हैं, और उसके राजनीतिक जीवन के नियन्त्रण के लिए कल्याणकारी राज्य-प्रणाली की आवश्यकता है। परन्तु संविधान के अपरिवर्तनीय होने के कारण, राजनीतिक जीवन को परिवर्तित आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाना अत्यन्त कठिन है। लचीले संविधान में ऐसे दोष नहीं आ सकते।

(५) लचीला संविधान ऐतिहासिक, विकासशील तथा परिवर्तनशील होता है। वह राष्ट्रीय जीवन और आकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब होता है। उनका आधार राष्ट्र का भूतकाल होता है। वे वर्तमान के अनुकूल होते हैं और भविष्य के अनुरूप ढल

---

1. "Of all the constitutions which may come into existence for the government of the people, the most excellent is obviously that which is the natural outgrowth of the national life, and which, having grown and expanded as the nation has matured, is likely at any particular time to express the prevailing sentiments regarding the government and the accepted principles of civil and political liberty."
—*Cooly.*

2. "It (a rigid constitution) is like an attempt to fit a garment to an individual without taking into consideration his future growth and changes in size."—*Garner.*

जाने की उनमें क्षमता होती है । वे अपने युग के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन-मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

परिवर्तनशील संविधान के दोष—परिवर्तनशील संविधान को अनेक प्रकार से दोषपूर्ण ठहराया जाता है। सर्वप्रथम तो परिवर्तनशील संविधान में निश्चयात्मकता, स्थिरता एवं स्थायित्व की कमी होती है । जन-भावनाओं के अनुकूल सामाजिक और राजनीतिक जीवन के आधारभूत सिद्धान्तों का बदल जाना गुण न होकर अवगुण ही कहलाता है । जनता भावनाओं के अस्थायी आवेश में आकर अतीत काल से चले आ रहे शासकीय नियमों को एकदम बदलने पर उतारू हो जाय, तो वह किसी भी राज्य की व्यवस्था के लिए स्वस्थ लक्षण नहीं समझा जा सकता । जनता अक्सर राजनीतिक नेताओं के जोशीले भाषणों का शिकार हो जाती है, वह ऐसे मामलों में तर्क से काम न ले भावनाओं से काम लेती है । सरकारी व्यवस्था को भावावेश में आकर बदल देना किसी भी हालत में अच्छा नहीं कहा जा सकता ।

परिवर्तनशील संविधान राजनीतिक दलों और महत्त्वाकांक्षी जन-नेताओं के हाथ के खिलौने बन जाते हैं, और वे उनका प्रयोग अपनी हित-साधना के लिए करते हैं जनहित के लिए नहीं ।

परिवर्तनशील संविधान की अवस्थिति एक समुन्नत और राजनीतिक चेतना-सम्पन्न समाज में ही सम्भव है । इसके विपरीत यदि जनसामान्य में राजनीतिक चेतना का अभाव हो तो परिवर्तनशील संविधान उनके अधिकारों की किसी भी प्रकार रक्षा नहीं कर सकेगा । राजनीतिक दल और विधानसभाएँ उसमें मनमाना परिवर्तन कर सकती हैं ।

कार्यपालिका और उसके अधीन कार्य करने वाले राज्य-कर्मचारी अपरिवर्तनशील संविधान के अधीन पर्याप्त स्वतन्त्रता का उपयोग करते हैं, और निश्चित पाबन्दियों के अभाव में वे राजकीय शक्ति का दुरुपयोग भी कर सकते हैं । इसी कारण यह भी कहा जाता है कि परिवर्तनशील संविधान लोकतन्त्र के उपयुक्त न हो कुलीनतन्त्र के लिए अधिक उपयुक्त होता है । जनसाधारण लिखित और स्पष्ट कानूनों में अधिक यकीन करते हैं बजाये अलिखित और अनिश्चित रस्मो-रिवाज के ।

अपरिवर्तनशील संविधान के गुण-दोष—अपरिवर्तनशील या कठोर संविधान की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं । सर्वप्रथम अपरिवर्तनशील संविधान प्रायः लिखित होते हैं । उनकी धाराओं को पर्याप्त विचार-विनिमय के अनन्तर संविधान का हिस्सा बनाया जाता है । यही नहीं, एक राजकीय लेख-पत्र होने के कारण उसमें राज्य की सम्पूर्ण शक्ति की विस्तृत व्याख्या होती है; सरकार की शासन-प्रणाली का स्वरूप निश्चित कर दिया जाता है; विधानपालिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के कर्त्तव्यों की, उनके पारस्परिक सम्बन्धों की निश्चित विवेचना रहती है । इस प्रकार अपरिवर्तनशील संविधान निश्चित, स्पष्ट और विस्तृत होता है । उसमें राजकीय शक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में किसी किस्म के सन्देह या शक की गुंजाइश नहीं रहती ।

अपरिवर्तनशील संविधान केवल राजकीय शक्तियों की व्याख्या मात्र ही नहीं। वह सरकार की शक्तियों पर पाबन्दियाँ भी लगाता है, उसे अनिश्चित और असीम अधिकार नहीं सौंपता। साथ ही जनसाधारण के आधारभूत अधिकारों की व्यवस्था भी कर दी जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत के संविधान जहाँ सरकार की विभिन्न शक्तियों को निर्धारित करते हैं, वहाँ वे जनसाधारण के अधिकारों की व्यवस्था भी कर देते हैं। साथ ही सर्वोच्च संघीय न्यायालय को यह अधिकार सौंप देते हैं कि वे कार्यपालिका द्वारा इन अधिकारों का पूरा-पूरा पालन करवायें। सुप्रीम कोर्ट यह भी देखते हैं कि राज्य विधानपालिकाएँ ऐसे कानून न बनायें जो कि जनसामान्य के अधिकारों पर पाबन्दी लगाते हों। कुछ राज्यों में अवश्य अधिकारों की व्यवस्था की देख-रेख संघीय कार्यपालिका के हाथ में रहती है—जैसा कि सोवियत रूस में है। ऐसी अवस्था में मूलभूत अधिकारों का पालन अत्यन्त कठिन हो जाता है। जहाँ संविधान को सुगमता से बदला जा सकता है वहाँ जनसामान्य के अधिकारों की कोई सुरक्षा नहीं होती, न ही राज्य-शक्ति पर नियन्त्रण की कोई विशद व्यवस्था रहती है।

कठोर संविधान के परिवर्तन की प्रक्रिया कठिन होती है फलतः क्षणिक लोकोत्तेजना के परिणामस्वरूप उसे एकदम नहीं बदला जा सकता। लचीला संविधान बहुमत की इच्छानुसार बदला जा सकता है, अतः उसके अन्तर्गत अल्पमत पर अत्याचार किये जा सकते हैं। लार्ड ब्राइस का कथन है कि **"उत्तेजना से उत्पन्न क्षणस्थायी प्रवृत्ति से कुछ नियमों को ऊपर रखना इस बात का द्योतक है कि बहुमत सदा सत्य या सही नहीं होते और आवेश के समय उन्हें अपने ही द्वारा शान्तचित्त में बनाये हुए असूलों का पालन करने के लिए मजबूर होकर अपने से ही रक्षा पाने की जरूरत है।"** भावात्मक आवेश में अनेक अनावश्यक परिवर्तन किये जा सकते हैं, जिनके लिए निश्चय ही जन-नेताओं को शान्त स्थिति में पछताना पड़ता है।

संघीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत संविधान का लिखित और कठोर होना आवश्यक समझा जाता है। संघीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत राज्यों में और केन्द्रीय सरकार में शक्तियों का विभाजन रहता है, दोनों प्रकार की सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र और स्वाधीन होती हैं। इस अवस्था में उनके आपसी झगड़ों के निपटारे के लिए लिखित और स्पष्ट अधिकार विभाजन तो आवश्यक हैं ही साथ ही ऐसे निष्पक्ष अधिकारी-वर्ग की स्थापना भी आवश्यक है जो कि संविधान की उचित व्याख्या कर सके।

एक लिखित तथा कठोर संविधान जनता के लिए पवित्र कानून की भाँति होता है, वह उनके विश्वासों का केन्द्र होता है; ऐसी अवस्था में उनका पालन स्वेच्छापूर्वक होता है और वह स्थायी भी होता है।

अपरिवर्तनशील संविधान के दोष—कठोर संविधानों के जो गुण हैं, वही उनकी कमजोरियाँ भी बन जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अपरिवर्तनशील संविधान स्पष्ट और निश्चित होते हैं, फिर भी उनमें दोषों की सर्वथा अनुपस्थिति हो, यह

नहीं कहा जा सकता। अपरिवर्तनशील संविधानों की अपरिवर्तनशीलता या कठोरता ही उसका सबसे बड़ा दोष है। सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन तो लाजमी है, परन्तु जहाँ राष्ट्रीय जीवन विकसित होते रहते हैं, वहाँ संविधान यथावत् रहते हैं। संविधान की अनावश्यक कठोरता तथा अपरिवर्तनशीलता क्रान्तियों का कारण बन जाती है।

कठोर संविधान किसी विशेष अवसर या काल की उपज होते हैं और वे तत्कालीन सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का फल होते हैं। अतः सर्वकाल के लिए सत्य नहीं हो सकते, उनमें परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। परन्तु परिवर्तन की प्रक्रिया के कठिन होने के कारण ऐसा नहीं हो पाता। इस प्रकार उसमें विकासशीलता का अभाव रहता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में संविधान में परिवर्तन के लिए एक निश्चित प्रक्रिया का प्रयोग करना पड़ता है। इस प्रक्रिया द्वारा संयुक्त राज्य के छोटे-छोटे कम संख्या वाले राज्य किसी भी संवैधानिक कानून के संशोधन को रद्द कर सकते हैं। किसी वैधानिक संशोधन को स्वीकृत करने के लिए तीन-चौथाई राज्यों का सहमत होना आवश्यक है, इसका अर्थ है कि यदि ३५ राज्यों के विरुद्ध १३ राज्य संशोधन का विरोध करें तो संशोधन रद्द हो जायगा।

अमेरिकन सुप्रीम कोर्ट संविधान की व्याख्या के लिए जिम्मेवार है। उसे यह भी अधिकार है कि वह संघीय या राज्य विधानपालिकाओं द्वारा पास किये गये विधेयों को गैरकानूनी करार दे दे, अगर उसके मतानुसार वे संविधान के विरुद्ध हों। यह व्यवस्था संतोषजनक नहीं समझी जाती, क्योंकि प्रथम तो न्यायाधीश अपने विचारों के अनुसार संविधान की व्याख्या करेंगे, संविधान की व्याख्या का कोई सर्वसम्मत असूल तो है ही नही। वे अगर दकियानूसी और तंग विचारों के होते हैं, तो वे ऐसे विधेयों को जो कि प्रगतिशील व्यवस्था की स्थापना करते हैं, स्वीकार नहीं करेंगे। और संविधान की व्याख्या इस प्रकार करेंगे कि वह एक अप्रगतिशीलता की मजबूत दीवार बन जायगा। दूसरे, यह व्यवस्था लोकतंत्रात्मक भी नहीं। जजों की नियुक्ति चुनाव द्वारा नहीं होती, पर कार्यपालिका द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। परन्तु उन्हें ऐसे मामलों पर अपने विचार प्रकट करने होते हैं, जो जनसामान्य के हित से सम्बन्धित होते हैं और जिनका उचित निर्णय विधानपालिका द्वारा ही होना चाहिए। विधानपालिका जनसामान्य का प्रतिनिधित्व करती है, अतः वह यदि जनता की इच्छानुसार ऐसे बिलों को पास करें जिन्हें कि बाद में अप्रजातांत्रिक आधार पर आधारित सुप्रीम कोर्ट रद्द करदे तो वह सर्वथा अनुचित होगा। जनभावनाओं का नेतृत्व तो विधानपालिका करती है; न्यायालय नहीं। फिर न्यायालय के निर्णय पक्षपात-विहीन नहीं होते, वे पूर्ण तरह से वैधानिक भी नहीं होते, अपितु राजनीतिक होते हैं। अतः ऐसी व्यवस्था प्रजातंत्र और लोकसम्मत प्रभुता के सर्वथा उलट होती है, और न्यायाधीशों के अधिनायकतन्त्र को स्थापित करती हैं।

अगर संविधानों की व्याख्या का अधिकार कार्यपालिका को ही दे दिया जाय—

जैसा कि फ्रांस या रूस में है, तो संविधान की न्यायसम्मत व्याख्या असम्भव होगी। कार्यपालिका पूरी तरह से राजनीतिक संगठन है। उसका काम कानून का पालन करवाना है, उसकी व्याख्या करना नहीं। लिखित संविधान आवश्यक नहीं, प्रजातंत्र तथा स्वतंत्रता की सुरक्षा की गारन्टी हो। जर्मनी में हिटलर ने लिखित संविधान की उपस्थिति में भी सम्पूर्ण नागरिक अधिकारों को खत्म कर दिया था।

निष्कर्ष—संविधानों के विविध प्रकारों के गुणावगुण का विवेचन तो हमने ऊपर कर दिया है। परन्तु आज हमें अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि राज्यों की प्रवृत्ति लिखित तथा अपरिवर्तनशील संविधानों की व्यवस्था की ओर है। शासन सम्बन्धी सिद्धान्तों का रस्मो-रिवाज पर आश्रित रहना किसी प्रकार भी उचित नहीं समझा जा सकता। केवल इंग्लैण्ड ही एक ऐसा राज्य है जहाँ संविधान अलिखित तथा परिवर्तनशील है, वहाँ भी धीरे-धीरे राज्य-व्यवस्था के पुराने परम्परागत सिद्धान्तों को लेखबद्ध किया जा रहा है। सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका में लिखित तथा अपरिवर्तनशील संविधान को स्वीकार किया गया था, तदन्तर उसी के आदर्श का अनुसरण करते हुए लेटिन अमेरिकन देश, पश्चिमी यूरोप के राज्य तथा एशिया में भारत, वर्मा, चीन इत्यादि राज्यों ने भी लिखित विधानों को अपना लिया है। इन देशों में संविधान-व्यवस्था में परिवर्तन करने का तरीका उतना कठोर नहीं जितना कि संयुक्त राज्य अमेरिका में है। राज्यों में साधारण कानून तथा संवैधानिक कानून में विभेद करने की प्रवृत्ति जरूर है, परन्तु इसके साथ ही संवैधानिक कानून के परिवर्तन की व्यवस्था अपेक्षाकृत सरल तथा सुगम है।

संविधान को लिखित तथा अपरिवर्तनशील रूप देने के अनेक कारण है। सर्वप्रथम तो सर्वत्र जनसाधारण के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए लिखित आश्वासनों की उपस्थिति आवश्यक समझी जाती है। लिखित विधान जहाँ जनसाधारण के अधिकारों को निश्चित करते हैं, वहाँ वे सरकार की शक्तियों पर भी पाबन्दियाँ लगा देते हैं। फिर आज के प्रजातांत्रिक राज्यों में जनता राज्य-शक्तियों की समुचित व्यवस्था, राज्याधिकारियों के कर्तव्यों का स्पष्ट परिगणन और शासन के अन्य आवश्यक सिद्धान्तों को स्पष्ट तथा लिखित रूप में देखना पसन्द करती है। संघीय शासन-व्यवस्था के लिए तो लिखित संविधान एक परम आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया जाता है। नवीन राज्यों के प्रादुर्भाव के साथ लिखित संविधानों की व्यवस्था का प्रचलन भी बढ़ता जाता है। वर्तमान युग में राज्य-कार्यों की वृद्धि के फलस्वरूप और शासकीय व्यवस्था के जटिल हो जाने के कारण राज्य के आधारभूत सिद्धान्तों का लिखित होना प्रजातंत्र की सुरक्षा के लिए आवश्यक है।

८६. संविधान के आवश्यक अंग

एक अच्छे संविधान में कुछ निश्चित तत्त्वों का होना आवश्यक है। इन तत्त्वों को निम्न प्रकार से रख सकते हैं।

शासन-व्यवस्था—संविधान का मुख्य कार्य राजनीतिक व्यवस्था के मूलभूत

सिद्धान्तों तथा शासकीय ढाँचे को प्रस्तुत करना है। जहाँ कहीं संघीय शासन-व्यवस्था होती है वहाँ संविधान केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों में शक्ति-विभाजन के अतिरिक्त उनके पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्था भी करता है। इसके अतिरिक्त विधानपालिका, कार्यपालिका तथा न्यायालय की शक्तियों और कर्तव्यों का विवेचन भी होना चाहिए। इस प्रकार वस्तुतः एक अच्छे संविधान को शासन की सम्पूर्ण व्यवस्था का विस्तृत विवरण देना चाहिए।

१८७५ में तैयार किये गये फ्रेंच संविधान में मंत्री-परिषद् के चुनाव, उनके उत्तरदायित्व तथा न्यायालय के संगठन इत्यादि के विषय में कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। सविधान को इतना विस्तृत होना चाहिए कि वह सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था को निश्चित रूप से प्रस्तुत कर सके।

(२) **नागरिकों के मूलभूत अधिकार**—आजकल संविधान में नागरिकों के मूलभूत अधिकारों की घोषणा भी रहती है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा फ्रांस में सर्वप्रथम नागरिक अधिकारों के घोषणापत्रों को संविधान के आधारभूत अंगों के रूप में स्वीकार किया गया। बाद में प्रायः सभी पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों में, जहाँ कहीं भी लिखित सविधानों को अपनाया गया, नागरिकों के मूलभूत अधिकारों की व्यवस्था की गई। संयुक्त राज्य अमेरिका में अपनाये गये नागरिकों के मूलभूत अधिकार लॉक के प्रकृत अधिकारों के सिद्धान्त से प्रभावित थे। उनमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समानता पर अधिक बल दिया गया था। आज के संविधान में राजनीतिक तथा नागरिक अधिकारों के अतिरिक्त आर्थिक अधिकारों की व्यवस्था की जाती है। सोवियत रूस में वैयक्तिक तथा राजनीतिक अधिकारों की अपेक्षा आर्थिक अधिकारों की व्यवस्था पर अधिक बल दिया गया है। इन मूलभूत अधिकारों की विवेचना संविधान में इसलिए आवश्यक है ताकि कोई भी सरकार उनको खत्म न कर सके और जब कभी उनका अतिक्रमण किया जाय तो न्यायालय सरकार के या अन्य किसी सस्था अथवा व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही कर सकें।

संविधानों में आजकल प्रायः निम्नलिखित अधिकारों की व्यवस्था रहती है—(क) सब नागरिकों की समता, (ख) धर्म की स्वतन्त्रता, (ग) सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार, (घ) भाषण तथा लेख द्वारा विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता, (ङ) अल्पसंख्यक समुदायों के अधिकारों की रक्षा, (च) विश्राम का अधिकार, (छ) निःशुल्क शिक्षा का अधिकार, (ज) पारिश्रमिक सहित नौकरी का अधिकार इत्यादि।

(३) **संविधान में परिवर्तन**—अपरिवर्तनशील संविधान का अर्थ वस्तुतः कठोर संविधान है, वह सर्वथा अपरिवर्तनशील नहीं हो सकता। समय तथा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन तो अनिवार्य हैं। अतः प्रत्येक संविधान में परिवर्तन की एक विशेष प्रक्रिया को भी निश्चित कर दिया जाता है। परिवर्तन की प्रक्रिया की कठोरता पर ही संविधान की कठोरता आश्रित है।

संयुक्तराज्य अमेरिका, स्विट्जरलैण्ड तथा भारत के संविधानों में निर्दिष्ट परिवर्तन-प्रक्रिया (Methods of amendment) का विवेचन हम पीछे कर

आये हैं।

बर्गेस (Burgess) ने संविधान के उपर्युक्त तीनों भागों को क्रमशः शासन का विधान (Constitution of the Government), स्वतन्त्रता का संविधान (Constitution of Liberty), तथा प्रभुता का संविधान (Constitution of Sovereignty) कहा है।

गेटल के मतानुसार प्रत्येक संविधान में कुछ विशिष्ट गुणों का होना आवश्यक है। ये गुण इस प्रकार हैं—

(क) सुनिश्चितता (Definiteness) लिखित संविधान का आवश्यक गुण है। अतः उसकी भाषा स्पष्ट होनी चाहिए ताकि सन्देह तथा भ्रम की गुंजायश ही न रहे।

(ख) पूर्णता (Comprehensiveness) सुस्पष्टता के साथ-साथ पूर्णता भी संविधान का एक परम आवश्यक गुण है। संविधान को इतना व्यापक होना चाहिए कि सम्पूर्ण सरकारी क्षेत्र उसके अन्तर्गत आ जाय। सरकार के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना के अतिरिक्त उनके कर्तव्यों का भी स्पष्ट विवेचन होना चाहिए।

(ग) संक्षिप्तता (Brevity)—संविधान की व्यापकता का अर्थ यह नहीं कि वह अनावश्यक रूप से विस्तृत हो। संक्षिप्तता भी संविधान का एक परम आवश्यक गुण है। अनावश्यक बातों का वर्णन संविधान की महत्ता को कम कर देता है, क्योंकि उसके अनावश्यक अंग व्यवहार में नहीं आते और शीघ्र ही वे संविधान पर बोझ बन जाते हैं जिनका कि उल्लंघन होने लग जाता है। विस्तृत संविधान परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार शीघ्रतापूर्वक बदला भी नहीं जा सकता।

(४) संविधान परिवर्तन का मध्य मार्ग—संविधान के परिवर्तन का कानूनी प्रबन्ध होना चाहिए, यह हम पीछे ही देख आये हैं। ऐसा न होने पर क्रान्ति की सम्भावना रहती है। संविधान परिवर्तन का तरीका बहुत उलझा हुआ और कठोर नहीं होना चाहिए, साथ ही वह अत्यन्त सरल भी न हो ताकि उसे बिना किसी कठिनाई के ही बदला जा सके। अधिक कठोर संविधान जनसामान्य की आवश्यकताओं के अनुरूप जब बदल नहीं पाते तो उनका या तो उल्लंघन होता है अथवा उनको हिंसात्मक तरीकों से बदलने की कोशिश की जाती है। अतः संविधान संशोधन का तरीका न तो संयुक्त राज्य अमेरिका जैसा कठोर होना चाहिए और न इंग्लैण्ड जैसा सरल। आजकल प्रायः मध्य मार्ग को चुना जाता है। जिस प्रकार भारत का संविधान जहाँ कुछ अंशों में कठोर है, वहाँ कुछ अंशों में लचीला भी है।

६०. संविधान का प्रसार एवं विकास

मानवीय जीवन की तरह मानवीय संस्थाएँ भी विकासशील हैं। संविधान विकासशील मानवीय जीवन की भाँति बढ़ता, फलता-फूलता और विकसित होता है। संवैधानिक कानून के प्रसार एवं विकास के दो साधन हैं—(१) औपचारिक

(Formal), और (२) अनौपचारिक (Informal)। औपचारिक साधन के अन्तर्गत संविधान संशोधन का कानूनी प्रकार रहता है, और अनौपचारिक साधनों के अन्तर्गत रस्मो-रिवाज तथा न्याय-निर्णय आते हैं।

(१) औपचारिक साधन—संविधान द्वारा निर्धारित संविधान परिवर्तन की कानूनी प्रक्रिया संविधान-संशोधन का सर्वप्रमुख ढंग है। प्रायः प्रत्येक लिखित विधान में संविधान-परिवर्तन की प्रक्रिया का जिक्र रहता है। इस व्यवस्था की अनुपस्थिति में संविधान सर्वथा अपरिवर्तनशील हो जायगा और उसका परिवर्तन हिंसात्मक तथा गैरकानूनी साधनों द्वारा होगा। अतः सदा ऐसी व्यवस्था रहती है कि परिवर्तित होते हुए समाज के नैतिक मूल्यों के अनुरूप संविधान को बदला जा सके।

(२) अनौपचारिक साधन के अन्तर्गत रस्मो-रिवाज तथा न्याय-निर्णय आते हैं। इंग्लैण्ड जैसे राज्य में तो अधिकांश संविधान रस्मो-रिवाज तथा न्याय-निर्णयों पर ही आश्रित हैं और सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के अनुसार उनमें खुदबखुद परिवर्तन होते रहते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में संविधान लिखित है परन्तु उसका प्रसार और विकास अनेक अलिखित रस्मो-रिवाज तथा न्याय-निर्णयों द्वारा हुआ है। अमेरिकन राष्ट्रपति का मन्त्रिमण्डल, उसके प्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था, राजनीतिक पार्टियों का संगठन इत्यादि अनेक व्यवस्थाओं का आधार संवैधानिक रस्मो-रिवाज है।

संविधान की विभिन्न धाराओं की व्याख्या जज लोग करते हैं। अनेक स्थान पर भाषा के अस्पष्ट होने पर विभिन्न धाराओं की स्पष्ट व्याख्या के लिए सर्वोच्च न्यायालयों की शरण लेनी पड़ती है, और इस विषय में दिये गये उनके फैसले को अन्तिम फैसला माना जाता है। अनेक बार जज लोग संविधान की इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि वे उसके रूप को या उसकी अन्तर्निहित भावना को ही बदल देते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक बार संविधान की व्याख्या इस प्रकार की है कि संविधान का अनेक स्थानों पर रूप ही बदल दिया गया है।

इस प्रकार संविधान का विकास और प्रसार सदा औपचारिक तथा अनौपचारिक साधनों द्वारा होता ही रहता है।

संविधान को धर्म के नियमों की भाँति पवित्र समझना सर्वथा गलत है। राजनीतिक नियम समाज की आर्थिक तथा नैतिक परिस्थितियों के अनुरूप होते हैं, उन्हें ईश्वरादेश समझ सदा सत्य-सनातन तथा अपरिवर्तनशील मानना अप्रगतिशीलता और अवैज्ञानिक दृष्टिकोण का फल है। संविधान में कठोरता तथा लचीलापन (Flexibility) का उचित मात्रा में सम्मिश्रण रहना चाहिए और उसका परिवर्तन यथासम्भव जन-सहमति पर आधारित होना चाहिए। तभी संवैधानिक कानून स्थिर तथा सर्वप्रिय हो सकते हैं।

Important Questions

Reference

1. What are rigid and flexible constitutions? Which of these two would you favour for India, and why? (*Pb. 1954*) Arts. 87 and 88

2. What are the requisites of a rigid constitutions, and what are the methods of amending such a constitution ? (*Pb. 1949*) Arts. 89 and 90

3. Distinguish between Rigid and Flexible constitutions and discuss their relative merits and demerits. (*Pb. 1948., Nag. 1934*)

4. Define constitutions. Classify the different constitutions. (*Cal. 1943, Dac. 1935*) Arts. 84, to 87

5. Point out the difference between written and unwritten constitutions. What are their respective merits and demerits ? (*Cal. 1937., Dac. 1935., Bom. 1936., Pb. 1938., Ag. 1943*) Art. 86

अध्याय १२

राज्य तथा शासन के भेद (१)

(Form of the State and of the Government)

९१. विभेद के विविध आधार

राज्य तथा शासन के वर्गीकरण के अनेक प्रयत्न किये गये हैं, और उस पर पर्याप्त साहित्य भी रचा गया है। परन्तु इस विषय में एक सर्वसम्मत और वैज्ञानिक आधार का सदा ही अभाव रहा है। ऐसा कोई वैज्ञानिक नियम नहीं रचा गया जिसके आधार पर विभिन्न राज्यों में भेद किया जा सके। सम्पूर्ण राज्यों में कुछ निश्चित समान तत्त्व होते हैं, वे हैं—भू-प्रदेश, (Territory), आबादी (Population) सरकार (Government), तथा प्रभुसत्ता (Sovereignty)। ये तत्त्व तो सभी राज्यों में समान रूप से मौजूद होते है, इनमें से किसी एक के भी अनुपस्थित होने पर राज्य 'राज्य' नहीं कहला सकता। अतः आज यह स्वीकार किया जाता है कि सम्पूर्ण राज्य अपने स्वरूप, अपने कानूनी व्यक्तित्व तथा मुख्य आदेशों एवं उद्देश्यों की दृष्टि से अनिवार्य रूप से समान हैं, उनमें भेद करना न केवल अव्यावहारिक है अपितु अवैज्ञानिक भी।

फिर भी समय-समय पर राज्यों के अनेक प्रकार से भेद किये गये हैं। आबादी, प्रदेश, भौगोलिक तथा अन्य अनेक ऐतिहासिक आधारों पर राज्यों का वर्गीकरण—नगर-राज्य (City State), आदिवासी राज्य (Tribal State), सामान्तिक राज्य (Feudal State), राष्ट्रीय राज्य (National State), तथा विश्व साम्राज्य (World Empire) इत्यादि अनेक प्रकार किया गया है। परन्तु यह वर्गीकरण न तो राज्यों के ऐतिहासिक स्वरूप का विवेचन मात्र है। इनका राजनीतिक विचारों में विशेष महत्त्व नहीं। इसी प्रकार प्रभुसत्ता, स्वतन्त्रता तथा शक्ति-भेद के आधार पर भी राज्यों को विभिन्न भागों में बाँटा जाता है। इस आधार पर पूर्ण स्वतन्त्र राज्य, संरक्षित राज्य (Protected State), अधीनस्थ राज्य (Vassal State), तटस्थीकृत राज्य (Neutralised State)। इसी प्रकार विश्वविख्यात राज्य, विशाल राज्य तथा वैभवसम्पन्न राज्य इत्यादि राज्यों के भेद मिल जाते हैं। परन्तु ऐसा वर्गीकरण राजनीति शास्त्र के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। राज्य को पूर्ण स्वतन्त्र, अर्द्ध स्वतन्त्र तथा संरक्षित इत्यादि भागों में बाँटने का अर्थ राज्य की मूलभूत प्रकृति से अनभिज्ञता प्रगट करना है। राज्य का प्रभुत्त्वसम्पन्न होना तो लाजमी है, प्रभुत्त्व का विभाजन असम्भव है। ऐसी अवस्था में राज्य को बाह्य स्वतन्त्रता की दृष्टि से पूर्ण स्वतन्त्र या आंशिक स्वतन्त्र कहना न केवल भ्रामक है अपितु अवैज्ञानिक भी।

९२. राज्य तथा शासन का भेद

राज्यों का भेद राज्य तथा शासन में अन्तर न किये जाने के कारण किया जाता है। राज्य अपनी प्रकृति में सर्वत्र समान हैं, उनके आधारभूत तत्त्वों में अन्तर नहीं हो सकता। हाँ, वे अपने आन्तरिक संगठन तथा शासकीय शक्तियों के विभाजन में एक दूसरे से भिन्न होते हैं और इसी आधार पर उनमें भेद सम्भव हैं। दूसरे शब्दों में हमें यह कहना चाहिए कि सरकारों की प्रकृति में अन्तर हो सकता है, अतः उनका वर्गीकरण तो सम्भव है, राज्यों का नहीं। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं राज्य (State) तथा सरकार (Government) में अन्तर है। सरकार राज्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आवश्यक भाग है परन्तु जिस प्रकार हम मस्तिष्क को शरीर नहीं कह सकते उसी प्रकार सरकार को राज्य नहीं कहा जा सकता। सरकार तो राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र है। राज्यों के पारस्परिक भेद का आधार वस्तुतः सरकार का संगठन ही है। अतः बहुत से राजनीतिक विचारकों की यह धारणा है कि राज्यों का वर्गीकरण नाम की कोई चीज नहीं, क्योंकि वे अपने मूल तत्त्वों में समान हैं। शासन-संगठन में भेद सम्भव है, अतः सरकारों का वर्गीकरण होना चाहिए राज्यों का नहीं।

९३. सरकारों का वर्गीकरण

बहुत प्राचीन काल से ही सरकारों का वर्गीकरण विभिन्न आधारों पर किया गया है। सरकारों का सबसे प्राचीन और प्रसिद्ध वर्गीकरण अरस्तू का माना जाता है। परन्तु अरस्तू की एतद्विषयक धारणा अपनी नहीं थी। उसने प्लेटो और प्लेटो ने भी अपने गुरु सुकरात (Socrates) से इसको ग्रहण किया। अतः अरस्तू के सरकारों के वर्गीकरण के अध्ययन से पहले हमें प्लेटो की एतद्विषयक धारणा का सरकारी नजर से अध्ययन कर लेना चाहिए।

प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' तथा 'स्टेट्समैन' में दो विभिन्न प्रकार के वर्गीकरण किये हैं। परन्तु जहाँ 'रिपब्लिक' में उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी और अयथार्थ था, वहाँ 'स्टेट्समैन' में ऐसा नहीं रहा। 'स्टेट्समैन' में उसने कानून के महत्त्व को स्वीकार किया है। उसका विचार था कि कानून के बिना शासन सम्भव नहीं। कानून अच्छे और बुरे दोनों ही होते हैं, अतः उनकी नैतिक परीक्षा होनी चाहिए। उनके मतानुसार राज्य कानून-सम्मत और कानून-विरुद्ध दो प्रकार के हो सकते हैं। उस द्वारा किया गया वर्गीकरण इस प्रकार है—

कानून-सम्मत शासन	कानून-विरुद्ध शासन
(१) राजतन्त्र (Monarchy) में राज्य-सत्ता केवल एक ही व्यक्ति के हाथ में रहती है, और वह राज्य-सत्ता का प्रयोग प्रजा के हित में करता है।	(१) निरंकुशतन्त्र (Tyranny) में राज्य-सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में रहती है, किन्तु वह उसका प्रयोग प्रजा की भलाई के लिए नहीं करता।

(२) कुलीनतन्त्र (Aristocracy) में राज्य-सत्ता का नियन्त्रण एक वर्ग के हाथ में रहता है और वह उसका प्रयोग जन-साधारण के हित में करता है।

(३) सहिष्णु प्रजातन्त्र (Democracy) में राज्य-सत्ता का प्रयोग प्रजा द्वारा सोच-समझकर प्रजा के हित के लिए किया जाता है।

(२) वर्ग राज्य (Oligarchy) में राज्य-सत्ता का नियन्त्रण एक वर्ग के हाथ में रहता है परन्तु वह उसका प्रयोग जन-हित में नहीं करता।

(३) समूहतन्त्र (Mobocracy) में राज्य-सत्ता नासमझ जनता के हाथ में रहती है और वह उसका प्रयोग स्वार्थ-सिद्धि के लिए करती है।

प्लेटो ने राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ शासन-व्यवस्था माना है, और प्रजातन्त्र को सबसे गिरी हुई।

९४. अरस्तू द्वारा किया गया राज्य का वर्गीकरण (Aristotle's classification of State)

अरस्तू ने प्लेटो का अनुसरण किया और सरकार का प्लेटो द्वारा निर्दिष्ट निम्नलिखित दो नियमों के आधार पर वर्गीकरण किया—

(१) राज्य प्रभुसत्ता (State sovereignty) **कितने व्यक्तियों में निहित है।**

(२) राज्य का उद्देश्य क्या है ?

अरस्तू ने उद्देश्य-सिद्धि की दृष्टि से राज्य के दो प्रकार माने हैं—स्वाभाविक रूप (Normal Form) तथा विकृत रूप (Perverted form), जब **राज्य-शक्ति** का प्रयोग जनसाधारण के हित में किया जाता है तो वह राज्य का स्वाभाविक रूप कहलाता है और जब उसका दुरुपयोग किया जाता है तो वह विकृत रूप कहलाता है। उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर अरस्तू के अनुसार राज्यों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

प्रभुसत्ता के अधिकारियों की संख्या	**शासन का स्वाभाविक रूप** (Normal form of State) **जहाँ सरकार का संचालन जन-हित में होता है।**	**शासन का विकृत रूप** (Perverted form of State) **जहाँ राज्य-शक्ति का दुरुपयोग होता है।**
१. जहाँ प्रभुसत्ता का अधिकारी एक व्यक्ति हो।	राजतन्त्र (Monarchy)	निरंकुश राज्य (Tyranny)
२. जहाँ प्रभुसत्ता थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में हो।	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	वर्गराज्य (Oligarchy)
३. जहाँ प्रभुसत्ता अनेक व्यक्तियों के हाथ में हो।	वैधानिकतन्त्र (Polity)	जनतन्त्र (Democracy

इस प्रकार, अरस्तू ने प्लेटो के नीतिसम्मत नियम का अनुसरण करते हुए राज्यों को अच्छे तथा बुरे वर्गों में बाँटा है।

राज्यों का परिवर्तन-चक्र—प्लेटो की तरह अरस्तू का यह विचार था कि राज्यों की प्रकृति में चक्रवत (Cyclical) परिवर्तन होता है। जिस प्रकार ऋतुक्रम चलता है और एक के बाद दूसरी ऋतु स्वाभाविक रूप से आती-जाती रहती है, ठीक वैसे ही राज्यों का परिवर्तन-क्रम चलता है। अरस्तू के मतानुसार राज्य का सर्वप्रथम रूप राजतन्त्र (Monarchy) था। परन्तु जब राजा लोग लोक-कल्याण की अपेक्षा स्वार्थ-साधन को ही राज्य-शासन का उद्देश्य मान बैठे तो राजतन्त्र निरंकुश राज्य (Tyranny) के रूप में बदल गया। परन्तु धीरे-धीरे निरंकुश राज्य के दिन भी खत्म हो गये और कुछेक प्रतिभासम्पन्न गुणी लोगों ने मिलकर सामान्य जन-हित के लिए निरंकुश शासन को खत्म कर नयी शासन-व्यवस्था की स्थापना की, जिसे कुलीनतन्त्र (Aristocracy) कहा गया। परन्तु कुलीनतन्त्र में भी दोष उत्पन्न हो गये। शासकवर्ग जनहित की बजाय वर्गगत स्वार्थों को पूर्ण करने के लिए ही प्रयत्न करने लगे। फलतः शासन का स्वरूप बदलकर वर्गतन्त्र (Oligarchy) हो गया। इस दोषपूर्ण शासन-व्यवस्था के प्रति जनसामान्य ने विद्रोह किया और उन्होंने मिलकर वैधानिक जनतन्त्र (Polity) की स्थापना की। वैधानिक जनतन्त्र के अन्तर्गत राज्य-शक्ति का प्रयोग जनसामान्य द्वारा जनसाधारण के हित के लिए किया जाता था। परन्तु वैधानिक जनतन्त्र भी अपने विशुद्ध रूप में स्थिर न रह सका, वह विशुद्ध जनतन्त्र (Democracy) हो गया। विशुद्ध जनतन्त्र से अरस्तू का मतलब जन-समूह का राज्य है, जिसमें वैधानिकता तथा लोक-हित की भावना का अभाव होता है। अरस्तू के मतानुसार जनतन्त्र का भी विलोप हो जाता है और उसका स्थान पुनः राजतन्त्र ले लेता है। इस प्रकार अरस्तू के अनुसार राज्यों का चक्रवत परिवर्तन होता रहता है।

अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने भी लगभग इसी प्रकार राज्य-परिवर्तन-क्रम को प्रस्तुत किया है। परन्तु अरस्तू की अपेक्षा प्लेटो का परिवर्तन-क्रम यथार्थ कम और सैद्धान्तिक अधिक है। पुराने यूनान के नगर-राज्यों के प्रकृति-परिवर्तन में अरस्तू के सिद्धान्त को काफी सीमा तक लागू किया जा सकता है, परन्तु प्लेटो का नहीं लागू हो सकता।

अरस्तू के राज्य-वर्गीकरण की विशेषता—राज्यों के अरस्तू द्वारा किये गये वर्गीकरण को उसके बाद में आने वाले प्रायः सभी राजनीति-विचारकों ने अपनाया। आज भी किसी न किसी रूप में राज्य-वर्गीकरण का आधार अरस्तू की एतद्विषयक धारणा को ही माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो इसका पर्याप्त मूल्य है।

अरस्तू प्लेटो की तरह प्रजातन्त्र को शासन का निकृष्टतम स्वरूप समझता है। उसके विचारों से ऐसा पता चलता है कि उसे जनसामान्य में विश्वास नहीं। हाँ, राजतन्त्र इत्यादि की अपेक्षा वह वैधानिक जनतन्त्र (Polity) जिसका उदाहरण आज का ब्रिटिश राज्य हो सकता है—सर्वश्रेष्ठ शासन स्वरूप समझता है। वैधानिक

जनतन्त्र (Polity) में वह मध्य मार्ग का अनुसरण करता है।

अरस्तू कुलीनतन्त्र (Aristocracy) तथा वर्गतन्त्र (Oligarchy) में भेद करता है, परन्तु आज दोनों को लगभग एक ही समझा जाता है, और उनमें भेद नहीं किया जाता।

अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना—(१) अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना करते हुए डा० गार्नर ने इस बात पर बल दिया है कि अरस्तू राज्य और सरकार में भेद नहीं कर पाता, फलतः उस द्वारा किया गया वर्गीकरण राज्यों का वर्गीकरण है जबकि वह सरकारों का होना चाहिए। परन्तु राज्य तथा सरकार का भेद वर्तमान युग की देन है, पुराने जमाने में ऐसा नहीं होता था। अरस्तू का राज्य तथा सरकार का एकीकरण कोई असंगत बात नहीं थी।

बर्गेस (Burgess) के मतानुसार अरस्तू का राज्यों को राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के रूप में बाँटना उचित है। उसका कथन है कि राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र राज्य के रूप के प्रकार हैं, सरकारों के नहीं। वे एक व्यक्ति, एक वर्ग या बहुसंख्या का शासन नहीं अपितु उनका प्रभुत्व (Sovereignty) है। यह कहा जाता है कि अगर हम अरस्तू के वर्गीकरण के अन्तर्गत प्रयुक्त सरकार (Government) तथा शासन (Rule) के स्थान पर 'राज्य' तथा 'प्रभुत्व' शब्द का प्रयोग करें, तो यह वर्गीकरण आधुनिक राज्यों पर भी लागू हो सकता है।

(२) अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना एक अन्य आधार पर भी की जाती है। यह कहा जाता है कि अरस्तू ने अपने वर्गीकरण में शासकों की संख्या को अधिक महत्त्व दिया है, और राज्यों के आधारभूत भेदों की ओर ध्यान नहीं दिया। उसके वर्गीकरण का आधार संख्या है, गुण या आध्यात्मिक तथा नैतिक तत्त्व नहीं। इस बात का तो अधिक महत्त्व नहीं कि राज्य-शक्ति का उपयोग कितने व्यक्ति करते हैं, महत्त्व तो इस बात का है कि इस शक्ति का प्रयोग किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है। राजतन्त्र में तथा कुलीनतन्त्र में भेद शासकों की संख्या के आधार पर किया जाता है इसी तरह प्रजातन्त्र का दूसरी प्रकार की सरकारों से भेद यदि किया जाता है, तो वह भी संख्या के आधार पर ही। परन्तु इस विभेद का आधार ऊपरी है, आन्तरिक नहीं।

उपर्युक्त आलोचना ठीक नहीं समझी जाती। हम ऊपर ही देख चुके हैं कि अरस्तू प्लेटो तथा सुकरात का अनुगामी है, वह नैतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों की अवहेलना किसी भी प्रकार नहीं कर सकता। राज्य-वर्गीकरण के दो आधार हैं, एक शासकों की संख्या और दूसरा गुणात्मक भेद। गुणात्मक नियम के आधार पर ही वह शासन के स्वाभाविक (Normal) तथा विकृत (Perverted) दो रूप मानता है। राज्य-शक्ति के प्रयोगकर्त्ताओं की संख्या के अतिरिक्त उस शक्ति के प्रयोग के सामान्य उद्देश्य का भी पर्याप्त महत्त्व है।

बर्गेस ने अरस्तू के वर्गीकरण को नैतिक तथा आध्यात्मिक माना है। उसका कथन है कि देश के शासकों की संख्या से उस देश की राजनीतिक चेतना (Politi-

cal consciousness) का अन्दाजा लगाया जा सकता है। राजतन्त्र इस बात का द्योतक है कि राजनीतिक चेतना का विस्तार बहुत सीमित है, कुलीनतन्त्र के अन्तर्गत इस चेतना का कुछ विस्तार हो जाता है जब कि वैधानिक जनतन्त्र में जनसाधारण राजनीतिक दृष्टि से जागरूक हो राज्य शासक को अपने नियन्त्रण में ले आता है। अतः बर्गेस के अनुसार यह भेद केवल संख्या का ही नहीं अपितु आधारभूत है।

(३) अरस्तू के द्वारा बतलाये गये राज्य-परिवर्तन क्रम को भी दोष-विहीन नहीं माना जाता। माना जा सकता है कि प्राचीन यूनान में ऐसा परिवर्तन-क्रम रहा हो और अन्य देशों में थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ इस परिवर्तन-क्रम को लागू किया जा सकता हो, परन्तु वह सर्वथा दोषमुक्त हो यह नहीं कहा जा सकता। सभी देशों में अरस्तू द्वारा वर्णित आधारों पर ही परिवर्तन नहीं हुए। रूस में १९१७ की क्रान्ति से पूर्व निरंकुश राजतन्त्र (Tyranny) था, जिसका स्थान बाद में मजदूर वर्ग के अधिनायकतन्त्र (Dictatorship of Proletariat) ने ले लिया। इसी प्रकार जर्मनी, इटली तथा स्पेन इत्यादि राज्यों में प्रजातन्त्र के स्थान पर अधिनायकतन्त्र (Dictatorship) की स्थापना की गई।

अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट परिवर्तन क्रम के अन्तर्गत आधुनिक प्रकार की अनेक सरकारें नहीं आ सकतीं। आधुनिक सरकारें विशुद्ध रूप में प्राप्त नहीं होतीं, उसके अधिकांश प्रकार मिश्रित हैं।

(४) अरस्तू के उपर्युक्त राज्य-वर्गीकरण की मुख्य आलोचना तो इस आधार पर की जाती है कि वह आधुनिक राज्यों पर लागू नहीं हो सकती। **अरस्तू का ज्ञान केवल मात्र पुराने यूनान के नगर-राज्यों तक ही सीमित था, वह वर्तमान युग के विभिन्न प्रकार के राज्यों के विकास की कल्पना ही नहीं कर सकता था। अतः वर्तमान युग के राज्यों को अरस्तू के वर्गीकरण के अन्तर्गत रखना न केवल असंगत होगा बल्कि बिल्कुल फिजूल भी।** सीली (Seeley) तथा लीकॉक (Leacock) ने उपर्युक्त आधार पर ही अरस्तू के राज्य-वर्गीकरण की आलोचना की है। आज की सरकारें मिश्रित रूप की हैं, उन्हें किसी भी प्रकार से विशुद्ध राजतन्त्र, प्रजातन्त्र या कुलीनतन्त्र नहीं कहा जा सकता। अफगानिस्तान तथा ग्रेट ब्रिटेन में राजतन्त्र है, परन्तु दोनों राज्यों की राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था में बहुत अन्तर है। ग्रेट ब्रिटेन के सम्राट की स्थिति वैधानिक है और उसके शासकीय अधिकार नाम मात्र के हैं जब कि अफगान बादशाह की ऐसी स्थिति नहीं। फिर पुराने समय के और वर्तमान युग के राजतन्त्रों में बहुत अन्तर है।

संयुक्त राज्य अमेरिका भारत तथा सोवियत रूस की शासन-व्यवस्थाओं में जहाँ कुछ समानताएँ हैं वहाँ कुछेक ऐसे आधारभूत भेद हैं कि उन्हें किसी भी प्रकार एक वर्ग के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। इन सभी राज्यों में संघात्मक (Federal) शासन-व्यवस्था है, परन्तु जहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपतितन्त्र (Presidential) शासन-व्यवस्था है, वहाँ भारत में संसदीय (Parliamentatry)। सोवियत रूस में सैद्धान्तिक रूप से संसदीय शासन-व्यवस्था

है फिर भी अपनी वास्तविक प्रकृति में वह संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत दोनों से ही विभिन्न है।

इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस में भी शासन सम्बन्धी समानताएँ हैं, क्योंकि दोनों में एकात्मक (Unitary) तथा संसदीय (Parliamentary) शासन-व्यवस्थाएँ हैं, फिर भी दोनों ही अपनी वास्तविक प्रकृति में एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं।

वस्तुतः आज का राजनीतिक जीवन बहुत जटिल है, उसकी उतनी सरल और सीधी व्याख्या सम्भव नहीं, जितनी कि अरस्तू के समय में थी। राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र के विशुद्ध रूप नहीं मिल सकते, सभी एक-दूसरे के साथ मिश्रित हो चुके हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन में जनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्थाएँ हैं, परन्तु दोनों ही जगह धनिक वर्ग तथा कुलीनों का इतना अधिक प्रभाव है कि अगर उन्हें कुलीनतन्त्र या वर्गतन्त्र कह दें तो कोई गलत बात नहीं होगी। इसी प्रकार संघात्मक तथा संसदीय शासन-व्यवस्थाओं का मिश्रण रहता है।

अरस्तू ने प्रजातन्त्र शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया था आज हम उससे सर्वथा विभिन्न अर्थ में करते हैं। इसी प्रकार कुलीनतन्त्र और वर्गतन्त्र में भी आज अन्तर नहीं किया जाता। इस तरह अरस्तू की राज्य वर्गीकरण सम्बन्धी व्यवस्था आज की विभिन्न प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं को गृहीत नहीं कर सकती।

अन्त में हमें यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि इन सब कमियों के होते हुए भी अरस्तू का राज्य सम्बन्धी वर्गीकरण मध्यकाल में और आज भी शासकीय वर्गीकरण के आधार रूप में स्वीकार किया जाता है।

९५. अन्य वर्गीकरण

अरस्तू के वर्गीकरण को आधार रूप स्वीकार कर रोमन विचारक सिसरो तथा पोलीबस ने भी राज्यों का वर्गीकरण किया। उन्होंने अरस्तू द्वारा निर्देशित राज्यों के विभिन्न परम्परागत वर्ग मानते हुए मिश्रित सरकार की अवस्थिति को स्वीकार किया। इटेलियन विचारक मैकियावली (Machiavelli) भी उपर्युक्त वर्गीकरण को ही स्वीकार करता है। फ्रेंच विचारक बोदीन राज्य के परम्परागत वर्गीकरण को स्वीकार करता हुआ राजतन्त्र के तीन रूप मानता है। वे हैं अधिनायकतन्त्र (Despotism), राजतन्त्र (Royal monarchy), तथा निरंकुश राजतन्त्र (Tyranny) जहाँ शासक सम्पूर्ण राजकीय तथा प्राकृतिक विधानों का उल्लंघन करता है।

मॉण्टेस्क्यू का वर्गीकरण (Montesquieu's classification)—आधुनिक युग के राजनीतिक विचारकों में मॉण्टेस्क्यू तथा रूसो सर्वप्रथम आते हैं। मॉण्टेस्क्यू का राज्य वर्गीकरण का सिद्धान्त बहुत सीधा-सादा है, उसका आधार प्राचीन वर्गीकरण ही है। मॉण्टेस्क्यू के मतानुसार सरकार के तीन भेद हैं—

(१) गणतन्त्रात्मक (Republican); (२) राजतन्त्रात्मक (Monar-

chical); तथा (३) निरंकुश (Despotic)।

गणतन्त्र के भी दो भेद हो सकते हैं—प्रजातन्त्रात्मक (Democratic) तथा कुलीनतन्त्रात्मक (Aristocratic)। इसी प्रकार निरंकुश शासन भी दो तरह के हैं—पूर्वी तथा पश्चिमी।

गणतन्त्रात्मक शासन के अन्तर्गत राज्य की सम्पूर्ण सत्ता या तो सम्पूर्ण जनता में अवस्थिति होती है या उसके किसी एक भाग में। राजतन्त्र में शासन-व्यवस्था का नियन्त्रण एक व्यक्ति के हाथ में रहता है और वह स्थानीय परम्पराओं तथा व्यवस्थित कानूनों के अनुसार शासन चलाता है। निरंकुश शासन के अन्तर्गत राज्य-व्यवस्था एक आदमी के हाथ में रहती है और वह परम्परागत नियमों का अनुसरण किये बिना अपनी इच्छानुसार शासन चलाता है।

रूसो (Rousseau) सरकारों का विभाजन राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के रूप में करता है। उसने कुलीनतन्त्र के तीन उपविभाजन किये हैं—प्राकृतिक, निर्वाचित तथा वंशानुगत (Hereditary) जिसमें वह निर्वाचित कुलीनतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ तथा वंशानुगत को निकृष्टतम समझता था। रूसो ने मिश्रित सरकार की अवस्थिति को भी स्वीकार किया है।

ब्लंशली का वर्गीकरण (Bluntsehli's classification)—आधुनिक काल के राजनीति-विशारदों द्वारा किये सरकारी वर्गीकरण में ब्लंशली द्वारा किया गया वर्गीकरण भी विशेष प्रसिद्ध है। उसके वर्गीकरण का आधार अरस्तू का वर्गीकरण ही है। परन्तु उसने राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र के अतिरिक्त दैवतन्त्र (Theocracy) की अवस्थिति को भी स्वीकार किया है। दैवतन्त्र के दो रूप हैं—स्वाभाविक तथा विकृत। प्रथम रूप के अन्तर्गत तो राजकीय शक्ति का संचालन जनहित के लिए किया जाता है, जब कि दूसरी स्थिति में केवल मात्र स्वार्थ-साधन के निमित्त।

दैवतन्त्र राज्य के नवीन रूप में अन्य विचारकों द्वारा भी स्वीकार किया गया है। दैवतन्त्र के अन्तर्गत राज्य-शक्ति का स्रोत स्वयं ईश्वर को स्वीकार किया जाता है। इस मत के भी दो स्वरूप हो सकते हैं, एक के अन्तर्गत तो राजा को ही ईश्वर माना गया और दूसरे के अन्तर्गत राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया। प्राचीन काल में राजतन्त्र का समर्थन दोनों ही प्रकार के सिद्धान्तों द्वारा किया गया। ब्लंशली के मतानुसार अबीसीनिया, प्राचीन मिश्र तथा ईरान में दैवतन्त्र मौजूद था। प्राचीन मुस्लिम राज्यों को भी दैवतन्त्र के अन्तर्गत ही गृहीत किया जाता है। वर्तमान काल में इटली का पेपल राज्य तथा तिब्बत दोनों ही दैवतन्त्र कहे जा सकते हैं। इटली के पेपल राज्य का स्वामी पोप है जो दूसरे देशों में अपने प्रतिनिधि भेज सकता है। इसी प्रकार तिब्बत का दलाई लामा धर्मगुरु तथा राजा दोनों ही माना जाता है।

परन्तु राज्यों का ऐसा वर्गीकरण उचित नहीं माना जाता। दैवतन्त्र एक प्रकार का राजतन्त्र ही है।

ब्लंशली राज्यों का एक अन्य वर्गीकरण भी करता है। इस वर्गीकरण के

अनुसार राज्य स्वतन्त्र, अर्द्धस्वतन्त्र तथा परतन्त्र में विभाजित किये गये हैं। इसी प्रकार वह एक तीसरा वर्गीकरण भी करता है जहाँ वह राज्यों के सभ्य राजतन्त्र (Civilised monarchies) कुलपतितन्त्र राज्य (Patriarchal kingships), सामन्तशाही राजतन्त्र (Feudal monarchies), सैन्यतन्त्र, निरंकुश और वैधानिक एकतन्त्र इत्यादि भेद मानता है।

परन्तु ब्लंशली का वर्गीकरण अपूर्ण और भ्रामक है। एक तो वह कोई एक निश्चित वर्गीकरण नहीं कर पाया, दूसरा अरस्तू इत्यादि की तरह ब्लंशली भी राज्य तथा सरकार में भेद नहीं करता। फिर उसने कुछ इस प्रकार के राज्यों का उल्लेख किया है कि जिनकी कहीं अवस्थिति ही नहीं।

जेलिनेक का वर्गीकरण (Jellinek's classification)—आधुनिक राजनीति-विशारदों में जेलिनेक का प्रमुख स्थान है। उसने पूर्वकालीन राज्य वर्गीकरणों की समीक्षा कर उन्हें अपूर्ण ठहराया। उसमें अपने राज्य वर्गीकरण का आधार एक ऐसे नियम को बनाया जिसके अनुसार यह खोजा जा सके कि राज्य की इच्छा का निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है। अगर राज्य की इच्छा का निर्माण एक व्यक्ति द्वारा होता हो तो वह राज्य एकतन्त्र कहलाता है और अगर वह जनसमाज द्वारा निर्मित हो तो वह गणतन्त्र कहलायेगा। इस प्रकार जेलिनेक सम्पूर्ण राज्य समुदाय को दो सुनिश्चित वर्गों में बाँट देता है—(१) एकतन्त्र (Monarchy) तथा गणतन्त्र (Republic)। एकतन्त्र राज्य में प्रभुत्व एक व्यक्ति में नहीं अपितु एक छोटे या बड़े समुदाय में निहित होता है।

जेलिनेक एकतन्त्र के अनेक भेद मानता है जो इस प्रकार हैं—

(१) दैवतन्त्र (Theocracy) के अन्तर्गत राज्यों को ईश्वरीय शक्ति-सम्पन्न समझा जाता है या यह माना जाता है कि वह इस पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है।

(२) वंशक्रमानुगत राजतन्त्र (Patrimonial) में राज्य-शक्ति वंशानुक्रम द्वारा एक से दूसरे व्यक्ति में बदलती रहती है।

(३) निर्वाचित राजतन्त्र (Elective monarchy) के अन्तर्गत राजा का चुनाव होता है।

(४) निरंकुश राजतन्त्र (Absolute monarchy) में राजा स्वेच्छापूर्वक शासन करता है।

(५) वैधानिक राजतन्त्र (Limited monarchy) के अन्तर्गत राज्य शक्ति का संचालन निश्चित विधि-विधान द्वारा होता है।

इसी प्रकार जेलिनेक गणतन्त्र के भी अनेक रूप मानता है। वे रूप इस प्रकार हैं—

(१) प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य (Democratic republic) में राज्य की इच्छा का निर्माण जनता द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से होता है।

(२) कुलीनतन्त्रात्मक गणराज्य (Aristocratic republic) में

राज्य शक्ति का प्रयोग किसी भी एक विशिष्ट वर्ग द्वारा होता है।

इसी प्रकार उसने अल्पतन्त्र, धनिकतन्त्र इत्यादि गणराज्य के अन्य भेदों को भी माना है। गणराज्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें प्रभुसत्ता का आश्रय स्थल एक व्यक्ति न हो सम्पूर्ण समाज या समाज का एक वर्ग होता है। परन्तु उपर्युक्त वर्गीकरण गुणात्मक नहीं संख्यात्मक है। दूसरा वह आधुनिक प्रकार की अनेक शासन-प्रणालियों पर लागू नहीं किया जा सकता।

जेलिनेक की भाँति वॉन मोहल (Von Mohl), वेज (Waitz) तथा बर्गेस (Burgess) इत्यादि राजनीति-विशारदों ने भी राज्य वर्गीकरण के अनेक प्रयत्न किये हैं। परन्तु यह सन्तोषजनक नहीं, क्योंकि उन्हें वर्तमान राज्य पर लागू कर सकना कठिन है।

९६. आधुनिक राज्यों का वर्गीकरण (Classification of modern States)

अंग्रेज विद्वान **सर जे. ए. आर. मेरियट** (Sir J. A. R. Marriot) ने आधुनिक राज्यों का वर्गीकरण वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक ढंग से किया है। वह अरस्तू के वर्गीकरण को आधारभूत मानता हुआ भी उसे आधुनिक राज्यों में प्राप्य भेदों के लिए उपयुक्त नहीं समझता। मेरियट ने राज्य-वर्गीकरण के तीन आधारभूत सिद्धान्त माने हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) शासकीय शक्ति का विभाजन (Division of power)।

(२) संविधान की प्रकृति (Nature of the constitution)।

(३) विधानपालिका तथा कार्यपालिका के सम्बन्ध (Relations between the legislature and the executive)।

(१) अपने प्रथम नियम के अनुसार मेरियट राज्यों को **एकात्मक** (Unitary) **तथा संघात्मक** (Federal) **वर्गों** में बाँटता है। इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन तथा इटली इत्यादि राज्य एकात्मक हैं और संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया, स्विट्ज़रलैण्ड तथा भारत संघात्मक राज्य हैं। एकात्मक शासन के अन्तर्गत सम्पूर्ण शासकीय शक्ति (Administrative power) एक केन्द्र में केन्द्रित होती है। अलग-अलग स्थानीय शासन संघ तथा संस्थाएँ हो सकती हैं, परन्तु उनकी शक्ति का स्रोत केन्द्रीय सरकार ही होती है, और वह उन्हें बना भी सकती है और खत्म भी कर सकती है।

संघीय शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत एक साथ दो शासन-व्यवस्थाएँ मौजूद रहती हैं और राजकीय शक्ति का उन दोनों में समान रूप से बँटवारा रहता है। दोनों सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होती हैं। एक सरकार को हम राष्ट्रीय सरकार या संघीय सरकार कह सकते हैं और दूसरी को स्थानीय। दोनों की शक्तियों का स्रोत संविधान होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत में संघीय सरकारों के अतिरिक्त स्थानीय सरकारें भी हैं जो अपने-अपने क्षेत्र में बिना केन्द्रीय सरकार के

दखल के शासन चलाती हैं।

(२) मेरियट के वर्गीकरण का दूसरा आधार संविधान की प्रकृति है। हम पीछे देख आये हैं कि संविधान दो प्रकार के होते हैं—परिवर्तनशील (Flexible) तथा अपरिवर्तनशील (Rigid)। परिवर्तनशील संविधान के अन्तर्गत साधारण कानून तथा संवैधानिक कानून (Constitutional law) के बीच भेद नहीं किया जाता। ब्रिटेन में साधारण कानून तथा संवैधानिक कानून एक बराबर हैं और वहाँ की पार्लियामेण्ट सब प्रकार के कानून बना सकती है और उनमें सब प्रकार के परिवर्तन भी कर सकती है।

अपरिवर्तनशील संविधान (Rigid constitution) के अन्तर्गत साधारण कानून तथा संवैधानिक कानून में भेद किया जाता है और संवैधानिक कानून के संशोधन तथा परिवर्तन के लिए एक विशेष तथा कठिन प्रक्रिया (Process) को अपनाना पड़ता है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत इत्यादि राज्यों के संविधान कठोर संविधान कहलाते हैं।

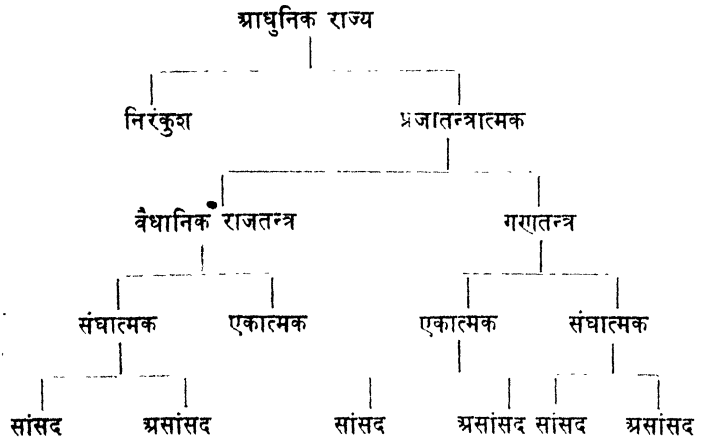
(३) वर्गीकरण का तीसरा आधार विधानपालिका (Legislature) तथा कार्यपालिका (Executive) के पारस्परिक सम्बन्ध हैं। आधुनिक सरकारों के वर्गीकरण का निस्सन्देह यह एक प्रमुख आधार है। इस नियम के आधार पर **सरकारों को राजतन्त्र या अध्यक्षात्मक तथा संसदीय** (Parliamentary) **वर्गों में बाँटा जा सकता है।** अगर कार्यपालिका राज्य की विधानपालिका पर नियन्त्रण करती है और वह विधानपालिका (Legislature) के नियन्त्रण से बिलकुल स्वतन्त्र है तो राज्य शासन-प्रणाली निरंकुश (Despotic) कहलायेगी। अगर कार्यपालिका तथा विधानपालिका की शक्तियाँ लगभग बराबर हैं, तो वह अध्यात्मक सरकार (Presidential government) कहलाती है, जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका में है। इसके विपरीत अगर विधानपालिका कार्यपालिका का नियन्त्रण करती है तो वह सांसद सरकार (Parliamentary government) कहलाती है, जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस तथा भारत में है। इन सभी राज्यों में कार्यपालिका विधानपालिका को अपने कार्यों के लिए जिम्मेवार होती है।

डॉ० लीकॉक का वर्गीकरण (Leacock's classification)—डॉ० लीकॉक का वर्गीकरण भी उतना ही सरल तथा सन्तोषजनक है जितना मेरियट का। परन्तु डॉ० लीकॉक केवल वर्तमानकालीन राज्यों या शासन-प्रणालियो का विवरण देता है, पुरानी शासन-प्रणालियों का जिक्र उसने नहीं किया।

लीकॉक (Leacock) राज्यों को मुख्य रूप से दो वर्गों में बाँटता है—(१) निरंकुश राज्य (Despotic State), तथा (२) लोकतन्त्रात्मक राज्य (Democratic State)। निरंकुश सरकार में शासन-सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में रहती है और वह उसका प्रयोग अपनी इच्छानुसार करता है। जनसामान्य की इच्छा पर वह ध्यान नहीं देता। लीकॉक का विचार है कि निरंकुश राज्य खत्म हो रहे हैं और उनका स्थान लोकतन्त्रात्मक शासन ले रहे हैं।

प्रजातन्त्र के अन्तर्गत शासन-सत्ता जनता के हाथ में रहती है। प्रजातन्त्र के भी अनेक भेद हो सकते हैं। प्रथम भेद है (क) वैधानिक राजतन्त्र (Constitutional monarchy) दूसरा (ख) गणतन्त्र (Republic)। वैधानिक राजतन्त्र के अन्तर्गत सम्राट् की स्थिति रहती है परन्तु वह केवल नाम मात्र का ही राज्याधिकारी होता है। उसकी सम्पूर्ण राजकीय शक्ति का प्रयोग मन्त्रिमण्डल द्वारा किया जाता है, जो कि विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी है। ग्रेट ब्रिटेन का राजतन्त्र वैधानिक राजतन्त्र है।

गणतन्त्र (Republic) के सर्वोच्च राज्याधिकारी का चुनाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा होता है। शासन-प्रणाली के ये दोनों भेद भी अनेक प्रकार के उप-विभागों में बाँटे जा सकते हैं। वे हैं एकात्मक तथा संघात्मक और सांसद तथा अध्यक्षात्मक। इन शासन-प्रणालियों के रूप का संक्षिप्त ब्योरा हम ऊपर दे आये हैं। इस प्रकार डॉ० लीकॉक के मतानुसार हम वर्तमान राज्यों को निम्न प्रकार से विभाजित कर सकते हैं—



Important Questions

Reference

1. Do you agree with the view that the Aristotelian classification of states is unsuited to the facts of modern political organisation ? (*Ag.* 1942, *Nag.* 1942) — Art. 94

2. On what principles should state be classified ? (*Pb.* 1934, *Ag.* 1942)

Or,

How would you classify forms of Government. (*Cal.* 1951) — Arts. 95 & 96

3. Explain the various ways of classifying government. Which of them is best suited to modern conditions and why ? (*Pb.* 1953) — Arts. 95 and 96

4. Attempt a classification of Government, explaining the basis of your classification. (*Pb.* 1951) — Arts. 95 and 96

अध्याय १३

राज्य तथा शासन के भेद (२)

राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र

(Monarchy, Aristocracy and Democracy)

९७. राजतन्त्र (Monarchy)

पीछे हमने शासन के विविध प्रकारों का विवरण दिया है। हम देख चुके हैं कि आधुनिक युग का किया गया राज्यों का वर्गीकरण प्राचीन युग के वर्गीकरण से भिन्न है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र इत्यादि राज्यों के भेद ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं। अरस्तू द्वारा किया गया राज्यों का बँटवारा चाहे आज के युग में राज्यों के वर्गीकरण के लिए उपयुक्त नहीं फिर भी वह ऐतिहासिक दृष्टि से परम सत्य है। अतः राज्यों के ऐतिहासिक विभेद को समझने के लिए इनकी व्याख्या लाजमी है।

राजतन्त्र (Monarchy) संसार की शासन-प्रणालियों में सबसे पुरानी समझी जाती है। राजतन्त्र को सदा ही एक धार्मिक आधार दिया गया है। प्राचीन अविकसित तथा राजनीतिक चैतन्य (Political consciousness)-विहीन समाज में दैवीय शक्तिसम्पन्न या ईश्वरीय आदेशों द्वारा नियुक्त राजाओं की स्थिति ही राजनीतिक समाज के संगठन में परम सहायक हुई। सैनिक शक्ति के महत्त्व के कारण तथा प्रारम्भिक युद्धों के कारण जननायकों का राजपद (Kingship) प्राप्त कर लेना भी सर्वथा स्वाभाविक था। धार्मिक अधिकारियों ने भी अनेक बार धार्मिक शक्ति के साथ-साथ राजनीतिक शक्तियों को हथियाकर राजपद को प्राप्त किया। यह सभी बातें पुराने अविकसित समाजों में स्वाभाविक थी।

राजतन्त्र के रूप (Forms of monarchy)—राजतन्त्र शासन के उस रूप का नाम है जहाँ राजनीतिक शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में होती है। राजतन्त्र के दो मुख्य भेद किये जा सकते हैं—निर्वाचित राजतन्त्र (Elective monarchy) तथा वंशानुगत राजतन्त्र (Hereditary monarchy)। निर्वाचित राजतन्त्र के उदाहरण बहुत थोड़े हैं परन्तु मिलते अवश्य हैं। पूर्व तथा पश्चिम दोनों के इतिहास में निर्वाचन राजाओं के उदाहरण मिल जाते हैं। निर्वाचन के यह प्रकार अवश्य ही आधुनिक निर्वाचन-प्रणालियों से भिन्न थे। अनेक बार तो चुनाव एक वास्तविकता थी अनेक बार वह केवल औपचारिकता मात्र ही। प्राचीन भारत में और अनेक गणराज्यों में प्राप्य राजतन्त्र निर्वाचित राजतन्त्र थे, वहाँ या तो जनता द्वारा या जन-समितियों द्वारा राजा का चुनाव किया जाता था। कहा जाता है प्राचीन-भारत के गणराज्यों के राजा

जनता द्वारा निर्वाचित होते थे। प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों में भी नगर-सभाएँ राज के चुनाव में भाग लेती थीं। हमारे यहाँ अधार्मिक, स्वेच्छाचारी तथा स्वार्थी राजा को पदच्युत कर उसके स्थान पर नये राजा के चुने जाने की शास्त्रीय व्यवस्था मिल जाती है। राज-वंश के विलोप हो जाने पर नये राजाओं के चुने जाने के उदाहरण भी मिल जाते हैं, हमारे यहाँ पालवंश के संस्थापक राजा गोपाल का चुनाव प्रजा द्वारा इन्हीं परिस्थितियों में किया गया था। हाल ही में यूरोप के कुछ देशों में राजाओं के चुनाव किये गये हैं। नार्वे तथा सर्बिया में क्रमशः १९०३ तथा १९०५ में जनता द्वारा राजाओं का चुनाव हुआ। प्राचीन रोम तथा पोलैंड के राजा लोगों का जनता द्वारा चुनाव हुआ करता था।

औपचारिक चुनाव (Formal election) की व्यवस्था धीरे-धीरे वास्तविक चुनाव का स्थान ग्रहण कर लेती है। पुराने जमाने में यही हुआ। भारत में पहले अनेक गणराज्यों के 'गणमुखियों' का चुनाव होता था, धीरे-धीरे यह चुनाव-व्यवस्था केवल उपचार मात्र रह गई। इसी प्रकार रोम तथा अन्य यूरोपीय राज्यों में भी राजाओं के सिंहासनारोहण के समय प्रजा की सहमति औपचारिक रूप से ले ली जाती थी।

निर्वाचित राज-पद का स्थान धीरे-धीरे वंशागत राज-पद ने ले लिया। आजकल सभी देशों में आनुवंशिक राज-पद (Hereditary kingship) की व्यवस्था हो गई है।

राजतन्त्र का एक अन्य वर्गीकरण भी किया जाता है, वह है निरंकुश राजतन्त्र (Absolute monarchy) तथा (२) वैधानिक राजतन्त्र (Constitutional monarchy) निरंकुश राजतंत्र के अर्न्तगत राजा वास्तविक राज्याधिकारी होता है और वह अबाध शक्तिसम्पन्न होता है। उसकी इच्छा ही कानून होती है। ऐसी अवस्था में शासन तथा राज्य का एकीकरण हो जाता है। जब फ्रांस के राजा चौदहवें लुई ने कहा था कि मैं ही राज्य हूँ (I am the State) तो वह अपने आपका राज्य के साथ एकीकरण कर सर्व प्रकार से निरंकुश तथा प्रभुत्वसम्पन्न शासक के रूप में ही कह रहा था।

ऐसे निरंकुश राजाओं के उदाहरणों से तो हमारा इतिहास भरा पड़ा है, भारत में मुगल-सम्राट् निरंकुश राज्य-शक्ति का प्रयोग करते रहे। वर्तमान युग में प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व रूस तथा टर्की में स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश राजतन्त्र की अवस्थिति थी। परन्तु अब तो जनतन्त्रात्मक भावनाओं के प्रसार के फलस्वरूप निरंकुश राजतन्त्र का विलोप हो रहा है। यूरोप में तो प्रायः सभी देशों में या तो राजतन्त्र खत्म हो चुका है या फिर वह निश्चित तथा मर्यादित शक्तिसम्पन्न ही रह गया है। हाँ, अफ्रीका तथा एशिया के कुछेक पिछड़े हुए राज्यों में अभी निरंकुश राजतन्त्र बच रहा है। मध्य एशिया के मुस्लिम राज्यों में अभी भी ऐसे राजतन्त्र के दर्शन हो जाते हैं कि जो अपनी अवस्था में मध्ययुगीन स्थिति से आगे नहीं बढ़ पाये। उनमें वैसी ही विलासिता और ऐय्याशी देखने को मिलती है जैसी कि पुराने बादशाहों के यहाँ

मिल जाती थी। परन्तु यह स्थिति बहुत समय तक नहीं रह सकती। जिस तेजी से जन-जागरण हो रहा है वह निश्चय ही अन्ततः इन सड़ी-गली पुरानी राज्य-व्यवस्थाओं को उखाड़ फेंकेगा।

निरंकुश राजतन्त्र के अनेक गुण माने गये, जिन्हें हम इस प्रकार रख सकते हैं—

(१) राजतन्त्र पुराने असभ्य तथा अविकसित समाजों के लिए विशेष उपयुक्त था। मिल का यह विचार है कि राजतन्त्र राजनीतिक चेतना की दृष्टि से अविकसित समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बहुत उपयुक्त है। असभ्य तथा जंगली जातियों में आज्ञा-पालन की आदत का विकास राजतन्त्र द्वारा ही हुआ। लोगों में राज्य-शक्ति के प्रति प्रारम्भ में पूज्य भाव को उत्पन्न करने के लिए राजाओं के दैवीय अधिकारों के सिद्धान्त को भी विकसित किया गया। मिल ने ही अन्यत्र कहा है **"सुधार के उद्देश्य से प्रेरित होकर तथा उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सहायक उपयुक्त साधनों का यदि प्रयोग किया जा रहा है तो असभ्य तथा बर्बर जातियों के शासन के लिए एकतन्त्र न्यायोचित शासन-प्रणाली है।"**[1]

(२) आपत्तिकालीन स्थिति का मुकाबिला करने के लिए राजतन्त्र सब प्रकार से उपयुक्त माना जाता है। स्वेच्छाचारी शासक को ऐसी स्थिति में अपने आप पर आश्रित होना पड़ता है, विधानपालिकाओं पर नहीं। वह शासन की स्थिरता के लिए स्वयं उत्तरदायी होता है। इस बात का ज्ञान उसे साहस-सम्पन्न करता है। उद्देश्य की एकता के कारण शासक शान्ति-काल में भी प्रजा की उन्नति के लिए विकास-योजनाओं को सख्ती के साथ प्रयोग में ला सकता है।

(३) राज्यतन्त्र की एक बड़ी विशेषता स्थिरता, व्यवस्था तथा नीति की अभंगता होती है। लोग शासन में एकता तथा स्थिरता चाहते हैं, राजतन्त्र के अन्तर्गत इसे अत्यन्त सुविधापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। शक्ति के केन्द्रीकरण के कारण सरकार तथा जनसामान्य में एकता होती है। ह्यूम ने राजतन्त्र के एतद्विषयक गुणों का बड़ा सारपूर्ण विवेचन इन शब्दों में किया है, **"राजतन्त्रों में व्यवस्था, साधन तथा (नीति की) अभंगता की आश्चर्यजनक प्रवृत्ति पाई जाती है। उनमें शक्ति-संगठन की सरलता, शीघ्रतापूर्वक कार्य करने की सामर्थ्य, परामर्श की एकता, नीति की अभंग स्थिरता तथा वैदेशिक सम्बन्धों के निर्वाह में एक प्रकार की श्रेष्ठता होती है।"**[2] शासन में एकता तथा बल की प्राप्ति का मुख्य कारण यह है कि सभी राज्याधिकारी एक ही व्यक्ति के प्रति जिम्मेवार होते हैं, जो उनसे कठोरतापूर्वक आज्ञा

---

1. "Despotism is a legitimate mode of government for dealing with barbarians, provided the end be their improvement and the means be justified by actually affecting that end."—*J. S. Mill.*

2. "Monarchies are found susceptible of order, method and consistancy to a surprising degree. They possess element of strength, simplicity of organisation, ability to act quickly, unity of counsels, continuity and consistency of policy and a certain prestige in the conduct of foreign relations."—*Hume.*

पालन करवा सकता है।

(४) राजतन्त्र के अन्तर्गत पार्टीबाजी नहीं हो पाती, राज्य-शक्ति पर काबू पाने के लिए किसी में मुकाबला नहीं होता। ऐसी अवस्था में राजा समाज के सभी वर्गों के प्रति न्यायपूर्ण दृष्टिकोण रख उन सब में समता उत्पन्न कर सकता है। पार्टीबाजी से ऊपर उठे हुए होने के कारण राजा अपने मन्त्रियों का चुनाव विवेक-पूर्वक करता है। अपने राज्य के योग्यतम व्यक्तियों को अपने मन्त्रिमण्डल का सदस्य बना वह बड़ी अच्छी तरह शासन-व्यवस्था चला सकता है।

(५) यह कहा जाता है कि मानवीय इतिहास का एक बड़ा भाग राजतन्त्र का ही इतिहास है। समाज के प्रारम्भ से लेकर वर्तमान युग तक राजतन्त्रों के अधीन ही साहित्य-कला तथा विज्ञान फूले और फले हैं। अशोक, हर्ष, अकबर, शाहजहाँ इत्यादि भारतीय शासकों के शासन-काल में कला तथा साहित्य ने आश्चर्यजनक उन्नति की। दर्शन, धर्म तथा नैतिक नियमों के विकास और प्रचार में राजतन्त्र का विशेष सहयोग रहा है। इसी प्रकार इंग्लैण्ड में महारानी एलिजाबेथ तथा फ्रांस में चौदहवें लुई के समय जो कला तथा साहित्य की उन्नति हुई वह बाद में न हो सकी। पीटर महान् के समय में ही रूस अर्द्धसभ्य अवस्था से निकल सभ्य राष्ट्रों की श्रेणी में आ सका। ये सम्राट प्रजा द्वारा कभी नहीं चुने गये फिर भी इन लोगों ने जनसामान्य की सुख-सुविधा के लिए तथा उनके सांस्कृतिक विकास के लिए अमूल्य सेवाएँ कीं। राजा तथा प्रजा में पिता-पुत्र-सा सम्बन्ध रहा।

इन गुणों के बावजूद भी और इस तथ्य के बावजूद भी कि प्लेटो तथा अरस्तू जैसे पुराने विचारकों ने राजतन्त्र को ही सदा आदर्श शासन-प्रणाली माना आज राज-तन्त्र को उपयुक्त शासन-व्यवस्था नहीं समझा जाता। एक समय था जब कि व्यापारी वर्ग ने सामन्तीय समाज की अस्थिरताओं तथा अत्याचारों से बचने के लिए निरंकुश राज-तन्त्रों का समर्थन किया। उस समय लोगों में राजनीतिक चेतना का विकास नहीं हुआ था, लोग अशिक्षित तथा निर्धन थे। बाद में इसी समुन्नत व्यापारी वर्ग ने राजतन्त्रों का विरोध कर लोकतन्त्र राज्यों का समर्थन किया। निरंकुश **राजतन्त्र की आलोचना निम्नलिखित आधार पर की जाती है—**

(१) आनुवंशिक राजतन्त्र (Hereditary monarchy) को किसी भी प्रकार उचित तथा तर्कसम्मत शासन-प्रणाली नहीं कहा जा सकता। अगर मानवीय इतिहास का अधिकांश भाग राजतन्त्र का इतिहास है तो राजतन्त्र के इतिहास का अधिकांश भाग अयोग्य, विवेकहीन और मूर्ख राजाओं से भरा पड़ा है। अच्छे राजा का मिलना तो एक आकस्मिक घटना मात्र है। यह आवश्यक नहीं कि एक अच्छे तथा बुद्धिमान राजा का उत्तराधिकारी भी उतना ही सुयोग्य तथा बुद्धिमान हो। राजतन्त्र तो आनुवंशिक है परन्तु राजतन्त्र के चलाने के लिए आवश्यक गुण आनुवंशिक नहीं हो सकते। अकबर हमारे देश के महान् और योग्य शासकों में गिना जाता है, परन्तु उसके उत्तराधिकारी शराबी, व्यसनी, धर्मान्ध, अत्याचारी तथा सब प्रकार से अयोग्य शासक थे। इसी प्रकार अन्य देशों का इतिहास भी इसी तथ्य की

पुष्टि में गवाही देता है।

(२) राजतन्त्र सदा ही स्वेच्छाचारी (Tyranny) शासन के रूप में बदल जाता है। उसमें अनेक विकार हो जाते हैं। राजा मानवीय कमजोरियों से युक्त होता है अतः कोई बड़ी बात नहीं कि वह अपने मन्त्रियों, मित्रों तथा सम्बन्धियों द्वारा कुमार्ग पर चलाये जायँ। इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जहाँ कमजोर शासक अपनी प्रजा के सुख-दुख का विचार न रख मन्त्रियों की या स्वार्थी दरबारियों की सलाह से प्रजा पर अत्याचार करते हैं।

(३) राजतन्त्र के अन्तर्गत भौतिक सुख-सुविधा का बँटवारा सदा असमानता-पूर्वक किया जाता है। अधिकांश में भौतिक सुविधाएँ राज-परिवार, सैनिक सरदार तथा दरबारियों के हाथ पड़ती हैं जब कि प्रजा गरीबी में दिन काटती है। मुगल बादशाहों ने अपनी मामूली-मामूली इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रजा के धन को सदा बेरहमी से इस्तेमाल किया। शाहजहाँ ने अपनी प्रेमिका के स्मारक के लिए करोड़ों रुपया व्यय कर दिया और जनसाधारण के आर्थिक मानदण्ड को उन्नत करने के लिए कुछ भी न किया।

वस्तुतः राजा लोग जन-हित और अपने स्वार्थों का एकीकरण करते हैं। वे समझते हैं कि उनके वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति का अर्थ ही जन-कल्याण है।

(४) राजतन्त्र की व्यवस्था समाज में असमानता को उत्पन्न करती है। वह जनसाधारण को राजनीतिक शिक्षा से वंचित करती है और उन्हें शासन में कोई भाग नहीं देती। राजतन्त्र एक स्वस्थ, चतुर तथा सचेत नागरिकता उत्पन्न नहीं कर सकता। एक बुद्धिसम्पन्न शासक अच्छे कानून बना सकता है, वह सुचारू रूप से शासन-व्यवस्था भी चला सकता है, परन्तु शासन की सुव्यवस्था ही एक अच्छी सरकार का सब कुछ नहीं। आज तो जनसामान्य अच्छी सरकार नहीं अपितु स्व-शासन (Self-government) चाहता है।

(५) आज की शासन-समस्याएँ बहुत ही उलझी हुई हैं, वह हमारे समाज के जीवन के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित हैं। ऐसी अवस्था में राजतन्त्र उनके सुलझाव में सफल नहीं हो सकता। पुराने समाज अपने संगठन में सरल थे, उनकी समस्याएँ सीधी और सरल थीं, सामाजिक जीवन में ग्रुपों की अवस्थिति इतनी ज्यादा नहीं थी जितनी आज है, अतः ऐसी शासन-व्यवस्था से गुजारा हो सकता था जिसमें अधिक श्रम-विभाजन न हो। परन्तु वर्तमान अवस्था में ऐसा सम्भव नहीं। आज कार्य-विभाजन तथा श्रम-विभाजन की आवश्यकता है। कानून निर्माण करने के लिए, उनको लागू करने के लिए तथा उनकी व्याख्या के लिए अलग-अलग व्यक्तियों की या व्यक्ति-समुदायों की अवस्थिति आवश्यक समझी जाती है। अतः आज निरंकुश राजतन्त्र को एक समयोपयोगी शासन-व्यवस्था नहीं समझा जाता।

वैधानिक राजतन्त्र (Limited monarchy)—राजतन्त्र का दूसरा रूप वैधानिक या सीमित राजतन्त्र है। सीमित राजतन्त्र को तो वस्तुतः प्रजातन्त्र का ही एक रूप कहना चाहिए, क्योंकि इसके अन्तर्गत वास्तविक शक्ति का प्रयोग

जनता द्वारा चुने प्रतिनिधि ही करते हैं । सीमित राजतन्त्र में राजा की शक्ति पर वैधानिक पाबन्दियाँ भी लगा दी जाती हैं, यह पाबन्दियाँ लिखित तथा अलिखित दोनों ही रूप में मिल जाती हैं । संवैधानिक राजतन्त्र का विकास होता है, निर्माण नहीं ।

प्राचीन भारत के इतिहास में भी यत्र-तत्र वैधानिक राजतन्त्र के उदाहरण मिल जाते हैं । अत्याचारी, विलासी तथा धर्म-द्रोही राजाओं को पदच्युत करने का अधिकार प्रजा को दिया गया है । आधुनिक युग में ग्रेट ब्रिटेन का राजतन्त्र सीमित राजतन्त्र का सर्वप्रसिद्ध उदाहरण है । इंग्लैण्ड में बहुत समय तक राजा तथा प्रजा में संघर्ष होता रहा और अन्त में १६८८ में प्रजा सीमित राजतन्त्र की स्थापना में सफल हो सकी । अब वहाँ सम्राट की स्थिति कानून से ऊपर नहीं । फ्रेंच-क्रान्ति के बाद लोकतन्त्र की भावनाओं के प्रसार के फलस्वरूप धीरे-धीरे लगभग सभी यूरोपीय राजतन्त्र संवैधानिक राजतन्त्र हो गये ।

संवैधानिक राजतन्त्र निरंकुश राजतन्त्र से कई बातों में श्रेष्ठ है । संवैधानिक राजतन्त्र तथा जनतन्त्र दोनों के गुणों का मिश्रित रूप है । सीमित राजतन्त्र जहाँ शासन-व्यवस्था में स्थिरता तथा संयम उत्पन्न करता है, वहाँ वह प्रजा को भी शासन में भाग लेने का अधिकार देता है । सम्राट् काफी लम्बे अर्से तक शासन-व्यवस्था के संचालन की देख-भाल करते रहते हैं, जब कि मन्त्री लोग बदलते रहते हैं, ऐसी अवस्था में वे संकटकालीन स्थिति में मन्त्रिमण्डल का उचित पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं । राजा का प्रशासनविषयक अनुभव सदा ही मन्त्रिमण्डल के काम आ सकता है । पार्टीबाजी से ऊपर होने के कारण केवल राजा ही विभिन्न राजनीतिक तथा आर्थिक प्रश्नों पर निष्पक्ष तथा स्वतन्त्र विचार प्रगट कर सकता है । विभिन्न दलों के पारस्परिक झगड़ों को निपटा सकता है । राज्य का प्रत्यक्ष प्रधान होने के कारण वह जनसामान्य की राज्य-भक्ति का केन्द्र होता है । लोगों के लिए एक विशेष व्यक्ति के प्रति स्वामि-भक्त होना अधिक आसान होता है । विधान-परिषदों के प्रति ऐसा सम्भव नहीं हो सकता । आज भी इंग्लैण्ड के सम्राट् के दर्शन के लिए स्वामि-भक्त जनता उमड़ पड़ती है, और उसके नाम पर सब कुछ करने के लिए तैयार हो जाती है । परन्तु संवैधानिक राजतन्त्र भी सर्वथा दोषमुक्त नहीं । राज-पद पैतृक होता है । किसी भी राजनीतिक अधिकारी का पैतृक होना किसी भी प्रकार से न्यायोचित तथा तर्कसम्मत नहीं ठहराया जा सकता । आज के युग में राजनीतिक शक्ति जनसामान्य के हाथ में रहती है, वह राजतन्त्र के प्रति उदासीन है और गणतन्त्र के ही अधिक पक्ष में है । राजतन्त्र नवीन युग के लिए उपयुक्त ही नहीं है ।

९८. कुलीनतन्त्र (Aristocracy)

प्लेटो तथा अरस्तू के मतानुसार गुणसम्पन्न कुलीन वर्ग का शासन सर्वोत्तम शासन है । अरस्तू ने कुलीनतन्त्र को योग्यतम व्यक्तियों का शासन माना है । वस्तुतः प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों का शासन कुछ चुने हुए व्यक्तियों के हाथ में होता था, ये लोग सम्पत्तिशाली होने के कारण, शिक्षा, संस्कृति, कला तथा साहित्य, दर्शन तथा

राजनीति में विशेष रुचि रखते थे। अरस्तू ने यह तो स्पष्ट नहीं किया कि उसका 'कुलीनता' से क्या अभिप्राय है, या उसके 'योग्यतम' व्यक्ति कौन हैं। निश्चय ही यूनानी दार्शनिक कुलीनतन्त्र को चन्द व्यक्तियों का शासन समझते थे जो कि शासन-व्यवस्था को अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए नहीं अपितु सर्वसाधारण के कल्याण के लिए इस्तेमाल में लाते थे।

आज कुलीनतन्त्र को चन्द व्यक्तियों का शासन कहना ठीक नहीं समझा जाता। क्योंकि लोकतन्त्र में भी सम्पूर्ण समाज को राज्य-शासन में हिस्सा नहीं दिया जाता। अनेक ऐसे वर्ग हैं, जिन्हें राजनीतिक अधिकार नहीं दिये जाते। अनेक राज्यों में स्त्रियों, अशिक्षितों, सैनिकों, दिवालियों, निर्धनों और अनेक अन्य वर्गों को वोट देने का अधिकार नहीं होता। अतः शासन व्यवस्था केवल कुछेक लोगों द्वारा ही नियन्त्रित की जाती है। इंग्लैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में यद्यपि वोट देने का अधिकार काफी संख्या में लोगों को मिला हुआ है, फिर भी शासन-व्यवस्था का नियन्त्रण केवल एकाध विशिष्ट वर्ग के हाथ में रहता है। आज के प्रजातन्त्र राज्यों को अल्पतन्त्र कहना अधिक उपयुक्त है।

प्रो० जेलिनेक (Jellinek) ने कुलीनतन्त्र की पुरानी परिभाषा को स्वीकार नहीं किया। उसने कुलीनतन्त्र को जनतन्त्र का ही एक प्रकार स्वीकार किया है। कुलीनतन्त्र के सामाजिक पक्ष पर बल देते हुए जेलिनेक ने उसे एक वर्ग का शासन माना है। कुलीनतन्त्र के शासन का आधार निम्नलिखित वर्ग हो सकते हैं—पुरोहित, सैनिक, ज़मींदार तथा व्यापारी या धनिक वर्ग। जेलिनेक का यह विचार वैज्ञानिक तथा तर्कसंगत है। प्राचीन भारत में अधिकांश गणतन्त्र वर्गतन्त्र ही थे, यही नहीं राजतन्त्रों में राजा लोग ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के सहयोग से ही शासन चलाते थे। पुराने यूनान में राज-काज एक ऐसे नागरिक वर्ग के हाथ में था जो कि समाज का धनी तथा समृद्ध वर्ग था। भारत के यौधेय, क्षत्रिय तथा क्षुद्रक इत्यादि गुणों में सैनिक वर्ग का शासन था। प्राचीन रोम में कुलीन समझे जाने वाले पेट्रीशियन लोग ही शासन करते थे। प्रशा में प्रथम युद्ध से पूर्व सैनिक वर्ग का ही शासन रहा और आज भी नेपाल तथा अफगानिस्तान में शासन-सत्ता एक ही वर्ग के हाथ में है। वर्तमान युग के प्रारम्भ के बहुत अर्से बाद भी इंग्लैण्ड में राजनीतिक शक्ति बड़े-बड़े जमींदारों के हाथ में ही रही है। दक्षिण अफ्रीका में राज्य-शक्ति का केन्द्र गोरी जातियाँ ही हैं जब कि जाति तथा रंग के ही आधार पर अन्य जातियों को राजनीतिक शक्ति से वंचित रखा गया है

पुराने राजतन्त्र भी वस्तुतः कुलीनतन्त्र ही थे। राजा लोग सैनिक वर्ग या पुरोहित वर्ग की सहायता से ही राज-काज चलाते थे।

अरस्तू ने कुलीनतन्त्र के विकृत रूप को वर्गतन्त्र (Oligarchy) कहा है। परन्तु आज तो ऐसा भेद नहीं माना जाता। वर्गतन्त्र का वस्तुतः अर्थ धनिक या समृद्ध वर्ग का शासन है। आज के प्रजातन्त्र भी धनिक वर्ग के ही शासन बन गये हैं। इंग्लैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में धनिक वर्ग ही प्रजातन्त्र की सम्पूर्ण मशीनरी

पर नियन्त्रण करता है । अतः आज इन्हें वर्गतन्त्र या धनिक वर्ग का शासन (Plutoeracies) कहना ही अधिक उपयुक्त है ।

कुलीनतन्त्र के गुण—मानवीय इतिहास में कुलीनतन्त्र का एक विशेष स्थान है । प्रायः सभी राज्यों में किसी न किसी रूप में कुलीनतन्त्र की अवस्थिति रही है, कहीं जन्म के आधार पर तो कहीं पेशे के आधार पर राजकीय शक्ति का नियन्त्रण कुछ एक खास लोगों ने किया । राजतन्त्र के अन्तर्गत भी राजा लोग अपनी शक्ति के लिए कुलीन वर्ग, सैनिक वर्ग या जमींदारों पर आश्रित होते थे । सर्वत्र प्रजातन्त्र के विकास से पूर्व कुलीनतन्त्र वर्तमान रहा है । पहले राजनीतिक चेतना का थोड़े से लोगों में केन्द्रित होना अस्वाभाविक बात नहीं थी ।

कुलीनतन्त्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह संख्यात्मक सिद्धान्त की बजाय स्वस्थ गुणात्मक सिद्धान्त पर आधारित है । वह उपयुक्ततम व्यक्तियों का शासन है । राज-काज का काम विशेष निपुणता का काम है । साधारण जनता राज्य की गम्भीर समस्याओं को समझने में असमर्थ होती है, प्रतिभासम्पन्न लोगों की संख्या तो थोड़ी होती ही है अतः कुलीनतन्त्र गुणात्मकता की दृष्टि से प्रजातन्त्र की अपेक्षा उच्च होता है ।

कुलीनतन्त्र में शासन-शक्ति उन चन्द व्यक्तियों के हाथ में होती है, जो शिक्षित तथा धनी होते हैं । धनी होने के कारण उन्हें आर्थिक लालच पथभ्रष्ट नहीं कर सकते ।

कुलीन तन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था अपेक्षाकृत संयमशील होती है, वह जल्दबाजी में आकस्मिक परिवर्तन में यकीन नहीं करती । सदियों से चले आते पुराने रस्मो-रिवाज को और शासन के तरीकों को वे जल्दी में कभी नहीं बदलते । इसी का यह फल होता है कि राज्य-व्यवस्था सुस्थिर होती है, राज-नीति अटूट तथा अभंग होती है और राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था बनी रहती है ।

जनतन्त्र की अपेक्षा कुलीनतन्त्र अधिक प्रकृत शासन-व्यवस्था है । यह कहा जाता है कि सर्वत्र मूर्खों तथा नासमझ लोगों की अधिकता होती है, प्रकृति ने सभी को बराबर नहीं बनाया । इस प्राकृतिक असमानता को मिटाने का प्रयत्न मूर्खतापूर्ण है और वह सदा असफल रहता है । प्रजातन्त्र के प्रचलन के बावजूद भी व्यावहारिक रूप से शासन-शक्ति इने-गिने लोगों के हाथ में ही केन्द्रित रहती है । प्रायः सभी लोकतन्त्रात्मक राज्यों में किसी न किसी रूप में कुलीनतन्त्र के तत्त्व मौजूद रहते हैं, और ऐसा विचारपूर्वक किया जाता है ।

कुलीनतन्त्र के दोष—कुलीनतन्त्र में भी अनेक कमजोरियाँ हैं । इस बात से तो इनकार नहीं किया जा सकता कि शासन-व्यवस्था गुणी तथा निपुण लोगों के हाथ में होनी चाहिए । परन्तु इन योग्य व्यक्तियों का चुनाव कैसे हो सकता है ? इसकी सबसे बड़ी कमजोरी राजनीतिक सत्ता के प्रयोग करने वाले वर्ग के चुनाव करने की स्वस्थ प्रणाली के स्थिर करने की कठिनाई है । जन्म, कुल, धन इत्यादि अनेक आधार हैं जिन द्वारा चुनाव सम्भव है । परन्तु किसी धनी या उच्च परिवार में जन्म लेने के

कारण ही कोई मनुष्य शासन-शक्ति के प्रयोग के लिए योग्य नहीं हो जाता, धन के आधिक्य का भी कभी यह परिणाम नहीं हुआ कि धनी लोग सब प्रकार से सुसंस्कृत और श्रेष्ठ हों, और वह अर्थ-प्राप्ति के लालच से सर्वथा ऊपर हों। अक्सर गरीब आदमी अधिक मेहनती, सच्चे और ईमानदार होते हैं, चरित्र की उच्चता धन तथा जन्म पर आधारित नहीं होती। सैनिकों में भी आवश्यक नहीं प्रशासकीय गुण हों। एक सफल सैनिक जरूरी नहीं एक सफल शासक भी हो।

कुलीनतन्त्र में धीरे-धीरे अनेक विकार पैदा हो जाते हैं। इतिहास यह साबित करता है कि जब कभी किसी एक वर्ग के हाथ में राजकीय शक्ति केन्द्रित हो जाती है तो वह उसका प्रयोग अपने वर्गगत स्वार्थों के लिए ही करता है, और जनसामान्य के कल्याण के लिए नहीं। कुलीन लोग अपने स्वार्थों की पूर्ति में ही जन-सामान्य का कल्याण समझने लग जाते हैं। धीरे-धीरे कुलीनतन्त्र धनी-मानी लोगों का शासन बन जाता है और वह जनसामान्य का प्रतिनिधित्व न कर वंशानुगत (Hereditary) हो जाता है। राजनीतिक दृष्टि से किसी भी शासन का वंशानुगत होना कभी भी ठीक नहीं समझा जा सकता। धीरे-धीरे कुलीन तथा धनी लोगों में ऐसी उद्धत प्रकृति का जन्म हो जाता है कि वे अपने आपको प्रकृत्या श्रेष्ठ तथा उच्च मानने लग जाते हैं और निर्धन लोगों से नफरत करने लगते हैं। इस प्रकार का दृष्टि-कोण ही जन-क्रान्तियों का जनक होता है।

कुलीनतन्त्र अपेक्षाकृत अनुदार और परम्परावादी होता है। बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप उसमें परिवर्तन नहीं हो पाता। उसमें अप्रगतिशीलता आ जाती है।

कुलीनतन्त्र में सदा पार्टीबाजी रहती है, राजकीय शक्ति को हथियाने के लिये वे आपस में लड़ते-झगड़ते रहते है। परिणामस्वरूप राज्य में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है, अच्छे कानून नहीं बन पाते, राज्य की उन्नति तथा प्रगति रुक जाती है। सभी देशों के पुराने कुलीनतन्त्र पारस्परिक कलह तथा अन्य राजनीतिक बुराइयों के शिकार होते रहे हैं।

राजतन्त्र की तरह कुलीनतन्त्र भी साधारण प्रजा को राज्य-संचालन में कोई हिस्सा नहीं देता, इस प्रकार वह उन्हें राजनीतिक जीवन तथा स्वशासन विषयक शिक्षण से वंचित करता है।

वर्तमान युग में कुलीनतन्त्र का समर्थन दकियानूसीपन तथा अनुदारता का लक्षण समझा जाता है। जनसाधारण में राजनीतिक चेतना के विस्तार के फलस्वरूप लोग किसी भी ऐसी राजनीतिक व्यवस्था को पसन्द नहीं करते जिसके संचालन में जनसाधारण को कोई हिस्सा न मिला हुआ हो। असमानता के सिद्धान्त को अप्रगतिशील तथा अतार्किक सिद्धान्त माना जाता है। जन्म, धन अथवा पद की उच्चता राजनीतिक शक्ति के प्रयोग के लिए किसी प्रकार की विशेष योग्यता है, यह बात बिलकुल गलत है। प्राकृतिक असमानता को मानते हुए भी हम सामाजिक शिक्षण और परिस्थितियों की अनुकूलता के महत्त्व से इनकार नहीं कर सकते। उपयुक्त परिस्थितियों

में प्राकृतिक असमानताएँ भी धीरे-धीरे महत्त्वहीन हो जाती हैं।

राज्य में विशेष प्रकार के निपुण तथा गुणी वर्ग को महत्त्व अवश्य दिया जाना चाहिए। शिक्षा तथा संस्कृति का भी महत्त्व होना चाहिए। अनुभवी शासकों को राज्य-संचालन के कार्य में विशेष रूप से जगह दी जा सकती है, परन्तु उन्हें सम्पूर्ण शासन-शक्ति का केन्द्र किसी भी प्रकार से नहीं बनाया जा सकता।

९९. प्रजातन्त्र (Democracy)

प्रजातन्त्र आज की सर्वाधिक लोकप्रिय शासन-प्रणाली है। विश्व के प्रायः सभी उन्नत तथा प्रगतिशील राज्यों में प्रजातन्त्र का ही प्रचलन है। परन्तु प्रजातन्त्र का रूप क्या है, उसकी आवश्यकताएँ क्या हैं और उसकी परिभाषा क्या है, ये सभी प्रश्न बड़े पेचीदा हैं। इनके उत्तर सदा ही अलग-अलग ढंग से दिये गये हैं। प्लेटो तथा अरस्तू के समय से लेकर आज तक प्रजातन्त्र के स्वरूप विवेचन के अनेक प्रयत्न किये गये हैं, परन्तु उन सभी के परिणाम भिन्न हैं। प्रत्येक युग तथा समाज की परिस्थितियों ने प्रत्येक युग के विचारक के दृष्टिकोण को रंग दिया है। आज के युग के बड़े-बड़े जनतन्त्रवादी रूजवेल्ट, चर्चिल, गांधी, नेहरू, जयप्रकाश तथा आचार्य नरेन्द्रदेव इत्यादि भी जनतन्त्र की कोई एक ऐसी परिभाषा नहीं कर सके जो सर्वमान्य हो।

दरअसल प्रजातन्त्र का रूप बदलता रहा है, यदि वह प्रणाली रूप में नहीं बदला तो कम से कम अपने आधारभूत दर्शन में वह अवश्य बदलता रहा है। प्लेटो तथा अरस्तू के प्रजातन्त्र का स्वरूप जॉन लॉक, बेन्थम तथा मिल से भिन्न था। इसी प्रकार रूसो तथा ग्रीन ने प्रजातन्त्र विषयक जो धारणाएं रखीं वह सिडनी वेब, जार्ज बर्नार्ड शॉ, कोल, जोड, गांधी, नेहरू, रसेल और अन्य आधुनिक विचारकों की धारणाओं से भिन्न है। बेन्थम तथा मिल ने प्रजातन्त्र की समुचित व्याख्या की, ग्रीन ने उसे अधिक प्रगतिवादी तथा आदर्शात्मक बनाया जब कि आज का विचारक उसे केवल मात्र राजनीतिक ही नहीं एक सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था के रूप में भी देखता है।

१००. प्रजातन्त्र की परिभाषा

परिभाषा द्वारा किसी भी वस्तु या विषय के स्वरूप को समझाने की प्रवृत्ति बहुत पुरानी है। प्रजातन्त्र की परिभाषाएँ भी बहुत पुरानी मिल जाती हैं। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रजातन्त्र की ये सब परिभाषाएं केवल मात्र विचारक की एतद्विषयक धारणा का ही फल हैं, वह प्रजातन्त्र सम्बन्धी सम्पूर्ण सत्य को व्यक्त नहीं कर पातीं।

अरस्तू प्रजातन्त्र को जनसामान्य का शासन मानता है, वे संख्या में अधिक होते हैं और निर्धन भी। वस्तुतः अरस्तू के मतानुसार प्रजातन्त्र बहुसंख्यक निर्धनों का शासन है। आधुनिक राजनीति-विशारदों में प्रो० **सीली** (Seeley) की एतद्-

विषयक परिभाषा इस प्रकार है **"जनतन्त्र वह शासन-व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का भाग हो।"**[1] सुप्रसिद्ध अमेरिकन विचारक तथा राजनीतिक नेता **अब्राहम लिंकन** ने लोकतन्त्र की एक बहुत ही सरल और अनूठी व्याख्या की थी, वह आज भी सर्वप्रिय है। उसके अनुसार **"प्रजातन्त्र जनता की सरकार है और जनता के द्वारा है और जनता के लिए है।"**[2]

डायसी के अनुसार **"लोकतन्त्र वह शासन-व्यवस्था है जिसमें राष्ट्र का अधिकांश भाग शासक हो।"**[3]

लार्ड ब्राइस ने कहा है, **"हेरोडोटस के समय से ही 'प्रजातन्त्र' शब्द का प्रयोग शासन के उस स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए किया जाता रहा है जिसमें शासन-शक्ति किसी एक विशेष श्रेणियों में नहीं अपितु समाज के सदस्यों में समूह रूप से स्थित होती है।"**[4]

प्रो० ए० बी० हाल ने प्रजातन्त्र की परिभाषा इस प्रकार की है, **"अन्तिम विश्लेषण और सम्पूर्ण व्यावहारिक कार्यों के लिए लोकशासन राजनीतिक संगठन का वह रूप है जिसमें लोकमत के हाथ में नियन्त्रण होता है।"**

मिस फॉलेट प्रजातन्त्र को **जन राज्य समझते हुए उसे एक आध्यात्मिक आदर्श मानती हैं।**[5]

प्रजातन्त्र शब्द का अर्थ—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र ऐसी शासन-प्रणाली है जो कि जनसामान्य तथा जन-हित का प्रतिनिधित्व करती है, और जनसहमति पर आधारित है।

हिन्दी का प्रजातन्त्र शब्द अंग्रेजी के Democracy शब्द का पर्यायवाची है। अंग्रेजी का 'डेमोक्रेसी' (Democracy) शब्द यूनानी भाषा के 'डेमॉस' (Demos) तथा 'क्रेशिया' (Cratia) दो शब्दों से मिलकर बना है। जिसका अर्थ है जनता (Demos) का 'शासन' (Cratia) अतः शाब्दिक दृष्टि से प्रजातन्त्र का अर्थ जनता का राज्य है।

---

1. 'Democracy is a government in which everyone has a share." —*Seeley.*

2. "Democracy is a government of the people, for the people and by the people."—*Lincoln.*

3. "Democracy is a form of government, in which the governing body is comparatively a large fraction of the entire nation."—*Diecy.*

4. "The word democracy ever since the time of Herodotus has been used to denote that form of government in which the ruling power of the State is vested not in a particular class or classes, but in the members of the community as a whole."—*Bryce.*

5. "Democracy is the rule of an interacting, impemeating whole.....Democracy is the fullest possible acceptance of the single life."—*M. P. Follet.*

१०१. प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का विकास

प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का विकास विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत हुआ है। शासन-प्रणाली की दृष्टि से प्रजातन्त्र भी उतना ही पुराना लगता है जितना कि राजतन्त्र। ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व प्लेटो तथा अरस्तू ने प्रजातन्त्र का विवेचन किया है, इस से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों राजनीति-विशारदों से पूर्व भी प्रजातन्त्र की अवस्थिति अवश्य थी। चीन तथा भारत में तो इससे पूर्व भी जनता द्वारा निर्वाचित गणतन्त्रों की मौजूदगी मानी जाती है। डा० बेनीप्रसाद ने वैदिक काल तथा महाभारत काल में अनेक गणतन्त्रों की अवस्थिति को स्वीकार किया है। इसी प्रकार बौद्ध काल में भी ऐसे नगर थे जिनके शासकों का चुनाव प्रजा या प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा होता था, सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० जायसवाल ने इस बात का जोरदार समर्थन किया है।

इसी प्रकार पुराने चीन में भी मनुष्य मात्र की अनिवार्य समानता को स्वीकार किया जाता था। साथ ही यह भी माना जाता था कि जनता ही राज्य-शक्ति का अन्तिम स्रोत है अतः अगर राजा अनैतिक कर्म करे तो जनता को उसे पद्च्युत करने का अधिकार है। इसी प्रकार मध्यकालीन यूरोप ने हिब्रू तथा बर्बर जातियों के संसर्ग से प्रजातन्त्र के पाठ को पढ़ा।

अधिकांश में यह माना जाता है कि प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का विकास पुराने ग्रीस के नगर-राज्यों में ही हुआ और उन्ही के आदर्श पर बाद में यूरोप के अन्य देशों में प्रजातन्त्र शासन-व्यवस्था कायम की गई। ग्रीस के नगर-राज्यों का गणतन्त्रवाद बहुत संकुचित था। जनसाधारण को उसमें भाग लेने का अधिकार नहीं था। दासों, मजदूरों तथा व्यापारियों को शासकों के निर्वाचन में कोई भाग नहीं दिया गया था।

लोकतन्त्र की आधुनिक धारणा का विकास सर्वप्रथम इंगलैंड में हुआ, और तत्पश्चात् फ्रांस में। राष्ट्रीय राज्यों के विकास के अनन्तर इंग्लैंड तथा फ्रांस में एक ऐसे व्यापारी वर्ग का जन्म हो गया था कि जिसने प्राचीन काल से चली आ रही राजतंत्र सम्बन्धी सम्पूर्ण धारणाओं का खण्डन किया और शासन-व्यवस्था को नए सिरे से संगठित करने का आन्दोलन जारी किया। लूथर आदि धार्मिक सुधार आन्दोलन के नेताओं ने जनता द्वारा राजसत्ता के विरोध के अधिकार को स्वीकार कर इस आन्दोलन को और भी अधिक पुष्ट किया। लोकतंत्र की माँग का विकास मुख्य रूप से तीन धारणाओं के रूप में हुआ—

(१) सामाजिक संविदा तथा प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त प्रजातन्त्र का एक आधार है। हॉब्स, लॉक तथा रूसो ने सामाजिक संविदा (Social Contract) के सिद्धान्त के निरूपण द्वारा यह सिद्ध किया कि राज्य एक अप्राकृतिक रचना है, वह दैवी नहीं मानवीय संस्था है और जनसहमति पर आधारित है। इसके अतिरिक्त लॉक तथा रूसो ने बड़े जोर-शोर से जनसामान्य की समानता, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति

के अधिकारों की घोषणा की। उनका यह कथन था कि ये सभी अधिकार मनुष्य को प्रकृति ने स्वयं दिए हैं। उनका विश्वास था कि शासनतन्त्र को जनता के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए।

जॉनलॉक, रूसो तथा थॉमस पेन के जनसामान्य के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त के आधार पर ही बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा फ्रांस के संविधानों में मानव के मौलिक अधिकारों (Fundamental rights) की घोषणा की गई।

(२) राज्य का उपयोगितावादी सिद्धान्त भी प्रजातंत्र के विकास की एक प्रमुख आधार शिला है। बेन्थम, मिल तथा जे० एस० मिल ने अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख (Maximum pleasure of maximum number) के सिद्धांत की रचना कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि केवल मात्र प्रजातन्त्र के अन्तर्गत ही जनसामान्य के अधिकतम सुख को प्राप्त किया जा सकता है।

(३) ग्रीन इत्यादि आधुनिक आदर्शवादियों ने प्रजातन्त्र के अन्तर्गत ही मानव व्यक्तित्व की अविकसित शक्तियों के विकास को सम्भव माना। साथ ही राज्य की शक्ति का आधार उसने पशु शक्ति न मान जन-सहमति को माना।

सर्वप्रथम इंग्लैंड में सम्राट तथा पार्लियामेंट के पारस्परिक संघर्ष के परिणाम-स्वरूप जनसामान्य की प्रभुता के सिद्धांत की स्थापना हुई। मेग्नाकार्टा, बिल आफ राइट्स तथा पैटिशन आफ राइट्स के द्वारा समय-समय पर सम्राट ने जनता के सम्मुख घुटने टेके और उन्हें अनेक अधिकार सौप दिए। १८३८, १८८५, १९११, १९१८ तथा १९२९ में धीरे-धीरे जनसामान्य के प्रतिनिधि सदन 'हाउस आफ कामन्स' की सार्वभौमता की पूर्ण स्थापना हो गई।

इंग्लैण्ड की भांति ही संयुक्तराज्य अमेरिका तथा फ्रांस में भी जनक्रान्तियाँ हुई और जनतन्त्र की धीरे-धीरे स्थापना हो गयी।

लोकतन्त्र के आधारभूत सिद्धांत—आज लोकतन्त्र के कुछ आधारभूत सिद्धांत स्वीकार किए जाते हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) राज्य साधन है और व्यक्ति साध्य। प्रजातन्त्र का यह एक महत्त्वपूर्ण आधार है। साधन रूप में राज्य का वहीं तक महत्त्व है, जहाँ तक कि वह व्यक्ति कल्याण मे सहायक हो। लॉक, बन्थम तथा मिल इत्यादि प्रजातन्त्र के सभी समर्थकों ने राज्य को साधन रूप में ही स्वीकार किया।

लोकतन्त्र की धारणा के विपरीत आदर्शवादी और फासिस्ट विचारक राज्य को सावयव मान उसे अपने आप में साध्य तथा नागरिक को साधनस्वरूप स्वीकार करते हैं। यह धारणा सर्वथा मिथ्या और भ्रामक है। राज्य मनुष्य के लिए बनाया गया है, मनुष्यों से मिलकर बना है, उससे ऊपर या बाहिर उसकी कोई स्थिति नहीं।

(२) राज्य का प्रबन्ध जनता द्वारा हो। राज्य, दूसरे शब्दों में अपनी सम्पूर्ण कार्यवाहियों के लिए जनसामान्य के प्रति जिम्मेवार हो। कानून क्या हो, उनका उद्देश्य क्या हो, इसका निर्णय जनता स्वयं करे या अपने प्रतिनिधियों द्वारा

करवाये। कार्यपालिका भी शासन-संचालन के लिए जन-प्रतिनिधियों के प्रति उत्तर-दायी (Responsible) हो। अगर कोई सरकार जनप्रिय नहीं, उसके द्वारा बनाए गये कानून जनता के हित के अनुसार नहीं, तो जनसामान्य को कानूनी साधनों द्वारा अपने प्रतिनिधि बदलने का अधिकार होना चाहिए।

(३) प्रायः सभी प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में लिखित या अलिखित संविधान की व्यवस्था रहती है। इनमें समय-समय पर परिवर्तन की जरूरत हो सकती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि संवैधानिक कानून में सभी परिवर्तन या तो प्रत्यक्ष जन-सहमति से हों अथवा जन-प्रतिनिधियों की सहमति द्वारा हों।

(४) प्रजातन्त्र शासन का आधार आलोचना की ओर विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता है। जनता अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन चलाती है। ऐसा सम्भव है कि प्रतिनिधिगण जनसामान्य की भावनाओं को न समझ सकें या उनकी अवहेलना करें। जनता अपने आलोचना के अधिकार द्वारा ही उन पर नियंत्रण स्थापित कर सकती है। अपने विचार को प्रगट करने के साथ-साथ उनके प्रचारार्थ आर्थिक या राजनीतिक दल बनाने का अधिकार भी जनसामान्य को मिलना चाहिए।

(५) कुछेक विचारकों का विचार है कि कार्यपालिका, विधानपालिका तथा न्यायपालिका का विभाजन (Separation) भी प्रजातन्त्र शासन के लिए आवश्यक है। शासकों तथा कानून-निर्माताओं को न्यायपालन सम्बन्धी अधिकार नहीं सौंपे जाने चाहिएँ।

(६) न्यायालयों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता के अधिकारों की रक्षा का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति से तब तक वंचित नहीं किया जाना चाहिये जब तक कि किसी न्यायालय में उसके अपराध को साबित न कर दिया जाये। यही नहीं, न्यायालय को यह भी अधिकार होना चाहिए कि वह उन सब स्थानीय या केन्द्रीय अथवा संघीय विधानपालिकाओं द्वारा निर्धारित कानूनों को भी रद्द कर दें, अगर वे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा उसके मूलभूत अधिकारों के विरुद्ध जाते हैं।

साथ ही कानून की दृष्टि में लिंग, जाति, पद या वंश अथवा धर्म के आधार पर विभिन्न नागरिकों में कोई अन्तर नहीं किया जाना चाहिए।

प्रजातन्त्र की व्यापक व्याख्या—हम ऊपर ही लिख चुके हैं कि प्रजातन्त्र की धारणा आज वस्तुतः बहुत बदल गई है, वह केवल मात्र शासन की प्रणाली का ही एकरूप नहीं, अपितु राज्य, शासन तथा समाज तीनों के ही स्वरूप को निर्धारित करती है। **हर्नशा** का कथन है कि **"प्रजातन्त्र केवल सरकार का ही स्वरूप नहीं है बल्कि यह एक राज्य का स्वरूप है और समाज का भी स्वरूप है।"** अमेरिका के सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री **प्रो० गिडिंग्स** (Prof. Giddings) ने भी कहा है कि **"प्रजातन्त्र राज्य का भी स्वरूप हो सकता है; शासन-कार्य और समाज का भी और वह इन तीनों का**

मिश्रित स्वरूप भी हो सकता है।"[1]

प्रजातन्त्रात्मक राज्य का अभिप्राय उस राज्य से है जहाँ प्रभुसत्ता जनता के हाथ में होती है, राज्य-सत्ता का प्रयोग बिना किसी भेदभाव के सम्पूर्ण जनसमूह द्वारा किया जाता है। अक्सर प्रजातन्त्रात्मक राज्य तथा शासन में भेद किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि यह आवश्यक नहीं कि जनसत्तात्मक राज्य के साथ-साथ प्रजातन्त्रात्मक शासन भी हो। अमेरिका तथा इंग्लैंड में राज्य का स्वरूप अवश्य प्रजातन्त्रात्मक है परन्तु वहाँ के शासन में अभी भी बहुत से अप्रजातान्त्रिक तत्त्व मिल जाते हैं।

जनतन्त्र शासन से हमारा अभिप्राय उस शासन-व्यवस्था से है जहाँ प्रशासन का कार्य, जन-प्रतिनिधियों की देख-रेख में किया जाता हो और जहाँ राज्य की उच्च कार्यपालिका जनप्रतिनिधियों को जिम्मेवार हो।

प्रजातन्त्रात्मक समाज (Democratic Society) की अवस्थिति एक दुष्प्राप्य चीज है। प्रजातन्त्रात्मक समाज का अर्थ है सम्पूर्ण जनता की समानता। प्रजातन्त्रात्मक समाज में श्रेणी, वर्ग, लिंग, जाति, पद इत्यादि के आधार पर नागरिकों में भेद नहीं किया जाता। भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका, इंग्लैंड इत्यादि देशों में राजनीतिक प्रजातन्त्र तो मौजूद हो सकता है परन्तु सामाजिक प्रजातन्त्र वहाँ अवश्य ही नहीं है। भारत में छुआछूत की व्यवस्था के कारण समाज में विभिन्न जातियों में अमानवीय भेदभाव किया जाता है। अभी भी हमारे यहाँ स्त्रियों को सामाजिक समानता नहीं मिली। अनेक स्थानों पर अभी भी 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी' की पुरानी व्यवस्था कायम है। अमेरिका तथा दक्षिणी अफ्रीका में रंग भेद पर आधारित भेदभाव मौजूद है। इंग्लैण्ड में वंशगत भेद-भाव की कमी नहीं। कहा जाता है कि सिवा रूस इत्यादि साम्यवादी राज्यों को दूसरा कोई ऐसा राज्य नहीं, जहाँ सामाजिक भेदभाव की मौजूदगी न हो। डायसी के अनुसार प्रजातन्त्रात्मक समाज वह है जहाँ अधिकारों, परिस्थितियों, विचारों, भावनाओं तथा आदर्शों की समानता होती है। यह एक बड़ा उच्च आदर्श है।

आज लोकतन्त्र के राजनीतिक तथा सामाजिक रूप के अतिरिक्त एक अन्य रूप को भी माना जाता है। यह आर्थिक लोकतन्त्र (Economic democracy) **कहलाता है।** बेन्थम तथा मिल इत्यादि १९वीं सदी के विचारकों ने केवल राजनीतिक प्रजातन्त्र के महत्त्व को ही सिद्ध किया था, उन्होंने सामाजिकों के राजनीतिक अधिकारों को ही सब कुछ समझा, परन्तु आज राजनीतिक प्रजातन्त्र तब तक सारहीन समझा जाता है जब तक कि उसको आर्थिक प्रजातन्त्र द्वारा पूर्ण न किया जाय। प्रो० लास्की, सिडनी वेब तथा कोल इत्यादि आधुनिक समाजवादी बार-बार इस बात पर जोर देते हैं कि जब तक राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ आर्थिक अधिकारों को मान्यता नहीं दी जाती, तब तक प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली सफल नहीं हो सकती। पूँजीवादी

1. "Democracy may be either a form of government, a form of State, a form of society or a combination of all three."
—*Prof. Giddings.*

समाज में राजनीतिक सत्ता केवल चन्द पूँजीपतियों के हाथ में ही रहेगी। दिन-रात मेहनत-मजदूरी करने वाला मजदूर चुनाव में भला एक लखपति का मुकाबला कैसे कर सकता है ? मताधिकार तो हमने राज्य के प्रत्येक वयस्क (Adult) को दे दिया, परन्तु उसे रोटी-कपड़े का अधिकार नहीं दिया । ऐसी अवस्था में वह अपने वोट का उचित प्रयोग नहीं कर सकता। धनिक वर्ग अपने पैसे के बल से उसे खरीद सकता है । इस हालत में समाज में वर्ग-संघर्ष (Class struggle) उत्पन्न हो जाता है, समाज अमीर तथा गरीब और शोषित तथा शोषक वर्ग में बँट जाता है। सामाजिक शान्ति और व्यवस्था खत्म हो जाती है। जर्मनी, इटली तथा स्पेन में ऐसी ही स्थिति में राजनीतिक प्रजातन्त्र का गला घोट दिया गया था। अतः लोकतन्त्र सामाजिक तथा राजनीतिक के साथ-साथ आर्थिक भी होना चाहिए।

१०२. जनतन्त्र के प्रकार (Forms of democracy)

प्रजातन्त्र के दो प्रकार बताये गये हैं—(१) शुद्ध अथवा प्रत्यक्ष (Pure or Direct); तथा (२) प्रतिनिधिक अथवा अप्रत्यक्ष (Representative or Indirect)।

शुद्ध अथवा प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के अन्तर्गत जनसामान्य अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से करता है। वह स्वयं शासन की मशीनरी का नियन्त्रण करता है और विविध राजनीतिक तथा आर्थिक मसलों पर अपने विचार प्रगट करता है, प्रतिनिधियों द्वारा नहीं। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के अन्तर्गत प्रजा एक विराट जनसभा के रूप में एकत्रित होती है और शासकों के निर्वाचन के अतिरिक्त वह स्वयं कानून का निर्माण करती है। प्राचीन यूनान के तथा रोम के नगर-राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का प्रचलन था। हमारे यहाँ भी अनेक छोटे-छोटे गणतन्त्रों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र-प्रणाली के प्रचलन के उदाहरण मिल जाते हैं। स्विट्ज़रलैण्ड के चार छोटे राज्यों में आज भी प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र-प्रणाली का प्रचलन है। कुछ काल पहले प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र-प्रणाली द्वारा शासित राज्यों की संख्या काफी थी, परन्तु अब यह बहुत घट गई है।

आज प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का स्थान अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र ले रहा है। इसके अनेक कारण हैं। पुराने समय में राज्य आकार और उनकी जनसंख्या में बहुत छोटे थे। शासन-व्यवस्था तथा राजनीतिक समस्याएँ और सामाजिक जीवन पर्याप्त सरल थे। धीरे-धीरे जनसंख्या की वृद्धि हुई, राज्य-क्षेत्र का भी विस्तार हो गया और राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक जीवन जटिल हो गया । यह असम्भव हो गया कि राज्य के सम्पूर्ण नागरिक कहीं एक स्थान पर एकत्रित हों और वे राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं पर विचार करें । आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं का सुलझाव जनसाधारण की समझ से बाहर हो गया। ऐसी अवस्था में विशालकाय राज्यों में प्रतिनिधिक (Representative) प्रजातन्त्र का विकास हुआ।

परन्तु अभी भी अनेक ऐसे राज्य बाकी हैं जहाँ प्रतिनिधिक प्रजातन्त्र के साथ-

साथ प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के भी कुछ प्रकार बचे हैं। कुछेक देशों में तो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के इन प्रकारों को इसलिए अपनाया गया है कि वहाँ जनता प्रतिनिधिक प्रजातन्त्र (Representative democracy) के कार्यों से सन्तुष्ट नहीं। प्रतिनिधिक प्रजातन्त्र के अन्तर्गत पार्टीबाजी, स्वार्थ-साधन तथा रिश्वतखोरी से जनसामान्य का अपने प्रतिनिधियों पर विश्वास नहीं रहा, अतः उन्होंने शासन में प्रत्यक्ष हिस्से का दावा किया। संयुक्त राज्य अमेरिका के अनेक राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की प्रणालियों को केवल इन्हीं कारणों से अपनाया गया। जब कि स्विट्ज़रलैण्ड में जन-सामान्य की प्रभुता को वास्तविक रूप देने के लिए प्रत्यक्ष जनतन्त्र के साधनों को स्वीकार किया गया।

प्रत्यक्ष जनतन्त्र के इन साधनों द्वारा जनता कानून निर्माण में भाग ले सकती है। ऐसी व्यवस्था की जाती है कि जब कभी कोई कानून पास किया जाय तो उस पर जनसामान्य के विचारों को जान लिया जाय, ऐसे साधन को अंग्रेजी में Referendum (जनमत-निर्णय) कहते हैं। जनता चाहे तो कानून को इस मत-प्रदर्शन द्वारा स्वीकार कर सकती है और अस्वीकार भी। इसी प्रकार जनता को अपनी मर्जी के या मनपसन्द के कानून बनाने के प्रस्ताव करने का भी अधिकार है, इसे अंग्रेजी में Initiative या प्रस्तावाधिकार कहते हैं। यह अधिकार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि यह जनसामान्य को विधान-निर्माण की शक्ति देता है। इस अधिकार का प्रयोग जनसामान्य अपने मनपसन्द कानून बनाने के लिए कर सकता है। तीसरे साधन द्वारा जनता अपने उन प्रतिनिधियों को वापिस बुला सकती है जिनके कार्यों से वह सन्तुष्ट न हो। इस साधन को अंग्रेजी में Recall और हिन्दी में प्रत्यावर्त्तन कहते हैं।

इस प्रकार जनसामान्य को विधेयात्मक (Positive) तथा निषेधात्मक दोनों ही प्रकार के अधिकार मिल जाते हैं। वह न केवल ऐसे कानूनों को ही अस्वीकार कर सकती है जिसे कि वह पसन्द नहीं करती, बल्कि ऐसे प्रतिनिधियों को भी वापिस बुला सकती है जिनके कार्यों से सन्तुष्ट नही और साथ ही अपने मनपसन्द कानून बनवाने का भी अधिकार रखती है। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के ये साधन जन-प्रभुता के सिद्धान्त को एक वास्तविकता बना देते हैं। परन्तु इन साधनों का प्रयोग बहुत कम देशों मे होता है।

प्रतिनिधिक प्रजातन्त्र (Representative democracy)—जैसा कि हम ऊपर ही कह आये हैं वर्तमान काल में प्रत्यक्ष जनतन्त्र का स्थान प्रतिनिधिक प्रजातन्त्र (Representative democracy) ने लिया है। अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में राज्य का शासन जनता स्वयं नहीं चलाती है वरन् उसका संचालन जनता द्वारा चुने प्रतिनिधियों की जिम्मेवारी होती है। दूसरे शब्दों में अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र राज्य-शासन की वह प्रणाली है जिसमें राज्य की इच्छा का निर्माण उसका पालन तथा प्रकटीकरण जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों द्वारा होता है। निश्चय ही प्रजातन्त्र की विस्तृत व्याख्या के अन्तर्गत ही यह शासन-प्रणाली प्रजातन्त्रात्मक कही जा सकती है,

क्योंकि प्रतिनिधि निर्वाचन का अधिकार जनसामान्य के एक सीमित वर्ग को ही दिया जाता है।

फिर इसका अर्थ यह भी है कि राज्य के सम्पूर्ण पदाधिकारियों का चुनाव जनता द्वारा हो या उनके प्रतिनिधियों द्वारा और वे अन्ततः जनता को उत्तरदायी हों। परन्तु व्यावहारिक रूप में ऐसा नहीं हो पाता। इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा भारत सभी जगह अनेक पदाधिकारियों की नियुक्ति कार्यपालिका करती है। साथ ही विधान-सभाओं के एकसदन के अधिकांश सदस्य भी आवश्यक नहीं जनसाधारण द्वारा चुने जायँ। अनेक बार उनको कार्यपालिका नामजद करती है और अनेक बार उनका निर्वाचन इस ढंग से किया जाता है कि उसे प्रजातन्त्रात्मक नहीं कहा जा सकता। इंग्लैण्ड के 'हाउस ऑफ लार्डस' के सभी सदस्य ऐसे हैं जिन्हें कभी जनता ने नहीं चुना। कैनेडा के दूसरे सदन के सभी सदस्य कार्यपालिका (Executive) द्वारा नामजद किये जाते हैं। अमेरिका में अनेकों ऐसे पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती है जो किसी भी तरह प्रजा के प्रतिनिधि नहीं कहला सकते। इसी कारण कुछ एक राजनीति शास्त्री आज के प्रजातन्त्रों को कुलीनतन्त्र कहना अधिक पसन्द करते हैं। फिर भी हमें यह मानना ही पड़ेगा कि वर्तमान काल में इस प्रकार के प्रजातन्त्रों में अन्ततः जनसामान्य की इच्छा के सम्मुख राज्य के सभी निर्वाचित तथा नियुक्त अधिकारियों को झुकना पड़ता है। जनसामान्य की इच्छा ही प्रभुत्व तथा कानून का अन्तिम तथा वास्तविक स्रोत है।

प्रतिनिधिक प्रजातन्त्र का प्रचलन कहाँ और कैसे हुआ, यह कह सकना कठिन है। प्रतिनिधिक प्रणालियाँ तथा सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रतिनिधिक संस्थाएँ सभी देशों में मिल जाती हैं। ऋग्वेद में सभा तथा समिति का जिक्र आता है। बौद्ध-युग में विदेह, मिथिला तथा लिच्छवियों के यहाँ प्रतिनिधि व्यवस्था मिलती है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी भारत के विभिन्न विभागों में मौजूद प्रतिनिधि संस्थाओं का वर्णन मिलता है। यूरोप के विषय में अनेक विचार हैं, कुछेक लेखकों का यह विचार है कि इसकी उत्पत्ति प्राचीन काल में स्विट्ज़रलैण्ड, हॉलैण्ड, जर्मनी तथा हंगरी में हुई। हेनरी फोर्ड इत्यादि दूसरे लेखक इसे इंग्लैण्ड की देन समझते हैं। इसका वर्तमान रूप में विकास १७वीं सदी में इंग्लैण्ड में शुरू हुआ। बाद में धीरे-धीरे इसका प्रचार अन्य राज्यों में भी होने लगा। फ्रांस, इटली तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में इंग्लैण्ड की देखा-देखी ही इसे अपनाया गया। वस्तुतः प्रो० मनरो का यह कथन ठीक ही है कि प्रतिनिधिक प्रजातन्त्र के विकास के लिए सम्पूर्ण विश्व इंग्लैण्ड का ऋणी है। इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट ही संसार की सम्पूर्ण विधानपालिकाओं की जनक है। अमेरिका के संवैधानिक संगठन में अन्तर अवश्य है, परन्तु मनरो का विचार है कि यह अन्तर आधारभूत नहीं।

प्रजातन्त्र के गुण—शासन-प्रणाली के रूप में प्रजातन्त्र के कुछ विशिष्ट गुण हैं, जिन्हें हम इस प्रकार रख सकते हैं—

(१) जनतन्त्र स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व की उच्च भावनाओं पर

आधारित है। वह समाज के सभी सदस्यों की समानता को स्वीकार करता है, उन्हें राज्य-शासन के संचालन में हिस्सा देता है। इसमें कोई शक नहीं कि यह लोकतन्त्र की ही देन है कि जाति, धर्म, रंग तथा लिंग के आधार पर माने जाने वाले सभी भेदों को न केवल अनावश्यक ही माना जाता है अपितु अनैतिक और अमानवीय भी। लोकतन्त्र ने ही परम्परा से चली आती इस कहावत को झूठा साबित किया है कि कुछ लोग शासन करने के लिए उत्पन्न हुए हैं और कुछ शासित होने के लिए ही। व्यक्ति सम्मान को जितना महत्त्व लोकतन्त्र में मिलता है अन्यत्र कहीं नहीं। मनुष्य को मनुष्य के रूप में समझने की सीख जनतन्त्र ही देता है। अमीर, गरीब, उच्च तथा निम्न वर्ग से सम्बन्धित सभी को एक ही पद प्रदान कर जनतन्त्र, जनसाधारण को भी आगे बढ़ने तथा ऊँचा उठने का अवसर देता है। लार्ड ब्राइस ने इसी बात को यूँ कहा है कि राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति ने व्यक्ति को व्यक्तित्व तथा मानवता को गौरव प्रदान किया है और इस प्रकार उसका नैतिक स्तर ऊँचा हुआ तथा उसमें कर्त्तव्यों की उच्चतर भावना उत्पन्न हुई।

प्रो० डायसी लिखता है कि लोकतन्त्र में अधिकारों की समानता तथा परिस्थितियों और भावनाओं और आदर्शों की एकता होती है। हरेक व्यक्ति अपने को समाज का आवश्यक और सम्मानित सदस्य समझता है। जनतन्त्र ने प्राचीन काल से चली आती जनसाधारण में व्याप्त हीनता की भावना (Inferiority complex) **को खत्म कर दिया है।**

(२) प्रजातन्त्र एक सुचारु शासन-व्यवस्था है। वह राज्य के उन आधारभूत उद्देश्यों को पूर्ण करती है जिनके लिए राज्य की स्थापना की गई है। राज्य का उद्देश्य जहाँ वैयक्तिक जीवन की बाहरी तथा अन्दरूनी भयों तथा आपत्तियों से रक्षा करना है वहाँ वह जनसाधारण के सामूहिक हित की अभिवृद्धि के लिए भी जिम्मेवार है। जनतन्त्र ही एक इस प्रकार का शासन है जहाँ कि अधिक से अधिक जनता की, अधिक से अधिक सुख की अभिवृद्धि हो सकती है। एक व्यक्ति या एक श्रेणी का शासन जनसामान्य के सामूहिक हित की हमेशा ही अवहेलना करता है।

फिर जनतन्त्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह जन-सहमति पर आधारित है। प्रजातन्त्र के अन्तर्गत ही जनसाधारण अपने शासकों को अपने नियन्त्रण में रख सकता है। गार्नर के शब्दों में **"सार्वजनिक चुनाव, सार्वजनिक नियन्त्रण तथा सार्वजनिक उत्तरदायित्व द्वारा अन्य किसी भी शासन-प्रणाली की अपेक्षा कहीं अधिक सुचारुता के आश्वासन की सम्भावना है।"**[1]

(३) जन-सहमति पर आधारित होने के कारण ही प्रजातन्त्र अन्य शासन-प्रणालियों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है, जनसामान्य अपनी मन-मर्जी के अनुसार अपने शासकों में तबदीली कर सकता है, इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसे

1. "Popular election, popular control and popular responsibility are more likely to ensure degree of efficiency than any other system of government."—*Garner.*

क्रान्तिकारी या हिंसापूर्ण साधनों के इस्तेमाल करने की जरूरत ही नहीं रहती। वस्तुतः क्रान्तियों का जितना भय अन्य राज्यों में होता है उतना जनतन्त्र में नहीं—विशेष रूप से स्विट्ज़रलैण्ड जैसे प्रजातन्त्र में।

(४) जे. एस. मिल तथा लार्ड ब्राइस दोनों ही प्रजातन्त्र की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार करते हैं। मिल ने प्रजातन्त्र की परिभाषा करते हुए कहा है, **"प्रजातन्त्र प्रणाली में समस्त जनता अथवा उसका एक विशाल भाग समय-समय पर अपने चुने प्रतिनिधियों के द्वारा शासन करता है।"**[1] मिल के मतानुसार इसकी श्रेष्ठता का यही कारण नहीं कि अन्ततः इसमें सर्वोच्च शक्ति जनता के हाथ में रहती है, बल्कि इसलिए भी कि इसमें राज्य का प्रत्येक नागरिक अपनी योग्यतानुसार समय-समय पर अवसर मिलने पर सार्वजनिक तथा स्थानीय कार्यों के निभाने में प्रत्यक्ष जिम्मेवारी अपने ऊपर लेता है।

लार्ड ब्राइस प्रजातन्त्र में कुछ दोषों की मौजूदगी को भी स्वीकार करता है, फिर भी यह मानता है कि अमन कानून तथा व्यवस्था, रक्षा, न्याय इत्यादि आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन तो सभी राज्य कर लेते हैं, परन्तु यह तो प्रजातन्त्र की ही विशेषता है कि वह सदा जनसामान्य—विशेष रूप से निर्धनतम वर्ग की उन्नति तथा कल्याण के लिए अनथक प्रयत्न करता है।

(५) लोकतन्त्र शासन का शिक्षात्मक मूल्य भी है। लोकतन्त्र की शासन-प्रणाली जनसामान्य में राजनीतिक जागरण को उत्पन्न करती है, उनमें आत्म-विश्वास, स्वशासन की भावना, उदारता, सहयोग, पारस्परिक मिल-वरतन, सेवा, आत्म-त्याग इत्यादि अनेक चारित्रिक खूबियों की भरती है। यही कारण है कि यह कहा जाता है कि सुशासन स्वराज्य का स्थान कभी नहीं ले सकता।

(६) प्रजातन्त्र राष्ट्रीय भावना तथा देश-प्रेम को जागृत करता है। प्रत्येक नागरिक यह समझता है कि वह कानून तथा शासन के रूप का निर्माता स्वयं है, शासकगण उसके भाग्य-निर्माता नहीं अपितु उसके सेवक हैं। ऐसी अवस्था में जहाँ उसमें कानून के प्रति ऐच्छिक आज्ञाकारिता की भावना उत्पन्न होती है, वहाँ उसमें उत्कट राष्ट्र-प्रेम भी होता है। लावेल ने इस बात का समर्थन फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के अनन्तर उत्पन्न उत्कट देश-प्रेम का उदाहरण देकर किया है।

(७) प्रो० गेटल ने कहा है कि **"लोकतन्त्र में राज्य प्रभुत्व शक्ति पर नहीं अपितु सहमति पर स्थित रहता है तथा यह 'व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए है' को न मानकर "राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है' ऐसा मानता है। इसमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता को वैधानिक रूप से अधिक सुरक्षित रखे जाने की सम्भावना है। इसके द्वारा जनता का विकास तथा उसे उन्नत करना, सार्वजनिक कार्यों में उनकी रुचि का जगाना है, तथा ऐसी सरकार में व्यक्ति सक्रिय भाग लेते हैं यही उसकी महत्ता उसकी भक्ति तथा दृढ़ विश्वास के कारण हैं।"**

---

1. "The whole people of some numerous portion of them exercise the governing power through deputies periodically elected by themselves."—*J. S. Mill.*

(८) लोकतन्त्र सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सुधार के लिए उपर्युक्त वातावरण उत्पन्न करने में बहुत सफल होता है। इतिहास इस बात की गवाही देता है कि पिछले कुछ सालों में जितने सामाजिक तथा आर्थिक सुधार हुए कि इतने कभी भी राजतन्त्र या कुलीनतन्त्र में नही हो पाये । लोकतन्त्र के अन्तर्गत प्रगतिशील दल अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करते है और शासन मशीनरी पर अधिकार जमा अपने प्रगतिशील प्रोग्राम को शासन-नीति में बदल देते हैं।

लोकतन्त्र का उद्देश्य ही जनकल्याण है, अतः इसमें पुराने सड़े-गले रीति-रिवाज, जो सामाजिक असमानता तथा अनैतिकता के जनक होते हैं, उन्हें जन-सहमति से खत्म किया जा सकता है।

(९) अन्त में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि लोकतन्त्र सामाजिक एकता का सर्वोत्कृष्ट साधन है। ड्यूए (Dewey) ने कहा है, **"प्रजातन्त्र ऐसे सामाजिक संगठन के आदर्श के अत्यन्त निकट है जिसमें व्यक्ति तथा समाज का सावयव सम्बन्ध रहता है। व्यक्ति समाज का उसी तरह का अटूट भाग है जिस प्रकार किसी शरीर के विभिन्न अंग। इस आपस की सावयवी (Organic) एकता का अनुभव व्यक्ति लोकतन्त्र में अधिक करता है । व्यक्ति अपने अन्दर सामाजिक इच्छा और भावना को अनुभव करता है। प्रत्येक नागरिक राज्य प्रभुत्व का भागीदार होता है।"**

प्रजातन्त्र के दोष—प्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों की बड़ी तीव्र आलोचना की जाती है । वैसे तो प्रजातन्त्र के आलोचक प्रजातन्त्रवादियों में भी मिल जाते हैं, परन्तु वे लोग प्रजातन्त्र के दोषों को वैसे ही प्रकृत रूप में स्वीकार करते हैं जैसे दूसरी शासन-प्रणालियों के । उनका कथन है कि प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली में दोष अवश्य है, परन्तु उपयुक्त साधन अपनाकर उन्हें दूर किया जा सकता है । प्रजातन्त्र के कुछेक ऐसे भी आलोचक है, जो कि उसे सर्वथा पसन्द नहीं करते, और उसे समाप्त कर देना ही अधिक ठीक समझते है । प्रजातन्त्र की प्रथम प्रकार की आलोचना बहुत कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों से उत्पन्न हुई है । **प्लेटो तथा अरस्तू ने प्रजातन्त्र को अनुत्तरदायी समूह का शासन समझते हुए उसे राज्य का एक विकृत-स्वरूप कहा है।** इसी तरह वर्तमान युग के विचारक **टेलीरेण्ड ने प्रजातन्त्र को नीचों का कुलीनतन्त्र'** (Aristocracy of blackguards) **कहा है । एच० जी० वेल्स** का कथन है कि **"वर्तमान राज्यों में चुने हुए प्रजातन्त्रात्मक शासन के हक में कोई ऐसी बात नहीं कि जिसका पाँच मिनट में खण्डन न किया जा सके।"** निस्सन्देह प्रजातन्त्र की उपर्युक्त आलोचना एकपक्षीय है और पूर्वाग्रहों (Prejudices) पर आधारित है। परन्तु प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर प्रजातन्त्रवाद के विरुद्ध जनसामान्य में पर्याप्त अविश्वास तथा असन्तोष की भावना फैल गई । अनेक स्थानों पर प्रजातन्त्रात्मक सरकारें आर्थिक संकटों का मुकाबिला न कर सकने के कारण असफल हो गई और उनका स्थान अधिनायकतन्त्र ने ले लिया। नीचे हम प्रजातन्त्र के विरुद्ध उपस्थित किये गये विभिन्न प्रकार के तर्कों का विवेचन करेंगे।

(१) प्रजातन्त्र के आलोचकों का विचार है कि प्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्त

अत्यधिक कल्पनावादी और आदर्शवादी हैं । प्रजातन्त्र का आधार जनसामान्य की समानता है । प्राणिशास्त्र की दृष्टि से प्रजातन्त्रात्मक समानता एक कोरी गप्प के सिवा कुछ नहीं । कुछेक अमेरिकन तथा जर्मन विचारकों ने विभिन्न परिवारों तथा जातियों (Races) की प्राकृतिक उच्चता को सिद्ध करने का यत्न किया है। सर फ्रांसिस गॉल्टन ने (Sir Francis Galton) ने कुछेक महान् पुरुषों के जीवन का अध्ययन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ये महान् पुरुष कुछेक निश्चित परिवारों में ही उत्पन्न हुए हैं ।

जर्मन, इटेलियन तथा जापानियों ने जातीय उच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए विभिन्न देशों तथा राष्ट्रों में एक प्रकृत असमानता को स्वीकार किया है । अतः बहुत से विचारकों का मत है कि प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली जीवविज्ञान के आधार-भूत सिद्धान्तों के ही विरुद्ध है, और वह मिथ्या तथा भ्रामक तत्त्वों पर आधारित है ।

(क) संस्कृति, शिक्षा तथा राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना की दृष्टि से भी समाज के सभी वर्ग बराबर नहीं हो सकते, परन्तु प्रजातन्त्र सभी नागरिकों को बराबर समझता है । मूर्ख और बुद्धिमान, शिक्षित तथा अशिक्षित, संस्कृत तथा असंस्कृत सभी बराबर समझे जाते हैं । प्रजातन्त्र में गुण का महत्त्व नहीं संख्या का महत्त्व है । वोटों की गणना होती है, परख नहीं । ऐसी अवस्था में शासनतन्त्र के अन्तर्गत विशिष्ट योग्यतासम्पन्न व्यक्तियों का अपमान होता है, और बहुमत द्वारा समर्पित अनजान और विवेकहीन पुरुषों का आदर किया जाता है । अक्सर यह कहा जाता है कि राज्य में बुद्धिमान तथा विवेकसम्पन्न मनुष्यों की संख्या कम होती है और मूर्खों तथा अशिक्षितों की संख्या अधिक होती है । प्रजातन्त्र बहुमत का शासन है । यही कारण है कि प्रजातन्त्र को अयोग्यतम तथा क्षमताशून्य लोगों का शासन कहा जाता है ।

(२) प्रजातन्त्र को अधिकांश में अज्ञात, अशिक्षित तथा अयोग्य व्यक्तियों का शासन इसलिए भी कहा जाता है कि इसमें राज्य-शक्ति ऐसे आदमियों के हाथ में रहती है जिन्हें राज्य-शासन का कतई अनुभव नहीं होता । शायद प्लेटो ने कहा था कि शासन एक कला है, उसमें सफलता प्राप्त करने के लिए बहुत अधिक योग्यता, निपुणता तथा अनुभव की आवश्यकता है । परन्तु प्रजातन्त्र में अक्सर ऐसे लोग शासक होते हैं जिन्हें राज्य शासन के क, ख, ग, का भी पता नहीं होता । यदि सरकार के किसी भी महकमे के लिए किसी एक मामूली अधिकारी की नियुक्ति करनी होती है तो उसकी शिक्षा-दीक्षा, सदाचार, अनुभव इत्यादि पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाता है, परन्तु मन्त्रियों की नियुक्ति में या विधान-सभा के सदस्यों के चुनाव में ऐसी किसी भी योग्यता का विचार नहीं किया जाता ।

(३) चुनाव में मतदान करते हुए जनता तर्क से काम नहीं लेती । प्रचार के अनेक साधनों द्वारा निर्वाचकों के मत का निर्माण किया जाता है । अक्सर वह नेता तथा राजनीतिक दल सफल होते हैं जो व्यक्ति (नागरिक) के भावों को प्रेरित करते हैं । भावनाओं के वशीभूत हो कोई भी निर्वाचक अपने प्रतिनिधियों का ठीक-ठीक

चुनाव नहीं कर पाता। नेता लोग अक्सर झूठे तथा दम्भपूर्ण भाषणों द्वारा आम जनता को भड़काते हैं और उन्हें एक प्रकार से बेवकूफ बना लेते हैं। वर्तमान सामाजिक मनोविज्ञानशास्त्रियों का कथन है कि प्रजातन्त्र में सर्वत्र ही तर्क और विवेक का अभाव रहता है। राजनीतिक सभाओं में, राजनीतिक पार्टियों में तथा विधानपालिकाओं में सभी जगह भीड़ मनोविज्ञान (Mob-Psychology) का ही बोलबाला रहता है। जहाँ राजनीतिक समस्याओं का निपटारा विवेक तथा तर्क से नहीं अपितु भावावेश में किया जाय, वहाँ राज्य-शासन में क्षमता (Efficiency) कैसे उत्पन्न हो सकती है। यही कारण है कि **जनतन्त्र को अयोग्यता के शासन** (Cult of incompetence) **का पर्यायवाची माना गया है।**

(४) यह कहना भी सर्वथा गलत है कि प्रजातन्त्र वस्तुतः जनता का राज्य है। चुनाव लड़ना और राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करना कोई आसान काम नहीं। जनसाधारण के पास न तो इतना रुपया-पैसा ही होता है और न इतना अवसर ही कि वह चुनाव लड़ सके और जनमत का निर्माण कर सके। केवल धनी-मानी लोग ही चुनाव लड़ते हैं, वही विधानसभाओं तथा कार्यपालिकाओं के सदस्य बन राज्य का शासन चलाते हैं। वर्तमान प्रजातन्त्र प्रजातन्त्र न हो 'धनिकतन्त्र' (Oligarchy) है। जनता के पास वोट देने का ही अधिकार है, और अमीर आदमी वोट भी खरीद सकते हैं। यही नहीं धनिकवर्ग विधानपालिका तथा कार्यपालिका के सदस्यों को भी खरीद लेते हैं। अमेरिका तथा इंग्लैंड में अक्सर ऐसा होता है।

(५) मतदातागण भी चुनाव के मामले में कोई विशेष दिलचस्पी जाहिर नहीं करते। जब कभी चुनाव होते हैं तो बहुत कम ऐसे मतदाता होंगे जो कि दक्षता-पूर्वक वोट के अधिकार का प्रयोग करते हैं, अधिकांश बिना सोचे-समझे ही वोट दे आते हैं जब कि लोगों की एक बड़ी संख्या वोट का प्रयोग ही नहीं करती। अमेरिका में मताधिकारप्राप्त लोगों में से केवल पचास प्रतिशत लोग ही वोट देते हैं। एक राज्य में तो एक बार केवल छः प्रतिशत लोगों ने ही चुनाव में भाग लिया। स्विट्ज़रलैण्ड में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र-प्रणाली के अनेक साधन हैं, वहाँ भी यही शिकायत की जाती है कि लोग अपना काम-काज छोड़ चुनाव में वोट डालने आना पसन्द नहीं करते, उन्हें उसमें कोई दिलचस्पी ही नहीं होती।

(६) नैतिक दृष्टि से भी प्रजातन्त्र की आलोचना की जाती है। **प्रजातन्त्र में दम्भ, झूठ, रिश्वतखोरी और जालसाजी का बोलबाला होता है।** राजनीतिक प्रचार के लिए झूठे प्रोग्राम बनाये जायँगे, झूठे वायदे किये जायँगे और राजनीतिक सत्ता को प्राप्त कर अपने समर्थकों को खुश करने के अनेक अनैतिक साधनों का प्रयोग किया जायगा। अगर एक आदमी झूठ बोलता है तो विरोधी लोग इससे भी अधिक झूठ का प्रचार करेंगे। सत्य, न्याय तथा नैतिकता को बहुत कम महत्त्व दिया जाता है। केवल एक उद्देश्य होता है, राजनीतिक सत्ता को हथियाने के लिए अधिक से अधिक वोट प्राप्त करना। अनेक बार राजनीतिक पार्टियाँ अनेक दुराचारी तथा दम्भी व्यक्तियों को प्रश्रय देती हैं।

(७) प्रजातन्त्र में **स्वतन्त्रता और समानता का भी अभाव होता है** । यह कहना फजूल है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता केवल प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली की ही देन है। प्रजातन्त्र के नेता अपने स्वार्थ-सिद्ध करने के लिए जनता को गुमराह करते हैं उनको फुसलाते हैं और झूठे खतरे दिखा उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेते हैं। बहुमत अल्पमत को कुचलने का हर सम्भव प्रयत्न करता है । **प्रजातन्त्र को बहुमत का अत्याचारपूर्ण शासन** (Tyranny) **कहना भी असंगत नहीं होगा** । अल्पमत को अपने सिद्धान्तों के प्रचार का अवसर ही नहीं दिया जाता। अमेरिका भी प्रजातन्त्र है, परन्तु क्या वहाँ पूर्ण वैयक्तिक स्वतन्त्रता है ? अगर ऐसा होता तो वहाँ के साम्यवादी नेताओं के साथ दुर्व्यवहार क्यों किया जाता । यही नहीं, वहाँ साम्यवादी साहित्य जला दिया गया और प्रगतिशील विचारों के लोगों को हर तरह से तंग करने के प्रयत्न किये गये।

(८) प्रजातन्त्र में सरकार स्थायी भी नहीं होती। दलबन्दी के कारण पार्टियों के पारस्परिक सम्बन्धों से परिवर्तन होते रहते हैं, फलतः सरकारें बनती और टूटती रहती हैं । फ्रांस में जहाँ कि बहुपार्टी व्यवस्था (Multiple party system) है एक सरकार की औसत आयु ६ मास से ज्यादा नहीं। ऐसी हालत में एक प्रजातन्त्रात्मक सरकार किसी भी निश्चित, सुस्पष्ट तथा अटूट नीति का संचालन नहीं कर पाती।

(९) सर हेनरी मेन इत्यादि विचारकों का यह मन्तव्य है कि प्रजातन्त्र के अन्तर्गत वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक विकास असम्भव है । उसका कथन है कि "**मुझे यह सर्वथा निश्चित प्रतीत होता है कि अगर पिछली चार सदियों से इस देश में पूर्ण मतदान होता तथा निर्वाचन का अधिकार अधिकतम व्यक्तियों को दिया जाता तो न तो धार्मिक सुधार ही हुए होते, न राज्य-वंशों के परिवर्तन हो पाते और न ही मतभेद सहिष्णुता ही उत्पन्न हो पाती यहाँ तक कि कोई निश्चित कलैण्डर भी न बन पाता। धान कूटने तथा सफा करने की बड़ी मशीनें विद्युत तथा वाष्प-शक्ति द्वारा संचालित करघा, कातने की मशीनें और सम्भवतः स्टीम इंजिन वगैरा का बहिष्कार कर दिया गया होता।**"[1] ठीक इसी प्रकार के विचार फ्रेंच विचारक गुस्टावले बां (Gustavele Bon) ने भी अभिव्यक्त किये हैं। उसने लिखा है कि "**जिस समय यान्त्रिक करघों का या वाष्प-शक्ति तथा रेलवे का विकास हुआ था अगर उस समय प्रजातन्त्र इतना ही सत्तासम्पन्न होता जितना कि आज है तो इन आविष्कारों का होना असम्भव हो जाता या फिर क्रान्तियों तथा कत्लेआम होकर ही हो पाता।**

---

1. "It seems to me quite certain that, if for four centuries there had been a very widely extended franchise and very wide electoral body in this country, there would have been no reformation of religion, no change of dynasty, no toleration of dissent, not even an accurate calendar. The threshing-machines, the power-loom, the spinning-jenny, and possibly the steam-engine, would have been prohibited."—*Henery Maine.*

सभ्यता के विकास के लिए यह सौभाग्य की बात है कि 'भीड़ की शक्ति' का जन्म इन महान् वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अविष्कारों के अनन्तर ही हुआ।"[1] डी टाकवेल ब्लंशली तथा ट्रीटस्के इत्यादि ने भी इसी मत का समर्थन किया है।

(१०) प्रजातन्त्र शासन के विरुद्ध व्यावहारिकता पर आधारित एक गम्भीर आक्षेप है कि इस में धन और समय दोनों का ही अपव्यय होता है। जनमत के निर्माण पर, चुनाव के प्रचार पर और बार-बार के चुनावों पर अमित धन-राशि खर्च करनी पड़ती है। संयुक्त राज्य अमेरिका, इंग्लैण्ड तथा भारत में हुए चुनावों में विभिन्न उम्मीदवार अपने-अपने चुनावों के लिए लाखों रुपया खर्च करते हैं। इस धन-राशि का प्रयोग राज्य में रचनात्मक कार्यों के लिए किया जा सकता है। मन्त्रिमण्डल तथा शासन की दुहरी व्यवस्था पर भी अपार धन-राशि को खर्च किया जाता है।

इसी प्रकार प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली के अन्तर्गत विधानमण्डलों में एक-एक बिल पर अनेक बार बहस होती है जब कि उनको कुछ ही दिनों में स्वीकृत किया जा सकता है। हिन्दू-कानून के सुधार के लिए अनेक वर्षों से ही प्रयत्न किये जा रहे हैं, परन्तु अभी तक वह निर्णयात्मक और अन्तिम रूप नहीं धारण कर सका।

(११) लोकतन्त्र युद्ध और संकटकालीन स्थिति का मुकाबला करने के लिए तथा वैदेशिक नीति के सफल प्रयोग में सदा ही असफल रहता है।[1] युद्ध तथा संकट-कालीन स्थिति का सामना करने के लिए शक्ति की और एकता की आवश्यकता होती है, उसके विकेन्द्रीकरण की नहीं। परन्तु प्रजातन्त्र के अन्तर्गत ऐसा नहीं हो पाता। वैदेशिक नीति के अनुसरण में असफलता के उदाहरण तो अनेक मिल जाते हैं। प्रेसीडेण्ट विल्सन ने संयुक्त राज्य अमेरिका की ओर से वर्साई की शान्ति-सन्धि पर हस्ता-क्षर किये थे परन्तु सीनेट ने उसे नामंजूर कर दिया। इसी तरह अनेक बार अनेक कूट-नीतिक तथ्यों को विधानसभाओं के सम्मुख रखना पड़ता है जिसका परिणाम यह होता है कि दूसरे देशों से कोई भी बात गुप्त नहीं रखी जा सकती।

प्रजातन्त्र पर कुछ विशेष विचारकों के विचार—प्रजातन्त्र पर सर हेनरी मेन के क्या विचार हैं, इसका हमने थोड़ा-बहुत संकेत ऊपर किया है। हेनरी मेन की तरह ही लार्ड ब्राइस ने भी प्रजातन्त्र पर अपने विचार प्रगट किये हैं। लार्ड ब्राइस ने विभिन्न प्रजातन्त्रात्मक शासनों के काम-काज का बड़ा गम्भीर तथा पक्षपातहीन अध्ययन किया था उसके आधार पर उसने प्रजातन्त्र में नीचे लिखे दोषों की अवस्थिति स्वीकार की है।

---

1. "Had democracies possessed the power they weild to day at the time of the invention of mechanical looms, or of the introduction of steam power and of railways, the realization of these inventions would have been impossible or would have been achieved at the cost of revolutions and repeated massacres. It is fortunate for the progress of civilization that the power of the crowds only began to exist when the great discoveries of science and industry had already been affected."—*Gustave Le Bon.*

(क) प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली में धन का अत्यधिक महत्त्व होता है। धन का प्रयोग अक्सर शासन-व्यवस्था को दूषित करने के लिए किया जाता है। धन के बल पर ही पूँजीपति लोग विधानपालिका, कार्यपालिका और कुछ अंशों में न्याय-पालिका को भी अपने प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत ले आते हैं।

(ख) प्रजातन्त्र के अन्तर्गत कुछ लोग राजनीति को एक पेशा ही बना लेते हैं।

(ग) शासन-व्यवस्था पर बहुत अधिक खर्च करना पड़ता है।

(घ) समानता के सिद्धान्त का दुरुपयोग किया जाता है। शासन-व्यवस्था के संचालन के लिए विशेष निपुणता की आवश्यकता होती है, परन्तु प्रजातन्त्र के अन्तर्गत इस तथ्य की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता।

(३) प्रजातन्त्र के अन्तर्गत राजनीतिक पार्टियाँ होती हैं। इनकी शक्ति की अनुचित रूप से अभिवृद्धि हो जाती है। साथ ही राजनीतिक पार्टियाँ अपने दलगत स्वार्थों के लिए सार्वजनिक हितों की उपेक्षा करती हैं।

(च) राजनीतिज्ञ लोग वोट प्राप्त करने के लिए सौदेबाजी करते हैं। सरकारी नौकर कानून की जान-बूझकर की गई अवज्ञा को भी डर से सहन करने लगते हैं।

लार्ड ब्राइस की भाँति प्रो० बार्कर लेबां तथा अमेरिका के सुप्रसिद्ध समाज-शास्त्री प्रो० गिडिंग्ज ने भी प्रजातन्त्र की आलोचना की है। **बार्कर** कहता है कि **"प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली से शासन की कार्य-क्षमता को बड़ा नुकसान पहुँचता है। सारांश में प्रजातन्त्र उन थोड़े से होशियार आदमियों का शासन है, जो सफलतापूर्वक निर्वाचकों को अपनी ओर खींच सकें।"**[1] लेबां लोकतन्त्र पर भावुकता के अत्यधिक प्रभाव को स्वीकार करता हुआ उसे भीड़ का शासन मानता है। **प्रो० गिडिंग्ज प्रजातन्त्र में दो प्रमुख दोष मानता है** (१) **"अभर्यादित भावुकता जिसकी अभि-व्यक्ति भीड़ों के हिंसापूर्ण कार्यों में तथा क्रान्तियों में होती है, और जो थोड़ी संख्या के लोगों के अधिकारों को दबाकर भीड़ों की मनमानी का समर्थन करती है।** (२) **दूसरा संकट है राष्ट्रीय चरित्र की गिरावट।"**

१०३. प्रजातन्त्र का समर्थन

प्रजातन्त्र के अनेक दोषों का विवरण हम ऊपर दे आए हैं, साथ ही उससे पहले प्रजातन्त्र के गुणों का विवेचन भी हो चुका है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या वस्तुतः ही प्रजातन्त्र सर्वथा निकम्मी शासन-प्रणाली है और वह भावुकता तथा तर्क-हीनता पर आधारित है तथा उसको खत्म किये बिना हमारा गुजारा ही नहीं? एक बात तो हमें माननी ही पड़ेगी कि प्रजातन्त्र पर लगाए गए अधिकांश आरोपों में पर्याप्त सत्यांश है, वे सर्वथा निराधार नहीं। परन्तु अनेक दोषों का बड़ा अत्युक्ति-

1. "When all is said and done it means the rule of the few manipulators who can collect sufferage in their own favour with the greatest success."—*Barker.*

पूर्ण वर्णन किया गया है और अनेक आलोचनाओं का आधार प्रजातन्त्र के प्रति परम्परागत विद्वेष तथा अविश्वास है। आवश्यकता है निष्पक्ष दृष्टिकोण की तथा वैज्ञानिक विवेचन की। मानवीय संस्थाएँ अपूर्ण होती हैं, उनमें पूर्णता असम्भव है क्योंकि मानवीय जीवन स्वयं अपूर्ण है। हिन्दू-दर्शन के अनुसार इस विश्व में अगर कोई सब प्रकार से दोषयुक्त और परम पूर्ण है तो वह परम ब्रह्म ही है, मनुष्य नहीं। अपूर्णता ही मानवीयता है। प्रजातन्त्र मानवीय संस्था है, वह हमारे जीवन की भाँति ही अपूर्ण है, उसे सब प्रकार से पूर्ण समझना या पूर्ण बनाने की आशा करना निरा स्वप्न मात्र है।

इस यथार्थ दृष्टिकोण को आधार मानकर ही हम प्रजातन्त्र के स्वरूप का समर्थन कर सकते हैं। प्रजातन्त्र के आलोचकों से एक ही प्रश्न पूछा जाना चाहिए कि प्रजातन्त्र के अतिरिक्त दूसरा रास्ता क्या है? क्या कोई ऐसी दूसरी शासन-पद्धति है जो प्रजातन्त्र से श्रेष्ठ हो या कम-से-कम उसके बराबर हो? कोई भी स्पष्ट उत्तर नहीं मिल पायेगा। दूसरी सभी शासन-प्रणालियों को अपनाकर देखा गया है परन्तु उनमें कोई भी ऐसी नहीं कि जो प्रजातन्त्र का स्थान ले सके। सदियों तक संसार ने कुलीनतन्त्र, अल्पतन्त्र तथा राजतन्त्र की परख की और उन्हें अपूर्ण तथा असफल पाया। आधुनिक युग में एकतन्त्र का भी प्रयोग इटली, जर्मनी तथा जापान और रूस इत्यादि देशों में किया गया, परन्तु उन द्वारा किस प्रकार उन आधारभूत मानवीय मूल्यों की अवहेलना की गई यह हम देख ही चुके हैं। प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्ध इसके उदाहरण हैं। इन सभी शासन-प्रणालियों में अच्छाइयाँ हैं, इनमें काफी गुण हैं, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता, परन्तु वे उन सभी आधारभूत मानवीय मूल्यों को अस्वीकृत हैं जिनकी सार्वजनिक मान्यता के लिए मनुष्य सदियों से लड़ता चला आया है। जीवन तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता इत्यादि के अधिकार कुछ ऐसे अधिकार हैं जो कि हमारे सभ्य मानवीय जीवन तथा सस्कृति के आधार हैं। व्यक्ति के महत्त्व की स्वीकृति ही आज के युग की सबसे बड़ी देन है, निश्चय ही हमारा मतलब ऐसे व्यक्ति से नहीं जो समाज से पृथक् तथा अलग हो। हमारा संकेत उसी व्यक्ति की ओर ही है जो कि समाज का आधार है और जिसकी नैतिक तथा भौतिक उच्चता की प्राप्ति समाज का उद्देश्य है। या यूं कहिए कि हमारा मतलब उस मानव से है जो कि अब केवल मानव मात्र ही है—पुजारी या पुरोहित राजा या प्रजा उपासक या उपास्य नहीं। प्रजातन्त्र ही ऐसे मानव की अवस्थिति को स्वीकार करता है और उसके व्यक्तित्व के विकास के आधारभूत जीवन, सुरक्षा तथा स्वाधीनता के अधिकारों को मान्यता देता है, कोई भी शासन-प्रणाली ऐसा नहीं कर पाती। अन्य शासन-प्रणालियाँ व्यक्ति को साधन के रूप में इस्तेमाल करती हैं साध्य के रूप में नहीं। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा जीवन के अधिकार आज पुराने, सकुचित अर्थ में इस्तेमाल नहीं किए जाते, वह केवल राजनीतिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता के परिचायक ही नहीं अपितु आर्थिक तथा भौतिक स्वतन्त्रता के भी सूचक हैं। अतः प्रजातन्त्र व्यक्ति के बौद्धिक, मानसिक, नैतिक तथा भौतिक विकास के लिए

सर्वोत्तम शासन-पद्धति है। ऐसी अवस्था में प्रजातन्त्र के परित्याग की बात ही निरर्थक तथा विवेकहीन है। प्रजातन्त्र पुरानी सभी प्रकार की शासन-प्रणालियों से श्रेष्ठ है। **सी. डी. बर्न्स** ने सर्वथा ठीक कहा है, **"कोई भी इस बात के मानने से इनकार नहीं करता कि मौजूदा प्रतिनिधि सभाएँ दोषपूर्ण हैं, अगर कोई मोटर गाड़ी कुछ खराब हो जाय तो उसको छोड़ बैलगाड़ी को अपनाना मूर्खतापूर्ण ही होगा, चाहे कितना ही आकर्षक क्यों न हो।"**[1]

प्रजातन्त्र के मौजूदा दोष ऐसे नहीं कि जो इस शासन-प्रणाली से ही सम्बन्धित हों, वे तो मानवीय प्रकृति और चरित्र से सम्बन्धित हैं। उन्हें हमें शासन-पद्धति का दोष नहीं कहना चाहिए अपितु मनुष्य चरित्र की ही कमजोरियाँ समझना चाहिए। प्रजातन्त्र में स्वार्थ-साधना, दलगत भावनाओं, रिश्वतखोरी इत्यादि की प्रधानता रहती है इसका कारण यही है कि मनुष्य-चरित्र दोषपूर्ण है, उसका प्रतिफलन शासन-व्यवस्था में होता है। वे दोष ऐसे नहीं कि उन्हें दूर ही न किया जा सकता हो। वातावरण तथा शिक्षा-दीक्षा की उचित व्यवस्था के संयोजन से ये सभी खराबियाँ दूर की जा सकती हैं, और प्रजातन्त्र के मौजूदा दोषों में से अनेकों को इस प्रकार खत्म किया जा सकता है। जनता के चरित्रवान सचेत तथा सुशिक्षित होने पर प्रजातन्त्र सब प्रकार से पूर्ण और सफल शासन-प्रणाली सिद्ध हो सकती है।

प्रजातन्त्र की मौजूदा कमियों को दूर करने के लिए अनेक सुझाव दिए गये हैं। **सर हेनरी मेन** ने प्रजातन्त्र की तीव्र आलोचना की थी परन्तु उसका विश्वास था कि **"विवेकपूर्ण संविधान द्वारा प्रजातन्त्र की अशान्ति तथा उच्छृंखलता को काबू किया जा सकता है।" लेकी ने प्रजातन्त्र की सफलता के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये हैं—**

(१) सम्पत्ति तथा इनकार को सुरक्षित करने के लिए कठोर संविधान।

(२) आकस्मिक तथा क्षणिक विस्फोट से बचाव के लिए बहुमत की सत्ता को निरंकुश न रहने दिया जाय।

(३) गुटबन्दियों पर रोक।

प्रजातन्त्र के **दोषों का इलाज** यांत्रिक तथा औपचारिक न होकर आध्यात्मिक होना चाहिए। जनसामान्य के नैतिक मानदण्ड के ऊँचे उठने से ही प्रजातन्त्र सफल हो सकता है।

१०४. प्रजातन्त्र की सफलता के साधन

प्रजातन्त्र बहुत ही कठिन शासन-प्रणाली है, उसकी पूर्ण सफलता कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के अधीन ही हो सकती है। पाश्चात्य विचारकों ने प्रजातन्त्र की सफलता की अनेक शर्तों का जिक्र किया है, इन्हें हम इस प्रकार रख सकते हैं—

---

1. "No one denies that existing representative assemblies are defective, but even if an automobile does not work well, it is foolish to go back into a form cart, however romantic."—*C. D. Burns.*

(१) **जागरूक, सचेत तथा बुद्धिसम्पन्न नागरिकता**—**"यह कथन सर्वथा सत्य है कि सतत जागरुकता ही स्वतन्त्रता की सबसे बड़ी कीमत है।"**[1] प्रजातन्त्र की सफलता बहुत कुछ नागरिकों की राजनीतिक जागरूकता विवेक-बुद्धि, शासकीय मामलों में स्थायी दिलचस्पी पर आश्रित है। एक पाश्चात्य विद्वान का कथन है कि लोकतन्त्र की सफलता की आवश्यक शर्त यह है कि इसका संचालन सब से अधिक बुद्धिमान विवेक सम्पन्न और सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा हो। जहाँ जनसाधारण में सार्वजनिक मामलों के प्रति उदासीनता की भावना होती है, वहाँ प्रजातन्त्र राज्य सफल नहीं हो सकता।

(२) **उच्च नैतिक चरित्र** भी प्रजातन्त्र की सफलता की आवश्यक शर्त है। जनसाधारण में ईमानदारी तथा आत्मगौरव का मानदण्ड पर्याप्त उच्च होना चाहिए। एक भ्रष्ट समाज एक भ्रष्ट शासन-प्रणाली को ही जन्म देता है। प्रजातन्त्र तो दर्पण की तरह समाज के अच्छे या बुरे चरित्र को प्रतिबिम्बित कर देता है। प्रजातन्त्र में नेताओं के चरित्र की उच्चता तो और भी अधिक आवश्यक है। उन्हें साधारण प्रलोभनों से ऊँचा होना चाहिए, ईमानदार होना चाहिए और अपने राजनीतिक कर्त्तव्यों का पालन निधड़क होकर करना चाहिए। जनसाधारण को भी राजनीतिक पार्टियों के मिथ्या प्रचार से बचना चाहिए और अपने नागरिक तथा राजनीतिक कर्तव्यों का पालन ईमानदारी से करना चाहिए। सामाजिक सेवा में दिलचस्पी लेनी चाहिए और सामूहिक विकास की योजनाओं में यथाशक्ति सहयोग देना चाहिए।

(३) **उच्च शिक्षा की व्यवस्था**—राजनीतिक चेतना तथा विवेकपूर्ण नागरिकता बहुत कुछ शिक्षा-व्यवस्था पर आधारित होती है। अशिक्षित नागरिक सार्वजनिक मामलों के हल में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं लेता और अगर वह ले भी तो भी वह उन्हें समझ ही नहीं पायेगा। यदि हम चाहते हैं कि जनसाधारण वस्तुतः सामाजिक जीवन के विकास में पूर्ण हिस्सा बटाये और उपयोगी सम्मति दे सके तो हमें अवश्य ही उच्च शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए।

शिक्षा का अर्थ केवल मात्र पुस्तकों द्वारा संगृहीत ज्ञान-प्राप्ति ही नहीं या केवल पढ़-लिख सकने की योग्यता ही नहीं अपितु नैतिक उच्चता भी है। शिक्षा को दूसरे शब्दों में सहानुभूति, सहिष्णुता तथा सामाजिक कर्त्तव्य-भावना को भी उत्पन्न करना चाहिए।

(४) **राज्य में नागरिक सहयोग**—यह राज्य शासन-प्रणाली जनसामान्य के सहयोग के बिना चल ही नहीं सकती। अतः नागरिकों को न केवल अपने कर्त्तव्यों का पालन ही करना चाहिए अपितु सरकार को न्याय तथा व्यवस्था बनाए रखने में सक्रिय सहयोग भी देना चाहिए। कानून-पालन के अतिरिक्त उन्हें टैक्सों को ईमानदारी से देना चाहिए। सरकार की विकास-योजनाओं के पूर्ण करने में सहयोग देना चाहिए और इसी प्रकार युद्धकालीन स्थिति में वह सभी कार्य करने चाहिएँ जिनसे राज्य की सुरक्षा हो सके।

---

1. "Constant vigilance is the price of liberty."

(५) सहिष्णुता तथा एकता की भावना—प्रजातन्त्र राज्य आलोचना तथा विचाराभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की उपस्थिति में ही फलता-फूलता है । साथ ही प्रजातन्त्र में बहुमत का शासन होता है, अल्पमत की उपस्थिति रहती ही है । ऐसी अवस्था में लोगों में सहिष्णुता (Tolerance) होनी चाहिए, वे एक दूसरे की बात को सुनें समझें और उनकी आलोचना करें, प्रत्येक बात को शान्तिपूर्ण ढँग से सुलझाएँ । बहुमत को भी अपने राजनीतिक तथा आर्थिक प्रोग्राम का अनुसरण इस ढंग से करना चाहिए कि वह अल्पमत को अप्रिय न हो । आपस के छोटे-मोटे भेद-भाव को भुलाकर राष्ट्रीय एकता की भावना को उत्पन्न करें । अगर उनमें संकुचितता असहिष्णुता, साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तीयता इत्यादि दुर्गुण होंगे तो उससे राष्ट्रीय एकता स्थिर नहीं रह सकेगी और प्रजातन्त्र के अन्तर्गत विद्वेष तथा वैमनस्य फैल जायगा । विचारकों का कहना है कि लोगों को आपस के भेद-भाव भुलाकर एक राष्ट्रीयता का अनुभव करना चाहिए ।

(६) जागरूक प्रेस तथा सुसंगठित राजनीतिक दल—राष्ट्रीय एकता तथा सचेत जनमत के निर्माण में स्वतन्त्र प्रेस और राजनीतिक पार्टियों का विशेष हाथ होता है। प्रेस की स्वतन्त्रता जनतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है । अगर प्रेस एक पार्टी के हाथ में है, उसमें निष्पक्ष आलोचना नहीं रहती, उसमें केवल सरकार की प्रशसा ही रहती है, तो वह जनमत का निर्माण नहीं कर सकता । प्रजातन्त्र में प्रेस की महत्ता तो इसी बात से पता लग जाती है कि उसे प्रजातन्त्र का चौकीदार कहा जाता है ।

राजनीतिक दल भी जनमत का निर्माण करते हैं । वस्तुतः वे तो प्रजातन्त्र की मशीनरी की मुख्य संचालक-शक्ति हैं । सप्रसिद्ध अमेरिकन समाजशास्त्री **मेकआइवर** (MacIver) ने ठीक ही कहा है, **"राजनीतिक दलों के बिना सिद्धान्तों का एकीकृत प्रगटीकरण, नीति का व्यवस्थित विकास तथा संसदीय चुनावों के संवैधानिक साधन का इस्तेमाल असम्भव है ।"**[1]

(७) राजनीतिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण—आज के युग में प्रजातन्त्र की सफलता की एक बड़ी शर्त राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण है। राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीकरण न केवल स्वस्थ राज्य शासन के विकास में ही बाधक है और न केवल शासन की सुचारुता (Efficiency) के लिए ही घातक है बल्कि स्वयं प्रजातन्त्र का ही शत्रु है । राज्य-शक्ति का केन्द्रीकरण अधिनायकतन्त्र का जनक होता है, अतः आज यह माना जाता है कि प्रजातन्त्र के अन्तर्गत संघ राज्य तथा स्थानीय स्वशासन (Local self government) का विकास किया जाना चाहिए । स्थानीय स्वशासन एक तो जनसाधारण के लिए प्रजातन्त्र के प्रारम्भिक शिक्षण-केन्द्र साबित होते हैं दूसरे वह स्थानीय समस्याओं के सुलझाव के लिए स्थानीय

1. "Without political parties there can be no unified statement of principles, no orderly evolution of policy and no regular resort to the constitutional device of parliamentary elections."—*MacIver*.

व्यक्तियों को ही उत्तरदायी बना केन्द्रीय सरकार की जिम्मेवारी को घटा देते हैं। केन्द्रीय सरकार अपनी इस शक्ति का प्रयोग जनसामान्य के हित के लिए अन्य विकास-योजनाओं को पूर्ण करने में लगा सकती है। स्थानीय स्वशासन राष्ट्रीय प्रजातन्त्र का आधार होता है।

(८) **आर्थिक प्रजातन्त्र**—प्रजातन्त्र की पुरानी कल्पना चाहे जो रही हो आजकल वह अवश्य ही बदल गई है। आज सभी यह स्वीकार करते हैं कि प्रजातन्त्र एक ऐसे समाज में नहीं सफल हो सकता जहाँ एक ओर तो अत्यधिक गरीबी हो और दूसरी ओर अत्यधिक सम्पन्नता हो। समाज का ऐसा विभाजन वर्ग-युद्ध (Class-war) को पैदा करेगा, राज्य में अशान्ति और असहयोग को फैलायेगा और अन्त में हिंसात्मक कार्यवाहियों के रूप में समाज में प्रगट होगा।

राजनीतिक समानता आर्थिक समानता के बिना व्यर्थ है। उसकी कोई कीमत नहीं। आधे भूखे आदमी को वोट का अधिकार दे उसे राजनीतिक प्रभुता का हिस्सेदार कहना उसके साथ परिहास करना ही है। एक धनी और गरीब निर्वाचक का क्या मुकाबला हो सकता है? आर्थिक असमानता की मौजूदगी में प्रजातन्त्र एक ढोंग है। हम ऊपर देख चुके हैं कि किस प्रकार अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में पूँजीपति वर्ग सम्पूर्ण राजनीतिक संगठन का नियंत्रण करता है, और किस प्रकार धन प्रजातंत्र को दूषित करता है। वस्तुतः प्रजातन्त्र की अनेक मौजूदा कमियों का इलाज आर्थिक असमानता को दूर करना है।

जनतन्त्र की सफलताविषयक मिल के सुझाव—इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध विचारक **जे० एस० मिल** (J. S. Mill) ने प्रजातन्त्र की सफलता के लिए निम्नलिखित शर्तों की मौजूदगी लाजमी मानी है—

(१) जनता में प्रजातन्त्रात्मक सरकार कायम करने की इच्छा तथा क्षमता की मौजूदगी।

(२) जनसामान्य को प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये।

(३) जनता में अपने कर्त्तव्यों का पालन करने और अपने अधिकारों की रक्षा की इच्छा तथा सामर्थ्य होनी चाहिये।

१०५. प्रजातन्त्र का भविष्य

स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व (Liberty, Equality & Fraternity) की भावनाओं पर आधारित प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों का प्रचार सम्पूर्ण विश्व में हुआ। प्रजातन्त्र के शत्रुओं ने इसकी कटु आलोचना की, उसे एक भ्रष्ट और निकम्मी शासन-पद्धति कहा। नैतिक दृष्टि से, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, और भी न जाने कितने आधारों पर प्रजातन्त्र की आलोचना की गई। परन्तु उन सबके बावजूद भी प्रजातन्त्र का आन्दोलन बढ़ता गया और जनता में उसके प्रति अगाध विश्वास पैदा हो गया। दूर-दूर के पिछड़े हुए राज्यों में भी जन-जागरण हुआ, राजनीतिक चेतना

फैली, क्रान्तियाँ हुईं, और प्रजातन्त्र शासन स्थापित हुए। स्वतन्त्रता और समानता के आदर्शों से प्रेरित होकर लोगों ने बड़े-बड़े बलिदान किये और वैयक्तिक गौरव तथा सम्मान की भावनाओं का विकास किया।

व्यावहारिक दृष्टि से भी संयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंग्लैण्ड जैसे राज्यों में प्रजातन्त्र की सफलता को स्वीकार किया गया। सर हेनरी मेन प्रजातन्त्र के कटु आलोचक थे और वह इसे मानवीय इतिहास में एक अस्थायी व्यवस्था ही स्वीकार करते थे। परन्तु संयुक्त राज्य के प्रजातन्त्र की सफलता ने उनकी धारणा बदल दी। लकी ने भी स्वीकार किया कि "समस्त सभ्य देशों में अधिक समय तक प्रजातन्त्र के आधिपत्य बने रहने की सम्भावना है।"

प्रथम विश्व-युद्ध तक ऐसा प्रतीत होता था कि संसार में कोई भी बड़ी से बड़ी शक्ति प्रजातन्त्र के विस्तार को नहीं रोक सकती। प्रथम विश्व-युद्ध कहा जाता है कि प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए लड़ा गया। युद्ध की समाप्ति के बाद जर्मनी, इटली, स्पेन तथा आस्ट्रिया जैसे देशों में प्रजातन्त्र व्यवस्थाएँ स्थापित की गईं। परन्तु यह सब अस्थायी था, युद्ध के दौरान में और युद्ध की समाप्ति के अनन्तर जनसामान्य में प्रजातन्त्र के प्रति एक अविश्वास की लहर दौड़ गई। विशेष रूप से युद्ध के बाद की विश्व-आर्थिक मन्दी ने तो इंग्लैण्ड और अमेरिका जैसे पुराने प्रजातन्त्रों की कमर तोड़ दी। इटली तथा जर्मनी में तो प्रजातन्त्र का स्थान अधिनायकतन्त्र (Dictatorship) ने ले लिया। युद्धके दौरान में प्रजातन्त्र के अन्तर्गत शक्ति का केन्द्रीयकरण हो गया था, वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का क्षेत्र सीमित हो गया था, और जनसामान्य युद्ध द्वारा उत्पन्न कठिनाइयों के तले पिस गया था। बाद की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी ने इन कठिनाइयों को और भी बढ़ा दिया।

प्रजातन्त्र की इस असफलता की अनेक विवेचनाएँ की गईं। प्रो० लास्की तथा सिडनी वेब इत्यादि इंग्लैण्ड के समाजवादी विचारकों ने प्रजातन्त्र की असफलता के कारणों को पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे खोजने का प्रयत्न किया। मार्क्सवाद के समर्थकों ने भी प्रजातन्त्र की अपूर्णता का कारण पूँजीवादी व्यवस्था को माना। उनका कथन है, पूँजीवादी शासन-व्यवस्था में राज्य-शक्ति चन्द धनी-मानी लोगों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है। जब कभी समाज में उत्पादन के समान बँटवारे की बात उठती है तो वे राजकीय सत्ता का प्रयोग श्रमिक वर्ग के दबाने के लिए करते हैं। जर्मनी तथा इटली में प्रजातन्त्र को नष्ट कर पूँजीवादी वर्ग ने राज्य की शक्ति के बल पर सर्वहारा वर्ग को दबा अधिनायकतन्त्र को स्थापित किया। इस प्रकार उन्होंने प्रजातन्त्र की सफलता के लिए पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के सुधार की माँग की। मार्क्सवादियों के मतानुसार प्रजातन्त्र के स्थान पर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र की स्थापना की आवश्यकता है।

प्रथम विश्व-युद्ध तथा द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान का समय प्रजातन्त्र अधिनायकतन्त्र की पारस्परिक रस्साकशी का समय कहा जा सकता है। जर्मनी, इटली तथा रूस में स्थापित अधिनायकतन्त्र के अन्तर्गत आर्थिक तथा औद्योगिक क्षेत्रों में विशेष

प्रगति हुई। जनसाधारण में प्रजातन्त्र के प्रति अविश्वास बढ़ने लगा। परन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध ने यह साबित कर दिया कि अधिनायकतन्त्र एक स्थायी शासन-व्यवस्था नहीं हो सकती और न ही वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति तथा सुरक्षा की पोषक हो सकती है। अधिनायकतन्त्र जन-सामान्य की उपेक्षा करता है, समाज के कुछेक चुने हुए व्यक्तियों की स्वार्थ-सिद्धि का साधन होता है। हम पीछे देख ही चुके हैं, प्रजातन्त्र के स्थान पर अधिनायकतन्त्र की व्यवस्था का अर्थ है उन सभी मानवीय मूल्यों की अस्वीकृति तथा परित्याग, जिनके लिए कि अभी तक मानवता सतत संघर्ष करती चली आई है।

द्वितीय विश्व-युद्ध में निश्चय ही प्रजातन्त्रवादियों की जीत हुई, परन्तु इसके साथ ही समाजवादी अधिनायकतन्त्र की स्थिति जहाँ मजबूत हुई वहाँ उसका अन्य देशों में विस्तार भी हुआ। रूस के पास-पड़ौस के पूर्वीय यूरोप के प्रायः सभी देशों में रूस के आदर्शों पर अधिनायकतन्त्र की स्थापना हो गई। साथ ही चीन में भी साम्यवाद की विजय हुई। प्रजातन्त्र का विस्तार भारत, बर्मा, लंका व हिन्द-चीन तथा पाकिस्तान में हुआ। आज संघर्ष साम्यवादी अधिनायकतन्त्र तथा पूँजीवादी प्रजातन्त्र में है। पूँजीवादी प्रजातन्त्र के गढ़ अमेरिका में ही सैनिक अधिनायकतन्त्र की प्रवृत्तियाँ जागृत हो रही हैं। दोनों वर्गों के पारस्परिक संघर्ष से एक बात तो अवश्य सिद्ध होती है कि दोनों ही नैतिक दृष्टि से प्रजातन्त्र की दुहाई देते हैं। सोवियत रूस तथा उसके नेता भी अपने आपको वास्तविक प्रजातन्त्र का प्रतिनिधि कहते हैं और अपने सम्पूर्ण संविधान को चाहे दिखावे के लिए ही—प्रजातन्त्र पर आधारित बतलाते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से निश्चय ही प्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्त उच्च हैं, परन्तु उनका प्रयोग तभी सफल हो सकता है जबकि उसका इस्तेमाल जनसाधारण की उन्नति के लिए किया जाय, वर्ग, या जातिगत, स्वार्थों की सुरक्षा के लिए नहीं। आज प्रजातन्त्र का भविष्य तभी उज्ज्वल हो सकता है जबकि एक तो विश्व-शान्ति रहे दूसरा राजकीय शक्ति का केन्द्रीयकरण हो और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था को अपनाया जाए। मानवता की सुख-समृद्धि प्रजातन्त्र के भविष्य पर आधारित है।

Important Questions

Reference

1. What do you mean by democracy? (*Cal.* 1936)
   Or,
   What are the cardinal features of democracy? (*Cal.* 1953) — Arts. 99 to 103

2. Distinguish between direct and indirect democracy. (*Pb.* 1938) — Arts. 100 to 102

3. Discuss the merits and demerits of the Monarchical form of government. Is this form of government likely to disappear altogether? (*Pb.* 1936) — Art. 97

4. Estimate the strength and weakness of democracy as a form of government. (*Cal.* 1955, '49, '48, '4 , ' 6, '33 ; *Pb.* 1937 ; *Nag.* 1944) — Arts. 100 to 103

5. What are the essential conditions for the successful working of democratic government? To what extent are they present in India. (*Pb.* 1953) — Arts. 100 to 102

6. Examine the merits and demerits of democracy as a form of government. (*Pb.* 1952) — Arts. 100 to 103

7. Discuss the various forms of democracy. — Arts. 100 to 102

अध्याय १४

राज्य तथा शासन के भेद (३)

एकात्मक तथा संघ-शासन व्यवस्था
(Unitary and Federal Government)

शासन के राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र रूपों का विवेचन पीछे किया जा चुका है। शासन के ये स्वरूप बहुत कुछ ऐतिहासिक हैं और वर्तमान सरकारों पर संशोधित रूप में ही लागू हो सकते हैं। आजकल शासन के वर्गीकरण का एक आधार केन्द्रीय तथा प्रान्तीय राज्यों के क्षेत्र तथा कर्त्तव्यों के विकास के फलस्वरूप अनेक राज्यों में राजकीय शक्तियों का विभाजन कर दिया गया है, कुछ आवश्यक और राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विषय केन्द्र को सौंप दिए जाते हैं और स्थानीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विषयों के शासन को प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिया जाता है। इस प्रकार वर्तमान सरकार को (१) **एकात्मक** (Unitary) तथा (२) **संघात्मक शासन** (Federation) **में बाँटा जाता है।**

१०६. एकात्मक शासन (Unitary Government)

सर्वप्रथम हम एकात्मक शासन का स्वरूप विवेचन करेंगे। डा० गार्नर ने एकात्मक शासन की परिभाषा इस प्रकार की है, **"एकात्मक शासन-व्यवस्था वह शासन-प्रणाली है जहाँ संविधान एक केन्द्रीय अंग या अंगों को सम्पूर्ण सत्ता प्रदान करता है और इन्हीं से स्थानीय शासनों को सम्पूर्ण स्वायत्त तथा अधिकार शक्ति प्राप्त होती है।"**[1] इस प्रकार एकात्मक शासन के अन्तर्गत सम्पूर्ण राजकीय शक्ति का केन्द्रीयकरण होता है और एक केन्द्र ही सभी प्रकार की राजकीय शक्ति का अन्तिम स्रोत होता है। वही सम्पूर्ण देश के शासन के लिए उत्तरदायी होता है।

राज्य को प्रशासकीय सुविधा के लिए विभिन्न हिस्सों में बाँट दिया जाता है और एक ही राज्य में केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारें भी हो सकती हैं। परन्तु उनकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं होती, वह अपने जीवन तथा अपनी शासकीय शक्तियों के लिए केन्द्रीय सरकार पर निर्भर होती हैं। वह तो वस्तुतः केन्द्रीय सरकार की ही उपज होती हैं, उसी द्वारा खत्म भी की जा सकती हैं, उनकी शक्तियों को भी केन्द्रीय सरकार अपनी मर्जी के अनुसार घटा-बढ़ा सकती है। संक्षेप में, राज्य के अन्तर्गत उनकी कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं होती, स्वायत्त शासन का अभाव होता है। एकात्मक

1. "Unitary is that system where the whole power of government is conferred by the constitution upon a single central organ or from which the local governments derive whatever authority or autonomy they may possess, and indeed their very existence."—*Garner.*

शासन के विपरीत संघीय शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत स्थानीय सरकारों की स्वतन्त्र स्थिति होती है। वे केन्द्रीय सरकार की उपज न हो संविधान द्वारा स्वीकार की जाती हैं, उनकी शक्तियाँ भी केन्द्रीय सरकार की देन न हो संविधान द्वारा दी जाती हैं, जो कि केन्द्रीय और स्थानीय दोनों सरकारों का निर्माता होता है। इस प्रकार एकात्मक शासन के अन्तर्गत केवल एक सरकार होती है, तथा संघीय शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत दो—केन्द्रीय तथा स्थानीय।

एकात्मक शासन के उदाहरण—ग्रेटब्रिटेन, इटली तथा फ्रांस इत्यादि देश एकात्मक शासन-व्यवस्था के उदाहरण हैं। १९३५ के शासन-विधान के लागू होने से पूर्व भारत का शासन भी एकात्मक था। ग्रेटब्रिटेन में स्वायत्त शासन की व्यवस्था है, तथा स्थानीय सस्थाएँ पर्याप्त स्वतन्त्रता तथा स्वाधीनता का उपयोग करती हैं। परन्तु उनको यह सम्पूर्ण सत्ता केन्द्रीय सरकार द्वारा ही दी जाती है।

फ्रांस की शासन-व्यवस्था का सार राजकीय शक्ति का केन्द्रीकरण है, फिर भी वहाँ अनेक प्रादेशिक तथा स्थानीय शासन-संस्थाएँ हैं, उन्हें पर्याप्त स्वायत्त शासन मिला हुआ है। किन्तु अन्ततः उनका नियंत्रण भी पेरिस की केन्द्रीय सरकार ही करती है, पेरिस की केन्द्रीय सरकार ही उनकी शासन-व्यवस्था का अन्तिम स्रोत है।

१९१९ के भारतीय विधान के अन्तर्गत केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन विषयों (Administrative subjects) का विभाजन कर दिया गया था। प्रान्तीय सरकारों को अनेक प्रशासकीय विषयों पर कानून बनाने के अधिकार दिये गये और प्रान्तीय विधानपालिकाओं की व्यवस्था की गई। परन्तु प्रशासकीय तथा वैधानिक विषयों में अन्तिम नियन्त्रण केन्द्रीय सरकार के हाथ में ही रहा। केन्द्रीय सरकार की सम्पूर्ण सत्ता गवर्नर-जनरल तथा उसके मंत्रिपरिषद् के हाथ में रहती। इस प्रकार प्रान्तीय सरकारें गवर्नर-जनरल की देख-रेख में काम करती और जब कभी आवश्यकता पड़ती वह स्वयं भी प्रान्तीय शासन में दखल दे सकता था।

एकात्मक शासन के गुण—एकात्मक शासन-व्यवस्था में नीचे लिखे गुण स्वीकार किये जाते हैं—

(१) एकात्मक सरकार राष्ट्रीय संगठन के लिए अधिक उपयुक्त होती है। केन्द्र के शक्तिसम्पन्न होने के कारण सम्पूर्ण देश को एक ही सरकार के नियन्त्रण में रखा जाता है और इस प्रकार कानून तथा शासन के विषय में एकता रहती है। सारे देश के लिए एक ही कानून होता है और एक ही शासन होता है।

संघ-शासन के अन्तर्गत शक्तियों के विभाजन के कारण केन्द्र की स्थिति कमजोर होती है और वह सम्पूर्ण देश में संकटकालीन स्थिति में शासन-व्यवस्था की स्थापना में असफल रहता है।

(२) युद्ध तथा संकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए एकात्मक शासन अधिक उपयुक्त रहता है। क्योंकि संकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए शासन-नीति की एकता आवश्यक है जो विभिन्न सरकारों की उपस्थिति में सम्भव नहीं हो सकती। संघ-सरकार को प्रादेशिक सरकारों पर आश्रित रहना पड़ता है। एकात्मक

सरकारें संघ सरकारों की अपेक्षा विदेश-नीति के अनुसरण में अपेक्षाकृत अधिक शक्तिसम्पन्न होती हैं। संघशासन-व्यवस्थाओं को अपने अन्तर्राष्ट्रीय निश्चयों तथा सन्धियों को लागू करने के लिए प्रादेशिक सरकारों का सहयोग लेना पड़ता है, वह इस विषय में उन पर आश्रित रहता है।

(३) एकात्मक शासन-व्यवस्था अपेक्षाकृत कम खर्चीली होती है। संघीय कानूनों को लागू करने के लिए दुहरे शासन की व्यवस्था रहती है, और वैसे भी प्रादेशिक तथा संघीय दो शासन-व्यवस्थाएं साथ-साथ रहती हैं फलतः उसमें शासन-व्यवस्था का खर्चा बढ़ जाता है।

एकात्मक शासन-व्यवस्था सरल होती है और उसमें प्रादेशिक तथा संघीय विधानपालिकाओं द्वारा पास कानूनों में झगड़े की गुंजाइश ही नहीं रहती।

एकात्मक शासन की कमजोरियाँ—एकात्मक शासन की आलोचना नीचे लिखे प्रकार से की जाती है—

(१) एकात्मक शासन का सबसे बड़ा दोष शासन-शक्ति का केन्द्रीकरण है। आज की प्रजातन्त्र की शासन-व्यवस्था की सफलता के लिए राजकीय शक्ति का विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) आवश्यक है। विकेन्द्रीकरण की अनुपस्थिति में केन्द्रीयसरकार में अधिनायकतन्त्र की भावना जोर पकड़ जाती है।

दूसरे शासन की सुचारुता के लिए भी श्रम-विभाजन की आवश्यकता है। आज राज्य के कर्त्तव्यों की संख्या बहुत बढ़ गई है। ऐसी अवस्था में यदि एक ही सरकार सभी कर्त्तव्यों के पालन के लिए उत्तरदायी हो तो निश्चय ही शासन-व्यवस्था त्रुटिपूर्ण हो जायगी और शासकीय कार्यों को कुशलतापूर्वक पूरा नहीं किया जा सकेगा।

(२) एकात्मक शासन के अन्तर्गत नागरिकों में प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली के कार्यों में कोई विशेष दिलचस्पी ही नहीं रहती। सर्वसाधारण की वास्तविक दिलचस्पी स्थानीय समस्याओं में होती है और उनके स्वायत्त शासन की व्यवस्था एकात्मक शासन के अन्तर्गत नहीं हो सकती। एकात्मक शासन प्रजातन्त्र में स्वस्थ विकास के लिए हितकर नहीं होता।

(३) एक ही केन्द्र से सम्पूर्ण राष्ट्रीय तथा प्रादेशिक समस्याओं का समुचित हल भी मुश्किल ही हो पाता है। प्रत्येक प्रदेश की अपनी स्थानीय समस्याएं होती हैं, उनकी प्रकृति का जितना अच्छा ज्ञान उस प्रदेश के लोगों को हो सकता है उतना दूरस्थ केन्द्रीय अधिकारियों को नहीं। फिर केन्द्रीय अधिकारियों को इन समस्याओं के संचालन के लिए सरकारी नौकरों की लम्बी-चौड़ी व्यवस्था करनी पड़ेगी जो बहुत खर्चीली होगी और साथ ही निकम्मी भी साबित होगी।

(४) बड़े-बड़े राज्यों में आज अनेक राष्ट्रीय इकाइयाँ हैं, उनकी अपनी भाषा होती है, अपनी सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक परम्पराएँ होती हैं। उनकी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति एकात्मक शासन से सम्भव नहीं। एकात्मक शासन के अन्तर्गत उनकी आवश्यकताओं का ठीक-ठीक ध्यान नहीं रखा जा सकता, इसलिए

उनमें असन्तोष बढ़ने की आशंका रहती है जिसका फल राष्ट्रीय एकता का खण्डन भी हो सकता है। राष्ट्रीय इकाइयों (Nationalities) का पूर्ण विकास स्वायत्त-शासन पूर्ण संघीय सरकार में ही सम्भव है। एकात्मक शासन छोटे देश के लिए ही उपयुक्त होता है।

१०७. संघ शासन-व्यवस्था (Federal Government)

संघ शासन एकात्मक शासन से अनेक बातों में विभिन्न है। एकात्मक शासन के विपरीत संघ राज्यों में दो राज्यों की व्यवस्था एक साथ रहती है, एक को संघराज्य कहते हैं और दूसरे को प्रादेशिक राज्य। भारत संघ में जहाँ एक केन्द्रीय राज्य है, वहाँ बंगाल, मद्रास तथा पंजाब इत्यादि विभिन्न प्रादेशिक राज्य भी है। इस प्रकार संघराज्य को राज्य का संघ (Union of States) कहा जाता है। वैज्ञानिक रूप से अवश्य ही बंगाल, मद्रास तथा पंजाब इत्यादि संघीय इकाइयों (Units) को राज्य नहीं कहा जा सकता, परन्तु व्यवहार में इन प्रदेशों को राज्य कहा जाता है, जो कि इन प्रदेशों की सरकारों के पर्यायवाची हैं। भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस सभी में संघीय इकाइयाँ राज्य कहलाती है।

संघ शासन तथा एकात्मक शासन के भेद का आधार केन्द्रीय सरकार तथा प्रादेशिक सरकारों का पारस्परिक शक्ति विभाजन (Division of power) है। संघ शासन में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होती हैं, और दोनों की रचना संवैधानिक होती है। दोनों की शक्तियों का विवेचन भी संविधान के अन्तर्गत ही कर दिया जाता है जिसे केन्द्रीय या प्रादेशिक सरकारें बदल नहीं सकतीं।

संघशासन की परिभाषा (Definition of federation)—सुप्रसिद्ध फ्रेंच विचारक मांटेस्क्यू (Montesquieu) के अनुसार **"संघ शासन एक ऐसा समझौता है जहाँ बहुत से एक जैसे राज्य एक बड़े राज्य के सदस्य बनने को सहमत हो जाते हैं।"**[1]

सुप्रसिद्ध अमेरिकन विधानशास्त्री हेमिल्टन के मतानुसार **"संघ राज्य राज्यों का एक ऐसा समुदाय है जो कि एक नवीन राज्य की रचना करता है।**[2]

जर्मन राजनीतिविशारद **जेलिनेक** के मतानुसार **"संघ राज्य कई राज्यों के मेल से निर्मित एक प्रभुत्वसम्पन्न राज्य होता है, जिसकी शक्ति उसे अपने अंगभूत राज्यों से प्राप्त होती है, और यह राज्य इस प्रकार आपस में बँधे होते हैं कि उनके मेल से एक पूर्ण राजनीतिक इकाई का निर्माण होता है। यह राज्यों का एक समुदाय होता है जिसमें, इस योग के फलस्वरूप अंगभूत राज्यों से श्रेष्ठ एक प्रभुत्व-**

---

1. "Federal government is a convention by which several similar States agree to become members of a larger one."—*Montesquieu.*

2. "An association of States that forms a new one."—*Hamilton.*

सम्पन्न सत्ता की प्रतिष्ठा हो जाती है, परन्तु इस सत्ता में राज्य भी हिस्सेदार होते हैं।"[1]

अंग्रेज विचारक डायसी ने संघराज्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि **"संघ-राज्य एक राजनीतिक समझौता मात्र है जिसका मकसद राष्ट्रीय एकता तथा राज्य-अधिकारों में ताल-मेल बिठाना होता है।"[2]**

१०८. संघ राज्य के आवश्यक तत्त्व (Essential features of federation)

ऊपर लिखी गई परिभाषाओं द्वारा संघ राज्य के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। नीचे हम वर्तमान संघ राज्यों के स्वरूप के अध्ययन पर आधारित संघ राज्य के कुछ आवश्यक तत्त्वों का विवेचन करेंगे। ये आवश्यक तत्त्व इस प्रकार हैं—

(१) संविधान की श्रेष्ठता (Supremacy cf the constitution)।

(२) शक्ति-विभाजन (Division of powers)।

(३) न्यायपालिका की उच्चता की व्यवस्था (Supremacy of the Judiciary)।

(१) संविधान की श्रेष्ठता—संघराज्य के स्वरूप को निश्चित तथा व्यवस्थित करने के लिए संविधान की श्रेष्ठता एक परम आवश्यकता है। क्योंकि संघ राज्य अनेक राज्यों के पारस्परिक मेल से बनता है। वे आपस में एक समझौता करते हैं और इस समझौते द्वारा संघ राज्य की स्थापना करते हैं। संविधान इस समझौते की शक्ति का लिखित रूप होता है। संघ राज्य का निर्माण करते हुए राज्य अपने कुछ अधिकारों को केन्द्रीय या संघीय राज्य को सौंप देते हैं और शेष अधिकारों को अपने पास रखते हैं। वे इस समझौते द्वारा अवश्य ही एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करते हैं, परन्तु वे अपने व्यक्तित्व को सर्वथा नवीन राज्य में विलीन नहीं कर देते। अतः संघ शासन के अन्तर्गत दो पक्ष होते हैं। इन दोनों पक्षों के अधिकारों तथा कर्तव्यों का विवेचन संविधान में रहता है। संघ राज्य तथा प्रादेशिक सरकारों को संविधान के अनुसार ही अपने-अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का पालन करना होता है।

---

1. "A federal state is a sovereign State formed out of several States, the power of the former being derived from the States which compose it, and to which latter are bound together as to form a political entity. It is an association of States, which has as a result formed the institution of a sovereign power superior to the associated states, but in which, however, the latter participate."—*Jellinek.*

2. "A federal state is nothing but a political contrivance intended to reconcile national unity with the maintenance of State rights."—*Diecy.*

यह संविधान निश्चित, स्पष्ट तथा लिखित होना चाहिए । साथ ही उसके संशोधन की प्रक्रिया (Process) कठिन होनी चाहिए। क्योंकि अगर संविधान परिवर्तनशील हो तो केन्द्रीय या प्रादेशिक सरकारें उसे अपनी मन-मर्जी के मुताबिक तबदील कर सकती हैं और इस प्रकार एक-दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकती हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यदि इंग्लैण्ड में भी संघात्मक शासन-व्यवस्था स्थापित की जाए तो परिवर्तनशील संविधान के स्थान पर कठोर संविधान की व्यवस्था आवश्यक हो जायगी।

(२) **शक्तियों का विभाजन** (Division of powers)—संघ शासन का मुख्य आधार केन्द्र तथा राज्यों में शक्तियों का विभाजन है। एकात्मक तथा संघ शासन में इसी आधार पर भेद किया जाता है । संघ शासन के अन्तर्गत राज्य तथा केन्द्र दोनों ही अपनी शक्तियों को संविधान से प्राप्त करते हैं। एकात्मक शासन के अन्तर्गत राज्य सरकारों के अधिकार मौलिक नहीं होते, वे उन्हें केन्द्रीय सरकार से अनुदान (grant) रूप में मिलते हैं, परन्तु संघ शासन के अन्तर्गत राज्यों की शक्तियाँ संवैधानिक होती हैं। अतः उनके विभाजन में केन्द्रीय सरकार किसी भी प्रकार का परिवर्तन आसानी से नहीं कर सकती।

शक्तियों के विभाजन के विषय में तकरीबन सभी संघ राज्यों में एक ही नियम इस्तेमाल किया गया है । राष्ट्रीय जीवन से सम्बन्धित सभी विषय संघ सरकार को सौंप दिये जाते हैं जब कि स्थानीय महत्त्व के विषय राज्य सरकारों के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। रक्षा, विदेश, यातायात के साधन, अन्तर्प्रान्तीय व्यापार, बैंकिङ्ग इत्यादि विषय संघराज्य को सौंपे जाते हैं, स्वास्थ्य, शिक्षा, स्वायत्त-शासन, इत्यादि राज्य सरकारों के सुपुर्द किये जाते हैं।

(३) **संघीय न्यायालय** (Federal Judiciary)—संघ राज्य की तीसरी विशेषता संघीय न्यायलय की उच्चता है। संघीय न्यायालय का कार्य संविधान की व्याख्या है। एक ही राज्य में विभिन्न-विभिन्न क्षेत्रों मे उपस्थित दो सरकारों में संविधान की व्याख्या सम्बन्धी या शक्तियों के विभाजन सम्बन्धी झगड़ों के उत्पन्न हो जाने की सम्भावना रहती है। इन झगड़ों के निपटारे के लिए निष्पक्ष सत्ता की व्यवस्था लाजमी है। संघीय-न्यायालय मुख्य रूप से दो कार्य करते हैं—

(क) संघ सरकार तथा राज्य सरकारों में परस्पर उत्पन्न शक्ति विभाजन सम्बन्धी या अन्य प्रकार के झगड़ों को निपटाना।

(ख) संविधान की न्यायसंगत तथा अधिकारपूर्ण व्याख्या। इस स्थिति में न्यायालय यह भी देखते हैं कि संघ सरकार और राज्य सरकारें, दोनों ही, अपने-अपने निश्चित क्षेत्र में रहें और एक-दूसरे के क्षेत्र में दखल न दें। जब कभी राज्य सरकारें या संघ सरकार अपने क्षेत्र को लाँघ ऐसे कानून बनाती है या कार्य करती है जो कि संविधान के अनुसार नहीं होते तो संघीय न्यायालय उन्हें **गैरकानूनी** (*Ultra vires*) करार दे देता है। इस प्रकार संघीय न्यायालय संघ सरकार तथा राज्य सरकारों के कानूनों तथा कार्यवाहियों की संवैधानिकता का निश्चय करता है।

न्यायालय की उच्चता की व्यवस्था भारत संघ तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में की गई है। कनाडा में भी सुप्रीम कोर्ट कानून की संवैधानिकता पर अपना निश्चय दे सकता है परन्तु गवर्नर-जनरल ही उसे गैरकानूनी करार दे सकता है। स्विट्ज़रलैण्ड तथा सोवियत रूस में संघीय न्यायालय को यह अधिकार नहीं।

१०६. संघ-शासन के भेद (Types of Federal Union)

किसी भी संघ शासन-व्यवस्था को पूर्ण या आदर्श नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक देश की अपनी परिस्थितियाँ होती हैं, अपनी समस्याएँ होती है, अपने उद्देश्य तथा साधन होते हैं। अतः प्रत्येक राज्य अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप संघ-शासन की व्यवस्था करता है। इस प्रकार से प्रत्येक संघ-शासन अपने आप में ही एक विशेष प्रकार होता है।

फिर भी शक्तियों के विभाजन के आधार पर संघ-शासन के दो प्रकार माने जाते हैं—(५) अमेरिकन तथा (६) कैनेडियन।

संयुक्त राज्य अमेरिका में केन्द्रीय सरकार की स्थिति बहुत कमजोर है, इसके विपरीत राज्य सरकारें पर्याप्त शक्तिसम्पन्न हैं। इसका कारण शक्ति-विभाजन (Division of powers) का सिद्धान्त है। संयुक्त राज्य अमेरिका में केन्द्रीय सरकार की शक्तियों को निश्चित कर दिया गया है, और शेष शक्तियाँ (Residuary powers) राज्यों के जिम्मे छोड़ दी गई हैं। इस शक्ति-विभाजन से स्पष्ट है कि केन्द्रीय सरकार की शक्तियों की संख्या तो निर्धारित कर दी गई है, जब कि राज्य सरकारों के पास, उन शक्तियों को छोड़ जो केन्द्र को दी गई हैं, शेष सभी रह जाती हैं। अपेक्षाकृत राज्य सरकारों की शक्तियों की संख्या केन्द्र की शक्तियों से अधिक है। संयुक्त राज्य अमेरिका के अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, सोवियत रूस तथा स्विट्ज़रलैण्ड में शक्ति-विभाजन के इसी ढंग का इस्तेमाल किया गया है।

कनाडा में इसके सर्वथा उल्टे प्रक्रिया का इस्तेमाल किया गया है। कनाडा में राज्य सरकारों की शक्तियों की संख्या निश्चित कर दी गई है और शेष शक्तियाँ (Residuary powers) केन्द्र ने अपने पास रखी हैं। इस प्रकार कनाडा में राज्यों की अपेक्षा केन्द्रीय सरकार अधिक मजबूत है।

शक्ति-विभाजन के विभिन्न प्रकारों का विवरण देते हुए हमें भारतीय विधान पर भी विचार कर लेना चाहिए। प्रकृत्या भारतीय संघ कनाडा के अधिक नजदीक है। फिर भी भारतीय संघ में कुछेक ऐसी विशेषताएँ हैं जो उसे अपने आप में विशेष रूप दे देती हैं। भारतीय संविधान में शक्ति-विभाजन तीन लिस्टों के अन्तर्गत किया गया है, वे इस प्रकार हैं—

(१) **संघीय विषय** (Union list) वे हैं जिन पर कि केवल संघीय सरकार ही कानून बना सकती है।

(२) **राज्य विषय** (State list) के अन्तर्गत वे सभी चीजें आ जाती हैं जिन पर केवल राज्य ही कानून बना सकते हैं।

(३) **समवर्ती शक्तियों** (Concurrent powers) पर संघ सरकार तथा राज्य सरकार दोनों का ही नियन्त्रण है। परन्तु इन विषयों पर पास किये गये संघीय तथा राज्य सरकारों के कानूनों में पारस्परिक विरोध होने पर या संघर्ष होने पर संघीय कानून को ही मान्यता प्रदान की जाती है, राज्य सरकार के कानून को नहीं।

इन तीनों लिस्टों के अतिरिक्त शेष बची हुई शक्तियाँ (Residuary powers) केन्द्र को सौंप दी गई हैं। इस प्रकार हमने भी प्रादेशिक सरकारों की अपेक्षा केन्द्रीय सरकार की स्थिति को अधिक मजबूत बनाया है।

परन्तु भारतीय संघ में लचीलापन है, उसमें परिवर्तनशीलता है, ऐसी परिवर्तनशीलता है जो कि उसे संकटकालीन स्थिति में बिनासं वैधानिक परिवर्तन के ही एकात्मक शासन के रूप में बदल देती है। यही नहीं शान्तिकालीन स्थिति में दो एक राज्य अपनी मर्जी से अपनी एक या एक से अधिक शक्तियों को केन्द्रीय सरकार को सौंप सकते हैं।

सोवियत रूस के संघ शासन को उसके समर्थक विश्व का सर्वश्रेष्ठ संघ-शासन कहते हैं, उनका कथन है कि सोवियत रूस राज्यों का एक ऐच्छिक संघ है। उसमें संघीय इकाइयों (Federating units) को न केवल अपने संविधान बनाने का ही अधिकार है या सेना रखने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित कर सकने की ही स्वतन्त्रता है अपितु वे सोवियत संघ को छोड़ अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा भी कर सकते हैं। ऐसी व्यवस्था अन्य किसी भी संघ-शासन में नहीं मिलती। संघ राज्य राज्यों का स्थायी संयोजन है। परन्तु सोवियत रूस की संघीय इकाइयों की यह स्वतन्त्रता वास्तविक न हो सैद्धान्तिक ही है। रूस में संघीय सरकार राज्यों के शासन में सब प्रकार का हस्तक्षेप कर सकती है। केन्द्रीय सरकार की विधानपालिका—सुप्रीम सोवियत—बिना न राज्यों की सहमति के ही शक्ति-विभाजन, अधिकार-वितरण इत्यादि आधारभूत विषयों में परिवर्तन कर सकती है। अतः प्रत्येक राज्य की अपनी स्वतन्त्र संघात्मक शासन-प्रणाली ही समझनी चाहिए।

११०. संघ-राज्य के निर्माण के प्रकार (Methods of formation of Federation)

संघ निर्माण **केन्द्रोन्मुखी** (Centripetal) **तथा विकेन्द्रोन्मुखी** (Centrifugal) प्रवृत्तियों (Tendencies) के परिणाम होते हैं। जब कुछ प्रभुत्व सम्पन्न तथा स्वतन्त्र राज्य मिलकर स्वेच्छापूर्वक एक केन्द्रीय राज्य की रचना करते हैं और उसके शासन के लिए कुछ सामान्य स्वार्थों से सम्बन्धित विषय सौंप देते हैं, तो एक संघराज्य की रचना होती है। ऐसा संघ राज्य केन्द्रोन्मुखी प्रवृत्तियों (Centripetal tendencies) का परिणाम होता है। एक ही प्रदेश पर स्थित अनेक राज्य सुरक्षा, आर्थिक लाभ तथा शक्ति की अभिवृद्धि के लिए एकत्रित हो एक नये राज्य की स्थापना करते हैं। ऐसा करते हुए वे सामान्य स्वार्थों से सम्बन्धित विषयों को

तो संघ राज्य को सौंप देते हैं और शेष विषय अपने पास रख लेते हैं। उनके प्रशासन के लिए वे केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होते हैं। **संयुक्त राज्य अमेरिका स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रेलिया इत्यादि संघ राज्य केन्द्रोन्मुखी** (Centripetal) **प्रवृत्ति का परिणाम हैं।**

संघ राज्य के निर्माण का दूसरा प्रकार विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का फल होता है। अनेक प्रकार की शासन की सुविधा के लिए एकात्मक सरकार के स्थान पर संघ राज्य की स्थापना की जाती है। ऐसा प्रायः बड़े-बड़े राज्यों में होता है। भारत तथा रूस इत्यादि विशाक देशों में अनेक राष्ट्रीय इकाइयाँ हैं, अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं और अनेक धार्मिक तथा सांस्कृतिक ग्रुप होते हैं, उनका शासन एक ही केन्द्र से हो तो उसका परिणाम असन्तोष की भावनाओं का प्रसार ही होगा। एक ही केन्द्र से सम्पूर्ण देश का शासन अच्छी तरह से चलाया भी नहीं जा सकता, अतः उसकी शक्ति का विकेन्द्रीकरण आवश्यक हो जाता है। १९३५ के विधान के अन्तर्गत भारत में एकात्मक शासन के स्थान पर संघ राज्य की स्थापना की गई। पंजाब, बंगाल तथा मद्रास इत्यादि जो पहले केवल प्रशासकीय इकाइयाँ (Administrative units) थीं अब संघ राज्य में स्वायत्त **सत्तासम्पन्न राज्य बन गये। इस प्रकार भारतीय संघ-राज्य विकेन्द्रोमुखी** (Centrifugal) **प्रवृत्ति का परिणाम है।**

१११. संघ-राज्य निर्माण की अनुकूल परिस्थितियाँ (Conditions favouring federation)

संघ राज्य के निर्माण तथा सफलता के लिए कुछेक आवश्यक परिस्थितियों की उपस्थिति लाजमी समझी जाती है। प्रो० डायसी का कथन है कि सर्वप्रथम तो विभिन्न राज्यों में सम्मिलन या **संयोग की इच्छा** (Desire for union) का होना आवश्यक है। संयोग की इच्छा का अर्थ **एकता की इच्छा** (Desire for unity) नहीं। संयोग या सम्मिलन की इच्छा द्वारा एक संघ या समुदाय की रचना होती है जिसमें दोनों पार्टियाँ अपने-अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को बनाये रखती हैं। संघ राज्य में जहाँ एक नवीन राज्य या संस्था की स्थापना होती है, वहाँ संघ के अंगभूत राज्य अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हैं। वस्तुतः संघ राज्य के मेल की हम स्त्री-पुरुष के विवाह से तुलना कर सकते हैं। विवाह हृदयों का सम्मिलन (Union of hearts) है। वैवाहिक संयोग में भी दो पार्टियाँ मुख्य होती हैं, दोनों में पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना होती है, परन्तु दोनों स्त्री-पुरुष अपने-अपने व्यक्तित्व को बनाये रखते हैं, उनके अपने-अपने अधिकार तथा कर्त्तव्य होते हैं। विवाह संयोग या सम्मिलन की इच्छा का ही परिणाम है।

एकता की इच्छा का अर्थ होगा एकात्मक शासन की रचना। एकात्मक शासन के अन्तर्गत राज्यों का पृथक् अस्तित्व ही नहीं रहता।

प्रो० डायसी के कथनानुसार संयोग की इच्छा का जन्म अनेक तत्त्वों से हो

सकता है, वे तत्त्व हैं—(१) **भौगोलिक एकता; (२) धर्म, भाषा, एतिहासिक परम्परा तथा सांस्कृतिक एकता; (३) अङ्गभूत राज्यों की समानता; और (४) राजनीतिक शिक्षा**। उपर्युक्त तत्त्व राष्ट्रीय एकता के नियामक तत्त्व हैं।

(१) **भौगोलिक एकता** (Geographical contiguity)—एक ही प्रदेश पर बसे विभिन्न राज्यों के पारस्परिक आदान-प्रदान के कारण संयोग की भावना का विकास हो जाता है। भौगोलिक दृष्टि से दूर-दूर बसे हुए राज्यों में परस्पर सहयोग की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती अतः उनमें संघ राज्य स्थापना की इच्छा ही पैदा नहीं होती। अगर राज्यों में दूरी हो, समुद्र की खाई हो यानी भौगोलिक एकता न हो तो उनमें रहने वाले लोगों में समान स्वार्थ तथा समान हित की भावना भी उत्पन्न नहीं होती। संघ राज्यों में यह आशा की जाती है कि उसके सभी अङ्गभूत भाग संघ राज्य के संचालन में पूरा-पूरा भाग लें। भौगोलिक एकता सामान्य राजनीतिक एकता तथा राष्ट्रीयता की भावनाओं को उत्पन्न करती है। गिलक्राइस्ट का कथन है कि, **"भौगोलिक दूरी स्थानीय तथा केन्द्रीय सरकारों में लापरवाही तथा विद्वेष को पैदा कर देती है। जहाँ जनता एक-दूसरे से बहुत दूर हो वहाँ राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति कठिन हो जाती है।"**[1] यही कारण है कि कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड दक्षिणी अफ्रीका तथा इंग्लैण्ड द्वारा मिलकर संघराज्य की स्थापना असम्भव है। संयुक्त राज्य अमेरिका में राज्यों की प्रादेशिक तथा भौगोलिक एकता ने ही संयोग की भावनाओं को उत्पन्न किया और संघराज्य की स्थापना में सहायता की।

(२) **सांस्कृतिक एकता** (Common culture)—धर्म, भाषा तथा संस्कृति की एकता राष्ट्रीय भावनाओं के विकास में सहायक होती हैं। संघ राज्य की स्थापना में भी जनता की सांस्कृतिक एकता बहुत सहायक होती है। सांस्कृतिक एकता राजनीतिक एकता को उत्पन्न करती है। बहुत अर्से तक एक साथ एक ही प्रदेश पर रहने के फलस्वरूप विभिन्न धार्मिक तथा सांस्कृतिक समूहों में भी राष्ट्रीय एकता की भावनाओं का विकास हो जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में ऐसा ही हुआ। विभिन्न संस्कृति वाले राज्यों के एक साथ बाँध देने के फलस्वरूप कभी राष्ट्रीय एकता उत्पन्न नहीं होती, न ही उनका एक सफल संघ राज्य बन पाता है।

परन्तु इनका अर्थ यह नहीं कि धर्म, भाषा तथा संस्कृति की एकता की अनुपस्थिति में संघ राज्य की स्थापना ही सम्भव नहीं। अनेक बार सामान्य राजनीतिक आकांक्षाएँ इतनी मजबूत होती हैं कि वे धर्म तथा भाषा इत्यादि के भेद को खत्मकर राष्ट्रीयता की मजबूत भावनाओं को उत्पन्न करती हैं। स्विट्ज़रलैण्ड में धार्मिक जातीय तथा भाषा सम्बन्धी एकता का अभाव है। वहाँ तीन, जर्मन फ्रेंच तथा इटेलियन—जाति ग्रुप हैं और तीन ही भाषाएँ—जर्मन, इटेलियन तथा फ्रेंच—बोली जाती हैं। फिर भी सदियों के सहयोग के फलस्वरूप राष्ट्र में राष्ट्रीयता की जबरदस्त

1. "Distance leads to carelessness or callousness on the part of both central and local governments. National unity is difficult to attain where the people are too far apart."—*Gilchrist.*

भावनाएँ मौजूद हैं, और स्विस राज्य संघ विश्व के पुराने तथा सफल संघ राज्यों में से प्रमुख है। कनाडा तथा भारत में भी यही स्थिति है। भारत में जैसा कि हम पीछे ही देख चुके हैं पर्याप्त सांस्कृतिक तथा धार्मिक विभिन्नताएँ हैं, फिर भी राष्ट्रीयता की मजबूत भावनाएँ मौजूद हैं। हमें यह बात तो अवश्य ही माननी पड़ेगी कि राष्ट्रीयता की भावनाओं के विकास में उपर्युक्त तत्त्वों का महत्त्व है, और वे सभी अलग-अलग या सामूहिक रूप से संघ राज्य की स्थापना में सहायक होते हैं।

(३) अङ्गभूत राज्यों की समानता (Equality among the units) राज्यों के पारस्परिक विद्वेष को दूर करने के लिए उनकी जहाँ तक हो सके, जन-संख्या तथा आकार की दृष्टि से समानता होनी चाहिए। अगर उनमें बहुत भेद हो तो वह राज्य-शासन के संचालन में बराबर के हिस्सेदार नहीं हो सकते। बड़े-बड़े राज्य निश्चय ही छोटे-छोटे राज्यों को दबा लेंगे। ऐसी अवस्था में पारस्परिक सन्देह और विद्वेष फैल जाता है जिसका फल संघ राज्य का विघटन हो सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि संघ राज्य के अन्तर्गत संघ विधानपालिका के उपरले सदन (Upper chamber) में अङ्गभूत राज्यों के प्रतिनिधित्व में समानता का असूल लागू करना चाहिए। संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा स्विट्ज़रलैण्ड में इसी नियम का अनुसरण किया गया है।

(४) राजनीतिक शिक्षा (Political ability)—संघ राज्य-व्यवस्था अत्यन्त जटिल व्यवस्था है। उसकी सफलता जन-सामान्य की विकसित राजनीतिक चेतना पर आश्रित होती है। लोगों को एक ही समय दो प्रकार की स्वामि-भक्तियों को निभाना होता है। एक ओर तो वे अपनी-अपनी राज्य सरकारों के प्रति वफादार होते हैं तो दूसरी ओर उन्हें राष्ट्रीय एकता को निभाना होता है। यह तभी सम्भव है जब कि नागरिकों में उच्च राजनीतिक भावनाएँ हों।

दूसरा यदि राजनीतिक चेतना का राज्य के विभिन्न अंगों में समान विस्तार न हुआ तो केन्द्रीय शासन-व्यवस्था राजनीतिक दृष्टि से प्रगतिशील राज्यों के हाथ में ही सदा रहेगी। ऐसी अवस्था में पारस्परिक विद्वेष तथा फूट पैदा हो जाने का भय रहता है।

११२. संघ-राज्य तथा राज्यमण्डल (Federation and Confederation)

हिन्दी का राज्यमण्डल शब्द अंग्रेजी के Confederation **शब्द का पर्यायवाची है।** अंग्रेजी में संघ राज्य के लिए Federation शब्द का प्रयोग किया जाता है, यद्यपि अंग्रेजी के ये दोनों शब्द एक ही धातु (Root) से बने हैं तथापि इन दोनों के अर्थ में पर्याप्त अन्तर है। संघ-राज्य तथा राजमण्डल दोनों ही राज्यों के समुदाय हैं, परन्तु अपनी प्रकृति में एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न। संघ-राज्य तो राज्यों की एक स्थायी व्यवस्था है परन्तु राज्यमण्डल (Confederation) सार्वभौम राज्यों की एक अस्थायी व्यवस्था है। अधिक स्पष्ट होने के लिए हम कह सकते हैं कि जब विभिन्न सर्वोच्च सत्ता (Sovereign) सम्पन्न राज्य अपने कुछ निश्चित

उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा एक संस्था स्थापित करते हैं तो उसे राज्यमण्डल कहा जाता है। दोनों में निम्नलिखित भेद हैं—

(१) एक संघ-राज्य बहुत से राज्यों द्वारा बनाया गया नया राज्य होता है, अगर सर्वोच्च सत्तासम्पन्न राज्य भी समझौते द्वारा इस नये राज्य की रचना करते हैं तो भी वे अपनी सार्वभौम सत्ता को केन्द्रीय राज्य को ही सौंप देते हैं। वे स्वतन्त्र तथा प्रभुसत्तासम्पन्न नहीं रहते। राज्य में सर्वोच्च सत्ता का केन्द्र संघ सरकार ही होती है।

राज्यमण्डल प्रभुत्व सम्पन्न राज्यों का समुदाय होता है। उसमें प्रत्येक राज्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को कायम रखता है। किसी नये तथा स्वतन्त्र राज्य की रचना नहीं होती। प्रत्येक राज्य अपने-अपने क्षेत्र में सर्वथा स्वतन्त्र होता है।

(२) संघ-राज्य के अन्तर्गत एक राष्ट्रीयता होती है, संघीय कानून होते हैं, संघीय नागरिकता होती है जो विभिन्न राज्यों में रहने वाले सभी नागरिकों के लिए होते हैं। इस राज्य की रचना का आधार एक संविधान होता है, जो राज्य तथा संघ सरकार के पारस्परिक क्षेत्रों की व्यवस्था करता है।

राज्यमण्डल के अन्तर्गत कोई नागरिकता नहीं होती। राज्यमण्डल में न ही कोई पृथक् न्यायपालिका या विधानपालिका की व्यवस्था रहती है। और न ही वहाँ ऐसा कोई कानून ही होता है जिसका पालन राज्यमण्डल अपने सभी सदस्य राज्यों के नागरिकों से सीधा करवा सके। संघ-राज्य का अपने नागरिकों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। उन्हीं से वे अपने कानूनों का पालन करवा सकते हैं। वस्तुतः राज्यमण्डल किसी कानून की रचना ही नहीं करता, वह प्रस्ताव पास कर सकता है, सुझाव दे सकता है जिसके पालन के लिए वह अपने सदस्यों से सिफारिश कर सकता है। सदस्य राज्य इस सिफारिश को मानें या न मानें यह उनकी मर्जी पर अवलम्बित होता है।

(३) राज्यमण्डल का निर्माण किसी संकटकालीन स्थिति के मुकाबले के लिए किया जाता है। ज्योंही यह स्थिति खत्म हो जाती है त्योंही राज्यमण्डल के सदस्य इस संस्था को तोड़ अलग हो सकते हैं। यह संस्था प्रायः अस्थायी होती है, और इसका निर्माण ऐच्छिक होता है। प्रत्येक सदस्य राज्य अपनी इच्छानुसार इसे छोड़ अलग हो सकता है। परन्तु संघ-राज्य में ऐसा सम्भव नहीं, संघ-राज्य एक स्थायी संयोग होता है। उसमें राज्य अपने केन्द्रीय शासन से अलग नहीं हो सकते।

कभी-कभी अवश्य ही राज्यमण्डल के सदस्य अपने समान हितों की सुरक्षा के लिए पहले राज्यमण्डल (Confederation) बनाते हैं और तत्पश्चात् उसी को संघ-राज्य (Federation) में बदल लेते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा स्विट्ज़रलैण्ड पहले-पहल राज्यमण्डल के रूप में एकत्रित हुए थे, बाद में राष्ट्रीय एकता की भावना के उत्पन्न हो जाने के फलस्वरूप संघ राज्य में परिणित हो गए। राज्यमण्डल के संगठन में शासकीय पक्ष का अभाव होता है। जिस प्रकार एक संघ-राज्य में सम्पूर्ण राज्य के लिए एकसंघीय सरकार की व्यवस्था रहती है वैसी राज्य-

मण्डल के अन्तर्गत नहीं होती। जब कभी किसी महत्त्वपूर्ण मसले पर विचार किया जाता है तो उस समय सभी सदस्य राज्य अपने-अपने प्रतिनिधि भेज देते हैं और वही अपने-अपने राज्य के विचार प्रगट करते हैं।

राज्यमण्डल के निर्माण के उदाहरण इतिहास में अनेक हैं। पुराने समय में डेलियन (Delian), लीसियन (Lycean) तथा एकियन लीग (Achean League), इसी प्रकार के राज्यमण्डलों के उदाहरण हैं। वर्तमान युग में स्विट्ज़रलैण्ड, होली रोमन एम्पायर (The Holy Roman Empire) और जर्मन राज्यमण्डल (The German Confederation) इत्यादि अनेक राज्यमण्डलों का निर्माण हुआ।

हाल ही में अमेरिकन नेतृत्व में सुरक्षा के लिए संगठित 'दक्षिणी-पूर्वी एशिया सुरक्षा संगठन' (S.E.A.T.O.) तथा मध्य एशिया सुरक्षा संगठन (M.E.A.D.O.) तथा उत्तरी एटलाण्टिक सन्धि संघ (N.A.T.O.) इत्यादि भी राज्यमण्डल (Confederation) ही कहला सकते हैं।

११३. संघ-राज्य के लाभ (Advantages of Federation)

(१) आज विश्व संघ-राज्य की ओर प्रवृत्त हो रहा है। वर्तमान काल की राजनीतिक, आर्थिक तथा औद्योगिक परिस्थितियों ने विश्व के विभिन्न राज्यों की अन्योन्याश्रयता की अभिवृद्धि की है। युद्ध के नये टेकनीक के विकास के फलस्वरूप छोटे-छोटे राज्यों का जीवन सदा संकट में रहता है। प्रथम तथा द्वितीय युद्ध ने साबित कर दिया है कि बड़े राज्यों द्वारा छोटे राज्य ऐसे हड़प कर लिये जाते हैं जैसे कि बड़ी मछली द्वारा छोटी मछलियाँ। द्वितीय युद्ध के दौरान में हिटलर की सेनाओं ने पश्चिमी यूरोप के छोटे-छोटे राज्यों को कुछ ही दिनों में कुचल दिया। अतः वर्तमान युग में छोटे राज्यों के लिए संघ बनाकर रहना अधिक लाभदायक है। साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के फलस्वरूप छोटे-छोटे राज्य बड़े राज्यों में झगड़े के कारण बन जाते हैं।

छोटे राज्य यदि परस्पर मिलकर एक संघ-राज्य की स्थापना करलें तो जहाँ वे बाह्य आक्रमण से सुरक्षित हो जाते हैं, वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उनका प्रभाव और मान भी बढ़ जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका आज विश्व का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य है, परन्तु अगर उसके विभिन्न राज्य सर्वथा स्वतन्त्र राज्य रहते तो वे कभी भी इतने प्रभावोत्पादक तथा शक्तिशाली न हो सकते।

बंगाल, पंजाब, मद्रास तथा काश्मीर भारत संघ के भाग होकर ही सुरक्षित तथा उन्नत और शक्तिशाली हो सकते हैं, नहीं तो उनकी स्थिति वैसी ही होगी जैसी कि नैपाल तथा अफ़ग़ानिस्तान की है।

आज की आर्थिक व्यवस्था बहुत जटिल है, कोई भी छोटा राज्य सर्वथा आत्मनिर्भर नहीं हो सकता। विभिन्न राज्यों के सम्मिलन द्वारा प्राकृतिक स्रोतों के इकट्ठे हो जाने के फलस्वरूप आर्थिक शक्ति को भी विकसित करने में पर्याप्त सहायता मिल

जाती है ।

(२) विशाल राज्यों के लिए संघ शासन-व्यवस्था विशेष उपयोगी होती है, क्योंकि किसी भी विशाल राज्य का शासन एक ही केन्द्र से करना शासन में अव्यवस्था को उत्पन्न करना है । आज के विशाल राज्य बहुत सी सांस्कृतिक तथा धार्मिक इकाइयों से मिलकर बने हुए होते हैं या यूँ कहिए कि आज के प्रत्येक राष्ट्र में अनेक उपराष्ट्र होते हैं । उनको स्वायत्त शासन देकर जहाँ उनकी सांस्कृतिक तथा अन्य प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करने का मौका दिया जा सकता है, वहाँ राष्ट्रीय मामलों में एक जैसी नीति को अपनाया जा सकता है । भारत तथा रूस जैसे विशाल-काय राज्यों के लिए संघ शासन-प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है । भारत में सांस्कृतिक विभिन्नता है और इसके साथ ही राष्ट्रीय एकता भी है । इन दोनों का समन्वय संघ सरकार के निर्माण द्वारा कर दिया गया है ।

(३) संघ शासन-प्रणाली का अर्थ है शक्ति विभाजन । राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विषयों पर केन्द्रीय सरकार नियन्त्रण करती है और अन्य विषयों पर प्रादेशिक सरकारें । हम पहले ही देख चुके हैं कि श्रम-विभाजन उन्नत तथा प्रगतिशील समाज के लिए आवश्यक है । इस प्रकार का श्रम-विभाजन संघ राज्य में रहता है । फलतः राज्य-शासन-व्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक सरल तथा सुचारु (Efficient) हो जाती है । एकात्मक शासन में एक ही केन्द्र से शासन-व्यवस्था चलाई जाती है, एक ही सरकार सभी विषयों के राज-काज के लिए जिम्मेवार होती है, फलतः बहुत से मामलों का या तो शासन ही अच्छी तरह नहीं हो पाता या फिर दूरस्थ प्रदेशों की आवश्यकताओं पर ध्यान ही नहीं दिया जा सकता ।

(४) संघ शासन-व्यवस्था में राज्य शक्ति का विकेन्द्रीकरण किया जाता है । पीछे हम देख ही चुके हैं कि प्रजातन्त्र की सफलता के लिए राज्य-शक्ति का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है । विकेन्द्रीकरण एकतन्त्र या श्रेणीतन्त्र की स्थापना में बाधक होता है । दो सरकारें एक साथ काम करती हैं अतः उन्हें एक ही व्यक्ति के नियन्त्रण में एक ही समय में नहीं लाया जा सकता । फ्रांस या इंग्लैण्ड में एकात्मक शासन है, वहाँ कोई भी व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय बिना किसी विशेष दिक्कत के अधिनायकतन्त्र की स्थापना कर सकता है ।

(५) संघ सरकार खर्चीली भी कम होती हैं । अगर सभी छोटे-छोटे राज्यों को अपनी-अपनी सेनाएँ रखनी पड़ें, अपने-अपने वैदेशिक विभाग बनाने पड़ें, दूसरे देशों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए राजदूत भेजने पड़ें, तो निश्चय ही उनका खर्च बहुत बढ़ जायगा । ऐसी अवस्था में वह अपने विकास की आवश्यक योजनाओं पर खर्च ही नहीं कर सकेंगे । संघ राज्य में यह सब खर्च केन्द्रीय सरकार अपने ऊपर ले लेती है और सभी राज्यों की रक्षा के लिए एक सैनिक व्यवस्था बना लेती है । साथ ही आन्तरिक व्यापार तथा यातायात की सुविधाओं के समुचित विकास का अवसर मिल जाता है ।

संघ शासन की कमजोरियाँ (Defects of Federal Government)

संघ शासन में अनेक कमजोरियाँ हैं, इन्हीं के आधार पर नीचे लिखे ढंग से इसकी आलोचना की जाती है—

(१) एकात्मक शासन की अपेक्षा संघ शासन कमजोर होते हैं, यह कमजोरी अन्दरूनी तथा बाहरी दोनों ही मामलों में होती है। संघ-राज्य में शक्तियों का विभाजन होता है, राज्य-सत्ता के विभाजन का अर्थ ही कमजोरी है। अपनी सीमित शक्ति के कारण संकटकालीन स्थिति में केन्द्रीय सरकार कानून और व्यवस्था बनाये रखने में असमर्थ हो जाती है। विदेशी मामलों में भी वह अपने अनेक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को पूरा नहीं कर सकती, जिसका सम्बन्ध राज्यों से होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा दक्षिणी अफ्रीका में अनेक बार ऐसा हो चुका है। दोनों देशों में अनेक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का लागू कर सकना इसलिए कठिन हो गया कि वे एक तो राज्य-सरकारों से सम्बन्धित थी और दूसरा राज्य-सरकारों द्वारा उनका विरोध भी हुआ।

(२) एक ही राज्य में अक्सर एक ही विषय पर अनेक परस्पर विरोधी कानून मिल जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में विवाह, तलाक, बैंकिंग तथा बीमा इत्यादि विषय राज्य सरकारों के अधीन हैं, अतः उन पर अलग-अलग राज्य सरकारें अपनी सुविधानुसार अलग-अलग तरह के कानून बनाती हैं, जिसका नतीजा यह होता है कि इन कानूनों की भिन्नता की वजह से अनेक झगड़े पैदा हो जाते हैं।

इस प्रकार की स्थिति की समाप्ति तो संवैधानिक संशोधन द्वारा ही सम्भव है।

(३) संघस रकार को कम खर्चीला कहना भी गलत है। संघ सरकार में समय और धन दोनों का ही दुरुपयोग होता है। शासनतन्त्र के दुहरे होने के फलस्वरूप खर्च बढ़ जाता है, प्रत्येक राज्य की अपनी-अपनी विधानपालिकाएँ, कार्यपालिकाएँ तथा न्यायपालिकाएँ होती हैं। प्रत्येक राज्य अपने सरकारी कर्मचारी रखता है। इस प्रकार जहाँ एकात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत सरकार के विभिन्न अंगों की दुहरी व्यवस्था नहीं होती, शासन पर बहुत कम खर्च होता है।

(४) संघ शासन के अन्तर्गत एक राज्य या बहुत से राज्यों द्वारा केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध विद्रोह की आशंका रहती है। अनेक बार कुछेक राज्य मिलकर केन्द्रीय सरकार की नीति के विरोध के लिए तैयार हो जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में दास-प्रथा के खत्म करने पर उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यों में गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया था। ऐसी स्थिति किसी भी संघ-राज्य के अन्तर्गत हो सकती है।

(५) बहुत से विचारकों का मत है कि संघ शासन-व्यवस्था एक अस्थायी व्यवस्था है, इसमें एकात्मकता की प्रवृत्ति रहती है। संघीय शासनों के अन्तर्गत जहाँ कि केन्द्र को कुछेक निश्चित शक्तियाँ ही सौंपी जाती हैं, धीरे-धीरे परिस्थितियों के परिवर्तन के अनुसार शक्ति-विभाजन में अन्तर पड़ जाता है। केन्द्रीय सरकार को अधिक से अधिक शक्तिसम्पन्न करने की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है। संकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए केन्द्रीय सरकार को और भी अधिक शक्तियाँ सौंप दी जाती हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में पहले-पहल केन्द्रीय शासन को कुछेक निश्चित शक्तियाँ ही दी गई थीं, उस अवस्था में केन्द्रीय सरकार बहुत कमजोर थी।

बाद में संविधान की व्याख्या और संशोधनों द्वारा केन्द्रीय शासन इतना अधिक शक्ति-सम्पन्न हो गया कि लोगों ने कहना शुरू कर दिया कि संयुक्त राज्य अमेरिका अब वास्तविक अर्थ में संघ-राज्य रहा ही नहीं ।

(६) संघ-राज्य के अन्तर्गत संविधान का लिखित होना लाज़मी है। लिखित तथा कठोर संविधान की अपनी कठिनाइयाँ होती हैं । उसे परिवर्तित हुई हुई परिस्थितियों के अनुसार नहीं बदला जा सकता । संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान की संशोधन-प्रक्रिया इतनी कठिन है कि पिछले अनेक दशकों में बहुत कम संशोधन स्वीकार किये गये हैं। फिर यह संशोधन प्रक्रिया तीन चौथाई राज्यों को एतद्विषयक अन्तिम अधिकार दे अप्रजातान्त्रिकता को जन्म देती है। संविधान में किया गया सत्ता विभाजन सर्वकाल के लिए उपयुक्त नहीं होता, उसमें परिवर्तन आवश्यक होता है, जो विधान की कठोरता के कारण कठिन हो जाता है।

न्यायालय की सर्वोच्चता भी कानूनविषयक अनिश्चितता को उत्पन्न करती है । संविधान की व्याख्या का अधिकार केवल मात्र न्यायालय को होता है, और साथ ही वह राज्य तथा केन्द्रीय विधानपालिकाओं द्वारा पास किये गये कानूनों की संवैधानिकता पर अन्तिम फैसला देता है। अतः जब तक सुप्रीम कोर्ट विधानपालिका द्वारा स्वीकृत कानूनों पर अपनी सम्मति अन्तिम रूप से प्रगट नहीं कर देता, तब तक उनका भाग्य अनिश्चित ही रहता है । अनेक बार एक कानून बीस वर्ष तक लागू रहता है और तब अचानक सुप्रीम कोर्ट उसे गैरकानूनी करार दे देता है। फल यह होता है कि बीस वर्ष से कायम सभी व्यवस्थाएँ तब उल्ट-पुल्ट हो जाती हैं । इस प्रकार की व्यवस्था द्वारा न्यायालय को अनावश्यक रूप से शक्तिशाली बना दिया जाता है और उसे राजनीतिक क्षेत्र में हस्ताक्षेप करने का अवसर प्रदान किया जाता है।

निष्कर्ष—इन दोषों के बावजूद भी हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि संघवाद दिन-प्रतिदिन सर्वप्रिय होता जा रहा है और यह अनुभव किया जाता है कि विश्व की अनेक आर्थिक तथा राजनीतिक बीमारियों का एक मात्र हल संघ शासन-व्यवस्था ही है। युद्ध-संचालन तथा विदेशी नीति के अनुसरण में संघ राज्य असफल नहीं रहते, यह प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्ध ने अच्छी तरह प्रदर्शित कर दिया है। यह कहना भी गलत है कि संघवाद एक अस्थायी शासन-व्यवस्था है । निश्चय ही नये संघ राज्यों में एकात्मक शासन की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हो जाती हैं और उनमें केन्द्र की शक्ति काफी बढ़ा दी जाती है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि संघ-शासन का आधारभूत सिद्धान्त-स्थानीय स्वराज्य तथा राष्ट्रीय एकताको त्याग दिया गया है । जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं यह कमजोर और छोटे-छोटे राज्यों को शक्तिसम्पन्न बनाता है। उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गौरवमय पद प्रदान करता है, एक ही राज्य के अन्तर्गत प्राप्य सभी अन्तराष्ट्रीय इकाइयों को स्वायत्त शासन का अधिकार देता है।

संघवाद आज की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के सुलझाव के लिए भी अत्यन्त उपयोगी माना जाता है । यह कहा जाता है कि समाज अपनी प्रकृति में संघात्मक है अतः उसका संगठन भी संघशासन की प्रणाली पर ही होना चाहिए।

प्रो० लास्की इत्यादि आधुनिक राजनीति शास्त्रियों का यह विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध, प्रतिद्वन्द्विता तथा वैमनस्य इत्यादि को दूर कर एक विश्व-राज्य की स्थापना संघवाद के आधार पर ही सम्भव है । संघवाद के आधार पर ही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता व अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के उसूलों का समन्वय किया जा सकता है । इस प्रकार संघवाद अस्थायी शासन-व्यवस्था नहीं, वह भविष्य में मानवीय एकता और एक विश्व-राज्य (One World States) का आधार बन सकता है ।

Important Questions

	Reference
1. Describe the nature and characteristics of a Federal Union. (*Pb. 1940, Cal. 1954, '40, '35, '30., All. 1943*)	Arts. 107 to 109
2. What are the conditions that favour the formation of a Federal Union ? (*Pb. 1940,. Ag. 1941., Cal. 1941, 1930, 1937., Bombay 1937*)	Art. 117
3. Explain the principles on which powers are distributed in federations, and account for the general tendency towards the increase of powers of Federal Government. (*Cal. 1942., Pat. 1943., Nag. 1943*)	Arts. 108 and 109
4. Discuss the strength and weakness of Federation. (*Bom. 1931., Cal. 1954., Pb. 1953*) *Or,* What are the chief reasons for the popularity of federations in these days ? (*Pb. 1943, 1936*)	Art. 113
5. What is a Unifederation. Discuss. (*Pb. 1955, Sept.*)	Art. 112
6. Distinguish between Unitary and Federal forms of Government. What are the essential characteristics of the Federal system. (*Pb. 1952*)	Arts. 106, to 108
7. Explain the principles underlying the distribution of powers, in a federation. Give illustrations. (*Pb. 1951*)	Arts. 108 and 109

अध्याय १५

राज्य तथा शासन के भेद (४)

सांसद तथा राष्ट्रपति शासन

(Parliamentary and Presidential Government)

प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणालियों का एक अन्य वर्गीकरण सांसद-शासन तथा राष्ट्रपतितन्त्र के रूप में भी किया गया है। इस वर्गीकरण का आधार विधानपालिका (Legislature) तथा कार्यपालिका (Executive) के पारस्परिक सम्बन्ध हैं। यदि कार्यपालिका विधानपालिका के नियन्त्रण में काम करती है और उसके प्रति उत्तरदायी है तो शासन-प्रणाली सांसद (Parliamentary) कहलाती है। इसके विपरीत अगर कार्यपालिका तथा विधानपालिका दोनों के अपने-अपने कार्य-क्षेत्र हैं और दोनों एक दूसरे से काफी हद तक स्वतन्त्र हैं तो ऐसी शासन-प्रणाली राष्ट्रपति-तन्त्र (Presidential) कहलायेगी। प्रथम प्रकार की शासन-प्रणाली का आधार कार्यपालिका तथा विधानपालिका का पारस्परिक सहयोग और दूसरी का दोनों का पृथक्करण है।

११४. सांसद शासन-प्रणाली (Parliamentary form of Government)

सर्वप्रथम हम सांसद शासन-प्रणाली का विवेचन करेंगे। सांसद शासन-प्रणाली का विकास इंग्लैण्ड में हुआ। इंग्लैण्ड में सांसद सरकार का आधार रस्मो-रिवाज हैं न कि कोई सैद्धान्तिक कानून। इंग्लैण्ड से ही इसका प्रचलन फ्रांस, बेल्जियम, रूमानिया, नार्वे, स्वीडन तथा डेनमार्क इत्यादि देशों में हुआ था। इंग्लैण्ड के आदर्शों का अनुसरण उसके उपनिवेशों ने भी किया। भारत, पाकिस्तान, लंका, इंडोनेशिया इत्यादि हाल ही में स्वतन्त्र हुए एशियन राज्यों में भी सांसद शासन-प्रणाली को ही अपनाया गया है। रूस में यद्यपि शासन-व्यवस्था के दो रूप हैं सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—तथापि सैद्धान्तिक रूप से वहाँ भी सांसद शासन-प्रणाली को ही कुछ हेर-फेर के साथ अपनाया गया है। इस प्रकार सांसद शासन-प्रणाली आज पर्याप्त लोक-प्रिय हो गई है। वस्तुतः संयुक्त राज्य अमेरिका तथा उससे प्रभावित कुछेक अन्य लेटिन-अमेरिकन राज्यों को छोड़ अन्यत्र प्रायः सभी जगह सांसद शासन-प्रणाली को ही अपनाया गया है।

सांसद शासन-प्रणाली की परिभाषा—सांसद शासन प्रणाली, जैसा कि नाम से ही विदित है, ऐसी शासन-व्यवस्था है जिसमें कि कार्यपालिका संसद् (Legislature) के नियंत्रण तथा देख-रेख में शासन चलाती है। डा० गार्नर के मतानुसार **"सांसद शासन-प्रणाली के अन्तर्गत वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रिमण्डल) विधानमण्डल अथवा उसके एक लोकप्रिय सदन के प्रति तथा अन्त में निर्वाचकों के प्रति अपनी राजनीतिक**

नीतियों तथा कार्यवाहियों के लिए जिम्मेवार होता है।"[1]

सांसद शासन-प्रणाली के मुख्य आधारों को हम नीचे लिखे प्रकार से रख सकते हैं।

(१) **नाम मात्र की तथा वास्तविक कार्यपालिका का भेद**—सांसद शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत वास्तविक तथा औपचारिक (formal) कार्यपालिका में भेद किया जाता है। प्रत्येक संसदीय शासन-प्रणाली द्वारा शासित राज्य में राज्य की सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत एक व्यक्ति होता है। यह अनुवंशिक-राजा (Hereditary King) या जनता द्वारा निर्वाचित राष्ट्रपति (President) हो सकता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यही सरकार तथा राज्य का मुखिया होता है। इसी के नाम से सम्पूर्ण शासन की कार्यवाही सम्पन्न की जाती है, मन्त्रिमण्डल का निर्माण इसी के आदेश पर होता है। इंग्लैण्ड के सम्राट् की यही स्थिति है। भारत के संविधान में भी एक राष्ट्रपति पद की व्यवस्था की गयी है, जो राज्य की कार्यपालिका शक्ति का औपचारिक स्रोत है।

वास्तविक शक्ति मन्त्रिमण्डल (Cabinet) द्वारा इस्तेमाल की जाती है। राजा या राष्ट्रपति नाममात्र के ही शासक होते हैं, वे किसी के प्रति उत्तरदायी भी नहीं होते, अतः वे राज्य की कार्यपालिका (Executive) शक्ति के केवल औपचारिक स्रोत होते हैं, इंग्लैण्ड की सांसद सरकार के अन्तर्गत यह कहा जाता है कि राजा कोई गलती नहीं कर सकता (King can do no wrong)। यही बात भारत के तथा फ्रांस के राष्ट्रपति पर भी लागू होती है। इसका कारण स्पष्ट है, इन देशों में राज-काज चलाने की सम्पूर्ण जिम्मेवारी मन्त्रिमण्डल पर होती है। वही राजा या राष्ट्रपति की ओर से देश के सम्पूर्ण शासन को चलाते हैं। इंग्लैण्ड में राजा मन्त्रिमण्डल की सलाह के बिना कोई कार्य नहीं कर सकता। मन्त्रिमण्डल के कहने पर उसे अपनी मौत के आदेश पर भी स्वयं हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। फ्रांस में भी राष्ट्रपति नाममात्र का शासक है, उसका कोई भी आदेश तब तक लागू नहीं हो सकता जब तक कि उस पर उसके मन्त्री हस्ताक्षर न कर दें, राष्ट्रपति के नाम से सभी आदेश जारी किये जाते हैं, सभी महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ की जाती हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि राष्ट्रपति को भी इन सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त हो। फ्रांस के अनेक राष्ट्रपतियों का यही अनुभव है कि उन्हें अपने नाम पर की गयी नियुक्तियों का ज्ञान सुबह के समाचार पत्र द्वारा मिलता था।

भारतीय गणतन्त्र के प्रधान की स्थिति भी फ्रेंच गणतन्त्र के प्रधान से कोई ज्यादा अच्छी नहीं। भारतीय राष्ट्रपति को भी अपने मन्त्रिमण्डल की सलाह पर ही

---

1. "Cabinet Government is that system in which the real executive—the cabinet or ministery—is immediately and legally responsible to the legislature or one branch of it (usually the more popular chamber) for its political policies and acts, immediately or ultimately responsible to the electorate."—*Garner.*

सभी कार्य सम्पन्न करने होते हैं।

इस प्रकार इन सभी देशों में मन्त्रिमण्डल ही वास्तविक कार्यपालिका का काम करते हैं, इसलिए कभी-कभी इसे मन्त्रिमण्डल शासन-व्यवस्था (Cabinet system of Government) भी कहा जाता है।

(२) **मन्त्रिमण्डल तथा विधानपालिका**—इस शासन-प्रणाली को संसदीय या पार्लियामेण्ट्री सरकार कहने का मुख्य कारण कार्यपालिका की संसद् के दोनों सदनों या एक सदन के प्रति जवाबदेही है। दूसरे शब्दों में संसद् (Legislature) द्वारा मन्त्रिमण्डल का नियन्त्रण ही इस व्यवस्था का मुख्य आधार है। इसके अन्तर्गत विधानपालिका तथा कार्यपालिका में बहुत गहरे तथा घनिष्ट सम्बन्ध होते हैं। वस्तुतः मन्त्रिमण्डल तथा विधानपालिका को अलग-अलग कर सकना कठिन है, दोनों एक दूसरे से घुले-मिले रहते हैं। इल्बर्ट के अनुसार सांसद शासन-प्रणाली के अन्तर्गत—**"प्रबन्धक तथा कानून-निर्माता शक्तियों में ऐसा कोई भेद नहीं जैसा कि अमेरिकन संविधान का प्रमुख लक्षण है।" बेजहाट** के शब्दों में **"इंग्लैण्ड का मन्त्रिमण्डल वह कड़ी है जो प्रबन्धक तथा कानून-निर्माता विभागों को मिलाती है।"**[1]

मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्य विधानमण्डल के दोनों सदनों में से किसी एक के सदस्य होते हैं। अगर कोई व्यक्ति मन्त्रिमण्डल का सदस्य तो है परन्तु विधानपालिका के किसी सदन का नहीं तो उसे या तो विधानपालिका का सदस्य छः मास के भीतर बनना पड़ता है या फिर मन्त्रि-पद से हटना पड़ता है।

मन्त्रिमण्डल के निर्माण का भी एक विशेष ढंग है। राजा या राष्ट्रपति प्रायः विधानपालिका के निचले सदन के उस सदस्य को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए बुलाता है जिसे कि बहुमत प्राप्त हो। इसे ही प्रधानमन्त्री कहा जाता है। इसी की सलाह पर मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यों की नियुक्ति की जाती है। मन्त्रिमण्डल का प्रत्येक सदस्य विधानपालिका की कार्यवाही में भाग लेता है। वे सभी महत्त्वपूर्ण बिल पेश करते हैं, बहस में भाग लेते है और अपने नीति सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण ऐलान विधानमण्डल के सदस्यों के सामने करते हैं। मन्त्रिमण्डल वार्षिक बजट भी पेश करता है। वस्तुतः वैधानिक तथा आर्थिक और राजनीतिक मामलों में विधानपालिका मन्त्रिमण्डल से नेतृत्व की उम्मीद करती है।

प्रधान मन्त्री समेत सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल अपने सभी कार्यों के लिए विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है। यह उत्तरदायित्व सामूहिक (Collective) व वैयक्तिक दोनों ही प्रकार का होता है। प्रत्येक मन्त्री अपने विभाग का अध्यक्ष होता है, उसके सुचारु शासन के लिए वह विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी होता है। मन्त्रिमण्डल की नीति के लिए सभी मन्त्री सामूहिक रूप से विधानपालिका के प्रति जिम्मेवार होते हैं। मन्त्रियों में पारस्परिक मत-भेद हो सकते हैं, परन्तु बहुमत द्वारा

---

1. "A hyphen that forms a buckle that fastens the executive and legislature together."—*Bagehot.*

एक निश्चय हो जाने पर या तो उन्हें मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति का समर्थन करना पड़ता है अथवा इस्तीफा दे मन्त्रिमण्डल से अलग हो जाना होता है। मन्त्रिमण्डल की नीति के विधानपालिका द्वारा अस्वीकार किए जाने पर इसके सभी सदस्य त्यागपत्र दे देते हैं। मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से ही जीवित रहता है और सामूहिक रूप से ही खत्म हो जाता है। एक मन्त्री द्वारा पेश किये गये बिल के रद्द हो जाने पर भी सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल इस्तीफा दे देता है। इसी उत्तरदायित्व के नियम पालन के आधार पर ही इसे उत्तरदायी शासन (Responsible Government) कहा जाता है।

विधानपालिका कार्यपालिका का अनेक प्रकार से नियन्त्रण करती है। विधानपालिका के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न पूछ सकते हैं, सन्तोषजनक उत्तर न मिलने पर पूरक प्रश्न (Supplementary questions) पूछ सकते हैं। मन्त्रिमण्डल द्वारा पेश किये गये किसी बिल को या बजट को अस्वीकार कर विधानपालिका मन्त्रिमण्डल के प्रति अविश्वास प्रगट कर सकती है, आवश्यकता पड़ने पर विधानपालिका निन्दा प्रस्ताव (Censure motion) या अविश्वास प्रस्ताव (No confidence motion) द्वारा मन्त्रिमण्डल को हटा सकती है। संक्षेप में मन्त्रिमण्डल के सदस्य अपने पदों पर तभी तक आसीन रहते हैं जब तक कि उन्हें विधानपालिका के बहुमत का विश्वास प्राप्त होता है।

पदच्युत किये जाने पर मन्त्रिमण्डल विधानमण्डल के भंग किये जाने की माँग भी कर सकता है। इंग्लैण्ड में राजा प्रायः मन्त्रिमण्डल की एतद्विषयक माँग को स्वीकार कर लेता है।

भारत में संघ तथा राज्य में बनाई जाने वाली सरकारें पार्लियामेण्ट्री (सांसद) शासन-व्यवस्था पर ही आधारित हैं। केन्द्र के क्षेत्र में प्रधान मन्त्री अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों सहित लोकसभा (House of the people) के प्रति उत्तरदायी होता है। वह तभी तक अपने पद पर रह सकता है जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। इसी प्रकार राज्य में भी मुख्य मन्त्री सहित सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल विधानपालिका के निचले सदन के प्रति उत्तरदायी होता है। भारत तथा इंग्लैण्ड की एतद्विषयक व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। भारत में मन्त्रिपरिषद् की तथा उसकी लोकसभा के प्रति जिम्मेवारी की व्यवस्था संविधान द्वारा की गई है जब कि इंग्लैण्ड में यह सब व्यवस्था रस्मो-रिवाज पर आधारित है।

सांसद शासन-व्यवस्था के गुण—सांसद शासन-व्यवस्था का सबसे बड़ा गुण कार्यपालिका तथा विधानपालिका में सहयोग तथा ताल-मेल की व्यवस्था है।

कार्यपालिका विधानपालिका का ही एक भाग होती है। वस्तुतः यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि कार्यपालिका का विधानपालिका के सदस्यों से निर्मित और समर्थित एक ऐसी उपसमिति है जिसका कर्त्तव्य विधानपालिका द्वारा स्वीकृत कानूनों तथा आदेशों का पालन करवाना है। कार्यपालिका के सभी सदस्य विधानपालिका के सदस्य होते हैं, वे अपनी सम्पूर्ण नीतियों को विधानपालिका के सम्मुख स्वीकृति के लिए पेश करते हैं। शासकीय दृष्टि से आवश्यक सभी महत्त्वपूर्ण कानून भी उन्हीं द्वारा पेश किये

जाते हैं। वे कार्यपालिका की सभी प्रकार की आवश्यकताओं को विस्तारपूर्वक विधान-पालिका के सम्मुख पेश कर सकते हैं। कार्यपालिका के सदस्य विधानपालिका के प्रमुख सदस्यों में से होते हैं। प्रधान मन्त्री तो बहुमत का नेता होता है। ऐसी अवस्था में वे अपनी कानून सम्बन्धी सम्पूर्ण आवश्यकताओं को विधानपालिका द्वारा स्वीकृत करवा सकते हैं। इस प्रकार विधानपालिका तथा कार्यपालिका में मन-मुटाव तथा असहयोग के उत्पन्न होने की सम्भावना बहुत ही कम रहती है। विधानपालिका अपनी मनपसन्द की कार्यपालिका का निर्माण कर सकती है।

इसी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत अर्थ-संग्रह करने वाले, नये कर लगाने की स्वीकृति देने वाले और धन खर्च करने वाले विभागों में पारस्परिक सहयोग रहता है। जितने भी नये कर लगाये जाते हैं वे सभी विधानपालिका की स्वीकृति से लगाये जाते हैं जब कि उनका सुझाव कार्यपालिका ही देती है। कार्यपालिका ही उनके संग्रह के लिए जिम्मेवार होती है। धन-राशि के व्यय करने की जिम्मेवारी कार्यपालिका पर होती है जब कि व्यय की स्वीकृति विधानपालिका देती है। दोनों में पारस्परिक सहयोग होने से किसी प्रकार के भी गत्यवरोध उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती। संयुक्त राज्य अमेरिका में शक्ति-विभाजन के फलस्वरूप कार्य तथा उद्देश्य की ऐसी एकता नहीं मिलती। अनेक बार विधानपालिका तथा कार्यपालिका में मतभेद उत्पन्न हो जाता है, जिसके फलस्वरूप राज्य-शासन के निर्विघ्न संचालन में अड़चनें पैदा हो जाती हैं।

सांसद शासन उत्तरदायी शासन की व्यवस्था करता है। यही शासन का एक ऐसा प्रकार है जो जनसाधारण या निर्वाचकों की प्रभुता को वास्तविकता का रूप देता है। कार्यपालिका अपनी सम्पूर्ण शासकीय नीतियों के लिए तथा अपनी सभी कार्यवाहियों के लिए विधानपालिका के प्रति जिम्मेवार होती है। विधानपालिका जनता के प्रतिनिधियों से मिलकर बनती है, अतः उसके सभी सदस्य जनसामान्य के प्रति उत्तरदायी होते हैं। जब कभी मन्त्रिमण्डल जनसाधारण की इच्छाओं का प्रति-निधित्व नहीं करता और विधानपालिका के सदस्यों का भी उसे विश्वास प्राप्त नहीं होता, तो उसे हटाया जा सकता है, और उसके स्थान पर ऐसे नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया जा सकता है जो विधानपालिका के सदस्यों के साथ-साथ जन-साधारण के भी विश्वास का पात्र हो। यह आवश्यक नहीं कि एक बुरा मन्त्रिमण्डल तभी तक कार्य करता रहे जब तक कि उसकी अवधि समाप्त न हो जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका में कार्यपालिका के अध्यक्ष का निर्वाचन एक निश्चित अवधि के लिए होता है। यदि इस बीच जनसामान्य उसकी नीतियों से असन्तुष्ट हो जाय तो भी वह उसे नहीं बदल सकता। लार्ड ब्राइस का कथन है कि सांसद शासन के अन्तर्गत उत्तर-दायित्व एक स्थान पर केन्द्रित होता है। शासकीय खराबियों के लिए विधानपालिका कार्यपालिका को दोषी ठहरा सकती है और जनता कार्यपालिका तथा विधानपालिका दोनों के बहुमत को ही। संयुक्त राज्य अमेरिका में उत्तरदायित्व किसी भी एक स्थान पर केन्द्रित कर सकना अत्यन्त कठिन है। किसी भी असफल शासकीय नीति के लिए कार्यपालिका विधानपालिका को दोषी ठहरा सकती है और विधानपालिका

कार्यपालिका को। परन्तु संसदीय शासन-व्यवस्था में ऐसा सम्भव नहीं।

सांसद शासन-व्यवस्था में **लचकीलापन** (Flexibility) होता है। परिवर्तित हालत के अनुसार उसे बदला जा सकता है। खास तौर पर संकटकालीन स्थिति का सामना जितनी सफलता से पार्लियामेण्ट्री सरकार के अन्तर्गत किया जा सकता है वैसा अन्यत्र नहीं। इंग्लैण्ड में अनेक बार संकटकाल आये और उनका सामना करने के लिए उपयुक्त अवसर पर उपयुक्त नेताओं के चुनाव किये गये। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान में मि० ऐस्विथ के स्थान पर लायड जार्ज को युद्ध-संचालन के लिए उपयुक्त समझ चुन लिया गया। इसी प्रकार द्वितीय विश्व-युद्ध के शुरू में ही चेम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल का चुनाव किया गया। फिर संकटकालीन स्थिति में सभी दलों को मिलाकर राष्ट्रीय सरकार बनाई जा सकती है, प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर जब अन्य राज्यों की भाँति इंग्लैण्ड में भी विकट आर्थिक संकट उपस्थित हो गया था उस समय रेम्ज़ मैकडानल्ड के नेतृत्व में सभी दलों की मिली-जुली राष्ट्रीय सरकार कायम की गई थी। इसी प्रकार द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान में चर्चिल ने भी ऐसा ही किया था। परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका में ऐसे अवसर पर उपयक्त नेता का चुनाव नहीं हो सकता और न ही सभी दलों का सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में तो सभी चीजें निश्चित तथा निर्दिष्ट हैं। उनमें परिवर्तन की गुंजाइश नहीं। वाल्टर बेजहाट ने ठीक कहा है, **"अमेरिकन सरकार प्रभुत्वसम्पन्न लोगों की सरकार कहलाती है, परन्तु संकट के समय जब कि प्रभुत्व-शक्ति की परम आवश्यकता होती है, आप प्रभुसत्तासम्पन्न जनता को नहीं खोज पाते···सभी व्यवस्थाएँ निश्चित अवधि के लिए होती हैं। कोई भी लचकीला तत्त्व नहीं, प्रत्येक चीज कठोर निर्दिष्ट तथा उल्लिखित है। कुछ भी हो जाय, आप किसी चीज को शीघ्र नहीं कर सकते और न ही किसी को रोक सकते हैं। आपने अपनी सरकार का पहले ही फैसला दे दिया है। चाहे यह आपके लिए ठीक है या नहीं, कानून के आधार पर आपको इसे बर्दाश्त करना ही पड़ेगा।"**[1]

प्रो० डायसी के अनुसार सांसद शासन में गुणात्मक उच्चता भी होती है। मन्त्रिमण्डल के सदस्य माने हुए नेतागण होते हैं, मन्त्रिमण्डल में स्थान ग्रहण करने से पूर्व वे बरसों विधानपालिका के सदस्यों के रूप में अपनी योग्यता को प्रदर्शित करते हैं और अनेक नेताओं के शिष्यत्व में रह बरसों शासन तथा विधान सम्बन्धी बारीकियों को समझने का प्रयत्न करते हैं और तत्पश्चात् उन्हें मन्त्रिमण्डल में स्थान

---

1. "The American Government calls itself a government of the supreme people, but at a quick crisis, the time when the sovereign is most needed, you cannot find the supreme people...all the arrangements are for stated times. There is no elastic element, everything is rigid, specified, stated. Come what may, you can quicken nothing and retard nothing. You have bespoken your government in advance, and whether it suits you or not, whether it works well or ill, whether it is what you want or not, by law you must help it."—*Bagehot.*

मिलता है । प्रो० लास्की ने भी इस बात को स्वीकार किया है और कहा है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति साधारण श्रेणी के लोग होते हैं, उनमें उच्चकोटि की शासकीय शक्तियों का अभाव होता है। अमेरिकन प्रेज़िडेण्ट के मन्त्रि-मण्डल के सदस्यों में तो वे योग्यताएँ हो ही नहीं सकती जो एक सांसद शासन के अन्तर्गत मन्त्रियों की होती हैं। क्योंकि अमेरिकन मन्त्री राष्ट्रपति की अपनी रचना होते हैं, जनता के नेता नहीं। सांसद शासन का शिक्षात्मक मूल्य भी है । प्रत्येक सांसद शासन की सफलता के लिए राजनीतिक दलों की उपस्थिति आवश्यक समझी जाती है। राजनीतिक दल लोगों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक राजनीतिक दल देश की राजनीतिक समस्याओं के सुलझाव के लिए अपनी योजनाएँ प्रस्तुत करता है और शासन सूत्र को अपने हाथ में ले उन्हें कार्यान्वित करने का वायदा करता है। वे अपने-अपने प्रोग्रामों को सर्वप्रिय बनाने के लिए लगातार प्रचार-कार्य करते रहते हैं।

विभिन्न कानूनी तथा राजनीतिक मसलों पर विधानपालिकाओं में वाद-विवाद होते रहते हैं। जहाँ विरोधी पक्ष मन्त्रियों की कड़ी आलोचना करता है और शासन-क्षेत्र में उपस्थित दोषों को जनता के सम्मुख रखता है, वहाँ दूसरी ओर मन्त्रिगण अपने मत की पुष्टि के लिए सरकार ने जो कुछ किया होता है उसका विवरण देते हैं। साथ ही अपनी नीतियों का समर्थन विभिन्न तर्कों द्वारा करते हैं। जनता विधानपालिका की कार्यवाही में पर्याप्त दिलचस्पी लेती है । विरोधी पक्ष की उपस्थिति के फलस्वरूप सांसद शासन के अन्तर्गत एकतन्त्रवाद के विकास की बहुत कम सम्भावनाएँ होती हैं। संयुक्य राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति अवसर पा एकतन्त्रात्मक शासन स्थापित कर सकता है, क्योंकि उसकी कार्यपालिका की शक्तियाँ पर्याप्त अनियन्त्रित हैं।

सांसद शासन-प्रणाली के दोष—सांसद शासन-प्रणाली में अनेक महत्त्वपूर्ण गुण हैं, यह हम ऊपर देख चुके हैं। परन्तु उसकी आलोचना भी नीचे लिखे आधार पर की जाती है—

सर्वप्रथम तो यह कहा जाता है कि सांसद शासन-व्यवस्था में शासकीय-शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथ में नहीं रहती है, इसका फल यह होता है कि शासन तन्त्र कमजोर हो जाता है । अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में शासन-सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित होती है, अतः वह शासन-व्यवस्था संकटकालीन स्थिति का मुकाबला अधिक आसानी से और सफलता से कर सकती है । प्रधान मन्त्री अन्य का साथी है, यह ठीक है कि उसकी स्थिति अन्य मन्त्रियों की अपेक्षा किंचित् श्रेष्ठ होती है, परन्तु वह सर्वोच्च तथा सर्वश्रेष्ठ नहीं होता। न ही वह अपने साथियों पर उसी प्रकार नियन्त्रण कर सकता है जैसे कि अमेरिकन राष्ट्रपति करता है। अमेरिकन राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों की राय सुनकर भी अपना मनमाना फैसला करता है और उनको बतलाये बिना या उन से सलाह लिये बिना भी वह सब कुछ कर सकता है । यह स्थिति राष्ट्रपतितन्त्र को शक्ति-सम्पन्न बना देती है।

सांसद शासन-व्यवस्था शक्तियों के विभाजन के सिद्धान्त (Theory of

seperation of powers) के विपरीत है। सुप्रसिद्ध फ्रेंच विचारक मॉण्टेस्क्यू का कथन है कि विधाननिर्माण तथा कार्यपालिका के कर्त्तव्यों को भिन्न-भिन्न संस्थाओं को सौंपना चाहिए जो कि अगर एक दूसरे से पूरी तरह स्वतन्त्र न भी हों तो भी प्रायः स्वतन्त्र हों। उसका विचार था कि अगर इन दोनों शक्तियों को एक ही स्थान पर एकत्रित कर दिया जाय तो न तो शासन में सुचारुता ही रहती है और न व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की सुरक्षा ही। विधानपालिका कानून बनाने के काम में इतना उत्साह प्रदर्शन नहीं करती जितना कि विदेशी नीति सम्बन्धी या प्रशासन के कार्य में दिलचस्पी लेती है। इसी प्रकार मन्त्रिगण भी कार्यपालिका के कर्त्तव्यों में अधिक दिलचस्पी न ले कानून बनाने के काम में अधिक रुचि दिखाते हैं। इससे शासन-कार्य में सुचारुता का अभाव हो जाता है। इसी प्रकार मॉन्टेस्क्यू का यह विश्वास था कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए दोनों विभागों का पृथक् होना आवश्यक है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसी सिद्धान्त का अनुसरण कर सरकार के तीनों विभागों को यथासम्भव एक दूसरे से पृथक् रखने का प्रयत्न किया गया है।

परन्तु सांसद शासन-प्रणाली पर किये गये इस आक्षेप को उचित नहीं माना जाता। प्रायः सभी आलोचक यह स्वीकार करते हैं कि विधानपालिका तथा कार्य-पालिका में पारस्परिक सहयोग तथा सद्भाव की परम आवश्यकता होती है। दोनों के स्वाभाविक सहयोग से ही शासन कार्य में सुचारूता उत्पन्न हो सकती है। अमेरिकन शासन-व्यवस्था में तीनों विभागों को पृथक् रखा गया है, परन्तु इससे सरकारी मशीनरी के ठीक-ठीक चलने में कठिनाई ही पड़ी है, सरलता और सुचारुता उत्पन्न नहीं हो सकी। वैयक्तिक अधिकार तथा स्वतन्त्रता की रक्षा सांसद सरकार में अध्यक्षात्मक सरकार की अपेक्षा अधिक सुगमता तथा सरलता से हो सकती है। माण्टेस्क्यू का सिद्धान्त इस विषय में अधिक सहायता नहीं कर पाता।

सांसद शासन-व्यवस्था के प्रति आज एक बड़ा आक्षेप यह है कि इसमें मन्त्रि-मण्डल विधानपालिका की विधान निर्माण सम्बन्धि शक्तियों को हड़प कर लेता है और उसे कठपुतली मात्र बना देता है। कानून-निर्माण तथा बजट तैयार करने के विषय में तथा अन्य नीतियों के निर्धारण इत्यादि में मन्त्रिमण्डल ही विशेष दिलचस्पी लेता है, विधानपालिका नहीं। कहा जाता है कि इंग्लैण्ड में आज कुछ एक चुने हुए पार्टी-नेताओं (मन्त्रिमण्डल) का अधिनायकतन्त्र स्थापित हो गया है, जो कुछ मन्त्रिमण्डल विधानपालिका के सामने रखे उसे विधानपालिका को मानना पड़ता है। विधान-पालिका के सदस्यों की कोई स्वतन्त्रता स्थिति नहीं होती। वे पार्टी-नियन्त्रण के अन्तर्गत विवश हो अपने नेताओं का विरोध नहीं कर सकते। अपने वोट के अधिकार को वह स्वतन्त्रतापूर्वक इस्तेमाल ही नहीं कर सकते। आजकल विधानपालिका अपनी बहुत-सी कानूनी-निर्माण सम्बन्धी शक्तियों को कार्यपालिका को सौंपती जा रही है। कानून-निर्माण भी आज एक विशेष कला है, जिसका ठीक-ठीक ज्ञान कुछेक विशेष योग्यता सम्पन्न व्यक्तियों को ही होता है। अतः पार्लियामेण्ट के साधारण सदस्य उनमें कोई दिलचस्पी नहीं लेते। राज्य कर्त्तव्यों के विकास के फलस्वरूप

विधानपालिकाओं के लिए यह सम्भव नहीं कि वे पूरी-पूरी ईमानदारी से प्रत्येक बिल पर विचार कर सकें। ऐसी अवस्था में पार्लियामण्ट को चतुर तथा विधानविज्ञ मन्त्रियों की ही शरण लेनी पड़ती है। वे उन सभी कानूनों को मान लेती है जो मन्त्रिमण्डल द्वारा पेश किये जाते हैं। प्रो० लास्की ने भी इस स्थिति की विकटता को अनुभव किया है। उसका कहना है कि सांसद शासन-प्रणाली के अन्तर्गत कार्यपालिका को अत्याचार करने के लिए अवसर मिल जाता है। संसद मन्त्रियों के फैसलों को स्वीकार करने वाली संस्था मात्र ही रह जाती है, वह न तो इनकी आलोचना कर सकती है, और न ही परिवर्तन। क्योंकि मन्त्रिमण्डल के परिवर्तन का अर्थ है हाउस ऑफ कामन्स का तोड़ा जाना और चुनावों का दुबारा होना। ऐसी हालत का सामना करने के लिए बहुत कम सदस्य तैयार होते हैं। अतः वे मन्त्रिमण्डल के समर्थन को ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं। आज तो मन्त्रिमण्डल ही विधानपलिका को नियन्त्रित करते हैं।

परन्तु यह आरोप भी पर्याप्त अत्युक्तिपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि हाउस ऑफ कामन्स अब केवल मात्र वाद-विवाद सभा ही है, या वह अब केवल निषेधात्मक नियन्त्रण ही करती है, फिर भी अन्तिम रूप से मन्त्रिमण्डल हाउस ऑफ कामन्स को उत्तरदायी होता है। हाउस ऑफ कामन्स समय पड़ने पर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है और सरकार की अप्रिय तथा अहितकर नीतियों का डटकर विरोध करता है। जब कभी उसे इस बात का ज्ञान होता है कि जनमत उसके साथ है तो वह अपनी बात मन्त्रिमण्डल से मनवाकर ही रहता है। आज सरकार के कर्त्तव्यों के बढ़ जाने के कारण और कानून-निर्माण के एक विशेष टेकनीक बन जाने से विधानपालिका के साधारण सदस्य चाहे वैधानिक कार्यों में अधिक रुचि न दिखाएँ तो भी वे लोग सरकार के काम-काज की देख-भाल और आलोचना करते रहते हैं। आज इंग्लैण्ड में 'हाउस ऑफ कामन्स' का कार्य शासन करना नहीं अपितु देख-भाल तथा आलोचना करना मात्र है।

सांसद शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत मन्त्रियों का चुनाव उनके प्रशासकीय गुणों के आधार पर नहीं किया जाता। प्रधान मन्त्री उन्हीं व्यक्तियों को मन्त्रिमण्डल में लेता है जिनकी उसकी अपनी पार्टी में उच्च तथा मजबूत स्थिति होती है। मन्त्रियों के चुनाव में उसका मुख्य उद्देश्य शासन की सुचारुता नहीं अपितु पार्लियामेण्ट में अपने दल के बहुमत को बनाये रखना होता है। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का अधिकांश समय शासन की देख-रेख में नहीं गुजरता या तो वे अपना अधिकांश समय अपने चुनाव क्षेत्र को तैयार करने में लगाते हैं या फिर पार्लियामेण्ट के अधिवेशनों में बहस में भाग लेने में और विभिन्न बिलों के पेश करने तथा पास करवाने में। शासन की ओर उनका ध्यान ही नहीं होता।

पार्लियामेण्ट्री शासन-व्यवस्था नौसिखियों की शासन-व्यवस्था कहलाती है। ऐसे-ऐसे व्यक्ति विभिन्न शासकीय विभागों के अध्यक्ष बनाये जाते हैं जो कि उनके शासन के विषय में कुछ भी नहीं जानते। उदाहरण के लिए रक्षा, अर्थ, व्यापार,

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, न्याय, कानून इत्यादि बहुत से ऐसे विभाग हैं जिनके प्रशासन के लिए अनुभव तथा विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है, परन्तु इनका शासन ऐसे व्यक्तियों को सौंप दिया जाता है जो इनके शासन के आधारभूत विषयों से भी अपरिचित होते हैं। ऐसी व्यवस्था में शासन में सुचारुता कैसे उत्पन्न हो सकती है? कहा जाता है कि मन्त्रिगण तो केवल हस्ताक्षर ही करते हैं, राज्य का सम्पूर्ण कार्य तो स्थायी सरकारी नौकर ही चलाते हैं।

संसदीय शासन के अन्तर्गत राजनीतिक दलों को व्यर्थ में अधिक महत्त्व दिया जाता है। राजनीतिक दल ही शासन की सम्पूर्ण कार्यवाही को चलाते हैं। जब कभी एक राजनीतिक दल के हाथ में शक्ति आ जाती है तो वह सदा ही यह प्रयत्न करता है कि राजनीतिक शक्ति उसके हाथ से न निकले। वोट प्राप्त करने के लिए वह न केवल शासकीय मशीनरी का ही दुरुपयोग करता है अपितु अन्य अनेक ऐसे अनैतिक साधनों का भी प्रयोग करेगा जो कि राज्य के वातावरण को भ्रष्ट बना देते हैं। पार्टीबाजी की अधिकता के कारण जनसामान्य के हितों की अवहेलना की जाती है, राष्ट्रीय हितों को भी दलगत स्वार्थों के लिए कुर्बान कर दिया जाता है। कहा जाता है कि विरोधी दल का कार्य सरकार की आलोचना है, और उसके कार्य की देख-रेख करना है, परन्तु व्यवहारिक रूप से देखने से यही विदित होगा कि विरोधी दल केवल मात्र विरोध के लिए ही सरकार का विरोध करता है। उसके विरोध औचित्य, न्याय और सन्तुलन का अभाव होता है। आलोचना में भी गहराई की कमी और ओछापन होता है। वह प्रत्येक विधान के स्वरूप को देख उसके गुणावगुण पर विचार कर विरोध या समर्थन नहीं करता, उसके विरोध या समर्थन का कारण पार्टीबाजी है।

जहाँ राजनीतिक दलों की बहुतायत होती है, वहाँ अनेक दलों के मेल से मन्त्रिमण्डल बनाये जाते हैं। ऐसे मन्त्रिमण्ड को मिश्रित मन्त्रिमण्डल (Coalition ministry) कहते हैं। मिश्रित मन्त्रिमण्डल का कोई स्वस्थ राजनीतिक आधार नहीं होता, वह किसी खास राजनीतिक प्रोग्राम को लेकर नहीं चलते। उनका जीवन भी बहुत छोटा होता है। राजनीतिक दलों की अदला-बदली के कारण मन्त्रिमण्डल टूटते रहते हैं। एक के बाद दूसरा मन्त्रिमण्डल आता है, प्रत्येक मन्त्रिमण्डल अपने साथ नया प्रोग्राम लेकर आता है। परन्तु थोड़ी देर तक कार्य करने के कारण वह अपने प्रोग्राम को खत्म ही नहीं कर पाता और उसका स्थान दूसरा मन्त्रिमण्डल ले लेता है। फ्रांस में बहुदल व्यवस्था है, वहाँ एक मन्त्रिमण्डल का औसत जीवन ६ मास से अधिक नहीं होता। ऐसी अवस्था में वहां का सम्पूर्ण शासन सरकारी नौकर ही चलाते हैं। कहा जाता है कि फ्रांस में प्रजातन्त्र तो नाम-मात्र का है, वस्तुतः वहाँ का शासन नौकरशाही के हाथ में है।

निष्कर्ष—सांसद शासन-व्यवस्था में उपर्युक्त दोष उपस्थित हो सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु इनमें बहुत से दोषों का अत्युक्तिपूर्ण विवेचन किया गया है। दलबन्दी की व्यवस्था तो प्रजातन्त्र की ही विशेषता है, राजनीतिक दलों के बिना

प्रजातन्त्र की सफलता ही मुश्किल है। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का निर्वाचन उनकी शासकीय योग्यता के आधार पर किया जाता हो या [illegible] जाता हो, या वे शासन के ही कार्य में संलग्न रहते हों या न रहते हों उनका मुख्य कार्य शासकीय नीति की स्थापना है, और यह देखना है कि उसका ठीक-ठीक पालन होता है या नहीं। सरकारी नौकर चाहे प्रशासकीय मामलों के विशेषज्ञ हों, परन्तु वे केवल सलाहकार के रूप में तथा सहायकों के रूप में ही कार्य करते हैं, प्रशासकीय नीति का निर्धारण तो मन्त्रिमण्डल करता है।

विगत दो विश्व-युद्धों ने यह साबित कर दिया है कि सांसद शासन-व्यवस्था उतनी ही स्फूर्ति तथा तत्परता से कार्य करती है जितनी कि अन्य प्रकार की शासकीय व्यवस्थाएँ। वस्तुतः सांसद शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत संसद के सदस्यों की सहायता से राज्य में ऐसा शक्तिशाली जनमत तैयार किया जा सकता है कि वह मन्त्रिमण्डल को हर प्रकार का सहयोग दे। दोनों विश्व-युद्धों के अनन्तर अनेक नये राज्यों में सांसद शासन-व्यवस्था को उपयुक्त समझ अपनाया गया है।

११५. राष्ट्रपतितन्त्र (Presidential Government)

राष्ट्रपति शासन की बड़ी विशेषता कार्यपालिका की विधानपालिका के नियन्त्रण से स्वतन्त्रता है। यह उत्तरदायी शासन व्यवस्था (Responsible Government) नहीं कहलाती।

इंग्लैण्ड में प्राप्त शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल तथा विधानपालिका में घनिष्ट सम्बन्ध होता है। परन्तु अमेरिकन विधान के निर्माता इस व्यवस्था के समर्थक नहीं थे। उनका दृष्टिकोण मॉण्टेस्क्यू के शक्तियों के विभाजन (Theory of separation of powers) के सिद्धान्त से प्रभावित था। वे कार्यपालिका तथा विधानपालिका में विभाजन चाहते थे, उनमें सान्निध्य नहीं। उनका विचार था कि विधानपालिका तथा कार्यपालिका न केवल अपने-अपने क्षेत्र में स्वाधीन हों बल्कि वे एक दूसरे की कार्यवाहियों पर रोक भी लगा सकें, ताकि दोनों में कोई भी अपना अधिनायकतन्त्र स्थापित न कर सकें। दूसरा अमेरिकन विधान के जनक राजनीतिक दलबन्दी के विरुद्ध थे, ब्रिटेन की सांसद शासन-व्यवस्था राजनीतिक दलों के बिना कार्य ही नहीं कर सकती। अतः वह एक ऐसी शासन-व्यवस्था की खोज में थे जहाँ कि दलबन्दी का विकास ही न हो सके। उनका विचार था कि कार्यपालिका तथा विधानपालिका के अलगाव के फलस्वरूप राजनीतिक दलों का विकास नहीं हो सकेगा। इन्हीं खतरों से बचने के लिए उन्होंने राष्ट्रपतितन्त्र की व्यवस्था का निर्माण किया। अतः राष्ट्रपतितन्त्र की व्यवस्था संयुक्त राज्य अमेरिका की अपनी देन है। उसी के अनुकरण पर अन्य देशों में, विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका के पड़ोसी लेटिन अमेरिकन देशों में, इस शासन-व्यवस्था को अपनाया गया।

राष्ट्रपतितन्त्र के आधार—राष्ट्रपतितन्त्र की मुख्य विशेषता का जिक्र तो हम ऊपर कर आये हैं और यह कह आये हैं कि राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत कार्यपालिका

वैधानिक रूप से ही विधानपालिका के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होती है। कार्यपालिका की सम्पूर्ण शक्तियाँ एक राष्ट्रपति या अध्यक्ष को सौप दी जाती हैं जिसका निर्वाचन जनता करती है। वह नाममात्र का शासक न हो वास्तविक शासक होता है और उसमें स्थापित सम्पूर्ण शक्तियाँ उसकी वास्तविक शक्तियाँ होती हैं, किसी अन्य की नहीं, जैसा कि सांसद शासन-व्यवस्था में होता है। दूसरे शब्दों में राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत नाम मात्र की तथा वास्तविक कार्यपालिका में अन्तर नही किया जाता।

राष्ट्रपति की पदावधि (Term of office) विधान द्वारा निश्चित होती है। वह अपने कार्य-काल के दौरान में अविश्वास-प्रस्ताव या निन्दा-प्रस्ताव पास कर विधान सभा द्वारा हटाया नहीं जा सकता। वह अपनी सम्पूर्ण कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यवाही के लिए विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है। विधानमण्डल उस पर कोई विशेष पाबन्दी नहीं लगा सकता, उसकी कार्यवाहियों को रोक नहीं सकता। इसी प्रकार राष्ट्रपति भी वाद-विवाद में हिस्सा नही लेता, कोई बिल अपने आप विधान-सभा में उपस्थित नहीं कर सकता, स्वयं रुपये-पैसे की माँग लेकर उसके सम्मुख उपस्थित नहीं हो सकता, और न ही उसके अधिवेशन बुला सकता है; न ही उसके चुनाव की व्यवस्था करता है, न ही उसे भंग कर सकता है। इस प्रकार दोनों ही एक दूसरे से पर्याप्त स्वतन्त्र होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विधानपालिका किसी भी राष्ट्रपति को उसके पद से नहीं हटा सकती, चाहे वह कितना भी विधानपालिका द्वारा नापसन्द किया जाय। राष्ट्रपति को हटाने का एक ही साधन विधान में बतलाया गया है वह है विधानपालिका द्वारा प्रेजीडेण्ट पर आरोप लगाये जाने पर सीनेट (विधानपालिका का दूसरा सदन) द्वारा मुकदमा चलाया जाना और वहाँ भी दो तिहाई बहुमत से उसके दोषी साबित होने पर ही उसे हटाया जा सकता है। यह तरीका पर्याप्त कठिन है, वैसा सीधा और सरल नहीं जैसा कि इंग्लैण्ड या फ्रांस में मौजूद है, जिसके अन्तर्गत पार्लियामेण्ट ही मन्त्रिमण्डल की जीवन विधायिका होती है।

राष्ट्रपति अपनी सहायता तथा सलाह के लिए एक मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के चुनाव में वह स्वतन्त्र है, उनकी नियुक्ति के लिए उसे सीनेट की औपचारिक सहमति (Formal consent) लेनी पड़ती है। उसके मन्त्रिमण्डल के सदस्य उसके अपने सेवक होते हैं, वे उसके प्रति उत्तरदायित्व होते हैं, विधानपालिका के प्रति नहीं। राष्ट्रपति स्वयं उनका चुनाव करता है, वह स्वयं ही उन्हें हटा सकता है। राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की स्थिति इंग्लैण्ड के मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से बिल्कुल भिन्न होती है। इंग्लैण्ड में मन्त्रियों की तथा प्रधान मन्त्री की पोजीशन में विशेष अन्तर नहीं। दोनों की स्थिति बराबर की होती है, प्रधान मन्त्री केवल उन बराबर के पद वाले मन्त्रियों में मुख्य होता है (Prime minister is first among equals) परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति-तन्त्र के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल के सदस्य राष्ट्रपति वैयक्तिक सहायक तथा सेवक कहे जा सकते हैं। राष्ट्रपति चाहे तो अपने मन्त्रियों की सलाह ले और न चाहे तो न ले। उसके लिए यह भी आवश्यक नहीं कि वह अपने मन्त्रियों के बहुमत के निर्णय को माने,

वह उनके विचार अवश्य पूछ सकता है, परन्तु निश्चय वह स्वयं करता है । प्रशासन की वास्तविक जिम्मेवारी मन्त्रियों पर न हो, राष्ट्रपति पर होती है । अपनी नीति की असफलता के लिए वह स्वयं जिम्मेवार होता है उसके मन्त्री नहीं । राष्ट्रपति की भाँति मन्त्रिमण्डल के सदस्य भी विधानपालिका के सदस्य नहीं हो सकते । न ही वे विधान-पालिका के वाद-विवाद में भाग ही ले सकते हैं । राष्ट्रपति द्वारा हटाये जाने पर न तो मंत्री विधानपालिका के ही पास जा सकते हैं और न ही उनको अपनी पार्टी से किसी किस्म की सहायता मिल सकती है । इस प्रकार वे बहुत दयनीय स्थिति में होते हैं । उन्हें **गौरवपूर्ण क्लर्क** (Glorified clerks) **मात्र कहा जाता है।**

राष्ट्रपति विधानपालिका को सन्देश भेजकर अपनी कानून-निर्माण सम्बन्धी आवश्यकताओं से परिचित कर सकता है तथा शासन-संचालन के लिए आवश्यक धन की माँग कर सकता है, परन्तु विधानपालिका चाहे तो प्रधान की माँग को स्वीकार करे न चाहे तो रद्द करदे ।

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं राष्ट्रपतितन्त्र संयुक्त राज्य अमेरिका में मौजूद है । वहाँ राष्ट्रपति वास्तविक कार्यपालिका है, वह राज्य का मुखिया है, सेना, नौ सेना तथा वायु सेना का प्रमुख सैनिक अधिकारी है, विदेश विभाग तथा आन्तरिक मामलों के प्रशासन में स्वतन्त्र है । उसका मन्त्रिमण्डल उसकी अपनी सृष्टि है, जिसे वह जब चाहे खत्म कर सकता है । इन सभी शक्तियों के कारण वस्तुतः अमेरिकन राष्ट्रपति एक निर्वाचित अधिनायक के बराबर है ।

पो० लास्की का कथन है कि **"अमेरिकन प्रधान अपनी स्थिति में बहुत कुछ सम्राट् की और बहुत कुछ प्रधान मन्त्री की भाँति है ।"**[1]

राष्ट्रपतितन्त्र का मूल्यांकन––राष्ट्रपतितन्त्र की अनेक विशेषताएँ मानी जाती हैं । यह कहा जाता है कि शक्तियों के विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण इसमें शासन के किसी भी विभाग का अधिनायकतन्त्र स्थापित नही हो सकता । शासन के सभी भाग बराबर होते है, उनमें कोई भी एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सकता । विधानपालिका के सदस्यों का मुख्य कार्य विधान-निर्माण होता है, वे कार्यपालिका के कार्यों में दखल नहीं देते । इसी प्रकार कार्यपालिका के सदस्य अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को शासन-कार्य के संचालन पर केन्द्रित कर सकते हैं । उन्हें अपने समय को विधानपालिका के कार्य में खर्च नहीं करना पड़ता । ऐसी अवस्था में वे शासन-कार्य को अधिक सुचारुता से चला सकते हैं ।

राष्ट्रपतितन्त्र का एक प्रमुख गुण स्थायित्व है । सांसद शासन-प्रणाली के अन्तर्गत कार्यपालिका का जीवन संसद् के विश्वास पर आश्रित है, उसका जीवन तभी तक है जब तक उसे संसद् का विश्वास प्राप्त है । इस प्रकार संसद् जब चाहे नई कार्यपालिका का चुनाव कर सकती है । परन्तु अध्यक्षात्मक शासन के अन्तर्गत कार्यपालिका का चुनाव एक निश्चित अवधि के लिए किया जाता है जिसमें उसे

1. "The President of the United States is more or less a king, he is also both more or less a Prime Minister."—*Laski.*

साधारण ढंग से हटाया नहीं जा सकता । एक निश्चित अवधि तक कार्य करने के फलस्वरूप वह अपनी निश्चित नीति का पर्याप्त काल तक अनुसरण कर सकता है। इस प्रकार राज्य शासन की नीति में शीघ्र परिवर्तन नहीं होता, उसमें अभंगता रहती है।

अध्यक्षात्मक कार्यपालिका में शक्ति का केन्द्रीकरण होता है अतः राष्ट्रीय विपत्ति तथा युद्ध-काल में इस शक्ति का प्रयोग अधिक सुचारुता से किया जा सकता है। राज्य शक्ति के एक आदमी के हाथ में होने के कारण राज्य शासन में शक्ति दृढ़ता तथा सूझ-बूझ का समावेश हो जाता है । राष्ट्रपति को अपने प्रत्येक कार्य के लिए बार-बार विधानपालिका पर ही अवलम्बित नहीं रहना पड़ता। उस पर अपने कार्य सम्पन्न करने की जिम्मेवारी होती है, वह शासन कार्य में सक्रिय भाग लेता है।

अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत राजनीतिक पार्टीबाजी की बुराइयों की कमी रहती है। राष्ट्रपति पार्टीबाजी से ऊपर उठ सम्पूर्ण प्रशासकीय नीतियों का विशुद्ध देश-हित के विचार से विकास कर सकता है। एक बार चुने जाने पर राष्ट्रपति को बार-बार पार्टियों पर आश्रित नहीं रहना पड़ता, वह उनकी अवहेलना न भी करे तो भी अपनी मनमर्जी अवश्य कर सकता है । विधानपालिका के सदस्यों का विभाजन पार्टीबाजी के आधार पर अवश्य होता है परन्तु शासन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने के फलस्वरूप वे विभिन्न कानूनों पर निष्पक्षतापूर्वक विचार प्रगट कर सकते है, इस प्रकार अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत पार्टीबाजी बहुत उग्र रूप नहीं धारण कर सकती।

अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली ऐसे देश के लिए विशेष उपयोगी होती है जहाँ अनेक राष्ट्रीय इकाइयाँ हों, अनेक भाषा-परिवार हों तथा लोग अनेक वर्गों तथा सांस्कृतिक ग्रुपों में विभाजित हों। ऐसे देशों में बहुदल व्यवस्था (Multiple party system) होती है, फलतः किसी भी स्थायी सरकार का निर्माण मुश्किल हो जाता है। अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था के फलस्वरूप कार्यपालिका विधानपालिका के नियन्त्रण से मुक्त होती है और उसमें स्थायित्व होता है । कार्यपालिका स्थायी भी हो और साथ ही प्रजातान्त्रिक तथा प्रतिनिधि सत्तात्मक हो, ऐसा अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत ही सम्भव है।

परन्तु अध्यक्षात्मक कार्यपालिका में अनेक गम्भीर दोष भी मौजूद हैं। शक्तियों के विभाजन के फलस्वरूप शासनतन्त्र का सुचारू संचालन बहुत मुश्किल हो जाता है। विधानपालिका तथा कार्यपालिका के पारस्परिक सहयोग के अभाव में शासन में गत्यवरोध उत्पन्न हो जाता है। कानून बनाने का उत्तरदायित्व विधानपालिका पर है परन्तु उसे लागू कार्यपालिका ने करना है। कार्यपालिका अपनी कार्यवाहियों के लिए विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। ऐसी हालत में कानूनों का ठीक-ठीक पालन यदि न हो तो विधानपालिका कुछ भी नहीं कर सकती । विधानपालिका तथा कार्यपालिका के पारस्परिक विभेद को मिटाने के लिए दल-व्यवस्था का जन्म हुआ।

अब राजनीतिक दल कार्यपालिका तथा विधानपालिका में एक कड़ी का काम करते हैं। परन्तु उस हालत में स्थिति बहुत पेचीदा हो जाती है जब राष्ट्रपति तो किसी एक राजनीतिक दल से सम्बन्धित हो और विधानपालिका में विरोधी दल का बहुमत हो। ऐसी अवस्था में राष्ट्रपति अपनी आवश्यकता के अनुसार कानून नही बनवा सकता। शासक की माँग कुछ होगी, विधानपालिका कुछ करेगी। राजकीय धन के खर्च करने की व्यवस्था बहुत पेचीदा है। कार्यपालिका ही शासनतन्त्र पर राजकीय धन को खर्च करती है, परन्तु इस खर्च की स्वीकृति विधानपालिका देती है। कार्यपालिका को किसी कार्य के लिए धन की आवश्यकता हो तो वह विधानपालिका से माँग कर सकती है, परन्तु यह आवश्यक नही कि विधानपालिका की स्वीकृति मिल ही जाए। राष्ट्रपति विल्सन वर्साई की शान्ति सन्धि के लिए उत्तरदायी थे, उन्हीं के प्रयत्न से राष्ट्र संघ की स्थापना हुई, परन्तु जब वह सन्धि विधानपालिका के सम्मुख पेश की गई तो उसे अस्वीकार कर दिया गया। इस प्रकार सदा ही अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का भविष्य अनिश्चित रहता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत शासनतन्त्र उत्तरदायित्व-विहीन होता है। कहने को तो राष्ट्रपति जनता के प्रति उत्तरदायी होता है, परन्तु यह उत्तर-दायित्व तभी निरर्थक हो जाता है जब हम देखते हैं कि जनता के पास उस को हटाने का कोई साधन नहीं। यदि जनता को पुनरावर्तन (Recall) या वापिस बुलाने का अधिकार होता तब भी हम कह सकते कि वह जनता द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। चार साल के लिए उसका चुनाव होता है, इस अवधि में उसको निकालने का एक ही साधन है वह है--विधानपालिका द्वारा आरोप लगा उस पर मुकदमा (Impeachment by the Senate) चलाना। इस प्रकार एक बार चुने जाने पर राष्ट्रपति को अपने पद से हटाना कठिन है, चाहे उसके शासन सूत्र की जो स्थिति हो, चाहे वह अच्छा शासक साबित हो या न हो। उसे चार साल के लिए विवशतापूर्वक बर्दाश्त करना ही पड़ता है। अध्यक्षात्मक शासनतन्त्र की कठोरता, अपरिवर्तनशीलता ही उसकी एक बड़ी कमी है। सांसद शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत संकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए उपयुक्त व्यक्ति का चुनाव हो सकता है, परन्तु अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसा सम्भव नहीं।

राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत उत्तरदायित्व स्थापन की बड़ी कठिनाई होती है। अनेक बातों में विधानपालिका अध्यक्ष का नियन्त्रण करती है तो कुछेक अन्य कार्यों में अध्यक्ष विधानपालिका का नियन्त्रण करता है। दोनों ही एक दूसरे की शक्ति में थोड़ा-बहुत हिस्सा बंटाते हैं। ऐसी अवस्था में अगर कहीं कोई गलती हो जाय तो राष्ट्रपति विधानपालिका को दोषी ठहरा सकता है और विधान-पालिका राष्ट्रपति को। उत्तरदायित्व का कोई विशेष केन्द्र नहीं।

यह कहना भी गलत है कि अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत पार्टीबाजी कम हो जाती है। जितनी भी महत्त्वपूर्ण सरकारी नौकरियाँ होती हैं उन सब पर राष्ट्रपति अपने समर्थकों की ही नियुक्ति करता है।

जैसा कि हम ऊपर ही कह आये हैं वर्तमान काल में सांसद शासन-व्यवस्था

अधिक लोकप्रिय हो रही है । उसकी लोकप्रियता का बड़ा कारण उसका विधान-पालिका के प्रति उत्तरदायित्व तथा परिवर्तनशीलता (Flexibility) है। ऐसी शासन-व्यवस्था में निरंकुशता का प्रसार नहीं हो सकता और वह समय तथा परि-स्थितियों के अनुसार बदली भी जा सकती है ।

११६. स्विस शासन-प्रणाली

यहाँ हमें स्विट्जरलैण्ड की बहुसंख्यक कार्यपालिका (Plural executive) का भी जिक्र कर देना चाहिए । स्विस संघ राज्य की कार्यपालिका अपने स्वरूप में विचित्र है । उसे हम उपर्युक्त किसी भी वर्गीकरण में नहीं रख सकते । स्विस कार्य-पालिका में सम्पूर्ण शासकीय शक्ति सात सदस्यों में विकेन्द्रित होती है, उनमें से कोई भी एक शासनतन्त्र का मुखिया नहीं होता, सभी में समानता होती है । जहाँ सभी सदस्य विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं वहाँ दूसरी ओर वे विधानपालिका द्वारा हटाए भी नहीं जा सकते । वे विधानपालिका के सदस्य नहीं होते परन्तु विधान-पालिका के कार्य में भाग लेते हैं, सभी महत्त्वपूर्ण बिल वे स्वयं पेश करते है और विधान-पालिका प्रायः सभी कार्यों में कार्यपालिका के नेतृत्व की अपेक्षा करती है । कार्य-पालिका के सदस्यों का चुनाव विधानपालिका करती है, वे सभी सदस्य जब तक चाहें कार्यपालिका के सदस्य रह सकते हैं । यद्यपि विधानपालिका के साथ ही कार्यपालिका को भी भंग कर दिया जाता है । फिर भी लगभग वही सब सदस्य जो पहले कार्य-पालिका के सदस्य होते हैं । उन्हें दुबारा चुन लिया जाता है । इस प्रकार कार्यपालिका एक प्रकार से स्थायी भी हो जाती है । वस्तुतः स्विस शासन-प्रणाली में अध्यक्षात्मक तथा सांसद शासन-प्रणाली दोनों के ही गुण मिल जाते है ।

Important Questions

Reference

1. What are the distinguishing marks of the Cabinet or Parliamentary type of government? Discuss the merits and demerits of such a type of government. (*Pb. 1937* ; *Pat. 1944* ; *Bom. 1938*) — Art. 144

2. What are the distinguishing marks of the Presidential system of Government? On what respect does this system differ from the Cabinet system. Discuss its merits and demerits. (*Ag. 1938 Cal. 1940, 1936 Pb. 1936 Pat. 1944 Bom. 1938*) — Art. 144 and 145

3. Examine the Presidential and Parliamentary systems of Government and discuss their comparative advantages. (*Pb. 1944, 1953, 1956*) — Arts. 144 & 145

4. What is exactly meant by Parliamentary Government? Distinguish Parliamentary Government from other types of 'Democratic' Government. (*Pb. 1945*) — Art. 144 145 & 146

5. Discuss the comparative merits and demerits of the Parliamentary and Presidential executive systems, with special reference to the English & the American systems. (*Pb. 1949*) — Art. 144 and 145

अध्याय १६

शक्तियों के विभाजन का सिद्धान्त

(Theory of the Separation of Powers)

११७. शक्तियों का परम्परागत विभाजन

सरकारी कार्यों का विभाजन किया जाता है। आज के युग में जब कि सरकार के कार्यों में बहुत वृद्धि हो गई है, यह प्रवृत्ति और भी अधिक स्पष्ट हो गई है। इस विभाजन का आधार विशेषज्ञता है। प्रगतिशील समाज में श्रम-विभाजन तथा कार्य-विभाजन की सदा ही आवश्यकता मानी जाती है।

सरकार के विभिन्न कर्त्तव्यों के विभाजन की प्रक्रिया सदा से ही एक विशेष परम्परा के अनुसार की जाती है। इस परम्परा के अनुसार सरकार के निम्नलिखित तीन अंग होते हैं—

(१) विधानपालिका (Legislature)।
(२) कार्यपालिक (Executive)।
(३) न्यायपालिका (Judiciary)।

विधानपालिका का कर्त्तव्य राजकीय जीवन के आधारभूत कानूनों का निर्माण करना है और कार्यपालिका उन कानूनों के पालन के लिए उत्तरदायी है। न्याय-पालिका कानूनों की व्याख्या करती हुई विभिन्न झगड़ों का निर्णय करती है। सरकारी शक्तियों का ऐसा तीन प्रकार का विभाजन अरस्तू के विचारों में भी मिल जाता है, अरस्तू ने सरकार के कार्यों को तीन प्रकार का माना है—

(१) विवेचनात्मक शक्तियाँ (Deliberative powers)।
(२) शासकीय शक्तियाँ (Magisterial powers)।
(३) न्याय शक्तियाँ (Judicial powers)।

इस प्रकार अरस्तू का यह शक्ति-विभाजन आज के वर्गीकरण से पर्याप्त मिलता-जुलता है। राज्य की विवेचनात्मक शक्ति का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत था, वह आज की विधानपालिका से अधिक शक्तिसम्पन्न होती थी। शेष दोनों भाग आज की कार्य-पालिका तथा विधानपालिका के समान ही थे। परन्तु अरस्तू द्वारा किया गया शक्तियों का ऐसा वर्गीकरण तत्कालीन सरकार के शक्ति-वितरण का ठीक-ठीक विवरण नहीं देता। यह वर्गीकरण तत्कालीन राजनीतिक जीवन के अनुरूप नहीं। ऐथन्स की विधानपालिका, जो कि राज्य के सभी नागरिकों को मिलाकर बनती थी, कानून बनाने के अतिरिक्त प्रशासकीय तथा न्यायिक शक्तियों का उपयोग भी करती थी। अतः यह विभेद केवल सैद्धान्तिक विभेद था। व्यावहारिक दृष्टि से प्राचीन यूनान में और उसके बाद भी इन तीन शक्तियों का प्रयोग एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाता

रहा। अरस्तू के अनन्तर रोमन विचारक पॉलबियस (Polybeus) तथा सिसरो (Cicero) दोनों ने रोमन गणतन्त्र के विषय में लिखते हुए इस सिद्धान्त का जिक्र किया है। उन्होंने शक्तियों के समान सन्तुलन (Balanced equilibrium of powers) को राज्य-शासन का एक आवश्यक गुण माना। उन्होंने रोमन गणतन्त्र की श्रेष्ठता का कारण 'विग्रह तथा सन्तुलन की व्यवस्था' (System of checks and balance) माना।

मध्ययुगीय यूरोप में शक्तियों के विभाजन के सिद्धान्त का कोई जिक्र नहीं मिलता। १५वीं सदी में केवल पदुआ के मार्सिगलियो (Marsiglio of Padua) ने अरस्तू के अनुकरण पर सरकार की विभिन्न शक्तियों के विभाजन का जिक्र किया है। परन्तु व्यावहारिक रूप में इन शक्तियों में विभाजक रेखा मौजूद नहीं थी। सर्वत्र राजा कार्यपालिका विधानपालिका तथा न्यायपालिका के कर्त्तव्यों को एक साथ ही निभाते थे।

सोलहवी सदी में सुप्रसिद्ध फ्रेंच विचारक बोदीन (Bodin) ने सर्वप्रथम शासकीय शक्ति के कार्यपालिका तथा न्यायपालिका विभाग के विभाजन के लिए जोर दिया। उसका विचार था कि कार्यपालिका तथा न्यायपालिका शक्तियाँ एक ही आदमी के हाथ में नहीं होनी चाहिएँ। फ्रांस का जिक्र करते हुए उसने कहा कि राजा को केवल कार्यपालिका शक्तियों का इस्तेमाल करना चाहिए और न्यायाधिकरण का कार्य स्वयं नहीं करना चाहिए बल्कि उसे अपनी यह शक्ति एक स्वतन्त्र न्यायालय को सौंप देनी चाहिए। इन दोनों के विभाजन के न होने से दया तथा न्याय का अनुचित मिश्रण हो जायगा। एक अत्याचारी शासक बहुत क्रूरतापूर्वक सजा दे सकता है।

इंग्लैण्ड में १७वीं सदी में जेम्स हरींग्टन (James Harrington) ने विधानपालिका का तथा कार्यपालिका के विभाजन को आवश्यक स्वीकार करते हुए 'निग्रह तथा सन्तुलन व्यवस्था' (System of checks and balance) को शासन की श्रेष्ठता के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना। संविदा सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक जॉन लॉक ने राज्य तथा सरकार में भेद स्वीकार करते हुए सरकार को विधानपालिका तथा संघात्मक (Federative) विभागो में बाँटा। उसने विधानपालिका को सर्वोच्च संस्था स्वीकार करते हुए उसके कार्यपालिका से पृथक् किये जाने के लिए कहा। उसका कथन था कि कानून बनाने वाले को ही कानून लागू करने का अधिकार दे देना अविवेकपूर्ण होगा। ऐसा करने से यह सम्भव है कि या तो वह अपने आप को उन कानूनों से स्वतन्त्र कर लेंगे या फिर वह ऐसे कानून बनायेंगे, जिससे उनके अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके।

११८. मॉण्टेस्क्यू शासन सम्बन्धी सिद्धान्त (Montesquieu's theory of seperation of powers)

परन्तु शक्तियों के विभाजन के सिद्धान्त को निश्चित तथा स्पष्ट रूप देने का श्रेय मॉण्टेस्क्यू को है। वस्तुतः इसे सिद्धान्त रूप में मॉंटेस्क्यू ने ही विकसित किया।

मॉंटेस्क्यू का जन्म फ्रांस में उस समय हुआ जब कि वहाँ अनुत्तरदायी शासन के विरुद्ध एक बुद्धिवादी आन्दोलन चल रहा था। मॉण्टेस्क्यू का समय चौदहवें लुई के निरंकुश तथा अत्याचारपूर्ण शासन का समय था। चौदहवें लुई ने अपने आपको राज्य के साथ एकीकरण किया हुआ था। उसने ही अभिमानपूर्वक कहा कि "मैं ही राज्य हूँ।" उसका प्रत्येक शब्द कानून था और वह स्वयं उसके पालन करवाने के लिए उत्तरदायी था। उसके ऐसे निरंकुश तथा अत्याचारपूर्ण शासन के अन्तर्गत फ्रांसीसी जनसमाज को स्वतन्त्रता तथा वैयक्तिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।

मॉण्टेस्क्यू वैयक्तिक स्वतन्त्रता को अत्यन्त मूल्यवान समझता था। इन्हीं दिनों उसने इंग्लैण्ड की यात्रा की और वहाँ उसने स्वाभाविक स्वतन्त्रता के वातावरण में साँस लिया। इंग्लैण्ड का साधारण नागरिक फ्रांस के साधारण नागरिक की अपेक्षा बहुत अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग करता था। उसने अपने देश की और इंग्लैण्ड की राजनीतिक तथा वैधानिक स्थितियों की तुलना की, इंग्लैण्ड के विधान को व्यवहारिकरूप में देखा और इस 'स्वतन्त्रता की भावना' के कारण की खोज की। उसने इन सब को देख कुछ विशेष परिणाम निकाले, इन्हे ही 'शक्ति विभाजन का सिद्धान्त' कहा जाता है। उसका विचार था कि अंग्रेज नागरिक की स्वतन्त्रता का कारण सरकार के कार्यपालिका, विधानपालिका तथा न्यायपालिका विभागों का पारस्परिक विभेद (Seperation) है। उसके अनुसार सम्राट् तथा उसका मन्त्रिमण्डल कार्यपालिका और पार्लियामेण्ट विधानपालिका का प्रतिनिधित्व करती है, न्यायपालिका इन दोनों के नियन्त्रण से स्वतन्त्र है। फ्रांस में ऐसा शक्ति-विभाजन नहीं था, इसी कारण वहाँ स्वतन्त्रता का अभाव था।

मॉण्टेस्क्यू ने अपनी पुस्तक 'दि स्पिरिट ऑफ लाज़' (The Spirit of Laws) में इस सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक विवेचन किया। उसने सरकार की कार्यशक्तियों को तीन भागों में बाँटा—

(१) कानून बनाना।
(२) शासन करना।
(३) न्याय की व्यवस्था करना।

प्रथम शक्ति द्वारा शासक स्थायी तथा अस्थायी कानून बनाता है और पुराने कानूनों को संशोधित करता है या खत्म करता है। दूसरी शक्ति द्वारा वह युद्ध-घोषणा करता है, शान्ति-सन्धि करता है, रक्षा सम्बन्धी कार्यों की व्यवस्था करता है, राजदूतों को भेजता है तथा उन्हें मान्यता प्रदान करता है। तीसरी शक्ति द्वारा वह अपराधियों को दण्ड देता है, विभिन्न व्यक्तियों में उत्पन्न होने वाले झगड़ों का निपटारा करता है।

मॉण्टेस्क्यू वैयक्तिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता था। उसका कथन था कि इन तीनों कार्यों के अलग-अलग व्यक्तियों या संस्थाओं द्वारा किये जाने पर ही स्वतन्त्रता की अच्छी तरह सुरक्षा हो सकती है। अगर तीनों शक्तियों को मिला दिया गया तो राजनीतिक स्वतन्त्रता खत्म हो जायगी। मॉण्टेस्क्यू का कथन है, **"जब विधानपालिका और कार्यपालिका की शक्तियाँ एक ही व्यक्ति-**

या व्यक्ति समुदाय में केन्द्रित हो जाती हैं, तो स्वतन्त्रता खत्म हो जाती है। ....यदि न्याय-पालन तथा विधान-निर्माण की शक्तियाँ एक में मिल जायें तो प्रजा का जीवन और उसकी स्वाधीनता निरंकुश शासन का शिकार होती है.....और यदि पालन तथा न्याय-पालन की शक्तियाँ एक ही में मिल जायँ तो न्यायाधीश अत्याचारी की तरह व्यवहार कर सकता है।"[1]

मॉण्टेस्क्यू निम्न बातों पर विशेष बल देता है—

(१) विधानपालिका तथा कार्यपालिका का विभाजन इसलिए आवश्यक है क्योंकि उनके एक ही आदमी के हाथ में आ जाने का परिणाम होगा कि मनमाने कानून बनाये जायँ और उनका मनमाना प्रयोग किया जाय।

(२) न्याय-पालन तथा विधानपालन का विभेद भी इसलिए आवश्यक है कि मनमाने कानून न बनाये जायँ और उनकी मनमानी व्याख्या न हो।

(३) न्याय-पालन तथा कार्य-पालन के संयोग से न्याय 'नाम' की व्यवस्था ही खत्म हो जायगी। क्योंकि तब न्यायाधीश कानून की मनमानी व्याख्या कर सख्त से सख्त सजा दे सकता है।

(४) अगर इन तीनों शक्तियों को एक ही व्यक्ति या संस्था में केन्द्रित कर दिया जाय तो न्याय स्वतन्त्रता तथा व्यवस्था सभी कुछ खत्म हो जायँगे और एक पूर्ण निरंकुश तथा अत्याचारी शासन स्थापित हो जायगा।

अतः शक्तियों का विभाजन अनिवार्य है। विधानपालिका अगर केवल कानून बनाती है और कार्यपालिका उन कानूनों के अनुसार शासन करती है तथा न्याय-पालिका कानून तोड़ने वालों को कानून की व्याख्या कर सजा देती है, तो सरकार का प्रत्येक भाग अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रता-पूर्वक कार्य करता है। वे एक दूसरे के कार्य में दखल नहीं देते। हरेक विभाग एक दूसरे पर नियन्त्रण करते हैं, और इस तरह शासन-व्यवस्था में सन्तुलन बना रहता है। शासनतन्त्र के प्रत्येक विभाग का कार्य-क्षेत्र स्पष्ट, निश्चित तथा स्वतन्त्र होना चाहिए। शासनतन्त्र का आधार विधान हो, निरंकुश शासक की इच्छा नहीं। राज्य में अत्याचार, पक्षपात तथा धाँधली तभी खत्म हो सकती है जब शासनतन्त्र की सुनिश्चित तथा संवैधानिक व्यवस्था हो और प्रत्येक विभाग अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हो।

११९. शक्ति-विभाजन सिद्धान्त के अन्य समर्थक

अंग्रेज विधानशास्त्री ब्लेकस्टोन (Blackstone) ने भी अंग्रेजी संविधान के आधार पर शक्ति विभाजन के सिद्धान्त का जोरदार समर्थन किया है। उसका

---

1. "When the legislative and executive powers are united in the same person or body, there can be no liberty..... If the power of judging were joined to the legislative power, the life and liberty of the subjects would be exposed to arbitrary control,..... if it were joined to the executive, the judge might behave as an oppressor."
—*Montesquieu.*

कथन है कि, "जब कभी कानून बनाने व उसे लागू करने का अधिकार एक ही व्यक्ति समुदाय में निहित होता है, उस समय जन-स्वातन्त्र्य समाप्त हो जाता है । शासक अत्याचारपूर्ण कानून बना सकता है और उन्हें अत्याचारपूर्ण ढंग से लागू कर सकता है । क्योंकि विधान-निर्माता के रूप में वह अपने न्यायाधीश के पद के लिए वे सभी अधिकार एकत्रित कर लेता है जिन्हें वह चाहता है·····अगर न्यायपालिका की शक्ति विधानपालिका के साथ संयुक्त कर दी जाय तो प्रजा का जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति इत्यादि निरंकुश न्यायाधीशों के हाथ में आ जाती है जो कि अपने फैसले अपने विचार के अनुसार करते हैं न कि उन आधारभूत कानूनों के अनुसार जिन्हें विधान-निर्माता तो छोड़ सकते हैं, परन्तु न्यायाधीश नहीं ।

"अगर न्याय-पालन को कार्यपालिका से मिला दिया जाय तो विधान-निर्माता की अपेक्षा वे अधिक शक्तिशाली हो जायेंगे ।"[1]

अमेरिका के सुप्रसिद्ध विधानशास्त्री मैडीसन (Madison) ने भी सरकारी शक्तियों के विभाजन को व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिए आवश्यक माना है । उसका कथन है कि, "विधान, शासन तथा न्याय—तीनों शक्तियों का एक ही स्थान पर एक ही केन्द्रीकरण का नाम ही अत्याचारपूर्ण शासन है । यह स्थान चाहे एक व्यक्ति हो, चाहे कुछ व्यक्ति हों और चाहे बहुत से और चाहे यह आनुवंशिक हो, स्वप्राप्त हो अथवा निर्वाचन द्वारा प्राप्त हो ।"[2]

१२०. शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का प्रभाव

मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रभाव बहुत विस्तृत रहा । शक्तियों के विभाजन का सिद्धान्त वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्र शासन-व्यवस्था का आधार-भूत सिद्धान्त समझा जाने लगा । फ्रांस की राज्य क्रान्ति के जनक विचारों में इस सिद्धान्त की गणना भी की जाती है। क्रान्तिकालीन फ्रांस के सभी संविधानों में

---

1. "Whenever the right of making and enforcing the law is vested in the same man or one and the same body of men, there can be no public liberty. The magistrate may enact tyrannical laws and execute them in a tyrannical manner since he is possessed, in his quality of despenser of justice, with all the power which he as legislator thinks proper to give himself.....Where it (the judicial power) joined with the legislature the life, liberty and property of the subjects would be in the hands of arbitrary judges whose decisions would be regulated only by their opinions, and not by any fundamental principles of law, which though legislators may depart from, yet judges are bound to observe. Were it joined with the executive this union might be an over-balance of the legislative."—*Blackstone.*

2. "The accumulation of all powers, legislative, executive, and judicial in the same hands, whether of one, a few, or many, and whether—hereditary, self appointed or elective, may justly be pronounced the very definition of tyranny."—*Madison.*

इस सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई और शासनतन्त्र का संगठन बहुत कुछ मॉण्टेस्क्यू के विचारों के आधार पर किया गया। सर्वत्र यह स्वीकार किया जाता रहा कि राजतन्त्र समाप्त होने पर राज्य-शक्ति के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता थी, परन्तु उसका कोई व्यावहारिक सिद्धान्त नहीं था। इस सिद्धान्त ने ही सर्वप्रथम इस समस्या का एक व्यावहारिक सुझाव दिया। धीरे-धीरे यह यकीन किया जाने लगा कि शासकीय शक्तियों का बँटवारा शासकीय कार्य क्षमता (Effectiveness) के लिए आवश्यक है। सन् १७८९ ई०में फ्रांस की संविधान सभा ने यह घोषणा की कि जिस देश में शक्ति-विभाजन की व्यवस्था नहीं, उस देश में संविधान नाम की कोई चीज नहीं है। वर्जीनिया की १७७६ की अधिकारों सम्बन्धी घोषणा मैसाच्यूसेट्स का सन् १७८० का संविधान, फ्रांसीसियों की मानव-अधिकारों सम्बन्धी सन् १७९९ की घोषणा इत्यादि में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया।

मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त का सर्वाधिक प्रभाव संयुक्त राज्य अमेरिका में पड़ा। स्वतन्त्रता-युद्ध के अनन्तर जब संविधान निर्माण का प्रश्न उठा तो उस समय लगभग सभी नेताओं ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। राज्य संविधानों के अतिरिक्त राष्ट्रीय संविधान में भी इस सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई। इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए ही अमेरिकन संविधान के जनक संसार में एक नयी प्रकार की शासन-व्यवस्था को जन्म दे सके। फलतः अमेरिकन संविधान में विधान-निर्माता, प्रशासकीय तथा न्याय सम्बन्धी शक्तियों की एक दूसरे से पृथक् तथा स्वतन्त्र व्यवस्था की गई। कार्यपालिका शक्ति का राष्ट्रपति के हाथों में केन्द्रीकरण किया गया है। राष्ट्रपति का चुनाव जनसामान्य द्वारा होता है, विधानपालिका द्वारा नहीं। वह स्वयं अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है जो उसे ही उत्तरदायी है। राष्ट्रपति तथा उसका मन्त्रिमण्डल न तो विधानपालिका के कार्य में भाग ही लेते हैं और न ही उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। विधानपालिका के दोनों सदन भी अपनी स्थिति में कार्यपालिका से स्वतन्त्र हैं, उनका एक निश्चित अवधि के लिए चुनाव होता है और इस अवधि में राष्ट्रपति उन्हें भंग नही कर सकता। न्यायपालिका के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति सीनेट की अनुमति से करता है। परन्तु संविधान न्यायपालिका की स्वतन्त्रता समुचित व्यवस्था करता है।

फ्रांस के प्रशासकीय कानून (Administrative law) **तथा प्रशासकीय न्यायालय** (Administrative court) **की व्यवस्था का आधार भी शक्ति-विभाजन का सिद्धांत ही माना जाता है।**

मूल्यांकन (Evaluation)

लार्ड ऐक्टन का कथन है कि **शक्ति दूषित करती है और अबाध शक्ति अबाध रूप से दोषजनक होती है।**"[1] इसी कारण कहा जाता है कि **"शक्ति का दुरुपयोग**

1. "Power corrupts, and absolute power corrupts absolutely." —*Lord Acton.*

न हो इसके लिए, यह स्वाभाविक रूप से भी आवश्यक है कि शक्ति का निग्रह करें।"[1] शक्तियों के विभाजन तथा उनके सन्तुलन की व्यवस्था शक्ति-निग्रह में परम सहायक होती है। प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के बचाव तथा निरंकुश शासन-तन्त्र की प्रवृत्तियों की रोक-थाम के लिए कोई ऐसी **निग्रह-सन्तुलन** (Checks and balance) की व्यवस्था सर्वथा अवाँछनीय नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त का महत्त्व इस बात में है कि यह न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पर विशेष बल देता है। न्याय-पालिका की स्वतन्त्रता ही पक्षपातहीन न्याय-व्यवस्था का आधार है। दूसरे ऐसी व्यवस्था कार्य-क्षमता तथा शासन-व्यवस्था में सुचारुता की भी जनक हो सकती है। प्रत्येक विभाग अपने कर्तव्य-पालन के लिए उत्तरदायी होता है और वह किसी अन्य के क्षेत्र में दखल नहीं देता। श्रम-विभाजन प्रगतिशीलता का चिन्ह है, वह शासनतन्त्र की सुचारुता को भी बढ़ाता है।

परन्तु शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है और विशेष रूप से उस रूप में जिस में कि इसकी व्याख्या की जाती है। सरकार के तीनों भागों का एक दूसरे से पूर्ण विभाजन न तो सम्भव है, न व्यावहारिक और न ही वाँछनीय।

(१) शासनतन्त्र का सगठन शारीरिक संगठन की भाँति है, उसका प्रत्येक भाग, शरीर के अंगों की तरह अन्योन्याश्रित है। अगर उसके प्रत्येक विभाग को एक दूसरे से सर्वथा अलग कर दिया जाये तो सरकार का चलना ही असम्भव हो जायगा। वह शासन के विभिन्न विभागों में संघर्ष तथा गत्यवरोध पैदा कर देगा। जब शासन के कार्यों को तीन भागों में बाँटा जाता है तो उसका अर्थ यह कभी नहीं कि वे तीनों विभाग एक दूसरे से सर्वथा पृथक हैं। ये बँटवारा तो केवल प्रशासकीय कार्य के सुभीते के लिए ही है, नहीं तो प्रशासकीय कर्तव्य तो एक दूसरे से बहुत मिले-जुले हैं। प्रशास-कीय शक्ति का प्रत्येक विभाग कुछ-न-कुछ ऐसे कार्य करता है जो कि इसके अपने नहीं बल्कि दूसरे विभाग से सम्बन्धित हैं। उदाहरणार्थ विधानपालिका का मुख्य कार्य यद्यपि कानून-निर्माण है तथापि वह कानून-निर्माण के अतिरिक्त न्यायपालन तथा कार्य-पालन सम्बन्धी शक्तियों का भी प्रयोग करती रहती है। विधानपालिका कानून बनाती ही है साथ ही साँसद शासन के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल पर भी नियन्त्रण करती है। अमेरिका में वह राष्ट्रपति पर मुकदमा चलाकर उसे हटा सकती है, और साथ ही विदेश-नीति, सन्धियों तथा राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियों के लिए अपनी स्वीकृति तथा अनुमति देती है।

इसी प्रकार कार्यपालिका संकटकालीन स्थिति में अध्यादेश (Ordinance) जारी करती है, विधानपालिका को भंग करती है, चुनाव की व्यवस्था करती है। कार्य-पालिका न्यायपालिका के कर्तव्यों का भी पालन करती है। प्रत्येक राज्य में कार्य-पालिका ही न्यायाधीशों की नियुक्ति करती है और दया तथा क्षमा के अधिकार का

1. "If the power is not to be abused, than it is necessary in the nature of things that power be made a check to power."

प्रयोग करती है। इस प्रकार यद्यपि कार्यपालिका का कार्य कानून लागू करना है तथापि वह न्यायपालिका तथा विधानपालिका के कर्तव्यों के पालन में भी हिस्सा बँटाती है।

न्यायाधीश केवल न्यायापालन ही नहीं करते कानून भी बनाते हैं। कानून की संवैधानिकता की परीक्षा करते हैं और कार्यपालिका के कर्त्तव्यों की जाँच करते है।

इस प्रकार सरकार के सभी विभाग अपने-अपने क्षेत्र में रहते हुए भी दूसरे विभाग के कर्तव्यों को पूर्ण करने में स्वाभाविक रूप से ही भाग लेते हैं।

(२) शक्तियों का पूर्ण विभाजन असम्भव है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधानशास्त्रियों ने भी इस बात को स्वीकार किया, वे सरकार के विभिन्न हिस्सों को एक दूसरे से अलग रखते हुए भी उन्हें एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र न कर सके। राष्ट्रपति प्रशासकीय शक्ति का केन्द्र है, परन्तु वह वैधानिक शक्ति में हिस्सेदार न हो यह नहीं कहा जा सकता। उसे विधानपालिका को संदेश भेजने का अधिकार है और विधानपालिका द्वारा पास किये गये कानूनों पर सीमित निषेधाधिकार (Veto) प्रयोग करने का भी अधिकार है। सीनेट राष्ट्रपति की प्रशासकीय शक्तियों में हिस्सा बँटाती है। सुप्रीम कोर्ट अनेक महत्त्वपूर्ण वैधानिक तथा प्रशासकीय शक्तियों का उपभोग करता है। सुप्रीम कोर्ट संविधान की व्याख्या करता है और विधानपालिका तथा कार्यपालिका की शक्तियों की संवैधानिकता की परीक्षा कर उसे गैरकानूनी करार भी दे सकता है। सुप्रीम कोर्ट के संगठन, क्षेत्र तथा व्यय का नियन्त्रण विधानपालिका तथा कार्यपालिका दोनों ही मिलकर करती है।

वस्तुतः संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए यह कहना सर्वथा उपयुक्त होगा कि वहाँ **निग्रह और सन्तुलन व्यवस्था** (System of checks and balance) को अपनाया गया है। सरकार के विभिन्न विभाग एक-दूसरे का नियन्त्रण करते है। राष्ट्रपति प्रशासकीय मामलों में पूर्ण स्वतन्त्र नही, न ही न्यायपालिका तथा विधानपालिका ही अपने मामलों में स्वतन्त्र हैं।

इस प्रकार की व्यवस्था ने संयुक्त राज्य अमेरिका में अनेक दोषपूर्ण तथा अवैधानिक संस्थाओं तथा रीति-रिवाजों को जन्म दिया है। सरकार के विभिन्न विभागों की स्वतन्त्रता शासनतन्त्र की सुचारुता के लिए अत्यन्त खतरनाक साबित हुई है। शासनतन्त्र के विभिन्न अंगों में स्वाभाविक सम्बन्धों की अनुपस्थिति में अनेक दोष उत्पन्न हो गये हैं। सरकार का प्रशासकीय विभाग आवश्यक कानून-निर्माण के लिए विधान-सभा पर आश्रित होता है। इस स्वाभाविक सम्बन्ध के अभाव में कानून-निर्माण तथा कानून पालन में अव्यवस्था हो सकती है। राज्य धन को खर्च तो राष्ट्रपति करता है परन्तु उस खर्च के लिए व्यवस्था विधानपालिका करती है। दोनों में मतभेद होने पर राज्य-व्यवस्था में गड़बड़ पैदा हो सकती है। इन कमियों को पूर्ण करने के लिए ही पार्टी-व्यवस्था का जन्म हुआ, जिसने संयुक्त राज्य के राजनीतिक जीवन को और भी अधिक भ्रष्ट तथा दूषित बना दिया।

(३) मॉण्टेस्क्यू तथा उसके सिद्धान्त के समर्थक सरकार के सभी विभागों

को बराबर मानकर चलते हैं। उनके मतानुसार सभी विभागों का दर्जा बराबर का है। परन्तु यह सर्वथा गलत है। कानून की व्यवस्था पहले की जाती है फिर उनको लागू किया जाता है और तभी उसकी व्याख्या सम्भव है। विधानपालिका सामाजिक व्यवस्था के आधारभूत नियमों को निर्धारित करती है, यह नियम निर्धारण राज्य की (या जन-सामान्य की) इच्छा के अनुसार किया जाता है, और तब कार्यपालिका उसका पालन करवाती है। अतः राज्य की इच्छा को अभिव्यक्त करने वाले सरकारी विभाग का अन्य विभागों से अधिक महत्त्व है। विधानपालिका कर भी लगाती है और राजस्व (Revenue) भी एकत्रित करती है। कार्यपालिका तो इन आदेशों का पालन मात्र करवाती है। न्यायपालिका भी कार्यपालिका के काम की देख-रेख करती है। इस प्रकार विधानपालिका सरकार के अन्य दोनों विभागों से श्रेष्ठ तथा उच्च है। प्रो० लास्की का कथन है कि **"विधानपालिकाएँ अपने कर्तव्य का तब तक पूरा-पूरा पालन नहीं कर सकती जब तक कि प्रथम तो उन्हें कानून के पालन करवाने में दखल देने का अधिकार न हो और दूसरा आवश्यकता पड़ने पर कानून द्वारा न्यायाधीशों के ऐसे निर्णयों का खण्डन कर सकें जो कि अपने परिणाम में अत्यन्त असन्तोषजनक साबित हो रहे हैं।"**[1]

(४) इस सिद्धान्त के व्यावहारिक प्रयोग का अर्थ सरकार के विभिन्न विभागों का पूर्ण विभाजन होगा। विधानपालिका तथा कार्यपालिका के पारस्परिक सम्बन्धों की अनुपस्थिति में अच्छे कानूनों का निर्माण और सुचारु आर्थिक प्रबन्धों की अवस्थिति मुश्किल हो जाती है। प्रशासकीय मामलों में कमजोरी उत्पन्न हो जाती है और विदेशी नीतियों का परिपालन ठीक-ठीक नहीं कर पाता। अमेरिका में अनेक बार कार्यपालिका तथा विधानपालिका में गत्यवरोध उत्पन्न होते रहते हैं। राष्ट्रपति विल्सन द्वारा की गई वर्साई की शान्ति सन्धि को सीनेट ने ही अस्वीकार किया था। इसी प्रकार प्रेज़ीडेण्ट रूज़वेल्ट तथा ट्रूमैन द्वारा पेश किये गये अनेक कल्याणकारी कानूनों को भी कांग्रेस ने रद्द कर दिया है।

कार्यपालिका तथा विधानपालिका में इस स्थिति में पारस्परिक विद्वेष, ईर्ष्या तथा विरोध उत्पन्न हो जाता।

(५) मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त का आधार बृटिश संविधान है। उसी के कार्य को देख मॉण्टेस्क्यू ने यह सिद्ध किया कि प्रजातन्त्र तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता की उपस्थिति शक्ति-विभाजन से ही सम्भव है। परन्तु आज यह स्वीकार किया जाता है कि बृटिश शासन-व्यवस्था की मॉण्टेस्क्यू तथा ब्लेकस्टोन द्वारा की गई एतद्विषयक सम्पूर्ण व्याख्याएँ अयथार्थ हैं। इंग्लैण्ड के संविधान में शक्तियों का विभाजन नहीं

---

1. "Legislatures could not fulfil their task unless they were able both to interfere in the execution of law, and also, on occassion, to overrule statuate, the decisions of the judges the results of which are widely felt to be unsatisfactory."—*Laski.*

अपितु केन्द्रीकरण है [1]। बृटिश पार्लियामैण्ट्री व्यवस्था का आधार विधानपालिका तथा कार्यपालिका के घनिष्ट सम्बन्ध हैं। हम पीछे देख आये हैं कि बृटिश शासन व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यपालिका अपने सम्पूर्ण प्रशासकीय कृत्यों के लिए विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी है। मॉण्टेस्क्यू ने कार्यपालिका तथा विधानपालिका के जिस विभेद को देखा था वह वास्तविक नहीं अपितु अवास्तविक था। बृटिश मन्त्रिमण्डल ही सम्पूर्ण प्रशासकीय शक्तियों का वास्तविक स्रोत है और वह विधानपालिका की देख-रेख तथा नियन्त्रण में कार्य करता है। इस प्रकार शासन के इन दोनों विभागों में बराबर सम्बन्ध रहते हैं।

इसी प्रकार हाऊस आफ लार्ड्स (House of Lords) विधानपालिका का दूसरा सदन है और इस दृष्टि से उसे केवल वैधानिक कर्त्तव्य ही पूर्ण करने चाहिए थे। परन्तु हाऊस आफ लार्ड्स बृटिश न्याय-व्यवस्था का सर्वोच्च संगठन है। लार्ड चांसलर के पद में वैधानिक प्रशासकीय तथा न्यायपालिका सम्बन्धी सभी शक्तियों का समन्वय मिल जाता है। लार्ड चांसलर बृटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य तो है ही वह हाऊस आफ कार्ड्स के रूप में विधानपालिका का भी सदस्य है और इंग्लैण्ड के सर्वोच्च न्यायालय का भी अधिकारी है। इस प्रकार इंग्लैण्ड का सम्पूर्ण संविधान तथा उसकी सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त का न केवल व्यावहारिक ही अपितु ऐतिहासिक खण्डन भी है।

आज जहाँ कहीं पार्लियामेण्ट्री शासन-व्यवस्था मौजूद है वहीं सरकारी शक्तियों के विभाजन के सिद्धान्तों का खण्डन मिल जाता है। हम पीछे देख चुके हैं कि आजकल साँसद शासन-व्यवस्था ही अधिक सर्वप्रिय है।

(६) मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त का आधार और प्रेरणा स्रोत वैयक्तिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा था परन्तु केवल औपचारिक शक्ति-विभाजन के द्वारा ही स्वतन्त्रता की सुरक्षा की कल्पना न केवल अव्यावहारिक ही है अपितु मिथ्या भी है। व्यावहारिक रूप से यदि हम देखें तो यह स्पष्ट है कि ग्रेट बृटेन तथा फ्रांस इत्यादि साँसद-प्रणाली द्वारा शासित देशों में शक्तियों के विभाजन का अभाव है, वहाँ शक्तियों का केन्द्रीकरण है परन्तु फिर भी वहाँ नागरिक किसी प्रकार भी अमेरिकन नागरिकों की अपेक्षा कम स्वातन्त्र्य का उपभोग नही करते। बल्कि कुछ एक विषयों में तो इन दोनों देशों के नागरिक अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं। अमेरिका में आज विचार-स्वातन्त्र्य की उतनी व्यवस्था नहीं जितनी कि इंग्लैण्ड और फ्रांस में हैं। नागरिकों की स्वतन्त्रता की सुरक्षा का यह तो एक औपचारिक साधन मात्र है। प्रो० गेटल का कथन है कि **"ऐसा मान लेने से कि स्वतन्त्रता को स्थापित करने के लिए विस्तृत शक्ति-विभाजन आवश्यक है और हर एक विभाग**

---

१. रैमजेम्योर (Ramsay Muir) का कथन है कि "अगर शक्तियों का विभाजन अमेरिकन संविधान का आधार भूत सिद्धान्त है तो उत्तरदायित्व का केन्द्रीकरण अंग्रेजी संविधान की प्रमुख विशेषता है।"

अपने को अपने ही कार्यों तक सीमित रख दूसरे अंगों से स्वतन्त्र रहे, यह बिल्कुल निकम्मा साबित होता है। जनतन्त्रात्मक राज्यों में, स्वतन्त्र तथा गैरजिम्मेवार अंगों के खण्डित अधिकारों की अपेक्षा जनता के प्रत्यक्ष रूप से प्रतिनिधित्व करने वाले विभागों में अधिकारों को केन्द्रित रखकर अधिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति हो सकती है।"

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य जनता की राजनीतिक चेतना पर अवलिम्बत है। अगर जन-सामान्य अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों से परिचित है, उनकी रक्षा के लिए हर समय प्रयत्नशील है तभी उसके अधिकार सुरक्षित रह सकते हैं, अन्यथा नहीं। शक्ति-विभाजन तो केवल एक बाह्य उपचार मात्र है।

आज शासन-शक्ति के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है, विभाजन की नहीं एक ही केन्द्र या स्थान में राज्य-शक्ति के केन्द्रित हो जाने के फलस्वरूप शासन में अधिनायकतन्त्र के विकसित होने का भय रहता है। इस केन्द्रीकरण का अर्थ है राज्य की आर्थिक तथा शासकीय शक्तियों का विकेन्द्रीकरण और उसका संघ व्यवस्था (Federal system) **पर संगठन**। इस प्रकार की व्यवस्था तीनों विभागों के संयुक्त या पृथक् पृथक् अधिनायकतन्त्र के विकास का भी अवसर नहीं देती और साथ ही वह जनसामान्य की शासकीय शक्ति के संचालन में अधिक से अधिक हिस्सा देती है। **दूसरा राजनीतिक स्वातन्त्र्य का वास्तविक महत्त्व आर्थिक स्वातन्त्र्य की उपस्थिति में ही है।** मॉण्टेस्क्यू पुराने राजतन्त्र के विरुद्ध जन-साधारण के राजनीतिक अधिकारों को मान्यता दिलाने का प्रयत्न कर रहा था। उसका यह प्रयत्न अवश्य ही प्रशंसनीय था। परन्तु उसका सिद्धान्त पूर्ण रूप से व्यावहारिक नहीं और वह आज के राज्य की व्यवस्था के लिए उपयुक्त नहीं। **राज्य के कर्तव्यों की अभि-वृद्धि के फलस्वरूप भी कार्यपालिका तथा विधानपालिका में पारस्परिक सहयोग तथा घनिष्टता की परम आवश्यकता है।** इस सहयोग के अभाव में संघर्ष तथा गत्यवरोध उत्पन्न होगा। **गेटल** ने ठीक कहा है **"अधिक उग्र रूप में शक्ति-विभाजन एवं निग्रह-सन्तुलन का मत दोनों ही खतरनाक हैं। उग्र शक्ति विभाजन से राज्य की कानूनी रूप से प्रगट इच्छा के पालन के लिए आवश्यक एकता एवं सहयोग की कमी हो जाती है। अपने उग्र रूप में निग्रह तथा सन्तुलन की व्यवस्था के फलस्वरूप गत्यवरोध तथा संघर्ष पैदा हो जाता है, जो एक कार्य क्षमता योग्य शासन के लिए हानिकारक है।"**

जैसा कि हम पीछे ही कह आए हैं न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए उसका विधानपालिका तथा कार्यपालिका नियन्त्रण से मुक्त होना लाजमी है। परन्तु इसके साथ ही कार्यपालिका के अधिनायकतन्त्र को रोकने के लिए उसका विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी होना भी आवश्यक है।

Important Questions

Reference

1. Examine critically the theory of separations of powers. (*Pb.* 1956)

2. What are 'checks and balancer' ? Are they the same things as the 'Separation of Powers' ? (*Pb.* 1954) Arts. 118 to 121

3. Discuss the theory of the separation of powers with special reference to its practical application. (*Pb.* 1951, 1950)	Arts. 118 to 121
4. State Montesquieu's theory of 'Separation of Powers' How far has this theory been adopted in practice by the modern states of the world. (*Pb.* 1949)	Arts. 118 tc 121
5. Examine the Doctrine of Separation of Powers with illustrations from the constitution of France and Great Britain (*Pb.* 1948)	Arts. 118 to 121

अध्याय १७

विधानपालिका का संगठन तथा कर्त्तव्य

(Organisation and Functions of Legislature)

१२२. सरकार के विभिन्न अंग

पिछले अध्याय में हमने देखा है कि अरस्तू के समय से ही सरकार के कर्त्तव्य को तीन विभागों में बाँटा गया है। इन तीनों कर्त्तव्यों के आधार पर सरकार के तीन विभाग हैं—(१) विधानपालिका (Legislature), (२) कार्यपालिका (Executive), तथा (३) न्यायपालिका (Judiciary)। कुछ फ्रेंच विचारकों ने सरकार के त्रिसत्तात्मक विभाजन का विरोध किया है। उन्होंने सरकार के दो भाग माने हैं (१) विधानपालिका तथा (२) कार्यपालिका। न्यायपालिका की वे कार्यपालिका का ही भाग मानते हैं। कार्यपालिका के वह तीन भाग करते हैं—

(१) सरकार का वह विभाग जो शासन-नीति को निर्धारित करता है जिसे मन्त्रिपरिषद् या मन्त्रिमण्डल कहते हैं।

(२) दूसरा जिसे प्रशासकीय विभाग कहा जा सकता है और जिसका कार्य शासन-नीति को लागू करना है। यह विभाग स्थायी सरकारी कर्मचारियों से मिलकर बनता है।

(३) न्यायपालिका कार्यपालिका का वह विभाग है जिसका कार्य कानून की व्याख्या करना है और उन्हें राज्य के विभिन्न नागरिकों के पारस्परिक झगड़ों को निपटाने के लिए इस्तेमाल करना है।

कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के एकीकरण का मुख्य कारण यह है कि प्रायः कानून सम्बन्धी निर्णयों को लागू करने के लिए कार्यपालिका की शक्ति का ही प्रयोग किया जाता है। न्यायाधीश कानून की व्याख्या करता है और किसी भी मसले पर अपना फैसला देता है, परन्तु उस फैसले को लागू कार्यपालिका ही करती है। फ्रेंच विचारकों के उपर्युक्त तर्क को आज अनेक कारणों से स्वीकार नहीं किया जाता। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक न्यायसम्बन्धी निर्णय कार्यपालिका द्वारा ही लागू किया जाता है। न्यायपालिका अनेक ऐसे फैसले करती है जिनका सम्बन्ध प्रशासकीय शक्ति से नहीं होता। न्यायिक सत्ता का प्रयोग अनेक मामलों में कानून के अमल से कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

आज लोकसत्तात्मक युग में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता के लिए उनकी कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्ति आवश्यक समझी गई है।

सरकारी कर्त्तव्यों के वर्गीकरण के अन्य अनेक प्रकार हैं, जिनका यहाँ विस्तार-भय से हम ज़िक्र नहीं कर सकते। इन सभी योजनाओं के बावजूद भी हमें

यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अधिकांश विद्वान सरकारी सत्ता के उपर्युक्त किये गये तीन वर्गों के विभाजन को ही स्वीकार करते हैं।

हम पीछे देख चुके हैं कि विधानपालिका का कर्त्तव्य कानून बनाना है, कार्यपालिका का उन्हें लागू करना और न्यायपालिका का उनके अनुसार नागरिकों के झगड़ों को निपटाना है।

१२३. विधानपालिका का महत्त्व

इन तीनों विभागों में विधानपालिका का सर्वोच्च स्थान है। वह कार्यपालिका तथा न्यायपालिका से न केवल पहले ही आती है बल्कि उनसे ऊँची भी है। विधानपालिका राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति का स्रोत है। वह उन आधारभूत नियमों को निर्धारित करती है जिसके अनुसार शासन-मशीनरी चलती है, जिनके आधार पर ही कार्यपालिका तथा न्यायपालिका अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं। बिना इन आधारभूत नियमों के न तो कार्यपालिका ही कार्य कर सकती है और न न्यायपालिका न्याय ही। ये दोनों विभाग तो कानून का प्रयोग करते हैं। अगर कानून ही नहीं होगा तो प्रयोग किसका किया जयेगा ?

कानून समाज के नैतिक मूल्यों के अनुसार होते हैं। वे वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के विकास के आधार होते हैं। आज के युग में विधानपालिका केवल कानून निर्माण का ही कार्य नही करती, राजकीय-शक्ति के नियंत्रण के वह अन्य भी अनेक कार्य करती है। प्रायः सभी देशों में विधानपालिका की शक्तियों का सीमा क्षेत्र केवल-मात्र कानून निर्माण ही नहीं, वह सरकार के अन्य क्षेत्रों पर भी नियंत्रण करती है। वह राजस्व का नियंत्रण करती है, राजकीय कामों के लिए होने वाले खर्चों के लिए अनुदान (Supply) की व्यवस्था करती है और नये करों (Taxes) को लगाती है। जहाँ शासन-व्यवस्था एकात्मक (Unitary) होती है, विधानपालिका स्थायी तौर पर अपनी शक्ति का सीमित विकेन्द्रीकरण करती है और अन्य अनेक ऐजेन्सियों की रचना करती है जो केन्द्रीय सरकार के शासन कार्य के चलाने में सहायता करते हैं। सांसद-शासनप्रणाली के अन्तर्गत मंत्रिमण्डल विधानपालिका द्वारा नियंत्रित किया जाता है। भारत में मन्त्रिमण्डल को नियंत्रित करने के अतिरिक्त विधानपालिका राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के चुनाव में भी भाग लेती है। अमेरिका में विधानपालिका राष्ट्रपति की अनेक प्रशासकीय शक्तियों में हिस्सा बँटाती है।

संविधान के संशोधन में साधारण विधानपालिकाओं का विशेष हाथ होता है। इंग्लैण्ड में तो विधानपालिका सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न है और संवैधानिक कानून में सभी प्रकार के परिवर्तन कर सकती है।

१२४. विधान-सभाओं की उत्पत्ति तथा विकास

कानून-निर्माण आज के राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य है, परन्तु प्राचीन युग में राज्य को कानून की **सन्तान के रूप** मे स्वीकार किया जाता था। जेंक्स (Jenks) ने कहा है कि पुराने समय में कानून बनाए नहीं खोजे जाते थे इन कानूनों का आधार

पुराने रस्मो-रिवाज तथा जन-विश्वास होते थे या उनका आधार धर्म तथा ईश्वरादेश माने जाते थे।

धीरे-धीरे कानून-निर्माण का कार्य एक विशेष ज्ञान बन गया। अनेक बार उनकी व्यवस्था धर्मगुरुओं, पण्डितों तथा धर्मशास्त्रियों या विधानशास्त्रियों ने की, परन्तु अन्ततः सभा तथा समिति इत्यादि प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं का विकास हुआ। प्राचीन भारत में जनसमितियों तथा सभाओं की उपस्थिति का जिक्र मिलता है। इन सभाओं का कार्य कानून निर्माण न हो राजा को सलाह-मशवरा देना और राजकाज में उसकी सहायता करना था। हमारे यहाँ कानून का आधार धर्म और पुराने रस्मो-रिवाज थे।

वर्तमान काल की प्रतिनिधि सत्तात्मक विधानपालिकाओं का प्रारम्भ जर्मनी में प्राचीन ट्यूटनों की जनसभाओं में मिलता है। इनमें जन (Tribe) के नेताओं को स्थान दिया जाता था। इंग्लैण्ड में इन प्रतिनिधि सत्ताक विधानसभाओं को विकास का उपयुक्त अवसर प्राप्त हुआ। प्रारम्भ में जिस राज्य महा परिषद (Great-council) की अवस्थिति इंग्लैण्ड में मिल जाती है वह निश्चय ही आज के अर्थ में प्रतितिधि-सत्तात्मक नहीं थी। परन्तु धीरे-धीरे उसकी स्थिति बदली। सरदार, पादरी, जिलासामन्त इत्यादि के अतिरिक्त कुछ अन्य स्वार्थों के प्रतिनिधियों को विधानपालिका में स्थान दिया जाने लगा। (House of Lords) हाउस ऑफ लार्डस तथा हाऊस ऑफ कामन्स (House of Commons) के रूप में विभाजित होने पर ब्रिटिश पार्लियामेण्ट शासकीय मामलों में अधिक दिलचस्पी लेने लगी। पहले-पहल तो पार्लियामेण्ट सम्राट की नीतियों के पालन के लिए आवश्यक खर्च मुहैया करने के लिए ही बुलाई जाती थी। संसद् की सदस्यता गौरव का विषय न हो एक अनावश्यक तथा बोझिल उत्तरदायित्व समझा जाता था। लोग उससे बचने का प्रयत्न करते थे। परन्तु धीरे-धीरे पार्लियामेण्ट खर्च के लिए अनुदान देने से पूर्व अपनी माँग पेश कर उन्हें मनवाने लगी। इस प्रकार पार्लियामेण्ट की वैधानिक शक्तियों का विकास हुआ।

आज तो ब्रिटिश पार्लियामेण्ट को विश्व में पाई जाने वाली सभी संसदों का जनक कहा जाता है। इंग्लैण्ड के अनन्तर फ्रांस, स्विट्ज़रलैण्ड, इटली, जर्मनी तथा स्पेन इत्यादि देशों में प्रतिनिधि संस्थाओं का विकास हुआ। प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्ध के अनन्तर प्रतिनिधि व्यवस्था का प्रचलन लगभग पूर्व तथा पश्चिम के सभी प्रगतिशील राज्यों में हो गया।

१२५. विधानपालिका का कार्य-क्षेत्र

विधानपालिका का कार्य-क्षेत्र बहुत कुछ शासन-पद्धति के स्वरूप पर आश्रित है, यही कारण है कि इसके कार्य सर्वत्र एक से नहीं। जहाँ अबाध तथा असीम शक्तिसम्पन्न राजतन्त्र हो वहाँ विधानपालिका एक सलाहकार समिति से अधिक कुछ नहीं होती, आज अफगानिस्तान में विधानपालिका की यही स्थिति है। ज़ार के शासन के दौरान

में वहाँ की विधानपालिका (ड्यूमा) मामूली कार्यों पर भी अपना स्वतन्त्र निश्चय नहीं कर सकती थी और उसे सदा ज़ार की आज्ञाओं का ही अनुसरण करना पड़ता। १९४७ से पूर्व भारत को केन्द्रीय विधानपालिका सलाहकार समिति से अधिक शक्ति सम्पन्न नहीं थी। रूस में कम्यूनिस्ट पार्टी का अधिनायकतन्त्र है, वहाँ भी विधानपालिका पार्टी नेताओं के हाथ में ही खेलती है और संविधान द्वारा दी गई अपनी किसी भी शक्ति का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं कर सकती।

प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत विधानपालिका सर्वोच्च संस्था समझी जाती है। परन्तु प्रजातन्त्र के अन्तर्गत भी राष्ट्रपतितन्त्र (Presidential Government) तथा सांसद शासन-व्यवस्था में विधानपालिका की स्थिति में अन्तर हो जाता है। राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत राष्ट्रपति का विधानपालिका से कोई सम्बन्ध नहीं होता और वह विधान-निर्माण में भाग नहीं ले सकता। विधानपालिका को उसे किसी भी प्रकार से नियंत्रित नहीं कर सकती। इसके विपरीत सांसद शासन-प्रणाली के अन्तर्गत विधानपालिका मन्त्रिमण्डल का नियन्त्रण करती है एक प्रकार से वह स्वयं ही कार्यपालिका के भाग्य की निर्णायिका होती है। फिर भी आज विधान-पालिका जिन कार्यों को सम्पन्न करती है, वे प्रजातन्त्रात्मक शासन में लगभग समान ही होते हैं। उन्हें हम इस प्रकार रख सकते हैं:—

(१) **कानून-निर्माण**—विधानपालिका का आधारभूत कर्त्तव्य है। राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति का एक मात्र स्रोत विधानपालिका है, जो कानून बना कर इस इच्छा को स्वरूप प्रदान करती है। प्रजातन्त्रात्मक शासन के अन्तर्गत विधानपालिकाएँ जन-सामान्य द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों से मिलकर बनती हैं। ऐसी अवस्था में विधानपालिकाओं द्वारा ही जन-सामान्य की इच्छाओं की अभिव्यक्ति हो सकती है।

सामान्य जीवन के प्रगतिशील होने के कारण तथा समाज के नैतिक मूल्यों के अस्थिर होने के कारण अनेक पुराने कानून अनावश्यक बन जाते हैं। ऐसी अवस्था में उनका संशोधन आवश्यक हो जाता है। विधानपालिका ही पुराने कानूनों का परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप संशोधन करती है और आवश्यकता पड़ने पर पुराने कानून रद्द कर नये कानून बना सकती है।

भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा स्विट्ज़रलैण्ड इत्यादि राज्यों में विधान-पालिकाएँ, संवैधानिक संशोधन के लिए प्रारम्भिक कार्यवाही कर सकती है। इंग्लैण्ड में तो पार्लियामेण्ट ही सर्वशक्तिसम्पन्न है और वही सब प्रकार के कानूनों का स्रोत है।

पार्लियामेण्ट्री शासन तथा राष्ट्रपतितन्त्र दोनों में विधानपालिका तथा कार्य-पालिका का कानून-निर्माण में विभिन्न योग होता है। पार्लियामेण्ट्री शासन के अन्तर्गत विधानपालिका का कानून-निर्माण के विषय में मन्त्रिमण्डल के नेतृत्व का अनुसरण करना पड़ता है और सभी महत्त्वपूर्ण बिल मन्त्रिमण्डल द्वारा ही पेश किये जाते हैं। राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत विधानपालिका अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होती है। राष्ट्रपति केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही कानून-निर्माण की प्रक्रिया को ही प्रभावित कर सकता है।

कानून-निर्माण की प्रक्रिया के भी दो भाग हैं—(क) विशुद्ध कानून-निर्माण

(Purely Legislative) तथा (ख) विवेचनात्मक (Deliberative)। प्रथम के अन्तर्गत तो कानून-निर्माण का व्यवहारिक ढँग आ जाता है। कानून-निर्माण की विवेचनात्मक प्रक्रिया प्रथम प्रक्रिया से अधिक महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। प्रथम के अन्तर्गत तो कानून का मसौदा तैयार किया जाता है, जब कि दूसरे के अन्तर्गत उस मसौदे की पूर्ण विवेचना की जाती है। विधानपालिका के सदस्य सामूहिक रूप से भी उस पर विचार-विनिमय करते हैं और सिलेक्ट कमेटी में कुछ चुने हुए विशेष सदस्य भी इस पर विचार विनिमय कर विधानपालिका को अपनी रिपोर्ट पेश करते हैं। विधानपालिका में तीन बार एक बिल पर विचार किया जाता है और तब उसे पास कर कानून बनाया जाता है। विवेचनात्मक प्रक्रिया सर्वत्र एक जैसी नहीं होती, परन्तु सभी जगह विधानपालिका के सदस्यों को कानून के पूर्ण विवेचन का अवसर दिया जाता है।

(२) **शासन का नियन्त्रण**—विधानमण्डल केवल कानून-निर्माण ही करता हो और अन्य कार्यों में भाग न लेता हो, ऐसी बात नहीं। परन्तु अन्य मामलों में उसका नियन्त्रण अप्रत्यक्ष है प्रत्यक्ष नहीं।

पार्लियामेण्ट्री शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल का जीवन संसद् के विश्वास पर आश्रित होता है। मन्त्रिमण्डल को संसद् के सदस्यों के बहुमत का विश्वास प्राप्त है तभी तक वह शासन चलाता है। विधानपालिकाएँ कार्यपालिका का इस विषय में विभिन्न प्रकार से नियन्त्रण करती हैं। यह जरूरी ही नहीं कि केवल अविश्वास प्रस्ताव या निन्दा प्रस्ताव पास कर मन्त्रिमण्डल को नियन्त्रित किया जाय। विधान-सभा के सदस्य मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से उनके विभिन्न विभागों के विषय में प्रश्न पूछते हैं सन्तोषजनक उत्तर न मिलने पर पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं। शासन नीति पर आम बहस हो सकती है। विशेष परिस्थिति पर विचार करने के लिए काम रोको प्रस्ताव (Adjournment motion) पेश किया जा सकता है।

राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत विधानपालिका को कार्यपालिका से अलग रखने की कोशिश की गई है। फिर भी जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका में है, विधानपालिका राष्ट्रपति की प्रशासकीय शक्ति का नियन्त्रण करती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति द्वारा की गई प्रशासकीय नियुक्तियों के लिए और उस द्वारा व्यवस्थित अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की सन्धियों के लिए अमेरिकन काँग्रेस (विधान-सभा) के ऊपरले सदन सीनेट की स्वीकृति तथा अनुमति आवश्यक है।

(३) **राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण**—राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का नियन्त्रण सर्वत्र विधानपालिकाएँ करती हैं। राष्ट्रपतितन्त्र तथा पार्लियामेण्ट्री शासन दोनों के अन्तर्गत विधानपालिकाएँ ही नये कर लगाती हैं, पुरानी के लिए अनुमति देती हैं और खर्च के लिए अनुदानों की स्वीकृति देती है। प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत साधारणतया यह एक आधारभूत नियम माना जाता है कि कोई भी कर (Tax) विधानपालिका की स्वीकृति के बिना नहीं लगता और न ही कोई खर्च हो सकता है।

इसी शक्ति के अधिकार पर ही ब्रिटिश पार्लियामेण्ट शासनतन्त्र पर नियन्त्रण करने में और अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त करने में सफल हुई है।

अर्थविधेयक (Money bills) अधिकतर निचले सदन (Lower house) में पेश किये जाते हैं, और वही अन्तिम रूप से उनका रूप निर्धारित करते हैं।

(४) **न्याय-पालन सम्बन्धी कार्य**—अनेक राज्यों में विधानपालिका न्याय-पालन सम्बन्धी कर्तव्यों का पालन भी करती हैं। इंग्लैण्ड में हाऊस ऑफ लार्ड्स सर्वोच्च न्यायालय के कार्य सम्पन्न करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में विधानपालिका का दूसरा सदन सीनेट राष्ट्रपति पर किये दोषारोपण की जाँच करती है। भारत में भी विधानपालिका को राष्ट्रपति के ऊपर लगाये गये आरोपों के परीक्षण का अधिकार है। इनके अतिरिक्त विधानपालिकाओं को निर्वाचन सम्बन्धी झगड़ों के निपटारे का, अपने सदस्यों के विरुद्ध कार्यवाही करने का और न्यायाधीशों के विरुद्ध दोषारोपण का अधिकार होता है।

(५) **निर्वाचन सम्बन्धी कार्य** विधानपालिकाएँ कार्यपालिका के उच्च अधिकारियों के चुनाव में भी भाग लेती हैं। स्विट्ज़रलैण्ड में संघीय कार्यपालिका के सदस्यों का निर्वाचन विधानपालिका के दोनों सदन मिलकर करते हैं। रूस में सुप्रीम कोर्ट के न्यायधीशों के अतिरिक्त प्रधानमन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यों का चुनाव सुप्रीम सोवियत (विधानपालिका) द्वारा किया जाता है। भारत में संघ विधानपालिका के तथा राज्य विधानपालिकाओं के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेते हैं। कुछ विशेष परिस्थितियों में अमेरिका में भी निम्न सदन राष्ट्रपति के और उच्च सदन उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं। सांसद शासन-प्रणाली के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल विधानपालिका की ही रचना होता है। इनके अतिरिक्त विधानपालिकाएँ विदेशी नीति के संचालन, युद्ध-घोषणा, शान्तिसन्धि तथा गृहनीति के निर्धारण इत्यादि अनेक अन्य प्रशासकीय कार्यों को भी सम्पन्न करती हैं।

१२६ विधानपालिका का संगठन (Organisation of the Legislature)

विधानपालिका के महत्त्वपूर्ण कार्यों का विवरण हम ऊपर दे चुके हैं। अब मुख्य प्रश्न यह है कि विधानपालिका का संगठन कैसा होना चाहिए? इस विषय मे दो सिद्धान्त हैं। एक सिद्धान्त के अनुसार तो विधानपालिका का केवल एक सदन (House) होना चाहिए और दूसरे के अनुसार उसका संगठन द्विसदनात्मक (Bicameral) होना चाहिए। द्विसदनात्मक विधान-सभा का संगठन इंग्लैण्ड की द्विसदनात्मक पार्लियामेण्ट के अनुकरण पर किया गया है। प्रो० लास्की का कथन है कि यह केवल एक ऐतिहासिक सयोग की ही बात है कि इंग्लैण्ड की विधानपालिका द्विसदनात्मक (Bicameral) थी और उसी का अनुसरण अन्य देशों ने किया। जहाँ कही विधानपालिका का संगठन द्विसदनात्मक होता है वहाँ एक सदन उच्च सदन (Upper Chamber) कहलाता है और दूसरा सदन निम्न सदन (Lower

Chamber) कहलाता है । इस प्रकार का नामकरण दोनों की शक्ति का किसी प्रकार उचित विवरण नहीं दे पाता, क्योंकि सभी जगह उच्च सदन की अपेक्षा निम्न सदन (Lower Chamber) ही अधिक शक्तिसम्पन्न होता है । एक सदनात्मक विधानपालिका (Unicameral Legislature) के संगठन के समर्थन में निम्न-लिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१) एक सदनात्मक (Unicameral) व्यवस्था का समर्थन सभी जगह क्रान्तिकारी विचारकों तथा संविधान सुधार के समर्थकों ने किया है । कानून राज्य की इच्छा का मूर्त्त रूप है, इसकी अभिव्यक्ति विधानपलिका द्वारा ही होती है । यदि एक राज्य में दो विधानपालिकाएँ हों तो सम्भव है वह एक ही विषय पर एक नहीं दो परस्पर विरोधी विचार प्रगट करें । ऐसी अवस्था में एक ही राज्य की इच्छा परस्पर विरोधी अवस्था में प्रगट होगी । फ्रेंच विचारक **एबीसीयज** ने इस विषय में अपने विचार बड़ी स्पष्टता से प्रगट किये हैं । उसका कथन है कि **"कानून जनता की इच्छा है । जनता की एक ही समय में एक ही विषय पर दो परस्पर विरोधी इच्छाएँ नहीं हो सकती । इसलिए जो सभा जनता का प्रतिनिधि है, वह आवश्यक रूप में एक होनी चाहिए । जहाँ दो सदन होंगे वहाँ विरोध तथा विभाजन अनिवार्य होगा और निष्क्रियता के कारण लोकेच्छा निष्क्रिय हो जायगी ।"**[1] राज्य प्रभुता के दो भाग नहीं हो सकते, वह अविभाज्य है । दो सदनों का सिद्धान्त राज्य प्रभुत्व की एकता तथा अविभाज्यता को नष्ट कर देता है, एक सदन की व्यवस्था से ही शासन-व्यवस्था में एकता स्थापित होती है ।

(२) दो सदनों की उपस्थिति पारस्परिक विरोध तथा विद्वेष को जन्म देती है । अमेरिका के सुप्रसिद्ध विचारक **बेंजिमन फ्रेंकलिन ने द्विसदनात्मक विधानपालिका की एक ऐसी गाड़ी से तुलना की है जिसके दोनो ओर दो घोड़े जोत दिये जायँ और दोनों ही गाड़ी को विरोधी दिशाओं में खेंचने का प्रयत्न करें ।**

(३) दूसरे सदन की उपस्थिति अनावश्यक तथा अनिष्टकर समझी जाती है । एबीसीयज ने ही कहा है, **"यदि दूसरे सदन का पहले सदन से मतभेद है तो वह अहितकर है और यदि वह उससे सहमत है तो उसका अस्तित्व निरर्थक है क्योंकि वह या तो सहमत होगा अथवा असहमत, उसका अस्तित्व किसी भी तरह लाभ-दायक नहीं ।"**[2]

---

1. "The law is the will of the people ; the people cannot at the same time have two different wills on the same subject, therefore, the legislative body which represents the people ought to be essentially one. Where there are two chambers, descord and division will be inevitable and the will of the people will be paralysed by inaction." —*Abbe Sieyes.*

2. "If the second chamber disagrees with the first, it is mischievous ; if it agrees, it is superfluous, and since it must either agree or disagree, it is no good in any case."—*Abbe Sieyes.*

(४) एकसदनात्मक विधानपालिका कम खर्चीली होती है । वह अपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील होती है और जन-समान्य की इच्छाओं की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति करती है ।

एक सदनात्मक व्यवस्था का प्रयोग—एकसदनात्मक विधानपालिका का सिद्धान्त १८वी तथा १९वीं सदी में अत्यन्त लोकप्रिय था । प्रायः सभी देशों में थोड़े बहुत समय के लिए एकसदनात्मक शासन-प्रणाली व्यवस्था को अजमाकर देखा गया । बेंजमिन फ्रेंकलिन की प्रेरणा पर ही पैनसिलवेनियाँ में प्रथम विधान के अन्तर्गत एकसदनात्मक विधानपालिका की व्यवस्था की गई थी । क्रान्तिकालीन फ्रांस के संविधानों में भी दो सदनों के स्थान पर एक सदन वाली विधानपालिका की व्यवस्था की जाती रही । इंग्लैण्ड में भी थोड़ी देर के लिए, कामनवैल्थ के समय एकसदनात्मक पार्लियामेण्ट को कायम किया गया था।

परन्तु इन सभी देशों में एकसदनात्मक विधानपालिकाएँ सफल न हो सकीं। फ्रांस की एकसदनात्मक विधानपलिका की कार्यवाही में हिंसा, अस्थिरता तथा निम्न-कोटि का मर्यादोल्लंघन दिखाई देता है। स्पेन, पुर्तगाल तथा बोलिविया इत्यादि राष्ट्रों ने भी इस व्यवस्था को कुछ देर चला उसे असन्तोषजनक समझ त्याग दिया। प्रायः सभी राज्यों में एकसदनात्मक व्यवस्था को विधानपालिका के संगठन की एक असन्तोषजनक व्यवस्था समझा गया । आज इंग्लैण्ड, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, भारत, स्विट्ज़रलैण्ड, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा रूस इत्यादि सभी बड़े-बड़े राज्यों में विधानपालिकाओं का संगठन द्विसदनात्मक व्यवस्था (Bicameral system) पर आधारित है। इन राज्यों के अनेक प्रशासकीय अंगों की विधानपालिकाएँ अवश्य ही एकसदनात्मक हैं परन्तु वे सभी छोटे-छोटे प्रादेशिक राज्य हैं । प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर स्थापित केन्द्रीय यूरोप के नवीन राज्यों में भी एकसदनात्मक विधानपालिकाओं की व्यवस्था थी । परन्तु यह सब राज्य भी छोटे-छोटे राज्य हैं ।

एकसदनात्मक व्यवस्था की असफलता के भी अनेक कारण हैं—

(१) प्रजातन्त्र के अन्तर्गत पुराने कुलीनतन्त्रात्मक तत्त्वों की अवहेलना सम्भव नहीं थी । उनको विधानपालिका के द्वितीय सदन में स्थान दे संतुष्ट किया गया ।

(२) संघ राज्यों में एकसदनात्मक विधानपालिका उपयुक्त नहीं साबित हो सकती थी । क्योंकि विभिन्न राज्यों का पृथक् प्रतिनिधित्व केवल दूसरे सदन में ही दिया जा सकता था, निचले में नहीं । निचला सदन सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है और दूसरा राज्यों का ।

द्विसदनात्मक व्यवस्था का समर्थन—द्विसदनात्मक व्यवस्था को ही सर्वश्रेष्ठ मानने वाले विचारकों की कमी नहीं । सर हेनरीमैन का कथन है कि **किसी प्रकार का भी द्वितीय सदन न होने से श्रेष्ठ है** । एकसदनात्मक विधानपालिका प्रजातान्त्रिक, अव्यावहारिक तथा विद्वेषपूर्ण तथा दूषित राजनीति की जनक होती है । **लार्ड एक्टन का कथन है कि दूसरा सदन स्वाधीनता के लिए एक आवश्यक सुरक्षा है। जे. एस. मिल ने** आशंका प्रकट की थी कि **केवल एक सदन निरंकुश तथा अहंकारपूर्ण हो**

सकता है। द्विसनात्मक विधानपालिका का समर्थन निम्नलिखित आधार पर किया जाता है—

(१) **अरस्तू का कथन है कि कानून भावना शून्य तर्क पर आधारित होना चाहिए।** वह समाज के सभी समुदायों को प्रभावित करता है अतः वह सबकी सक्रिय सहमति पर भी आधारित होना चाहिए। एक सदन वाली विधानपालिका जल्दबाजी में, आवेश में आ विवेक-रहित तथा अपूर्ण रूप से विवेचित विधेयों को पास कर देती है। प्रथम सदन जनमत का प्रतिनिधत्व करता है, ऐसी अवस्था में वह बिना गम्भीर विचार किये भावावेश में पुरानी परम्परागत व्यवस्थाओं को जल्दी में बदल डालता है। द्वितीय सदन की उपस्थिति ऐसी अवस्था में निग्रह तथा सन्तुलन का कार्य करती है और वह प्रत्येक बिल पर दुबारा शान्त वातावरण में विचार कर उनके प्रत्येक पक्ष की समीक्षा कर उन्हें विधेय रूप में स्वीकार करने में सहायता देती है।

(२) एकसदनात्मक विधानपालिका स्वेच्छाचारी हो जाती है। वह भावावेश में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को खत्म कर अत्याचारपूर्ण कानून बनाती है। वह जनमत के समर्थन के बल पर कार्यपालिका तथा न्यायपालिका इत्यादि सरकार के अन्य विभागों की शक्तियों को भी केन्द्रित करने का प्रयत्न करती है। उसमें सदा ही अपनी अधिकार सीमा के उल्लंघन की प्रवृत्ति रहती है। इस प्रवृत्ति के रोकने का एक मात्र ढँग द्वितीय सदन की व्यवस्था और वैधानिक शक्तियों का प्रथम तथा द्वितीय सदन में समुचित बँटवारा है।

(३) एबेसीयज (Abbe Sieyes) का यह कथन भी गलत है कि दूसरा सदन पहले सदन से असहमत होता है तो वह हानिकारक है और यदि सहमत होता है तो अनावश्यक है। **डा० फाइनर** ने इसका उत्तर बड़े सुन्दर शब्दों में दिया है **"यदि दोनों सदन सहमत होते हैं तो विधान की न्यायपूर्णता और विवेकशीलता पर हमारे विश्वास के लिए और भी अधिक बल मिलता है और अगर वे असहमत होते हैं तो लोगो को मौका मिलता है कि वह अपने दृटिकोण पर एक बार फिर विचार करें।"**[1] इस प्रकार द्वितीय सदन की उपस्थिति न केवल कानून पर दुबारा विचार करने का अवसर प्रदान करती है अपितु जनता को भी यह अवसर देती है कि वह विवादास्पद कानूनों पर अपनी राय दे।

(४) **द्वितीय सदन राज्य के विशिष्ट वर्गों तथा हितों को प्रतिनिधित्व देता है। जहाँ प्रथम सदन में बहुमत का प्रभुत्व होता है, वहाँ द्वितीय सदन में विभिन्न** अल्पमतों और स्वार्थों को समान प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। जहाँ निचला सदन राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करता है और जनसाधारण की भावनाओं को प्रतिबिम्बित करता है, वहाँ उच्च सदन कुलीनवर्ग, धनिक वर्ग तथा जमींदारों के स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करता है। यह न केवल कानून को अतिशय मौलिक होने से ही बचाता

1. "If the two Assemblies agree, so much the better for our belief in the wisdom and justice of the law, if they disagree, it is time for the people to reconsider their attitude."—*Dr. Finer.*

है, बल्कि ऐसे कानूनों को भी पास होने से रोकता है जो एक तो वर्गगत स्वार्थों की ही रक्षा करते हैं और दूसरा समाज के आधारभूत जीवन में मौलिक परिवर्तन लाने का प्रयत्न करते हैं। ब्लंशली का कथन है कि राज्य के अन्तर्गत कुलीन तथा प्रजातन्त्रात्मक तत्त्वों के भेद की उपेक्षा समाज के एक वर्ग के प्रति अन्यायजनक होगी।

(५) वर्तमान काल में द्विसदनात्मक विधानपालिका का महत्त्व और भी अधिक हो गया है। राज्य के कर्त्तव्यों की अभिवृद्धि के फलस्वरूप कार्याधिक्य के कारण विधानपालिकाएँ विभिन्न विधेयों पर ठीक-ठीक विचार नहीं कर पातीं। वैधानिक कार्य की प्रकृति भी पहले से अपेक्षाकृत अधिक जटिल और विशेषज्ञता वाली हो गई है। ऐसी अवस्था में द्वितीय सदन तथा प्रथम सदन में कार्य-विभाजन हो सकता है। अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण बिलों पर ऊपरले सदन में विचार किया जाता है। जब कि निम्न सदन महत्त्वपूर्ण बिलों के विवेचन पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकता है। इस प्रकार का श्रम-विभाजन विधान-निर्माण में सुचारुता तथा कार्यक्षमता का जनक होता है।

(६) प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति होते हैं जो किन्हीं कारणों से चुनाव लड़ना पसन्द नहीं करते। अगर ऐसे व्यक्तियों को विधान-सभाओं में न लाया जाय तो राष्ट्र उनकी सेवाओं से वंचित रह जाता है। द्वितीय सदन में ऐसे ही संकोचशील परन्तु प्रतिभाशाली व्यक्तियों को स्थान दिया जा सकता है।

(७) द्वितीय सदन में सदस्यों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है उनमें से अनेक सदस्य अवसरप्राप्त उच्चाधिकारी, अनुभवी परन्तु वृद्ध राजनीतिज्ञ, सैनिक अधिकारी इत्यादि होते है। साथ ही सदस्यों की कार्यावधि भी लम्बी होती है। इस अवस्था में वह विधान-निर्माण के विषय में अधिक अनुभवी हो जाते हैं। यही कारण है कि यह समझा जाता है कि दूसरे सदन में बिलों का निष्पक्ष तथा समुचित विवेचन हो सकता है।

(८) संघ राज्य में तो द्वितीय सदन की और भी अधिक आवश्यकता अनुभव की जाती है। क्योंकि संघ राज्य में दो तत्त्व होते हैं—राज्य और जन-साधारण। संघ राज्यों में राज्यों की स्वतन्त्र स्थिति होती है। राष्ट्रीय विधानपालिका में राज्यों को तथा जन-साधारण दोनों को ही प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। अतः जहाँ निम्न सदन संघ राज्य की सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व करता है वहाँ द्वितीय सदन राज्यों का। संघ राज्यों का ऐसा पृथक् प्रतिनिधित्व इसलिए आवश्यक समझा जाता है ताकि वह बहुमत के अत्याचार से अपनी रक्षा कर सकें और वैधानिक समस्याओं पर अपने विचार प्रगट कर सकें। आज के सभी संघ राज्यों में द्विसदनात्मक विधान-पालिका की व्यवस्था की गई है।

द्विसदनात्मक व्यवस्था का विरोध—वर्तमान काल में द्विसदनात्मक विधान-पालिकाओं की कार्यवाहियों के प्रति पर्याप्त असन्तोष प्रगट किया जाता है। इस असन्तोष के अनेक कारण हैं। सैद्धान्तिक रूप से ही द्विसदनात्मक व्यवस्था को

त्रुटिपूर्ण माना जाता है, यह हम पीछे लिख ही आये हैं।

श्री ए. एस. आयंगर का कथन है कि **"द्विसदनात्मकता** (Bi-cameralism) **का सिद्धान्त अब समाप्त प्रायः हो चुका है। उनके कथनानुसार द्विसदनात्मक-प्रणाली का आधार प्रजातन्त्र में विश्वास की न्यूनता और अल्पसंख्यकों को आश्वस्त करने की इच्छा है।"** श्री आयंगर का कथन है कि **"दूसरे सदन की व्यवस्था इसलिए बना रखी गई है कि जिससे राजनीतिक दलों के उन व्यक्तियों की महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी होने का अवसर मिले जिन्हें पहले सदन में स्थान नहीं मिल पाता, स्वयं दल के भीतर नेतागिरी की होड़ कुछ कम हो और साधारण रूप से पार्टी के प्रभाव का दायरा बढ़े।"**

यह कहना भी गलत है कि द्वितीय सदन की आवश्यकता अविवेकपूर्ण तथा जल्दबाजी में पास किये गये कानूनों को रोकने के लिए है। **प्रो० लास्की** का कथन है कि **आधुनिक राज्यों के लिए एकसदनात्मक प्रणाली सर्वोपयुक्त है।** वर्तमान हालत में किसी भी संशोधन करने वाले सदन की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक बिल को पास करने से पहले न केवल विधानपालिका ही में अपितु राजनीतिक दलों की कार्यकारिणियों में भी विस्तारपूर्वक विचार कर लिया जाता है। विधानपालिकाओं में भी अलग-अलग कमेटियों द्वारा बिल का परीक्षण किया जाता है, फिर उसके तीन वाचन होते हैं और तब जाकर उसे कानून का रूप मिलता है। ऐसी अवस्था में दूसरे किसी सदन की व्यवस्था करना अनावश्यक है।

अल्पमत के अधिकारों की सुरक्षा संवैधानिक व्यवस्था द्वारा अधिक सुविधापूर्वक की जा सकती है। विधानपालिका के एक विशेष सदन में स्थान देकर तो उन्हें हमेशा के लिए एक अलग इकाई के रूप में स्थायी बना देना होगा। कुलीन वर्ग या जमींदार और धनिक वर्ग की विधानपालिका में विशेष स्थान देने की व्यवस्था प्रजातन्त्र-प्रणाली के विपरीत है। प्रजातन्त्र जनसामान्य की समानता में यकीन करता है न कि विभिन्न वर्गों की उच्चता में। जनता का वास्तविक प्रतिनिधित्व एक सदन में ही सम्भव है, दो में नहीं। फिर व्यावहारिक रूप से सदा यही देखा गया है कि उच्च सदन वर्गगत स्वार्थों—विशेष रूप से धनिक वर्ग के हितों—का ही ध्याग रखता है, जन-साधारण के हितों की परवाह नहीं करता। उच्च सदन सदा अप्रगतिशीलता तथा रूढ़िवादिता के गढ़ होते हैं। इंग्लैण्ड तथा अमेरिका की विधानपालिकाओं का इतिहास इस बात का साक्षी है कि दूसरा सदन सदा ही निहित स्वार्थों (Vested interests) का पोषक होता है और प्रगतिशील के विधेयों का शत्रु होता है।

एक सदन के अधिनायकतन्त्र के विरुद्ध तो अन्य अनेक सुरक्षा व्यवस्थाएँ की जा सकती हैं। कार्यपालिका को अस्थायी या सीमित निषेधाधिकार (Limited veto) देकर विधानपालिका की अबाध शक्ति को नियन्त्रित किया जा सकता है। इसी प्रकार जनमत संग्रह (Referendum) की व्यवस्था की जा सकती है। दो सदन की व्यवस्था बहुत खर्चीली तथा महँगी पड़ती है।

यह कहना भी गलत है कि द्विसदनात्मक व्यवस्था संघ राज्य के लिए अत्यन्त

आवश्यक है। प्रो० लास्की का विचार है कि राजनीतिक दलों की व्यवस्था के जन्म के फलस्वरूप विधानपालिकाओं के सदस्य अपनी पार्टी के लिए वोट देना अधिक उपयुक्त समझते हैं, वे अपने राज्य की नागरिकता को तो भूल ही जाते हैं। फिर संघ-राज्य में भी धीरे-धीरे एक राष्ट्रीयता का जन्म हो जाता है जिसके फलस्वरूप राज्यों को पृथक् प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

यदि उपयुक्त सभी तर्कों को एक ओर रख दिया जाय और द्वितीय सदन के संगठन की व्यावहारिक समस्या पर ही विचार किया जाय तो हमें स्पष्ट हो जायगा कि यह कितना विकट प्रश्न है। यह बात तो सभी मानते हैं कि द्वितीय सदन प्रथम सदन से विभिन्न आधार पर संगठित होना चाहिए। परन्तु यह आधार क्या होना चाहिए? इस विषय में बहुत मत-भेद है। साधारणतया द्वितीय सदन के संगठन के चार प्रकार हैं—

(१) वंशानुगत (Hereditary)।

(२) अंशतः निर्वाचित अंशतः नामजद (Partly elected and partly nominated)।

(३) पूर्णतः नामजद (Nominated)।

(४) निर्वाचित (Elected)।

वंशानुगत विधान-निर्माताओं की बात वैसे ही निरर्थक है जैसे कि वंशानुगत गणितशास्त्री या न्यायाधीश अथवा कवि की। विधान-निर्माण के कार्य को वंशानुगत आधार पर आधारित करना सर्वथा अबौद्धिक है। इंग्लैण्ड में हाउस आफ लार्ड्स अधिकाँश में वंशानुगत आधार पर ही संगठित किया गया है, परन्तु इस व्यवस्था को सर्वथा अप्रजातान्त्रिक माना जाता है। अनेक बार उस व्यवस्था को परिवर्तित करने के गम्भीर प्रयत्न किये गये हैं।

द्वितीय सदन के निर्माण का दूसरा तरीका नामजदगी है। विधानपालिका अंशतः नामजद हो सकती है और पूर्ण रूप से भी। परन्तु नामजदगी का उसूल ही अर्थहीन है, विशेष रूप से आज के प्रजातन्त्र के युग में। क्योंकि नामजदी हमेशा कार्य-पालिका द्वारा ही की जायगी, जैसा कि कनाडा में होता है। ऐसी अवस्था में नाम-जदगी दलबन्दी के आधार पर होगी। मन्त्रिमण्डल अपने राजनीतिक सहयोगियों और समर्थकों से ही द्वितीय सदन को भरने का प्रयत्न करेगा। अतः नामजदगी का आधार विभिन्न सदस्यों के गुण न होकर, उनकी राजनीतिक दलबन्दी होगी। नामजद सदस्य किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करते, सिवा नामजद करने वाले अधिकारियों का। ऐसी अवस्था में उनसे स्वतन्त्रता की क्या उम्मीद की जा सकती है। अंशतः निर्वाचित और अंशतः नामजद सदन सदा ही दो भागों में बँटा रहेगा। पूर्णतय नामजद सदन अपनी कमजोरी को स्वयं ही अनुभव करता है वह कभी भी स्वतन्त्र विचार प्रगट नहीं कर सकता। द्वितीय सदन के निर्वाचन की भी व्यवस्था की जा सकती है। परन्तु निर्वाचन की व्यवस्था क्या हो? अगर तो द्वितीय सदन का निर्वाचन भी उसी आधार पर हो जिस पर कि प्रथम सदन का होता है तो न केवल वह अव्यावहारिक

ही होगा अपितु अनेक कठिनाइयाँ भी उत्पन्न कर देगा । दोनों सदन एक जैसे अधिकारों की माँग कर सकते हैं और एक ही प्रकार के अधिकार देने का परिणाम पारस्परिक कलह तथा गत्यवरोध होगा । अगर द्वितीय सदन का निर्वाचन, शिक्षा, सम्पत्ति तथा अन्य प्रकार के आधार पर हो तो वह निहित स्वार्थों (Vested interrests) का एक गढ़ बन जायगा । ऐसा सदन रूढ़िवादिता तथा अप्रगतिशीलता का केन्द्र बन जाता है । अप्रत्यक्ष निर्वाचन भी सम्भव है, परन्तु जैसा कि प्रो० लास्की का कथन है कि भ्रष्टाचार फैलाने वाले सभी साधनों में अप्रत्यक्ष चुनाव का साधन सब से प्रमुख है । यही कारण है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में सीनेट के अप्रत्यक्ष चुनाव को त्यागना पड़ा । इस प्रकार द्वितीय सदन के संगठन की कोई भी सर्वमान्य तथा सन्तोषजनक योजना अब तक नहीं बन सकी ।

दूसरी व्यावहारिक कठिनाई दोनों सदनों के मध्य शक्ति-विभाजन की है । दोनों को समान रूप से शक्तिसम्पन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसी अवस्था में विधान-निर्माण के विषय में बहुत गत्यवरोध उपस्थित हो जायँगे । फिर प्रथम सदन जनसामान्य का प्रतिनिधि होता है अतः उसे उच्च सदन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होना ही चाहिए । सैद्धान्तिक रूप से वित्तीय बिलों (Money bills) को छोड़ अन्य सभी विषयों में दोनों सदन बराबर होते हैं, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता । प्रायः सर्वत्र मन्त्रिमण्डल निचले सदन (Lower House) का ही जिम्मेवार होता है । भारत, इंग्लैण्ड, कनाडा तथा फ्रांस इत्यादि राज्यों में मन्त्रिमण्डल निचले सदन का ही उत्तरदायी होता है । भारत में विभिन्न राज्यों में जहाँ कहीं विधानपालिका का संगठन द्विसदनात्मक सिद्धान्त के आधार पर किया गया है, वहाँ भी निचला सदन उच्च सदन से अधिक शक्तिसम्पन्न होता है । यह तो हम देख ही चुके हैं कि दूसरा सदन वित्तीय बिलों (Money bills) के विषय में असाधारण रूप में शक्तिहीन होता है । आजकल जो सदन वित्तीय मामलों का नियन्त्रण करता है वही शक्तिशाली तथा प्रमुख समझा जाता है । न केवल वित्तीय मामलों में ही अपितु साधारण कानूनों के निर्माण में भी निचला सदन (Lower Chamber) अधिक शक्तिसम्पन्न होता है ।

निष्कर्ष—उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तर्क के आधार पर तो द्विसदनात्मक व्यवस्था खरी नहीं उतरती । द्विसदनात्मक का रिवाज ही चल पड़ा है जिसका अनुसरण सभी जगह किया जाता है, छोटे राज्यों में अवश्य ही द्विसदनात्मकता को खत्म किया जा रहा है, परन्तु बड़े-बड़े राज्यों में ऐसा नहीं हो सका । भविष्य में भी इसके खत्म होने की आशा नहीं की जा सकती । यह आशा भी नहीं की जा सकती कि उच्च सदन की शक्तियों में अभिवृद्धि हो या उसे भिन्न प्रकृति के कामों को सौंपा जाय । इंग्लैण्ड तथा फ्रांस इत्यादि देशों की विधानपालिकाओं का इतिहास यही बतलाता है कि दिन-प्रतिदिन उच्च सदन की शक्तियाँ घट रही हैं और निचला सदन अधिक शक्ति सम्पन्न हो रहा है । संयुक्त राज्य अमेरिका में अवश्य ही सीनेट पर्याप्त शक्तिसम्पन्न है, वह निचले सदन से भी अधिक शक्तिशाली है, परन्तु

इसके कुछ विशेष कारण हैं । वहाँ द्वितीय सदन ही प्रथम सदन है अन्यत्र द्वितीय सदन का काम पुनर्विचार के अतिरिक्त कुछ नहीं होता ।

१२७. जनता द्वारा प्रत्यक्ष कानून-निर्माण (Direct Legislation by people)

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के अन्तर्गत कानून-निर्माण का कार्य प्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण जनता द्वारा होता था । परन्तु वर्तमान काल में विशालकाय राष्ट्रीय राज्यों के संगठन के फलस्वरूप करोड़ों नागरिकों का एक स्थान पर एकत्र हो कानून-निर्माण सम्बन्धी कार्यों को कर सकना असम्भव है । इसलिए सर्वत्र प्रतिनिधि संस्थाओं की व्यवस्था रहती है । यह प्रतिनिधि संस्थाएँ (Representative bodies) जनता द्वारा कुछ अर्से के लिए चुनी जाती हैं और जनता की ओर से ही यह कानून-निर्माण का कार्य करती हैं और शासन-कार्य चलाती हैं । परन्तु हाल ही में प्रतिनिधि संस्थाओं के कार्य से जनसाधारण में असन्तोष की भावना फैल गई है, जनसाधारण अपने प्रतिनिधियों में विश्वास खो बैठा है । प्रतिनिधि संस्थाएँ पार्टीबाजी, भ्रष्टाचार तथा अनावश्यक पक्षपात के कारण बदनाम हो गई हैं । अतः अनेक स्थानों पर जनसाधारण ने कानून-निर्माण तथा शासन-संचालन में प्रत्यक्ष भाग लेने की माँग की । संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया सोवियत रूस तथा स्विट्ज़रलैण्ड में प्रत्यक्ष कानून-निर्माण के साधनों को अपनाया गया । सोवियत रूस तथा स्विट्ज़रलैण्ड में तो लोक-सम्मत प्रभुता (Popular sovereignty) के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए ही इन साधनों को अपनाया गया । सोवियत रूस में जनता यदि अपने प्रतिनिधियों के व्यवहार तथा कार्य से सन्तुष्ट नहीं तो उसे अधिकार है कि वह उन्हें वापिस बुला ले और उनकी जगह नये प्रतिनिधियों को चुने, स्विट्ज़रलैण्ड के राज्यों में भी कहीं-कहीं जनसामान्य को प्रत्यावर्तन (Recall) का अधिकार दिया गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यों में भी ऐसी व्यवस्था मिल जाती है ।

जनता द्वारा प्रत्यक्ष कानून-निर्माण की व्यवस्था का सर्वाधिक प्रचलन स्विट्ज़रलैण्ड में है, प्रत्यक्ष कानून-निर्माण के दो साधन हैं—

(१) जनमत संग्रह (Referendum)

(२) प्रस्तावाधिकार (Initiative)

(१) **जनमत संग्रह** (Referendum) की व्यवस्था उन सभी कानूनों तथा संवैधानिक संशोधनों के लिए की जाती है जिन्हें कि विधानपालिका पास कर चुकती है । जब कभी विधानपालिका किसी भी बिल को या संवैधानिक संशोधनों को पास करे और वह तब तक अन्तिम रूप से कानून न बन सके जब तक कि जनता उस पर अपना मत प्रगट न कर दे, और निर्वाचकों का बहुमत उसे स्वीकार न कर ले तो ऐसी व्यवस्था का नाम जनमत संग्रह (Referendum) है । जनमत संग्रह के दो प्रकार हैं—ऐच्छिक जनमत संग्रह (Optional Referendum) तथा अनिवार्य जनमत संग्रह (Compulsory Referendum) । स्विट्ज़रलैण्ड में

जनमत संग्रह की दोनों प्रणालियों का प्रचलन है । यह आवश्यक नहीं कि विधानपालिका द्वारा पास किये गये सभी बिल कानून तभी बने जब कि जनमत संग्रह में उन्हें निर्वाचकों के बहुमत द्वारा स्वीकार करवा लिया जाय । ऐच्छिक जनमत संग्रह जनता की माँग पर होता हैं । स्विट्ज़रलैण्ड में यदि तीस हजार निर्वाचक या आठ राज्य सरकारें विधानपालिका द्वारा पास किये गये किसी भी बिल पर जनमत संग्रह की माँग करें तो जनमत संग्रह होता है, ऐसी व्यवस्था ऐच्छिक जनमन संग्रह (Optional Referendum) के अन्तर्गत आती है ।

जब विशेष प्रकार का बिल तब तक कानून न बने जब तक कि उस पर जनमत संग्रह न हो जाय तो वह अनिवार्य जनमत संग्रह (Compulsory Referendum) कहलाता है । स्विट्ज़रलैण्ड में प्रत्येक संवैधानिक संशोधन कानून का रूप धारण करने से पूर्व जनमत संग्रह द्वारा अनिवार्य रूप से जनता से स्वीकृत करवाया जाता है ।

(२) प्रस्तावाधिकार (Initiative)—जनमत संग्रह की व्यवस्था तो जनसाधारण को केवल निषेधात्मक (Negative) अधिकार देती है, उस द्वारा जनता केवल विधानपालिका द्वारा पास किये गये बिलों पर ही अपनी राय दे सकती है, उसे अपनी मर्जी के अनुसार कानून बनाने का विधेयात्मक (Positive) अधिकार भी होना चाहिए । इस व्यवस्था द्वारा निर्वाचकों को कानून-निर्माण में स्वयं आगे बढ़ने का मौका मिलता है । प्रस्तावाधिकार के अन्तर्गत मतदाताओं की एक निश्चित संख्या किसी एक निश्चित विषय पर कानून बनाने की प्रार्थना करती है । ऐसी अवस्था में विधानपालिका को जनता द्वारा सुझाए हुए विषयों पर उसी प्रकार विचार करना होता है जैसे कि सरकारी बिलों पर । प्रस्तावाधिकार को प्राप्त कर जनसाधारण के लिए यह आवश्यक नही कि वह सदा कानून-निर्माण के लिए विधानपालिका के सदस्यों पर ही आश्रित रहें । अगर वह किसी विशेष प्रकार के कानून को राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक समझते है तो वह इस विषय में स्वयं भी कदम उठा सकते हैं । प्रस्तावाधिकार दो प्रकार का होता है—(१) एक प्रकार के अन्तर्गत तो निर्वाचक बाकायदा बिल का मसौदा बनाकर पेश करते है, (२) दूसरे के अन्तर्गत बिल की आवश्यकता को प्रदर्शित कर उसकी नीति का निर्देश मात्र करते हैं और वास्तविक मसौदे के निर्माण को विधानपालिका पर छोड़ देते हैं ।

जब कभी प्रस्तावाधिकार के अन्तर्गत पेश किये गये बिलों को विधानपालिका पास कर देती है तो उन पर जनमत संग्रह होता है और जनता के बहुमत द्वारा स्वीकार किये जाने पर ही वह अन्तिम रूप से कानून बनते हैं । स्विट्ज़रलैण्ड में संवैधानिक सुधार के लिए पच्चास हजार नागरिकों द्वारा प्रस्तावाधिकार के अन्तर्गत बिल का मसौदा पेश किया जा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यों में भी साधारण कानून तथा संवैधानिक कानून दोनों ही क्षेत्रों में प्रस्तावाधिकार की व्यवस्था है ।

मूल्यांकन—जनता द्वारा विधान-निर्माण के इन साधनों की अनेक आधारों पर प्रशंसा की जा सकती है । जनसम्मत प्रभुता तथा लोकतन्त्र की वास्तविक भावना

का जितना अच्छा वास्तविकरण इस व्यवस्था द्वारा होता है, वैसा अन्यत्र नहीं हो सकता। प्रतिनिधि व्यवस्था जनसामान्य की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। चुनाव के दौरान में अनेक बाह्य प्रभावों से प्रभावित हो निर्वाचक अपने वोट के अधिकार का इस्तेमाल करते हैं। वह अपनी स्वतन्त्र तथा वास्तविक इच्छा को प्रगट नहीं कर सकते। जनतन्त्र के इन प्रत्यक्ष साधनों द्वारा वे स्वयं राजनीतिक मामलों में हिस्सा लेते हैं, उन्हें समझने का प्रयत्न करते हैं और उन पर अपना मत प्रगट करते हैं। यह पद्धति जनसामान्य के लिए शिक्षाजनक होती है और उनमें राजनीतिक चेतना उत्पन्न करती है। तीन साल या चार साल बाद चुनाव होते हैं और इस अर्से के दौरान में मतदाताओं को अपने मत को प्रभावोत्पादक ढँग से प्रगट करने का कोई साधन ही प्राप्त नहीं होता। परन्तु जब वह स्वयं कानून-निर्माण करते हैं और विभिन्न कानूनों के गुणावगुण की समीक्षा करते हैं तो उन्हें वास्तविक अर्थ में राजनीतिक मामलों में भाग लेने का मौका मिलता है, तथा उन्हें पर्याप्त राजनीतिक शिक्षा मिलती ई। कानून-निर्माण के प्रत्यक्ष साधन जनसाधारण में उत्तरदायित्व तथा राष्ट्र-भक्ति की भावनाओं को भी उत्पन्न करते हैं। जब लोग यह अनुभव करें कि सभी कानून उन्हीं की रजामन्दी पर आधारित हैं और उनके निर्माण में उन्होंने सक्रिय भाग लिया है तो निश्चय ही उनमें कानून मानने की भावना का अधिक विस्तार होगा। वे यह महसूस करेंगे कि अपने द्वारा ही पास किये गये कानूनों को मानना उनका धर्म है।

कानून-निर्माण के प्रत्यक्ष साधन राजनीतिक पार्टियों की महत्ता को घटाते हैं, विधानपालिकाओं में फैले भ्रष्टाचार को खत्म करते है और बहुमत की निरंकुशता मिटाते हैं। अमेरिका तथा इंग्लैण्ड की विधानपालिकाओं की कार्यवाही से स्पष्ट है कि विधानपालिकाओं के सदस्य पूजीपति लोगों द्वारा खरीदे जा सकते हैं। इसी प्रकार पार्टीबाजी के कारण सदस्यगण अपने पार्टीनेताओं को खुश करने के लिए उचित अनुचित का ध्यान किये बिना उनकी मर्जी के अनुसार अपना मत प्रगट करते हैं। श्री श्रीनिवास आयंगर का कथन है कि **इससे दलबन्दी की भावना बढ़ने नहीं पाती। राष्ट्रीयशील-सामर्थ्य को बल मिलता है और यह राजनीतिक व्यवहार की शिक्षा का सर्वश्रेष्ठ साधन है।**

कानून-निर्माण के ये साधन विधानसभा को अधिक गम्भीर तथा उत्तर-दायित्वपूर्ण बना देते हैं। उन्हें वह विदित होता है कि उनके विधान-निर्माण सम्बन्धी कार्यो की देख-भाल जनता ने करनी है। दूसरा विधान-निर्माता प्रत्येक समय जनता की आवश्यकताओं तथा माँग को अपने ध्यान में रखते हैं।

परन्तु कानून-निर्माण के प्रत्यक्ष साधनों की कड़ी आलोचना भी की जाती है। आज के युग में विधान-निर्माण विशेष योग्यता तथा अनुभव का विषय है। उसमें पर्याप्त जटिलता होती है, जनसाधारण उन्हें समझ ही नहीं सकता अतः वह उन पर अपना विचार ठीक-ठीक रूप से प्रगट नहीं कर पाता। यह कहना भी गलत है कि इन साधनों से राजनीतिक दलों का प्रभाव घट जाता है। वस्तुतः ऐसे ही समय में राज-

नीतिक पार्टियाँ प्रचार के साधनों का प्रयोग पूरी तरह करती हैं और जनता की भावनाओं को उभारती हैं । जनता को सम्पूर्ण बिल पर विचार करने का अवसर ही नहीं मिलता । उन्हें केवल 'हाँ' या 'नहीं' में अपना मत प्रगट करना होता है । महत्त्व-पूर्ण राजनीतिक मसलों पर केवलमात्र 'हाँ' या 'नहीं' द्वारा जनता का मत किस प्रकार स्पष्टता से प्रगट किया जा सकता है ? साधारण जनता का दृष्टिकोण संकुचित तथा अप्रगतिशील होता है अतः वह सदा ही प्रगतिशील कानूनों को अस्वीकार कर देती है । इन साधनों का शिक्षात्मक मूल्य भी विशेष नहीं, क्योंकि जनसाधारण तो चुनाव के तथा वोट डालने के अवसरों की संख्या को घटाना चाहता है । व्यावहारिक रूप से यही देखा गया है कि निर्वाचकों की एक बड़ी संख्या ऐसे अवसरों पर अनु-पस्थित रहती है, वह इन मामलों में कोई विशेष दिलचस्पी ही नहीं लेती ।

प्रत्यक्ष कानून-निर्माण विधानपालिकाओं की जिम्मेवारियों को घटाता है, योग्य सदस्यों तथा राजनीतिज्ञों को मजबूर करता है कि वे चुनाव न लड़ें, विधान-पलिका के काम-काज में भाग न लें, क्योंकि उनके रचनात्मक तथा उपयोगी काम-काज को भी जनता अस्वीकार कर सकती है ।

प्रस्तावाधिकार के फलस्वरूप अस्पष्ट तथा अपरिपक्व बिल भी कानून बन जाते हैं । बिलों के मसौदे ऐसे लोगों द्वारा तैयार किये जाते हैं जो कानून की पेची-दगियों के विषय में कुछ भी नहीं जानते । इस कारण ऐसे-ऐसे बिल तैयार किये जाते हैं जिन की कानूनी भाषा बहुत ही दोषपूर्ण होती है ।

प्रत्यक्ष विधान-निर्माण की व्यवस्था केवल छोटे-छोटे राज्यों में ही सफल हो सकती है, बड़े-बड़े राज्यों में नहीं । यही कारण है कि बड़े-बड़े राज्यों में अभी तक इन साधनों को नहीं अपनाया गया ।

कानून-निर्माण के प्रत्यक्ष साधन प्रजातन्त्र की भावनाओं के अनुकूल होते हुए भी इन सभी कारणों से सर्वप्रिय नहीं हो सके ।

Important Questions

Reference

1. Describe the functions of modern legislature. Art. 125
(*Agra 1942, 36*)

2. Discuss the position and utility of Second Chambers in modern states. Art. 126
(*Ag. 1943 All. 1941 Pb. 1931 Nag. 1946 Cal. 1944, 1943 Pat. 1936*)

3. Are you in favour of Unicameralism or Bicameralism ? State your reasons. Art. 126
(*Pb. 1954*)

4. Describe the extent to which the Referendum, the Initiative and the Recall are used in different countries. What are their respective merits and demerits ? Art. 127
(*All. 1944 Pb. 1943, 1940 Pat. 1944 Nag. 1944*)

अध्याय १८

कार्यपालिका का संगठन तथा कार्य

(Organisation and function of the Executive)

१२८. कार्यपालिका शब्द की व्याख्या

कार्यपालिका सरकार का दूसरा अंग है। कार्यपालिका उस व्यक्ति-समूह को कहते हैं जिसका उद्देश्य विधानपालिका द्वारा बनाये गये कानूनों को लागू करना है। डा० गार्नर के मतानुसार **"व्यापक एवं सामूहिक अर्थ में कार्यपालिका विभाग के अन्तर्गत वे सभी अधिकारी, राज्य-कर्मचारी तथा एजेन्सियाँ आ जाती हैं जिनका कार्य राज्य की इच्छा को, जिसे विधानपालिका ने प्रगट कर कानून का रूप दे दिया है, कार्यरूप में परिणत करना है।"**[1] इस व्याख्या के अनुसार कार्यपालिका के अन्तर्गत निम्नलिखित एजेन्सियाँ शामिल होंगी—

(१) राज्य तथा कार्यपालिका का अध्यक्ष (Head of the State and the executive) जैसे सम्राट्, राष्ट्रपति या प्रधान।

(२) प्रधान मन्त्री समेत मन्त्रिमण्डल (Prime Minister along with the Council of Ministers)—इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रशासकीय विभागों के अध्यक्ष भी आ जाते हैं।

(३) प्रशासकीय अधिकारी (Civil servants)—पुलीस तथा सेना के अधिकारीगण।

कुछ फ्रेंच विचारक सरकार का द्विसत्तात्मक विभाजन करते हैं। उनके मतानुसार सरकार के दो विभाग हैं—(१) विधानपालिका, तथा (२) कार्यपालिका। न्यायपालिका को वह कार्यपालिका का ही एक भाग समझते हैं। अगर न्यायपालिका को कार्यपालिका का ही एक भाग समझ लिया जाए तो इसके अन्तर्गत न्यायपालिका के अधिकारीगण भी आ जाएँगे।

कार्यपालिका शब्द का संकुचित अर्थ में प्रयोग—परन्तु 'कार्यपालिका' शब्द का प्रयोग राजनीति शास्त्र के उपर्युक्त विस्तृत अर्थ में नहीं अपितु संकुचित अर्थ में किया जाता है। इस अर्थ में कार्यपालिका में केवल वही व्यक्ति आते हैं जिनका कर्त्तव्य नीति-निर्धारण, योजना-निर्माण तथा कानून की कार्यान्विति को देखना है और जो सैनिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रतिनिधित्व करते हैं। यह प्रशासकीय अधिकारियों से

---

1. "In a broad and collective sense the executiveorgan embraces the aggregate or totality of all the functionaries and agencies which are concerned with the execution of the will of the state as that will has been formulated and expressed in terms of law."
—*Garner.*

भिन्न होते हैं। प्रशासन का यथार्थ कार्य तो सरकारी कर्मचारी या नौकर करते हैं। अमेरिका में राष्ट्रपति तथा उसका मन्त्रिमण्डल, इंग्लैण्ड में सम्राट्, प्रधान मन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल और भारत में राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री और सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल कार्यपालिका की इस संकुचित व्याख्या के अन्तर्गत आते हैं। इनका कार्य प्रशासकीय नीति निर्धारण करना और प्रशासकीय विभाग के कार्य की देख-भाल करना है। इसे राजनीतिक कार्यपालिका (Political executive) भी कहा जाता है।

नाम मात्र की तथा वास्तविक कार्यपालिका (Nominal and Real Executives)—कार्यपालिका नाम मात्र की भी हो सकती है और वास्तविक भी। कार्यपालिका का ऐसा भेद हाल ही में किया जाने लगा है, पहले ऐसा नहीं किया जाता था। हम पीछे देख चुके हैं कि प्रभुत्व के भी दो रूप माने गये हैं—नाम मात्र का प्रभुत्व तथा वास्तविक प्रभुत्व। इंग्लैण्ड में पार्लियामेण्ट की शक्तियों के विकास के फलस्वरूप नाम मात्र के प्रभुत्व तथा वास्तविक प्रभुत्व में अन्तर किया जाने लगा। इंग्लैण्ड में ही वास्तविक तथा नाम मात्र की कार्यपालिका में विभेद का प्रचलन हुआ। इंग्लैण्ड का सम्राट् कभी किसी समय अबाध शक्ति सम्पन्न था, परन्तु अब वह नाम मात्र की या आलंकारिक कार्यपालिका है। वह राज्य करता है पर शासन नहीं करता। उसके मन्त्री ही सम्पूर्ण शासन-कार्य के लिए जिम्मेवार हैं। इंग्लैण्ड में कहा जाता है कि सम्राट् कोई गलती नहीं कर सकता, दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यही है कि शासन के काम-काज के लिए वह स्वयं ज़िम्मेवार नहीं होता। उसका मन्त्रिमण्डल ही उसके लिए उत्तरदायी होता है। इस अवस्था में मन्त्रिमण्डल वास्तविक और सम्राट नाम मात्र की कार्यपालिका है। सम्राट् विधानपालिका के अधिवेशन बुलाता है, उसे स्थगित कर सकता है और भंग भी करता है। वह प्रधान मन्त्री की नियुक्ति करता है, परन्तु इन कार्यों के करने में भी उसे कोई विशेष स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती।

फ्रांस में भी एक राष्ट्रपति है. उसका चुनाव विधानपालिका द्वारा सात वर्ष के लिए किया जाता है। उसे लगभग वह सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं जो अमेरिकन प्रेज़ीडेण्ट तथा ब्रिटिश सम्राट् को होते हैं, परन्तु उसकी वास्तविक स्थिति इन दोनों से ही कमजोर है। उसके प्रत्येक कार्य की जिम्मेवारी उसके मन्त्रियों पर होती है और उसके प्रत्येक आदेश पर उसके मन्त्रियों के हस्ताक्षर भी होते हैं।

भारत में भी राष्ट्रपति के पद की व्यवस्था की गई है, संवैधानिक रूप से उसकी स्थिति अमेरिकन राष्ट्रपति से भी मजबूत है। उसे वे सब अधिकार तो प्राप्त है ही जो कि अमेरिका के राष्ट्रपति को हैं, परन्तु संकटकालीन स्थिति में तो वह और भी अधिक शक्तिसम्पन्न हो जाता है, वास्तव में उसकी स्थिति ब्रिटिश सम्राट् तथा फ्रेंच राष्ट्रपति के बीच की है। भारत के राष्ट्रपति को कुछ असाधारण अधिकार सौंपे गए हैं, जो साधारणतः पार्लियामेण्ट्री शासन के अन्तर्गत एक नाम मात्र के मुखिया को नहीं दिये जाते। उसकी स्थिति अभी तक अस्पष्ट है, पर्याप्त काल तक इस पद पर कार्य करने वाले व्यक्तियों के वास्तविक व्यवहार से ही यह स्पष्ट होगी। भारत में वास्तविक कार्यपालिका प्रधान मन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल हैं।

अमेरिकन शासन-पद्धति के अन्तर्गत राष्ट्रपति आलंकारिक तथा वास्तविक दोनों ही तरह की कार्यपालिका है। वह उन सभी शक्तियों का स्वयं प्रयोग करता है जो कि संविधान द्वारा उसे प्राप्त हैं, विधानपालिका उसकी शक्तियों का नियन्त्रण तथा नियमन नहीं करती, वह उसके नियन्त्रण से मुक्त है। वह अपने मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति अपने आप करता है, वह उसका ही जिम्मेवार है। वह अपनी कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों के प्रयोग के लिए स्वयं जिम्मेवार है, उन्हें वह किसी अन्य अधिकारी को नहीं सौंप सकता।

नाम मात्र की कार्यपालिका तथा वास्तविक कार्यपालिका का अन्तर केवल सांसद शासन द्वारा शासित राज्यों में ही किया जाता है।

ऊपर हमने बतलाया है कि कार्यपालिका का नाम मात्र का मुखिया शासनतन्त्र के वास्तविक संचालन के लिए उत्तरदायी नहीं होता। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वह अपने विचारों से अपने मन्त्रिमण्डल को प्रभावित न करता हो। प्रत्येक सम्राट् या राष्ट्रपति का अपना व्यक्तित्व होता है, उसकी अपनी प्रशासकीय धारणाएँ होती हैं जिनसे वह शासन नीति को प्रभावित करते रहते हैं। सम्राट् तथा राष्ट्रपति अनुभवी व्यक्ति हो सकते हैं, उन्हें अपने मन्त्रियों से अधिक प्रशासकीय अनुभव हो सकता है। ऐसी अवस्था में मन्त्रिमण्डल, उनकी सलाह की उपेक्षा नहीं कर सकते। जैसा कि वेजहाट ने कहा है इंग्लैण्ड में सम्राट् को अधिकार है कि उससे सलाह ली जाय, दूसरा उसे प्रोत्साहन देने का अधिकार है और तीसरा उसे चेतावनी देने का अधिकार है। नाम मात्र का मुखिया चाहे केवल मात्र राजकीय वैभव का ही प्रतीक क्यों न हो और चाहे वह केवल राज्य को औपचारिक रूप से प्रतिनिधित्व देने के लिए ही क्यों न चुना जाता हो, फ़िर भी वह एक जीवित व्यक्ति है, उसका अपना व्यक्तित्व है, और यही उसके प्रभावोत्पादन के लिए पर्याप्त हैं। कोई भी सम्राट् या राष्ट्रपति कठपुतली मात्र नहीं हो सकता।

१२६. कार्यपालिका का संगठन

कार्यपालिका के संगठन की व्यवस्था विधानपालिका से भिन्न होती है। विधानपालिका का कार्य कानून-निर्माण है। कानून-निर्माण के लिए विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद की आवश्यकता होती है, अतः विधानपालिका में सदस्यों की अधिक संख्या होती है। परन्तु कार्यपालिका का कार्य विचार-विमर्श नहीं उसका कार्य विधान-पालिका द्वारा अभिव्यक्त राज्य की इच्छा के मूर्त स्वरूप कानूनों को लागू करना है। न्यायपालिका के निर्णयों को लागू करना भी कार्यपालिका का ही काम है। प्रशासकीय कार्यों के करने के लिए शीघ्रता से किये गये **निर्णय, शक्ति** नीति की निरन्तरता एवं कार्य-प्रक्रिया की गोपनीयता (Sercecy) आवश्यक है। विधान-निर्माण में जहाँ विचार-विमर्श तथा समझौता आवश्यक है वहाँ कार्यपालन में होशियारी शीघ्रता तथा शक्तिमत्ता का होना आवश्यक है। अतः कार्यपालिका शक्ति को बहुसंख्यक लोगों में निहित करना खतरनाक होता है, कार्यपालिका शक्ति एक ही व्यक्ति में निहित होनी

चाहिए। बहुत से व्यक्तियों के मेल से निर्मित एक विशाल परिषद् विधान-निर्माण के लिए उपर्युक्त है कार्य-पालन के लिए नहीं। कार्यपालिका की शक्ति को अगर बहुत से व्यक्तियों में बाँट दिया जाय तो वह कमजोर हो जाती है। अमेरिकन न्यायाधीश स्टोरी ने लिखा है कि **"सुप्रसिद्ध राजनीति शास्त्रियों ने एकमत से इस बात को स्वीकार किया है कि कार्यपालिका एकात्मक हो और विधानपालिका बहुसंख्यात्मक। उन्होंने शक्तिमत्ता को कार्यपालिका का परम आवश्यक गुण माना है, इसकी प्राप्ति तभी होती है जब इसे एक व्यक्ति में निहित कर दिया जाय।"**[1]

सुप्रसिद्ध अमेरिकन राजनीतिविशारद हैमिल्टन ने भी कार्यपालिका शक्ति के केन्द्रीकरण का ही समर्थन किया है। हैमिल्टन का कथन है कि **"कार्यपालिका में शक्तिमत्ता की उपस्थिति एक श्रेष्ठ शासनतन्त्र का प्रमुख लक्षण है। बाह्य आक्रमण से राज्य की रक्षा के लिए तो यह परम आवश्यक है। काननों को लागू करने के लिए न्याय-पालन में बाधा डालने वाले अत्याचारी तथा अन्यायियों के संगठनों से सम्पत्ति की रक्षा के लिए और महत्वाकांक्षी लोगों, अराजकतावादी तथा अन्यायी लोगों से नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए भी वह कम आवश्यक नहीं।"**[2]

अतः सामान्यतया आज सभी जगह यह यकीन किया जाता है कि कार्यपालिका शक्ति के उत्तरदायित्व की रक्षा के लिए और उसकी शक्तिमत्ता के लिए कार्यपालिका शक्ति का केन्द्रीकरण होना चाहिए। केन्द्रीकरण के अभाव में उत्तरदायित्व तथा शक्तिमत्ता का विनाश हो जाता है।

बहुसंख्यक कार्यपालिका (Plural Executive)—कार्यपालिका शक्ति का विकेन्द्रीकरण भी सम्भव है। जब कभी कार्यपालिका की शक्ति किसी एक व्यक्ति में केन्द्रित न हो बहुत से व्यक्तियों में विकेन्द्रित होती है तो वह बहुसंख्यक कार्यपालिका कहलाती है। जैसा कि हम पीछे लिख आये हैं वर्तमान काल में स्विस कार्यपालिका बहुसंख्यक कार्यपालिका कहलाती है। यह सात सदस्यों की एक परिषद् है, इसका चुनाव विधानपालिका के दोनों सदनों के सम्मिलित अधिवेशन में होता है। इस मन्त्रिपरिषद् का एक सदस्य एक साल के लिए इसका प्रधान चुना जाता है, इसे ही संघ का राष्ट्रपति कह देते हैं। परन्तु वह एकात्मक कार्यपालिका के मुखिया से सर्वथा भिन्न होता है। उसे किसी

---

1. The most distinguished statesmen have uniformly maintained the doctrine that there ought to be a single executive and numerious legislature. They have considered energy as the most necessary qualification of the executive power, and this is best attained by reposing it in a single hand."—*Story.*

2. "Energy in the executive is a leading characteristic in the definition of good government. It is essential to the protection ofe the community against foreign attacks. It is not less essential to the steady administration of the laws, to the protection of property against those irregular and high handed combinations which somctimes interrupt in ordinary course of justice, to the security of liberty against the enterprise and assults of ambitions of faction, and of anarchy."—*Hamilton.*

भी प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते। वह अपनी स्थिति में मन्त्रिपरिषद के अन्य सदस्यों के बराबर होता है, वह तो कार्यपालिका के अध्यक्ष के रस्मी फर्जों को पूरा करता है। इस कार्यपालिका के सभी सदस्य विधान-मण्डल के प्रति जिम्मेवार होते हैं, परन्तु जब कभी उनकी आलोचना की जाती है या उनकी माँगों को विधानपालिका द्वारा अस्वीकार कर दिया जाता है तो वे इस्तीफा नहीं देते, वे अपने पदों पर आसीन रहते हैं। इस कार्यपालिका के सदस्य पर्याप्त समय तक लगातार काम करते रहते हैं, अतः उन्हें पर्याप्त प्रशासकीय अनुभव होता है। स्विट्ज़रलैण्ड की जनता प्रजातान्त्रिक संस्थाओं की सफलतापूर्ण कार्यवाही के लिए विशेष शिक्षित है अतः इस प्रकार की बहुसंख्यक कार्यपालिका वहाँ सफल हो सकी है।

पुराने समय में भी बहुसंख्यक कार्यपालिकाओं के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। कहा जाता है प्राचीन काल में यूनान के नगर राज्य स्पार्टा (Sparta) में दो राजा थे, एथेन्स में कार्यपालिका शक्ति बहुत से व्यक्तियों में बँटी हुई थी। क्रान्ति-कालीन फ्रांस में भी शासन-शक्ति किसी एक आदमी में केन्द्रित नहीं की गई थी। वह पाँच व्यक्तियों की एक सामूहिक संस्था (Directory) में निहित की गई थी। एस्मीन (Esmeen) का कथन है कि फ्रांस में इस संस्था का शासन बहुत कष्टकर था, कभी वह कमजोर हो जाता था तो कभी प्रचण्ड। इसकी कमजोरी के फलस्वरूप ही फ्रांस में दुर्दान्त अधिनायकतन्त्र की स्थापना हुई। हाल ही में रूस में स्टालिन की मृत्यु के अनन्तर वास्तविक कार्यपालिका शक्ति एक ही व्यक्ति (अधिनायक) के स्थान पर बहुत से व्यक्तियों में निहित की गई है। रूस की यह व्यवस्था कहाँ तक सफल हो सकेगी यह तो भविष्य ही बतलायगा। क्योंकि अक्सर ऐसी स्थिति में 'सामूहिक नेतृत्व (Collective leadership) के अन्तर्गत फूट पड़ जाती है, आपस में शासन-सत्ता हथियाने के लिए संघर्ष पैदा होता है और गृह-कलह प्रारम्भ हो जाता है। स्टालिन की मृत्यु के अनन्तर मेलिन्कॉफ द्वारा बेरिया तथा उसके समर्थकों का विनाश इस बात का स्पष्ट सूचक है कि 'सामूहिक नेतृत्व, के अन्तर्गत शासन-सत्ता हथियाने के के लिए संघर्ष होते रहते हैं।

बहुसंख्यक कार्यपालिका के समर्थन में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। कहा जाता है कि कार्यपालिका के महत्त्वपूर्ण निर्णय यदि बहुत से व्यक्तियों के सम्मिलित विचार-विमर्श के अनन्तर होंगे, तो वह एक व्यक्ति द्वारा किये गये निश्चयों से कहीं अधिक तर्कसंगत तथा विवेकपूर्ण होंगे। निश्चय ही एक व्यक्ति की अपेक्षा बहुत से व्यक्ति मिलकर अधिक विवेक पूर्ण फैसले कर सकते हैं। इंग्लैण्ड तथा फ्रांस इत्यादि राज्यों में कार्यपालिका एकात्मक नहीं, वह बहुसंख्यक है, ऐसा भी बहुत से विधान-शास्त्रियों का विचार है। उनका कथन है कि सम्राट् या राष्ट्रपति तो केवल नाम मात्र के सत्ताधिकारी हैं, वास्तविक सत्ता मन्त्रिमण्डल में होती है। मन्त्रिमण्डल में प्रधान मन्त्री की प्रमुखता अवश्य है परन्तु वह अन्य मन्त्रियों का शासक नहीं, वह उनके बराबर है, उन्हीं में से एक है, अवश्य ही उनमें सर्वप्रथम और प्रमुख है। अतः वे उसे बहुसंख्यक कार्यपालिका मानते हैं। वस्तुतः यह विचार कुछ हद तक तक ठीक है।

क्योंकि प्रधान मन्त्री सदा ही अपने साथियों की सलाह की उपेक्षा नहीं कर सकता, उनमें सत्ता का पर्याप्त विकेन्द्रीकरण होता है । परन्तु यह कहना भी गलत है कि शासन-सत्ता का उसमें पूर्ण रूप से विकेन्द्रीकरण है और उसमें प्रधान मन्त्री की स्थिति वही है जो कि स्विट्ज़रलैण्ड के मन्त्रिपरिषद् के प्रधान की होती है ।

प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है, वह मन्त्रियों का चुनाव करता है और आवश्यकता पड़ने पर किसी भी मन्त्री को इस्तीफा देने के लिए मजबूर कर सकता है । इस प्रकार मन्त्रिमण्डल के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री ही शासन-शक्ति का केन्द्र होता है, स्विस पद्धति के अन्तर्गत इसी केन्द्र का अभाव होता है ।

बहुसंख्यक कार्यपालिका शासन-शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध एक विशेष गारण्टी है । एक ही स्थान पर राज्य-शक्ति के केन्द्रीकरण के फलस्वरूप उसके अनियन्त्रित हो जाने की आशंका रहती है । बहुसंख्यक कार्यपालिका के फलस्वरूप कार्यपालिका के अधिनायकतन्त्र की स्थापना की बहुत कम सम्भावना रहती है । फ्रांस में १८७१ ई० में बहुसंख्यक कार्यपालिका की स्थापना इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की गई थी । जन स्वातन्त्र्य तथा विधानपालिका के अधिकार बहुसंख्यक कार्यपालिका के अन्तर्गत अधिक सुरक्षित समझे जाते हैं । अनुभव के आधार पर भी बहुसंख्यक कार्यपालिका पर्याप्त सफल सिद्ध हुई है, इस विषय में स्विट्ज़रलैण्ड का उदाहरण दिया जाता है ।

परन्तु हैमिल्टन तथा वूल्ज़े इत्यादि विचारकों ने बहुसंख्यक कार्यपालिका को प्रशासकीय दृष्टि से असफल माना है । हैमिल्टन का कथन है कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि बहुसंख्यक कार्यपालिका का प्रयोग असफल रहा है । उसने इस विषय में ऐकियन लीग तथा पुराने रोम से कान्सलों तथा सैनिक ट्रिब्यूनों के उदाहरण दिये हैं ।

१३०. कार्यपालिका के अध्यक्ष के चुनाव के प्रकार

कार्यपालिका के निर्वाचन के अनेक प्रकार हैं । प्राचीन तथा नवीन युग में पाये जाने वाली इन चुनाव-पद्धतियों को इस प्रकार रखा जा सकता है—

(१) आनुवंशिक व्यवस्था (The system of hereditary succession) ।

(२) जनता द्वारा प्रत्यक्ष चुनाव (The system of direct election by the people) ।

(३) निर्वाचक मण्डल द्वारा अप्रत्यक्ष चुनाव (The system of indirect election by an electoral college) ।

(४) विधानपालिका द्वारा चुनाव (The election by the legislature) ।

(५) नामजदगी (Nomination) ।

आनुवंशिक शासक (Hereditary Executive)—आनुवंशिक शासक

की व्यवस्था के जन्म का जिक्र हम पीछे भी कर आये हैं। आज भी अनेक ऐसे राज्य हैं जहाँ पैतृक उत्तराधिकार की व्यवस्था मौजूद है। इसके अन्तर्गत सम्राट् की मृत्यु के अनन्तर उसका सब से बड़ा पुत्र शासनाधिकारी होता है। इंग्लैण्ड में तथा अन्य राजतन्त्रात्मक राज्यों में ऐसी अवस्था का ही प्रचलन है। राजतन्त्र की व्यवस्था का जन्म प्रारम्भिक समाज में युद्ध के फलस्वरूप तथा पितृसत्ताक परिवारों में महापितर की अबाध शक्ति के आधार पर हुआ। बाद में राजतन्त्र की इसी व्यवस्था को दैवीय आधार दिया गया। प्रायः सर्वत्र राजा को ईश्वर-पुत्र या दैवीय शक्ति का प्रतिनिधि माना जाने लगा। जापान, चीन, ईरान, भारत तथा अन्य अनेक पूर्वी तथा पश्चिमी राजाओं की दिव्य प्रकृति के अनेक सिद्धान्त मिल जाते हैं। सैद्धान्तिक रूप से तो राजतन्त्र के अन्तर्गत राजाओं को अबाध शक्ति के प्रयोग का अधिकार होता था, परन्तु व्यावहारिक रूप से उनकी कार्यवाहियाँ रीति-रिवाज, धर्म, आडम्बर इत्यादि से सीमित होती थी। पुराने युग में राजतन्त्र के साथ-साथ एक ऐसे कुलीन वर्ग का जन्म भी हो जाता था कि जिसके सहयोग से राजा शासन-कार्य चलाता था और जो उसके साथ-साथ भौतिक सुख सुविधाओं में हिस्सा बँटाता था।

राजतन्त्र के गुणावगुण का विवेचन तो हम पीछे कर आये हैं। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि अनेक आधुनिक विचारक अभी भी राजतन्त्र को एक श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था समझते हैं। उनका कथन है कि राजतन्त्र के अन्तर्गत जनता में राज्य-व्यवस्था तथा कानून के प्रति सहज श्रद्धा की भावना होती है, एक निर्वाचित जन प्रतिनिधि के प्रति लोग श्रद्धास्पद नहीं हो सकते। सर हेनरी मैने, बेजहाट, टाड तथा ब्लंशली इत्यादि ने कार्यपालिका के चुनाव की उपर्युक्त व्यवस्था का समर्थन किया है। परन्तु आज आनुवंशिक राजतन्त्र को अप्रजातान्त्रिक समझा जाता है, अनुभव के आधार पर भी इसकी कड़ी आलोचना की जाती है। संवैधानिक या नाम मात्र के राजतन्त्र की व्यवस्था तो अनेक देशों में होगी, परन्तु निरंकुश राजतन्त्र के तो थोड़े से ही उदाहरण मिलते हैं। बादशाह इब्न सऊद व अफगानिस्तान का बादशाह वास्तविक अर्थ में राजतन्त्र के अन्तर्गत आते हैं, परन्तु अन्यत्र तो निरंकुश राजतन्त्र के दिन खत्म हो आये हैं।

जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन (Direct election by people)—लेटिन अमेरिका के बोलिविया, चिली, मैक्सिको, ब्राजील तथा पीरू इत्यादि राज्यों में कार्यपालिका के अध्यक्ष का चुनाव जनसामान्य द्वारा होता है, परन्तु जनता द्वारा प्रत्यक्ष चुनाव एक सैद्धान्तिक कार्यवाही मात्र ही है। हाँ, संयुक्त राज्य अमेरिका में अवश्य ही कुछ राज्यों में राज्यपालों (Governors) का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा ही होता है। जर्मनी के वियमर संविधान (Weimer constitution) के अन्तर्गत संघ राज्य के प्रधान के प्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था की गई थी। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में राष्ट्रपति से अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की गई थी परन्तु व्यावहारिक रूप में अब उसका चुनाव प्रत्यक्ष हो गया है। भारत में भी राष्ट्रपति के प्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था पर पर्याप्त बहस हुई थी और अनेक नेताओं ने

राष्ट्रपति के प्रत्यक्ष निर्वाचन का समर्थन किया था, परन्तु अन्त में उसे पार्लियामैण्ट्री सरकार के लिए अनुपयुक्त समझ छोड़ दिया गया।

प्रत्यक्ष चुनाव के समर्थकों का कथन है कि यह व्यवस्था जनसाधारण में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करती है, उसमें शासन के कार्य के प्रति दिलचस्पी पैदा करती है। दूसरा, यह व्यवस्था जन-सम्मत प्रभुता तथा प्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के अनुकूल है। जनसाधारण ऐसे प्रतिनिधि का निर्वाचन करता है जिसमें उसे विश्वास होता है।

परन्तु इस व्यवस्था के अनेक आलोचक भी हैं। जब संयुक्त राज्य अमेरिका में इस व्यवस्था के प्रचलन की माँग की गई थी तो उस समय इस की कड़ी आलोचना की गई। सर्वप्रथम तो यह माना जाता है कि साधारणतया जनता राष्ट्रपति जैसे महत्त्वपूर्ण पद के लिए चुनाव लड़ने वाले व्यक्तियों के गुण-दोष की समीक्षा करने में सर्वथा अयोग्य होती है। मेसन ने तो यहाँ तक कह डाला है कि, **"राष्ट्रपति पद के लिए योग्य व्यक्ति के चुनाव के सवाल को जनता के सामने रखना ऐसा ही होगा जैसे रंगों की परीक्षा के लिए किसी अन्धे व्यक्ति को आमन्त्रित किया जाना।"**[1]

जनसाधारण चतुर वक्ताओं, दुष्ट तथा शरारती नेताओं और प्रचार के अन्य साधनों द्वारा प्रभावित हो अपने वास्तविक विचारों को ही खो बैठते हैं। वह चुनाव में अपने स्वतन्त्र मत का तो प्रयोग ही नहीं कर पाते, वे तर्क से काम न ले भावावेश से काम लेते हैं।

अतः यह साधन जन-साधारण को राजनीतिक चेतना-सम्पन्न बनाने की जगह उनमें भ्रम तथा असत्य का प्रचार करता है। राजनीतिक पार्टियाँ ऐसे समय में बहुत ही सक्रिय हो जाती हैं और वह राज्य को विभिन्न विरोधी समुदायों में बाँट देती हैं। प्रत्यक्ष चुनाव के दौरान में दल-बन्दी की भावना बहुत जोर पकड़ जाती है, जो राष्ट्रीय हित के लिए बहुत खतरनाक होती है। विशाल राज्यों में तो यह व्यवस्था और भी अधिक अव्यावहारिक है। इसमें खर्च भी बहुत होता है, संयुक्त राज्य अमेरिका में होने वाले राष्ट्रपति के चुनाव से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रणाली बहुत ही खर्चीली है। वहाँ उम्मेदवारों को पानी की तरह धन बहाना पड़ता है। चुनाव-काल वस्तुतः उपद्रव तथा नैतिक भ्रष्टता और दुराचार का काल बन जाता है, मिल ने इस व्यवस्था का तीव्र विरोध किया है। शासन का कार्य जनसामान्य में सद्गुण, बुद्धि तथा विवेक को जाग्रत करना है। परन्तु प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था भ्रष्टाचार की जनक है, अतः मिल के मतानुसार उसका त्याग आवश्यक है। फिर जनसामान्य द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली के प्रयोग से चुने गये राष्ट्रपति के अधिनायक बन जाने की सम्भावना रहती है, क्योंकि उसे यह यकीन होता है कि उसे लोकमत का समर्थन प्राप्त है। नैपोलियन तृतीय ने लोकसम्मत चुनाव-पद्धति द्वारा ही निर्वाचित हो फ्रांस में साम्राज्य की

1. "It would be as unnatural to refer the choice of a proper person for President to the people, as to refer a trial of colours to a blind man."—*Mason.*

स्थापना की थी । वीर-पूजा की भावना जिन राज्यों में होती है, वहाँ यह पद्धति अवश्य ही बहुत त्रुटिपूर्ण रहती है । भारत जैसे विशाल राज्य में, जनता के अशिक्षित होने के कारण इस साधन का बहुत ही दुरुपयोग किया जा सकता है । भारतीय संविधान के निर्माताओं ने अच्छा ही किया कि इस प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था को छोड़ दिया । यह व्यवस्था छोटे-छोटे देशों में भले ही सफल हो सके, परन्तु बड़े-बड़े राज्यों में ऐसा सम्भव नहीं ।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन—प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली के स्थान पर अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था इसलिए की जाती है कि यह समझा जाता है कि इसमें वे सब दोष मौजूद नहीं होते जो कि प्रत्यक्ष निर्वाचन-व्यवस्था में मिलते हैं । अतः इस प्रणाली का सर्वाधिक प्रचार हुआ । संयुक्त राज्य अमेरिका के अतिरिक्त अर्जेण्टाइन स्पेन इत्यादि राज्यों में इसी प्रणाली को अपनाया गया । संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति के अप्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था की गई थी । इस व्यवस्था के अनुसार प्रेज़ीडेण्ट के निर्वाचन के लिए एक निर्वाचक-मण्डल की व्यवस्था की जाती थी । प्रत्येक राज्य अपने प्रतिनिधि इस निर्वाचक मण्डल (Electoral college) में भेजता है, वे राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं ।

इस प्रणाली को इसलिए अच्छा कहा जाता है कि इसमें जनता स्वयं राष्ट्रपति का चुनाव नहीं करती, वह अपने प्रतिनिधि चुनती है । ये प्रतिनिधि जनसाधारण की अपेक्षा अधिक समझदार होते हैं, वे सुशिक्षित तथा अनुभवी होती है । अतः वे उपयुक्त व्यक्ति को ही राष्ट्रपति निर्वाचित करते हैं । इन निर्वाचकों पर दलगत प्रचार का असर नहीं पड़ता, न ही वे राजनीतिक नेताओं से प्रभावित होते हैं, वे स्वतन्त्र मत का प्रयोग कर सकते हैं । यह व्यवस्था उपद्रवकारी भी नहीं होती । राष्ट्रपति का निर्वाचन शान्तिपूर्वक हो जाता है । निर्वाचकों की संख्या कम होती है अतः स्वाभाविक रूप से ही वे विवेक का प्रयोग कर सकते हैं और भावावेश में नही आते ।

अमेरिकन विचारक हैमिल्टन ने संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति के चुनाव की अप्रत्यक्ष प्रणाली का जिक्र करते हुए कहा कि **"राष्ट्रपति के प्रत्यक्ष चुनाव की अपेक्षा एक निर्वाचक-मण्डल के चुनाव से समाज में कम अशान्ति तथा अव्यवस्था पैदा होगी । राष्ट्रपति का चुनाव ऐसे योग्य तथा बुद्धिसम्पन्न लोगों द्वारा होना चाहिए जो उस पद के लिए आवश्यक गुणों को समझ सकें । जनसाधारण द्वारा चुने हुये थोड़े से मतदातओं में ऐसी विवेक बुद्धि तथा ज्ञान के होने की सम्भावना होती है, जोकि ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य को अच्छी तरह करने के लिए जरूरी है ।"**[1]

1. "The choice of several to form an intermediate body of electors will be much less apt to convulse the community with any extraordinary and violent movements than the choice of one who was himself to be the final object of the public wishes. It was desirable that the immediate election should be made by men most capable of analyzing the qualities adapted to the station. A small number of persons selected by their fellow-citizens from the general mass will be most likely to possess the information and discernment requisite to so complicated an investigation."—*Hamilton.*

परन्तु राजनीतिक पार्टियों की व्यवस्था के विकास के फलस्वरूप अप्रत्यक्ष निर्वाचन की यह व्यवस्था वस्तुतः अब प्रत्यक्ष निर्वाचन में बदल गयी है । इस कारण प्रत्येक निर्वाचक अपने दल के उम्मीदवार को वोट देने के लिए वचनबद्ध होता है, वह अपने मत का स्वतन्त्र प्रयोग करने में असमर्थ होता है । संयुक्त राज्य में पार्टी व्यवस्था के जन्म के फलस्वरूप अप्रत्यक्ष चुनाव की प्रणाली के सम्पूर्ण लाभ विनष्ट हो गये हैं ।

विधानपालिका द्वारा चुनाव (Election by legislature)—अप्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था का एक अन्य रूप विधानपालिका द्वारा चुनाव है । भारत के संविधान के अनुसार राष्ट्रपति का चुनाव विधानपालिका के दोनों सदनों के और राज्य विधानपालिकाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा होता है । स्विट्ज़रलैण्ड में भी कार्यपालिका का चुनाव विधानपालिका द्वारा होता है । फ्रांस मे भी इसी प्रणाली का अनुसरण किया जाता है । संयुक्त राज्य अमेरिका में अनेक राज्यों में किसी भी उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत न मिलने पर विधानपालिकाएँ ही कार्यपालिका के अध्यक्ष का निर्वाचन करती हैं ।

इस चुनाव-प्रणाली की अनेक विशेषताएँ मानी जाती हैं, कार्यपालिका कानूनों को लागू करती है, और विधानपालिका उन्हें बनाती है । इस चुनाव-प्रणाली द्वारा दोनों में सामंजस्य उत्पन्न हो जाता है । इस चुनाव-व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यपालिका के चुनाव में वही लोग भाग लेते हैं जो अनुभवी राजनीतिज्ञ तथा विधान-निर्माता होते हैं । उन्हें सार्वजनिक जीवन का यथेष्ट अनुभव होता है और वह एक अच्छे शासक के आवश्यक गुणों से परिचित होते हैं अतः वे पर्याप्त बुद्धिमत्ता और विवेक से ही कार्यपालिका का चुनाव करते हैं ।

परन्तु इस व्यवस्था को पर्याप्त दोषपूर्ण भी बतलाया जाता है । सर्वप्रथम तो इस व्यवस्था द्वारा शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को भंग किया जाता है । विधानपालिका का कार्य मुख्य रूप से कानून बनाना है न कि कार्यपालिका का चुनाव करना । इस प्रकार विधानपालिका अपने मुख्य कार्य को छोड़ पार्टीबाजी का शिकार बन कार्यपालिका के चुनाव में पर्याप्त समय खो देती है । फिर यह व्यवस्था कार्यपालिका की स्वतन्त्रता को भी विनष्ट करती है, कार्यपालिका विधानपालिका की एजेण्ट मात्र ही रह जाती है । अनुभव यह बतलाता है कि जहाँ कहीं विधानपालिका कार्यपालिका के अध्यक्ष का चुनाव करती है, वहाँ कमजोर या साधारण दर्जे के व्यक्तियों को चुनने की ही प्रवृत्ति रहती है । असाधारण व्यक्तित्व सम्पन्न, गुणवान व्यक्तियों का चुनाव ठीक नहीं समझा जाता । जहाँ पार्लियामेण्ट्री सरकार की व्यवस्था नहीं, वहाँ कार्यपालिका के अध्यक्ष के निर्वाचन के समय अनेक भ्रष्ट साधनों का प्रयोग किया जा सकता है । विधानपालिकाओं द्वारा अप्रत्यक्ष चुनाव बाह्य साधनों से प्रभावित किया जाता है । सदस्यों की स्वतन्त्रता खत्म की जा सकती है और उनका प्रयोग निहित स्वार्थों द्वारा अपने हितों की सुरक्षा के लिए किया जा सकता है । एक बार निर्वाचित हो जाने के अनन्तर अध्यक्ष अपने पुनर्निर्वाचन के लिए विधानपालिका के सदस्यों को अनुचित

ढंग से खुश करने का प्रयत्न कर सकता है। परन्तु इन दोषों के होते हुए भी आजकल संयुक्त राज्य अमेरिका तथा उस से प्रभावित लेटिन अमेरिकन राज्यों को छोड़ अन्यत्र प्रायः सभी जगह इस प्रणाली का अनुसरण किया जाता है। पार्लियामेण्ट्री शासन-प्रणाली के अन्तर्गत वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रीमण्डल) का चुनाव संसद् द्वारा ही किया जाता है। सांसद शासन प्रणाली के अन्तर्गत यद्यपि शक्ति विभाजन को पूर्णतया नहीं माना जाता फिर भी सुशासन में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता।

नामजदगी (Nomination)—कार्यपालिका के अध्यक्ष को नामजद (Nominate) भी किया जासकता है, परन्तु नामजदगी की व्यवस्था केवल अधीन राज्यो के लिए ही की जा सकती है। १९४७ से पूर्व भारत के सर्वप्रमुख शासक गर्वनर-जनलर की नामजदगी ब्रिटिश सम्राट द्वारा की जाती थी। आज भी ब्रिटिश उपनिवेश, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड इत्यादि में गर्वनर-जनरल की नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट द्वारा की जाती है। इस व्यवस्था के पक्ष में यह तर्क पेश किया जाता है कि इस द्वारा उपयुक्ततम व्यक्ति का निर्वाचन किया जा सकता है, परन्तु ऐसे व्यक्ति को स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त नही होते; न ही यह व्यवस्था स्वतन्त्र तथा प्रजा-तन्त्रवादी राज्यों में लागू की जा सकती है।

१३१. कार्यपालिका के अध्यक्ष की पदावधि (Term of office)

वंशानुगत कार्यपालिका को छोड़ अन्यत्र सभी जगह अध्यक्ष की पदावधि निश्चित होती है। यह अवधि क्या होनी चाहिए इस विषय में पर्याप्त मतभेद है। व्यवहार रूप में कार्यपालिका के अध्यक्ष की अवधि एक वर्ष से सात वर्ष तक होती है। भारत में नये संविधात के अन्तर्गत राष्ट्रपति का चुनाव ५ वर्ष के लिए किया जाता है जब कि फ्रांस में सात वर्ष के लिए। सयुक्त राज्य अमेरिका मे राष्ट्रपति चार वर्ष के लिए निर्वाचित होता है जब कि कुछ राज्यों में अध्यक्ष की अवधि केवल २ साल मात्र ही है।

हैमिल्टन तथा न्यायाधीश स्टोरी का मत है कि राष्ट्रपति का कार्यकाल पर्याप्त दीर्घ होना चाहिए। दीर्घ कार्यविधि के प्रमुख गुण हैं—कार्यपालिका की स्वतन्त्रता स्थिरता एवं नीति-निरन्तरता तथा अनुभव सम्बन्धी लाभ। हैमिल्टन का मत है कि सुशासन तथा नीति-निरन्तरता के लिए दीर्घ पदावधि होनी चाहिए। दीर्घ पदावधि द्वारा बार-बार होने वाले चुनावों के खर्च तथा संघर्ष को भी खत्म किया जा सकता है।

इसके विपरीत दीर्घकालीन कार्यावधि का विरोध भी किया जाता है और यह कहा जाता है कि दीर्घ कार्यावधि अध्यक्ष को उत्तरदायित्व-विहीन बना देती है। दीर्घकाल के लिए निर्वाचित अध्यक्ष अपनी स्थिति को मजबूत कर प्रजातन्त्र को विनष्ट कर राजतन्त्र की स्थापना कर सकता है। इस विषय में नैपोलियन का उदाहरण दिया जाता है, वह दस वर्ष के लिए चुना गया था, उसने अपनी दीर्घ कार्यावधि का दुरुपयोग किया और अपने आपको फ्रांस का सम्राट

घोषित कर दिया । अतः दीर्घकालीन कार्यावधि के अन्तर्गत शासन-शक्ति के दुरुपयोग किये जाने का अवसर रहता है ।

दूसरी ओर अल्पकालीन कार्यावधि दुर्बल अनिश्चयपूर्ण तथा अनुभव-विहीन होती है । अगर राष्ट्रपति का चुनाव केवल दो साल के लिए ही हो तो न तो वह कोई नयी नीति का ही अनुकरण कर सकता है और न वह नीति में नैरन्तर्य तथा शक्ति ला सकता है । अनुभवहीनता के कारण वह सदा ही दुविधा में रहेगा । अल्पकालीन कार्यपालिका अपने कर्त्तव्यों के पालन में विशेष दिलचस्पी भी नहीं ले सकेगी । उसका एक मात्र उद्देश्य होगा अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाना । इस कारण वह भ्रष्ट तथा कमजोर कार्यपालिका बन जाएगी ।

अतः यह कहा जाता है कि कार्यपालिका के अध्यक्ष का कार्य-काल न तो बहुत लम्बा ही हो और न बहुत छोटा ही । आदर्श काल चार-पाँच वर्ष माना जाता है ।

कार्यावधि के साथ-साथ ही पुनर्निर्वाचन का प्रश्न भी आ जाता है । क्या कार्यपालिका के अध्यक्ष के पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था होनी चाहिए ? संयुक्त राज्य अमेरिका में संविधान के अनुसार कार्यपालिका के प्रधान का अनिश्चित काल तक पुनर्निर्वाचन हो सकता था जब कि मैक्सिको में पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था नही मिलती । संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंग्टन ने राष्ट्रपति पद के लिए दो बार चुनाव लड़ा और दोनों बार सफल हुए, परन्तु तीसरी बार उन्होंने चुनाव लड़ने से इनकार कर दिया । तब से वहाँ यह रिवाज ही चल पड़ा था कि एक प्रेजिडेण्ट को केवल दो कार्य-काल के लिए ही राष्ट्रपति पद पर आसीन रहना चाहिए । वह रिवाज संविधान का एक अलिखित हिस्सा बन गया जिसे प्रेजिडेण्ट रूजवेल्ट ने द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान में तोड़ा । अब संवैधानिक संशोधन द्वारा राष्ट्रपति पद की अवधि दो कार्य-काल तक सीमित कर दी गयी है । भारत के संविधान के अनुसार राष्ट्रपति पद के लिए पुनर्निवाचन पर कोई पाबन्दी नहीं है ।

एक ही कार्य-काल तथा पुनर्निर्वाचन पर पाबन्दी के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क यह है कि इससे वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाओं पर पाबन्दी लग जाती है । पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था के फलस्वरूप अध्यक्ष अपने पद का दुरूपयोग करता है, वह अपने कार्य-काल के उत्तरार्द्ध में कार्यपालिका सम्बन्धी कर्त्तव्यों का पालन न कर अपने पुनर्निर्वाचन के लिए प्रयत्नशील रहता है । बहुमत को अपने पक्ष में रखने के लिए वह अनेक अनुचित साधनों का प्रयोग कर सकता है । इन सब त्रुटियों से छुटकारा पाने का एक ही ढंग है, वह यह कि पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था ही न रखी जाए ।

इसके विपरीत पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था का बड़े जोर से समर्थन भी किया जाता है । हैमिल्टन ने इस व्यवस्था का समर्थन इन शब्दों में किया है कि "**राष्ट्रपति के पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था की परम आवश्यकता है, क्योंकि इससे जनता, जब कि वह इसके आचार तथा व्यवहार से सन्तुष्ट हो, उसके अपने पद पर बनाए रखकर उसकी प्रतिभा-निपुणता तथा शासन-चातुर्य का लाभ उठा सकती है, और इससे उत्तम शासन-

प्रबन्ध में स्थिरता तथा निरन्तरता की प्रतिष्ठा करने में सहायता मिल सकती है।"[1] इस व्यवस्था के अभाव में जनता अपने योग्य, अनुभवी तथा प्रतिभाशाली शासकों की सेवाओं से वंचित हो जाती है। जहाँ कार्य-काल की अवधि छोटी हो वहाँ तो यह व्यवस्था विशेष रूप से उपयोगी होती है, क्योंकि कार्यपालिका का मुखिया अपने कार्यकाल के प्रारम्भिक समय में तो शासन-संचालन की मशीनरी से परिचित ही हो पाता है जब कि उसकी अवधि समाप्त हो जाती है। इस अवस्था में वह पुनः निर्वाचित हो अपने दूसरे कार्य-काल में अधिक मुस्तैदी से और कुशलतापूर्वक कार्य कर सकता है। जनता के विश्वासपात्र व्यक्तियों को शासन-संचालन के लिए पुनर्निर्वाचन का अवसर दिया ही जाना चाहिए। कार्य काल के सीमित होने का कारण तथा पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था के अभाव में राष्ट्रपति अपने पद का अनुचित प्रयोग करने से भी नही सकचाता। जन-सेवाओं के लिए पुरस्कार पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था के रूप में दिया जा सकता है। एक अध्यक्ष जो यह जानता है कि उसे पुनर्निवाचन का अवसर मिल सकता है, वह अपनी आकांक्षाओं को दबा सकता है, वह भौतिक सुख-सुविधा की परवाह न कर निशंक हो अपना कर्त्तव्य-पालन करता है। युद्ध इत्यादि संकटकालीन स्थितियों का मुकाबला करने के लिए कुछ विशेष व्यक्ति ही उपयुक्त होते हैं, सभी नहीं। अगर ऐसे समय पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था न हो तो पर्याप्त कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। द्वितीय विश्व-युद्ध के दोरान में अगर प्रेज़िडेण्ट रूज़वेल्ट तृतीय बार राष्ट्रपति निर्वाचित न हो सकते तो बहुत सम्भव है अमेरिका की युद्ध-नीति में और उसके युद्ध-संचालन में पर्याप्त परिवर्तन हो जाता।

निष्कर्ष— उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था के गुण और दोष दोनों ही हैं। एक स्वस्थ तथा समुचित व्यवस्था के निर्माण के लिए हमे दो बातों का ध्यान रखना चाहिए, प्रथम तो हमें यह देखना चाहिए कि राष्ट्रपति का कार्य-काल क्या है। यदि कार्य-काल लम्बा है, राष्ट्रपति सात वर्ष के लिए चुना जाता है तो पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था का अभाव ही अधिक उपयोगी हो सकता है। इसके विपरीत यदि कार्य-काल छोटा होता है तो एक या दो बार पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था हो सकती है। दूसरा अगर राष्ट्रपति को पर्याप्त शासन-शक्ति प्राप्त है तो उस हालत में पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था को सीमित रखा जा सकता है और अगर वह नाम मात्र का ही मुखिया है तो पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था में कोई नुक्सान नहीं हो सकता।

जहाँ विधानपालिका को राष्ट्रपति पर आरोप लगाने या हटाने का अधिकार होता है, वहाँ राष्ट्रपति के पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था रखी जा सकती है, क्योंकि ऐसी हालत में राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का प्रयोग सोच-समझकर ही करेगा। जहाँ कहीं राष्ट्रपति को असीम अधिकार नहीं दिये जाते और उसे कुछ विशेष शक्तियों के

1. The re-eligibility of the executive is necessary to "enable the people, when they see reason to approve of his conduct, to continue to him in the station in order to prolong the utility of his talents and virtues, and to secure to the government the advantage of the permanency in a wise system of administration."—*Hamilton*.

प्रयोग में विधानपालिका के अधीन रहना पड़ता है, वहाँ भी पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था की जा सकती है। कार्यपालिका के संगठन का आधार उत्तरदायित्व की व्यवस्था के साथ-साथ शासन-नीति की निरन्तरता और अविच्छिन्नता होनी चाहिए। नित्य नये शासक बदलते रहने से न तो शासन-नीति ही स्थिर हो पाती है और न ही शासन-तन्त्र वास्तविक अर्थ में प्रजातन्त्रात्मक रह जाता है। शासकों के बदलते रहने से वास्तविक शासन-शक्ति जन प्रतिनिधियों के हाथ मे न रहकर नौकरशाही के हाथ में चली जाती है।

१३२. कार्यपालिका के कर्त्तव्य (Functions of the Executive)

कार्यपालिका के कर्त्तव्य राज्य के प्रकृति के अनुसार बदलते रहते है, अधिक वैज्ञानिक भाषा में हम यूँ कह सकते हैं कि सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तन के अनुसार कार्यपालिका के कर्त्तव्य बदलते जाते है। पुराने जमाने ने राजनीतिक चेतना के अभाव में राजतन्त्र के अन्तर्गत शासनतन्त्र केवल मात्र सैनिक कर्त्तव्यों को ही पूर्ण करता था। उसका कार्य राज्य-सत्ता को बनाये रखना और देश को विदेशी आक्रमण से बचाना मात्र था, उसके कर्तव्यों का रूप निषेधात्मक (Negative) था। वह जन-कल्याण के कार्यो को नही निभाता था।

परन्तु सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तन के फलस्वरूप आज राज्यों के कर्त्तव्यों में बहुत परिवर्तन हो गया है। आज राज्य का पुराना निषेधात्मक रूप स्वीकार नहीं किया जाता, आज राज्य जनकल्याण की एक प्रमुख एजेन्सी है। ऐसी अवस्था में उसका उद्देश्य जन-सामान्य की नैतिक तथा भौतिक उन्नति है। वह व्यक्ति के व्यक्तित्व के उच्चतम विकास का एक प्रमुख साधन है। यह ठीक है कि अभी सर्वत्र जन-कल्याणात्मक राज्य (Social welfare state) का सामान्य रूप से एक जैसा विकास नहीं हो पाया। अतः विभिन्न राज्यो में शासन के विभिन्न कर्त्तव्य है, वे एक जैसे नही।

डॉ० गार्नर के मतानुसार आजकल कार्यपालिका निम्नलिखित आवश्यक कर्तव्यों का पालन करती है—

(१) कूटनीतिक कर्त्तव्य (Diplomatic)।
(२) प्रशासनात्मक कर्त्तव्य (Administrative)।
(३) सैनिक कर्त्तव्य (Military)।
(४) न्याय सम्बन्धी कार्य (Judicial)।
(५) विधान-निर्माण सम्बन्धों कर्त्तव्य (Legislative)।

अब हम इन सभी कर्तव्यों का विस्तारपूर्वक विवरण देंगे—

(१) कूटनीतिक कर्त्तव्य—प्रत्येक राज्य अपने आप में पूर्ण नहीं, वह दूसरे राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करता है। इन सम्बन्धों की देख-भाल और उनकीस्था पना कार्यपालिका करती है। कार्यपालिका का अध्यक्ष अन्य राज्यों से सन्धियाँ करता है, दूसरे देशों में राजदूत भेजता है और अन्य देशों के राजदूतों के प्रमाण-पत्र स्वीकार

करता है। अनेक बार अन्य सरकारों को मान्यता प्रदान करता है, युद्ध-घोषणा करता है, शान्ति सन्धि कर युद्ध-समाप्ति की घोषणा करता है। प्रत्येक सरकार का एक विदेश विभाग होता है जिसका नियन्त्रण विदेश मन्त्री करता है। यह विदेश विभाग ही सम्पूर्ण कूटनीतिक सम्बन्धों के व्यवस्थापन के लिए जिम्मेवार होता है।

विदेशी सम्बन्धों पर विधानपालिका का भी नियन्त्रण रहता है। इस नियन्त्रण की सीमा अवश्य ही सभी राज्यों में एक-सी नहीं होती। संयुक्त राज्य अमेरिका में विधानपालिका का द्वितीय सदन-सीनेट प्रेज़िडेण्ट की वैदेशिक नीति को पर्याप्त नियन्त्रित करता है। राष्ट्रपति द्वारा की गई राजदूतों की नियुक्तियाँ सीनेट द्वारा स्वीकार की जाने पर ही स्थायी समझी जाती हैं, सन्धियों के सम्बन्ध में भी राष्ट्रपति पर सीनेट नियन्त्रण करती है। अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की सभी सन्धियाँ तब तक कानून नहीं बन पातीं जब तक कि सीनेट उनके लिए अपनी स्वीकृति नहीं दे देती। प्रेज़िडेण्ट विल्सन वर्साई की शान्ति सन्धि के लिए जिम्मेवार थे, उन्हीं की प्रेरणा के फलस्वरूप राष्ट्रसंघ (League of Nations) की स्थापना की गई थी; परन्तु सीनेट ने विल्सन की सम्पूर्ण योजना को अस्वीकार कर दिया था।

संयुक्त राज्य अमेरिका के अतिरिक्त फ्रांस, जर्मनी तथा फिनलैण्ड इत्यादि में भी सभी महत्त्वपूर्ण सन्धियों के लिए विधानपालिका की स्वीकृति आवश्यक समझी जाती है। परन्तु अन्य विधानपालिकाएँ इस अधिकार को इतनी मजबूती से प्रयोग नहीं कर सकतीं जितनी कि अमेरिकन सीनेट।

ग्रेट ब्रिटेन में कूटनीतिक सम्बन्धों का प्रशासन पूर्णतया कार्यपालिका के हाथ में है। पीछे मजदूर दल के निरन्तर आन्दोलन के फलस्वरूप अब पार्लियामेण्ट को भी विदेशी नीति सम्बन्धी कुछ नियन्त्रण मिल गया है, और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और उच्च नैतिक आदर्शों से प्रेरित सन्धियों पर पार्लियामेण्ट के विचारों को जानने का प्रयत्न भी किया जाता है। अन्य राज्यों में भी विधानपालिकाएँ अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सन्धियों को मान्यता प्रदान करती हैं। आजकल प्रायः यह बात सर्वत्र स्वीकार की जाने लगी है कि कूटनीतिक सम्बन्धों तथा सन्धियों पर लोक-प्रतिनिधियों को निषेधात्मक नियन्त्रण का अधिकार अवश्य होना चाहिए। स्विट्ज़रलैण्ड में तो पन्द्रह वर्ष से अधिक काल तक लागू रहने वाली सन्धियों के लिए मत-संग्रह (Referendum) द्वारा जन-मत की स्वीकृति ली जाती है।

(२) **प्रशासनात्मक कार्य**—के अन्तर्गत कार्यपालिका के आन्तरिक व्यवस्था-स्थापना सम्बन्धी कर्त्तव्य आ जाते हैं। राज्य का कर्तव्य आन्तरिक शान्ति तथा व्यवस्था को बनाये रखना है, इस कार्य की पूर्ति के लिए कार्यपालिका को कानून लागू करने होते हैं। अपने उद्देश्य की पूर्ति के अर्थ राष्ट्रपति या कार्यपालिका का अध्यक्ष अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकारियों की नियुक्ति करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति कानूनों को लागू करने के लिए अनेक उच्चाधिकारियों की नियुक्ति करता है, वह अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है जो विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते हैं और जो अपने सम्पूर्ण कार्यों के लिए उसके प्रति जिम्मेवार होते हैं।

न्यायाधीशों की नियुक्ति भी वह स्वयं करता है। निश्चय ही इस विषय में उसे अबाध और असीम अधिकार नहीं। सभी महत्त्वपूर्ण नियुक्तियों के लिए सीनेट—अमेरिकन विधानपालिका के दूसरे सदन—की स्वीकृति लेनी पड़ती है। साधारण अधिकारियों की नियुक्ति के लिए अब एक अन्य कानूनी व्यवस्था की गई है जिसके अन्तर्गत प्रतियोगिता द्वारा सरकारी अधिकारियों का चुनाव किया जाता है। प्रतियोगिता द्वारा चुने गये अधिकारियों की पदाविधि, वेतन तथा अन्य सुविधाएँ कानून द्वारा निश्चित कर दी जाती हैं, जिन्हें साधारणतया राष्ट्रपति नहीं हटा सकता। अन्य उच्चाधिकारियों को अवश्य ही वह बिना सीनेट की सलाह के हटा सकता है, यह बात अब अन्तिम रूप से निश्चित हो चुकी है। न्यायाधीशों को वह तभी हटा सकता है जब काँग्रेस इस विषय में स्वीकृति दे दे।

सांसद शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल को पर्याप्त शासकीय अधिकार प्राप्त होते हैं। छोटे प्रशासकीय अधिकारों की नियुक्ति की प्रतियोगात्मक व्यवस्था के फलस्वरूप मन्त्रिमण्डल की एतद्विषयक शक्तियाँ कुछ हद तक सीमित हो गई हैं। परन्तु मन्त्रिमण्डल अपने निम्न दर्जे के अधिकारियों को ही नहीं अपितु उच्चाधिकारियों को भी आदेश देने का अधिकार रखते हैं। मन्त्रिमण्डल ही समय-समय पर सम्पूर्ण प्रशासकीय कार्यवाही के संचालन के लिए नियम तथा उपनियम बनाते हैं।

इंग्लैण्ड तथा फ्रांस इत्यादि सांसद शासन-प्रणाली द्वारा शासित राज्यों में कार्यपालिका ही बजट तैयार करती है, यद्यपि उसकी अन्तिम स्वीकृति विधानपालिका देती है।

आज राज्य के स्वरूप में परिवर्तन होने के कारण शासनतन्त्र अनेक सार्वजनिक उपयोगिता के कार्यों को भी करता है। वह शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य, यातायात श्रमिक तथा औद्योगिक नियन्त्रण सम्बन्धी कार्यवाहियों को भी सम्पन्न करता है।

(३) **सैनिक कर्त्तव्य**—के अन्तर्गत सेना का संगठन तथा युद्ध-संचालन आता है। प्रत्येक राज्य में राज्य का मुखिया ही सेना का सर्वोच्च सेना-नायक होता है और वह सर्वोच्च सेनाधिकारियों की नियुक्ति करता है और हटाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत में राष्ट्रपति स्थल, जल तथा वायु सेनाओं का मुखिया होता है। वे संकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए मार्शल-ला (Martial Law) घोषित कर सकता है और नागरिकों के वैधानिक अधिकारों को स्थगित कर सकता है। अमेरिकन राष्ट्रपति संयुक्त राज्यों के हितों की रक्षा के लिए अमेरिकन सेना को विश्व के किसी भी भाग में भेज सकता है। यद्यपि युद्ध-घोषणा का अधिकार अमेरिकन प्रेज़िडेण्ट को प्राप्त नहीं तथापि वह कूटनीतिक सम्बन्धों के संचालन द्वारा ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकता है जिसमें विधानपालिका को युद्ध-घोषणा करनी ही पड़ती है। प्रेज़िडेण्ट विल्सन ने प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व ऐसी ही स्थिति पैदा कर दी थी कि विधानपालिका को युद्ध-घोषणा करनी ही पड़ी। फ्रांस इत्यादि अन्य राष्ट्रों में भी युद्ध-घोषणा के लिए विधानपालिका के दोनों सदनों की स्वीकृति लेनी पड़ती है। युद्ध-संचालन पर पर्याप्त खर्च होता है और उसकी स्वीकृति विधानपालिका ही दे सकती

है। युद्ध-संचालन के लिए विधानपालिका की स्वीकृति को प्राप्त कर लेने पर कार्य-पालिका अबाध शक्ति-सम्पन्न हो जाती है।

(४) **न्याय-पालन सम्बन्धी कार्य**—के अन्तर्गत न्यायालयों की स्थापना तथा न्यायाधीशों की नियुक्ति इत्यादि कार्य आ जाते हैं। प्रायः सर्वत्र न्याय-व्यवस्था का संगठन कार्यपालिका करती है, यद्यपि उसकी वैधानिक रूप-रेखा विधानपालिका द्वारा तैयार की जाती है। परन्तु कार्यपालिका का सर्वप्रमुख न्यायपालन सम्बन्धी अधिकार क्षमादान (Grant of pardon) या दयादान (Clemency) का है। इसी प्रकार मुक्तिदान (Amensty) का भी अधिकार विधानपालिका ही प्रयोग में लाती है। माण्टेस्क्यू इत्यादि कुछ विचारकों का ख्याल था कि न्यायालय सम्बन्धी यह महत्त्वपूर्ण अधिकार केवल राजतन्त्र के अन्तर्गत ही व्यवस्थित किया जाना चाहिए। परन्तु यह धारणा भ्रामक है क्योंकि इस व्यवस्था का आधार न्याय तथा मानवता है। न्यायव्यवस्था अपूर्ण होती है, कानूनों में दोष सम्भव है, वे पूर्ण नहीं होते। न्यायाधीश कानून की बारीकी को देखता है, वह दूसरे शब्दों में कानून का पूरी तरह अनुसरण करता है, वह मानवता तथा न्याय का आवश्यक नहीं कि अनुसरण करे। ऐसी अवस्था में निर्दोष व्यक्तियों को भी सजा हो सकती है। इसी कारण क्षमादान की व्यवस्था प्रजातन्त्र तथा राजतन्त्र सर्वत्र ही आवश्यक है, राजनीतिक अपराधियों के लिए तो इस व्यवस्था की और भी अधिक आवश्यकता होती है। आजकल इस अधिकार का प्रयोग कार्यपालिका के अध्यक्ष सलाहकार समिति की सलाह से ही करते हैं।

(५) **विधान-निर्माण सम्बन्धी कर्त्तव्य**—कार्यपालिका के विधान-निर्माण सम्बन्धी कार्यों की संख्या शासनतन्त्र की प्रकृति पर आश्रित होती है। पार्लियामेण्ट्री शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यपालिका तथा विधानपालिका में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध होते हैं। कार्यपालिका न केवल विधानपालिका के अधिवेशन ही बुलाती है, और उन्हें स्थापित करती है वह विधानपालिका के निचले सदन को तोड़ भी सकती है और उसके चुनाव भी करवाती है। कार्यपालिका के सभी सदस्य विधानपालिका के सदस्य होते हैं अतः विधाननिर्माण में भाग लेते हैं। यही नहीं दरअसल विधान-पालिकाएँ सदा ही विधाननिर्माण के विषय में कार्यपालिकाओं से नेतृत्व की आशा करती है। प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण बिल मन्त्रिमण्डल तैयार करता है और उसकी प्रेरणा पर विधानपालिका उन्हें स्वीकार करती है। आजकल तो विधान-निर्माण के विषय में मन्त्रिमण्डल को ही एकाधिकार प्राप्त होता है। स्वतन्त्र सदस्यों द्वारा पेश किये गये बिल जब तक मन्त्रिमण्डल का समर्थन प्राप्त नहीं कर लेते, पास नहीं हो सकते।

राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत विधानपालिका तथा कार्यपालिका में प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। राष्ट्रपति और उसके सलाहकार विधान-सभा के विधान-निर्माण सम्बन्धी कार्यों में भाग नहीं लेते। फिर भी राष्ट्रपति विधान-निर्माण सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकारों का प्रयोग करता है, वह विधानपालिका को सन्देश भेज किसी विशेष विषय पर कानून बनाने की प्रार्थना कर सकता है, उसे निषेधाधिकार भी

प्राप्त है। इस निषेधाधिकार (Veto power) द्वारा वह विधानपालिका द्वारा पास किये गये बिलो को कानून बनने से कुछ काल के लिए रोक लेता है। विधान-पालिका द्वारा पास किये गये बिल तब तक कानून नहीं बन सकते जब तक कि राष्ट्रपति उन्हें स्वीकार नहीं कर लेता। अवश्य ही राष्ट्रपति का एतद्विषयक निषेधाधिकार सीमित है, क्योंकि उसे विधानपालिका का दो-तिहाई बहुमत रद्द कर सकता है। फिर भी राष्ट्रपति का निषेधाधिकार पर्याप्त प्रभावशाली है। पार्टी-व्यवस्था के विकास के फलस्वरूप राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत भी कार्यपालिका की कानून-निर्माण सम्बन्धी शक्तियाँ पर्याप्त बढ़ गई है।

फ्रांस तथा भारत के संविधान के अन्तर्गत भी कार्यपालिका विधानपालिका द्वारा पास किये गये बिलों पर निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकती है।

आजकल कार्यपालिका के विधान-निर्माण सम्बन्धी अधिकारों की सभी जगह वृद्धि हो रही है। इंग्लैण्ड में तो विधान-निर्माण के अनेक अधिकारों को विधान-पालिका मन्त्रिमण्डल को सौंप चुकी है। भारत, फ्रांस, इंग्लैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में अध्यादेश (Ordinance) जारी करने का अधिकार कार्यपालिका को प्राप्त है। ये अध्यादेश दो प्रकार के हो सकते हैं— वैज्ञानिक अध्यादेश तथा प्राशसकीय अध्यादेश। अध्यादेश एक प्रकार के अस्थायी कानून होते हैं जो विधानपालिका द्वारा स्वीकृत किए जाने पर पूर्ण रूप से कानून बन जाते है। प्रशासकीय अध्यादेश के अन्तर्गत वे सभी विज्ञप्तियाँ, आदेश नियम तथा अधिनियम आ जाते हैं जो कि कार्य-पालिका के अध्यक्ष द्वारा राज्य पदाधिकारियों को जारी किये जाते हैं। वैधानिक आध्यादेश अस्थायी कानून होते है। आजकल सर्वत्र ही कार्यपालिका के विधान-निर्माण सम्बन्धी अधिकारों की वृद्धि हो रही है।

१३३. प्रशासक वर्ग (Administrative Services)

कार्यपालिका की विस्तृत व्याख्या के अन्तर्गत वे सभी राज्याधिकारी आ जाते हैं जो कानून को लागू करते हैं। ये राज्याधिकारी प्रधान कार्यपालिका की देख-रेख में काम करते है और उन द्वारा निर्धारित नीतियों को लागू करने के लिए उनके प्रति उत्तरदायी होते हैं। कहा जाता है कि शासन का वास्तविक कार्य तो इन्ही प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा किया जाता है। प्रशासकीय अधिकारी वर्ग के अन्तर्गत वे सभी अधिकारी आ जाते है जो मन्त्रिमण्डल की शासकीय विषयों में सहायता करते हैं, वे एक ओर तो न्यायाधिकारियों से भिन्न होते हैं और दूसरी ओर सेनाधिकारियों से। उन्हें स्थायी सरकारी सेवक (Permanent Civil Servants) भी कहा जाता है।

शासन की वास्तविक मशीनरी का चलना ही असम्भव होता यदि उसके चलाने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व केवल मात्र मन्त्रियों पर ही होता। प्रजातन्त्रात्मक राज्यों के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल उन व्यक्तियों से मिलकर बनता है जो जन-साधारण के प्रति-निधि होते है और शासन-ज्ञान से विहीन होते हैं। दूसरे उनमें अदला-बदली होती रहती है। पार्लियामेण्ट्री शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल का जीवन विधान-

पालिका के विश्वास पर आधारित होता है, उसका कोई निश्चित कार्य-काल नहीं होता। फ्रांस में एक मन्त्रिमण्डल का औसत जीवन नौ मास है जब कि इंग्लैण्ड में दो वर्ष और कुछ मास। फिर ये मन्त्रिमण्डल विभिन्न राजनीतिक पार्टियों द्वारा बनाए जाते हैं, प्रत्येक मन्त्रिमण्डल अपनी नीति का अनुसरण करता है। इस प्रकार शासन तन्त्र में स्थिरता, राजनीति में एकता तथा अविच्छिन्नता तभी कायम रह सकती है जब कि स्थायी प्रशासकीय वर्ग की व्यवस्था हो। शासन-कार्य इतना विस्तृत और जटिल है कि मन्त्री लोग, जो विभिन्न विभागों के राजनीतिक मुखिया होते हैं, बिना प्रशासकीय अधिकारियों की सहायता के अपने विभागीय कर्त्तव्यों को पूर्ण ही नहीं कर सकते। प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष आयोग (Commission) द्वारा होती है। वे स्थायी सरकारी अधिकारी होते है, और राजनीतिक पार्टीबाजी से परे होते है। मन्त्रिमण्डल के बदल जाने के फलस्वरूप उनकी तब्दीली नही होती। चाहे किसी भी पार्टी का मन्त्रिमण्डल क्यों न हो, उनका कार्य अपने राजनीतिक अधिकारियों—मन्त्रियों—के आदेशों का पालन करना मात्र है। राजनीतिक शासक तो पार्टियों के सदस्य होते हैं, वे नीति-निर्धारण करते हैं और प्रशासक वर्ग उनको लागू करना है। मन्त्रिमण्डल को प्रशासकीय नीति के निर्धारण के अर्थ शासन सम्बन्धी सम्पूर्ण सूचनाएँ और विभिन्न विषयों पर उपयुक्त विषय-वस्तु एकत्रित कर देते है।

प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति—प्रशासकीय अधिकारियों की संख्या बहुत बड़ी होती है। उन्हें कुछ निश्चित सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, अच्छा वेतन मिलता है और स्थायी नौकरी होती है। अवकाश ग्रहण करने पर पैन्शन भी मिलती है। दूसरी ओर उनका शासन-संचालन में अत्यधिक महत्त्व होता है। शासनतन्त्र की कुशलता चतुरता तथा ईमानदारी और निष्पक्षता प्रशासकीय वर्ग के अधिकारियो पर आधारित होती है। ऐसी अवस्था में प्रशासकीय संगठन का एक विशेष महत्त्व है। अगर सम्पूर्ण प्रशासकीय पदाधिकारियों की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल के ही हाथ में छोड़ दी जाय तो वह भ्रष्टाचार का स्रोत बन जायगी। मन्त्रिमण्डल के सदस्य अपने समर्थको तथा पार्टी वालों को उनकी सेवाओं के पुरस्कार के लिए इन नौकरियों को देंगे, वे विभिन्न प्रशासकीय पदों के लिए आवश्यक गुणों का ध्यान नहीं रखेंगे। ऐसी अवस्था में अयोग्य अधिकारियों की नियुक्ति होती रहेगी और शासकीय मशीनरी अपने कर्त्तव्यों को कुशलतापूर्वक नहीं निभा सकेगी। संयुक्त राज्य अमेरिका में १९वीं सदी में प्रत्येक प्रेज़िडैण्ट अपने आप अपने प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति किया करता था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सरकारी नौकरियों को प्रेज़िडैण्ट अपने हितैषियों तथा समर्थकों में पुरस्कार स्वरूप बाँटता था। फलतः शासनतन्त्र में भ्रष्टाचार तथा अयोग्यता का बोलबाला था। आखिर १८८३ में इस व्यवस्था को खत्म किया गया और अस्सी प्रतिशत सरकारी नौकरियों के लिए प्रतियोगात्मक व्यवस्था को निश्चित किया गया।

प्रो० लास्की का कथन है कि प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति के लिए दो खास असूलों का अनुसरण करना चाहिए (१) प्रथम तो राजनीतिक कार्यपालिका

मन्त्रिमण्डल को प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति में कम-से-कम भाग दिया जाना चाहिए, क्योंकि ऐसी अवस्था में मन्त्रिमण्डल सरकारी नौकरियों को अपने ही समर्थकों तथा हितैषियों में बाँटेगा। प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति के लिए प्रतियोगात्मक व्यवस्था रहनी चाहिए। इस व्यवस्था द्वारा ही गुणात्मक परीक्षा हो सकती है।

(२) दूसरा प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति उस अवस्था पर की जानी चाहिए जब एक युवक या युवती अपनी जीविका के उपार्जन के लिए प्रयत्न करने योग्य हो जाता है। यानी प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति युवक या नवयुवतियों में से ही होनी चहिए।

प्रशासकीय अधिकारियों की राजनीतिक तटस्थता, उनकी योग्यता तथा उनकी गुणात्मक-परीक्षा के लिए एक निष्पक्ष तथा निर्दलीय आयोग (Non-partisan Commission) की नियुक्ति की जानी चाहिए। साधारणतया इस कार्य का सम्पादन जन-सेवा आयोग (Public Service Commissions) करते हैं, इनके संगठन का एक वैधानिक आधार होता है। इनके सदस्यों की नियुक्ति की तथा उनके पदच्युत करने की व्यवस्था ऐसी की जाती है कि वे राजनीतिक परिवर्तनों तथा राजनीतिक दलबन्दियों से प्रभावित न हों। इनकी स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता का भी इतना ही ख्याल किया जाता है जितना कि न्यायाधीशों की। ये आयोग समय-समय पर प्रतियोगात्मक परीक्षाओं की व्यवस्था करते रहते हैं और उन द्वारा उच्च सरकारी पदाधिकारियों का चुनाव करते रहते हैं। यही आयोग सरकारी नौकरों के अधिकारों तथा उनके वेतनों के विषय में—वास्तविक कार्यपालिका को सिफारिशें भेजते हैं। प्रशासकीय कार्यों को विभिन्न विभागों में बाँट दिया जाता है। हमारे यहाँ निम्नलिखित प्रमुख प्रशासकीय विभाग हैं—

गृह-विभाग (Home), (२) रक्षा-विभाग (Defence), विदेश विभाग (Foreign affairs) संचार तथा परिवहन (Communication and Transport), सूचना तथा प्रसार (Information and Broadcasting) व्यापार तथा उद्योग (Commerce and Industry) शिक्षा (Education), स्वास्थ्य (Health), कृषि (Agriculture), इत्यादि। प्रत्येक मन्त्री एक विभाग का मुखिया होता है और उसकी सहायता के लिए सेक्रेट्रियों की व्यवस्था रहती है।

प्रशासकीय अधिकारीगण मन्त्रिपरिषद् द्वारा पेश किये जाने वाले बिलों को तथा बजट को मन्त्रियों के आदेश के अनुसार तैयार करते है, वे न्याय-पालन सम्बन्धी कार्य भी करते हैं। प्रत्येक विभाग के कुछ विशेष नियम होते हैं, उनका अनुसरण सभी राज्य-पदाधिकारियों के लिए आवश्यक है। जब कभी विभागीय कर्मचारी इन्हें भंग करते हैं या उनमें पारस्परिक झगड़े उत्पन्न हो जाते है तो उनका निर्णय उच्च पदाधिकारी करते हैं।

मूल्यांकन—प्रशासकीय वर्ग की प्रशंसा भी की जाती है और आलोचना भी। प्रशासक वर्ग राजनीतिक पार्टीबाजी से ऊपर होता है, वह प्रशासकीय अनुभव-सम्पन्न होता है और स्थिरता तथा स्थायित्व के कारण वे सम्पूर्ण राज-काज को बड़ी योग्यता

से चलाते हैं। परन्तु इसके साथ ही प्रशासकीय वर्ग की कार्य-पालन में औपचारिकता व विलम्ब के लिए तीव्र आलोचना की जाती है। यह कहा जाता है कि प्रशासक वर्ग किसी भी समस्या के सुलझाव में औपचारिकता को अधिक महत्त्व देता है और तत्परता को कम। दूसरा सरकारी अधिकारियों का दृष्टिकोण विकसित नहीं होता, बल्कि विभागीय होता है। वह किसी भी समस्या को उसके समग्र रूप में नहीं बल्कि एक पक्षीय रूप में ही देखते हैं, परिणाम यह होता है कि शासन-संचालन में उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं, पारस्परिक कलह तथा विद्वेष पैदा हो जाता है।

प्रशासकीय वर्ग के अधिकारियों के चुनाव के लिए जिन प्रतियोगात्मक परीक्षाओं की व्यवस्था की जाती है वह बौद्धिकता पर अधिक बल देती है और प्रशासकीय व्यवस्था के लिए जरूरी गुणों की अवहेलना करती हैं।

प्रशासकीय वर्ग के अन्तर्गत अहंकार भी उत्पन्न हो जाता है। वे समाज के अन्य वर्गों की अपेक्षा अपने आपको उच्च तथा महत्त्वपूर्ण समझने लगते हैं। उनका दृष्टिकोण 'नौकरशाही' का दृष्टिकोण बन जाता है, वे लोकमत की अवहेलना करने लग जाते हैं।

इस व्यवस्था के समर्थकों का कथन है कि मन्त्रिमण्डल अपनी सम्पूर्ण कार्य-वाहियों के लिए जन-प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होता है। वर्तमान शासन-प्रणाली उत्तरदायी शासन-व्यवस्था है। मन्त्रिजन अपनी नीति का निर्धारण स्वयं करते है, उसकी स्वीकृति विधानपालिका से लेते हैं और तब सरकारी अधिकारी उन्हें लागू करते हैं। अतः सरकारी पदाधिकारियों द्वारा लोक-मत की अवहेलना किये जाने का सवाल ही पैदा नहीं होता। सरकारी अधिकारी जनसाधारण के सेवक होते हैं, उनका नियन्त्रण मन्त्रिगण करते हैं। प्रजातन्त्र का आधार जन-सहमति है, वह इस व्यवस्था के अन्तर्गत खत्म नहीं हो सकता।

Important Questions

Reference

1. Describe the nature and forms of the Executive. (*Bom. 1941*) — Arts. 128 and 129

2. Discuss the merits and demerits of the Single and Plural Executive, —Which do you prefer ? — Art. 129

3. State the functions of the Executive. (*Bom. 1941 Cal. 1923, 1921*)

Or

What are the political administrative and legislative functions of the executive ? (*Cal. 1954*) — Art. 132

4. What are the chief requisites of a properly organised executive in a modern democratic state. (*Pb. 1943 1940*)

Or

Describe the different methods of constituting the executive, point out their relative merits and demirity. — Arts. 130 131

5. What part does the civil service, play in the Government of a democracy ? Discuss their position and functions. (*Nag. 1943 Pb. 1933*)

What are the provisions by which it can be made responsive to public opinion ? (*Pb. 1944*) — Art. 133

6. Explain the problems of the organisation of civil services with reference to recruitment, tenure and discipline. (*Pb. 1951*) — Art. 133

अध्याय १६

न्यायपालिका का संगठन तथा कार्य

(Organisation and Functions of the Judiciary)

१३४. न्याय-पालन शक्ति का विकास

न्यायपालिका शासन का तीसरा महत्त्वपूर्ण अंग है । इसका कार्य सामाजिक सदस्यों के आपसी झगड़ों का तथा राज्य तथा व्यक्ति के झगड़ों का निपटारा करना है । राज्य का मुख्य कर्त्तव्य व्यक्ति के जीवन की सुरक्षा तथा उसके अधिकारों का रक्षना करना है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए न्यायपालिका की व्यवस्था अनिवार्य है। पूर्ण रूप से विकसित विधानपालिका के अभाव में राज्य-व्यवस्था हो सकती है, परन्तु न्यायपालिका की अनुपस्थिति में किसी सभ्य राज्य की कल्पना नही की जा सकती । **लार्ड ब्राइस का कथन ठीक है कि किसी भी सरकार की श्रेष्ठता उस राज्य की न्याय-पालिका की उच्चता से नापी जाती है ।**

परन्तु न्याय-पालन का कार्य हाल ही में राजकीय कर्त्तव्य समझा जाने लगा है । एक समय था जब न्याय-पालन राज्य-कर्त्तव्य नही माना जाता था, उस समय न्याय पालन एक वैयक्तिक कार्य था । उसका आधार बदले की भावना था, 'खून का बदला खून,' यह भावना पुराने जनों में काम करती थी । झगड़ों का निर्णय परम्परागत रीति-रिवाजों द्वारा होता था वह पारिवारिक प्रतिरोध की भावना का आधार बन जाता था । धीरे-धीरे प्रतिरोध की भावना के स्थान पर आर्थिक साधनों द्वारा क्षतिपूर्ति की व्यवस्था चल पड़ी, राजनीतिक सत्ता के विकास के अनन्तर अपराध वैयक्तिक न रहे, वे राज्य-सत्ता के प्रति अपराध समझे जाने लगे । राजा लोगों ने अपराधी को क्षति-पूर्ति के लिए मजबूर करना शुरू किया और जहाँ क्षति-पूर्ति सम्भव नहीं थी वहाँ सजा की व्यवस्था की गई । परन्तु उस समय इस शक्ति के कुछ अन्य दावेदार भी थे । वे थी बिरादरी की अदालतें, चर्च तथा सामन्ती अदालतें । परन्तु धीरे-धीरे राजनीति और धर्म के पार्थक्य के कारण तथा राष्ट्रीय राज्यों के विकास के फलस्वरूप सामन्तीय तथा जातीय अदालतें समाप्त हो गई और न्याय-शक्ति राजा के हाथ में केन्द्रित हो गई । प्रारम्भ में न्यायपालिका तथा कार्यपालिका का विभेद स्पष्ट नहीं था । इंग्लैण्ड में सम्राट अपने सलाहकारों के सहयोग से न्याय पालन करता था । अन्यत्र भी राजा के द्वारा नियुक्त शासकगण ही इस कर्त्तव्य का पालन सम्राट के नाम से करते थे, परन्तु ज्यों-ज्यों राज्य कार्यों में अभिवृद्धि होती गई, शासन का कार्य कठिन होता गया, कानून में जटिलता आ गई, न्याय-पालन ने एक पृथक् विभाग का रूप धारण कर लिया । आज के सभी प्रगतिशील तथा प्रजातन्त्रवादी राज्यों में कार्यपालिका तथा न्याय-पालन सम्बन्धी शक्तियों का प्रयोग पृथक् पृथक् अधिकारियों

द्वारा होता है।

प्रारम्भिक स्थिति में कानून सभी नागरिकों की समानता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता था। समाज में ऊँच-नीच की व्यवस्था थी, सैनिक तथा आर्थिक शक्ति के असम वितरण के फलस्वरूप न्याय को समान आधारों पर प्रचलन न था। दासता की प्रथा के फलस्वरूप दासों की एक बड़ी संख्या अनेक सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकारों से वंचित थी।

संयुक्त परिवार व्यवस्था के प्रचलन के परिणामस्वरूप स्त्रियों की बहुत बुरी अवस्था थी। अनेक स्थानों पर पितर या महापितर अपनी पुत्रियों को बेचने का भी अधिकार रखते थे। इसी प्रकार कानूनी तौर पर औरतें पति की दया पर निर्भर रहती थीं। परिवार में महापितर की महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण लड़कों को भी वैयक्तिक अधिकार विशेष रूप से प्राप्त नहीं थे। वर्गों तथा वर्णों में विभाजन के कारण अनेक विशेषाधिकार प्राप्त समुदाय उत्पन्न हो गये थे। हमारे यहाँ उच्च वर्णों के लोग विशेष अधिकारसम्पन्न थे, यूरोप में पादरी लोगों की विशेष स्थिति को स्वीकार किया जाता था।

प्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्त इन विशेषाधिकारों को खत्म करने में यकीन रखते थे। प्रजातन्त्र जनसामान्य की समानता को स्वीकार करता है, वह कानून की दृष्टि में सभी सामाजिक तथा आर्थिक भेदों को कोई महत्व नहीं देता। कानून के सम्मुख सभी की समानता का सिद्धान्त का प्रचलन इंग्लैण्ड तथा फ्रांस इत्यादि प्रजातन्त्रवादी राज्यों में हुआ। **आज तो स्वतन्त्र न्यायपालिका व्यक्ति के नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों की सुरक्षा की सबसे बड़ी गारण्टी मानी जाती है।**

न्यायपालिका न केवल नागरिकों के आपसी झगड़ों को ही निपटाती है वह वैयक्तिक अधिकारों की कार्यपालिका के अनुचित हस्तक्षेप से भी सुरक्षित रखती है। उसका काम वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा अधिकारों को वैयक्तिक तथा सार्वजनिक हस्तक्षेप से बचाना है। नागरिकों में सुरक्षा-भावना न्यायपालिका की शक्तियों तथा कार्यों द्वारा ही उत्पन्न हो सकती है। यही कारण है कि न्यायपालिका की शक्ति को सदा ही उच्च तथा महत्वपूर्ण माना जाता रहा है। न्यायपालन को धार्मिक कर्त्तव्य के सदृश पवित्र समझा जाता था, पुराने समय में यह धर्माधिकारियों के कार्यों का एक भाग बना हुआ था। जनसाधारण न्यायाधीश को एक ऐसे आँख मूंदकर बैठे व्यक्ति की तरह कल्पना करता है जो कि हाथ में न्याय की तराजू को लिये हुए है और जिसका प्रयोग वह बिना भेद-भाव के करता है। न्याय-व्यवस्था की उच्चता तथा निष्पक्षता केवल मात्र कानूनों की सुस्पष्टता पर ही आश्रित नहीं बल्कि न्यायाधीशों के उच्च नैतिक चरित्र तथा ज्ञानसम्पन्नता पर भी है।

१३५. न्यायपालिका के कर्त्तव्य (Functions of the Judiciary)

(१) न्यायपालिका का सर्वप्रथम कर्त्तव्य दीवानी तथा फौजदारी मामलों का मौजूदा कानून के अनुसार निपटाना है। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के

व्यवहारिक झगड़े आ जाते हैं और न्यायपालिका उनका कानून के अनुसार फैसला करती है । न्यायपालिका वैयक्तिक अधिकारों को निश्चित तथा सुरक्षित करती है, अपराधी को सजा देती है, तथा निर्दोष व्यक्ति को असुविधा तथा कष्ट से बचाती है । दीवानी मुकदमे नागरिकों में आपस में भी हो सकते हैं और नागरिक तथा राज्य के भी । फौजदारी मामलों में नागरिक को राज्य के प्रति अपराधी ठहराया जाता है ।

(२) न्यायपालिका कानून की व्याख्या करती है, और कानून का निर्माण भी करती है । हम पीछे ही बता आये हैं कि न्यायाधीशों द्वारा अनेक नये कानून बनते रहते हैं । **न्यायालयों द्वारा जो कानून बनाये जाते हैं उन्हें अंग्रेजी में** Judge mades laws **कहते हैं** । न्यायालयों के सम्मुख अनेक बार ऐसे मुकदमे आ जाते हैं जिनका फैसला देश में मौजूदा कानून के अनुसार नहीं किया जा सकता । बहुधा या तो कानून अस्पष्ट होता है या फिर उसमें ऐसे झगड़ों के निपटाने की व्यवस्था ही नहीं होती । ऐसी अवस्था में न्यायाधीश प्रथम तो कानून की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है और यह स्पष्ट करने की कोशिश करता है कि विधानपालिका का उद्देश्य या मन्तव्य क्या था ? दूसरी अवस्था में अगर वह समझता है कि विधानपालिका ने कोई ऐसी व्यवस्था नहीं की और कानून ही अपूर्ण है तो वह अपनी न्याय-बुद्धि, सत्य-ज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर ऐसे मामलों का फैसला देगा । उसी निर्णय का जब अन्य न्यायाधीश भी समर्थन करेंगे और अपने निर्णयों में हवाला देंगे तो वह कानून बन जाएगा । इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा अमेरिका इत्यादि सभी राज्यों में न्यायाधीशों को कानून-निर्माण का यह अधिकार प्राप्त है, वस्तुतः न्यायाधीशों का यह अधिकार ही नहीं अपितु महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य भी समझा जाता है । इंग्लैण्ड का 'कामन लॉ' (Common Law) इसी आधार पर आधारित हैं । इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय विधान (International Law) औचित्य के सिद्धान्त (Principles of equity) तथा समझौते के कानून (Law of contract) इत्यादि भी अगर पूर्णरूप में नहीं तो काफी हद तक इसी आधार पर आधारित है ।

(३) न्यायालय वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा अधिकारों की भी रक्षा करते हैं । वैयक्तिक अधिकारों पर जहाँ नागरिकों या नागरिक समूहों द्वारा हमले हो सकते हैं वहाँ उनका राज्य द्वारा अतिक्रमण भी सम्भव है । प्रत्येक जनतन्त्रात्मक राज्य कुछ वैयक्तिक अधिकारों को कानूनी मान्यता देता है । जब कभी राज्य इन अधिकारों का अतिक्रमण करता है तो पीड़ित नागरिक न्यायालय की शरण लेता है । भारतीय संविधान न्यायालय को वैयक्तिक अधिकारों को सुरक्षित रखने और उन्हें लागू करने का विशेष अधिकार देता है ।

(४) न्यायापालिका को विधानपालिका या कार्यपालिका की प्रार्थना पर किसी संवैधानिक या वैधानिक प्रश्न पर अपना मत प्रगट करने का अधिकार भी प्राप्त है । यह ठीक है कि यह अधिकार केवल कुछेक देशों में ही न्यायालयों को दिया गया है, अन्यत्र नहीं । संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायापालिका को ऐसा अधिकार प्राप्त

नहीं। एक बार प्रेज़िडेण्ट वाशिंग्टन ने किसी कानूनी विषय पर न्यायपालिका से उसकी राय माँगी थी, परन्तु न्यायापालिका ने वैसा करने से इनकार कर दिया। न्यायाधीशों का कथन था कि जब तक कोई निश्चित मुकदमा उनके सम्मुख नहीं आता तब तक वह विवादग्रस्त प्रश्नों पर अपना फैसला देने को तैयार नहीं। हाँ, इन दिनों अवश्य ही यह प्रयत्न किया जा रहा है कि न्यायालयों को कानूनी प्रश्नों पर विधानपालिका या कार्यपालिका की प्रार्थना पर अपना मत प्रगट करना चाहिए। फलतः कुछेक राज्यों में सामान्य रूप से यह अधिकार न्यायालयों को दे दिया गया है।

इंग्लैण्ड तथा भारत में इस विषय में संवैधानिक व्यवस्था की गई है। इंग्लैण्ड में कार्यपालिका की प्रार्थना पर प्रिवी कौंसिल की न्याय-समिति कानून पर अपना मत प्रगट कर सकती है। इसी प्रकार हाउस ऑफ लार्ड्स जब सर्वोच्च न्यायालय के रूप में कार्य करता है तो वह इंग्लैण्ड के किसी भी न्यायालय से कानून के किसी भी प्रश्न पर उसकी सम्मति जान सकता है।

भारत में संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को इस योग्य बना दिया है कि वह राष्ट्रपति के कहने पर कानून पर या तथ्यों पर अपनी राय दे सके। कनाडा में भी कार्यपालिका की प्रार्थना पर न्यायालय अपना मत प्रगट कर सकता है।

(५) संघ राज्यों में न्यायापालिका की एक विशेष स्थिति होती है, संविधान के लिखित होने के कारण तथा राज्यों और संघ सरकार में शक्ति-विभाजन के फल-स्वरूप न्यायापालिका को कुछ विशेष अधिकार दिये जाते है। न्यायापालिका संविधान की व्याख्या करती है और वह उसको सुरक्षित भी रखती है। इस स्थिति में न्याय-पालिका राज्य तथा संघ सरकार की विधानपालिकाओं द्वारा पास किये गये कानूनों की संवैधानिकता की परीक्षा करती है। अगर इन विधानपालिकाओं द्वारा कोई ऐसा कानून पास किया जाय जो कि संविधान के विरुद्ध हो, तो न्यायालय उसे असंवैधानिक (Unconstitutional) घोषित कर सकते हैं। अनेक बार न्यायापालिकाएँ केवल मात्र संवैधानिक कानून की व्याख्या ही नहीं करती वे विधान-निर्माताओं के उद्देश्य तथा मन्तव्यों का अनुसरण भी करती है। वे उनको संविधान का आधार मानकर कानूनों को असंवैधानिक करार दे देती है। न्यायापालिका राज्य सरकारों तथा संघ सरकार में उत्पन्न होने वाले झगड़ों को भी निपटाती है। लार्ड ब्राइस के कथनानुसार **"जब कार्य-पालिका एक विधानपालिका के अधिकारों की अथवा संघ राज्य में केन्द्रीय तथा राष्ट्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों की शासन-शक्तियों की सीमा के सवाल उठें तब आधारभूत तथा सर्वश्रेष्ठ कानून होने के नाते, संविधान के ठीक-ठीक अर्थ का फैसला न्यायापालिका द्वारा होना चाहिए क्योंकि न्यायापालिका ही इस बात की उचित तथा अधिकारी व्याख्याकार हो सकती है कि आधारभूत लेख पत्र का निर्माण करते समय जनता का उद्देश्य क्या है।"**[1]

1. When questions arise as to the limit of the powers of the executive or of the legislature or in a federation as to the limits of the respective powers of the central or national and those of the

संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत में न्यायपालिका को कानूनों को अवैधानिक घोषित करने का अधिकार है । सर्वप्रथम इस प्रथा का उदय संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ, जहाँ न्यायालयों ने उन कानूनों को मान्यता देने से इनकार कर दिया जिन्हें कि वह संविधान के अनुकूल नहीं समझते थे । भारत में न्यायपालिका को इस विषय में संवैधानिक अधिकार प्राप्त हैं ।

संविधान की व्याख्या तथा कानून के पर्यावलोचन (Revision) के अधिकार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । संघ राज्य में शक्ति-विभाजन सम्बन्धी झगड़ों के निपटारे का इससे अधिक सन्तोषप्रद साधन अन्य कोई नहीं हो सकता ।

(६) इन न्यायपालन सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त न्यायपालिका अनेक अन्य प्रकार के कार्य भी करती है जिन्हें न्यायपालन के अन्तर्गत शामिल नहीं किया जा सकता । इनके अन्तर्गत साधारण कर्मचारियों तथा क्लर्कों की नियुक्ति का अधिकार होता है । न्यायपालिका लाइसेन्स भी जारी करती है । जिनके उत्तराधिकारी अभी बालिग न हुए हों ऐसे मृत व्यक्तियों की जायदाद के लिए ट्रस्ट बनाती है, वसीयतनामों की रजिस्ट्री करती है, आर्थिक जिम्मेवारियों को पूरा न करने वाली कम्पनियों के लिए रिसीवर नियुक्त करती है । इसी प्रकार अधिकारियों द्वारा अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर जा किसी काम को करने पर उन्हें अपने सीमाक्षेत्र में रहने के आदेश जारी कर सकती है ।

१३६. न्यायपालिका का संगठन (Organisation of Judiciary)

(१) न्यायपालिका का संगठन कार्यपालिका तथा विधानपालिका से भिन्न होता है । कार्यपालिका में शासन-शक्ति एक ही व्यक्ति में केन्द्रित होती है, विधानपालिका बहुत से व्यक्तियों से मिलकर बनती है जब कि न्यायपालिका में न्यायपालन शक्ति न तो एक ही व्यक्ति में केन्द्रित होती है और न ही बहुसंख्यक सभा के हाथ में । न्यायालय एक न्यायाधीश से युक्त भी होते हैं और एक से अधिक भी । दूसरा न्यायपालिका का संगठन सीढ़ीनुमा होता है जिसमें एक के ऊपर दूसरे न्यायालय की व्यवस्था होती है । सबसे ऊपर एक सर्वोच्च न्यायालय होता है जिसे नीचे के न्यायालयों द्वारा किये गये अधिकाँश फैसलों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार होता है । भारत में सबसे नीचे छोटा कोर्ट (Lower court) है, फिर डिस्ट्रिक्ट कोर्ट तब हाई कोर्ट और अन्त में सुप्रीम कोर्ट की व्यवस्था की गई है । सुप्रीम कोर्ट सर्वोच्च न्यायालय है । इंग्लैण्ड तथा अमेरिका इत्यादि राज्यों में भी न्यायालय का संगठन इसी रूप में किया गया है ।

---

state governments, it is by a Court of Law that the true meaning of the constitution, as the fundamental and supreme law ought to be determined, because it is rightful and authorized interpreter of what the people intended to declare when they were enacting a fundamental instrument."—*Bryce.*

अधिकांश राज्यों में न्यायपालिका के दो मुख्य भाग होते हैं—**दीवानी अदालत** तथा **फौजदारी अदालत**। भारत में न्यायालयों का ऐसा ही विभाजन किया गया है। इनके अतिरिक्त **माली अदालतें** (Revenue courts) भी होती हैं। कुछ विशेष प्रकार की समस्याओं के सुलझाव के लिए **विशिष्ट न्यायालयों** की भी स्थापना की जा सकती है। सैनिक तथा औद्योगिक झगड़ों के निपटारे के लिए इन्हीं विषयों से सम्बन्धित विशेष अदालतें बना दी जाती हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत इत्यादि देशों में एक ही प्रकार के न्यायालयों की व्यवस्था रहती है, इन्हें साधारण न्यायालय कहते हैं। इसके विपरीत फ्रांस तथा इटली इत्यादि देशों में **साधारण न्यायालय** (Ordinary courts) **के अतिरिक्त प्रशासकीय न्यायालय** (Administrative courts) **भी रहते हैं**। साधारण नागरिकों में उत्पन्न होने वाले झगड़ों का निपटारा साधारण न्यायालय करते हैं जब कि राज्य-पदाधिकारियों में तथा साधारण नागरिकों में पैदा होने वाले झगड़ों का निपटारा एक विशेष प्रकार की अदालतों द्वारा किया जाता है, जिन्हें प्रशासकीय न्यायालय कहा जाता है। इंग्लैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत में साधारणतया एक ही न्यायाधीश न्यायालय में होता है, जितनी भी साधारण अदालतें हैं वहाँ एक ही न्यायाधीश होता है। उच्च न्यायालयों में अवश्य ही एक से अधिक न्यायाधीशों की व्यवस्था रहती है। उच्च न्यायालय अपील के न्यायालय होते हैं। फ्रांस तथा जर्मनी इत्यादि यूरोपीय राज्यों में बहुसंख्यक न्यायाधीशों से युक्त न्यायालयों की व्यवस्था रहती है। जस्टिस ऑफ दी पीस (Justice of the Peace) को छोड़ शेष सभी न्यायालयों में न्यायाधीशों की संख्या ३ से ५ तक होती है। जब तक कोई भी फैसला इन न्यायाधीशों द्वारा न दे दिया जाय तब तक वह मान्य नहीं होता। वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा न्याय-व्यवस्था की सुचारुता के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि न्यायालयों में न्यायाधीशों की अच्छी संख्या हो, एक न्यायाधीश से गलती की सम्भावना रहती है। जब बहुत से न्यायाधीश मिलकर फैसला करेंगे तो निश्चय ही उनका निर्णय अधिक न्याय संगत तथा उचित समझा जाएगा। इस अवस्था में स्वेच्छाचारिता के विकास का अवसर नहीं मिलेगा। फ्रांस में पाँच हजार न्यायाधीश है। इस प्रकार फ्रांस में न्याय-व्यवस्था पर बहुत खर्च होता है। जर्मनी में भी बहुसंख्यक न्यायालयों की व्यवस्था है। खर्च की अधिकता के बावजूद भी फ्रेंच-व्यवस्था अधिक तर्क-संगत तथा उचित समझी जाती है। फ्रांस तथा जर्मनी इत्यादि देशों में हमारे देश की तरह दीवानी तथा फौजदारी मामलों में भेद नहीं किया जाता, एक ही न्यायालय दोनों मामलों में अपना फैसला देता है।

इंग्लैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में जॅज लोग दौरे पर जाते हैं, उनके लिए आवश्यक नहीं कि वे एक ही स्थान पर रहकर सभी मुकदमों का फैसला करें। मुकदमे वालों के सुभीते के लिए वे बजाये उन्हें अपने पास बुलाने के स्वयं उनके पास जाकर उनके झगड़ों का निपटारा करते हैं। परन्तु फ्रांस तथा जर्मनी इत्यादि यूरोपीय देशों में ऐसी व्यवस्था नहीं मिलती, वहाँ न्यायालय स्थानीय हैं और अपने स्थान पर बैठकर ही वे अपना निर्णय देते हैं। इंग्लैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका

में न्यायाधीश निर्मित कानून का बहुत महत्त्व होता है, जब कि फ्रांस तथा जर्मनी इत्यादि यूरोपीय देशों में ऐसी व्यवस्था को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता।

संघ राज्यों में न्यायपालिका का संगठन एकात्मक शासन से भिन्न होता है, संयुक्त राज्य अमेरिका में स्थानीय तथा संघीय दो प्रकार के न्यायालय हैं। स्थानीय न्यायालय विभिन्न राज्यों द्वारा निर्मित कानूनों को लागू करता है, उनका क्षेत्र सीमित होता है। इसी प्रकार संघीय न्यायालय संघ सरकार द्वारा पास किये गये कानूनों को ही लागू करता है और इनका अपना स्वतन्त्र क्षेत्र होता है। संघीय न्यायालय का संगठन भी स्वतन्त्र और सीढ़ीनुमा ढँग से होता है, यही अवस्था राज्यों के स्थानीय न्यायालयों की भी होती है। परन्तु अमेरिकन व्यवस्था का अनुसरण सभी संघ राज्यों में नहीं किया गया। भारत में न्यायपालिका का संगठन एकात्मक है, यहाँ संघीय तथा विधायक राज्यों द्वारा पास किये गये कानूनों को लागू करने के लिए अलग-अलग न्यायालय नहीं होते। राज्यों की न्यायपालिकाएँ संघीय कानूनों को भी लागू करती है। यही नहीं भारत का सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) दीवानी तथा फौजदारी मामलों में सम्पूर्ण राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुन सकता है। सोवियत रूस तथा स्विट्ज़रलैण्ड में भी इससे मिलती-जुलती व्यवस्था कायम की गई है, इस सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका का अनुसरण नही किया गया।

संयक्त राज्य अमेरिका तथा भारत में न्यायपालिका को संवैधानिक पर्यावलोचन (Constitutional review) का अधिकार है। परन्तु फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य एकात्मक शासन-प्रणाली द्वारा शासित राज्यों में ऐसी व्यवस्था नहीं मिलती। स्विट्ज़रलैण्ड तथा रूस भी संघ राज्य हैं, परन्तु वहाँ भी न्यायपालिका को संवैधानिक पर्यावलोचन का अधिकार नहीं। ग्रेट ब्रिटेन में विधानपालिका की कानूनी (अबाध) प्रभुता के कारण न्यायपालिका को वह सभी कुछ स्वीकार करना पड़ता है जिसे कि विधानपालिका कानून रूप में निर्धारित करे। इंग्लैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका, भारत तथा राष्ट्रमण्डल के अन्य राज्यों में कानून के शासन (Rule of Law) की व्यवस्था मौजूद है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत कानून की दृष्टि से सभी नागरिकों की समानता को स्वीकार किया जाता है परन्तु फ्रांस तथा जर्मनी आदि राज्यों में साधारण नागरिकों तथा रज्य-पदाधिकारियों में अन्तर किया जाता है। राज्य-पदाधिकारियों पर जब कभी कोई जनसाधारण द्वारा मुकदमा चलाया जाता है तो वह एक विशेष अदालत में चलाया जाता है, साधारण अदालत में नहीं। इन देशों में प्रशासकीय कानून की व्यवस्था रहती है।

१३७. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता (Independence of Judiciary)

वैयक्तिक अधिकारों की सुरक्षा तथा न्याय-पालन की सुचारु व्यवस्था के लिए न्यायपालिका की स्वतन्त्रता आवश्यक है। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के समर्थन के लिए शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को विकसित किया

गया। इस सिद्धान्त की चाहे जो त्रुटियाँ हों परन्तु यह बात तो आज सर्वमान्य है कि न्यायपालिका को कार्यपालिका तथा विधानपालिका दोनों के ही नियन्त्रण से यथासम्भव स्वतन्त्र रखना चाहिए। यह ठीक है कि सरकार के विभिन्न अंगों में एकता है, और उनका पूर्ण पार्थक्य न केवल कठिन है अपितु असम्भव भी। फिर भी हमें यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि कार्यपालन तथा न्यायपालन सम्बन्धी शक्तियों को एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय में केन्द्रित नहीं किया जाना चाहिए। अपराधी को पकड़ने वाला, उस पर दोषारोपण करने वाला स्वयं ही उसके कार्यों का अन्तिम निर्णायक भी हो, यह सर्वथा अनुचित है। इस प्रकार की व्यवस्था में शासन-सत्ता का दुरुपयोग होगा और न्याय-पालन में पक्षपात उत्पन्न हो जायगा। हमारे यहाँ जिलाधिकारी डिप्टी कमिश्नर हैं, उन्हें शासन सम्बन्धी शक्तियों के साथ-साथ न्याय-पालन सम्बन्धी शक्तियाँ भी सौंपी गई हैं। यह व्यवस्था अत्यन्त असन्तोषजनक है, इससे न्याय-पालन में पक्षपात उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। यही कारण है कि हमारे यहाँ यह माँग की जा रही है कि डिप्टी कमिश्नर से उसकी न्यायपालन सम्बन्धी शक्तियों को ले लेना चाहिए और इन दोनों शक्तियों का उपयोग भिन्न-भिन्न अधिकारियों द्वारा किया जाना चाहिए।

न्यायपालिका न केवल कानून की व्याख्या ही करती है या मुकदमों का फैसला करती है, वह नागरिकों के अधिकारों की रक्षा भी करती है। संघराज्यों के अन्तर्गत उसका और भी अधिक महत्त्व होता है, क्योंकि उसकी अनुपस्थिति में तो संविधान राज्य सरकारों के लिए तथा संघ सरकार के लिए एक खिलौना मात्र बन जायगा।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता निम्नलिखित तत्त्वों पर आश्रित है—

(१) न्यायाधीशों की नियुक्ति का ढँग।
(२) कार्य-काल।
(३) न्यायाधीशों की पदच्युति की व्यवस्था।
(४) वेतन।
(५) न्यायाधीशों की योग्यता।

इन सभी तत्त्वों पर पृथक्-पृथक् विचार करने से पूर्व हमें न्यायपालिका के कार्य की कुशलता तथा निष्पक्षता के लिए आवश्यक कुछेक अन्य तत्त्वों का संकेत कर देना चाहिए। न्याय-पालन के कार्य में शीघ्रता तथा निश्चयात्मकता होनी चाहिए, हमारे यहाँ न्याय-पालन में न तो निश्चयात्मकता ही है और न शीघ्रता ही। एक ही झगड़े के फैसले में बहुत समय गुजर जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी न्याय-व्यवस्था इस विषय में पर्याप्त दोषपूर्ण है। न्यायपालन में खर्च की भी कमी होनी चाहिए। साधारणतया गरीब लोग धनाभाव के कारण ही न्याय प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसा कहा जाता है कि वर्तमान न्याय-व्यवस्था धनिक-वर्ग द्वारा शासित की जाती है। वे न केवल मुकदमों के निर्णय में कानूनी बाधाएँ डालते हैं अपितु न्यायाधीशों को खरीद भी लेते हैं। अपीलों की व्यवस्था तो अवश्य होनी चाहिए परन्तु इतनी लम्बी नहीं कि मुकदमेबाजी का बड़ा लम्बा-चौड़ा आर्थिक हिसाब बन जाय। खर्च को कम

करने के लिये तथा मुकदमेबाजी को घटाने के लिए पारस्परिक समझौते या पंच-निर्णय की व्यवस्था को प्रोत्साहित करना चाहिए।

(१) न्यायाधीशों की नियुक्ति का ढंग—न्यायाधीशों की नियुक्ति के तीन प्रकार के ढंग हो सकते हैं—

(१) जनता द्वारा चुनाव।

(२) विधानपालिका द्वारा चुनाव।

(३) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति।

सामान्यतया इन सभी साधनों का विभिन्न देशों में समय-समय पर प्रयोग किया गया है। न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए निर्वाचन-प्रणाली का सर्वप्रथम प्रयोग सन् १७९० में फ्रांस में किया गया था। जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के अनेक लाभ बतलाये जाते हैं। यह कहा जाता है कि शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त के समुचित पालन के लिए ऐसी व्यवस्था बहुत आवश्यक है। अगर विधानपालिका या कार्य-पालिका द्वारा जजों की नियुक्ति की जाती है तो वह शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त के विपरीत होगी और उसके अन्तर्गत न्यायपालिका स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष नहीं हो सकेगी। प्रत्यक्ष निर्वाचन लोकसम्मत प्रभुता के सिद्धान्त के भी सर्वथा अनुकूल है।

वर्तमान युग में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा स्विट्ज़रलैण्ड के राज्यों में इस व्यवस्था का प्रचलन है। रूस में भी निम्नतम अदालतों के जज जनसामान्य द्वारा बालिग मताधिकार के आधार पर चुने जाते हैं।

फ्रांस में प्रारम्भ में तो जनता ने सुयोग्य न्यायाधीशों का निर्वाचन किया, परन्तु बाद में यह व्यवस्था अत्यन्त दूषित तथा भ्रष्ट समझी जाने लगी। नैपोलियन के समय में इसको खत्म कर दिया गया। वर्तमान युग में भी इस व्यवस्था की अनेक प्रकार से आलोचना की जाती है। प्रो० लास्की का कथन है कि **जजों की नियुक्ति के अन्य सभी साधनों की अपेक्षा उनका जनसाधारण द्वारा निर्वाचन निश्चय ही सबसे निकृष्ट है।**[1] क्योंकि इसका परिणाम यह होता है कि न्यायाधीश स्वतन्त्र नहीं रह पाते, वे दलबन्दी का शिकार हो जाते हैं उनका चुनाव भी पार्टी-बाजी के आधार पर होता है और यह भी कोई आवश्यक नहीं कि योग्यतम व्यक्ति ही जज चुने जायें। फ्रांस में जब इस अवस्था का प्रचलन था तो उस समय माली, क्लर्क, संगतराश तथा नक्शा नवीस जज चुने गये थे। ऐसी अवस्था में न्यायाधीश राजनीतिज्ञ हो जाते हैं। राजनीतिज्ञ में न वह निर्भीकता होती है और न ही वह निष्पक्षता जो कि एक उच्च न्यायपदाधिकारी का आवश्यक गुण समझी जाती है।

जनसामान्य द्वारा चुनाव की व्यवस्था के फलस्वरूप न्यायाधीश न्यायपालन की बजाय जनसामान्य को खुश करना अपना प्रमुख कर्त्तव्य समझने लग जाते हैं, और अगर पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था हो तो जज की स्थिति और भी खराब हो जाती है। वह न्यायपालन को भूल अपने पुनर्निर्वाचन के लिए ही अधिक उत्साहपूर्ण होता

1. "Of all the methods of appointment that of the election by the people at large is without exception the worst."—*Laski.*

है। निर्वाचन के दिनों में जिन लोगों ने उसकी सहायता की होती है क्या वह उनके प्रति कृतज्ञ नहीं होगा ?

जनसाधारण द्वारा निर्वाचन की एक और बड़ी कमी यह है कि जनसाधारण के पास वह विवेक तथा सामान्य ज्ञान नहीं होता जिसके आधार पर वह न्यायाधीश के लिए आवश्यक गुणों पर विचार कर सके और न्यायाधीश पद के लिए खड़े उम्मीदवार के गुणों को जाँच सके। प्रायः राजनीतिक षड्यन्त्र, स्थानीय तथा वर्गगत प्रभाव तथा अन्य प्रलोभनों के फलस्वरूप अवसरवादी व्यक्ति न्यायाधीश चुने जाते हैं। गार्नर ने इस व्यवस्था की निन्दा करते हुए कहा है कि **"निर्वाचन से न्यायाधीशों का चारित्रिक पतन होता है, न्यायाधीश राजनीतिक नेता बन जाता है और उसके मन पर इतना बोझ पड़ जाता है कि वह उसे सदा सहन नहीं कर पाता।"**[1]

न्यायाधीशों के निर्वाचन का दूसरा ढंग विधानपालिका द्वारा चुनाव है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत विधानपालिका स्वतन्त्र रूप से या कार्यपालिका के सुझाव पर न्यायाधीशों का निर्वाचन करती है। स्विट्जरलैंड में सर्वोच्च न्यायाधीशों का निर्वाचन संघीय विधानपालिका करती है। सोवियत रूस में भी सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश सुप्रीम सोवियत द्वारा चुने जाते हैं, संयुक्त राज्य अमेरिका के राज्यों में भी कहीं-कहीं इसी व्यवस्था का प्रचलन है। परन्तु इस व्यवस्था की कड़ी आलोचना की जाती है। सर्वप्रथम तो यह कहा जाता है कि इस व्यवस्था द्वारा सत्ता विभाजन के सिद्धान्त का उल्लंघन होता है। न्यायपालिका अपने स्वरूप तथा क्षेत्र इत्यादि के विषय में विधानपालिका पर आश्रित हो जाती है, वह स्वतन्त्र नहीं रहती। यह कहना भी गलत है कि इस व्यवस्था द्वारा अनुभवी राजनीतिज्ञ निष्पक्ष रूप से अपनी जिम्मेवारी का अनुभव करते हुए उपयुक्त व्यक्तियों को ही न्यायाधीश चुनेंगे, दरअसल ऐसा नहीं हो पाता, चुनाव सदा दलगत स्वार्थों के आधार पर होता है। व्यावहारिक रूप से इसे भी उसी प्रकार दोषपूर्ण पाया गया है जिस प्रकार कि प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था को।

न्यायाधीशों की नियुक्ति का सर्वप्रमुख व्यावहारिक साधन कार्यपालिका द्वारा इनकी नियुक्ति है। आजकल प्रायः सर्वत्र ही इस साधन का प्रयोग किया जाता है। भारत में राष्ट्रपति को तथा इंग्लैण्ड में सम्राट को न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार है। संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यों में इसी व्यवस्था को अपनाया गया है। इसी प्रणाली को सामान्यतया न्यायाधीशों की नियुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन कहा जाता है। यह यकीन किया जाता है कि न्यायाधीशों के लिए आवश्यक गुणों की परख न तो जनसाधारण ही कर सकते हैं और न विधानपालिका ही, केवलमात्र कार्यपालिका ही इन आवश्यक गुणों की जाँच कर उपयुक्त व्यक्ति का चुनाव कर सकती है। दलबन्दी की भावना का भी यहाँ उतना प्रभाव सम्भव नहीं। जहाँ कहीं पार्लिया-मैण्ट्री शासन-व्यवस्था होती है और जहाँ राष्ट्रपति को नाम मात्र के अधिकार प्राप्त

1. "Election (of the judges) lowers the character of the judiciary, tends to make a politician of the judge and subjects the judicial mind to a strain which it is not always able to resist."—*Garner*.

होते हैं वहाँ तो न्यायाधीशों की नियुक्ति वास्तविक अर्थ में मन्त्रि-परिषद् या न्यायमन्त्री द्वारा की जाती है।

छोटे न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति में प्रतियोगात्मक व्यवस्था का अनुसरण किया जाता है और वे सरकार के स्थायी कर्मचारियों में गिने जाते हैं। न्यायपालिका के संगठन का यह ढंग भी सर्वथा दोषरहित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रायः सभी जगह यह शिकायत रहती है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति दलबन्दी की भावनाओं के आधार पर होती है और न्यायाधीश का पद पुरस्कार रूप में पार्टी-समर्थकों को सौंपा जाता है। कुछ विचारकों का मत है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति तो कार्यपालिका द्वारा ही हो, परन्तु कार्यपालिका स्वतन्त्र रूप से ऐसा न करे, अपितु न्यायाधीशों की एक सलाहकार समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर उनकी नियुक्ति करे। इस व्यवस्था के अन्तर्गत पार्टीबाजी का दोष दूर हो सकता है। भारतीय संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति न्यायाधीशों की नियुक्ति करता हुआ भारत के सर्वोच्च न्यायालय वा राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की सलाह लेता है।

(२) **न्यायाधीशों का कार्यकाल**—न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता बहुत कुछ उनके कार्य-काल पर भी आश्रित है। अगर जजों को एक निश्चित कार्य-काल के लिए ही नियुक्त किया जाय और तदनन्तर हटा दिया जाय तो उनकी स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता कायम नहीं रह सकती। संयुक्त राज्य अमेरिका के राज्यों में न्यायाधीशों का कार्य-काल २ से २१ वर्ष है कुछेक राज्यों में तो उनका कार्य-काल १ वर्ष है जब कि अन्य में २१ वर्ष। स्विट्ज़रलैण्ड में न्यायाधीशों का कार्य-काल ६ वर्ष है।

परन्तु इन दो देशों के अतिरिक्त अन्य प्रायः सभी जगह न्यायाधीश तब तक अपने पद पर कार्य करते हैं जब तक कि वे ठीक-ठीक तरह से अपने कर्त्तव्य पूर्ण करते रहें।

ऐसा कार्यकाल सद्व्यवहार (Good behavior) पर्यन्त भी कहा जाता है। लम्बा कार्यकाल जहाँ न्यायाधीशों को वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है वहाँ उन्हें न्यायपालन में अनुभव प्राप्ति का मौका भी देता है। हैमिल्टन का कथन है कि "**न्यायाधीशों का सद्व्यवहार पर्यन्त अपने पद पर आसीन रहने का नियम, वास्तव में शासन के प्रयोगों में एक श्रेष्ठ आधुनिक सुधार है। एकतन्त्र में वह शासन की अनियन्त्रित शक्ति के मार्ग में एक रुकावट है। गणतन्त्र में यह प्रतिनिधि-सभाओं के अन्यायों तथा अतिक्रमणों के विरुद्ध भी कम अच्छी बाधा नहीं है। किसी भी शासन में निष्पक्ष स्थायी और समुचित रीति से कानूनों को लागू करने की यही श्रेष्ठ प्रणाली है।**" अल्प कार्य काल जजों को स्वार्थी बना देता है, वह अपनी कार्यविधि के अन्तर्गत अधिक से अधिक आर्थिक लाभ उठा लेना चाहते हैं। न्याय व्यवस्था में भ्रष्टाचार इत्यादि दोषों को दूर करने के लिए दीर्घ कार्यकाल का होना लाजमी है।

(३) **न्यायाधीशों का अपने पद से हटाया जाना**—न्यायाधीशों के कार्यकाल के साथ ही उनके अपने पद से हटाए जाने की समस्या भी आ जाती है। जहाँ कहीं न्यायाधीशों का कार्य-काल सद्व्यवहार पर आश्रित हो, वहाँ उनको उनके पद से हटाये जाने की भी कोई न कोई व्यवस्था करनी ही चाहिए। अपने पद पर कार्य करते हुए

अनेक बार न्यायाधीश अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लग जाते हैं या वह कर्त्तव्य-पालन में सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं, उस समय उनको उनके पद से हटाये जाने के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं रहता। अतः सभी जगह असमर्थ तथा अक्षम न्यायाधीशों को उनके पद से हटाए जाने की व्यवस्था रहती है। परन्तु साधारणतया यह यकीन किया जाता है कि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता के लिए यह लाजमी है कि उनके पदच्युत (Removal) करने की व्यवस्था सरल नहीं बल्कि कठिन होनी चाहिए। अगर उन्हें कार्यपालिका या विधानपालिका के अधीन ही कर दिया जाय तो वे अपनी स्वतन्त्रता खो बैठेंगे और निष्पक्ष न्याय-पालन में सर्वथा असमर्थ हो जायँगे।

पहले-पहल इंग्लैण्ड में न्यायाधीशों का कार्य-काल सम्राट की इच्छा पर आश्रित होता था। परन्तु यह व्यवस्था अत्यन्त त्रुटिपूर्ण थी, क्योंकि इस व्यवस्था द्वारा सम्राट को न्यायपालिका पर अमित नियन्त्रण प्राप्त हो जाता था। आजकल भी ग्रेट ब्रिटेन में सम्राट ही एक न्यायाधीश को उसके पद से अलग कर सकता है परन्तु ऐसा वह तभी कर सकता है जब कि पालियामेण्ट के दोनों सदन बहुमत से इस विषय पर एक विशेष प्रार्थना-पत्र सम्राट को पेश करें।

संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायाधीश पर विधानपालिका में अभियोग (Impeachment) चलाने की व्यवस्था की गई है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत अमेरिकन कांग्रेस का निचला सदन दोषारोपण करता है और सीनेट उनकी परीक्षा कर अपना निर्णय देती है।

भारत में ब्रिटिश व्यवस्था का अनुसरण किया गया है, सर्वोच्च न्यायालयों के न्यायाधीश अपने पदों से राष्ट्रपति द्वारा हटाए जा सकते हैं, परन्तु राष्ट्रपति अपने आप ही ऐसा नहीं कर सकता। भारतीय संसद् के दोनों सदन यदि एक प्रस्ताव द्वारा किसी भी न्यायाधीश पर अनुचित व्यवहार तथा अक्षमता का दोषारोपण कर उसे उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पास करें तभी राष्ट्रपति किसी न्यायाधीश को उसके पद से हटा सकता है।

सयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यों के अन्तर्गत तथा सोवियत रूस में छोटे न्यायालयों के न्यायाधीशों को जनमत द्वारा वापिस बुलाया (Recall) जा सकता है, परन्तु इस व्यवस्था को दोषपूर्ण माना गया है। इससे न्यायाधीश की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता खत्म हो जाती है।

यूरोपीय देशों में न्यायाधीशों को पदच्युत करने की इनसे भिन्न एक अन्य व्यवस्था का अनुसरण किया गया है। इस व्यवस्था के अनुसार छोटे न्यायालयों के न्यायाधीशों को उनके पद से हटाने के लिए उन पर सर्वोच्च न्यायालय में मुकदमा चलाया जाता है, दोषी साबित होने पर उन्हें अपने पद से हटाया जा सकता है। बड़े न्यायालयों के अधिकारियों को उनके पद से हटाने के लिए अनुशासन न्यायालय की व्यवस्था रहती है।

(४) न्यायाधीशों का वेतन—भी न्यायपालिकाओं की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता का एक प्रमुख कारण है। अर्थ-प्राप्ति का लालच मनुष्य को पथ-भ्रष्ट कर

सकता है। अगर पदावधि दीर्घ हो और नौकरी की सुरक्षा भी हो परन्तु न्यायाधीशों को सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक वेतन न मिलता हो तो निश्चय ही वे लोग अपनी शक्ति तथा साधनों का दुरुपयोग करेंगे। अतः न्यायाधीशों को निडर, स्वतन्त्र, निष्पक्ष तथा कर्त्तव्य-परायण बनाने के लिए उनकी आर्थिक सुविधाओं का समुचित ध्यान रखा जाना चाहिए।

न्यायाधीशों की योग्यताएँ—न्यायपालन विशेष योग्यता का कार्य है। न्यायाधीशों के लिए यह आवश्यक है कि वे कानून से अच्छी तरह परिचित हों, वस्तुतः उन्हें कानून का पण्डित होना चाहिए। प्रायः सभी जगह न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय उनके कानूनविषयक ज्ञान की जाँच की जाती है। परन्तु एक उच्च न्यायाधीश के लिए कानून का विशेष ज्ञान ही आवश्यक नहीं, उसे निष्पक्ष भी होना चाहिए। पूर्वाग्रह न्याय-व्यवस्था के लिए घातक हैं। उसे अपनी भावनाओं तथा अपनी वैयक्तिक धारणाओं को अपने नियन्त्रण में रखना चाहिए और उस से अपने निर्णयों को प्रभावित नहीं होने देना चाहिए। इसके साथ न्यायाधीश को सत्यनिष्ठ, ईमानदार तथा बाह्य प्रभावों से मुक्त होना चाहिए। यदि न्यायाधीश ईमानदार नहीं, वे अर्थ-प्राप्ति के लालच में फँस जाते हैं, तो उस समय न्याय-व्यवस्था दुखद परिहास मात्र बनकर रह जाती है। नैतिक आचरण की उच्चता जितनी एक न्यायाधीश के लिए आवश्यक है उतनी शायद किसी अन्य के लिए नही। उसे मानव मनोविज्ञान का भी समुचित ज्ञान होना चाहिए। न्याय-पालन में उसे कानून की लकीर का फकीर ही नहीं होना चाहिए अपितु अपनी न्याय-भावना सामन्य बुद्धि तथा ज्ञान का भी समुचित इस्तेमाल करना चाहिए। न्यायाधीश का कार्य मानवीय है, यांत्रिक नहीं।

१३८. कानून का राज्य (Rule of Law) तथा प्रशासकीय कानून (Administrative Law)

न्यायापालिका के संगठन तथा क्षेत्र का विवरण देते हुए हमें 'कानून का राज्य' तथा 'प्रशासकीय कानून' की व्यवस्थाओं का अध्ययन भी कर लेना चाहिए।

इंग्लैण्ड के संविधान की प्रमुख विशेषता कानून का राज्य है। कानून का राज्य वहाँ के कॉमन लॉ पर आधारित है, और उसके बल पर इंग्लैण्ड में नागरिक की वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा उसके अन्य अधिकार पूर्णतया सुरक्षित हैं। इंग्लैण्ड के अनुसरण पर ही अमेरिका तथा राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यों में इस व्यवस्था का प्रचलन है। **कानून के राज्य का अर्थ है कि देश में किसी व्यक्ति की स्वेच्छाचारिता का या किसी सम्राट की निरंकुश शक्ति का शासन नहीं अपितु कानून का शासन है।** सभी नागरिक तथा राज्य-पदाधिकारी कानून के सम्मुख बराबर हैं, और न्याय-पालन की एक ही व्यवस्था है, दो नहीं। राज्याधिकारी तथा साधारण नागरिक एक ही प्रकार के कानून के अधीन हैं और एक ही प्रकार के न्यायालयों द्वारा शासित किए जाते हैं। कोई भी व्यक्ति कानून से परे या ऊपर नहीं। प्रो० डायसी ने कानून के राज्य की बड़ी विशद विवेचना की है, उन्होंने इसे ब्रिटिश संविधान का आधार माना है।

प्रो० डायसी का कथन है कि कानून के राज्य का अभिप्राय: केवल मात्र **'यह नहीं है कि कोई व्यक्ति कानून की पहुँच से बाहर है (जो कि एक अलग बात है), बल्कि यह है कि यहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति चाहे उसका सामाजिक पद और स्थिति कैसी भी हो प्रदेश के सामान्य कानून की परिधि में आता है और सामान्य न्यायालयों के क्षेत्र के अधीन है।"**[1]

जर्मनी तथा फ्रांस में राज्याधिकारियों को विशेषाधिकार प्राप्त हैं परन्तु इंग्लैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में राज्य-कर्मचारी भी साधारण नागरिकों के समान उत्तरदायी हैं। प्रो० डायसी का कथन है कि **"हमारे यहाँ प्रधान मन्त्री से लेकर एक साधारण सिपाही या करसंग्रहकर्त्ता तक सभी साधारण नागरिकों की तरह अपनी गैरकानूनी कार्यवाहियों के लिए उत्तरदायी है।"**[2] इंग्लैण्ड में अनेक राज्य-कर्मचारियों पर गैरकानूनी कार्यवाहियों के लिए मुकदमे चले हैं और उन्हें अपनी स्थिति का दुरुपयोग करने के अपराध में सजा दी गई है।

डायसी के अनुसार यह व्यवस्था इंग्लैण्ड में साधारण नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा का प्रमुख साधन है। उसने कहा है कि **"किसी भी व्यक्ति को शारीरिक तथा सम्पत्तिक दण्ड तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि देश के न्यायालयों के सम्मुख विधिवत कानून भंग को साबित न कर दिया जाय"**[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी भी नागरिक की वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति का अपहरण तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि कानून के आधार पर न्यायालय उसे अपराधी साबित नहीं कर दें। इस व्यवस्था के फलस्वरूप कार्यपालिका की शक्ति सीमित हो जाती है और न्यायपालिका राज्य-कर्मचारियों की क्रिया-विधि की समुचित समीक्षा कर सकती है। डायसी का कथन है कि इंग्लैण्ड में कार्यपालिका कभी निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकती।

परन्तु यह व्यवस्था सभी पर समान रूप से लागू नहीं होती। सम्राट पर किसी भी न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। इसी प्रकार अनेक अन्य राज्य-कर्मचारी भी साधारण कानून के नियन्त्रण से मुक्त होते हैं और उन पर साधारण न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। उदाहरणार्थ इंग्लैण्ड में न्यायाधीश अनजाने में यदि अपने अधिकार-क्षेत्र का उल्लंघन करदें तो उनके विरुद्ध

1. "Not only that with us no man is above the law, but (what is a different thing) that here every man, whatever be his rank or condition is subject to the ordinary law of the realm and amenable to the jurisdiction of the ordinary tribunals."—*Dicey.*

2. "With us every official, from the Prime Minister to a constable or a collector of taxes, is under the same responsibility for every act done without legal justification as any other citizen."

3. "That no man is punishable or can be lawfully made to suffer in body or in goods except for a distinct breach of law established in the ordinary legal manner before the ordinary courts of the land."—*Dicey.*

कोई कार्यवाही नहीं की जाती। यातायात तथा परिवहन के अधिकारी-जन भी अपने अनेक विभागीय गलतियों के लिए अपने विभाग के उच्चाधिकारियों के प्रति जिम्मेवार होते हैं। इधर पार्लियामेण्ट के अनेक कानूनों द्वारा कानून के राज्य की व्यवस्था के क्षेत्र को संकुचित किया जा रहा है। फैक्टरी एक्ट, ऐजुकेशन एक्ट इत्यादि द्वारा प्रशासकीय कानून की व्यवस्था की स्थापना की जा रही है। युद्ध के दौरान में तो कानून के राज्य (Rule of Law) की व्यवस्था वैसे ही समाप्त हो जाती है।

१३९. प्रशासकीय कानून (Administrative Law)

कानून के राज्य के विपरीत फ्रांस, जर्मनी तथा स्विट्ज़रलैण्ड इत्यादि देशों में प्रशासकीय कानून तथा प्रशासकीय न्यायालयों (Administrative court) की व्यवस्था रहती है। इन न्यायालयों का संगठन प्रशासकीय न्यायालयों से भिन्न होता है। इन न्यायालयों का संगठन साधारण नागरिक तथा राज्य-कर्मचारियों के पारस्परिक झगड़ों को निपटाने के लिए किया जाता है। प्रशासकीय कानून भी साधारण कानून से भिन्न होता है। प्रशासकीय कानून विधानपालिका द्वारा निर्धारित नहीं होता और न ही वह लिखित तथा संगृहीत (Codified) होता है, वह परम्परागत न्याय-निर्णयों पर आधारित होता है। ग्रेट ब्रिटेन के कॉमन लॉ (Common Law) की तरह यह भी न्यायाधीश निर्मित कानूनों पर आधारित है।

प्रशासकीय कानून का आधार—रोमन कानून-व्यवस्था को प्रशासकीय कानून का एक प्रमुख आधार माना जाता है। रोमन कानून के अनुसार कहा जाता है कि राज्य के प्रशासकीय अधिकारियों की विशेष सुरक्षा होनी चाहिए और उन पर साधारण न्यायालयों में मुकदमा नही चलाया जाना चाहिए। अगर नागरिकों को राज्य-कर्मचारियों के विरुद्ध कोई शिकायत हो या राज्य-कर्मचारी अपनी शासकीय स्थिति में साधारण नागरिक के अधिकारों को नष्ट करने का प्रयत्न करें तो उस समय उनकी कार्यवाहियों की जाँच विशेष न्यायालय द्वारा होनी चाहिए जो साधारण न्यायालय से भिन्न हों।

दरअसल तो इस व्यवस्था का जन्म फ्रांस की विशेष प्रकार की परिस्थितियों के अन्तर्गत ही हुआ और फ्रांस का अनुसरण करते हुए ही जर्मनी तथा स्विट्ज़रलैण्ड में इस व्यवस्था का प्रचलन हुआ। क्रान्ति से पूर्व फ्रांस में शासन में तथा न्यायालयों में अनेक बार कलहपूर्ण विवाद उत्पन्न हो जाते थे। क्रान्ति के अनन्तर यह अनुभव किया गया कि न्यायालयों द्वारा प्रशासकीय मामलों में हस्तक्षेप सुशासन के लिए घातक है, शासन के अधिकारियों पर न्यायालय द्वारा किये जा रहे कड़े नियन्त्रण की यह प्रतिक्रिया थी। न्यायालय तथा प्रशासकीय विभाग की स्वतन्त्रता का सैद्धान्तिक समर्थन मॉण्टेस्क्यू के शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त द्वारा किया गया। क्रान्तिकालीन संविधानों में इस व्यवस्था को अपनाया गया, नैपोलियन ने भी इसे खत्म न किया और आज तक इसके कुछ परिवर्तित रूप का फ्रांस में प्रचलन है।

१७९० ई० में कानून द्वारा न्यायिक तथा प्रशासकीय विभागों के विभाजन

की व्यवस्था की गई थी। साधारण न्यायालय का क्षेत्र दीवानी तथा फौजदारी मामलों के निर्णय तक ही सीमित कर दिया गया। शासकीय झगड़ों की देखभाल तथा उनके निर्णय का अधिकार प्रशासन-विभाग को सौंप दिया गया।

प्रशासकीय कानून की परिभाषा—प्रो० डायसी ने प्रशासकीय कानून की परिभाषा करते हुए कहा है कि "प्रशासकीय कानून का अभिप्राय नियमों के उस संग्रह से है जिसके आधीन राज्य के सभी अधिकारियों की स्थिति तथा उनकी ज़िम्मेवारी, राज्य का प्रतिनिधित्व करते हुए अधिकारियों के साथ तथा अपने सम्बन्धों में नागरिकों के अधिकारों तथा ज़िम्मेवारियों का, और इन अधिकारों तथा ज़िम्मेवारियों को प्रभावशाली बनाने की व्यवस्था का निश्चय तथा नियमन किया जाता है।"[1]

प्रशासकीय कानून इस प्रकार, साधारण नागरिकों तथा राज-कर्मचारियों के सम्बन्धों का निर्णय करते है, दोनों के उत्तरदायित्वों तथा अधिकारों की व्यवस्था करते हैं और ऐसे साधन का निश्चय करते हैं जिनके द्वारा उपर्युक्त नियमों का पालन हो सके।

फ्रांस के प्रशासकीय न्यायालयों का संगठन—फ्रांस में पहले तो प्रशासकीय अधिकारियों सम्बन्धी झगड़ों का निर्णय शासनाधिकारी ही कर लिया करते थे, परन्तु बाद में प्रशासकीय न्यायालयों की स्थापना की गई। सन् १७९९ में प्रान्तीय कौन्सिल तथा स्टेट कौन्सिल बनाई गई। परन्तु सन् १९२६ में प्रशासकीय न्यायालयों का पुनर्संगठन किया गया। इस समय फ्रांस में २२ प्रादेशिक कौन्सिलें है जो विभिन्न प्रान्तों में प्रशासकीय कानून के अनुसार झगड़ों का निर्णय करती है। सर्वोच्च प्रशासकीय न्यायालय कौन्सिल ऑफ स्टेट है जो कि पेरिस में अपना काम करती है। प्रत्येक प्रादेशिक कौन्सिल (Regional Council) का एक प्रधान होता है और चार सदस्य। इनकी नियुक्ति गृह-मन्त्री (Minister of Interior) द्वारा की जाती है। प्रादेशिक कौन्सिल के फैसलों के विरुद्ध कौन्सिल ऑफ स्टेट के पास अपील की जा सकती है। कौन्सिल ऑफ स्टेट (Council of State) सर्वोच्च प्रशासकीय न्यायालय है और उसका निर्णय अन्तिम होता है। कौन्सिल ऑफ स्टेट के सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल की सलाह पर करता है।

प्रशासकीय न्यायालयों तथा साधारण न्यायालयों के पारस्परिक विवाद के निर्णय के लिए कॉनफ्लिक्ट कोर्ट (Conflict Court) की व्यवस्था की गई है। कॉनफ्लिक्ट कोर्ट के नौ सदस्य हैं, तीन सर्वोच्च न्यायालय के प्रतिनिधि होते हैं, तीन सर्वोच्च प्रशासकीय न्यायालय (Council of State) के और दो सदस्यों का चुनाव दोनों दल मिलकर करते हैं। नवाँ सदस्य न्याय-मन्त्री (Minister of

1. Administrative law is the body of rules which regulate the relations of the administrative authority towards private citizens and determines the position of state officials, the rights and liabilities of the private citizens in their dealings with these officials as representatives of the state and procedure by which these rights and liabilities are enforced."—*Dicey.*

Justice) होता है जो इस कोर्ट का प्रधान भी होता है। आठ सदस्य तीन साल के लिए चुने जाते हैं उनके पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था भी है। न्यायमन्त्री मंत्रिमण्डल का सदस्य होने के कारण मन्त्रिमण्डल के जीवन-काल तक ही इसका प्रधान रहता है। स्थानीय मेयर से लेकर राष्ट्रपति तक जितने भी राज्याधिकारी हैं उनके कार्यों की वैधता तथा अवैधता का अन्तिम निर्णय कौन्सिल ऑफ स्टेट करती है। उनके कार्यों से जिन व्यक्तियों को नुक्सान पहुँचता है उनकी क्षति-पूर्ति की व्यवस्था भी प्रशासकीय न्यायालय ही करते है।

प्रशासकीय न्यायालय का मूल्यांकन—प्रशासकीय न्यायालयों की व्यवस्था की कुछेक अंग्रेज विधानशास्त्रियों ने कड़ी आलोचना की है। प्रो० डायसी का कथन है कि प्रशासकीय न्यायालयों से न्याय की उम्मीद नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रशासकीय न्यायालयों का संगठन सरकारी अधिकारियों से मिलकर होता है। वे साधारण नागरिकों के हितों की रक्षा की बजाय अपने सहयोगियों तथा साथियों की ही सहायता अधिक करेंगे। इस व्यवस्था के अन्तर्गत न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता की आशा नहीं की जा सकती। उनकी पदावधि (Term of Office) कार्यपालिका की इच्छा पर आश्रित होती है, वह जब चाहे उन्हें हटा सकती है अतः वे सदा ही कार्यपालिका के प्रभाव में रहते हैं।

कौंसिल ऑफ स्टेट ने इतनी शक्ति अपने हाथ में निहित करली है कि उसके परिणामस्वरूप साधारण न्यायालयों की प्रतिष्ठा बहुत गिर गई है।

साधारणतया यह व्यवस्था इसलिए भी ठीक नही जँचती कि यह साधारण नागरिक में और राज-पदाधिकारी में अन्तर करती है। दोनों के लिए दो विभिन्न प्रकार के कानूनों की तथा न्यायालयों की व्यवस्था करती है।

परन्तु उपर्युक्त आलोचना बहुत-कुछ भ्रमपूर्ण आधारों पर आश्रित है। अमेरिका तथा इग्लैण्ड दोनों ही देशों में ऐसे विधानशास्त्री मौजूद हैं जो इस व्यवस्था की बहुत प्रशंसा करते है। यहाँ तक कि प्रो० डायसी ने भी प्रशासकीय न्याय-व्यवस्था की प्रशंसा की है। उसका कथन है कि कौन्सिल ऑफ स्टेट हर साल बड़ी बुद्धिमत्ता तथा चतुरता से राज्य-कर्मचारियों की स्वेच्छाचारिता को रोकने के उपाय खोजती रहती है, उसने यह स्वीकार किया है कि अंग्रेज विधानशास्त्री प्रशासकीय न्याय-व्यवस्था में मौजूदा गुणों को जाँचने में असमर्थ है।

यह कहना भी गलत है कि प्रशासकीय न्यायालयों के निर्णय पक्षपातपूर्ण हो सकते हैं या उनसे न्याय की कोई उम्मीद नहीं की जा सकती। व्यवहार में प्रशासकीय न्यायालयों ने पक्षपात-हीनता, स्वतन्त्रता तथा उच्च न्यायबुद्धि का परिचय दिया है। फ्रांस के साधारण नागरिकों में जितना विश्वास इस व्यवस्था ने उत्पन्न किया उतना अन्य किसी ने नहीं। वह एक साधारण अंग्रेज नागरिक की अपेक्षा प्रशासकीय न्यायालयों के हाथ में अपनी स्वतन्त्रता को अधिक सुरक्षित समझता है। कौन्सिल ऑफ स्टेट ने साधारण नागरिकों के अधिकारों का अधिक ध्यान रखा है। उसका पिछला इतिहास यह स्पष्ट कर देता है कि उसने सैकड़ों केसों में साधारण नागरिकों के हॅक

में फैसला दिया और राज्य को अपराधी ठहराया।

यह व्यवस्था कार्यपालिका की स्वतन्त्रता को स्थापित करती है और प्रशासन सम्बन्धी अन्यायों का फैसला उन लोगों के हाथ में छोड़ती है जो प्रशासन के मामलों में विशेषज्ञ होते हैं, न्यायाधीश जन तो केवलमात्र कानून के पण्डित होते हैं, उनके निर्णय केवलमात्र कानून पर आधारित होते हैं उन्हें प्रशासकीय मामलों का अनुभव ही नहीं होता। अतः प्रशासकीय विवादों के विषय में दिये गये उनके निर्णय यह जरूरी नहीं कि न्यायोचित हों। शासकीय अधिकारियों द्वारा दिए गये निर्णय विशेषज्ञता पर आधारित होते हैं, प्रशासकीय कानून लिखित तथा कठोर विधान नहीं, वह तो उदार केस लॉ है। उसका आधार न्यायाधीश द्वारा निर्मित कानून हैं। प्रशासकीय न्यायालयों के निर्णय न्याय-भावना (Equity) पर आधारित होते हैं।

यह कहना भी गलत है कि प्रशासकीय न्यायालयों के न्यायाधीश स्वतन्त्र नहीं होते और उन्हें जब चाहे सरकार हटा सकती है। आज तक किसी भी न्यायाधीश को पदच्युत नहीं किया गया और न ही यह सिद्ध किया जा सकता है कि प्रशासकीय न्यायालय के सदस्य कार्यपालिका द्वारा प्रभावित किये जाते हैं। प्रशासकीय न्यायालयों के सदस्य भी उतने ही स्वतन्त्र हैं, जितने कि साधारण न्यायालयों के। प्रशासकीय न्यायालयों तक प्रत्येक साधारण नागरिक की पहुँच है। मुकदमे में खर्च भी बहुत कम होता है, और प्रत्येक मामले का बड़ी तत्परता से फैसला किया जाता है। यहाँ तक कि सर्वोच्च प्रशासकीय न्यायालय कौंसिल ऑफ स्टेट तक पहुँचने के लिए भी कोई दिक्कत नही उठानी पड़ती। क्षति-ग्रस्त व्यक्ति के लिए प्रशासकीय न्यायालय क्षति पूर्ति की व्यवस्था भी करते हैं। डा० गार्नर के अनुसार फ्रेंच नागरिक कौन्सिल ऑफ स्टेट के प्रति वैसी ही श्रद्धा रखता है जैसे कि अमेरिकन नागरिक सुप्रीम कोर्ट के प्रति।

इस व्यवस्था की सर्वप्रियता ही इसकी उपादेयता को सिद्ध करती है।

निष्कर्ष—ऊपर हमने कानून का राज्य (Rule of Law) तथा 'प्रशासकीय कानून' (Administrative Law) का विवेचन किया है, आज दोनों व्यवस्थाओं में बहुत कम अन्तर रह गया है। हम पहले लिख आये हैं कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंग्लैण्ड इत्यादि राज्यों में वर्तमान काल में अनेक ऐसे कानूनों की व्यवस्था की जा रही है कि जिसके द्वारा कार्यपालिका की न्याय-पालन सम्बन्धी शक्तियाँ बढ़ गई हैं और अनेक मामलों में शासन के अधिकारी साधारण न्यायालयों के नियन्त्रण से मुक्त हैं। वर्तमान काल में शासन के कर्त्तव्यों की अभिवृद्धि हुई है, सामाजिक सुरक्षा तथा श्रमिक वर्ग के कल्याण के लिए अनेक ऐसे कानून बनाए जाते हैं जिनके आधीन राज्य कर्मचारियों का आचरण साधारण न्यायालयों के नियन्त्रण में नहीं आता।

सोलहवीं व सत्रहवीं सदी में इंग्लैण्ड में भी ट्यूडर तथा स्टुआर्ट राजाओं के शासन-काल में प्रशासकीय कानून की व्यवस्था की स्थापना का समर्थन किया गया था। इन राजाओं ने इस बात का समर्थन किया कि कार्यपालिका की शक्तियों

का नियन्त्रण न्यायपालिका द्वारा नहीं होना चाहिए । 'स्टार चेम्बर' (Star Chamber) 'दी कौन्सिल ऑफ दी नार्थ' (The Council of the North) तथा 'दी कोर्ट ऑफ हाई कमीशन' (The Court of High Commission) इत्यादि वस्तुतः प्रशासकीय न्यायालय ही थे । फ्रांसिस बेकन इत्यादि वकीलों ने भी प्रशासकीय न्यायालयों की स्थापना पर बल दिया था । परन्तु गृह-युद्ध में स्टुआर्ट राजाओं के हारने के कारण ऐसा न हो सका । दोनों विश्व-युद्धों के दौरान में इंग्लैण्ड में कानून के राज्य की बेशुमारी दिक्कतों को महसूस किया गया । उन दिनों या तो इस व्यवस्था को खत्म ही करना पड़ा या फिर ऐसे न्यायालय स्थापित किये गये जिन्हें प्रशासकीय न्यायालय ही कहना अधिक उपयुक्त है ।

संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत में भी राष्ट्रपति तथा कुछ अन्य उच्च कर्मचारी अपनी कार्यवाहियों के लिए न्यायालय द्वारा नियन्त्रित नहीं किये जा सकते हैं । वस्तुतः वर्तमान स्थितियों में सर्वत्र ही प्रशासकीय कानून की व्यवस्था पर्याप्त विकसित हो रही है । इस विकास का कारण वर्तमान युग की राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ हैं, जिन्होंने राज्य के कर्त्तव्यों की प्रकृति को ही परिवर्तित कर दिया है ।

१४०. न्यायपालिका, विधानपालिका तथा कार्यपालिका के पारस्परिक सम्बन्ध

सरकार के तीनों अंगों पर विचार करने से पूर्व हमने यह स्पष्ट किया था कि तीनों अंग यद्यपि अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करते हैं तथापि वे परस्पर सम्बन्धित है । तीनों ही ऐसे-ऐसे कार्य करते हैं जिनका सम्बन्ध उनके क्षेत्र से नहीं होता । जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं कि न्यायपालिका केवल कानून की व्याख्या ही नहीं करती अपितु कानून बनाती भी है, क्योंकि कानून अपूर्ण होते हैं, वे सभी प्रकार के मुकदमों को हल करने में सहायक नहीं हो सकते । ऐसी अवस्था में न्यायाधीश अपनी न्यायबुद्धि या सामान्य तथा सहज ज्ञान के अनुसार मुकदमे का फैसला करते हैं । जब इन्हीं का पर्याप्त समय तक अनुसरण होता रहता है तो वे दृष्टान्त (Precedent) बन जाते हैं, और कानून का रूप धारण कर लेते हैं । संघ-शासन के अन्तर्गत न्यायपालिका सभी प्रकार के कानूनों की संवैधानिकता की परीक्षा भी करती है ।

विधानपालिका भी न्याय-पालन सम्बन्धी शक्तियों का प्रयोग करती हैं, न्यायालयों के संगठन तथा क्षेत्र इत्यादि की व्यवस्था विधानपालिका द्वारा की जाती है । यही नहीं कभी-कभी विधानपालिका न्यायपालिका सम्बन्धी शक्तियों का भी प्रयोग करती है, जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत के राष्ट्रपति पर दोषारोपण की व्यवस्था की गई है । न्यायालयों के संचालन के लिए आवश्यक अर्थ-व्यवस्था भी विधानपालिका के ही अधीन होती है । न्यायाधीशों के अपने पद से हटाने में भी विधान पालिका विशेष भाग लेती है । अनेक स्थानों पर न्यायाधीशों की नियुक्ति में विधानपालिका विशेष भाग लेती है, अनेक स्थानों पर न्यायधीशों की नियुक्ति ही विधानपालिका द्वारा होती है ।

कार्यपालिका तथा न्यायपालिका भी परस्पर सम्बन्धित हैं । न्यायपालिका कानून की व्याख्या करती है उसके अनुसार विभिन्न विवादों का निर्णय करती है परन्तु न्यायपालिका द्वारा दिए गए निर्णयों को कार्यपालिका ही कार्यान्वित करती है। न्यायाधीशों की नियुक्ति भी अनेक स्थानों पर कार्यपालिका द्वारा की जाती है। यही नहीं कार्यपालिका कुछ न्याय पालन सम्बन्धी शक्तियों का भी प्रयोग करती है, इनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

न्यायपालिका को भी राजकर्मचारियों की कार्यवाहियों पर नियन्त्रण करने का अधिकार होता है । यही नहीं न्यायपालिका अनेक ऐसी शक्तियों का प्रयोग भी करती है जिसका वास्तविक सम्बन्ध कार्यपालिका से होता है, न्यायपालिका से नहीं।

इस प्रकार राज्य के तीनों भाग पारस्परिक सहयोग तथा मेल से कार्य करते हैं।

Important Questions

Reference

1. "There is no better test of the excellance of a Government than the efficiency of its Judicial System." Explain and discuss the importance and functions of the judiciary in modern States. (*Punjab 1942*) — Arts. 134 and 135

2. Discuss the merits and demerits of the different methods of appointing judges. (*Punjab 1937*) — Art. 137 the methods of the appointment of judges.

3. What do you understand by the term "Independence of the Judiciary"? Why is it necessary in a state that the judiciary should be independent? What means are necessary for that purpose? (*Punjab 1944, 1942, 1940, Bombay 1931*) — Art. 137

4. What is the function of the Judiciary in the modern State? How are judges appointed in different countries? Which of these methods do you favour and why? (*Punjab* 1946, 1951, 1952) — Arts. 135 and 136

5. Give the merits and demerits of the Rule of Law and Administrative Law in the light of English and French experiences. (*Pb.* 1947, 1948, 1949)

Or

What are Administrative Courts? How do they differ from the ordinary Courts of Law? (*Pb.* 1951)

Or

What is *droit administrat if* (Administrative Law)? How does it differ from the Rule of Law? (*Pb.* 1954, 1 55)

Or

Does it prevail in India? (*Pb.* 1955) — Arts. 138 and 139

अध्याय २०

राजनीतिक दल

(Political Parties)

पीछे हम सरकार के तीन विभिन्न भागों के कार्यों का विवेचन कर आये हैं, परन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, सरकार के तीन विभागों के स्थान पर पाँच या इससे भी अधिक विभाग समझने चाहिएँ । विधानपालिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के अतिरिक्त आजकल राजनीतिक दल तथा निर्वाचक-मण्डल को भी सरकार का महत्त्वपूर्ण अंग समझा जाता है । वर्तमान युग में प्रजातन्त्रात्मक राज्यों के अन्तर्गत जनमत के निर्माण में तथा निर्वाचकों को संगठित रूप देने के लिए राजनीतिक दलों की उपस्थिति लाजमी समझी जाती है । राजनीतिक दलों की अनुपस्थिति में प्रजातन्त्र की सफलता में सन्देह प्रगट किया जाता है । सभी प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में इनका संगठन रहता है । प्रजातन्त्र की सफलता के लिए इनकी उपस्थिति इतनी आवश्यक हो चुकी है कि अनेक विचारक तो सरकार के तीन हिस्सों के अतिरिक्त राजनीतिक दलों को उसका चौथा आवश्यक हिस्सा समझते हैं । यद्यपि राजनीतिक दलों को आज के थोड़े से ही प्रजातन्त्रात्मक देशों में संवैधानिक मान्यता दी गई है तथापि वे सरकार के संविधानातिरिक्त (Extra-constitutional) भाग बन चुके हैं । चाहे हम उन्हें सरकार का उतना ही महत्त्वपूर्ण कानूनी भाग न मानें जितना कि विधानपालिका वगैरा है तो भी उनकी महत्ता से कोई भी इनकार नहीं कर सकता ।

प्रजातन्त्र के अन्तर्गत राजनीतिक दलों का संगठन सर्वथा स्वाभाविक है, क्योंकि प्रजातन्त्र मत-भेद की भिन्नता को स्वीकार करता है और विचार स्वातन्त्र्य को शासन-प्रणाली का आधार मानता है । निरंकुशतन्त्र में, जहाँ विचार प्रगट करने का किसी को कानूनी अधिकार नहीं होता, राजनीतिक दलों का संगठन नहीं हो पाता । निरंकुश राज्य शासन के अन्तर्गत राज्य-कर्मचारियों की आलोचना नहीं की जा सकती । शासन-नीति पर जन-साधारण अपने विचार ही नहीं प्रगट कर सकते । परन्तु जहाँ कहीं प्रजातन्त्र अपने प्रारम्भिक रूप में मौजूद था, वहीं राजनीतिक दलों को भी संगठित किया गया । यह ठीक है कि यह राजनीतिक दल उसी प्रकार से अच्छी तरह से संगठित नहीं थे जैसे कि आज के राजनीतिक दल हैं । पुराने ग्रीस तथा रोम में राजनीतिक पार्टियों की अवस्थिति मिल जाती है । इन राजनीतिक पार्टियों को राजनीतिक गुट्ट कहना अधिक संगत होगा । आज के युग की विशाल राजनीतिक पार्टियों का जन्म तो हाल ही में हुआ है । हाल ही में निर्वाचन-व्यवस्था में अनेक सुधार किये गये, और मताधिकार को विस्तृत किया गया, राज्याधिकारियों के चुनाव की व्यवस्था

की गई। इस प्रकार जनता के एक बड़े भाग को राज्य-शक्ति के संचालन में हिस्सा दिया गया; इस विशाल निर्वाचक वर्ग के संगठन के लिए राजनीतिक दलों का उदय हुआ। जनसामान्य के संगठन, उनके पथ-प्रदर्शन तथा मत-निर्माण के लिए राजनीतिक दलों का संगठन लाजमी था।

राजनीतिक दलों के उदय का कारण मनुष्य के स्वभाव का विभेद या विचारों की भिन्नता है। राजनीतिक दलों को स्वैच्छिक समुदायों में रखा जाता है और स्वैच्छिक समुदायों का निर्माण अनेक आधारों पर सम्भव है। स्वैच्छिक समुदाय आयु लिंग, प्रदेश, मतेकता तथा पेशे वगैरा के आधार पर संगठित किये जा सकते हैं। राजनीतिक मामलों में मतभेद स्वाभाविक हैं। किसी भी राजनीतिक समस्या के सुलझाव के लिए सभी लोग एक ही दृष्टिकोण से नहीं सोच सकते, वे अलग-अलग सुलझाव पेश कर सकते है। अतः अलग-अलग तरह के विचारों के समर्थक ग्रुपों का अविर्भाव हो जाता है। राजनीतिक दलों का स्वाभाविक विभाजन तो उदार तथा अनुदार प्रगतिशील तथा प्रतिक्रियावादी दलों के रूप में किया जा सकता है। हमेशा सामाजिक परिवर्तनों के विरोध में तथा पक्ष में जनमत का विभाजन हो जाता है। जो परिवर्तन का विरोधी होता है, वही जनमत प्रतिक्रियावादी कहलाता है। सभी देशों में राजनीतिक दृष्टि से जनसामान्य का मत इसी रूप में विभाजित रहता है। इस विभाजन की तह में समाज का वर्गगत विभाजन छिपा रहता है। राजनीतिक क्षेत्र में तो पार्टीबाजी का आधार आर्थिक स्वार्थ रहे हैं। एक ही स्वार्थ के संरक्षक लोग एक ही दल या पार्टी के रूप में संगठित हो जाते हैं। निहित स्वार्थों वाले लोग, सम्पत्तिशाली तथा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न लोग परिवर्तन के विरोधी होते हैं, और आर्थिक दृष्टि से कमजोर लोग परिवर्तन के समर्थक। अनेक बार तथा कथित अनुदार दलों में भी उदार प्रवृत्तियों का जन्म हो जाता है, इस परिवर्तन का बहुत बड़ा कारण परिवर्तित सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ ही होती हैं।

आर्थिक हितों की सामान्यता के आधार पर आज के अनेक राजनीतिक दल संगठित हैं। समाजवादी दल, मजदूर दल, कृषक दल, अनुदार तथा उदार दल इत्यादि का संगठन आर्थिक हितों की सामान्यता के आधार पर हुआ। कभी-कभी शुरू में किन्हीं राजनीतिक दलों का संगठन किन्हीं विशेष आर्थिक हितों की समानता के आधार पर नहीं होता, केवल राजनीतिक मतभेद ही इनके आधार बन जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में आर्थिक हितों की असमानता की बजाये राजनीतिक मतभेद ही राजनीतिक दलों के संगठन का कारण बने। सामान्य राष्ट्रीय स्वार्थों की सुरक्षा के लिए भी राजनीतिक दलों का संगठन किया जाता है। जब कभी कोई देश किसी अन्य राज्य के अधीन होता है तो वहाँ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के हित अनेक प्रकार के आर्थिक तथा राजनीतिक मतावलम्बी इकट्ठे हो जाते हैं। भारत में इण्डियन नैशनल कांग्रेस एक ऐसा ही विशुद्ध राष्ट्रीय संगठन था इस संगठन का उद्देश्य भारत के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति था, यह उद्देश्य सभी राजनीतिक दलों का एक साँझा उद्देश्य था, अतः इस पर सभी दल एकमत थे और वे कांग्रेस पार्टी के ही

भाग बनकर स्वतान्त्र्य-युद्ध लड़ते रहे । स्वतन्त्र भारत में आर्थिक संगठन कैसा हो, इस विषय में काँग्रेस के भीतर मतभेद था । समाजवादी दल अनेक प्रकार के आर्थिक सुधारों की माँग करता था, अतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अनन्तर आर्थिक प्रश्नों पर काँग्रेस से मतभेद होने के कारण इस दल ने अपना पृथक् संगठन बना लिया । इसी प्रकार आयरलैण्ड की स्थिति थी ।

अनेक बार राजनीतिक पार्टियों के संगठन का आधार धर्म, जाति तथा वर्ग भेद होता है । यूरोप में शुरू-शुरू में कुछेक राजनीतिक दलों का संगठन धर्म के आधार पर हुआ था, आज भी कुछ राजनीतिक दल अपने आपको अर्द्ध-धार्मिक आधारों पर आधारित किये हुए हैं । परन्तु मौजूदा हालात में यूरोप में राजनीतिक दलों के संगठन में धार्मिक मतभेद का कोई महत्त्व नहीं रहा । राजनीतिक दलों का संगठन आर्थिक तथा राजनीतिक मतभेद के आधार पर होता है । धर्म तो वैयक्तिक जीवन से ही सम्बन्धित कल्पित किया जाता है ।

परन्तु हमारे यहाँ राजनीतिक जीवन में धर्म का पर्याप्त महत्त्व है, हमारे यहाँ बहुत से राजनीतिक दलों का संगठन धार्मिक मतभेद के आधार पर किया गया है । हिन्दू सभा, जन संघ, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, मुस्लिम लीग, अकालीदल, रामराज्य परिषद् इत्यादि दलों का सगठन धार्मिक आधार पर किया गया है । १९४७ से पूर्व भारत में स्थित ब्रिटिश सरकार ने इन धार्मिक मतभेदों के प्रसार को बहुत प्रोत्साहित किया था, उसी ने साम्प्रदायिक दलों को प्रश्रय दे देश का विभाजन किया । राजनीतिक दलों का धार्मिक तथा जातीय आधार पर संगठित करना राजनीतिक दृष्टि से अप्रगतिशीलता का सूचक है । हमारा दुर्भाग्य है कि देश के बँटवारे के अनन्तर भी हमारी आँखें नहीं खुलीं और हम धर्मगत तथा जातिगत भेदों को देश की राजनीति में महत्त्व देते हैं । राष्ट्रीय एकता के लिए तथा स्वस्थ राजनीतिक विचारों के प्रसार के लिए हमारे यहाँ राजनीतिक दलों का संगठन धर्म के आधार पर नहीं अपितु राजनीतिक तथा आर्थिक विचारों की भिन्नता के आधार पर होना चाहिए । धर्म के आधार पर संगठित राजनीतिक दल प्रजातन्त्र के विकास में बाधक हैं, वे जनसामान्य में राजनीतिक चेतना उत्पन्न ही नहीं होने देते, जनसामान्य का ध्यान देश की आर्थिक त्रुटियों की ओर जाने ही नहीं देते । धर्म का जोश लोगों में फासिस्ट भावनाओं को भर सकता है । वैसे भी आज राजनीतिक दृष्टि से उन्नत देशों में राजनीति में धर्म को महत्त्व ही नहीं दिया जाता । बीयर्ड (Beard) का कथन है कि **"सभी देशों में बुद्धिमान नेताओं ने धार्मिक मतभेदों के राजनीतिक आन्दोलनों तथा विवादों में किये जाने वाले प्रयोग को बुरा कहा है ।"**[1]

१४१. राजनीतिक दलों का स्वरूप विवेचन

राजनीतिक दलों के विकास तथा उनके संगठन के विभिन्न आधारों का

1. "The wisest of leaders in all dominions have deplored the introductions of religious desputes into political discussions and campaigns."—*Beard.*

विवेचन तो हम ऊपर कर आये हैं, अब हम उनका स्वरूप-विवेचन करेंगे। राजनीतिक दलों की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। हम पीछे लिख आए हैं कि राजनीतिक दलों को स्वैच्छिक समुदायों के अन्तर्गत रखा जाता है। समुदाय कुछेक व्यक्तियों का एक ऐसा संगठन कहलाता है जो कि किसी एक या एक से अधिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्थापित किया जाता है। इस दृष्टि से राजनीतिक दल से हमारा अभिप्राय एक ऐसे मनुष्यों के समुदाय से होगा जिसका उद्देश्य कुछ राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति है। 'राजनीतिक उद्देश्यों' से हमारा मतलब राज्य-शासन की मशीनरी पर कब्जा कर उसे अपने राजनीतिक प्रोग्राम की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाना है। सुप्रसिद्ध अंग्रेज विचारक बर्क के मतानुसार **"राजनीतिक दल कुछ ऐसे नियमों के अनुसार जिस पर कि सभी सहमत हों, सामूहिक प्रयत्नों द्वारा जनता के हितों को बढ़ाने के लिए संगठित एक मनुष्यों का समुदाय है।"**[1] इसी प्रकार गेटल ने राजनीतिक दल की परिभाषा करते हुए कहा है कि **"राजनीतिक दल प्रायः संगठित नागरिकों का एक ऐसा समुदाय है जो कि राजनीतिक इकाई की तरह कार्य करता है और अपने मतदान की शक्ति का इस्तेमाल कर सरकार को संगठित करना तथा अपनी सामान्य नीति को पूर्ण करना चाहता है।"**[2]

मेकआइवर (MacIver) के शब्दों में **"राजनीतिक पार्टी वह समुदाय है जिसका संगठन किसी नीति अथवा सिद्धान्त के समर्थन में हुआ हो और जो संवैधानिक उपायों से उस सिद्धान्त अथवा नीति को शासन का आधार बनाने में संलग्न है।"**[3]

राजनीतिक दलों के आवश्यक तत्त्व—ऊपर दी गई राजनीतिक दलों की परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक दल एक प्रकार के ऐच्छिक समुदाय हैं और उनके संगठन के लिए निम्नलिखित तत्त्व परम आवश्यक हैं। इन तत्त्वों की अनुपस्थिति में किसी भी राजनीतिक दल का राजनीतिक पार्टी हो सकना कठिन है। ये तत्त्व इस प्रकार हैं—

(१) संगठन—किसी भी दल अथवा समुदाय (Association) का प्रथम आवश्यक अंग है। संगठन के बिना तो कोई भी दल पार्टी नहीं कहला सकता भले ही उसके सदस्यों की संख्या कितनी भी बड़ी क्यों न हो। संगठन के अभाव में तो वे भीड़ मात्र होंगे। संगठन को बनाये रखने के लिए अनेक लिखित तथा अलिखित नियम हो

---

1. "A political party is a body of men united for the purpose of promoting by their joint endeavours the public interests upon some principles on which they are all agreed."—*E. Burke.*

2. "A political party consists of a group of citizens, more or less organised who act as a political unit and who, by the use of their voting power, aims to control the government and carry out their general policies."—*Gettell.*

3. "A political party is an association organised in support of some principles or policy which by constitutional means endeavour it to make the determinant of the government."—*MacIver.*

सकते हैं जिनका अनुसरण दल के सदस्य करते हैं, अनेक व्यक्तियों का संगठन ही समुदाय को शक्तिवान बनाता है।

(२) **मूलभूत विचारों की एकता** (Agreement on fundamental principles) राजनीतिक दल के संगठन की ही एक विशेषता समझनी चाहिए। विभिन्न प्रकार के राजनीतिक मसलों के सुलझाव के लिए एक ही जैसे मत को विकसित करने से ही दलीय एकता कायम रह सकती है अन्यथा नहीं। दल का प्रत्येक सदस्य कुछ आधारभूत तथ्यों या नियमों में विश्वास करने वाला हो। इन नियमों के विस्तृत रूप की व्याख्या में मतभेद सम्भव है, परन्तु दल के प्रत्येक सदस्य को अपनी पार्टी के संगठन के आधारभूत नियमों में यकीन करने वाला होना चाहिए। समाजवादी दल तथा कम्यूनिस्ट पार्टी दोनों के ही कुछेक आधारभूत नियम हैं जिनमें यकीन करना इन दलों के सदस्यों के लिए आवश्यक है। दोनों दलों में हम जो भेद करते हैं वह इनके मूलभूत नियमों के विभेद के आधार पर ही करते हैं। हाँ, दोनों दलों में अलग-अलग ग्रुप हो सकते हैं, जो या तो पार्टी में सत्ता हथियाने के लिए या पार्टी के आधारभूत प्रोग्राम को अपने ढंग से लागू करने के लिए बनाये जाते हैं। काँग्रेस एक राजनीतिक संगठन है, उसके अपने आधारभूत नियम हैं, जिन पर सभी सहमत हैं, फिर भी उसमें विभिन्न गुट्टों की अवस्थिति मिल जाती है।

(३) **शान्तिपूर्ण तथा वैधानिक ढंग** (Constitutional methods)—राजनीतिक दलों के लिए यह लाजमी है कि वे शान्तिपूर्ण ढंग से काम करें और वैधानिक साधनों द्वारा अपने राजनीतिक प्रोग्राम को कार्यान्वित करें। सरकार की मशीनरी पर कब्जा कर उस द्वारा अपने प्रोग्राम को लागू करने के लिए राजनीतिक दल को मतदाताओं का समर्थन या विधानपालिकाओं में बहुमत प्राप्त करना चाहिए। मत-परिवर्तन के लिए व्यापक प्रचार ही राजनीतिक दलों का प्रमुख साधन है। जो दल या पार्टियाँ वैध उपायों में यकीन नहीं करतीं, और राज्य-शासन के अन्तर्गत परिवर्तन लाने के लिए हिंसात्मक साधनों में या बल-प्रयोग में विश्वास करती हैं, उन्हें ठीक-ठीक अर्थ में राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता।

(४) **राष्ट्रीय कल्याण की वृद्धि** (Promotion of national interests)—राष्ट्रीय हित ही राजनीतिक दलों का मकसद होना चाहिए। अगर उनका संगठन किसी विशेष जाति, समुदाय अथवा वर्ग के हितों की रक्षा के लिए किया गया हो, तो उन्हें ठीक-ठीक अर्थ में राजनीतिक दल नहीं कहना चाहिए। अनेक बार कुछ स्वार्थी व्यक्ति मिल कर अपने स्वार्थ साधन के लिए एक-दो राजनीतिक संगठन बना लेते हैं, जिनका उद्देश्य जनसामान्य का हित न होकर स्वार्थ-साधन होता है। ऐसे राजनीतिक संगठनों को राजनीतिक दल न कहकर राजनीतिक ग्रुप कहना चाहिए। अकाली पार्टी, खालसा दल, जन संघ इत्यादि राजनीतिक संगठन नहीं, वे साम्प्रदायिक संगठन हैं। ऐसे दल, जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं राष्ट्रीय हित का सम्पादन नहीं कर पाते, वह राष्ट्रीय एकता के बड़े शत्रु हैं। देश के जनसामान्य के हित को सामने रख संगठित किये गये दल ही लोकतन्त्र की सफलता में सहायक

हो सकते हैं ।

१४२. राजनीतिक दलों के कार्य (Functions of political Parties)

राजनीतिक दलों का संगठन कुछ विशेष राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है, यही इनके प्रमुख कार्य हैं । परन्तु राज्य की राजनीतिक जिन्दगी में राजनीतिक दल अनेक प्रकार के अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों का भी सम्पादन करते हैं, जिन्हें हम नीचे लिखे प्रकार से रख सकते हैं—

(१) **जनमत का संगठन**—प्रत्येक राज्य में अनेक महत्त्वपूर्ण तथा जटिल राजनीतिक समस्याएँ होती हैं, जनसाधारण में इतनी विचारशक्ति नहीं होती कि वे उन्हें अच्छी तरह समझ सकें । वे विभिन्न राजनीतिक समस्याओं के अनुपातिक महत्त्व को भी नहीं समझ पाते । राजनीतिक दल इन में से महत्त्वपूर्ण समस्याओं का चुनाव करते हैं और जनसाधारण के सम्मुख पेश करते हुए उनके लिए अपने सुलझावों का सुझाव देते हैं । इस प्रकार राजनीतिक दल विभिन्न राजकीय समस्यों पर जनमत का संगठन करते हैं ।

प्रजातन्त्र के अन्तर्गत जनसाधारण को वोट देने का हक होता है, इस प्रकार वह राज्य के नीति-निर्माण में हिस्सेदार होते हैं । परन्तु राज्य-नीति का निर्णय एक ही व्यक्ति नहीं कर सकता न ही सभी लोग मिल कर बिना किसी संगठन के ही कर सकते हैं । शासन की नीति का निर्माण राजनीतिक दल करते हैं, जनमत को संगठित कर वही उस पर जनसाधारण की सम्मति को भी प्राप्त करते हैं । शासन का आधार यही नीति है, इसी के आधार पर सरकारों का संगठन किया जाता है । इस प्रकार राजनीतिक दल जनमत के संगठन तथा प्रकाशन के साधन हैं ।

(२) **राजनीतिक चेतना का प्रसार**—राजनीतिक दल जनसाधारण में राजनीतिक शिक्षा तथा चेतना के प्रसार में प्रमुख भाग लेते हैं । वे विभिन्न राजनीतिक समस्याओं पर केवल विचार ही नहीं करते या उनके सुलझाव ही पेश नहीं करते; अपितु प्रचार के साधनों द्वारा जनसाधारण में उनका व्यापक प्रसार भी करते हैं । उनका प्रमुख उद्देश्य राजनीतिक मशीनरी पर कब्जा कर अपने प्रोग्राम को कार्यान्वित करना होता है, इस उद्देश्य को पाने के लिए उन्हें जनमत का समर्थन प्राप्त करना चाहिए । अतः प्रत्येक राजनीतिक दल अपने-अपने प्रोग्रामों की स्वीकृति के लिए जनता के पास जाता है । प्रचार द्वारा वे उसे अपना समर्थक बनाने का प्रयत्न करते हैं । जनता भी विभिन्न राजनीतिक प्रश्नों से अवगत होती है और उन पर उसे सोचने-विचारने का अवसर मिलता है । इस प्रकार राजनीति पार्टियाँ जनसाधारण में राजनीतिक जागरण को पैदा करती हैं ।

(३) **राज्य-सत्ता का नियन्त्रण**—अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक राजनीतिक दल राज्य-सत्ता के नियन्त्रण का प्रयत्न करता है । इसके लिए प्रत्येक राजनीतिक दल चुनाव लड़ता है, अपने उम्मीदवार खड़ा करता है, और विधान-सभा में बहुमत प्राप्त करने पर शासन-यन्त्र पर कब्जा कर अपने प्रोग्राम को लागू करने की

कोशिश करता है । चुनाव लड़ना तथा मन्त्रिमण्डल बनाना आजके राजनीतिक दलों के प्रमुख कार्य हैं । चुनाव के लिए अपने उम्मीदवार खड़े करने पर राजनीतिक दल संगठित रूप से उनकी सफलता के लिए प्रचार करता है और अन्य प्रकार के सभी साधनों को प्रयोग में लाता है ।

विधानपालिका के अन्तर्गत राजनीतिक दल एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य का सम्पादन करते हैं । विधानपालिका के विभिन्न सदस्यों को वे नियन्त्रण में रखते हैं और दल की नीति को कार्यान्वित करवाने में उनका सहयोग प्राप्त करते हैं । इस प्रकार विभिन्न राजनीतिक समस्याओं पर विधानपालिका के सदस्य अपने-अपने स्वार्थों के वशीभूत हो अपने विचार प्रगट नहीं करते, बल्कि अपनी पार्टी के आदेश का अनुसरण करते हैं । पार्टी नियन्त्रण के अभाव में विधानपालिकाएँ विभिन्न प्रकार के स्वार्थों पर संगठित गिरोहों का समूह मात्र बनकर रह जायगी । उनके पास कोई भी निश्चित नीति तथा प्रोग्राम नहीं होगा । वस्तुतः बिना राजनीतिक दलों की उपस्थिति में विधानसभाओं में अराजकता फैल जायगी ।

जो दल अल्पसंख्यक होते हैं और जो मन्त्रिमण्डल के निर्माण में भाग नहीं लेते, वे विरोधी-दल का कार्य करते हैं । विरोधी-दल के रूप में वे शासन-नीति की आलोचना करते हैं और शासक-दल की कमियों को जनता के सम्मुख रखते हैं । अल्पसंख्यक दलों का उद्देश्य भी राजनीतिक सत्ता पर नियन्त्रण स्थापित करना है, अतः वे विधानपालिका के अन्तर्गत रह शासन-नीति की आलोचना इस ढंग से करते हैं कि आगामी चुनावों में उन्हें अधिक से अधिक वोट मिल सकें । इसका फल यह होता है कि शासक-दल (Ruling party) बड़ी सोच-समझ से अपने कार्यक्रम को निर्धारित करता है और शासन को चलाता है । विरोधी-दल की उपस्थिति एकदल के अधिनायकतन्त्र की स्थापना को रोकती है और शासक दल के शासन को अत्याचार पूर्ण नहीं बनने देती । लगभग सभी प्रजातन्त्रात्मक देशों में विरोधी दल के नेताओं को आदरणीय स्थान प्राप्त होता है, क्योंकि वे कभी भी बहुमत प्राप्त कर प्रधानमन्त्री बन सकते हैं ।

प्रत्येक राजनीतिक पार्टी के पास पर्याप्त धन-राशि होती है, जो उन्हें पूँजीपतियों से तथा जनसामान्य से प्राप्त होती है । इस धन-राशि की सहायता से प्रत्येक राजनीतिक दल अपने निर्धन परन्तु सुयोग्य पार्टी के सदस्यों को चुनाव में खड़ा कर उन्हें जिताने का प्रयत्न करता है ।

राजनीतिक दल मन्त्रिमण्डल, विधानपालिका तथा जनसामान्य में एकता की कड़ी की तरह काम करते हैं । साँसद् शासन के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल की स्थिरता का आधार भी राजनीतिक दल हैं ।

(४) राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत राजनीतिक दलों की उपयोगिता—साँसद् शासन के अन्तर्गत ही नहीं राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत भी राजनीतिक दलों की विशेष महत्ता है । राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं सरकार के तीन प्रमुख अंगों—विधानपालिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को एक दूसरे से अलग

तथा स्वतन्त्र रखने का प्रयत्न किया गया है। फलतः उनमें पारस्परिक सम्बन्धों का अभाव है। राजनैतिक दलों की उत्पत्ति के फलस्वरूप विधानपालिका तथा कार्यपालिका से आवश्यक सम्बन्ध स्थापित हो गये हैं। इन दलों के अभाव में विधानपालिका तथा कार्यपालिका में असहयोग तथा पारस्परिक वैमनस्य उत्पन्न हो सकता था। अमेरिकन संविधान की सुचारुता तथा सफलता का एक बड़ा कारण राजनीतिक दलों का जन्म है, राजनीतिक दलों के जन्म के फलस्वरूप अमेरिकन संविधान की अनेक कमियाँ पूर्ण हो गई हैं।

१४३. राजनीतिक दलों की उपयोगिता

आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक राज्यों के अन्तर्गत राजनीतिक दलों का विशेष महत्त्व है। हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रजातन्त्र के विकास शासनतन्त्र के संचालन की सारी जिम्मेवारी जनसाधारण के कन्धों पर आ पड़ती है। वे अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा शासन की देख-भाल करते हैं। जनता के इन प्रतिनिधियों का निर्वाचन किस आधार पर होना चाहिए, इसी प्रश्न के उत्तर में राजनीतिक दलों का संगठन हुआ। राजनीतिक दल एक ही प्रकार के विचारों वाले लोगों को समुदाय रूप में संगठित कर उन्हें शासन-नीति के निर्धारण का अवसर प्रदान करते हैं। यही नहीं वह जन-जीवन से सम्बन्धित समस्याओं को जनता के सम्मुख पेश कर और वोट के लिए बार बार उनके पास जाकर उनकी राजनीतिक उदासीनता को दूर करते हैं और उन्हें राजनीतिक दृष्टि से शिक्षित करते हैं।

शासन-नीति की स्थापना तथा शासनतन्त्र का नियन्त्रण निर्वाचन लड़ना, विधानपालिका के सदस्यों को संगठित कर एक नीति का अनुसरण करवाना, मन्त्रि-मण्डल का निर्माण कर उसकी सहायता करना, एक निश्चित योजना द्वारा कानूनों का निर्माण करना, संवैधानिक उपायों द्वारा शासनतन्त्र में परिवर्तन लाना, जनता को संगठित कर उसे नेतृत्व प्रदान करना, लोकमत के अभिव्यक्तिकरण के साधनों को प्रस्तुत करना इत्यादि राजनीतिक दलों की अनेक विशेषताएँ हैं। मेकआइवर (MacIver) के शब्दों में **"राजनीतिक दलों की उपस्थिति में नीतियों का एकीकृत प्रगटीकरण नहीं हो सकता, न ही उसका विकास सम्भव होगा। साँसद् चुनावों के लिए नियमित तथा वैधानिक उपायों का उपयोग ठीक तरह से नहीं किया जायेगा, और उन सभी व्यवस्थाओं की समाप्ति हो जाएगी जिनके माध्यम से राजनीतिक पार्टियाँ शक्ति ग्रहण करने या उसे बनाए रखने की कोशिश करती हैं।"**[1] हम ऊपर लिख चुके हैं कि किस प्रकार राजनीतिक दल जनमत को संगठित करते हैं और किस प्रकार वे शासनतन्त्र का नियन्त्रण कर उनका संचालन करते हैं। राजनीतिक दलों के

1. "Without political parties there can be no unified statement of principle, no orderly evolution of policy, no regular resort to the constitutional device of parliamentary elections, nor of course any of the recognised institutions by means of which a party seeks to gain or maintain power."—*MacIver.*

उपर्युक्त गुणों को दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं।

राजनीतिक दलों के दोष—पार्टी-व्यवस्था के जहाँ इतने गुण हैं, वहाँ उसके पर्याप्त गम्भीर दोष भी हैं। पार्टी-व्यवस्था की कमियों के आधार पर ही प्रजातन्त्र की भी कड़ी आलोचना की जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में जब नये संविधान की रचना हो रही थी तो उस समय अधिकाँश राजनीतिज्ञों ने पार्टी-व्यवस्था के गम्भीर दोषों की ओर संकेत किया था। संघर्शवादियों (Federalists) ने अनेक बार पार्टी-व्यवस्था की खराबियों के पैदा हो जाने की ओर संकेत किया। जार्ज वाशिंग्टन ने भी अपने विदाई-भाषण में पार्टी-व्यवस्था के खतरनाक परिणामों के विरुद्ध गम्भीर चेतावनी दी थी। इसी वातावरण में अमेरिकन संविधान-निर्माताओं ने ऐसे संविधान की रचना की कोशिश की कि जिस में पार्टी-व्यवस्था के जन्म की सम्भावना ही न रहे। अमेरिकन संविधान के निर्माता अपने प्रयत्न में असफल रहे, यह सर्वविदित है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने जो पार्टी-व्यवस्था के गम्भीर दोष की विवेचना की थी, वह ठीक नहीं, वह पर्याप्त सत्य है। पार्टी-व्यवस्था की निम्नलिखित आधार पर आलोचना की जाती है—

(१) राजनीतिक दल सम्पूर्ण देश को दो या दो से अधिक दलों में विभाजित कर देते हैं और राष्ट्रीय एकता को विनष्ट करते हैं। सभी राजनीतिक दल चुनाव के दिनों को युद्ध के समान मान विभिन्न प्रकार से लोगों की भावनाओं को उभारते हैं। चुनाव के अनन्तर नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों में तनाव तथा कड़वाहट बनी रहती है। पार्टियाँ देश-भक्ति की अपेक्षा राजनीतिक दलों के प्रति वफादारी को अधिक महत्त्व देती हैं। वे राजनीतिक प्रश्नों का निपटारा राष्ट्रीय हित को सामने रखकर नहीं करतीं बल्कि अपने पार्टी-स्वार्थों के आधार पर करती हैं। इस प्रकार राष्ट्रीयता तथा स्वदेश-भक्ति की भावनाएँ पार्टीबाजी की वजह से कमजोर हो जाती हैं।

(२) राजनीतिक पार्टियाँ लोगों के नैतिक जीवन को कमजोर करती हैं और जनसामान्य के जीवन में बेईमानी, असत्यता, भ्रष्टाचार तथा अवसरवादिता को प्रोत्साहित करती हैं। सभी राजनीतिक पार्टियाँ भ्रष्टाचार का प्रमुख स्रोत हैं। चुनाव के दिनों में जनता से अनेक झूठे वायदे किये जाते हैं, और अनेक भ्रष्ट साधनों द्वारा जनमत को नियन्त्रित कर वोट प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। अनेक अवसरवादी लोग राजनीतिक पार्टियों का सहारा लेकर उच्च सरकारी पदों पर जा पहुँचते हैं। प्रो० लास्की ने अमेरिकन राजनीतिक दलों की तथा प्रतिनिधियों के निर्वाचन-व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए कहा था कि अमेरिकन विधानपालिका के अनेक सदस्यों का स्थान जेलखाना होना चाहिए था न कि सीनेट हाल। राजनीतिक दल राजनीतिक शिक्षा के स्रोत नहीं बल्कि झूठे प्रचार के साधन हैं, वे जनता को गुमराह करते हैं। वे सच्चाई को खत्म कर झूठ को प्रोत्साहित करते हैं। विरोधी दल केवल विरोधी के लिए ही सभी सरकारी बिलों का विरोध करते हैं। राजनीतिक प्रश्नों पर पार्टीबाजी दृष्टिकोण से विचार किया जाता है, निष्पक्षता से नहीं।

(३) राजनीतिक दलों की अवस्थिति के फलस्वरूप शासनतन्त्र की क्षमता नष्ट हो जाती है । राजनीतिक दल केवल मात्र उन्हीं व्यक्तियों को पदाधिकारी बनाते हैं, जो उनके दल से ही सम्बन्धित हों, उनकी योग्यता तथा अयोग्यता का ख्याल नहीं करते । विरोधी दलों में भी अनेक सुयोग्य प्रतिभावान तथा अनुभवी शासक हो सकते हैं, परन्तु उन्हें शासनतन्त्र में स्थान नहीं दिया जाता । इस प्रकार केवल विरोधी दल से सम्बन्धित होने के कारण ही राष्ट्र उनकी योग्यता तथा अनुभवशीलता से वंचित हो जाता है ।

(४) राजनीतिक दल विधानपालिका के सदस्यों की स्वतन्त्रता को नष्ट कर देते हैं । प्रत्येक राजनीतिक प्रश्न पर वे पार्टी के आदेश के अनुसार ही मत प्रगट करते हैं, उनकी आत्मा चाहे किसी बात में यकीन करती है या नहीं उन्हें पार्टी के आदेशों का अनुसरण करना ही पड़ता है; अगर वे ऐसा न करें तो उन्हें पार्टी से निकाला जा सकता है । इस प्रकार विधानपालिकाओं का महत्त्व नहीं रहता । प्रत्येक राजनीतिक प्रश्न का निपटारा तो पहले ही पार्टी के मुखिया कर लेते हैं तत्पश्चात् विधानपालिकाओं की स्वीकृति माँगी जाती है जो पार्टी संगठन को कठोरता के कारण उन्हें देनी ही पड़ती है ।

(५) राजनीतिक पार्टियों की अवस्थिति युद्ध-काल में तो और भी अधिक खतरनाक होती है । आधुनिक काल में युद्ध एक राष्ट्रीय संकट होता है, ऐसे समय में अगर सभी राजनीतिक दल एक मत न हो सकें तो देश के विनाश की सम्भावना रहती है । सम्पूर्ण जनता के सहयोग को प्राप्त करने के लिए आजकल अक्सर युद्ध-काल में अनेक पार्टियों के संयुक्त (Coalition) मन्त्रिमण्डल बनाये जाते हैं ।

(६) प्रत्येक राजनीतिक दल का नियन्त्रण, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, कुछेक धनी लोगों के हाथ में रहता है । प्रचार के लिए तथा चुनाव लड़ने के लिए प्रत्येक राजनीतिक दल को काफी धन की आवश्यकता रहती है, यह धन चन्दे के रूप में पूँजीपतियों से प्राप्त होता है, यह पूँजीपति वर्ग राजनीतिक दलों की नीति का नियन्त्रण करता है । वस्तुतः राजनीतिक दल पूँजीपतियों के हाथ में खिलौने मात्र बनकर रह जाते हैं ।

निष्कर्ष—पार्टी-व्यवस्था में ऊपर कही गई बहुत सी बुराइयाँ मौजूद हैं, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता । परन्तु अधिकाँश में इन बुराइयों का अतिश्योक्तिपूर्ण विवरण दिया गया है । प्रजातन्त्र के अन्तर्गत राजनीतिक दलों के बिना काम नहीं चल सकता । राजनीतिक दल ही जनमत को संगठित करते हैं और उसे शासन-नीति का आधार बनाते हैं । दोष राजनीतिक पार्टी-व्यवस्था का नहीं, बल्कि नागरिकों की चारित्रिक कमियों का है । सचेत नागरिक राजनीतिक दलों की व्यवस्था का अवश्य ही सुधार कर सकते हैं, राजनीतिक नेताओं को भी जन-साधारण के नैतिक मानदण्ड को ऊँचा उठाना चाहिए । राजनीतिक दलों की पारस्परिक आलोचना स्वस्थ, सन्तुलित तथा रचनात्मक होनी चाहिए । अच्छी नागरिकता के विकास से यह सभी दोष दूर हो जायेंगे ।

१४४. द्वि-दल व्यवस्था तथा बहु-दल व्यवस्था (Two party system and multi party system)

संगठन के आधार पर राजनीतिक पार्टी-व्यवस्था के दो रूप होते हैं—द्वि-दल व्यवस्था तथा बहुसंख्यक दल व्यवस्था। द्वि-दल व्यवस्था के अन्तर्गत सामान्यतया दो प्रमुख राजनीतिक पार्टियाँ होती हैं जो समय-समय पर विधानपालिका में बहुमत प्राप्त कर मन्त्रिमण्डल का निर्माण करती रहती हैं। इंग्लैण्ड में बहुत देर से ही द्वि-दल व्यवस्था का प्रचलन रहा है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत अन्य पार्टियों की अनुपस्थिति नहीं होती, अन्य राजनीतिक दल भी होते हैं, परन्तु उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व इंग्लैण्ड में अनुदार दल (Conservative party) तथा उदार दल (Liberal party) के बीच संघर्ष रहता था, कभी एक पार्टी की सरकार होती तो कभी दूसरी की। युद्ध के पश्चात् उदार दल का स्थान मजदूर दल (Labour party) ने ले लिया। इस समय ब्रिटेन में अनुदार दल तथा मजदूर दल दोनों प्रमुख दल हैं, शेष महत्त्व विहीन गौण पार्टियाँ हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका इत्यादि में द्वि-दल व्यवस्था (Two party system) मौजूद है।

बहु संख्यक पार्टी-व्यवस्था (Multiparty system) के अन्तर्गत दो नहीं बल्कि अनेक राजनीतिक दल होते हैं और उनमें से कोई भी एक ऐसी स्थिति में नहीं होता जो कि बिना किसी अन्य दल के सहयोग के अपने आप मन्त्रि-मण्डल बना ले। ऐसी अवस्था में बहुत से दल मिलकर विधानपालिका में बहुमत प्राप्त करते हैं और मन्त्रि-मण्डल का निर्माण करते हैं। ऐसे मन्त्रि-मण्डल मिश्रित या मिले-जुले मन्त्रि-मण्डल (Coalition Ministries) कहलाते हैं। फ्रांस में बहु-संख्यक पार्टी-व्यवस्था मौजूद है।

द्वि-दल व्यवस्था की उपयोगिता—द्वि-दल व्यवस्था के कारण शासनतन्त्र में स्थिरता, सुचारुता तथा दक्षता का प्रवेश हो जाता है। द्वि-दल व्यवस्था के अन्तर्गत एक दल को बहुमत प्राप्त होता है तो दूसरा अल्पसंख्यक होता है। बहुमत प्राप्त दल मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है। अल्पसंख्यक दल विरोधी दल का काम करता है। मन्त्रिमण्डल एक ही दल के सदस्यों से मिलकर बनता है, अतः वह एकता-पूर्ण तथा अटूट नीति का अनुसरण कर सकता है।

बहुसंख्यक दल व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसा सम्भव नहीं। बहुसंख्यक दल-व्यवस्था के अधीन बहुत से दल मिलकर मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते हैं, एक भी दल के खिसक जाने से मन्त्रिमण्डल टूट जाता है। इंग्लैण्ड में जहाँ कि द्वि-दल व्यवस्था का प्रचलन है मन्त्रिमण्डल का जीवन-काल तीन वर्ष से लेकर चार वर्ष तक होता है जब कि फ्रांस में, जहाँ बहुसंख्यक पार्टी-व्यवस्था का प्रचलन है, मन्त्रिमण्डल का औसत जीवन-काल आठ से नौ मास तक है। मन्त्रिमण्डल की अस्थिरता के फल-स्वरूप शासन-नीति अटूट नहीं रह पाती है और शासन-संचालन का उत्तरदायित्व भी

नौकरशाही पर आ पड़ता है।

द्वि-दल व्यवस्था के अन्तर्गत उत्तरदायित्व का केन्द्रीकरण होता है। बहु-संख्यक दल-व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसा सम्भव नहीं।

अनेक दलों द्वारा मिलकर बनाया गया मन्त्रिमण्डल किसी स्पष्ट तथा निश्चित नीति का अनुसरण नहीं कर सकता। ऐसे मन्त्रिमण्डल पारस्परिक समझौते के परिणाम होते हैं, समझौता करते हुए आधारभूत नियमों का बलिदान लाजमी है। वस्तुतः मिश्रित मन्त्रिमण्डल किसी भी नीति पर आधारित नहीं होते। मन्त्रिमण्डलों का जीवन-काल छोटा होता है, अतः वे किसी भी महत्त्वपूर्ण नीति का निर्माण नहीं कर पाते।

द्वि-दल व्यवस्था के अन्तर्गत विरोधी दल का विशेष महत्त्व होता है। विरोधी दल सरकार चलाने का उम्मीदवार होता है अतः वह एक निश्चित नीति का अनुसरण करता हुआ शासक दल की आलोचना करता है। शासक दल भी विरोधी दल की आलोचना के भय से अपने शासकीय कारोबार को बड़ी सावधानी से चलाता है। बहुसंख्यक पार्टी व्यवस्था के अन्तर्गत किसी एक निश्चित तथा संगठित विरोधी दल का अभाव होता है।

बहुसंख्यक दल-व्यवस्था की उपयोगिता—द्वि-दल व्यवस्था के उपर्युक्त गुणों के बावजूद भी उसकी कड़ी आलोचना की जाती है और उस आलोचना में पर्याप्त सत्यांश भी है। प्रो० रेम्जे म्योर (Raimsay Muir) के मतानुसार इंग्लैण्ड की शासन-प्रणाली में मौजूद अनेक गम्भीर दोषों का कारण द्वि-दल व्यवस्था है। द्वि-दल व्यवस्था सम्पूर्ण जनता को दो भागों में बाँट देती है, उसके सामने केवल दो प्रकार के हल रखती है—उदारदलीय तथा अनुदारदलीय। जनता को इन दोनों में से किसी एक को चुनना होता है। यह जरूरी नहीं कि सम्पूर्ण जनता इन्हीं दो प्रकार के मतों को मानने वाली हो; बहुत से लोग मध्य मार्ग का अनुसरण करने वाले भी हो सकते हैं। इस प्रकार जनसाधारण के वास्तविक विचारों की अभिव्यक्ति दो से अधिक दलों द्वारा ही सम्भव है। करोड़ों लोगों को दो प्रकार के विचार-समूहों के अन्तर्गत बाँध देने का प्रयत्न अबौद्धिक है।

द्वि-दल व्यवस्था के अन्तर्गत लोग नेताओं को वोट देते हैं, वे पार्टियों के प्रोग्रामों पर ध्यान नहीं देते, न ही मतदान के समय वे अपनी तर्क-बुद्धि से काम लेते हैं। द्वि-दल व्यवस्था के अन्तर्गत विधानपालिका के सदस्यों की स्वतन्त्रता खत्म हो जाती है, वे पार्टी-नेताओं के हाथ में मुहरे मात्र बनकर रह जाते हैं। उनमें भी अन्धानुकरण की प्रवृत्ति का विकास हो जाता है। इंग्लैण्ड में द्वि-दल व्यवस्था के कारण विधानपालिका के सदस्यों की कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं रही। विधानपालिका की स्वतन्त्रता भी खत्म हो गई है और प्रधानमन्त्री सहित मन्त्रिमण्डल का अधिनायकतन्त्र स्थापित हो गया है। द्वि-दल व्यवस्था के अन्तर्गत चुनाव में बहुमत प्राप्त पार्टी सभी प्रकार के उच्च सरकारी पदों पर केवल अपने ही आदमियों की नियुक्ति करती है, उनके गुणावगुण पर या प्रशासकीय अनुभव पर अधिक ध्यान नहीं देती। द्वि-दल व्यवस्था के अन्तर्गत सरकारी कार्यों की आलोचना की स्वतन्त्रता भी खत्म हो जाती है। हर समय विधान-

पालिका के भंग किये जाने की आशंका रहती है। अतः विधानपालिका के सदस्य शासन-रूढ़ दल की ही सहायता करते हैं।

इस प्रकार की बहुमत की स्वेच्छाचारिता को खत्म करने के लिए तथा विचार-स्वातन्त्र्य के प्रसार के लिए बहुदलीय व्यवस्था अधिक उपयुक्त है। वर्तमान समाज अपने संगठन में बहुत जटिल है, उसमें अनेक प्रकार के स्वार्थ हैं जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की प्रतिनिधि संस्थाओं में होना लाजमी है। इन विभिन्न स्वार्थों तथा विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व बहुसंख्यक पार्टी व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव है।

बहुदल-व्यवस्था राज्य को दो दलों में विभाजित होने से बचाती है, विधानपालिका के सदस्यों की स्वतन्त्रता को सुरक्षित करती है और मन्त्रिमण्डल की तानाशाही की सम्भावनाओं को खत्म करती है। द्वि-दल व्यवस्था के अन्तर्गत अल्प मत को कुचल दिया जाता है, परन्तु बहुसंख्यक दल व्यवस्था के अन्तर्गत अल्पमत फलता-फूलता है।

उपसंहार—परन्तु इन सभी विशेषताओं के बावजूद भी बहु-संख्यक पार्टी-व्यवस्था व्यवहार में अनेक कठिनाइयों को जन्म देती है। बहुसंख्यक पार्टी-व्यवस्था के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल कमजोर होते हैं और उनका जीवन-काल बहुत छोटा होता है। फ्रांस में १८७० से लेकर १९३४ तक ८८ मन्त्रिमण्डल बने जिसका औसत जीवन काल नौ मास से अधिक नहीं। अस्थायी मन्त्रिमण्डल किसी भी निश्चित तथा अटूट नीति का अनुसरण नहीं कर पाते। मन्त्रिमण्डलों का निर्माण जन हित को या किसी नीति को सामने रखकर नहीं किया जाता वैयक्तिक तथा दलीय स्वार्थ ही इसके निर्माण को प्रभावित करते हैं। ऐसी सरकारें अनेक प्रकार के षड्यन्त्रों तथा सौदेबाजियों का परिणाम होती हैं। यह बात ठीक है कि द्वि-दल व्यवस्था के अधीन विधानपालिका की स्थिति कमजोर हो जाती है, परन्तु इसका यह अर्थ कभी नहीं कि वह राजनीतिक तथा विधान सम्बन्धी मामलों को प्रभावित ही नहीं कर सकती। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मन्त्रिमण्डल अपनी सम्पूर्ण योजनाओं के लिए विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी होता है। प्रत्येक आठवें महीने सरकार को बदल देना विधानपालिका के लिए कोई प्रशंसनीय कार्य नहीं और न ही ऐसी व्यवस्था विधानपालिका की स्वतन्त्रता को ही साबित करती है। ऐसी स्वतन्त्रता तो अराजकता की जनक होती है। कार्य-पालिका की स्थिरता शासन की सुचारुता तथा कुशलता के लिए आवश्यक है। बहु-संख्यक दल व्यवस्था में ऐसा सम्भव नहीं। अतः संसदीय शासन-प्रणाली की सफलता के लिए द्वि-दल व्यवस्था अधिक उपयोगी है।

आजकल कुछ देशों में एक ही पार्टी के नेतृत्व में राज्य का शासन-कार्य चलाया जाता है। रूस, चीन, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड इत्यादि राज्यों में कम्युनिस्ट पार्टी शासन-कार्य चलाती है। इन राज्यों में अन्य पार्टियों की अवस्थिति को स्वीकार नहीं किया जाता, उनको खत्म कर दिया जाता है। द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व जर्मनी में भी ऐसी ही स्थिति थी। परन्तु जहाँ केवल एक ही पार्टी का शासन हो और दूसरे राजनीतिक दलों को खत्म ही कर दिया जाय, वहाँ न तो प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था होती है और न दलगत शासन-व्यवस्था।

Important Questions

Reference

1. What is a Party ? Describe the essential functions of political parties in a Democracy. (*Pb.* 1942, *Cal.* 1951, 1955) — Arts. 141 and 142

2. Are parties necessary for the functioning of modern Democracies. Why ? (*Pb.* 1954)

Or,

Discuss the role of the party in Parliamentary form of Government with illustrations from Great Britain, France and India. — Art. 141 and 142

3. Discuss the use, abuse and the true role of the party system in a Democracy. (*C.U.* 1953)

Or,

Discuss the merits and defects of the Party System. (*Cal.* 1953, 1942, 1940., *Bom.* 1951, 1941, 1930. *Nag.* 1934., *Pat.* 1944, 1934)

Or,

"Without the existence of organised parties, the functioning of parliamentary government would prove impossible" Discuss. (*Pb.* 1940) — Arts. 142 and 143

4. Compare the advantages and drawbacks of the Two Party System with those of the Multiple Party System. (*Ag.* 1940, 1934, 1933., *Pat.* 1939) — Art. 44

अध्याय २१

निर्वाचक-मण्डल

(Electorates)

वर्तमान युग में विभिन्न देशों में प्रजातन्त्र का जो रूप प्रचलित है, उसे अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र या प्रतिनिधि शासन-प्रणाली (Representative Government) कहा जाता है । प्रजातन्त्र का प्रत्यक्ष या विशुद्ध रूप आज के बड़े-बड़े राष्ट्रीय रूप से संगठित राज्यों में सम्भव नहीं । अतः शासन-प्रणाली पर जनसामान्य के नियन्त्रण को स्थापित करने के लिए विशुद्ध (Pure) या प्रत्यक्ष (Direct) प्रजातन्त्र-प्रणाली के स्थान पर अप्रत्यक्ष (Indirect) प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली को अपनाया गया । इस शासन-प्रणाली के अन्तर्गत जनसामान्य प्रत्यक्ष रूप से नहीं बल्कि अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन-व्यवस्था पर नियन्त्रण करता है ।

इन प्रतिनिधियों के निर्वाचन में भाग लेने वाले नागरिकों को सामूहिक रूप से निर्वाचकमण्डल (Electorates) कहा जाता है । प्रत्येक नागरिक वोट द्वारा अपना मत प्रगट करता है, वोट देने वाले को वोटर (voter) या मतदाता कहते हैं । अतः **"निर्वाचक-मण्डल से हमारा मतलब उन नागरिकों से है जो मतदान इत्यादि के राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग करते हुए राज्य के प्रतिनिधियों के चुनाव में भाग लेते हैं ।"**

वोट देने का या मतदान का अधिकार सभी नागरिकों को प्राप्त नहीं होता । मतदान का अधिकार तो कुछेक निश्चित शर्तों के पूरा किये जाने पर ही दिया जाता है । सभी देशों में पागल, दिवालिए, अपराधी, नाबालिग तथा विदेशी लोगों को वोट देने का अधिकार नहीं दिया जाता । कुछ राज्यों में सम्पत्ति-विहीन नागरिकों को तथा स्त्रियों को वोट देने का अधिकार नहीं, अन्यत्र जाति के आधार पर वोट देने की व्यवस्था की गई है । जहाँ सभी बालिग स्त्री-पुरुषों को वोट देने का अधिकार प्राप्त होता है, उस व्यवस्था को हम बालिग मताधिकार (Adult Franchise) के नाम से पुकारते हैं । बालिग मताधिकार का अर्थ है, कुछ निश्चित (जैसे १८,२१ या २३ वर्ष की) आयु से ऊपर के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को वोट देने का अधिकार ।

१४५. मताधिकार विषयक सिद्धान्त (Theory of Franchise)

वोट देने का अधिकार किसे है ? इस विषय में राजनीति-विशारदों में मतभेद है । जनतन्त्र की पुरानी विचार-परम्परा के अनुसार तो वोट देने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को होना चाहिए । जो भी व्यक्ति राज्य का सदस्य है उसका यह प्रकृत अधिकार है कि वह अपने शासन के प्रतिनिधियों का निर्वाचन कर सके, रूसो तथा मॉण्टेस्क्यू इस सिद्धान्त के समर्थक हैं । उनका कथन है कि प्रभु-सत्ता का निवास-स्थल

जनता है अतः प्रत्येक नागरिक का यह प्रकृत अधिकार है कि वह प्रभु-सत्ता के प्रयोग में भाग ले। फ्रेंच तथा अमेरिकन क्रान्तियों में जनसम्मत प्रभु-सत्ता के सिद्धान्त (Theory of Popular Sovereignty) को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ। सर्वत्र यह स्वीकार किया गया कि सभी नागरिक समान हैं और उन्हें समान अधिकार प्राप्त है, तथापि क्रान्ति के अनन्तर जिस संविधान को अपनाया गया उसमें नागरिकों की एक बड़ी संख्या को वोट के अधिकार से वंचित रखा गया।

इस सिद्धान्त के विपरीत मिल, ब्लंशली, सर हेनरीमैन इत्यादि सीमित मताधिकार के पक्ष में हैं, वे सभी नागरिकों को वोट का अधिकार देने के हक में नहीं। उनका कथन है कि वोट देना एक अधिकार न समझ कर्त्तव्य समझना चाहिए। इसका उपयोग सभी नागरिकों द्वारा नहीं होना चाहिए क्योंकि सभी नागरिकों में इतनी क्षमता नही होती कि वे अपने इस महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य का ठीक-ठीक पालन कर सकें। मतदान द्वारा ही समाज की राजनीतिक व्यवस्था को स्थिर किया जाता है अतः राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारण ठीक-ठीक मतदान पर आधारित होता है। वोट का अधिकार केवल उन्हीं व्यक्तियों को सौंपना चाहिए जो विवेकसम्पन्न हों, शिक्षित हों और जो इस अधिकार का यथोचित ढंग से इस्तेमाल कर सकें। यह मत बालिग मताधिकार (Adult suffrage) का विरोधी है।

नीचे हम बालिग मताधिकार के पक्ष तथा विपक्ष में दी गई युक्तियों का अध्ययन करेंगे।

बालिग मताधिकार का समर्थन—आज के सभी प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में बालिग मताधिकार व्यवस्था को अपनाया गया है। भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत रूस तथा फ्रांस इत्यादि राज्यों में सभी बालिग नागरिकों को कुछ विशेष शर्तों के अधीन वोट का अधिकार दिया गया है। इस व्यवस्था को इस व्यापक प्रचार से ही इसकी उपयुक्तता सिद्ध हो जाती है। तथापि निम्नलिखित आधारों पर इसका समर्थन किया जाता है—

(१) बालिग मताधिकार-व्यवस्था प्रजातन्त्र का आधार है। प्रजातन्त्र सबकी सहमति पर अधारित है, वह स्वीकार करता है कि राज्य की प्रभुसत्ता का स्रोत जनता है, अतः राज्य-संचालन में सम्पूर्ण जनता को हिस्सा मिलना चाहिए।

(२) बालिग मताधिकार सभी की आधारभूत समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। वह यह यकीन करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अधिकार है, प्रत्येक व्यक्ति राज्य-शासन के संचालन में अधिकार रखता है। इस अधिकार की चेतना ही उसे अपनी गौरवपूर्ण स्थिति की अनुभूति करवाती है। यह उसमें आत्म-विश्वास तथा आत्म-गौरव की भावना को भरता है। यह : miss-printed. Some thing is missed here विपरीत है।

(३) राज्य विधानपालिकाओं द्वारा का X . ी नी इच्छा को प्रगट करता है। इन कानूनों का पालन प्रत्येक नागरिक का एक पवित्र कर्त्तव्य समझा जाता

है। परन्तु वे नागरिक जिन्हें कानून निर्माण में किसी प्रकार का भी भाग प्राप्त नहीं इन्हें क्योंकर पालन करें? कानून प्रो० लास्की के अनुसार, व्यक्ति की सहमति पर आधरित होता है। बालिग मताधिकार की व्यवस्था न हो तो वह व्यक्ति की सहमति पर किस प्रकार आधारित होगा। जिन बातों का राज्य के सभी नागरिकों से सम्बन्ध हो उन पर उन सभी की सहमति मिलनी चाहिए।

(४) सीमित मताधिकार या मताधिकार की अन्य कोई भी व्यवस्था राज्य में विभेद उत्पन्न कर देती है। कुछ लोगों को तो शासन-संचालन का अधिकार होगा शेष को नहीं। जो शासन संचालन में हिस्सेदार होंगे, वे स्वाभाविक रूप से ही अन्य नागरिकों की अपेक्षा अपने आपको ऊँचा समझेंगे। इस प्रकार की भावना राज्य के अन्तर्गत वर्ग संघर्ष तथा विद्वेष को फैला सकती है। प्रजातन्त्र के अन्तर्गत सभी प्रकार के विशेषाधिकारों को खत्म करना चाहिए।

(५) बालिग मताधिकार-व्यवस्था राजनीतिक चेतना तथा शिक्षा के प्रसार का एक प्रमुख साधन है। निर्वाचन-काल में राजनीतिक पार्टियाँ प्रचार-कार्य द्वारा सभी नागरिकों को राजनीतिक प्रश्नों पर सोच-विचार करने के लिए मजबूर कर देती हैं और इस प्रकार उनकी राजनीतिक कर्त्तव्यों के पालन-विषयक उदासीनता को दूर करती हैं। जनता जब राज-काज में भाग लेती है तो उसकी आत्मा का सहज विकास होता है, नागरिकों का संकुचित दृष्टिकोण दूर हो जाता है, राष्ट्र के प्रति प्रेम की भावना का विकास होता है।

(६) राजनीतिक अधिकारों की अवस्थिति ही नागरिक अधिकारों को व्यवहारिक रूप प्रदान करती है। राजनीतिक स्वतन्त्रता के अभाव में नागरिक स्वतन्त्रता असम्भव है। जिन्हें राजनीतिक अधिकार प्राप्त होंगे वे अपने प्रयत्नों द्वारा ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं कि राज्य की आबादी का थोड़ा-सा अंश ही नागरिक अधिकारों का उपभोग कर सके।

(७) बालिग मताधिकार की व्यवस्था समाज के प्रत्येक वर्ग को अपने अधिकारों तथा हितों की रक्षा के योग्य बनाती है। प्रत्येक वर्ग के हितों की रक्षा तभी सम्भव है जब कि प्रत्येक वर्ग को शासनतन्त्र को प्रभावित करने की शक्ति प्राप्त हो।

बालिग मताधिकार का विरोध—जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं कि राजनीतिक विचारकों के एक प्रभावशाली दल का विचार है कि वोट के अधिकार को कुछ सीमाओं के अन्तर्गत ही प्रयोग में लाना चाहिए। मिल, ब्लंशली तथा सर हेनरी-मैन तीनों यह विश्वास करते हैं कि बालिग मताधिकार की व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण है, अतः उसके स्थान पर सीमित मताधिकार को अपनाना चाहिए। वे बालिग मताधिकार का निम्नलिखित आधार पर विरोध करते हैं—

(१) बालिग मताधिकार का आधार ही गलत है। यह कहना ठीक नहीं कि प्रत्येक नागरिक को वोट देने का अधिकार जन्म से ही प्राप्त होता है। यह तो एक प्रकार का विशेषाधिकार है जिसे केवल विशेष योग्यतासम्पन्न व्यक्तियों को ही

प्रयोग में लाना चाहिए । विशेष क्षमता-सम्पन्न व्यक्ति ही यह निर्णय कर सकते हैं कि इस अधिकार का प्रयोग किस प्रकार जन-हित में किया जा सकता है । जन-साधारण का अधिकांश भाग तो राजनीतिक समस्याओं को समझ ही नहीं सकता अतः उसे वोट का अधिकार किस प्रकार दिया जा सकता है ?

(२) जन-साधारण में विवेक-बुद्धि तथा तर्क का अभाव होता है, वे राजनीतिक दलों के आकर्षक नारों से आकृष्ट होकर बिना सोचे-समझे अपने वोट के अधिकार का प्रयोग करते हैं । मतदान देते हुए वे उम्मीदवार के गुणों की परीक्षा नहीं करते, वे जाति, धर्म तथा मत बिरादरी की भावनाओं से प्रभावित हो उनका चुनाव करते हैं ।

जन-साधारण में रूढ़िवाद तथा अप्रगतिशीलता भावनाओं की अधिकता होती है, वे प्रगतिशील तथा सुधार-प्रेमी उम्मीदवारों का चुनाव नहीं करते । सर हेनरी मेन का कथन है कि बालिग मताधिकार वैज्ञानिक उन्नति तथा सांस्कृतिक प्रगतिशीलता का विरोधी है ।

(३) बालिग मताधिकार धनियों तथा निर्धनों में, शिक्षितों तथा अशिक्षितों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं करता । धनी लोगों के पास सम्पत्ति होती है, अतः वे अपने अधिकारों का प्रयोग सदा सोच-समझकर करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि अगर उनके मतदान द्वारा राज्य में अव्यवस्था तथा अशान्ति का प्रसार हुआ तो उन्हीं की सम्पत्ति खतरे में पड़ जायगी । परन्तु निर्धन लोगों को ऐसा कोई भय नहीं होता, वे अपने वोट के अधिकार का उत्तरदायित्व-विहीन रूप में भी इस्तेमाल कर सकते हैं ।

वोटरों का शिक्षित होना भी आवश्यक है । क्योंकि केवल शिक्षित व्यक्ति ही अपने वोट के अधिकार का सोच-समझकर ठीक-ठीक तरह से इस्तेमाल कर सकते हैं । प्रशासन तो एक विशेष प्रकार की कला है, जिसका ज्ञान सभी को नहीं हो सकता । फिर आज के युग में शासनतन्त्र तो और भी अधिक जटिल हो गया है, सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याएँ भी बहुत उलझी हुई और जटिल होती हैं, साधारण नागरिकों के लिए उन्हें ठीक तरह से समझ सकना असम्भव है । ऐसी अवस्था में मताधिकार का प्रयोग थोड़े से शिक्षित व्यक्तियों द्वारा ही किया जाना अधिक ठीक जचता है ।

(४) पूंजीवादी देशों में तो एक और भी मुश्किल पैदा हो जाती है । राज्य के अन्तर्गत रहने वाले वर्गों में आर्थिक दृष्टि से असमानता होती है । आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग किसी प्रकार भी राजनीतिक अधिकारों का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग नहीं कर सकता । पूंजीपति लोग अपने पैसे से निर्धन लोगों के वोट खरीद लेते हैं । परिणामस्वरूप राजनीतिक जीवन में स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है और भ्रष्टाचार फैल जाता है ।

बालिग मताधिकार व्यवस्था के संशोधन के सुझाव—बालिग मताधिकार व्यवस्था की उपर्युक्त कमियों को दूर करने के लिए अनेक सुझाव दिये गये हैं । जॉन-

स्टुअर्ट मिल ने शिक्षा तथा सम्पत्ति के आधार पर मताधिकार की व्यवस्था का समर्थन किया है। मिल का कथन है कि **"मैं इस बात को सर्वथा अनुपयुक्त समझता हूँ कि किसी भी ऐसे व्यक्ति को जो लिखने तथा पढ़ने के असमर्थ है, चुनाव में भाग लेने का अधिकार हो।"**[1] प्रत्येक मतदाता को शिक्षित अथवा कम-से-कम साक्षर तो अवश्य होना चाहिए। अशिक्षित व्यक्तियों को मताधिकार देने का अर्थ होगा कि विधान-पालिकाओं को अयोग्य तथा नासमझ आदमियों से भर देना। अशिक्षित आदमी अपनी वोट के अधिकार को कभी भी विवेकपूर्वक इस्तेमाल नहीं करते। मिल का विचार था कि बालिग मताधिकार की व्यवस्था के अपनाने से पूर्व सर्वसाधारण की शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

शिक्षा के अतिरिक्त मिल ने सम्पत्ति को भी मताधिकार की योग्यता का आधार माना है। जिन लोगों के पास कोई सम्पत्ति नहीं या जो कर नहीं देते, वे अपने मत का प्रयोग सावधानी से नही कर सकते। सम्पत्तिशाली व्यक्ति ही समाज में शान्ति तथा व्यवस्था को बनाए रखने के पक्ष में होता है, क्योंकि अशान्ति की हालत में उन्हें अपनी सम्पत्ति से हाथ धोने का भय रहता है, परन्तु निर्धन आदमी को ऐसा कोई भय नहीं होता अतः वह अपने मत का प्रयोग नासमझदारी से कर सकता है। उन्हें शान्ति, व्यवस्था तथा अच्छे शासनतन्त्र से कोई विशेष लगाव नहीं होता।

परन्तु उपर्युक्त दोनों मतों की कड़ी आलोचना की जाती है।

मतदान विषयक अधिकार के शिक्षा सम्बन्धी आधार के महत्त्व से कोई इनकार नही करता, शिक्षित मतदाताओं का अपना विशेष महत्त्व है। परन्तु केवल मात्र शिक्षा को ही वोट देने के अधिकार का आधार मान लेना गलत है, क्योंकि उससे अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ पैदा हो सकती हैं। शिक्षा का क्या स्तर होना चाहिए? यह एक साधारण प्रश्न है। अगर तो उच्च शिक्षा को ही वोट देने के अधिकार की आवश्यक योग्यता माना जाय तो बहुत कम लोग इस कसौटी पर खरे उतर सकेंगे और वोट का अधिकार राज्य की जनसंख्या के थोड़े से अंश को ही मिलेगा। इस प्रकार का विभेद राज्य में एक विशेषाधिकार सम्पन्न वर्ग (Priviliged class) को पैदा कर देगा, नागरिकों की समानता खत्म हो जायगी। इसके विपरीत अगर साक्षरता को ही शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता का आधार निश्चित कर दिया जाय तो उसका कोई विशेष लाभ सम्भव नहीं। साक्षरता तथा शिक्षा में अन्तर है, अनेक बार अनपढ़ आदमी साक्षर लोगों से अधिक चतुर तथा विवेकसम्पन्न सिद्ध होते हैं। भारत के ग्रामीण किसान में इतनी सहज बुद्धि है कि वह एक साक्षर आदमी से अधिक योग्यतापूर्वक अपने वोट का प्रयोग कर सकता है। आज की राजनीतिक समस्याएँ तो इतनी जटिल हैं कि अच्छे पढ़े-लिखे नागरिक के लिए भी उनका समझ सकना

---

1. I regard it as wholly inadvisable that any person should participate in the sufferage without being able to read and write."
—*J. S. Mill.*

आसान नहीं। मतदान तो एक अधिकार है, उसका प्रयोग तो प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में सभी नागरिकों को करना चाहिए। ऐसी व्यवस्था उनके स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास के लिए जरूरी है।

सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता को तो आज बिल्कुल ही नहीं माना जाता। यह आवश्यक नहीं कि सम्पत्तिशाली व्यक्ति अपने वोट का प्रयोग सोच-समझ कर करें और देश के हित में ही करें। सम्पत्ति का और विवेक का कोई सम्बन्ध नहीं, यह जरूरी नहीं कि सम्पत्तिवान व्यक्ति विवेकसम्पन्न भी हो। धनी लोग अक्सर राजनीतिक विवेक से शून्य होते हैं। सम्पत्ति भी झूठ, दम्भ तथा चोरी का परिणाम हो सकती है, सम्पूर्ण सम्पत्ति व्यवस्था-शोषण पर आधारित है, उसे वोट देने के अधिकार का आधार मानना बड़ा भारी अन्याय है। सम्पत्तिवान लोग जन-हित के लिए नहीं सोचते, उनका मकसद अपनी सम्पत्ति को बनाए रखना होता है। अनेक बार वे अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिए विदेशियों या शत्रुओं से भी जा मिलते हैं। यह सिद्धान्त प्रजातन्त्र के आधारभूत नियमों के विरुद्ध है और इसके फलस्वरूप राज्य की आबादी का एक सबसे बड़ा भाग—सम्पत्ति-विहीन वर्गराज्य-व्यवस्था के संचालन के अधिकारों से वंचित कर दिया जायगा।

कुछ विचारकों ने बालिग मताधिकार-व्यवस्था के संशोधन की एक अन्य योजना को पेश किया है। इस योजना को अनेक मतदान-प्रणाली (System of plural voting) या गुरुतापूर्ण मतदान (Weighted voting) प्रणाली कहते हैं। इस व्यवस्था के अन्तर्गत एक ही नागरिक को अनेक वोट देने का अधिकार होना है, इस व्यवस्था का मिल ने बड़ा जोरदार समर्थन किया था। मिल का कथन है कि अशिक्षित तथा शिक्षित निर्धन तथा धनी मतदाताओं को एक समान बना देना बड़ा भारी अन्याय है। योग्य, शिक्षित तथा सम्पत्तिवान नागरिकों को साधारण नागरिकों की अपेक्षा राज्य-शासन संचालन में अधिक हिस्सा मिलना चाहिए। एक ग्रेजुएट तथा एक अशिक्षित किसान को एक समान राजनीतिक अधिकार देना नासमझी है। अशिक्षित व्यक्ति को राज्य-कार्य संचालन की समझ ही नहीं हो सकती। अतः शिक्षित मतदाताओं को बहुसंख्यक अशिक्षितों के बराबर लाने के लिए अनेक मतदान-प्रणाली को अपनाया जाना चाहिए। इस व्यवस्था के अन्तर्गत एक सम्पत्तिवान नागरिक उतने ही वोट देने का अधिकारी होगा जितने स्थानों पर उसकी सम्पत्ति फैली हुई हो। अगर उसकी सम्पत्ति तीन चुनाव क्षेत्रों में फैली हुई होगी तो वह तीनों स्थानों पर वोट देने का हकदार होगा, इसी प्रकार वह साधारण नागरिक के रूप में, सम्पत्तिवान के रूप में तथा कर दाता (Tax-payer) के रूप में भी, अलग-अलग वोट दे सकता है।

मिल के अनुसार शिक्षा के आधार पर भी अनेक मतदान-व्यवस्था का निर्माण किया जाना चाहिए। इस व्यवस्था के अनुसार ग्रेजुएटों को दो या दो से भी अधिक बार वोट देने का अधिकार मिल जायगा। अनेक राज्यों में गुरुतापूर्ण मतदान-व्यवस्था को अपनाया गया है और पढ़े-लिखे लोगों को अधिक वोट देने का अधिकार

दिया गया है। हमारे यहाँ राज्यों में द्वितीय सदन के चुनाव के लिए ग्रेजुएटों को विशेष मताधिकार दिया गया है। बेल्जियम में सम्पत्ति, कर-दान तथा शिक्षा के आधार पर अनेक मतदान-व्यवस्था का प्रचलन है।

इस व्यवस्था का अनेक प्रकार से समर्थन किया जाता है। सर्वप्रथम तो यह माना जाता है कि इस व्यवस्था के द्वारा शिक्षितों तथा अशिक्षितों को राज्य-संचालन में आनुपातिक (Proportionate) महत्त्व दिया जाता है। बालिग मताधिकार वोटों की संख्या पर आधारित है, वह संख्या को महत्त्व देता है योग्यता को नहीं। इसके विपरीत अनेक मतदान (Plural voting) द्वारा योग्य तथा शिक्षित व्यक्तियों को समुचित गुरुता प्रदान की जाती है। शिक्षित तथा योग्य व्यक्तियों को साधारण नागरिकों के ही समान अधिकार नहीं दिए जाने चाहिएँ। उन्हें अवश्य ही विशेषाधिकार दिए जाने चाहिएँ, ताकि वह प्रजातन्त्र शासन-व्यवस्था को मूर्खों तथा अशिक्षितों की सरकार होने से बचा सके। सभी जगह बहुमत तो अशिक्षित तथा रूढ़िवादी लोगों का होता है, उनके प्रभाव को घटाने के लिए ही अनेक मतदान-प्रणाली (Plural voting) को अपनाना चाहिए।

परन्तु यह व्यवस्था भी मान्य नहीं समझी जाती, क्योंकि यह प्रजातन्त्र के आधारभूत नियमों के विरुद्ध है। प्रजातन्त्र सभी की समानता को स्वीकार करता है, और अनेक मतदान व्यवस्था का प्रचलन राज्य में असमानता उत्पन्न करता है, वह पढ़े-लिखे तथा सम्पत्तिवान लोगों को विशेषाधिकार देता है। हम पीछे ही देख चुके हैं कि शिक्षा तथा सम्पत्ति के आधार पर मतदान व्यवस्था में भेदभाव करना भारी अन्याय है। यह किसी भी तरह साबित नहीं किया जा सकता कि धनी व्यक्ति राज्य-शासन व्यवस्था के प्रति अधिक वफादार होते हैं या वे अपने वोट के अधिकार को सोच-समझकर जन-कल्याण के लिए ही इस्तेमाल करते हैं। यह कहना भी गलत है कि ग्रेजुएट साधारण पढ़े-लिखे लोगों की अपेक्षा अधिक समझदार होते हैं, और वे अधिक सूझ-बूझ से अपने मताधिकार का प्रयोग करते हैं। साधारण पढ़े-लिखे लोगों में अनुभव के आधार पर अधिक सूक्ष्म व्यावहारिक बुद्धि का विकास होता है। वे उम्मीदवार के उचित गुणों को अपनी व्यवहारिक बुद्धि से अधिक आसानी से जाँच सकते हैं। इस प्रकार बालिग मताधिकार व्यवस्था का विरोध हमें कहीं नहीं ले जाता। उसके संशोधन के लिए जितने भी सुझाव पेश किये गये हैं, वे सभी एकपक्षीय हैं और प्रजातन्त्र के आधारभूत तत्त्वों को ही खत्म कर देते हैं। बालिग मताधिकार की व्यवस्था लोक-सम्मत प्रभुता (Populer sovereignty) तथा प्रजातन्त्रात्मक समानता के सर्वथा अनुकूल है।

१४६. महिला मताधिकार (Women's franchise)

क्या महिलाओं को भी वोट देने का अधिकार होना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर पर्याप्त विवादास्पद है। स्त्रियों को मताधिकार नहीं दिया जाना चाहिए, इस मत के समर्थन में लगभग वही सब युक्तियाँ दी जाती हैं जो कि उनके जन-जीवन

(Public life) में प्रवेश के विरोध में दी जाती हैं।

महिला मताधिकार के विरोधियों का कथन है कि स्त्री तथा पुरुष के कार्य-क्षेत्र में एक प्राकृतिक अन्तर है, उसका उल्लंघन व्यर्थ है। स्त्री का उचित क्षेत्र घर है, उसके मुख्य कर्त्तव्य पारिवारिक हैं। उसे माता बनना है और इस रूप में अपनी सन्तान का पालन करना है। उसे राष्ट्रीय जीवन के निर्माण में हिस्सा लेना है, परन्तु घर में ही रहकर घर से बाहर नहीं। घर में रहती हुई महिलाएँ बच्चों का पालन-पोषण करती हैं, उन्हें अच्छा नागरिक बनाती हैं। अगर वे घर से बाहर निकल राष्ट्र के राजनीतिक जीवन में प्रवेश करती हैं तो वे पारिवारिक कर्त्तव्यों के पालन में असमर्थ होंगी। तब बच्चों की देख-भाल कौन करेगा? स्त्री के पारिवारिक जीवन के त्याग तथा राजनीतिक जीवन में प्रवेश के फलस्वरूप परिवार-व्यवस्था खत्म हो जाएगी, और इस प्रकार सामाजिक जीवन छिन्न-भिन्न हो जाएगा।

यही नहीं स्त्री मताधिकार की व्यवस्था के फलस्वरूप पारिवारिक शान्ति तथा एकता खत्म हो जाएगी। देश के राजनीतिक क्षेत्र में प्रचलित पार्टीबाजी घर में पहुँच जायगी और घर का अनुदार दल तथा उदार दल, काँग्रेस तथा कम्युनिस्ट रूप में विभाजन कर देगी। स्त्रियाँ अगर तो अपने मताधिकार का प्रयोग अपने पतियों की मर्जी के अनुसार करती हैं तो उन्हें वोट के अधिकार देने की कोई उपयोगिता नहीं, और अगर वे स्वतन्त्रता पूर्वक अपने मत का प्रयोग करती हैं तो उससे घर में फूड पैदा हो जायगी, परिवार की आधारभूत एकता नष्ट हो जायगी।

महिलाओं का राजनीति प्रवेश देश की राजनीति में अनुदारता, कट्टरता, रूढ़िवादिता तथा अनैतिकता को भर देगा। महिलाएँ घर की चारदीवारी में बन्द रहती हैं, उनके विचारों में प्रगतिशीलता नही होती, वे स्वाभाविक रूप से अनुदार होती हैं, पुरुषों की अपेक्षा उन में धार्मिकता भी अधिक होती है। राजनीतिक जीवन का उन्हें अनुभव नहीं होता, शिक्षा-दीक्षा में भी वे पुरुषों से बहुत पीछे होती हैं, ऐसी अवस्था में वे उन उम्मीदवारों को आँख मूदकर वोट देंगी जो कि धार्मिक कट्टरता के समर्थक और समाज-सुधार के विरोधी होंगे।

महिला मताधिकार के विरोधियों का कथन है कि महिलाएँ राजनीतिक तथा प्रशासकीय कर्त्तव्यों के पालन में असमर्थ हैं। वे सेना में या पुलिस में शामिल नहीं हो सकतीं, वे राज्य की बाहरी हमलों से रक्षा में हिस्सा नहीं बँटा सकती। ऐसी अवस्था में उन्हें वोट इत्यादि के राजनीतिक अधिकार देना सर्वथा असंगत है। महिलाओं ने राजनीतिक जीवन में सक्रिय रूप से भाग लेने का उत्साह भी प्रदर्शित नही किया। स्विट्ज़रलैंड संसार के सबसे पुराने प्रजातन्त्र राज्यों में से है तो भी आज तक वहाँ स्त्रियों ने मताधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया, न ही वहाँ कोई ऐसी संगठित संस्था ही है जो कि स्त्रियों की ओर से मताधिकार-प्राप्ति के लिए आन्दोलन करे।

राजनीतिक जीवन में पर्याप्त भ्रष्टता का प्रवेश हो चुका है, उसमें अनेक दम्भी, झूठे तथा अवसरवादी लोग घुस चुके हैं। महिलाओं के जीवन में एक स्वाभाविक पवित्रता होती है, उनके चरित्र की शुद्धता ही उनकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है।

राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने पर वह अपने आपको इस भ्रष्ट वातावरण से नहीं बचा पायेंगी। उनके हित में तो यही है कि वे राजनीतिक जीवन के कीचड़ में प्रवेश ही न करें।

महिला मताधिकार का समर्थन—जहाँ महिला मताधिकार का विरोध किया गया है वहाँ उसका जबरदस्त समर्थन भी किया गया है। इंग्लैंड में बेन्थम तथा मिल ने और फ्रांस में लाबेलेय (Laboulaya) ने महिला मताधिकार का जोरदार समर्थन किया है।

इससे पहले कि हम महिला मताधिकार के पक्ष में दी गई अनेक युक्तियों को रखें, हमें महिलाओं की वर्तमान सामाजिक स्थिति के विषय में कुछ जान लेना चाहिए। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर्याप्त दयनीय थी। आर्थिक दृष्टि से वे पुरुषों पर आश्रित थीं, सामाजिक जीवन में उन्हें अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी, उन्हें केवल मात्र पुरुष की वासनाओं की तृप्ति का एक साधन मात्र समझा जाता रहा। औद्योगिक क्रान्ति के अनन्तर इस स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन हो गया। पुरानी कृषि-व्यवस्था से सम्बन्धित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत स्त्रियों का पुरुषों पर आश्रित होना लाजमी था। संयुक्त परिवार-व्यवस्था के अधीन उन्हें किसी प्रकार भी आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती थी। संयुक्त परिवार-व्यवस्था के अन्तर्गत पुरुष सदस्यों को भी अपनी जीविका के लिए परिवार के सामूहिक प्रयत्नों पर आश्रित रहना पड़ा था। ऐसी अवस्था में परिवार के अतिरिक्त बिरादरी का भी कड़ा नियन्त्रण होता था। गाँवों का सामाजिक जीवन स्थिर तथा परिवर्तन-शून्य था। अतः स्त्रियाँ इन सब परिस्थितियों के कारण सामाजिक जीवन में खुलकर प्रवेश न कर सकीं, उन्हें सदा ही दबकर रहना पड़ा। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप पुरानी कृषि-व्यवस्था पर आधारित अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी और पुराना समाज भी खत्म होने लगा। संयुक्त परिवार-व्यवस्था टूट गयी, पुरानी बिरादरियां खत्म हो गईं, अधिकांश में लोग गाँव छोड़ औद्योगिक केन्द्रों में मेहनत-मजदूरी की तलाश में आ बैठे। नये वातावरण में पुराने बन्धन ढीले पड़ गये, परिवार का आधार वैयक्तिक स्वतन्त्रता और रोमाण्टिक विवाह हो गए। यही नहीं महिलाओं की आर्थिक स्थिति में बड़ा अन्तर पड़ गया। वे आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर आश्रित न रहीं, उन्होंने भी पुरुषों की तरह मेहनत-मजदूरी की तलाश की, और धीरे-धीरे शिक्षा-विज्ञान, संस्कृति, कला, तथा व्यापार सभी में उन्होंने पुरुषों के मुकाबले में आना शुरू कर दिया। आर्थिक स्वतन्त्रता के फलस्वरूप स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में अन्तर पड़ गया। उन्होंने सभी जगह राजनीतिक अधिकारों की माँग की। इंग्लैण्ड तथा फ्रांस में सर्वप्रथम इस आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। इंग्लैण्ड में १९१८ में ३० वर्ष की व इससे ऊपर की आयुवाली स्त्रियों को वोट देने का अधिकार दिया गया, बाद में यह अवधि घटाकर २१ वर्ष कर दी गई। फ्रांस में हाल ही में द्वितीय विश्व-युद्ध के अनन्तर स्थापित चतुर्थ गणतन्त्र (Fourth Republic) के संविधान के अन्तर्गत महिला मताधिकार की व्यवस्था को मान्यता दी गई है। सोवियत रूस, चीन, भारत,

पोलैण्ड इत्यादि संसार के सभी प्रगतिशील राज्यों में महिलाओं को मताधिकार मिल चुका है। आजकी आर्थिक परिस्थितियाँ ही ऐसी बन चुकी हैं कि उसमें हम महिलाओं के राजनीति प्रवेश को किसी तरह भी नहीं रोक सकते।

महिला मताधिकार का समर्थन करते हुए मिल ने कहा था कि यदि वोट देने का अधिकार एक कृत अधिकार है तो उसका उपयोग स्त्रियों तथा पुरुषों दोनों को ही समान रूप से करना चाहिए। केवल शारीरिक विभेद के आधार पर ही स्त्रियों को अधिकार न देना बड़ा भारी अन्याय है। यह कहना गलत है कि स्त्रियाँ सामाजिक जीवन में भाग नहीं लेतीं या वे देश के प्रति अपने राजनीतिक कर्त्तव्यों का पालन नहीं करतीं। वर्तमान युग में स्त्रियाँ हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में पुरुषों के बराबर भाग लेती हैं। लिंग-भेद का अर्थ यह नहीं कि महिलाएँ पुरुषों से विवेक, तर्क-शक्ति सूझ-बूझ और नैतिक गुणों में कम हैं।

कानून का प्रभाव सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पर होता है, वे सभी नागरिकों के अधिकारों से सम्बन्धित हैं, ऐसी व्यवस्था में क्या यह अनुचित नहीं कि कानून पास करते समय केवल पुरुषों की ही सम्मति ली जाय और स्त्रियों की नहीं ? क्या कानूनों का सम्बन्ध स्त्रियों से नहीं होता ? क्या उनके अधिकार तथा कर्त्तव्य नहीं हैं ? स्त्रियों को वोट न देने का अर्थ है राज्य की आधी से अधिक जनसंख्या को राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर देना। अगर राजनीतिक अधिकार पुरुषों के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक हैं तो स्त्रियों के लिए क्यों नहीं ?

स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा कमजोर हैं। उन्हें पुरुषों की अपेक्षा राजकीय नियमों द्वारा उत्पादित रक्षा की अधिक आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में उन्हें कानूनों के निर्माण में अधिक अधिकार मिलना चाहिए। स्त्रियों को राजनीतिक अधिकार देने का एक और भी कारण है आजकल स्त्रियाँ पुरुषों के साथ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मुकाबला कर रहीं हैं, यदि कानून-निर्माण का अधिकार केवल पुरुषों के हाथ ही में हो तो वे अपने ऐसे कानून बना सकते हैं कि जिससे स्त्रियों को इन क्षेत्रों में आने की मनाही करदें या वह अपनी कानूनी उच्चता को ही कायम कर सकते हैं, और स्त्रियों को आर्थिक स्वतन्त्रता से बिल्कुल ही वंचित कर सकते हैं। अगर कानून-निर्माण की शक्ति केवल मात्र पुरुषों के हाथ में ही केन्द्रित रहे तो स्त्रियों के तो नागरिक अधिकार भी छिन सकते हैं।

अगर स्त्रियाँ आर्थिक जीवन में पुरुष का मुकाबला कर सफल हो सकती हैं तो राजनीतिक जीवन में उन्हें वोट के अधिकार से क्यों वंचित रखा जाय ? यह तो एक सीधी-सी बात है कि जब स्त्रियाँ अन्य सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता का उपभोग करती हैं तो राजनीतिक जीवन में उन्हें ऐसी स्वतन्त्रता क्यों नहीं मिलनी चाहिए। यह कहना भी गलत है कि वोट के अधिकार को प्राप्त कर स्त्रियाँ अपने पारिवारिक कर्त्तव्यों को भूल जाएँगी, वे बच्चों की देख-भाल ठीक-ठीक ढंग से नहीं कर सकेंगी। जब वे जीवन के अन्य क्षेत्रों में कार्य करती हुई अपने कर्त्तव्यों को नहीं भूल सकतीं तो वोट के अधिकार को पाकर ही वे इन्हें कैसे भूल जाएँगीं ? स्त्रियाँ मेहनत-

मजदूरी करती हैं, दफ्तरों में काम करती हैं, विद्यालयों में पढ़ाती हैं, सेना में भी काम करती हैं, ऐसी अवस्था में वे अपने पारिवारिक कर्त्तव्यों से विमुख नहीं हो पातीं तो क्या राजनीतिक कर्त्तव्यों के पालन में ही ऐसी उदासीनता सम्भव है ? बच्चों के प्रति तो स्त्रियों का स्वाभाविक ममत्व है, वे उनकी उपेक्षा नहीं कर सकतीं । यह कहना भी गलत है कि महिला मताधिकार से पारिवारिक शान्ति नष्ट हो जायगी । स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर, पारस्परिक विचार-विमर्श के अनन्तर वोट के अधिकार का प्रयोग कर सकते हैं ।

अन्त में हम कह सकते हैं कि स्त्रियों का प्रभाव सदा ही कल्याणकारी तथा शान्तिजनक होता है । उनके राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने से इस क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टता तथा चरित्रहीनता खत्म हो जायगी । उनके प्रभाव से राजनीतिज्ञों के चरित्र भी ऊँचे उठेंगे और वे अधिक सुसंस्कृत हो सकेंगे । महिलाओं के राजनीति में प्रवेश के फलस्वरूप अनेक स्थानों पर सामाजिक सुधार तथा मानवता हितैषी कानून पास किये गये हैं ।

उपर्युक्त तर्कों से स्पष्ट है कि चाहे स्त्रियाँ अपने मताधिकार का कैसा भी प्रयोग क्यों न करें उन्हें वोट देने का अधिकार अवश्य मिलना चाहिए । यह उनका मानवीय अधिकार है, और उसे किसी प्रकार भी नहीं रोका जा सकता । स्त्रियों का राजनीति-प्रवेश भी हमारी सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का फल है, उसे रोकने का प्रयत्न व्यर्थ होगा ।

१४७. निर्वाचन के विभिन्न प्रकार (The methods of election)

निर्वाचन के दो प्रकार हैं, वे है, प्रत्यक्ष चुनाव (Direct election) तथा अप्रत्यक्ष चुनाव (Indirect election) । जब निर्वाचक स्वयं अपने उन प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं, जो कि विधानपालिकाओं के सदस्य होते हैं, तो चुनाव-व्यवस्था प्रत्यक्ष (Direct) कहलाती है । प्रत्यक्ष निर्वाचन-व्यवस्था बहुत लोकप्रिय है और प्रायः सभी जनतन्त्रात्मक देशों में निचले सदन का चुनाव प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था के अनुसार होता है ।

जब निर्वाचकगण अपने प्रतिनिधियों के चुनाव में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते बल्कि ऐसे निर्वाचक समूह का चुनाव करते हैं जो जन-साधारण की ओर से विधान-पालिका के सदस्यों का चुनाव करें तो ऐसी निर्वाचन व्यवस्था को अप्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था (System of Indirect election) कहेंगे । अप्रत्यक्ष निर्वाचन में दोहरे चुनाव की आवश्यकता होती है । पहले तो जनता अपने में से कुछ व्यक्तियों का चुनाव करती है, जो निर्वाचक समूह (Electoral college) कहलाता है । तत्पश्चात् इस निर्वाचक समूह (Electoral college) के सदस्य कुछ प्रतिनिधियों का चुनाव करता है, जो विधानपालिका के सदस्य बनते हैं । भारत में नये संविधान के अन्तर्गत भारतीय संसद् के द्वितीय सदन राज्य-परिषद् (Council of States) का निर्वाचन अप्रत्यक्ष चुनाव-व्यवस्था के अनुसार होता है । संयुक्त राज्य अमेरिका

में कुछ काल पहले सीनेट का चुनाव अप्रत्यक्ष चुनाव-व्यवस्था के अनुसार ही किया जाता था। भारतीय तथा फ्रेंच राष्ट्रपति के निर्वाचन में भी अप्रत्यक्ष व्यवस्था का ही अनुसरण किया गया है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था का समर्थन निम्नलिखित आधार पर किया जाता है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इस द्वारा निर्वाचकों में राजनीतिक मामलों के समझने में उत्साह उत्पन्न होता है, उनमें राजनीतिक चेतना उत्पन्न होती है। वे न केवल मतदान ही करते हैं बल्कि सोच-समझ कर अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। वे यह महसूस करते हैं कि राज्य शासन-व्यवस्था के संचालन में उनका भी हाथ है। विभिन्न राजनीतिक दल अपने प्रोग्राम लेकर जनता के पास वोट माँगने के लिए पहुँचते हैं, वे उन्हें अनेक राजनीतिक समस्याओं से परिचित कराते है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि अपने आपको जनता के प्रतिनिधि समझते हैं। वे यह अनुभव करते हैं कि अपने कार्यों के लिए वे जनता के प्रति जिम्मेवार हैं। अप्रत्यक्ष निर्वाचन-व्यवस्था द्वारा ऐसा सम्भव नहीं। प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली द्वारा चुने गये प्रतिनिधि हर समय जनता से अपना सम्पर्क बनाए रखना चाहते हैं और यह कोशिश करते हैं कि वे अपने निर्वाचकों की अधिकांश कठिनाइयों को दूर कर सकें।

प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था जन-साधारण के दृष्टिकोण को विस्तृत करती है और लोगों को अपनी दैनिक जिन्दगी की आवश्यकताओं से ऊपर उठ विभिन्न राजनीतिक प्रश्नों पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचने के लिए मजबूर करती है। निर्वाचकों की विशाल संख्या होती है अतः भ्रष्टाचार के फैलने की आशंका नहीं रहती। चुनाव के उम्मीदवार पैसे द्वारा वोट नहीं खरीद सकते। अप्रत्यक्ष चुनाव-व्यवस्था इस दोष से दूषित है।

परन्तु प्रत्यक्ष चुनाव-प्रणाली की अपनी बुराइयाँ भी हैं। प्रत्यक्ष निर्वाचन-व्यवस्था बहुत खर्चीली होती है, इसमें राष्ट्र के धन का व्यर्थ अपव्यय होता है। जन-साधारण को प्रतिनिधि चुनने का अधिकार सौंप उन्हें ही राज्य की सम्पूर्ण सत्ता का स्रोत बना दिया जाता है। जन-साधारण का अधिकाँश भाग अनपढ़, अनुदार तथा रूढ़िवादी होता है। ऐसे लोगों के हाथ में राज्य-सत्ता का केन्द्रीकरण खतरे से खाली नहीं होता। वोट का इस्तेमाल करते हुए जन-साधारण अपने विवेक से काम नहीं लेते, वे प्रभावोत्पदक भाषणों को सुन भावावेश में आ अपने वोट अनुपयुक्त उम्मीदवारों को दे डालते हैं। जनता को मन्त्र-मुग्ध कर लेना तो बहुत आसान है। राजनीतिक पार्टियाँ आम चुनाव के समय अपने कुशल वक्ताओं का बड़ा अच्छा प्रयोग करती हैं।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली (Indirect system of election) इन सभी दोषों से मुक्त होती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत चुनाव शान्तिपूर्वक होते हैं।

जनता पर नारों का ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ता। वे अपने प्रतिनिधि चुनते हैं जो निर्वाचक समूह बनाते हैं, यह निर्वाचक समूह आगे विधानपालिका के सदस्यों का या कार्यपालिका के अध्यक्ष का निर्वाचन करता है। निर्वाचक समूह के सदस्य साधारण जनता की अपेक्षा अधिक अनुभवी, जाग्रत तथा प्रतिभासम्पन्न होते हैं। विधानपालिका के सदस्यों के चुनाव में जनता की अपेक्षा यह निर्वाचक-समूह अधिक सूझ-बूझ से काम लेगा। उन द्वारा चुने गये प्रतिनिधि योग्य शासक तथा विधान निर्माता होंगे। जन-साधारण तो राजनीतिक दलों के प्रचार के प्रभाव में आकर अपने मताधिकार का गलत प्रयोग भी कर डालते हैं, परन्तु थोड़े से चुने हुए निर्वाचक समूह पर ऐसे प्रभाव का कोई भय नहीं रहता। निर्वाचक समूह के सदस्य अपने मत का प्रयोग बड़ी समझदारी से करते हैं, जल्दबाजी में आकर नहीं। प्रत्येक प्रश्न का निपटारा अत्यन्त शान्तिपूर्ण ढंग से पर्याप्त विचार-विमर्श के अनन्तर किया जाता है।

परन्तु अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की भी बड़ी आलोचना की जाती है और उसे प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली से कहीं ज्यादा हीन बतलाया जाता है। अप्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था भ्रष्टाचार का मुख्य स्रोत है। संयुक्त राज्य अमेरिका में सीनेट का चुनाव अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली के मुताबिक होता था, लेकिन मतदाता कभी भी अपने वोट का प्रयोग स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं करते थे। बड़े-बड़े पूंजीपतियों द्वारा वोट खरीद लिये जाते थे। सीनेट के सदस्य संयुक्त राज्य के बड़े-बड़े कारखानेदारों के प्रतिनिधि होते थे। हारकर इस व्यवस्था को हटाया गया और प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली का प्रचलन हुआ। इस व्यवस्था के अन्तर्गत निर्वाचक समूहों के सदस्यों को कोई स्वतन्त्रता नहीं होती, वे अपनी पार्टी के आदेश के अनुसार वोट देते हैं। अप्रत्यक्ष निर्वाचन राज्याधिकारियों में तथा जन-साधारण में दूरी पैदा कर देता है। राज्याधिकारी निर्वाचक समूह के सदस्यों को खुश करने की कोशिश करते हैं न कि जनता को। आजकल यह व्यवस्था अपने उद्देश्य को पाने में सर्वथा असफल रही है। कभी भी चुनाव उम्मीदवार के गुणावगुणों के आधार पर नहीं हुए। वे सदा ही पार्टीबाजी के आधार पर होते हैं। फिर अगर जन-साधारण निर्वाचक समूह के सदस्यों के चुनाव के लिए उपयुक्त हैं तो वे विधान-सभा के सदस्यों का निर्वाचन क्यों नहीं कर सकते? जनता तथा विधानपालिका के सदस्यों के मध्य में मौजूद इस व्यवस्था की कोई उपयोगिता नहीं। जनता स्वयं अपने उत्तरदायित्व को समझती है, वह कभी गलत चुनाव नहीं करती। यही कारण हैं कि अनेक राज्यों में अप्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था को छोड़ प्रत्यक्ष चुनाव व्यवस्था को अपनाया गया है।

१४८. निर्वाचन क्षेत्रों के प्रकार (Types of constituencies)

चुनाव के लिए राज्य को विभिन्न चुनाव क्षेत्रों में बाँट लिया जाता है। इन चुनाव क्षेत्रों के दो प्रकार होते हैं—एक सदस्य वाला चुनाव क्षेत्र (Single member constituency) तथा बहुसंख्यक प्रतिनिधि चुनाव क्षेत्र (Multi-member constituency)। एक सदस्य वाले चुनाव क्षेत्रों से एक ही प्रतिनिधि

चुना जाता है। इस व्यवस्था के अधीन जितने प्रतिनिधि चुने जाते हों राज्य को उतने चुनाव क्षेत्रों में बाँट लिया जाता है। प्रत्येक चुनाव क्षेत्र से एक ही प्रतिनिधि चुना जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि हरेक चुनाव क्षेत्र से एक ही आदमी चुनाव लड़ता है। एक ही क्षेत्र से चुनाव लड़ने वालों की संख्या तो काफी हो सकती है, परन्तु उन सब में जो सबसे अधिक वोट प्राप्त करता है, वह विधानपालिका का सदस्य बनता है, शेष नहीं। भारत, संयक्त राज्य अमेरिका या ग्रेट ब्रिटेन में एक सदस्य वाले चुनाव क्षेत्रों की व्यवस्था रहती है।

बहुसंख्यक प्रतिनिधि चुनाव-व्यवस्था के अन्तर्गत एक से अधिक अनेक (पाँच, छः या सात) प्रतिनिधि एक ही चुनाव क्षेत्र से चुने जाते हैं। इस व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक राज्य को बड़े-बड़े चनाव क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है, और प्रत्येक चुनाव क्षेत्र से एक साथ चार-पाँच प्रतिनिधि चुने जाते हैं।

एक सदस्य वाले चुनाव क्षेत्र की व्यवस्था सरल तथा सीधी-सादी है। आकार में छोटी होने के कारण चुनावकर्त्ता और निर्वाचित प्रतिनिधि दोनों ही एक दूसरे के सम्पर्क में आ सकते हैं। ये व्यवस्था सस्ती भी है और एक साधारण आदमी भी बिना ज्यादा खर्च किये चुनाव लड़ सकता है। वोटर लोग अपने आप अपने प्रतिनिधि का चुनाव करते हैं, वे जानते है कि उनका प्रतिनिधि कौन है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत निर्वाचित व्यक्ति अपने चुनाव क्षेत्र में रहने वाले लोगों के हितों की बड़ी अच्छी तरह से देख-भाल कर सकता है। चुनाव क्षेत्र के छोटे होने के कारण ही ऐसा सम्भव है।

इस प्रणाली के अन्तर्गत अल्पमत को भी अपने प्रतिनिधि चुनने का मौका मिल जाता है, क्योंकि चुनाव क्षेत्रों का बँटवारा इस ढंग से किया जा सकता है कि अल्पमत भी किसी न किसी चुनाव क्षेत्र में अच्छी स्थिति में आजाएँ यानी वे बहु-संख्यक हो जाएँ। ये व्यवस्था स्थानीय प्रतिभा को चुनाव लड़ने के लिए प्रोत्साहित करती है और विधानपालिका में मन्त्रिमण्डल निर्माण के लिए स्थायी बहुमत प्रदान करती है। बहुसंख्यक चुनाव क्षेत्र में कोई भी दल बहुमत प्राप्त नहीं कर पाता, बल्कि छोटे-छोटे ग्रुप अलग-अलग चुनाव क्षेत्रों से चुने जाते हैं और वे विधानपालिका में किसी भी पार्टी को मन्त्रिमण्डल बनाने की स्थिति में नही आने देते।

परन्तु इस प्रकार के निर्वाचन क्षेत्र के भी अपने दोष हैं। सर्वप्रथम तो इस व्यवस्था के अन्तर्गत जनता में अप्रिय उम्मीदवार भी चुने जाते हैं। इस व्यवस्था के दोष उस समय पता चलते है जबकि एक ही क्षेत्र से तीन उम्मीदवार चुनाव लड़ रहे हों। अगर श्यामसिंह को २०० वोट प्राप्त हुए और उसके मुकाबले में खड़े रतनसिंह तथा शेरसिंह को क्रमशः १६० तथा १४० वोट प्राप्त हुए तो स्पष्ट है कि उस चुनाव क्षेत्र का बहुमत श्यामसिंह के विरुद्ध है परन्तु फिर भी वही चुना जाएगा क्योंकि अन्य दोनों उम्मीदवारों को व्यक्तिगत वोट थोड़े मिले हैं।

इसी प्रकार जो उम्मीदवार हारे हुए उम्मीदवार के लिए वोट देते है उनका कोई भी प्रतिनिधि विधानपालिका में नहीं पहुँच पाता। यह बात एक उदाहरण से

स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिए अम्बाला निर्वाचन क्षेत्र में सात लाख वोटर हैं, इन में से तीन लाख तो काँग्रेसी उम्मीदवार को वोट देते हैं, दो लाख कम्युनिस्ट सदस्य के पक्ष में और शेष डेढ़ लाख हिंदुसभा, जनसंघ तथा अकाली पार्टी को। यह तो स्पष्ट है कि काँग्रेसी उम्मीदवार जीत गया, परन्तु उन साढ़े तीन लाख वोटरों का कोई भी प्रतिनिधि विधान-सभा में न जा सका जिन्होंने असफल उम्मीदवारों को वोट दिए थे।

इस व्यवस्था के अन्तर्गत चुने गए प्रतिनिधियों का दृष्टिकोण बहुत संकुचित होता है। वे सदा स्थानीय हितों की ही बात सोचते हैं, राष्ट्रीय हितों की परवाह नहीं करते। उनका बड़ा मकसद अपने निर्वाचन क्षेत्र के सहायकों की मदद करना होता है।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी इस समय एक सदस्य वाले चुनाव क्षेत्र की व्यवस्था बहुत उपयुक्त समझी जाती है, और अधिकाँश प्रजातन्त्रात्मक देशों में उसका अनुसरण किया जाता है।

१४६. आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation)

ऊपर हम देख आए हैं कि मौजूदा चुनाव-प्रणाली जिसके अन्तर्गत एक चुनाव क्षेत्र से एक ही प्रतिनिधि चुने जाने की व्यवस्था रहती है, दोषपूर्ण है। इसके अन्तर्गत अल्पमत को प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता। दूसरा इस व्यवस्था के अधीन जनता में अप्रियदल भी विधानपालिका में बहुमत प्राप्त कर सकता है। १९५०-५१ के चुनाव में हमारे यहाँ काँग्रेस को वोटों की बहुसंख्या प्राप्त नहीं हुई, तथापि राज्यों में और केन्द्र में दोनों जगह ही काँग्रेस ने बहुमत प्राप्त किया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत, जैसा कि हम पीछे देख आए हैं, असफल उम्मीदवार को वोट देने वाले वोटरों को अपना एक भी प्रतिनिधि भेजने का अधिकार नहीं मिल पाता। इन सभी दोषों को दूर करने के लिए आनुपातिक चुनाव व्यवस्था की खोज की गई है।

इस चुनाव-प्रणाली का जनक ब्रिटिश विचारक थामस हेयर (Thomas Hare) है। आनुपातिक चुनाव-व्यवस्था के लिए हेयर ने दो बातें आवश्यक मानी हैं (१)—निर्वाचन-क्षेत्र की प्रचलित मौजूदा प्रणाली को छोड़ दिया जाय और उसके स्थान पर बड़े-बड़े क्षेत्र वाले बहुसंख्यक चुनाव क्षेत्रों को अपनाया जाय। इनमें से कम से कम तीन और अधिक से अधिक पन्द्रह प्रतिनिधियों के चुनने की व्यवस्था रहनी चाहिए।

(२) प्रत्येक मतदाता को उतने ही वोट देने का अधिकार होना चाहिए जितने कि सदस्य चुने जाने की व्यवस्था हो। इस प्रणाली के अन्तर्गत सफल उम्मीदवार वह नहीं होंगे जिन्हें कि बहुमत प्राप्त हो, बल्कि वह उम्मीदवार ही सफल समझे जायँगे जो वोटों का एक निश्चित कोटा प्राप्त कर सकें।

अनुपातिक चुनाव-व्यवस्था के निम्नलिखित दो मुख्य प्रकार हैं—

(१) एक परिवर्तनीय मत प्रणाली (The single transferable vote system)।

(२) सूची व्यवस्था (List system)।

एक परिवर्तनीय मत-प्रणाली—इस व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण देश को बड़े-बड़े चुनाव क्षेत्रों में बांट दिया जाता है, जिसमें से तीन से अधिक व पन्द्रह से कम सदस्यों के निर्वाचन की व्यवस्था रहती है। कितने भी सदस्यों के चुने जाने की व्यवस्था क्यों न हो प्रत्येक वोटर एक ही वोट दे सकेगा। परन्तु प्रत्येक वोटर को एक विशेष अधिकार दिया जाता है। वे अपनी पसन्द के अनुसार जितने भी उम्मीदवार हैं उनके आगे, एक, दो, तीन, चार, पाँच इत्यादि संख्याएँ लिख सकता है। ये संख्याएँ उसकी पसन्द की सूचक हैं, यानी जिस नाम के आगे वह 'एक' लिखता है वह उसकी दृष्टि में योग्यतम व्यक्ति हैं, दूसरी पसन्द वाला दूसरे स्थान पर आता है, इसी प्रकार अन्य लोगों की स्थिति भी समझी जानी चाहिए।

प्रत्येक उम्मीदवार की वोटों की एक निश्चित संख्या या कोटा (Quota) प्राप्त करना होता है। यह कोटा पहले ही निश्चित कर दिया जाता है। अगर एक वोटर ने एक उम्मीदवार को अपनी प्रथम पसन्द का वोट दिया है, परन्तु वह पहले ही अपने निश्चित संख्या के वोट प्राप्त कर चुका है तो उस वोटर का वोट व्यर्थ नहीं जायगा। इस दशा में उसका वोट उस व्यक्ति को मिल जायगा जिसे कि उसने दूसरी एसन्द का वोट दिया हो, और अगर वह भी एक निश्चित कोटा प्राप्त कर चुका हो तो उस उम्मीदवार को वह वोट मिलता है जिसे कि उसने तीसरा स्थान दिया है। इस प्रकार उसका वोट तब तक प्रयुक्त किया जा सकता है जब तक कि सभी सीटें भर न जायँ। इस प्रणाली का एक मात्र उद्देश्य यह है कि एक वोट व्यर्थ नहीं जाना चाहिए।

सूची व्यवस्था (List system)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत भी बहुसंख्यक प्रतिनिधि चुनाव क्षेत्रों की आयोजना की जाती है। प्रत्येक वोटर उतने ही वोट दे सकता है जितने कि सदस्य उस क्षेत्र से चुने जाने हैं। अगर चार सदस्य चुने जाने हैं तो एक वोटर को चार वोट डालने का अधिकार होगा। परन्तु वह एक उम्मीदवार के लिए एक से अधिक वोट का इस्तेमाल नहीं कर सकता। उम्मीदवारों के नामों की सूची उनकी पार्टियों के आधार पर बना ली जाती है। प्रत्येक पार्टी उतने ही उम्मीदवारों के नाम देती है जितनी सीटें उस निर्वाचन क्षेत्र से पूरी की जानी होती हैं। यदि चार पार्टियाँ उस क्षेत्र से चुनाव लड़ रही हैं तो चार लिस्टें तैयार की जाती हैं। प्रत्येक वोटर पूरी की पूरी लिस्ट के लिए अपना वोट देता है।

वोट डालने के अनन्तर वोटों की कुल संख्या की चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या से भाग दे लिया जाता है और चुनाव के लिए आवश्यक वोटों का कोटा निकाल लिया जाता है। इसके बाद एक दल द्वारा प्राप्त वोटों की संख्या का निर्वाचन के लिए आवश्यक कोटे से भाग दे दिया जाता है और इस प्रकार फैसला कर लिया जाता है कि एक पार्टी को कितनी सीटें मिलनी चाहिए। मान लीजिए, सहारनपुर के निर्वाचन क्षेत्र से पाँच सदस्य चुने जाने हैं और कुल मिला कर एक लाख वोट डाले गये हैं। एक लाख को पांच से भाग देने पर निर्वाचन कोटा बीस

हजार निश्चित किया गया। अब हम देखेंगे कि अलग-अलग पार्टियों को कितने-कितने वोट प्राप्त हुए हैं। मान लीजिए काँग्रेस को अड़तालीस हजार, समाजवादी दल को पच्चीस हजार तथा कम्युनिस्ट पार्टी को इक्कीस हजार और हिन्दुसभा को छः हजार वोट मिले हैं तो कांग्रेस को दो सीटें, समाजवादी दल तथा कम्युनिस्ट पार्टी को एक-एक सीट प्राप्त होगी। एक स्थान खाली बचता है। उस स्थान की पूर्ति के लिए कोई भी पार्टी निश्चित कोटा प्राप्त नहीं करती। ऐसी अवस्था में एक औसत निकाल ली जायगी और जो पार्टी इस औसत के अनुसार सबसे अधिक वोट प्राप्त करती है उसे ही यह सीट सौंपी जायगी। उपर्युक्त अवस्था में काँग्रेस ही सब से अधिक औसत सीटें प्राप्त करती है, अतः बाकी बची सीट उसी को मिलेगी।

आनुपातिक चुनाव व्यवस्था का प्रचलन जर्मनी, हालैण्ड, आस्ट्रिया, स्वीडन, इत्यादि अनेक राज्यों में था।

आनुपातिक प्रतिनिधि व्यवस्था का मूल्यांकन—आनुपातिक चुनाव-व्यवस्था अल्पमत को समुचित प्रतिनिधित्व देने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। हम ऊपर देख चुके हैं कि साधारण चुनाव-व्यवस्था के अन्तर्गत अक्सर ऐसी पार्टियाँ चुनाव जीत जाती हैं जिन्हें की वोटों की औसत संख्या थोड़ी प्राप्त हुई होती है, और उन वोटों का कुछ भी नहीं बनता जो कि एक असफल प्रतिनिधि को किये जाते हैं। इस व्यवस्था अधीन राज्य के अन्तर्गत मौजूद सभी दलों को उनके अनुपात के अनुसार वोट प्राप्त हो जाते हैं। जैसा कि हम पीछे देख आए हैं इस व्यवस्था के अन्तर्गत मतदाता का कोई भी वोट व्यर्थ नहीं जाने पाता। विधानपालिकाओं का रूप भी इस व्यवस्था के अन्तर्गत बदल जाता है। उसमें कोई भी एक दल बहुमत प्राप्त नहीं कर पाता, इस कारण सभी दल मिलकर ही राज्य-शासन चलाते हैं। अगर सभी दल नहीं भी मिल पाते तो कुछ दल तो आपस में समझौता करते ही हैं। इस प्रकार एक दल की तानाशाही नहीं चल पाती। अक्सर मिश्रित मन्त्रिमण्डल बनते हैं, ऐसे मन्त्रिमण्डल राष्ट्रीय चरित्र का तथा जनता के विभिन्न वर्गों का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करते हैं। जब मन्त्रिमण्डल कमजोर हों तो वे विधानपालिका की मर्जी के मुताबिक काम करते हैं, अपनी मनमानी नहीं कर पाते। ऐसी विधानपालिकाएँ जिनमें कि किसी एक पार्टी का बहुमत नहीं होता, किसी भी क्रान्तिकारी या मौलिक परिवर्तन के पक्ष में नहीं होती। न ही वे ऐसा कर ही सकती हैं। जहाँ विधानपालिकाएँ किसी एक ही दल द्वारा शासित की जाती हैं, वहाँ ऐसे मौलिक परिवर्तनों की सम्भावना बनी रहती है।

आनुपातिक चुनाव व्यवस्था का शिक्षात्मक मूल्य भी है। वोटर को अपनी अलग-अलग पसन्द जतानी होती है, वह विभिन्न उम्मीदवारों के गुणावगुण की परीक्षा करता है, पार्टियों के प्रोग्राम को देखता है और फिर सोच-विचार के अनन्तर अपना मत प्रकट करता है।

आनुपातिक चुनाव व्यवस्था की कड़ी आलोचना भी की गई है, व्यवहार रूप में भी अनेक स्थानों पर इसे दोषपूर्ण पा छोड़ दिया गया है। प्रो० लॉस्की इत्यादि

विचारक इस व्यवस्था के विरोधी हैं। विधानपालिकाओं में अल्पमतों का प्रतिनिधित्व अवश्य होना चाहिए, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि विधानपालिकाएँ पार्टीबाजी तथा ग्रुपबन्दी का अखाड़ा बन जाएँ और वे विधान-निर्माण के तथा शासन-संचालन के अपने वास्तविक कार्य कर ही न सकें। आनुपातिक चुनाव-प्रणाली के अन्तर्गत विधानपालिकाएँ अलग दलों के षड्यन्त्रों का केन्द्र बन जाती हैं। इस चुनाव-व्यवस्था के अधीन कोई एक दल बहुमत प्राप्त कर नहीं सकता, अतः मन्त्रिमण्डल का निर्माण कुछेक दल मिलकर करते है। ऐसे मन्त्रिमण्डल, जो कि मिश्रित मन्त्रिमण्डल कहलाते हैं, कभी टिकाऊ नहीं होते। राजनीतिक सौदेबाजी चलती रहती है, छोटे-छोटे ग्रुप अपने आपको लाभदायक स्थिति में रखने के लिए नये-नये मन्त्रि-मण्डली के निर्माण में सहयोग देते है। मन्त्रिमण्डल के टिकाऊ न होने से किसी भी निश्चित या स्थायी नीति का अनुसरण नही किया जा सकता। शासन का नियन्त्रण भी जनता के प्रतिनिधियों के हाथ से निकलकर स्थायी सरकारी नौकरों के हाथ में आ जाता है। जब मन्त्रिमण्डल का जीवन-काल छोटा हो तो उस अवस्था में राज-काज चलाने की जिम्मेवारी उस पर रह ही नही पाती। ऐसे मन्त्रिमण्डलो में मन्त्रियों का कार्य-शासन चलाना न होकर अपनी स्थिति को मजबूत करना होता है। फलतः शासनतन्त्र में भ्रष्टाचार तथा घूसखोरी का विस्तार हो जाता है। राष्ट्र के राज-नीतिक जीवन की पवित्रता नष्ट हो जाती है।

आनुपातिक चुनाव-व्यवस्था में छोटे-छोटे ग्रुपों को भी चुनाव में जीतने की उम्मीद रहती है, फलतः राजनीतिक दलों की संख्या घटने की बजाय बढ़ती जाती है। राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से भी यह व्यवस्था उपयुक्त नहीं कही जा सकती। क्योंकि छोटे-छोटे अल्पमतों का विस्तार होता है उनकी राजनीतिक जीवन में इज्जत होती है, और लोग राष्ट्रीयहित में सोचना छोड़ वर्गहित की ही बातें सोचते हैं।

बहुसंख्यक निर्वाचन क्षेत्र के अपने दोष हैं। ऐसे क्षेत्रों से अनेक प्रतिनिधि चुने जाते हैं, उनका जनता से कोई सम्पर्क नहीं होता, न ही जनता जानती है कि कौन उनका वास्तविक प्रतिनिधि हैं। चुनाव क्षेत्र के विस्तृत होने के कारण चुनाव लड़ने में बहुत खर्च होता है, इस कारण साधारण श्रेणी के नागरिक तो चुनाव लड़ने की बात ही नही सोचते। वैसे भी यह चुनाव-व्यवस्था बहुत जटिल होती है, जन-साधारण को इतनी राजनीतिक शिक्षा नहीं होती कि वह इस को ठीक-ठीक रूप में समझ भी सकें। एक परिवर्तनीय मत व्यवस्था के अधीन निर्वाचक अपनी पसन्द को निश्चित तथा स्पष्ट रूप में रखने में असमर्थ होता है। आनुपातिक चुनाव व्यवस्था के अधीन उपचुनाव (By-elections) भी नहीं हो पाते। वस्तुतः इस व्यवस्था को अपनाने के लिए जनता का पर्याप्त शिक्षित होना और आर्थिक दृष्टि से उन्नत होना लाजमी है।

१५०. व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation)

अनेक राजनीतिक विचारकों का कथन है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व व्यवस्था तथा साधारण चुनाव व्यवस्था दोनों ही दोषपूर्ण हैं और वे हमारी राजनीतिक

समस्याओं का समुचित समाधान पेश नहीं करतीं । इन दोनों प्रकार की चुनाव-व्यवस्थाओं का आधार भौगोलिक चुनाव क्षेत्र हैं । एक ही गाँव, कस्बे या प्रदेश में रहने वाले सभी वर्ग तथा व्यवसाय के लोग अपने हितों की रक्षा के लिए एक सामान्य प्रतिनिधि का निर्वाचन करते हैं, परन्तु यह व्यवस्था त्रुटिपूर्ण है । समाज में अनेक व्यावसायिक, आर्थिक तथा पेशे से सम्बन्ध रखने वाले समुदाय हैं, उनसे लाखों व्यक्ति सम्बन्धित होते हैं, उनके हितों का प्रतिनिधित्व इस व्यवस्था द्वारा सम्भव नहीं ।

एक ही प्रदेश में रहने वाले लोगों के सामान्य स्वार्थ नही हो सकते, अगर हो भी सकते हैं तो बहुत मामूली विषयों तक ही । एक ही पेशे या व्यवसाय के लोगों के सामान्य हित होते हैं । एक अध्यापक अपने वर्ग के लोगों की कठिनाइयाँ जानता है, विधानपालिका में वह अपने वर्ग के स्वार्थों का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व कर सकता है । इसी प्रकार एक मोची (जूते सीने वाला) किसान या मिल मजदूर अपने वर्ग के स्वार्थों के सही प्रतिनिधि हो सकते हैं, उनके हितों का सही प्रतिनिधित्व शहर में रहने वाला एक वकील नहीं कर सकता । यह कहना कि प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र के आधार पर चुने गये प्रतिनिधि अपने प्रदेश में मौजूद सभी परस्पर विरोधी स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करते हैं, सर्वथा गलत है । आज के लोगों में वर्गगत स्वार्थों की एकता अधिक है और प्रदेशगत स्वार्थों की बहुत कम । जन-साधारण विभिन्न वर्गों में बँटा हुआ है,उनमें वर्ग चेतना पर्याप्त प्रबुद्ध होती है । इन वर्गों का बँटवारा बहुत कछ व्यवसाय के आधार पर हुआ है । अतः चुनाव व्यवस्था का संगठन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि प्रत्येक व्यावसायिक समुदाय अपने प्रतिनिधि भेज सके । एतदर्थ प्रादेशिक चुनाव व्यवस्था के स्थान पर व्यावसायिक चुनाव क्षेत्र बनाने चाहिएँ । व्यावसायिक चुनाव-व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूर, मिल मालिक, अध्यापक, डाक्टर, इंजीनियर इत्यादि सभी विधान-पालिकाओं में अपने-अपने प्रतिनिधि भेजेंगे ।

इस प्रकार के व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था पुराने समय में भी मिल जाती है । पुरानी परिपाटी के अनुसार कुलीनवर्ग, पादरी तथा जनसाधारण अपने-अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करते थे । आस्ट्रिया में मतदाताओं के पाँच वर्ग थे—बड़े जिमींदार, **नगर** व्यापारमण्डल ग्राम तथा जन-साधारण । वर्तमान समय में तो व्यावसायिक प्रतिनिधि व्यवस्था का व्यापक समर्थन किया गया है । यह यकीन किया जाता है कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था ही लोकतन्त्र के आदर्शों के अनुकूल है । गिल्ड सामाजवाद के मुख्य **प्रणेता** जी. डी. एच. कोल (G. D. H. Cole) ने वर्तमान निर्वाचन-व्यवस्था की कड़ी आलोचना करते हुए व्यावसायिक निर्वाचन व्यवस्था का जबरदस्त समर्थन किया है । उसके अतिरिक्त फ्रेंच विचारक मिराबो (Merabeau), सेयीज (Sieyes) तथा द्युग्वी (Deugui) ने भी इस व्यवस्था का समर्थन किया है । द्युग्वी का कथन है कि उद्योग, सम्पत्ति, व्यवसाय, विज्ञान तथा धर्म, संक्षेप में, राष्ट्रीय जीवन की सभी महान् शक्तियों को विधानपाधिका में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए । अंग्रेज विधान-शास्त्री लार्ड **ब्राउघम** ने ब्रिटिश संविधान पर लिखी गई अपनी पुस्तक में उस निर्वाचन-व्यवस्था का समर्थन किया है

कि जिस द्वारा समाज का प्रत्येक वर्ग तथा समुदाय विधानपालिका में प्रतिनिधित्व पा सके। ग्राहम वेलस ने भी व्यावसायिक प्रतिनिधि व्यवस्था का समर्थन किया है। उसके मतानुसार एक राज्य में दो प्रतिनिधि संस्थाएँ होनी चाहिएँ, एक के सदस्यों का चुनाव प्रादेशिक आधार पर होना चाहिए और दूसरे के सदस्यों का व्यावसायिक आधार पर।

व्यावसायिक प्रतिनिधि व्यवस्था का अनेक राज्यों में अनुसरण भी किया गया है। सोवियत रूस में पहले पहल ऑल रशियन कांग्रेस (All Russian Congress) में व्यावसायिक चुनाव व्यवस्था को अपनाया गया। इटली में भी इसी व्यवस्था का अनुसरण किया गया। अन्यत्र भी द्वितीय सदन में कुछ सीटों का चुनाव व्यावसायिक चुनाव पद्धति पर किया जाता है। अधिकांश में व्यावसायिक या आर्थिक समुदायों को विधानपालिका में स्थान देने के बजाय सलाहकार समितियों के रूप में आयोजित किया जाता है। जर्मनी, यूगोस्लाविया, पोलैण्ड, स्पेन, पुर्तगाल तथा ग्रेट ब्रिटेन में ऐसी ही अनेक सलाहकार परिषदों की नियुक्ति की गई थी। इनका काम कानून निर्माण नहीं बल्कि केवलमात्र सलाह देना था।

व्यावसायिक चुनाव-व्यवस्था की आलोचना—इस चुनाव व्यवस्था की भी बड़ी कड़ी आलोचना की जाती है। यह कहा जाता है कि व्यावसायिक चुनाव-व्यवस्था राष्ट्रीय एकता को सर्वथा नष्ट कर देगी, देश में वर्ग संघर्ष, पारस्परिक द्वेष तथा वैमनस्य को उत्पन्न करेगी। राष्ट्रीय विधानपालिकाओं के सदस्यों का गुणात्मक दृष्टि से पतन हो जायगा और विधानपालिकाएँ विभिन्न प्रकार के विरोधी वर्गों के संघर्ष का अखाड़ा बन जायगी। विधानपालिकाओं का कार्य जन सामान्य का बिना वर्गगत भेद-भाव का ध्यान रखे कल्याण करना है, उसे सामान्य हित को दृष्टि में रख-कर कानून बनाने हैं। परन्तु व्यावसायिक चुनाव-प्रणाली के प्रचलन के फलस्वरूप विधानपालिकाओं के सदस्यों के दृष्टिकोण से संकुचित हो जायँगे और वे वर्गजात स्वार्थों से ऊपर उठ जनसामान्य के कल्याण की बात नहीं सोच सकेंगे। लोग अपने सामान्य हितों को भूल वर्गगत हितों का ही ख्याल रखेंगे।

यह कहना भी गलत है कि सभी समुदाय एक ही प्रकार के उद्देश्यों का अनुसरण करते हैं। एक ही समुदाय में रहनेवाले या एक ही पेशे के अनुगामी लोग सदा एक ही ढंग से नहीं सोचते। प्रोफैसर बार्थेलेमी का विचार है कि यह जरूरी नहीं कि सभी वर्गों के लोग वर्गगत स्वार्थों से प्रेरित होकर ही वोट देंगे। राजनीतिक पार्टियाँ इस उद्देश्य को विफल बना देंगी। लोग अपने वर्गगत स्वार्थों का त्याग कर राजनीतिक पार्टियों के आदेशों का अनुसरण करेंगे।

यह व्यवस्था राज्य के अस्तित्व को ही खतरे में डाल देती है, जैसा कि कोल इत्यादि ने सुझाया है कि राज्य में प्रभुसत्ता के दो संगठन होने चाहिएँ, एक तो आर्थिक प्रभु और दूसरा राजनीतिक। ऐसा विभाजन राष्ट्रीय एकता के लिए और अविभाज्य प्रभुता के लिए खतरनाक है। हमें समाज के अन्तर्गत वर्गगत तथा व्यवसायगत भेदों को इतना महत्त्व नहीं देना चाहिए। फिर जो बड़ी कठिनाई है वह यह है कि

किन-किन वर्गों को विधानपालिका में स्थान दिया जाना चाहिए। प्रो० लास्की ने इस व्यवस्था के सम्पूर्ण आधार को ही गलत माना है। उसका कथन है कि एक डाक्टर का तथा विधानपालिका के कार्य का क्या सम्बन्ध हो सकता है ? विदेशी नीति, व्यापार-नीति या खानों के राष्ट्रीयकरण के सवालों का क्या कोई डाक्टरी हल भी हो सकता है ? इस प्रकार व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की कोई विशेष उपयोगिता नहीं।

Important Questions

Reference

1. Do you advocate universal franchise ? What in your opinion, should be the qualifications for the exercise of franchise ? (*Pb.* 1942) — Art. 145

2. State the case for and against woman sufferage. — Art. 146

3. Discuss the relative merits of single member and multi-member constituencies. (*Pb.* 1951 (*Sep.*) — Art. 148

4. State the case in favour of indirect system of election and give your own opinion. (*Pb.* 1934., *Cal.* 1936) — Art. 147

5. Explain the essential features of proportional representation. Advance arguments for and against it. (*All.* 1941, 1944, *Pb.* 1938, 1935, 1951, *Nag.* 1939, *Cal.* 1932) — Art. 149

6. Explain functional democracy, its principles, objects and methods. (*Ag.* 1941)

Or

Explain briefly the claims of *a*) functional, and (*b*) territorial representation in the modern State. (*Cal.* 1931, *Pb.* 1940) — Art. 150

अध्याय २२

व्यक्ति तथा राज्य (१)

अधिकार और कर्त्तव्य

(Rights & duties)

१५१. अधिकारों के आधार

व्यक्ति तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण हम उन अधिकारों के आधार पर करते हैं, जिन्हें कि राज्य व्यक्ति के लिए संविधान में मान्यता प्रदान करता है या जो समाज द्वारा स्वीकृति प्राप्त कर संवैधानिक रूप धारण करने की स्थिति में होते हैं। राज्य का उद्देश्य लोक-कल्याण है। इस उद्देश्य की प्राप्ति उन अधिकारों द्वारा ही सम्भव है जिनका व्यक्ति राज्य के भीतर रहकर उपभोग करता है। राज्य के नैतिक स्वरूप का विश्लेषण उस द्वारा सुरक्षित अधिकारों द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि व्यक्ति के जीवन का पूर्ण विकास कुछ विशिष्ट अधिकारों की उपस्थिति में ही हो सकता है, यदि राज्य उन्हे सुरक्षित रखता है और तदर्थ व्यक्ति को उचित गारण्टी देता है तो वह राज्य निश्चय ही उत्तम राज्य कहलाता है। सामाजिक कल्याण का आधार अधिकारों की समुचित उपस्थिति है।

हमने पीछे लिखा है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास समाज में ही सम्भव है। व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिए कुछ आधारभूत परिस्थितियों की उपस्थिति आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की कुछ मौलिक आवश्यकताएँ होती हैं, जिनकी पूर्ति यदि समाज में सम्भव न हो तो उसका व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाता है, उसका स्वस्थ विकास नही हो पाता। प्रकृति उसे कुछ शक्तियाँ प्रदान करती है, अगर उसे ठीक-ठीक सामाजिक वातावरण न मिल सके तो वे अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित रह सकती हैं, और उनके पूर्ण विकास के न हो सकने के फलस्वरूप वह अपने मानवीय जीवन का पूर्ण लाभ नहीं उठा सकता। यही कारण है कि प्रो० लास्की ने कहा है कि **"अधिकार सामाजिक जीवन की वह परिस्थितियाँ हैं जिनके बिना साधारण रूप से कोई भी अपने पूर्णतम स्वरूप की प्राप्ति की कोशिश नहीं कर सकता।"**[1] वाइल्ड (Wilde) के मतानुसार **"अधिकार कुछ विशेष कार्य के लिए इस्तेमाल की जानी वाली स्वतन्त्रता की विवेकपूर्ण मांग है।"**[2] **प्रो० टी. एच. ग्रीन के शब्दों में "अधिकार वह शक्ति है जिनकी लोक कल्याण के लिए ही माँग की जाती**

1. "Rights are those conditions of social life without which no man can seek, in general, to be himself at his best."—*Laski.*

2. "A right is a reasonable claim to freedom in the exercise of certain activities."—*Wilde.*

है और मान्यता भी की जाती है ।"[1] अतः स्पस्ट है अधिकार वैयक्तिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक राज्य द्वारा स्वीकृत कुछ विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियाँ हैं ।

अधिकार के स्वरूप को ठीक-ठीक तरह से समझने के लिए हमें नीचे लिखी बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए ।

सर्वप्रथम तो यह याद रखना चाहिए कि अधिकार एक प्रकार की वैयक्तिक या सामूहिक माँग है, जो समाज या सम्प्रदायक से की जाती है । वैयक्तिक जीवन की कुछ मूलभूत आवश्यकताएँ हैं जिनकी सन्तुष्टि या पूर्णता के लिए कुछ विशेष परिस्थितियों की आवश्यकता होती है । वह समाज या राज्य द्वारा ही वैयक्तिक वा सामूहिक जीवन के लिए तैयार की जा सकती हैं ।

दूसरी बात जो हमें इन माँगों के विषय में स्पष्ट रूप से समझ लेनी है वह यह है कि ये माँगें तर्क पर तथा सामाजिक सदाचरण पर आधारित होनी चाहिएँ । तर्क तथा सामाजिक सदाचरण दोनों को हम ने साथ-साथ इसलिए रखा है कि अनेक बार केवल मात्र सामाजिक सदाचरण के आधार पर ही कुछ माँगों को अधिकार स्वीकार कर लिया जाता है यद्यपि तर्क के आधार पर उन्हें उचित तथा न्यायपूर्ण नहीं दिखाया जा सकता । सती व्यवस्था छूआछूत तथा जिमीदारी व्यवस्था के आधार पर आधारित विशेषाधिकार तर्क पर ठीक नहीं उतरते, तथापि उन्हें सामाजिक मान्यता प्रदान की जाती है । हाँ, तत्कालीन समाज के नेता इनको तर्क के आधार पर उचित ठहराने की कोशिश जरूर करते हैं । सामाजिक सदाचरण में तर्क के आधार पर तथा सामाजिक परिस्थितियों के फलस्वरूप धीरे-धीरे परिवर्तन होते रहते हैं । तथापि एक अच्छी अधिकार-व्यवस्था के लिए उनका तर्क तथा सदाचरण के आधार पर आधारित होना आवश्यक है । आत्महत्या, बहुविवाह प्रथा, दुराचरण, शराब पीना इत्यादि अधिकार रूप में सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं कर सकते । इसके विपरीत जीवन का अधिकार भाषण की स्वतन्त्रता का अधिकार तथा जीविकोपार्जन का अधिकार इत्यादि न केवल सामाजिक सदाचरण के ही अनुकूल हैं अपितु तर्कसम्मत भी हैं ।

तीसरा किसी भी सामूहिक या वैयक्तिक माँग को तब तक अधिकार रूप प्रदान नहीं किया जा सकता जब तक कि उसे सामाजिक मान्यता प्रदान न की जाय । अधिकारों की समाज से बाहर कोई अवस्थिति नहीं । समाज के भीतर ही हम अधिकारों की मांग कर सकते हैं, उन्हें स्वीकृत करा सकते हैं और उनका उपभोग कर सकते हैं । हमारी कोई भी ऐसी मांग जो तर्कसम्मत हो, सामाजिक सदाचरण के अनुकूल भी हो, परन्तु राज्य द्वारा स्वीकृत न हो तो वह अधिकार नहीं कहला सकती । जीविकोपार्जन का अधिकार काम करने का अधिकार तथा विश्राम का अधिकार इत्यादि कुछ ऐसी वैयक्तिक तथा सामूहिक माँगें हैं जो तर्कसम्मत भी हैं और सामजिक सदाचरण के अनुकूल हैं परन्तु वे अधिकार रूप में अभी तक अनेक राज्यों

1. "A right is a power claimed and recognised as contributory to common good."—*T. H. Green.*

में मान्यता प्राप्त नहीं कर सकीं। सोवियत रूस इन्हें अधिकार रूप में मान्यता देता है, अन्यत्र वे नैतिक अधिकार के रूप में मौजूद हैं। परन्तु इन अधिकारों के विषय में यह कहना गलत नहीं होगा कि ये अधिकार निर्माण-अवस्था हैं। लोकमत के प्रभाव से जब कभी इन्हें राज्य की स्वीकृति मिल जायगी तभी ये अधिकार रूप में बदल जायँगे। समाज के भीतर रहते हुए यदि अधिकारों की कोई सामाजिक या कानूनी स्वीकृति न हो और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति तथा चतुरता के बल पर अपने अधिकारों के उपभोग की स्वतन्त्रता हो तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला असूल चलेगा। गरीब तथा कमजोर लोग अपने अधिकारों के उपभोग के लिए धनी तथा बलवान लोगों पर आश्रित रहेंगे। राज्य के नियम तथा कानून ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं कि जिसके अन्तर्गत समाज के सभी सदस्य बेखटके अपने अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं। अगर व्यक्ति सामाजिक जीवन का हिस्सा नहीं, वह अकेला ही समाज से बाहर रहता है, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे किसी भी अन्य व्यक्ति पर आश्रित नहीं रहना पड़ता, तो ऐसे व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार के अधिकार की आवश्यकता ही नहीं रहती। वह जो चाहे कर सकता है। परन्तु व्यक्ति का जीवन सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर ही पूर्ण बन पाता है, उससे ऊपर या बाहर नहीं। समाज के अन्तर्गत रहते हुए ही वह अधिकारों का उपभोग कर सकता है। हमें यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि सामाजिक स्वीकृति तथा वैधानिक स्वीकृति में भी अन्तर है। अनेक बार अनेक ऐसी वैयक्तिक तथा सामूहिक माँगें होती है, जिन्हें सामाजिक स्वीकृति तो अवश्य मिल जाती है, परन्तु राज्यकीय स्वीकृति प्राप्त नहीं होती। ऐसे अधिकार वैध अधिकार नही कहलाते, यद्यपि उन्हें समाज द्वारा स्वीकृत अधिकार अवश्य कहा जाता है। समाज द्वारा स्वीकृत अधिकारों को लागू करने की जिम्मेवारी राज्य पर नहीं होती।

चौथे अधिकार की सत्ता सभी के लिए लाजमी है, यानी एक अधिकार का उपभोग एक ही वर्ग तक सीमित नहीं होना चाहिए। उसका उपभोग सभी नागरिक कर सकें, ऐसी स्थिति होनी चाहिए। यदि अधिकारों का उपभोग एक वर्ग तक सीमित है और नागरिकों के शेष वर्ग उस अधिकार से वंचित रहते हैं तो ऐसी अवस्था में वह सभी वर्गों का अधिकार न होकर एक-आध वर्ग का विशेषाधिकार बन जायगा। अधिकार का उपभोग तो बिना जातिगत वर्गगत तथा वर्णगत भेद-भाव के सभी के लिए प्राप्य होना चाहिए। अन्यथा अधिकार का आधार ही खत्म हो जाता है।

पाँचवाँ अधिकार तथा कर्त्तव्य परस्पर आश्रित हैं। प्रत्येक अधिकार में कर्त्तव्य की भावना निहित है। एक रूप में तो वे अधिकार हैं, दूसरे रूप में वही हमारे कर्त्तव्य हैं। वस्तुतः वे एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह हैं। दोनों के समन्वय से ही समाज में अधिकारों की सत्ता सम्भव है। वर्तमान समाज में हम अधिकार तथा कर्त्तव्य में समुचित समन्वय नहीं कर पाते, फलतः समाज में अनेक प्रकार के विवाद उत्पन्न हो जाते हैं। हमारे समाज की अनेक खराबियाँ खत्म हो सकती हैं, अगर हम अधिकार तथा कर्त्तव्यों का ठीक-ठीक समन्वय कर पायें। अधिकारों का सामाजिक रूप है,

उनकी वास्तविक अनुभूति तभी सम्भव है जब अधिकार तथा कर्त्तव्य दोनों का ठीक-ठीक पालन हो सके। अधिकार तथा कर्त्तव्य का सम्बन्ध दो रूपों में है। एक तरफ जहाँ मेरा जीवित रहने का अधिकार है, वहाँ मेरा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं अन्य नागरिकों के जीवन विषयक अधिकार का सत्कार करूँ, यदि मुझे वैयक्तिक सम्पत्ति रखने का अधिकार प्राप्त है तो मेरा यह कर्त्तव्य भी है कि मै अन्य सामाजिकों को भी इस सम्पत्ति विषयक अधिकार का उपभोग करने दूँ, उनके इस अधिकार पर किसी प्रकार का आक्रमण न करूँ। इसी प्रकार प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह मेरे अधिकारों का सत्कार करे, उन्हें मान्यता प्रदान करे और उनके उपभोग में किसी प्रकार की भी बाधा उपस्थित न करे।

प्रत्येक अधिकार का सामाजिक रूप भी है। वह समाज की देन है अतः प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपने अधिकारों का उपभोग समाज के हित में करे। सामाजिक हित की भावना प्रत्येक अधिकार के साथ बन्धी हुई है। मुझे भाषण की या विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि मुझे उसे सामाजिक शान्ति को खत्म करने के लिए इस्तेमाल में लाना चाहिए अथवा उसका उपयोग हिंसात्मक साधनों के इस्तेमाल को बढ़ावा देने के लिए करना चाहिए। ऐसा करने पर समाज में अव्यवस्था तथा अराजकता फैल जायगी। वह व्यक्ति जो अपने अधिकारों का सामाजिक हित के लिए प्रयोग नहीं करता या जो उन्हें सामाजिक अशान्ति या अन्य नागरिकों को नुक्सान पहुँचाने के लिए इस्तेमाल करता है वह अपराधी हैं और उसे राज्य द्वारा सजा मिलनी चाहिए। **अपने अधिकारों का सामाजिक हित में प्रयोग करने का यही अर्थ है कि उनका व्यक्ति अपनी इच्छानुसार इस्तेमाल नहीं कर सकता, उनका उपयोग सामाजिक कल्याण की वृद्धि के लिए ही होना चाहिए।** प्रत्येक अधिकार का एक नैतिक पहलू है, इसी कारण वह विशुद्ध व्यक्तिगत वस्तु नहीं। प्रत्येक अधिकार की पूर्णता सामाजिक कल्याण में ही सम्भव है।

अधिकारों का वर्गीकरण—अधिकारों का रूप एक समान नहीं, उनमें भेद सम्भव है। साधारणतः अधिकारों के दो रूप माने जाते हैं—(१) **नैतिक अधिकार** (Moral rights) तथा (२) **कानूनी अधिकार** (Legal rights) हमारे **नैतिक अधिकार** तो वे हैं कि जो हमारी यानी समाज की नैतिक धारणाओं पर आधारित हैं। नैतिक अधिकार रीति-रिवाज तथा परम्परा पर भी आधारित होते हैं। प्रत्येक समाज में एक प्रकार की न्याय-भावना काम करती है, उसके आधार पर समाजिक कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का विश्लेषण किया जाता है। एक प्रकार से तो सभी अधिकारों का एक नैतिक आधार होता है जैसा कि हम पीछे स्पष्ट कर आये हैं। परन्तु यहाँ **"नैतिक अधिकारों से हमारा मतलब उस अधिकार समूह से है जो समाज द्वारा स्वीकृत किये जाते हैं, उसी द्वारा लागू होते हैं और जिन्हें राज्य के कानून लागू नहीं करते।"** लोग उनका उपभोग सामाजिक आलोचना के भय से करते हैं, सरकारी दण्ड के भय से नहीं। वृद्ध माता-पिता का अपने बच्चों से सेवा कराने का नैतिक अधिकार

है, निर्धनों का धनिकों से आर्थिक सहायता प्राप्त करने का भी एक नैतिक अधिकार है, परन्तु कानूनी नहीं, अगर कोई व्यक्ति इन्हें नहीं मानता तो उसे सजा नहीं दी जाती, उसकी समाज में निन्दा अवश्य होती है।

नैतिक अधिकारों में से अनेक अधिकार तो समय तथा परिस्थितियों के अनुसार कानूनी रूप भी धारण कर लेते है। प्रत्येक समाज में धीरे-धीरे वे कानून की मान्यता प्राप्त कर लेते हैं, प्रारम्भिक शिक्षा का अधिकार, जीविकोपार्जन का अधिकार विश्राम का अधिकार इत्यादि अनेक ऐसे नैतिक अधिकार हैं, जो धीरे-धीरे राज्य द्वारा मान्यता प्रदान किये जाने पर कानूनी अधिकार बनते जा रहे हैं।

कानूनी अधिकार हमारे वे अधिकार हैं जिन्हें राज्य स्वीकृति प्रदान करता है, और जिनका उपभोग राज्य के कानूनों के आधार पर सम्भव है। अगर कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति के अधिकारों के उपभोग में बाधा डालता है या उन्हें भंग करता है, तो वह कानून की दृष्टि में अपराधी ठहराया जाता है और उसे राज्य द्वारा सजा दी जाती है। राजकीय न्यायालय इन अधिकारों को कानून के आवश्यक भाग के रूप में लागू करते हैं। जीवन का अधिकार एक नागरिक का कानूनी अधिकार है और जो कोई भी इस अधिकार के उपभोग में बाधा डालता है या उस पर हमला करता है, वह अपराधी है और उसे दण्ड दिया जाता है। प्रत्येक कानूनी अधिकार का नैतिक आधार होता है।

कानूनी अधिकार के भी दो अन्य रूप हैं, वे है—**सामाजिक अधिकार** (Civil rights) **तथा राजनीतिक अधिकार** (Political rights) सामाजिक अधिकार नागरिक जीवन के आधार कहे जा सकते है। इन अधिकारों की प्राप्ति मनुष्य मात्र को होती है। प्रत्येक मनुष्य चाहे वह राज्य का नागरिक है या नही, इन अधिकारों का उपभोग कर सकता है। सामाजिक अधिकारों में मुख्य जीवन का अधिकार, भाषण तथा विचारों के प्रगटीकरण की स्वतन्त्रता का अधिकार निजी सम्पत्ति का अधिकार, शिक्षा का अधिकार तथा धार्मिक स्वतन्त्रता इत्यादि के अधिकार है। इन अधिकारों की उपस्थिति के बिना किसी प्रकार का भी शान्ति पूर्ण सुसंस्कृत तथा सभ्य सामाजिक जीवन सम्भव नही, इन्हीं की उपस्थिति में ही मनुष्य के व्यक्तित्व का समुचित विकास सम्भव है। अगर राज्य हमारे इन अधिकारों के उपभोग की व्यवस्था भी न कर सके तो उसकी कोई उपयोगिता ही नहीं। ये अधिकार हमारे जीवन के मौलिक अधिकार है, वे सामाजिक जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ हैं।

दूसरे वर्ग के कानूनी अधिकारों को **राजनीतिक अधिकार** (Political rights) कहते हैं। राजनीतिक अधिकार वे अधिकार हैं जिन द्वारा व्यक्ति के लिए राज्य शासन में भाग लेना सम्भव होता है। इन्ही अधिकारों का उपभोक्ता होता हुआ ही नागरिक राज्य की सर्वोच्च सत्ता या प्रभु शक्ति का हिस्सेदार होता है। राजनीतिक अधिकारों का उपभोग राज्य की सीमा में रहने वाले सभी व्यक्तियों के लिए सम्भव नहीं, केवल नागरिकों को ही ये अधिकार प्राप्त होते हैं। इन अधिकारों का वैयक्तिक जीवन से विशेष सम्बन्ध नहीं होता, इन द्वारा तो वे राज्य के प्रशासकीय

जीवन में भाग लेता है। ये अधिकार उसके व्यक्तित्व के विकास में अवश्य सहायक होते हैं, क्योंकि इन द्वारा वह अन्य नागरिकों के समान बन जाता है, उसमें आत्म-विश्वास की भावना का विकास होता है, वह अपने संकुचित जीवन से निकल विस्तृत सामाजिक जीवन में प्रवेश करता है और केवल अपनी ही स्वार्थ-सिद्धि के स्थान पर सामाजिक कल्याण की बात सोचता है। राजनीतिक अधिकारों के अन्तर्गत मताधिकार, विधानपालिका के सदस्य बनने तथा सार्वजनिक पद ग्रहण करने के अधिकार आते हैं। राजनीतिक अधिकार की उपस्थिति केवल प्रजातन्त्रात्मक शासन के अन्तर्गत ही सम्भव है।

राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं, सामाजिक अधिकारों के बिना राजनीतिक अधिकारों की अनुभूति सम्भव नहीं। इसी प्रकार राजनीतिक अधिकारों के बिना सामाजिक अधिकारों की सुरक्षा की कोई गारण्टी नहीं। क्योंकि राजनीतिक अधिकारों का उपभोग ही एक प्रजातन्त्रात्मक शासन का आधार हैं, प्रजातन्त्रात्मक शासन के बिना सामाजिक अधिकार सदा ही शासकों की या तानाशाहों की दया पर निर्भर रहते हैं। अनेक सामाजिक अधिकारों को राजनीतिक अधिकारों के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है, भाषण की तथा समुदाय-निर्माण की स्वतन्त्रता ऐसे ही अधिकार हैं। दोनों के बीच में किसी विभाजन रेखा को खैंच सकना सम्भव नहीं।

अधिकारों का विकासमय रूप—अधिकारों का स्वरूप सदा एक-सा नहीं रहता, वे बदलते रहते हैं और विशिष्ट अधिकारों के महत्त्व में भी अन्तर पड़ जाता है। अधिकारों का वर्तमान प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, पुराने समय में अधिकारों को इतनी व्यापक मान्यता प्रदान नहीं की जाती थी। उस समय अधिकारों का उपभोग व्यक्ति, समुदाय, बिरादरी परिवार तथा शासक की दया पर आश्रित होता था। पुराने ग्रीस में नागरिकता का अधिकार केवल ऐसे सम्पत्तिशाली वर्ग को ही प्राप्त था जो कि खाली समय निकाल राज्य-शासन में हिस्सा ले सकता था। दास प्रथा के कारण अनेक गुलामों के अधिकारों का निर्णय उनके मालिक करते थे। मध्य युग में वैयक्तिक अधिकारों का सीमा-निर्धारण चन्द व्यावसायिक समुदाय, तथा बिरादरियों द्वारा होता था। अनेक समाजों में पारिवारिक मुखिया इतना अबाध शक्ति सम्पन्न होता था कि वह परिवार के सदस्यों के जीवन के अधिकार का भी निर्णायक समझा जाता था। राष्ट्रीय राज्यों के विकास के फलस्वरूप जिन राजतन्त्रों का विकास हुआ उनके अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन, सम्पत्ति तथा स्वतन्त्रता इत्यादि के अधिकार राजाओं को दया पर ही आश्रित होते थे।

प्रत्येक युग में अधिकारों का स्वरूप बदलता रहा है, पुराने समय में हम जिन अधिकारों को महत्त्व देते थे आज उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा। जीवन के अधिकार के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा अधिकार नहीं जिसे कि हम अपरिवर्तनीय तथा आधारभूत अधिकार कह सकें। आज जो कुछ हमें आधारभूत दृष्टिगोचर होता है कल वही अनावश्यक बन सकता है। लॉक ने जिस अर्थ में स्वतन्त्रता तथा निजी

सम्पत्ति के अधिकार को रखा था आज उसे मान्यता प्रदान नहीं की जाती। आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के परिणामस्वरूप हमारे नैतिक मूल्य भी बदल जाते हैं, फलतः हम अधिकारों के परिवर्तन की भी माँग करते है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में कुछ आधारभूत अधिकारों की सत्ता को स्वीकार किया गया था, इसी प्रकार क्रान्ति-युग के फ्रेंच संविधान भी मनुष्य के मौलिक अधिकारों को मान्यता प्रदान करते थे। परन्तु उनमें आज अनेक अधिकार सामाजिक जीवन के लिए अनुपयुक्त समझे जाने लगे हैं, उदाहरण के लिए सम्पत्ति का ही एक ऐसा अधिकार है जिसे कि किसी समय आधारभूत अधिकार माना जाता था, परन्तु आज उसे शोषण का परिणाम समझा जाता है और अनेक राज्यों में उसे स्वीकार ही नहीं किया जाता। जीवन तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अधिकारों को आधारभूत अधिकार माना जाता है, परन्तु दोनों अधिकारों की आज नये ढंग से व्याख्या की जाती है। जीवन के अधिकार के अन्तर्गत जीविकोपार्जन का अधिकार, काम करने का अधिकार तथा विश्राम के अधिकार को भी ग्रहण किया जाता है। क्योंकि जीवन का अधिकार इन अधिकारों की उपस्थिति के बिना अर्थहीन है। जीवन के अधिकार से केवल यही अर्थ नहीं कि राज्य मनुष्य के जीवन की चोर, डाकुओं तथा लुटेरों से ही रक्षा करे, बल्कि राज्य को उसे भूखा मरने से भी बचाना चाहिए, उसे बीमारियों से बिना इलाज के मरने से भी बचाना चाहिए और उसे सम्मानपूर्वक सुविधाजनक जीवन बिताने का अधिकार भी देना चाहिए। जीवन के अधिकार का अर्थ केवल मात्र जीवन यापन ही नहीं, बल्कि सुख-सुविधासम्पन्न तथा नैतिक दृष्टि से पूर्ण जीवन बिताना है। अतः अधिकारों का कोई भी सिद्धान्त सर्वथा पूर्ण नही हो सकता। नहीं अधिकारों की वही व्यवस्था पूर्ण कही जा सकती है, जो परिवर्तित हुई हुई सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल हो। अधिकारों की कोई भी कठोर व्यवस्था प्रगतिशील समाज का अनुसरण नहीं कर सकती, फलतः वह टूट जाती है और इस प्रकार अशान्ति तथा अव्यवस्था की जनक होती है। अधिकार सदा परिवर्तनशील है, वे व्यक्ति तथा समाज के नैतिक मूल्यों के अनुसार बदलत रहते हैं।

१५२. अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्त

अधिकार किस प्रकार उदय होते हैं, किस प्रकार सामाजिक जीवन में उन्हें मान्यता प्रदान की जाती है, ये कुछेक ऐसे प्रश्न हैं कि जिनकी विविध प्रकार से व्याख्या की गई है। अधिकारों की इन व्याख्याओं को ही हम अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्त कहते हैं। अधिकारों की ये व्याख्याएँ तो अनेक हैं, परन्तु इनमें से मुख्य निम्न लिखित हैं—

(१) प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त (The Theory of natural rights)

(२) अधिकारों का वैधानिक सिद्धान्त (The Legal theory of rights)

(३) अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त (The Historical Theory of rights)

(४) अधिकारों का सामाजिक उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्त (The Social welfare Theory of rights)

(५) अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धान्त (The Idealistic Theory of rishits)

नीचे हम इन सभी सिद्धान्तों पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

(१) प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त (The Theory of natural rights)—प्रत्येक मनुष्य के कुछ ऐसे अधिकार हैं जो जन्मजात है, उसे उसी प्रकार प्रकृति से प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार से कि उसकी त्वचा का रंग। वे उसके लिए वैसे ही नैसर्गिक हैं जिस प्रकार से उसके लिए चलना-फिरना, सोना तथा जागना। ये अधिकार समाज की रचना नहीं कहे जा सकते, ये तो मनुष्य जीवन के प्राकृतिक अङ्ग हैं। यह अधिकारों की एक बड़ी सरल तथा सीधी व्याख्या है। राजनीतिशास्त्र के इतिहास में इसका विशेष महत्त्व रहा है। यूं तो पुराने ग्रीक विचारकों ने भी इस सिद्धान्त पर विचार किया है और वैयक्तिक अधिकारों को प्रकृति की देन माना है तथापि इसकी समुचित तथा लोकप्रिय व्याख्या १७वी तथा १८वीं सदी में संविदावादी विचारकों द्वारा की गई है।

संविदावादी विचारकों के मतानुसार राज्य के उदय से पूर्व एक राज्यवि-हीन स्थिति थी जिन्हें वे प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) कहते हैं। इसी अवस्था में मनुष्य प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करता था। दूसरे शब्दों में इन विचारकों का कथन है कि प्राकृतिक अधिकारों की अवस्थिति राज्य तथा समाज के जन्म से भी पहले विद्यमान थी, वे प्रकृति की रचना थे। परन्तु प्राकृतिक अधिकारों की व्याख्या के विषय में संविदावादी एकमत नहीं। हॉब्स मनुष्य की अपनी इच्छाओं को सन्तुष्ट करने की शक्ति को प्राकृतिक अधिकार मानता है, परन्तु लॉक का एतद्-विषयक दृष्टिकोण पर्याप्त स्पष्ट है। उसका कथन है कि जीवन का अधिकार वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार, विवेक का अधिकार तथा सम्पत्ति का अधिकार इत्यादि प्राकृतिक अधिकार है। ये मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकार हैं। सामाजिक अनुबन्ध के समय प्राकृतिक अधिकारों में से कुछेक अधिकारों को ही मनुष्य ने राज्य को या समाज को सौंपा, शेष अधिकारों को उसने अपने पास रखा। ये अधिकार राज्य की शक्ति पर पाबन्दियों का काम करते हैं।

प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा, फ्रेंच तथा अमेरिकन क्रान्तियों का आधार ये प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त ही थे। अमेरिका तथा फ्रांस दोनों राज्यों के संविधानों में प्राकृतिक अधिकारों की एक विस्तृत घोषणा की गई और उन्हें मनुष्य मात्र के मौलिक अधिकारों में स्वीकार किया गया। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका में भी यह माना गया कि सभी मनुष्य जन्म से ही समान हैं। मनुष्य मात्र को विधाता ने कुछ ऐसे अधिकार दिये हैं, जिन्हें किसी भी

अवस्था में मनुष्य के व्यक्तित्व से अलग नहीं किया जा सकता, वे मनुष्य के व्यक्तित्व के अभिन्न अंग हैं। ऐसे अधिकारों में जीवन, स्वतन्त्रता तथा सुख-प्राप्ति के अधिकार मुख्य है।

जेफरसन (Jafferson) का कथन है कि राज्य तथा सरकार का उदय इन अधिकारों की सुरक्षा के लिए ही हुआ है। सरकार का इन अधिकारों की सुरक्षा के अतिरिक्त अन्य कोई मकसद नहीं। फ्रेंच विचारक वाल्तेयर (Voltaire) के विचार के अनुसार सभी मनुष्यों को स्वतन्त्रता, समानता, सम्पत्ति तथा कानूनी सुरक्षा के समान अधिकार प्राप्त हैं। स्पैन्सर इत्यादि व्यक्तिवादी यद्यपि प्राकृतिक अधिकारों की धारणा के विरुद्ध थे, तथापि उनका कथन था कि कुछेक अधिकार आधारभूत अधिकार हैं, क्योंकि वे मानव प्रकृति पर आधारित हैं, उनके बिना सामाजिक जीवन का विकास ही सम्भव नहीं। आज भी अधिकारों का यह सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप में जीवित है।

आलोचना—प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को अवैज्ञानिक तथा अबौद्धिक माना जाता है। प्राकृतिक अधिकारों के समर्थक मानवीय जीवन में एक ऐसी स्थिति की कल्पना करते हैं जब कि कोई भी राज्य नहीं था, जब कोई कानून या व्यवस्था नही थी। हम पीछे अनुबन्ध सिद्धान्त की आलोचना करते हुए यह दिखा चुके है कि मानवीय समाज की ऐसी कोई स्थिति नहीं रही जिसे कि इस सिद्धान्त के समर्थक 'प्राकृतिक अवस्था' (State of Nature) कहते हैं। ऐतिहासिक रूप से तो यह असत्य है ही, मनोवैज्ञानिक आधार पर भी इसे असत्य सिद्ध किया जाता है। मनुष्य प्रकृत्या सामाजिक प्राणी है। समाज के भीतर रहने से ही वह अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। मनुष्य जन्म से तो अधिकार लेकर नहीं आता बल्कि उसे कुछ शक्तियाँ ही प्राप्त होती है। देखने की, बोलने की, चलने-फिरने इत्यादि की कुछ विशेष शक्तियों को हम प्रकृति की देन मान सकते हैं परन्तु प्रकृति किसी विशेष अधिकार को नहीं देती। शेर के पास मनुष्य को मारकर खाने की प्राकृतिक शक्ति है, अधिकार नहीं। अधिकार तो सामाजिक जीवन में ही सम्भव है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता सामाजिक मान्यता (Social recognition) है। सामाजिक मान्यता के अभाव में अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्याख्या की कल्पना ही अर्थहीन है। वह हमारी बुद्धि तथा तर्कसंगत माँग के रूप में समाज के सम्मुख आते हैं और सामाजिक स्वीकृति को प्राप्त कर अधिकार कहलाने लगते हैं।

(ख) दूसरा, अगर हम थोड़ी देर के लिए मान ही लें कि स्वतन्त्रता, समानता सुरक्षा इत्यादि के अधिकार प्राकृतिक अधिकार हैं तो स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि उन्हें लागू कौन करता है? या उनके भंग किये जाने पर अपराधी व्यक्ति को सजा कौन देता है? प्राकृतिक अवस्था में न तो समाज हीं है और न राजनीतिक सत्ता ही। दोनों की अनुपस्थिति में अधिकारों का उपभोग सम्भव नहीं। हॉब्स मनुष्य की इच्छा-पूर्ति की शक्ति का नाम अधिकार मानता है? इसका अर्थ तो यह है कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस।' पूर्ण स्वतन्त्रता तो समाज में सम्भव नहीं। अगर पूर्ण

स्वतन्त्रता के अधिकार की अवस्थिति मानी जाय तो इसका मतलब है कि समाज में सर्वथा अराजकता फैल जायगी, शान्ति तथा व्यवस्था खत्म हो जायगी । कमजोर तथा सत्ताविहीन लोगों को बलशाली आदमियों की दया पर जीवित रहना पड़ेगा ।

(ग) हम पीछे लिख चुके हैं कि अनुबन्ध सिद्धान्त के मानने का अर्थ है कि सम्पूर्ण सामाजिक तथा उससे सम्बन्धित संस्थाएँ बनावटी हैं, वे अप्राकृतिक है, मनुष्य स्वभाव तथा प्राकृति के विपरीत है । समाज-निर्माण से पूर्व तो मनुष्य अबाध स्वतन्त्रता सम्पन्न था, वह अनेक अधिकारों का उपभोग करता था, परन्तु समाज ने उसके बहुमूल्य तथा प्राकृतिक अधिकारों को छीन लिया । इस प्रकार समाज शोषण तथा अत्याचार पर आधारित है, परन्तु यह धारणा बिल्कुल गलत है । सामाजिक संस्थाएँ हमारी सामाजिक प्रकृति की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हैं, वे बनावटी नही कही जा सकती ।

(घ) प्राकृतिक अधिकारों की व्याख्या के विषय में एक और बड़ी मुश्किल यह है कि 'प्रकृति' शब्द की कोई सर्वसम्मत व्याख्या सम्भव नहीं । प्रत्येक लेखक ने इस शब्द की व्याख्या मनमाने ढंग से की है । वस्तुतः 'प्रकृति' 'प्रगति' 'उन्नति' इत्यादि अनेक ऐसे शब्द हैं जिनकी वैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं, वे व्यक्तिगत (Subjective) धारणाएँ हैं । अनेक मनुष्य बनावटी चीज को भी प्राकृतिक मान सकते हैं । स्वयं अनुबन्ध सिद्धान्त के समर्थकों में 'प्राकृतिक' शब्द की कोई सर्वमान्य व्याख्या नहीं मिलती । वे सभी अपने-अपने सामाजिक वातावरण के अनुकूल तथा बौद्धिक तथा शिक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण के मुताबिक 'प्राकृतिक' शब्द की व्याख्या करते है । मनुष्य प्रकृति के विषय में ही मतभेद हैं । हॉब्स का कथन है कि मनुष्य स्वभाव से झगड़ालू तथा स्वार्थी है, जब कि लॉक तथा रूसो उसे शान्तिप्रिय मानते हैं । ऐसी कोई भी सामान्य सूची नहीं जिस पर कि सभी सहमत हों । समाज के अन्य क्षेत्रों में भी ऐसी कोई सर्वसम्मत धारणा नहीं मिल पाती । हिन्दू सामाजिक ऊँच-नीच तथा जाति व्यवस्था को प्राकृतिक मानते है, मुसलमान बहुपत्नित्व प्रथा को सर्वथा प्राकृतिक तथा स्वाभाविक समझते हैं । अनेक मनुष्य स्त्री-पुरुष की समानता प्राकृतिक मानते हैं, अनेक अप्राकृतिक । इसी प्रकार अनेक व्यक्ति दास-प्रथा को प्राकृतिक मानते है और अनेक अप्राकृतिक । कुछ लोग वर्तमान उद्योगप्रधान संस्कृति को प्राकृतिक मानते है और कुछ पुराने समय की वन्य संस्कृति को । ऐसे मतभेद के होते हुए अधिकारों की किसी भी स्पष्ट तथा तर्क-संगत व्याख्या की उम्मीद नहीं की जा सकती ।

(ङ) प्राकृतिक अधिकार परस्पर विरोधी भी हैं । पूर्ण स्वतन्त्रता तथा पूर्ण समानता की धारणाएँ परस्पर विरोधी हैं । पूर्ण स्वतन्त्रता का अर्थ असमानता है । सभी सामाजिक सदस्यों को यदि पूरी-पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय तो समाज में असन्तुलन उत्पन्न हो जायगा और सभी जगह असमानता उत्पन्न हो जायगी ।

प्राकृतिक अधिकारों के नये रूप—के भी आज दर्शन हो जाते है । इन्हें कभी-कभी अधिकारों की आदर्शवादी या दार्शनिक व्याख्या भी कहा जाता है । वस्तुतः ये प्रकृत अधिकारों का नैतिक तथा समाजवादी रूप है । अगर प्राकृतिक अधिकारो से हमारा मतलब ऐसे अधिकारों से है कि जिनके बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास

ही सम्भव नहीं और जिनकी उपस्थिति सामाजिक जीवन की पूर्णता के लिए लाजमी है तो प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को कतई बुरा नहीं कहा जा सकता । इस अवस्था में प्राकृतिक अधिकारों से हमारा मतलब प्रो० लॉस्की के मतानुसार उन परिस्थितियों से नहीं जो हमें मानव-जाति की बाल्यावस्था में प्राप्त थी और जिन्हें आज हम खो चुके हैं बल्कि प्राकृतिक अधिकार वे आदर्श अधिकार हैं जिनसे कि हम मौजूदा समाज की नाप-जोख कर सकते हैं और भविष्य में समाज का जिन्हें आधार मान सकते हैं । **प्राकृतिक अधिकार तो जो कुछ समाज में होना चाहिए, उसे निर्देशित करते हैं ।** प्रो० लॉस्की ने इसी आधार पर प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन किया है, उसका कथन है कि मनुष्य वास्तविक स्वाधीनता को तभी अनुभव कर पाता है जब वह अन्याय तथा शोषण से भिड़ने के लिए तैयार हो जाता है । मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास से ही ऐसी स्वतन्त्रता की अनुभूति हो सकती है । मनुष्य का व्यक्तित्व सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्धों के समूह से ही अभिव्यक्त हो पाता है, केवल राजनीतिक सम्बन्धों के द्वारा नहीं । इसलिए समाज के भीतर रहते हुए मनुष्य को संघ या समुदाय निर्माण की पूरी-पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए । प्रो० लॉस्की विचारों के प्रकट करने की स्वतन्त्रता, उपयुक्त मजदूरी, शिक्षा तथा विश्राम और संघ बनाने इत्यादि के अधिकारों को प्रकृत अधिकार स्वीकार करता है । इनके बिना नागरिक जीवन पूर्ण नहीं हो पाता । हाबहाउस भी प्रो० लॉस्की का ही समर्थन करता है और कहता है कि धर्म, शिक्षा तथा देश-भक्ति इत्यादि की पूर्ण अनुभूति और विकास के लिए उचित सामाजिक वातावरण की सृष्टि राज्य का सर्वप्रमुख कर्त्तव्य हैं । टी० एच० ग्रीन का कथन है कि राज्य को ऐसी परिस्थतियाँ उत्पन्न करनी चाहिएँ कि जिनके अन्तर्गत रहता हुआ व्यक्ति अपने श्रेष्ठतम गुणों का समुचित विकास कर सके । इस प्रकार वर्तमान युग के इन लेखकों ने प्राकृतिक अधिकारो को आदर्श अधिकारों में बदल दिया और उन्हें राज्य के उद्देश्य से सम्बन्धित कर दिया है । जैसा कि ऊपर लिखी गई पंक्तियों से स्पष्ट है कि ये सभी लेखक राज्य का एक नैतिक रूप मानते हैं और व्यक्ति के जीवन की सभी प्रकार की पूर्णता की प्राप्ति के लिए समुचित परिस्थितियों की रचना को राज्य का परम उद्देश्य समझते हैं ।

प्राकृतिक अधिकारों की यह आदर्शवादी व्याख्या सबसे अच्छी है, परन्तु इनका ऐसा प्रयोग हाल ही में शुरू हुआ है ।

(२) अधिकारों का वैधानिक सिद्धान्त (The Legal Theory of rights) बेन्थम तथा आस्टिन ने अधिकारों की वैधानिक व्याख्या की है । सार रूप से इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के अधिकार राज्य के कानून की रचना मात्र हैं, वह राज्य की इच्छा पर आधारित हैं, व्यक्ति उन्हें प्राकृतिक अवस्था से प्राप्त नहीं करता या उन्हें जन्म से ही अपने साथ लेकर नहीं आता । बेन्थम तथा आस्टिन दोनों ही प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते, बेन्थम तो उन्हें बकवास मात्र मानता है । प्राकृतिक अधिकार तो इसलिए अधिकार कहलाने के उपयुक्त नहीं, क्योंकि उन्हें कोई लागू ही नहीं कर सकता, सभी व्यक्ति अपनी मर्जी के

अनुसार उन्हें भंग कर सकते हैं। इस सिद्धान्त का मूल रूप हमें हॉब्स के विचारों में मिल जाता है। जैसा कि हम पीछे देख आये हैं हॉब्स प्रभुसत्ता को ही व्यक्ति के सभी प्रकार के अधिकारों का स्रोत मानता है। वह कहता है कि हमारे अधिकार राज्य की रचना मात्र हैं, और राज्य जब चाहे उन्हें खत्म कर सकता है, बढ़ा सकता है, घटा सकता है उन्हें पूरी तरह नष्ट कर सकता है। इन सबसे स्पष्ट है कि राज्य के भीतर रहते हुए व्यक्ति के पास राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं। क्योंकि सभी अधिकार कानून की रचना है और कानून किसी भी व्यक्ति को राज्य के विरोध का अधिकार नहीं दे सकता।

प्रजातन्त्र के अन्तर्गत भी व्यक्ति उन्हीं अधिकारों का उपभोग कर पाते हैं जिनकी रचना राज्य द्वारा हुई हुई हो। हमारे तथाकथित मौलिक अधिकार तब तक सारहीन तथा सत्ताविहीन शब्द मात्र हैं जब तक कि उन्हें संवैधानिक मान्यता प्रदान नहीं की जाती।

आलोचना—इसमें सन्देह नहीं कि कानून व्यक्ति के अधिकारों को मान्यता प्रदान करता है और राज्य उन अधिकारों की रक्षा करता है तथा उनकी समुचित अनुभूति के लिए उचित परिस्थितियों का निर्माण करता है। परन्तु यह कहना बिल्कुल गलत है कि राज्य व्यक्ति के अधिकारों को बनाने वाला या उनकी रचना करने वाला है। वह अधिकारों की परिभाषा कर सकता है परन्तु कानून द्वारा उनकी रचना नहीं कर सकता।

(क) हम पीछे देख आये हैं कि कानून राज्य का आदेश मात्र नहीं, कानून के अन्य आधार भी हैं। प्राचीन समाजों में, जहाँ कोई निश्चित विधानपालिका नहीं होती थी और न ही कानून की रचना का कोई निश्चित स्रोत होता था, लोगों के आचरण का नियन्त्रण कुछेक विशेष रस्मो-रिवाज तथा समाज द्वारा स्वीकृत परम्पराओं द्वारा होता था। ठीक इसी तरह प्रत्येक समाज में अधिकारों का उपभोग सामाजिकों ने परम्परागत रस्मो-रिवाज के आधार पर किया है, और अब भी करते हैं। हिन्दू स्त्री का पति के साथ सती हो जाने का अधिकार, परम्परा पर आधारित था। मुसलमानों के यहाँ चार विवाह करने का अधिकार भी परम्परा पर ही आधारित है। हमारे यहाँ की अछूत व्यवस्था का आधार भी पुराने समय से चले आरहे रस्मो-रिवाज ही हैं। अधिकार व कानून दोनों ही रस्मो-रिवाज पर आधारित होते हैं। एन. वाइल्ड ने कहा है कि **"राज्य हमारे अधिकारों की रचना नहीं करता, वे तो केवल उन्हें स्वीकृति मात्र प्रदान करता है, और उनकी रक्षा करता है। अधिकारों का अस्तित्व अपने आप रहता है, चाहे, उन्हे कानूनी रूप मिले या न मिले। कानून द्वारा उन्हें लागू इसलिए किया जाता है कि वे अधिकार हैं, वह केवल इसी लिए अधिकार नहीं बन जाते कि कानून उन्हें लागू करता है।"**[1]

1. "The law does not creat our rights, but only recognises them and protects them. The rights themselves exist whether they are thus legalised or not. They are enforced because they are rights, and are not rights because they are enforced."—*N. Wilde.*

वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार परम्परागत अधिकार है, जिसे कि बाद में राज्य द्वारा मान्यता प्रदान की गयी। प्रो० लॉस्की भी इस मत का समर्थन करता है।[1]

(ख) प्रो० लॉस्की का कथन है कि अधिकारों की राज्य से स्वतन्त्र अवस्थिति होती है, ऐसी अवस्था में वे राज्य की रचना कैसे कहे जा सकते हैं ? प्रत्येक युग तथा समाज की उचित तथा अनुचित की नैतिक धारणाएँ होती हैं, वही अधिकारों का अन्तिम स्वरूप निर्धारित करती है। अधिकारों की ऐतिहासिक व्याख्या भी अपूर्ण है और कानूनी भी। हम पीछे देख चुके हैं कि केत्र के मतानुसार कानून हमारी उचित तथा अनुचित की धारणा पर तथा न्याय-भावना पर आधारित है। ठीक इसी तरह हमारे अधिकार भी हमारी नैतिक धारणाओं के अनुकूल होते हैं। जो बात हमारे नैतिक दृष्टिकोण के प्रतिकूल है वह कानून द्वारा स्वीकृति प्राप्त कर भी अधिकार नहीं बन पाती। आज के युग में छुआछूत तथा ऊँच-नीच और सती-प्रथा को अधिकार रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्या कानून की स्वीकृति प्राप्त करने पर व्यभिचार अधिकार बन सकता है ? क्या रिश्वतखोरी चोरी तथा घूँसखोरी कानून की मान्यता प्राप्त कर नैतिक दृष्टि से उचित कहला सकते हैं ? कानून सामाजिक सदाचरण की दृष्टि से अनुचित कहलाने वाले वस्तु को उचित नहीं बना सकता।

कानून बदलते रहते हैं, वे सदा एकरूप नहीं रहते। उनके परिवर्तन का जहाँ एक बड़ा कारण समाज की आर्थिक परिस्थितियाँ हैं, वहाँ हमारी सदाचरण सम्बन्धी धारणाएँ भी हैं। किसी समय ब्राह्मण लोगों का यह अधिकार था कि अछूत उनके नजदीक न लगे। इसी प्रकार हिन्दू स्त्रियों का यह अधिकार था कि वे यदि अपने पति के साथ जल मरना चाहें तो उन्हें कोई न रोके। परन्तु वर्तमान युग में हमारी ऐतद्विषयक नैतिक धारणाएँ बदल गई हैं, और हम इन्हें अधिकार रूप में मानने को तैयार नहीं। इसलिए अधिकारों के उचित रूप का निर्माण हमारी नैतिक तथा सामाजिक सदाचरण सम्बन्धी धारणाओं द्वारा ही होता है।

(ग) प्रो० लॉस्की इत्यादि बहुसमुदायवादी अधिकारों की कानूनी धारणा का विरोध इसलिए भी करते हैं कि यह राज्य को असीम तथा अबाध शक्ति सम्पन्न बना देता है। राज्य की असीम प्रभुशक्ति कानूनी सत्य चाहे हो परन्तु व्यावहारिक रूप में उसका कोई विशेष मूल्य नहीं। यह कहना गलत है कि हमारे अधिकारों का एकमात्र स्रोत हमारी राज्य की सदस्यता है। राज्य तो हमारे सामाजिक जीवन में प्राप्य अनेक समुदायों में से एक समुदाय मात्र है। हमारे व्यक्तित्व का पूर्ण विकास

---

1. "The maintenance of right is much more a question of habit and tradition than of the formality of written enactment."

—*Laski.*

तभी सम्भव है जब हमारे समुदाय सम्बधी अधिकारों की सत्ता भी स्वीकार की जाय केवल राज्य को ही मनुष्य के सामाजिक जीवन का अन्तिम लक्ष्य मान लेने से हम मनुष्य को उसके व्यक्तित्व निर्माण के अधिकार से वंचित कर देंगे। प्रो० टी० एच० ग्रीन तथा लास्की दोनों ही राज्य के विरोध के अधिकार की सत्ता को भी मानते हैं, महात्मा गान्धी भी कहते थे कि व्यक्ति को राज्य के विरोध का नैतिक अधिकार प्राप्त है।

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस सिद्धान्त में पर्याप्त सत्यांश है। अधिकारों को वास्तविक रूप देने की एक आवश्यक शर्त राज्य की उपस्थिति है, उसके बिना अधिकारों की अनुभूति की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि राज्य ही ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है जिसके अधीन हम अपनी नैतिक माँगों को अधिकार रूप में मनवा उनका समुचित उपभोग कर सकते हैं। हमारी नैतिक धारणाएँ कानून का रूप निर्धारित करती हैं और कोई भी कानून सामाजिक सदाचरण के नियमों के प्रतिरोध में अधिक देर तक नहीं चल सकता, परन्तु कोई भी नैतिक अधिकार तब तक वास्तविक नहीं बन पाता जब तक कि उसे कानूनी मान्यता प्राप्त न हो जाय। वस्तुतः **प्रत्येक अधिकार के कानूनी तथा नैतिक दोनों ही पहलू होते हैं,** दोनों की मौजूदगी में ही वे अधिकार बन पाते हैं। प्रत्येक समाज में मानव-समुदायों की कुछ न कुछ ऐसी नैतिक माँगें अवश्य होती हैं जिन्हें कानूनी रूप नहीं मिल पाता, पर लगातार आन्दोलनों के फलस्वरूप किसी न किसी समय उन्हें राजकीय मान्यता अवश्य मिल जाती है, तभी वे अधिकार बन पाते हैं।

(३) **अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त** (The Historical theory of rights) अधिकारों के इस सिद्धान्त का थोड़ा-बहुत संकेत हम ऊपर कर आये हैं। कानून के अध्याय में हम देख चुके हैं कि कानून का ऐतिहासिक रूप भी है, वे परम्परागत रस्मो-रिवाज पर आधारित होते हैं। ठीक इसी तरह हमारे अधिकार भी परम्परागत रस्मो-रिवाज पर आधारित माने जाते हैं। धीरे-धीरे ऐसे रस्मो-रिवाजों का जन्म हो जाता है, जिनका लोग स्वेच्छापूर्वक अनुसरण करने लगते हैं। कालान्तर में लोग उन्हें ही अपना अधिकार कहने लग जाते हैं। अभ्यास कानून-पालन का मुख्य आधार है। यही अधिकार-पालन का भी आधार माना जाता है। दास-प्रथा, छुआछूत प्रथा तथा सम्पत्ति-व्यवस्था का आधार ऐतिहासिक है, पुराने समाजों में पुरोहितों तथा जागीरदारों को विशेष अधिकार प्राप्त होते थे, उनका आधार ऐतिहासिक परम्पराएँ मानी जाती हैं। इंग्लैण्ड में नागरिकों के स्वतन्त्रता इत्यादि के अधिकार परम्परागत रस्मो-रिवाज पर आधारित हैं।

आलोचना—इस सिद्धान्त में पर्याप्त सत्यांश हैं। हम पीछे ही देख चुके हैं कि हमारे अनेक अधिकार पहले रस्मो-रिवाज पर आधारित थे, बाद में उन्हें कानूनी रूप मिल पाया। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सामाजिक रस्मो-रिवाज बदलते रहते हैं, उनके परिवर्तन का कारण हमारी नैतिक धारणाएँ होती हैं। अतः अधिकारों का केवल मात्र ऐतिहासिक आधार ही नहीं, जैसे उनका केवलमात्र कानूनी

आधार सम्भव नहीं । दूसरा अधिकारों के केवल मात्र ऐतिहासिक रूप को मान्यता देने का अर्थ है कि सामाजिक परिस्थितियों का सुधार ही नहीं हो सकता। छूआछूत, ऊँच-नीच, सती-प्रथा तथा दास-प्रथा इत्यादि का ऐतिहासिक आधार है, वे आज उचित नहीं समझे जाते । परम्परा के आधार पर तो उनको अधिकार मानना ही पड़ेगा, परन्तु नैतिक दृष्टि से उनका सुधार आवश्यक होता है । ऐसा न मानने से अनेक परम्परागत सामाजिक बुराइयों को दूर करना सर्वथा असम्भव हो जाएगा ।

(४) **अधिकारों का सामाजिक उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्त** (The Social welfare theory of rights) अधिकारों के उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्त का विकास इंग्लैण्ड के उपयोगितावादी विचारक बेन्थम तथा मिल द्वारा किया गया है। **इस सिद्धान्त का मतलब यह है कि जो मांगे समाज के हित में हों या जो समाज के लिए उपयोगी हों, उन्हें ही अधिकार रूप में स्वीकार करना चाहिए।** उपयोगितावाद का आधारभूत सिद्धान्त **"अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण है ।"** जो अधिकार इस मानदण्ड पर ठीक उतरें उन्हें ही अधिकार रूप में स्वीकार करना चाहिए। दूसरे शब्दों में प्रत्येक अधिकार 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम हित में होना चाहिए। उपयोगितावादी अधिकारों के अन्य सिद्धान्तों को स्वीकार नही करते । वर्तमान युग के राजनीतिक विचारकों में प्रो० लॉस्की इस सिद्धान्त को मानते हैं। परन्तु प्रो० लास्की ने उसे संशोधित रूप में ही माना है। **उसके मतानुसार वही अधिकार ठीक हैं, कि राज्य के सम्पूर्ण सदस्यों के लिए मूल्यवान या महत्त्वपूर्ण हैं।"** इस प्रकार केवल उन्हीं अधिकारों को मान्यता दी जानी चाहिए जिनसे कि सामूहिक हित की सम्भावना हो ।

अधिकार की सत्ता का आधार सामाजिकता है, अतः सामाजिक कल्याण की भावना का रहना लाजमी है । अतः अधिकारों का निर्णय सामाजिक कल्याण के आधार पर ही होना चाहिए । समज में नए-नए अधिकार पैदा होते रहते है, उनका मकसद भी अधिकतम सामाजिक कल्याण ही है । मनुष्य मात्र की वे सभी मांगें अधिकार रूप में स्वीकार कर लेनी चाहिएँ जिनके अस्वीकृत रहने पर व्यापक सामाजिक अहित की सम्भावना रहती हो ।

आलोचना—अधिकारों को सामाजिक दृष्टि से कल्याणकारी होना चाहिए इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता । सामाजिक कल्याण का सिद्धान्त अधिकारों के रूप निर्धारण के लिए उपयुक्त मानदण्ड के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है । परन्तु इस सिद्धान्त की कुछ कमियाँ भी हैं । इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह अस्पष्ट तथा अनिश्चित है । सामाजिक कल्याण या 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम हित' से क्या मतलब है ? इन प्रश्नों का कोई निश्चित तथा सर्वमान्य उत्तर प्राप्त नही होता । हम पीछे देख आये है कि सामाजिक कल्याण सम्बन्धी सभी धारणाएँ व्यक्तिगत (Subjective) होती हैं, वे व्यक्ति के अपने नैतिक तथा सामाजिक वातावरण का परिणाम होती है। महात्मा गान्धी तथा कार्ल मार्क्स की सामाजिक कल्याण सम्बन्धी धारणाएँ एक-सी नहीं हैं । ठीक यही बात अधि-

कारों के विषय में भी कही जा सकती है।

'सामाजिक उपयोगिता' या 'सामाजिक कल्याण' इत्यादि से सम्बन्धित कुछेक ऐसी धारणाएँ हैं जो कि सामाजिक अत्याचार का कारण बन जाती है। जर्मनी में हिटलर ने सामाजिक कल्याण के नाम पर ही अनेक यहूदी तथा नाज़ी-विरोधी व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया। सामाजिक कल्याण के नाम पर ही मुसलमान पाकिस्तान में हिन्दुओं के या भारत के विरुद्ध जिहाद का नारा बुलन्द कर रहे हैं। सामाजिक कल्याण के नाम पर ही सुकरात को ज़हर दिया गया और मंसूर को सूली पर लटका दिया गया था। इस प्रकार सामाजिक कल्याण के नाम पर अनावश्यक रूप से राज्य व्यक्तिगत जीवन में दखल दे सकता है और अनेक आवश्यक तथा मूल्यवान व्यक्तिगत अधिकारों को खत्म कर सकता है।

(५) **अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धान्त** (The Idealistic theory of rights)—यह सिद्धान्त अधिकारों के नैतिक पक्ष को अधिक महत्त्व देता है। **आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार अधिकार मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिए जरूरी बाह्य परिस्थितियाँ हैं।** बिना अधिकारों की अवस्थिति के कोई भी व्यक्ति अपनी सर्वोच्चपूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता। उनका मूल मनुष्य का मस्तिष्क है। वे हमारी तर्कसम्मत माँगें हैं जिनका सम्बन्ध केवल वैयक्तिक कल्याण से ही नहीं बल्कि सामाजिक कल्याण से भी है। हमारा एक मूलभूत अधिकार है, यह **अधिकार व्यक्तित्व के विकास का अधिकार है।** शेष सभी अधिकार इसके सहायक अधिकार हैं। जीवन का अधिकार स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति इत्यादि का अधिकार अपने आप में पूर्ण नहीं, उनकी उपयोगिता इस बात से देखी जानी है कि वह व्यक्तित्व के विकास के लिए कितने महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक हैं। वस्तुतः प्रत्येक अधिकार के दो पक्ष हैं—एक व्यक्तिपरक दूसरा समाजपरक। एक ओर तो वह अधिकार है और दूसरी ओर वह कर्तव्य। अधिकार रूप में वह व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है कर्त्तव्य रूप में उसका उद्देश्य सामाजिक हित या कल्याण है। आदर्शवादियों की दृष्टि में दोनों एक दूसरे से आबद्ध हैं। अधिकार तर्कसंगत तथा विवेकपूर्ण माँग के रूप में ही स्वीकृति प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि (१) **अधिकार व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों की प्राप्ति की एक तर्कसंगत तथा विवेकपूर्ण माँग है। (२) वह समाज से सम्बन्धित है, क्योंकि समाज से बाहर उसकी अनुभूति-सम्भव नहीं। (३) वह कर्त्तव्य रूप भी है।**

आलोचना—आदर्शवादी सिद्धान्त यह बतलाने में असमर्थ है कि व्यक्तित्व क्या है? फिर अगर व्यक्तित्व की परिभाषा दी भी जा सके तो यह कह सकना कठिन है कि प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए किन-किन परिस्थितियों की आवश्यकता है? राज्य के पास ऐसा कोई मानदण्ड नहीं कि जिसके आधार पर वह यह निर्णय कर सके कि क्या-क्या परिस्थितियाँ किस-किस व्यक्ति के व्यक्तित्व के लिए आवश्यक हैं? प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक परि-

स्थितियाँ एक सी नहीं हो सकतीं । दूसरा यह सिद्धान्त व्यक्ति कल्याण तथा सामाजिक कल्याण में उचित तालमेल बिठाने में असमर्थ है ।

इन सब दोषों के बावजूद भी अधिकारों का यह सिद्धान्त पर्याप्त तर्कसंगत है, यह उन के नैतिक तथा सामाजिक दोनों ही पक्षों को स्वीकार करता है ।

निष्कर्ष—ऊपर हमने अधिकारों के विविध सिद्धान्तों का उल्लेख किया है । अगर हम कहें कि इन सभी सिद्धान्तों में पर्याप्त सत्यांश है तो कोई गलत बात न होगी । प्रत्येक सिद्धान्त अधिकारों के विभिन्न पक्षों पर बल देते हैं । अगर हम प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को उसके पुराने रूप में न मान उसकी आज की नई समाजशास्त्रीय व्याख्या को स्वीकार कर लें तो वह अधिकारों का एक प्रकार का आदर्शवादी सिद्धान्त बन जायगा । प्रत्येक समाज में व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए कुछेक ऐसी परिस्थितियों की उपस्थिति होनी ही चाहिए कि जिनके बिना हमारे लिए जीवन की सर्वश्रेष्ठता की अनुभूति असम्भव हो जाती है । राज्य अधिकारों का स्रष्टा नहीं है तो भी जब तक कानून हमारी नैतिक धारणाओं को स्वीकृति नहीं देता उनका व्यावहारिक रूप नहीं बन पाता । कानून की मान्यता को प्राप्त करने पर ही हमारी नैतिक धारणाएँ शक्तिसम्पन्न बन पाती हैं, राज्य द्वारा स्वीकृत किये जाने पर ही उन्हें लागू किया जा सकता है । प्रत्येक अधिकार का समाज-कल्याणकारी रूप भी होना है । अधिकार समाज की सृष्टि हैं, वे हमारे सामाजिक जीवन के परिणाम हैं, अतएव उनका पालन समाज-हित में होना ही चाहिए । हमें यह भी देखना होता है कि कौन-सा अधिकार अधिक से अधिक लोगों के लिए अधिक से अधिक कल्याणकारी है । हमारी नैतिक धारणाएँ ऐतिहासिक परम्पराओं का रूप भी धारण करती हैं और इस प्रकार समाज के अन्तर्गत अनेक रस्मो-रिवाजों की रचना हो जाती है, हमारे कुछेक अधिकार इन रस्मो-रिवाज पर भी आधारित होते हैं । परन्तु रस्मो-रिवाज अपने आप में अन्तिम चीज नहीं, वे हमारी आर्थिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त हमारी नैतिक धारणाओं से भी प्रभावित हो बदलते रहते हैं । उचित तथा अनुचित की धारणा सामाजिक नियमों की विधायक होती है । इस प्रकार अधिकारों की समुचित व्याख्या के लिए इन सभी सिद्धान्तों की उपयोगिता को स्वीकार करना पड़ता है ।

१५३. नागरिकों के विशिष्ट अधिकार (Particular rights of the citizen)

हम पीछे लिख चुके हैं कि नागरिकों के अधिकारों के दो रूप हैं—(१) **सामाजिक अधिकार** (Civil rights), **तथा** (२) **राजनीतिक अधिकार** (Political rights) । यहाँ हम इन दोनों प्रकार के अधिकारों का विवरण देंगे । हमें एक बात नहीं भूलनी चाहिए कि प्राचीन काल में ही नहीं, वर्तमान युग में भी सभी राज्यों में एक जैसे अधिकारों की व्यवस्था नहीं, सभी राज्यों में अधिकारों के भिन्न-भिन्न रूपों की व्यवस्था मिल जाती है । इसका बड़ा कारण अलग-अलग राज्यों में पाई

जाने वाली आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों की भिन्नता है। तथापि कुछेक ऐसे अधिकार हैं जिन्हें सभी राज्यों में मान्यता दी जाती है और कुछ ऐसे हैं जिन्हें कि सभी राज्य अभी नहीं स्वीकार करते तो भी यह यकीन किया जाता है कि उन्हें अवश्य स्वीकार करना चाहिए। नीचे हम इन दोनों प्रकार के सामाजिक अधिकारों को दे रहे हैं।

(१) **जीवन का अधिकार** (Right to life) हमारी सम्पूर्ण सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का मूल आधार व्यक्ति का जीवन का अधिकार है। बिना जीवन की सुरक्षा के किसी भी राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था की कल्पना ही असम्भव है। राज्य की अवस्थिति इसी अधिकार की सुरक्षा के लिए है, अन्य सभी अधिकारों का यही स्रोत है, यही उनका आधार है। जीवन के अधिकार के अन्तर्गत व्यक्तित्व निर्माण का अधिकार भी आ जाता है। इस प्रकार यह अधिकार इतना व्यापक है कि उसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन के सम्पूर्ण नैतिक पक्षों को शामिल किया जा सकता है। राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य व्यक्ति के जीवन की रक्षा करना है। व्यक्ति के जीवन की रक्षा अन्दरूनी तथा बाहर के दोनों प्रकार के हमलों से की जाती है। राज्य के भीतर कोई भी व्यक्ति मुझ पर आक्रमण नहीं कर सकता, मेरे प्राण नहीं ले सकता, अगर कोई ऐसा करता है तो उसे राज्य सजा देता है। इसी अधिकार की सुरक्षा के लिए राज्य कानून बनाता है, न्यायालय स्थापित करता है और पुलिस की व्यवस्था करता है। जब कभी कोई व्यक्ति मेरे प्राण लेने के लिए मुझ पर आक्रमण करता है तो उस समय मुझे अपनी प्राण-रक्षा का अधिकार है। जीवन-रक्षा के अधिकार के अन्तर्गत हम कह सकते हैं कि प्रत्येक मनुष्य का जीवन इतना सुरक्षित होना चाहिए कि उसे किसी भी हमले का खतरा न हो। उसे सभी सार्वजनिक स्थानों के इस्तेमाल का अधिकार हो, उसे कोई डरा या धमका न सके, और उसका जीवन सरकार की दया पर भी आश्रित न हो। प्रत्येक व्यक्ति का अपने जीवन पर पूर्ण अधिकार है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह अपने जीवन का दुरुपयोग कर सकता है या उसे आत्म-हत्या का अधिकार है। **जीवन के अधिकार का सामाजिक रूप भी है, जीवन केवल मात्र वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं, अतः कोई भी व्यक्ति आत्महत्या नहीं कर सकता।** जीवन का अधिकार जीवन-रक्षा के कर्त्तव्य रूप में भी मौजूद रहता है। यही कारण है कि अगर कोई व्यक्ति आत्म-हत्या की कोशिश करता है तो राज्य उसे सजा देता है। आत्म हत्या समाज के प्रति भी अपराध है।

जीवन का अधिकार शून्य में अवस्थित नहीं रहता। वह तब तक व्यर्थ है जब तक कि जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव नहीं। क्या कम खान-पान तथा उचित विश्राम के बिना भी जीवन की सुरक्षा सम्भव है? यदि राज्य का कर्त्तव्य व्यक्ति को चोर, डाकू तथा हत्यारों के आक्रमण से बचाना है तो क्या राज्य का कर्त्तव्य उसे भूख तथा बीमारी से बचाना नहीं? अतः आज जीवन के अधिकार की व्यापक व्याख्या की जाती है, और **यह माना जाता है कि जीवन के अधिकार की वास्तविक तथा पूर्ण अनुभूति के लिए आजीविका तथा काम करने के**

अधिकारों को भी स्वीकार किया जाना चाहिए। आजीविका के अभाव में वह निर्धनता में जीवन बिता सकता है, भूख तथा सर्दी से मर सकता है या निर्धनता के कारण गुलामी को मान सकता है। निर्धनता में जीवन के अधिकार की कोई सुरक्षा नहीं होती। प्रत्येक मनुष्य, जो काम करने योग्य है, सरकार को उसे आजीविका कमाने के लिए काम मुहैया करना चाहिए। परन्तु **काम करने** (Right to work) **तथा आजविकोपार्जन** (Right to employment) **के अधिकार के साथ-साथ विश्राम के अधिकार** (Right to rest & leisure) को भी स्वीकार किया जाना चाहिए मनुष्य केवल मशीन मात्र नहीं, काम करने के अनन्तर उसे विश्राम की भी आवश्यकता होती है। यदि उससे अधिक काम लिया जाय तो उससे उसके स्वास्थ्य के खराब होने की आशंका रहती है। किसी से भी अधिक काम करवाना उसी प्रकार उसके जीवन पर हमला करना है जिस प्रकार धीरे-धीरे विष देकर उसके प्राण लेना। अतः राज्य को सभी जगह काम करने के घण्टे निश्चित कर देने चाहिए और सरकार को मजदूरों के लिए विश्राम की व्यवस्था भी करनी चाहिए।

राज्य को व्यक्ति को शोषण से भी बचाना चाहिए, यानी उसे यह देखना चाहिए कि **मनुष्य को अपने कार्य के मूल्य के परिणाम के अनुसार ही वेतन भी प्राप्त हो।** दूसरे शब्दों में प्रत्येक मनुष्य को अपनी मेहनत का इतना फल अवश्य मिलना चाहिए कि जिससे वह अपने जीवन की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और मानपूर्वक अपना जीवन बिता सके।

जो लोग काम करने में शारीरिक रूप से असमर्थ हैं राज्य को उनके जीवन के अधिकार की रक्षा भी करनी चाहिए। वृद्ध स्त्री-पुरुष तथा विकलांगों के लिए सरकार को पैन्शन देने की व्यवस्था करनी चाहिए तथा बेकारी की हालत में लोगों की आर्थिक सहायता करनी चाहिए।

जीवन के मूलभूत अधिकार के अन्तर्गत आने वाले इन सभी आर्थिक स्वतन्त्रता के अधिकारों को अभी तक रूस को छोड़ अन्यत्र मान्यता नहीं प्रदान की गई। हाँ, कुछेक राज्यों में वृद्धों तथा लूले-लँगड़े लोगों की सहायता के लिए राजकीय प्रयत्न अवश्य किये जा रहे हैं, परन्तु मानवीय जीवन में इन अधिकारों का विशेष महत्त्व है। वस्तुतः यह कहना अधिक ठीक होगा कि इन अधिकारों की पूर्ति के बिना जीवन का अधिकार सर्वथा अपूर्ण है। अतः इन अधिकारों को, जीवन के मूलभूत अधिकार को पूर्ण करने के लिए, अवश्य मान्यता प्रदान करनी चाहिए।

जीवन का अधिकार सभी प्रकार से निरपेक्ष (Absolute) नहीं, अपराधी व्यक्ति को मृत्युदण्ड भी दिया जाता है और प्रत्येक देश नागरिकों का सेना में शामिल हो युद्ध-क्षेत्र में देश की रक्षा के लिए अपने जीवन के बलिदान के पवित्र कर्त्तव्य को भी मानता है। देशद्रोही व्यक्ति को प्राणदण्ड की सजा दी जाती है। युद्ध काल में नागरिकों का यह मूलभूत अधिकार बहुत सीमित कर दिया जाता है।

(२) स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to liberty) जीवन के अधिकार से ही सम्बन्धित दूसरा महत्त्वपूर्ण अधिकार स्वतन्त्रता का अधिकार है। अगर जीवन

का अधिकार तो दे दिया जाय परन्तु चलने-फिरने, रहने-बसने की तथा देश-विदेश के आवागमन की स्वतन्त्रता के अधिकार को स्वीकार न किया जाय तो जीवन के अधिकार का मूल्य नहीं रह पाता। तब तो जीवन एक जेलखाने की तरह हो जायगा, बिना स्वतन्त्रता के जीवन का कोई मूल्य नहीं। स्वतन्त्रता के अभाव में मनुष्य की स्थिति गुलामों से भी बुरी हो जायगी। गुलामी को पशुता की अवस्था कहा जाता है, और उसकी सभी जगह निन्दा की जाती है।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता से ही हमारी छुपी हुई शक्तियों का विकास सम्भव है। स्वातन्त्र्य का अर्थ ही यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त हो।

राज्य को भी बिना किसी कारण किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार करने का अधिकार नहीं। जब कभी किसी व्यक्ति को बन्दी बनाया जाता है तो यह आवश्यक है कि उसे शीघ्र से शीघ्र न्यायालय के सम्मुख पेश किया जाय और उसके बन्दी बनाने के कारणों पर प्रकाश डाला जाय। यदि किसी व्यक्ति को बिना कारण के ही बन्दी बनाया जाय तो सरकार को उसका हर्जाना भुगतना पड़ता है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) की व्यवस्था भी अनेक देशों में प्रचलित है। इस व्यवस्था के अधीन यदि किसी व्यक्ति को बन्दी बनाने के अनन्तर अदालत के सामने नहीं लाया जाता तो उस समय या तो वह स्वयं या कोई अन्य नागरिक उसे न्यायालय के सम्मुख पेश करने की माँग कर सकता है। ऐसी अवस्था में न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण के आदेश (Writ of Habeas Corpues) को जारी करते हैं। उस समय सरकारी अधिकारियों को बन्दी व्यक्ति को अदालत के सामने पेश करना ही पड़ता है, अदालत में उस पर मुकदमा चलाया जाता है और अगर वह अपराधी साबित हो तो उसे उचित सजा मिलती है अन्यथा उसे छोड़ दिया जाता है।

आज के अधिकांश प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में देश भर में आने-जाने की स्वतन्त्रता के अतिरिक्त विचार प्रकट करने तथा इच्छानुसार व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता भी नागरिकों को प्राप्त होती है।

परन्तु यह अधिकार भी निर्बाध नहीं, राज्य सामाजिक हित में इस अधिकार पर अनेक पाबन्दियाँ लगा सकता है। सर्वप्रथम तो कोई भी मनुष्य पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं, उसे अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का प्रयोग इस ढंग से करना होता है कि उससे किसी अन्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन न हो। युद्ध-काल में या संकट-काल में वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकांश अधिकारों के उपभोग को पर्याप्त सीमित कर दिया जाता है।

(३) मत प्रकट करने तथा भाषण की स्वतन्त्रता का अधिकार (Freedom of opinion and expression) अपने विचारों को दूसरे तक पहुँचाने से मनुष्य की आत्मा को एक विशेष प्रकार का सन्तोष होता है, विचारों के प्रकटीकरण से उसके व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास होता है। अगर उसे अपने विचारों के

प्रकट करने की स्वतन्त्रता न हो तो उसके व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास हो ही नहीं सकता, वह सर्वथा कुण्ठित हो जायगा । विचारों की स्वतन्त्रता का महत्त्व प्राचीन काल से ही चला आ रहा है । ग्रीस के सुप्रसिद्ध विचारक सुकरात का कथन है कि **विचारकों की स्वतन्त्रता के त्याग की अपेक्षा जीवन का त्याग अधिक उपयुक्त है ।** और सुकरात ने किया भी ऐसा ही । लॉक, मिल्टन तथा जे० एस० मिल इत्यादि सभी ने विचारों की स्वतन्त्रता तथा उनके प्रकटीकरण के अधिकार को विशेष महत्त्व दिया है । मिल्टन ने तो भाषण की स्वतन्त्रता को सभी प्रकार की स्वतन्त्रताओं का आधार माना है । मिल के लेखों में भी विचार-स्वातन्त्र्य का बड़ा जोरदार समर्थन मिलता है । सत्य की खोज विचारों की स्वतन्त्रता तथा वाद-विवाद से ही सम्भव है । कोई भी एक व्यक्ति या एक दल सत्य के अन्वेषण पर अपनी आखिरी मोहर नहीं लगा सकता, सत्य तो किसी भी एक वर्ग की बपौती नहीं हो सकता । उसका अन्वेषण नित्य ढंग से किया जा सकता है ।

जनतन्त्र के अन्तर्गत तो इस अधिकार का और भी अधिक महत्त्व है । जनतन्त्र का आधार जनमत है, यदि लोगों को अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता नहीं होगी तो स्वस्थ जनमत का निर्माण कैसे हो पायेगा ? बिना विचार प्रकट करने की तथा आलोचना करने की स्वतन्त्रता के जनतन्त्र का स्वस्थ विकास ही सम्भव नहीं । वह राज्य जो अपने नागरिकों को विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता नहीं देता वह अपनी मौत स्वयं बुलाता है । प्रत्येक व्यक्ति को सरकार की नीति, कार्य एवं कानून की आलोचना का अधिकार होना चाहिए । क्योंकि सरकार तो राज्य का एक अंग है, वह कुछ व्यक्तियों से मिलकर बनती है, उसके कार्यों में पूर्णता नहीं हो सकती । इसलिए अगर कोई नागरिक उसके परिवर्तन की जरूरत महसूस करता है तो उसे अपने इस तरह के विचार प्रकट करने का अधिकार होना चाहिए । यही नहीं प्रो० लास्की का तो यह विचार है कि व्यक्ति या व्यक्ति-समूह समाज के आर्थिक तथा राजनीतिक ढाँचे के पूर्ण परिवर्तन की भी माँग कर सकता है । **वह सशस्त्र क्रान्ति की भी मांग कर सकता है ।**[1] प्रो० लास्की का कथन है कि सशस्त्र क्रान्ति की माँग तभी की जाती है, जब कि राज्य की व्यवस्था में मौलिक सुधार की ही आवश्यकता हो । साधारण रूप से जनता हिंसात्मक साधनों के प्रयोग के विरुद्ध होती है ।

विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता के अन्तर्गत भाषण की स्वतन्त्रता, प्रकाशन तथा लेखन की स्वतन्त्रता, सभाएँ करने की स्वतन्त्रता, फिल्म-निर्माण की स्वतन्त्रता, प्रचार की स्वतन्त्रता इत्यादि स्वतन्त्रता के अनेक प्रकार आ जाते हैं । सभ्यता तथा संस्कृति का विकास इन सभी प्रकार की स्वतन्त्रताओं की अवस्थिति में ही सम्भव है ।

परन्तु स्वतन्त्रता का यह अधिकार सर्वथा निर्बाध नहीं । युद्ध तथा संकटकालीन स्थिति में तो इसका नियमन होता ही है । शान्तिकाल में भी इस पर अनेक प्रकार

---

1. "He may preach the complete inadequacy of the social order. He may demand its overthrow by armed revolution."
—*Laski.*

की पाबन्दियाँ लगाई जाती हैं।

भाषण की स्वतन्त्रता का अर्थ जनता को अवैधानिक कार्य करने के लिए भड़काना नहीं है न ही भाषण द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों में पारस्परिक कलह तथा द्वेष ही पैदा करना है। जो भी व्यक्ति भाषण द्वारा या लेखों द्वारा अथवा प्रचार के अन्य साधनों द्वारा समाज में अशान्ति तथा लड़ाई-झगड़ा उत्पन्न करता है वह राज्य द्वारा दण्डनीय समझा जाता है। राज्य के विरुद्ध प्रचार करना भी दण्डनीय है। इस प्रकार किसी को गाली-गलौच द्वारा अपमानित करना या किसी पर झूठे अथवा गलत लांछन लगाना अथवा किसी की धार्मिक भावना को ठेस पहुँचाना या अश्लील बातें कहना या लिखना, सभी अपराध माने जाते हैं। इन सभी पाबन्दियों से हमारी स्वतन्त्रता का किसी प्रकार का अहित नहीं होता, हमारी स्वतन्त्रता की सामाजिक अनुभूति कुछ पाबन्दियों के अन्तर्गत ही सम्भव है।

(४) **संघ-निर्माण करने की स्वतन्त्रता का अधिकार** (Right of association)—मानवीय प्रकृति के सामाजिक रूप की अभिव्यक्ति संघ-निर्माण में होती है। हम पीछे देख चुके हैं कि समाज में अनेक प्रकार के समुदाय या संघ होते हैं, ये संघ धार्मिक, सांस्कृति, व्यावसायिक, राजनीतिक तथा आर्थिक इत्यादि अनेक प्रकार के आधारों पर संगठित किये जा सकते हैं। ये सभी समुदाय हमारी अनेक प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इन्हीं के भीतर रहकर हमारे व्यक्तित्व का पूरा-पूरा विकास सम्भव है। राज्य भी एक प्रकार का संघ है, परन्तु वह हमारे जीवन के केवल नागरिक या राजनीतिक पक्ष की ही अभिव्यक्ति है, वह हमारे सम्पूर्ण सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति नहीं। यही कारण है कि आज बहुसमुदायवादी व्यक्ति के संघ-निर्माण के अधिकार को अत्यन्त महत्त्व देते हैं। संघ द्वारा ही मनुष्य मिलकर अनेक प्रकार के उद्देश्यों को प्राप्त करते हैं। संघ बनाकर ही मनुष्य शोषण तथा अत्याचार के विरुद्ध लड़ सकते हैं और अपने वैयक्तिक अधिकारों की रक्षा कर सकते हैं। हम अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी अनेक संघों का निर्माण करते हैं।

संघ-निर्माण का भी निर्बाध अधिकार नहीं, इस पर भी अनेक पाबन्दियाँ सामाजिक हित को सामने रखकर लगाई जाती हैं। चोर और डाकू संघों का निर्माण नहीं कर सकते, न ही सामाजिक लोग अन्य लोगों की स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति छीनने के लिए संघों का निर्माण कर सकते हैं। राज्य के विरुद्ध भी संघों के निर्माण की स्वतन्त्रता नहीं दी जाती। इस प्रकार राज्य व्यक्ति के संघ-निर्माण के अधिकार का अनेक प्रकार से नियन्त्रण करता है।

(५) **धर्म, विश्वास तथा आत्म-चिन्तन का अधिकार** (Right to Freedom of relegion and consciene)—वर्तमान युग में धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार लगभग सभी राज्यों में स्वीकार कर लिया गया है। धार्मिक स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए मानवीय समाज को बहुत संघर्ष करना पड़ा है। कोई समय था जब धर्म विश्वास, धार्मिक मतों के प्रचार की तथा पूजा की स्वतन्त्रता नागरिकों को नहीं प्राप्त थी। राज्य विशेष प्रकार के धर्मावलम्बियों की विशेष सहायता करता

था। वह एक विशेष धर्म के प्रचार तथा प्रसार में भी भाग लेता था। अनेक बार राज्य जबरदस्ती अपने द्वारा समर्थित धर्म को दूसरों पर लादने की कोशिश करता था। कई बार एक धार्मिक बहुमत ने धार्मिक अल्पमत पर अनेक अत्याचार किये। यूरोप का इतिहास इस प्रकार के धार्मिक संघर्षों के उदाहरणों से भरा पड़ा है। यूरोप में ही नहीं हमारे यहाँ भी धर्म के नाम पर अनेक अत्याचार किये गये। परन्तु अब नये युग में धार्मिक सहिष्णुता का जन्म हुआ है। धर्म एक व्यक्तिगत कार्य समझा जाता है और यह माना जाता है कि राज्य को उसमें दखल देने का कोई अधिकार नहीं। न ही राज्य किसी धर्म विशेष को कोई विशेष सुविधाएँ ही प्रदान करता है। प्रत्येक नागरिक चाहे वह किसी भी धर्म का अनुगामी क्यों न हो, राज्य की दृष्टि में बराबर है। ऐसा राज्य धर्मनिरपेक्ष (Secular) राज्य कहलाता है। साथ ही आधुनिक युग की राजनीति में भी धर्म को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जाता।

धार्मिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत विश्वास, पूजा तथा धर्म-प्रचार की स्वतन्त्रता को शामिल किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा तथा विश्वास के अनुसार धर्म-पालन की तथा अपने धर्म से सम्बन्धित पूजा-पाठ इत्यादि कार्यों के पूर्ण करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति को आत्मचिन्तन की भी स्वतन्त्रता है।

परन्तु धर्म केवल वैयक्तिक श्रद्धा तथा विश्वास से ही सम्बन्धित नहीं, उसका सामाजिक रूप भी है। अतः जब कभी कोई भी धर्म-मत अनैतिक तथा दोषपूर्ण कार्यों को करता है तो उस समय राज्य को धार्मिक स्वतन्त्रता पर रोक लगानी पड़ती है। ऐसी भी धार्मिक प्रथाएँ चल सकती हैं जिनसे जनता के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़े या जिनसे सामाजिक सदाचरण की भावना को धक्का लगे या जिससे लोगों में अशान्ति तथा पारस्परिक विद्वेष फैले, ऐसे समय में राज्य धार्मिक मामलों में दखल दे सकता है और सामाजिक दृष्टि से हानिकारक धार्मिक प्रथाओं पर रोक लगा सकता है। जब कुछ धार्मिक संस्थाएँ अपने आर्थिक साधनों का दुरुपयोग करने लग जाती हैं, तब भी राज्य को धार्मिक मामलों में दखल देने का अधिकार होता है। भारत का नया संविधान पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता की गारण्टी देता है। हमारे देश में इधर बहुत धार्मिक असिहिष्णुता का प्रसार रहा है, परन्तु अब राज्य ने धार्मिक स्वतन्त्रता की गारण्टी दे सभी प्रकार के धार्मिक अल्पमतों की स्वतन्त्रता को सुरक्षित कर दिया है।

(६) **शिक्षा तथा संस्कृति सम्बन्धी अधिकार** (Right to education & other cultural rights)--वर्तमान युग में शिक्षा इत्यादि सांस्कृतिक अधिकारों की मान्यता पर विशेष बल दिया जाता है। प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में शिक्षा के अधिकार का विशेष महत्व है। प्रत्येक मनुष्य में अनेक बौद्धिक तथा चारित्रिक शक्तियों की अवस्थिति होती है, उनका पूर्ण तथा ठीक-ठीक विकास शिक्षा के बिना असम्भव है। वस्तुतः व्यक्तित्व के मूल में निहित आदर्श, विचार तथा भावनाएँ शिक्षा द्वारा विकसित तथा परिमार्जित होती हैं। शिक्षा मनुष्य के दृष्टिकोण को विस्तृत करती है, उसकी स्वार्थ-भावना का परिष्कार करती हैं, उसे सामाजिक हित के चिन्तन के योग्य बनाती है। प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में नागरिकों का राजनीतिक दृष्टि से चेतना

सम्पन्न और सावधान होना और भी आवश्यक है। उन्हें अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में समुचित शिक्षा मिलनी चाहिए। अतः प्रत्येक व्यक्ति को प्रारम्भिक तथा उच्च शिक्षा प्राप्ति का अधिकार होना चाहिए। यही नहीं राज्य को अपने नागरिकों के लिए व्यावसायिक तथा वैज्ञानिक और टेक्निकल शिक्षा की व्यवस्था भी करनी चाहिए।

सांस्कृतिक अधिकारों के अन्तर्गत ज्ञान-प्रसार के साधन—यथा वाचनालय व पुस्तकालय की स्थापना अन्वेषण संस्थाओं तथा शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना इत्यादि—के अतिरिक्त साहित्य, कला तथा संस्कृति के विकास तथा प्रसार के लिए आवश्यक सुविधाओं को भी गृहीत किया जाता है। राज्य को अपने नागरिकों के लिए मनोरंजन सम्बन्धी सुविधाओं की भी यथोचित व्यवस्था करनी चाहिए। आजकल के प्रायः सभी राज्य नागरिकों के इन महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक अधिकारों को मान्यता प्रदान करते हैं।

(७) **सम्पत्ति का अधिकार** (Right to property)—यह कहा जाता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता दी जानी चाहिए। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की कल्पना के अन्तर्गत निजी सम्पत्ति व्यवस्था को खत्म कर दिया था। परन्तु अरस्तू ने प्लेटो की इस व्यवस्था की कड़ी आलोचना की और कहा कि ऐसी व्यवस्था मानव-प्रकृति के विपरीत है। अरस्तू सम्पत्ति को मनुष्य के नैतिक तथा बौद्धिक विकास के लिए आवश्यक मानता है। प्रत्येक मनुष्य में स्वामित्व की भावना होती है, वह नित्य परिश्रमकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए कई प्रकार की सम्पत्ति का निर्माण करता है। रहने के लिए मकान तथा दैनिक व्यवहार में आने वाली अन्य वस्तुएँ वह अपनी ही बनाना चाहता है। सम्पत्ति के कारण मनुष्य को विश्राम के क्षण मिल जाते हैं, जिसका उपयोग वह अपने बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए कर सकता है। अरस्तू का कथन है कि राजनीतिक कर्त्तव्यों के पालन के लिए प्रत्येक नागरिक के पास पर्याप्त खाली समय होना चाहिए, ताकि वह प्रत्येक राजनीतिक समस्या पर अच्छी तरह सोच-विचार कर सके।

आजकल सम्पत्ति के अधिकार की कड़ी आलोचना की जाने लगी है। कम्युनिस्ट तथा समाजवादी सम्पत्ति व्यवस्था को शोषण तथा चोरी पर आधारित मानते हैं। मार्क्स इत्यादि विचारकों का कथन है कि सम्पत्ति-व्यवस्था अन्याय पर आधारित है और वह समाज में अन्याय को ही जन्म देती है।

आज के लगभग सभी राज्यों पर इन विचारों का प्रभाव पड़ा है, फलस्वरूप सभी जगह राज्य निजी सम्पत्ति पर किसी न किसी रूप में नियन्त्रण करने लग गया है। उत्पादन के साधन तो राज्य के पूर्ण नियन्त्रण में लाए जा रहे हैं, विशेष रूप से सोवियत रूस इत्यादि समाजवादी देशों में ' पूंजीवादी देशों में फैक्टरी एक्ट इत्यादि बनाकर सरकार उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण करने लग गई है। सरकार कर भी लगाती है और सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी कानूनी भी बनाती है। कोई भी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग न करे, राज्य इसकी भी देखभाल करता है।

संकटकाल में तो राज्य का निजी सम्पत्ति पर नियन्त्रण बहुत बढ़ जाता है । इस प्रकार सम्पत्ति का अधिकार सर्वथा निर्बाध नहीं, उस पर भी सामाजिक हित में अनेक पाबन्दियाँ लगाई जाती हैं ।

(८) **पारिवारिक जीवन का अधिकार** (Right of family life)—परिवार सामाजिक जीवन का आधार है, अतः प्रत्येक राज्य परिवार को स्वतन्त्र मान्यता देता है और परिवार से सम्बन्धित अनेक प्रकार के अधिकारों के उपभोग की व्यवस्था करता है । व्यक्ति को विवाह का अधिकार है, वह अपने जीवन-साथी के चुनाव की पूर्ण स्वतन्त्रता रखता है । स्त्री तथा पुरुष बालिग अवस्था को प्राप्त कर स्वतन्त्रतापूर्वक विवाह करने के अधिकारी हैं । पारिवारिक जीवन की सुखद अनुभूति तभी सम्भव है, जब स्त्री-पुरुष के हार्दिक सम्बन्ध हों, उनमें परस्पर स्नेह हो, एक दूसरे के प्रति आदर की तथा श्रद्धा की भावना हो । पारिवारिक जीवन प्रत्येक व्यक्ति का अपना क्षेत्र है अतः हरेक को उसे सुखपूर्ण बनाने के लिए मनपसन्द जीवन-साथी चुनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए ।

पति-पत्नि के सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ स्नेहपूर्ण तथा पुनीत समझे जाते हैं, उनमें किसी भी बाहरी व्यक्ति को दखल देने का अधिकार नहीं ।

पारिवारिक जीवन के अधिकारों के अन्तर्गत तलाक का अधिकार, पारिवारिक जीवन की पवित्रता तथा स्वतन्त्रता का अधिकार तथा बच्चों के पालन-पोषण के अधिकार भी शामिल किये जाते हैं । सन्तानोत्पत्ति तथा सन्तान के पालन के अधिकार तो सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अधिकार हैं ।

राज्य पारिवारिक जीवन की पवित्रता को कायम रखने के लिए अनेक कानून बनाता है । परिवार के संगठन सम्पत्ति सम्बन्धी उत्तराधिकार, सन्तान के प्रति कर्त्तव्य, तलाक, विवाह इत्यादि से सम्बन्धित विषयों पर भी राज्य कानून का निर्माण करता है, और बदली हुई सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन भी करता है ।

१५४. राजनीतिक अधिकार

राजनीतिक अधिकारों के आधार पर नागरिक राज्य-शासन के संचालन में भाग ले सकते हैं । **नागरिकता वस्तुतः राज्य के राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग लेने का ही नाम है** । बिना राजनीतिक अधिकारों के सामाजिक अधिकारों की उपयोगिता खत्म हो जाती है, न ही वे किसी तरह भी सुरक्षित समझे जा सकते हैं ।

राजनीतिक अधिकार लोकतन्त्र की देन हैं । लोकतन्त्र की स्थापना से पूर्व नागरिक लोग अपने शासकों की दया पर ही जीवित रहते थे । पुराने यूनान में राजनीतिक अधिकार राज्य के बहुसंख्यक लोगों को नहीं प्राप्त थे, केवल सम्पत्तिशाली लोग ही राज्य-शासन में हिस्सा ले सकते थे । यही अवस्था मध्य युग में भी रही, राजनीतिक अधिकार कुछेक लोगों के विशेषाधिकार ही रहे । राजनीतिक अधिकार व्यक्ति में आत्मविश्वास तथा आत्मसम्मान की भावनाओं को भर देते हैं । आजकल

प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में नागरिक जन निम्नलिखित राजनीतिक अधिकारों का इस्तेमाल करते हैं।

(१) मताधिकार (Right to vote)

(२) विधानपालिकाओं के लिए चुनाव लड़ने का अधिकार (Right of election to the legislature)

(३) पद प्राप्त करने तथा सरकारी नौकरी करने का अधिकार (Right to hold-office and enter Government service)

अब हम इन सभी अधिकारों पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

(१) मताधिकार (Right to vote)—प्रजातन्त्र शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत नागरिक राज्य-शासन के संचालन में या तो प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते हैं या परोक्ष रूप से। वर्तमान युग में प्रतिनिधि शासन-व्यवस्था का ही अधिक प्रचलन है, प्रत्येक नागरिक वोट के अधिकार द्वारा ही राज्य-शासन संचालन में हिस्सा ले सकता है। हरेक राज्य में प्रतिनिधि संस्थाओं की व्यवस्था रहती है, यही सामान्य जनता की ओर से कानून बनाती हैं और राज्य-शासन संचालन की व्यवस्था करती हैं। नागरिकों को अपने वोट द्वारा प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होता है। आज के प्रजातन्त्रात्मक युग में इस अधिकार का बहुत महत्त्व है, क्योंकि इसी अधिकार के बल पर ही नागरिक राज्य-शासन के संचालन में भाग ले सकता है। वोट का अधिकार धर्म, जाति, रंग तथा लिंग-भेद के बिना सभी बालिग नागरिकों को प्राप्त होना चाहिए। यह ठीक है कि सभी राज्यों में पागलों, दिवालियों, नाबालिगों, विदेशियों तथा अपराधियों को वोट का अधिकार नहीं दिया जाता, तथापि शिक्षा, सम्पत्ति इत्यादि को मताधिकार का आधार नहीं मानना चाहिए।

वोट के अधिकार का महत्त्व इसलिए भी है कि पार्लियामेण्ट्री व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यपालिका विधानपालिका के प्रति जिम्मेवार होती है। इसी प्रकार अनेक राज्यों में कार्यपालिका के वैधानिक या वास्तविक मुखिया का निर्वाचन जनता द्वारा होता है। राज्य के सभी बालिग नागरिकों को इस प्रकार के चुनाव में हिस्सा लेना चाहिए।

(२) **विधानपालिकाओं के सदस्य चुने जाने का अधिकार** (Right of election to the legislature)—केवल वोट का ही अधिकार पर्याप्त नहीं, प्रत्येक नागरिक को स्वयं भी प्रतिनिधि चुने जाने का अधिकार होना चाहिए। जनतन्त्र सभी नागरिकों को विधानपालिकाओं के सदस्य बनने का अधिकार देता है। सभी जगह कुछ न कुछ आवश्यक शर्तें जरूर लगादी जाती हैं, परन्तु ये शर्तें सभी नागरिकों पर समान रूप से लागू होती हैं। अगर विधानपालिका के सदस्य चुने जाने का अधिकार चन्द लोगों को ही सौंपा जाय तो वह अधिकार न रहकर विशेषाधिकार हो जायगा, ऐसी व्यवस्था प्रजातन्त्र के आधारभूत असूलों के विपरीत होती है।

(३) पद प्राप्त करने तथा सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अधिकार (The Right to hold office and enter Government service)

प्रत्येक नागरिक को ऊँचे से ऊँचे सरकारी पद तथा बड़ी से बड़ी सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए । प्रत्येक स्थान पर सरकार इन पदों की या इन सरकारी नौकरियों की प्राप्ति के लिए योग्यता सम्बन्धी कुछेक विशेष शर्तें लगा देती है, इन शर्तों को पूरा करना सभी के लिए लाजमी है । परन्तु सरकार को सरकारी नौकरियों के मामले में वर्ण, जाति, रंग तथा लिंग अथवा सामाजिक हैसियत के आधार पर अपने नागरिकों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करना चाहिए ।

इन महत्त्वपूर्ण राजनीतिक अधिकारों के अतिरिक्त नागरिको को आवेदन का अधिकार (Right to petition) राज्य के अन्तर्गत स्थायी निवास (Right of permanent residanel) तथा विदेश में सुरक्षा (Right to protection while baeroad) इत्यादि के अधिकार भी कभी-कभी राजनीतिक अधिकारों के अन्तर्गत ही गिने जाते हैं ।

आजकल प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में इन अधिकारों को संविधान के अन्तर्गत नागरिकों के मूल अधिकारों के रूप में शामिल करने का एक रिवाज ही चल पड़ा है । संविधान के अन्तर्गत इस प्रकार की मूल अधिकारों (Fundamental rights) की व्यवस्था कई तरह से प्रशंसनीय है । प्रथम तो यह व्यवस्था नागरिक के लिए कुछेक ऐसे अधिकार सुरक्षित कर देती है, जिन्हें कि सरकारें जल्दी में बदल नहीं सकतीं । दरअसल हमें यह कहना चाहिए कि सरकार के स्वेच्छाचारी शासन से सुरक्षित रखने के लिए ही इन अधिकारों को संविधान में शामिल किया जाता है । ये सरकार की शक्ति पर एक प्रकार की पाबन्दी का कार्य करते हैं । जब कभी विधानपालिका या कार्यपालिका व्यक्ति के इन अधिकारों को खत्म करने की कोशिश करती है उस समय न्यायालय संविधान की व्याख्या करते हुए व्यक्ति के मूल भूत अधिकारों को लागू करते हैं और सरकारी कर्मचारियों को अपने अधिकार क्षेत्र का उल्लंघन करने पर दण्डित करते हैं । इन संवैधानिक अधिकारों की सुरक्षा की जिम्मेवारी न्यायालय पर होती है, अतः न्यायालय का निष्पक्ष तथा स्वतन्त्र होना आवश्यक है ।

परन्तु नागरिकों के अधिकारों की संवैधानिक सुरक्षा की यह व्यवस्था ही सब कुछ नहीं है । जर्मनी में वायमर संविधान (Weimer constitution) के अधीन नागरिकों के मलभूत अधिकारों की सुरक्षा की व्यवस्था की गई थी, तो भी जनता की असावधानी के कारण लोगों को अपने मूलभूत राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकारों से हाथ धोने पड़े । इसके विपरीत, इंग्लैण्ड में नागरिकों के अधिकारों की कोई भी लिखित व्यवस्था नहीं, तथापि **जनमत की जागरूकता के कारण सरकार जनता के अधिकारों को खत्म करने का साहस नहीं करती । स्वतन्त्रता तथा अधिकारों की सुरक्षा की सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था जनता की सावधानी तथा जागरूकता है ।**

१५५. नागरिकों के कर्त्तव्य (Duties of the citizens)

अधिकार तथा कर्त्तव्य के घनिष्ठ सम्बन्ध का उल्लेख तो हम ऊपर कर ही

आए हैं, यहाँ हम नागरिकों के कुछ आधारभूत [illegible] विवेचना करेंगे। हमें एक बात अवश्य समझ लेनी चाहिए कि प्रत्येक अधिकार के साथ कर्त्तव्य-भावना जुड़ी रहती है। यह आवश्यक नहीं कि अधिकारों के साथ नागरिकों के कर्त्तव्यों की भी अलग गणना करायी जाय। भारतीय संविधान में नागरिकों के अधिकारों का विवेचन मिल जाता है, परन्तु कर्त्तव्यों का नहीं। सिवा रूस के अन्यत्र कहीं भी अधिकारों के साथ कर्त्तव्यों का भी विवेचन नहीं मिलता, इसका कारण यही है कि **प्रत्येक अधिकार एक कर्त्तव्य भी है।**

मौजूदा समाज में हम लोग कर्त्तव्यों की बजाय अधिकारो पर अधिक बल देते हैं, इस कारण समाज में एक प्रकार का असन्तुलन पैदा हो जाता है। कर्त्तव्य-पालन के न होने से सामाजिक व्यवस्था में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं, व्यक्ति तथा समाज में संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। अनेक सामाजिक बुराइयों का कारण हमारी कर्त्तव्य पालन की भावना की कमी है। कर्त्तव्यों का पालन तो स्वेच्छापूर्वक होना चाहिए, तभी समाज में प्रत्येक नागरिक बेखटके अपने अधिकारों का उपभोग कर सकता है।

हमारे कर्त्तव्य—अधिकारों की तरह कर्त्तव्यों के भी अनेक प्रकार हैं। मुख्य रूप से कर्त्तव्य दो प्रकार के है (१) **नैतिक** (Moral) **कर्त्तव्य** तथा (२) **कानूनी कर्त्तव्य** (Legal duties) नैतिक कर्त्तव्य तो बहुत व्यापक हैं, वे हमारे आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के जीवन से सम्बन्धित है। अपने माता-पिता का आदर करना, गरीबों की सहायता करना, सत्य बोलना, अपने व्यवहार में ईमानदार रहना इत्यादि नैतिक कर्त्तव्यों के कुछ प्रकार है। परन्तु इन कर्त्तव्यों का क्षेत्र हमारा आन्तरिक जीवन है। राज्य हमें अपने विचारों से सच्चा तथा ईमानदार नहीं बना सकता, वह तो हमारे बाहरी कामों से ही सम्बन्ध रखता है। अतः नैतिक कर्त्तव्यों के न पालन का अर्थ राज-दण्ड नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी नैतिक धारणा के आधार पर तथा सामाजिक आलोचना के भय से नैतिक कर्त्तव्यों का पालन करता है।

कानूनी कर्त्तव्य (Legal duties) **वे हैं जिन्हें राज्य निर्धारित करता है और जिनके उल्लंघन पर राज्य सजा भी देता है।** चोरी न करना, आय कर (Income tax) देना, किसी को चोट न पहुँचाना इत्यादि कानूनी कर्त्तव्य हैं। **जब कभी कोई व्यक्ति इन कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर पाता तो उस समय उसे राज्य दण्ड देता है। नीचे हम सभी राज्यों में स्वीकार किए जाने वाले कुछेक प्रमुख कर्त्तव्यों** का विवरण देंगे।

(१) राज-भक्ति (Allegiance to the State)—प्रत्येक नागरिक का प्रथम कर्त्तव्य राज-भक्ति है, उसे अपने राज्य के प्रति वफादार (Loyal) होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि शासन-व्यवस्था बनाये रखने में तथा विदेशी हमले का मुकाबला करने में नागरिक राज्य की पूरी-पूरी सहायता करे। आवश्यकता पड़ने पर सेना में भर्ती हो राज्य की रक्षा के लिए अपने जीवन का भी बलिदान कर दे। राज-भक्ति नागरिक का सबसे बड़ा कर्त्तव्य समझा जाता है।

राज्य के अन्तर्गत शासनव्यवस्था बनाए रखने में उसे पुलिस की सहायता करनी चाहिए। गैरकानूनी कार्यवाही करने वाले असमाजिक तत्त्वों—चोर व डाकू इत्यादि—के दबाने में भी वह पुलीस की सहायता कर सकता है।

नागरिकों को सरकारी पद ग्रहण करने, अपने बच्चों को शिक्षित करने, सफाई रखने तथा राज्य के मान की रक्षा सम्बन्धी कर्त्तव्यों के पालन में भी सदा तैयार रहना चाहिए।

(२) **कानून पालन** (Obedience to law)—राज्य सामाजिक शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए अनेक कानून बनाता है। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह इन कानूनों का पालन करे, जो इन कानूनों का पालन नहीं करता राज्य उसे सजा देता है। कानून अधिकांश में जन-साधारण के हित में होते हैं, वे जन-सहमति पर आधारित होते हैं। कानून-पालन का कर्त्तव्य नैतिक तथा कानूनी दोनों ही है। परन्तु बुरे कानूनों का शान्तिपूर्ण ढंग से विरोध भी किया जा सकता है।

(३) **वोट का उचित प्रयोग** (Duty to vote)—वोट का अधिकार तो अधिकांश नागरिकों को प्राप्त होता है, परन्तु अनेक नागरिक या तो अपने इस अधिकार का प्रयोग ही नहीं करते या फिर उसका अनुचित ढंग से प्रयोग करते हैं। दोनों ही चीजें बुरी हैं। प्रजातन्त्र जनता का राज्य है, वह हमारी सहमति पर आधारित है, उसे वास्तविक रूप से प्रजातन्त्र बनाने के लिए नागरिकों का बुद्धिमत्तापूर्वक वोट देना लाजमी है। प्रजातन्त्र के अधीन सरकार की बुराई और अच्छाई की जिम्मेवारी नागरिक पर होती है। अगर वे अपने वोट का अनुचित प्रयोग करते हैं। किसी आर्थिक लालच में आकर वोट देते हैं, तो अपने इस महान् तथा पवित्र कर्त्तव्य का ठीक-ठीक पालन नहीं करते। वोट के अधिकार का अत्यन्त पवित्र ढंग से और सोच-समझ कर इस्तेमाल करना चाहिए। वोट का उचित प्रयोग हमारा नैतिक तथा कानूनी दोनों ही प्रकार का कर्त्तव्य है।

वोट के इस्तेमाल के प्रति उदासीन भी नहीं होना चाहिए। लोगों को वोट का अधिकार मिल भी जाए तो भी वे इसके इस्तेमाल में उदासीनता प्रदर्शित करते हैं। ऐसा करना सर्वथा अनुचित है।

(४) **कर देना** (Payment of taxes)—राज्य-शासन का संचालन बिना धन के असम्भव है। प्रत्येक सरकार केवलमात्र शासन-व्यवस्था की स्थापना पर ही करोड़ों रुपया खर्च करती है। यह सारा रुपया लोगों से करों के रूप में वसूल किया जाता है। आजकल राज्य सार्वजनिक हित के लिए तथा आर्थिक विकास के लिए अनेक विकास-योजनाओं को पूर्ण करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। अतः सरकार अब और भी अधिक कर लगाती है। देश की सुरक्षा तथा शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए और देश की औद्योगिक तथा आर्थिक उन्नति के लिए लगाए गए करों को हरेक नागरिक को बड़ी ईमानदारी से देना चाहिए। जो नागरिक राज्य द्वारा लगाए गए करों को देने में हेर-फेर करते हैं वह कानून की दृष्टि में तो अपराधी हैं ही नैतिक दृष्टि से भी निन्दनीय हैं। कर न देना चोरी के समान है, वह

एक प्रकार का देशद्रोह है।

उपसंहार—नागरिक के कर्त्तव्यों की एक लम्बी-चौड़ी लिस्ट दी जा सकती है, परन्तु उसका यहाँ कोई विशेष लाभ नहीं। प्रत्येक नागरिक को अपने कानूनी तथा नैतिक, सभी प्रकार के कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। सर्वश्रेष्ठ नागरिक वही है जो सामाजिक हित के लिए अपने हितों का बलिदान करता है, जो लोक-कल्याण में अपना कल्याण समझता है।

Important Questions	*Referenec*
1. Explain the changing contents of Rights.	Art. 151
Or	
Discuss the basis of Rights.	
2. Define Rights. (*Ag. 1940*)	Art. 151
Explain fully the nature and utility. of rights (*Nag. 1943*)	
3. Discuss the theory of rights which you regard as most satisfactory. (*Pb. 1956*)	Art. 152
Or	
Critically examine the doctrine of natural rights. Is there an element of truth in it ? (*Pb.* 1940, 1936, 1937, *Ag.* 1939, 1936, *All.* 1941, *Punjab*, 1940, *Cal.* 1953).	
4. Discuss the rights of citizen in a modern State. (*Pb.* 1941)	Art. 153 & 154
Or	
What particular rights are generally recognised in civilised states ? Enumerate the more important fundamental Rights which a citizen in modern state enjoys. (*C. U.* 1951)	
5. Distinguish between Civil and Political Rights. (*Cal.* 1944, 1931 *Pb.* 1936)	Art. 151
6. Rights and duties are two aspects of the same thing. (*Pb.* 1938)	Arts. 151 & 155
7. Explain the duties or obligations of citizenship. (*Pb.* 1941, *Cal.* 1943, 1941)	Art. 155

अध्याय २३

व्यक्ति तथा राज्य (२)

स्वतन्त्रता तथा समानता
(Liberty and Equality)

१५६. स्वतन्त्रता की महत्ता

स्वतन्त्रता मानवीय जीवन का सर्वश्रेष्ठ तथा पुनीत अधिकार है । सदियों तक मानव-जाति स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए संघर्ष करती रही है । सामाजिक जीवन के प्रारम्भिक चरण में दासता का बोलबाला रहा । कहीं मनुष्य मनुष्य का दास रहा, कहीं वह बाह्य परिस्थितियों—सामाजिक रस्मो-रिवाज का—और कहीं अज्ञान तथा अन्ध-विश्वास का । पुराने यूनान तथा रोम में सम्पत्तिशाली वर्ग ने अपने हाथों में सम्पूर्ण राजनीतिक सत्ता का केन्द्रीकरण किया हुआ था । अनेक बार जन-साधारण ने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किये । मध्य युग में चर्च, सामन्तवर्ग तथा बिरादरी ने मनुष्य के अधिकारों को सीमित कर रखा था । चर्च ने मनुष्य के बाह्य तथा आन्तरिक जीवन दोनों के नियन्त्रण का प्रयत्न किया, और विचार-स्वातन्त्र्य तथा आत्मचिन्तन को अनेक प्रकार से दबाने की कोशिश की । धीरे-धीरे राजनीतिक चैतन्य के विकास के फलस्वरूप जन-साधारण अपने समान स्वार्थों की रक्षा के लिए संघर्ष करने लगा । विचार प्रकट करने तथा वाद-विवाद की स्वतन्त्रता के अतिरिक्त वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सामान्य स्वीकृति के लिए प्रयत्न किये जाने लगे । सर्वप्रथम नागरिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किये गये तदनन्तर राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए । स्वतन्त्रता के आन्दोलन का प्रारम्भ इंग्लैण्ड में हुआ । मेगनाकार्टा द्वारा नागरिक अधिकारों को मान्यता प्रदान की गई, ग्लोरियस रिवोल्यूशन के अनन्तर राजनीतिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया । यूरोप के अन्य देशों में 'स्वतन्त्रता' शब्द का प्रचलन फ्रांस से हुआ । फ्रेंच क्रान्ति के अनन्तर सभी जगह प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों का प्रचलन हुआ, स्वतन्त्रता तथा समानता के सिद्धान्त को सर्वप्रियता प्राप्त हुई और यूरोप के प्रायः सभी देशों में नागरिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए प्रयत्न किये जाने लगे ।

स्वतन्त्रता की परिभाषा—'स्वतन्त्रता' शब्द का प्रयोग एक निश्चित अर्थ में नहीं किया जाता । इसी कारण उसकी एक निश्चित परिभाषा देना भी कठिन है । कुछ लोग स्वतन्त्रता शब्द का अर्थ यह मानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार हो कि वह जो चाहे करे । अंग्रेजी के 'लिबर्टी' (Liberty) शब्द का मूल लेटिन का 'लिबर' (Liber) शब्द है, जिसका अर्थ पूर्ण स्वतन्त्रता है । हिन्दी का 'स्वतन्त्रता' शब्द अंग्रेजी के 'Liberty' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है । **इस रूप में स्वतन्त्रता का अर्थ**

'मानवीय आचरण पर सभी प्रकार की पाबन्दियों का अभाव है।' परन्तु स्वतन्त्रता की ऐसी धारणा असामाजिक है। सामाजिक जीवन की पहली शर्त तर्कपूर्ण पाबन्दियों की उपस्थिति है। सामाजिक संगठन का निर्माण मनुष्य का स्वभाव है, वह आपसी मेल-मिलाप तथा सहयोग के बिना जीवित ही नहीं रह सकता। इस सामाजिक सहयोग का परिणाम ही कुछ निश्चित पाबन्दियाँ हैं। पाबन्दियों के अभाव में मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता, तब उसके भीतर का पशु जाग उठता है, उसमें उच्छृंखलता उत्पन्न हो जाती है, वह सामाजिकता का ही शत्रु बन जाता है। अतः अबाध स्वतन्त्रता सामाजिक जीवन में अकल्पनीय है।

स्वतन्त्रता अधिकारों पर आधारित होती है, और अधिकार सामाजिक जीवन की देन है। यही कारण है कि स्वतन्त्रता की अनुभूति समाज में ही सम्भव है, अराजक या समाज-विहीन दशा में नहीं। स्वतन्त्रता की परिभाषा करते हुए प्रो० लॉस्की ने कहा है कि **"वर्तमान सभ्यता में मनुष्य की वैयक्तिक प्रसन्नता की गारण्टी के लिए जिन सामाजिक परिस्थितियों की आवश्यकता है, उन पर पाबन्दियों के अभाव का नाम ही स्वतन्त्रता है।"**[1] जी० डी० एच० कोल के मतानुसार **"बिना किसी बाधा के अपने व्यक्तित्व को प्रगट करने के अधिकार का नाम स्वतन्त्रता है।"**[2] इसी प्रकार मैक्श्नी (M'Kechnie) के विचारानुसार **"स्वतन्त्रता सभी प्रकार की पाबन्दियों के अभाव का नाम नहीं बल्कि अबौद्धिक पाबन्दियों के स्थान पर बुद्धिसंगत पाबन्दियों की स्थापना है।"**[3] प्रो० लॉस्की ने अन्यत्र स्वतन्त्रता की अधिक उदार व्याख्या की है और उसके सक्रिय रूप पर बल देते हुए कहा है कि **"स्वतन्त्रता का अर्थ उस वातावरण की उत्साहपूर्ण रक्षा से है जो मनुष्य को अपने श्रेष्ठतम रूप की अनुभूति का अवसर प्रदान करता है।"**[4]

उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता वैयक्तिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों की उपस्थिति है। बन्धनों की उपस्थिति में ही इस प्रकार की सक्रिय स्वतन्त्रता की अनुभूति की सम्भावना है। प्रत्येक मनुष्य में कुछ विशेष शक्तियाँ होती हैं जिनका विकास समुचित वातावरण में ही सम्भव है। अतः प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य इस प्रकार की शक्तियों के विकास के लिए उचित परिस्थितियों का निर्माण

---

1. "Liberty is the absence of restraint upon the existence of those social conditions which in modern civilization are the necessary guarantees of individual happiness."—*Laski.*

2. "Liberty is the freedom of the individual to express without external hindrance his personality."—*G. D. H. Cole.*

3 "Freedom is not the absence of all restraints, but rather the substitution of ractional ones for the irrational."—*M'Kachnie.*

4. "By liberty is meant the eager maintenance of that atmosphere in which men have the opportunity to be their bestselves".
—*Laski.*

करना है । राज्य इन परिस्थितियों की रचना अनेक प्रकार के अधिकारों को मान्यता देकर करता है ।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता जहाँ मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है, वहाँ उसके बौद्धिक तथा नैतिक विकास के लिए विचार तथा वाद-विवाद की स्वतन्त्रता परम आवश्यक है । विचार की स्वतन्त्रता ज्ञान प्रसार तथा सत्य की खोज के लिए भी लाजमी है । ज्ञान-विज्ञान की इतनी उन्नति असम्भव हो जाती यदि मनुष्य को विचारों के प्रकट करने की स्वतन्त्रता प्राप्त न होती । मनुष्य के मस्तिष्क की सक्रियता किसी भी देश की सभ्यता तथा संस्कृति सम्बन्धी विकास के लिए लाजमी है । राज्य जब कभी भी इसके अनुचित नियन्त्रण का प्रयत्न करता है, तभी वह अपनी सीमा से बाहर चला जाता है और अशान्ति तथा अव्यवस्था का बीज बोता है । वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर राज्य द्वारा आरोपित बन्धन रचनात्मक होने चाहिएँ, वे व्यक्ति के चरित्र गठन तथा उसके आत्मिक विकास में बाधक न हों ।

राज्य तथा स्वतन्त्रता (State and liberty)—राज्य, प्रभुसत्ता तथा कानून का स्वतन्त्रता से विरोध माना जाता है । राज्य तथा कानून इत्यादि स्वतन्त्रता के विरोधी हैं, यह विश्वास बहुत पुराना है । वर्तमान युग में इस विचार का समर्थन व्यक्तिवादी, अराजकतावादी तथा सिण्डीकेलिस्ट विचारकों ने किया है । व्यक्तिवादियों का कथन है कि राज्य द्वारा निर्धारित कानून वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विरोध करते हैं, उस पर पाबन्दियाँ लगाते हैं । उनका कथन है कि वही राज्य स्वतन्त्रता का पोषक हो सकता है, जो कम से कम शासन करे । राज्य को तो एक आवश्यक बुराई के रूप में ही स्वीकार करना पड़ता है, पुराने व्यक्तिवादियों से मिलता-जुलता दृष्टिकोण नूतन व्यक्तिवादियों का भी है । नूतन व्यक्तिवादी बहुसमुदायवाद के समर्थक हैं वे समाज की सामूहिक जिन्दगी पर राज्य के नियन्त्रण को बुरा मानते हैं । परन्तु वर्तमान युग के व्यक्तिवादी राज्य-सत्ता के केन्द्रीकरण के विरोधी हैं, वह राज्यसत्ता की मौजूदगी के आवश्यक लाभों से इनकार नहीं करते, वे राज्य की अबाध सत्ता के अवश्य विरोधी हैं ।

अराजकतावादी तथा सिण्डीकेलिस्टों का दृष्टिकोण अत्यन्त क्रान्तिकारी है । वे राज्यसत्ता तथा स्वतन्त्रता का स्वाभाविक विरोध स्वीकार करते हैं । उनका कथन है कि स्वतन्त्रता की वास्तविक अनुभूति राज्य की अनुपस्थिति में ही सम्भव है, अतः वे राज्य तथा कानून को खत्म कर देने का समर्थन करते हैं । राज्य का प्रत्येक कार्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विरोधी है, वह सर्वथा अप्राकृतिक है । अतः उसका विरोध सर्वथा स्वाभाविक है । कम्युनिस्ट भी एक प्रकार से राज्य तथा वास्तविक स्वतन्त्रता में विरोध को स्वीकार करते हैं । उनका विचार है कि राज्य शोषण यन्त्र है, वह शारीरिक शक्ति की उच्चता पर आधारित है और वर्ग संघर्ष में वह सदा ही कमजोर तथा गरीब लोगों के विपक्ष में होता है । वास्तविक स्वतन्त्रता की अनुभूति वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज में ही सम्भव है ।

डायसी (Dicey) के मतानुसार कानून की जितनी अधिक मात्रा होगी

स्वतन्त्रता की उतनी ही कमी हो जायगी । विलियम गाडविन ने भी कानून की निन्दा की है, स्पैन्सर तो कानून को स्वतन्त्रता के शत्रु के रूप में स्वीकार करता है ।

ऊपर से देखने से इन तर्कों में सत्यांश की अनुभूति अवश्य होती है । राज्य प्रभु-सत्ता सम्पन्न है, प्रभु-सत्ता की अवस्थिति के कारण वह असीम तथा अबाध-शक्ति का इस्तेमाल कर सकता है । अगर राज्य के भीतर मनुष्य स्वतन्त्र है, वह राज्य के पूर्ण रूप से अधीन नहीं तो प्रभु-सत्ता की उपस्थिति को ही स्वीकार नहीं किया जा सकता । राज्य में प्रभु-सत्ता का केन्द्र एक ही हो सकता है, भिन्न-भिन्न नहीं । अतः वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा प्रभु-सत्ता दोनों परस्पर विरोधी हैं, एक ही समाज में दोनों की साथ-साथ अवस्थिति नहीं हो सकती ।

परन्तु राज्य तथा स्वतन्त्रता के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में उपर्युक्त सभी दृष्टिकोण गलत हैं । स्वतन्त्रता का अर्थ पाबन्दियों का पूर्ण अभाव नहीं, सामाजिक जीवन के अन्तर्गत अबाध स्वतन्त्रता का उपभोग एक अकल्पनीय बात है। सभी नागरिक समान रूप से स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकें, इसके लिए राज्य-सत्ता की अवस्थिति लाजमी है । राज्य-शक्ति स्वतन्त्रता का विरोध नहीं करती, वह इसकी समान अनुभूति के लिए उपयुक्त वातावरण की रचना करती है । सामाजिक जीवन के संगठन का आधार राज्य-शक्ति का संगठन है । राज्य-शक्ति के अभाव में समाज में वही स्थिति उत्पन्न हो जायेगी जैसी कि हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में मौजूद थी । अबाध स्वतन्त्रता का अर्थ केवल मात्र शक्तिशालियों की स्वतन्त्रता ही है, क्योंकि ऐसी स्थिति में प्रत्येक शक्तिशाली व्यक्ति अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए कमजोर लोगों पर हाथ सफा करेगा, और उनके स्वार्थों को अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए खत्म कर देगा । राज्य-शक्ति के अभाव में समाज में "मात्स्य न्याय' की ही उपस्थिति होगी । लीकॉक के सारपूर्ण शब्दों में **"पूर्ण व अबाध स्वतन्त्रता सिर्फ एक ही व्यक्ति को मिल सकती है । सब के लिए उपभोग्य स्वतन्त्रता का पालन कुछ निश्चित पाबन्दियों के अन्तर्गत ही सम्भव है । यह राज्य संस्था का ही कार्य है कि वह इन पाबन्दियों को निर्धारित करे और इस प्रकार स्वतन्त्रता को जन्म दे ।"**

कानून तथा स्वतन्त्रता के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन करते हुए लॉक ने कहा है कि **"अपने सही अर्थों में कानून व्यक्ति के सही स्वार्थों को ठीक मार्ग पर निर्दिष्ट करने का स्वतन्त्र तथा बुद्धिसंगत साधन है अधिकारों का सीमितकरण नहीं··· ·····चाहे इसे कितना ही गलत क्यों न लिया जाए, कानून का उद्देश्य स्वतन्त्रता का नियमन व समाप्ति नहीं, बल्कि उसका संरक्षण तथा संवर्धन है ।"**[1] कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अनेक प्रकार से रक्षा करता है । कानून भी दो प्रकार के हैं

1. "Law is, in its true notion, not so much the limitation as the direction of a free and intelligent agent to his true interest..... ..... So that however, it may be mistaken, the end of law is not to abolish or restraint but to preserve and enlarge freedom."—*Locke.*

संवैधानिक कानून तथा साधारण कानून । संवैधानिक कानून व्यक्ति के अधिकारों की घोषणा करता है और सरकार की शक्तियों को सीमित वा मर्यादित करता है सरकार अनेक बार व्यक्ति के अधिकारों को कुचलने पर तत्पर हो जाती है, उस समय संवैधानिक पाबन्दियाँ ही उसे ऐसा करने से रोकती हैं । प्रायः सभी स्वतन्त्र तथा प्रजातन्त्रात्मक देशों में संविधान की सुरक्षा के लिए न्यायालयों की स्थापना की जाती है । ये न्यायालय सरकार के कार्यों की भी उसी प्रकार परीक्षा करते हैं जैसे साधारण नागरिकों के । यही न्यायालय व्यक्ति की स्वतन्त्रता की गारण्टी के रूप में कार्य करते है ।

साधारण कानून नागरिकों की स्वतन्त्रता को दूसरों के आक्रमण से बचाता है । जब तक समाज में साधारण कानून की सुरक्षात्मक शक्ति न हो व्यक्ति अपने आपको सुरक्षित नही समझ सकता । राज्य यदि चोरी, डाका तथा हत्या का निषेध करता है, तो वह हमारी स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करता, ऐसा करने से वस्तुतः राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता अनुभूति के लिए उचित परिस्थतियों की रचना करता है। इस रूप में कानून तथा स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी नहीं बल्कि एक दूसरे के लिए पूरक है ।

इसी प्रकार साधारण कानून शिक्षा की व्यवस्था करता है, कारखानों में काम-काज के घन्टे बान्धता है, मजदूरों तथा नागरिको के निवास-स्थानों की सफाई का प्रबन्ध करता है, दवा-दारू की व्यवस्था भी की जाती है । इस रूप में कानून व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों की रचना करता है । ऐसे नियम उसके नैतिक तथा मानसिक विकास के लिए लाजमी है । इस रूप में कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता के रूप को विकसित करता हुआ उसके पोषण की व्यवस्था करता है । क्या प्रारम्भिक शिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक है ? इसी प्रकार क्या श्रम-नियन्त्रण सम्बन्धी कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करते है ? प्रो० लॉस्की के शब्दों में हम कह सकते है कि **"जहाँ कहीं आचरण के लिए कुछ दिशाओं का निषेध सामान्य हित के लिए आवश्यक हो, वहाँ उन्हें अनियन्त्रित आचरण के क्षेत्र से हटा देना स्वतन्त्रता पर आक्रमण नहीं माना जाएगा ।"**

राज्य कानून का पालन करवाता है । राज्य की अवस्थिति इस बात की गारण्टी है कि कोई भी व्यक्ति कानून को अपने हाथ में न ले और आपसी झगड़ों का वैधानिक साधनों को छोड़ हिंसात्मक साधनों से निपटारा न करे । प्रजातन्त्र के अन्तर्गत तो कानून व्यक्ति की सहमति पर आधारित होते हैं, उनका निषेधात्मक रूप अधिक दुःखकर हो ही नही सकता ।

आधुनिक राज्य में स्वतन्त्रता की क्या स्थिति है ? कभी-कभी यह प्रश्न भी पूछा जाता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज वैयक्तिक स्वतन्त्रता के उसी नकारात्मक स्वरूप को स्वीकार नहीं किया जाता जिसे कि १८वीं तथा १९वीं सदी में माना जाता था । आज वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अर्थ सब प्रकार के हस्तक्षेप की अनु-

परिस्थिति नहीं । अब हम उसके सक्रिय रूप को स्वीकार करते हैं और यह समझते हैं कि स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति के नैतिक तथा भौतिक विकास के लिए आवश्यक समान अवसरों की उपस्थिति है। इसी कारण समाजवादी विचारक आर्थिक तथा सामाजिक जीवन के राजकीय नियन्त्रण का समर्थन करते हैं । उनका कथन है कि राज्य को प्रत्येक नागरिक के लिए, उसके व्यक्तित्व-विकास के लिए, आवश्यक परिस्थितियों की रचना करनी चाहिए । ऐसी अवस्था में राज्य के कार्यों की अभिवृद्धि हो गई है और इसके साथ ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर लगायी गयी जाति पांति, लिंग, रंग तथा धर्म से सम्बन्धित पाबन्दियाँ खत्म हो गई हैं । समाजवाद के विकास के फलस्वरूप शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सांस्कृतिक विकास सम्बन्धी जरूरी अवसरों की उपस्थिति भी आगे से अधिक विस्तृत परिमाण में प्राप्त होने लगी है।

परन्तु आधुनिक राज्यों में वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए एक अन्य खतरा उत्पन्न हो गया है। आधुनिक काल में आर्थिक जीवन कुछ इतना जटिल हो गया है कि राज्य इस द्वारा उसका नियन्त्रण परम आवश्यक समझा जाने लगा है। फलस्वरूप सरकार के कार्यों की वृद्धि हो गई है और राजकीय शक्ति का केन्द्रीकरण हो रहा है। राज्य न केवल आर्थिक अपितु हमारे सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों का भी व्यापक नियन्त्रण करने लग गया है । इधर राजकीय शासनतन्त्र की मशीनरी के कार्य को समझ सकना साधारण नागरिक के लिए सम्भव नहीं । राज्य शासन का संचालन एक विशेष दक्षतापूर्ण कार्य समझा जाने लगा है। साधारण लोगों के पास न तो इतना समय ही है और न वे इतने शिक्षित ही हैं कि वे राजनीति जीवन की समस्याओं को समझ सके । ऐसी अवस्था में राज्य शासन के संचलन में उनका सक्रिय भाग नहीं रह पाता। प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में भी राज्य-शक्ति का नियन्त्रण राजनीतिक दलों तथा पेशेवर राजनीतिज्ञों के हाथ में आ गया है । जन-साधारण एक विवश प्रेक्षक (Observer) मात्र बन गया है । वह अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता के प्रति उदासीन हो गया है, राज्य-शासन संचालन में उसकी उपयोगिता घट गई है।

इधर बार-बार के युद्धों के फलस्वरूप सरकारों में तानाशाही की प्रवृत्ति का विकास हो रहा है। दिन-प्रतिदिन ऐसे कानून बना रहे हैं जिनसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता का क्षेत्र सीमित होता जाता है। सीली के इस कथन में पर्याप्त सत्याश है कि **"स्वतन्त्रता अतिशासन का विपर्यायवाची है।"**[1]

अतः आज वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए और व्यक्तियों की राजनीतिक जीवन में सक्रिय हिस्सेदार बनाने के लिए कुछ विशेष सुझाव दिये जाते हैं। इन सुझावों का विस्तृत विवेचन तो हम आगे चलकर करेंगे, यहाँ हमें एक बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए, वह यह है कि राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीकरण वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए घातक है । क्योंकि इसका केन्द्रीकरण सदा ही तानाशाही प्रवृत्ति को जन्म देता है । फिर राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण के

1. "Liberty is the opposite of over government."—*Seeley*

फलस्वरूप ही साधारण नागरिक राज्य-शासन के संचालन में भाग ले सकता है।

अन्त में हमें एक बात और स्पष्ट कर देनी चाहिए कि राज्य द्वारा निर्धारित सभी कानून वैयक्तिक स्वतन्त्रता के हित में नहीं होते। वस्तुतः प्रत्येक ऐसे प्रश्न की गुण-दोष परक समीक्षा होनी चाहिए। साथ ही हमें उनकी जनक तत्कालीन राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का भी ध्यान रखना चाहिए। अनेक ऐसे कानून बनाए जा सकते हैं जो वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए ठीक नहीं रहते। उनकी उपस्थिति व्यक्ति के नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के विकास में बाधक होती है। ऐसे कानूनों का शान्तिपूर्ण साधनों से विरोध किया जा सकता है, और उन्हें बदलवाया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक नागरिक का यह एक पुनीत कर्त्तव्य है कि वह कानून का पालन करे, परन्तु इसके साथ ही उसका यह एक उच्चतर नैतिक कर्त्तव्य है कि वह उन सभी कानूनों का शान्तिपूर्ण ढंग से विरोध भी करे जो उसकी स्वतन्त्रता के घातक हैं और जो उसके नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के विरोधी हैं। आज के युग में व्यक्ति की राजनीतिक सजगता ही उसे शासनतन्त्र की तानाशाही से बचा सकती है।

स्वतन्त्रता के स्वरूप को समझने के लिए हमें नीचे लिखी बातें याद रखनी चाहिएँ—

(१) स्वतन्त्रता का अर्थ पाबन्दियों की अनुपस्थिति नहीं। स्वतन्त्रता के उपभोग की पहली शर्त कानून की उपस्थिति है। इनकी अनुपस्थिति में स्वतन्त्रता उच्छृंखलता बन जाती है।

(२) स्वतन्त्रता का स्वरूप रचनात्मक है। उसका उद्देश्य ऐसे अवसरों की उपस्थिति है जो कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए परम आवश्यक हैं।

(३) राज्य-सत्ता तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में विरोध नहीं, राज्य ही हमारे व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों का रचयिता है।

१५७. स्वतन्त्रता के विभिन्न प्रकार (Various forms of liberty)

राजनीति शास्त्र में 'स्वतन्त्रता' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है, इन्हें ही हम स्वतन्त्रता के विभिन्न प्रकार कहते हैं। विभिन्न विचारकों ने स्वतन्त्रता के प्रकार निम्नलिखित रूप से रखे हैं।

(१) प्राकृतिक स्वतन्त्रता (Natural liberty); (२) नागरिक स्वतन्त्रता (Civil liberty); (३) राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political liberty); (४) आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic liberty); (५) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (National liberty); (६) वैयक्तिक स्वतन्त्रता (Individual liberty); नीचे हम इन सभी का विवेचन करेंगे।

(१) प्राकृतिक स्वतन्त्रता (Natural liberty) राजनीति शास्त्र में प्राकृविक स्वतन्त्रता की धारणा प्राकृतिक अधिकार तथा प्राकृतिक विधान से सम्बन्धित है। ये सभी धारणाएँ किसी न किसी रूप में राजनीति शास्त्र के इतिहास में मिल

जाती है। परन्तु इन धारणाओं का गम्भीर विश्लेषण संविदावाद के समर्थकों ने किया है, संविदावाद के समर्थकों का कथन है कि राज्य का समाज के जन्म से पहले जिस अवस्था की स्थिति थी वह प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) थी और उसमें व्यक्ति जिस स्वतन्त्रता का उपभोग करता था वह प्राकृतिक स्वतन्त्रता थी। हॉब्स लॉक तथा रूसो, इन तीनों ने प्राकृतिक स्वतन्त्रता विषयक विभिन्न धारणाओं का विवेचन किया है। परन्तु इन तीनों की धारणाओं में मेल नहीं। रूसो का कथन है कि मनुष्य वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग तो प्राकृतिक अवस्था में ही करता रहा है, समाज के अन्तर्गत उसकी स्वतन्त्रता सीमित हो गई और उस पर अनेक प्रकार की पाबन्दियाँ लग गई। वह शुरू-शुरू में समाज को वैयक्तिक स्वतन्त्रता का शत्रु समझता रहा है, तभी तो उसने कहा था कि "पैदा होने पर तो मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र होता है, परन्तु बाद में वह सर्वत्र ही बन्धनों में जकड़ा हुआ पाया जाता है।" इसी प्रकार कुछ अन्य विचारकों ने भी सामाजिक स्वतन्त्रता के विपरीत प्राकृतिक स्वतन्त्रता को रखा है और सामाजिक स्वतन्त्रता को अप्राकृतिक तथा बनावटी (Artificial) माना। प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में मनुष्य को अबाध स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

आज प्राकृतिक स्वतन्त्रता की इस प्रकार की धारणा को ठीक नहीं समझा जाता। स्वतन्त्रता समाज की देन है। अबाध स्वतन्त्रता तो जंगल में ही प्राप्त हो सकती है। सामाजिक जीवन में तो पाबन्दियों का होना लाजमी है। इन पाबन्दियों की अनुपस्थिति में कमजोर लोगों के अधिकार और उनकी स्वतन्त्रता सदा बलवानों की दया पर आश्रित होगे।

यह कहना भी गलत है कि समाज में पाई जाने वाली स्वतन्त्रता बनावटी तथा अप्राकृतिक है। समाज तो मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति का फल है, समाज से बाहर स्वतन्त्रता नहीं उच्छृंखलता ही प्राप्त हो सकती है। स्वतन्त्रता का आधार अधिकार है, अधिकार सामाजिक जीवन के फल हैं। इन अधिकारों की प्राप्ति भी राज्य की सहायता से ही सम्भव है, अतः जब तक स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए राज्य की सत्ता न हो तब तक स्वतन्त्रता का उपभोग ही किस प्रकार सम्भव है?

यदि 'प्राकृतिक स्वतन्त्रता' से हमारा मतलब आदर्श स्वतन्त्रता से है, जो कि मानवीय जीवन के विकास के लिए आवश्यक है और उस स्वतन्त्रता से नहीं जिसका उपभोग मनुष्य ने किसी कल्पित प्राकृतिक अवस्था में किया है, तो यह धारणा सर्वथा निर्दोष कही जा सकती है।

(२) **नागरिक स्वतन्त्रता** (Civil liberty)—समाज में प्राप्य राज्य द्वारा संरक्षित स्वतन्त्रता का नाम ही नागरिक स्वतन्त्रता है। यह सामाजिक जीवन का फल है, इसकी रचना कानून द्वारा होती है और इसका आधार नागरिक या सामाजिक अधिकार हैं। हम ऊपर लिख आए हैं कि अमर्यादित स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृंखलता है और उसका उपभोग समाज में सम्भव नहीं। राज्य कानून बनाकर प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र की सीमा बान्ध देता है, इसी सीमा के अन्तर्गत ही

प्रत्येक नागरिक अपने अधिकारों का उपभोग करता हुआ स्वतन्त्रता की अनुभूति करता है। प्राय: सभी प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में नागरिकों के अधिकारों को संविधान द्वारा सुरक्षित कर दिया जाता है और सरकार की शक्तियों पर पाबन्दियाँ लगा दी जाती हैं। जब कभी सरकार इन अधिकारों को कुचलने का यत्न करती है तभी न्यायालय उनके कार्यों को गैर-कानूनी करार दे देते हैं।

नागरिक स्वतन्त्रता वैयक्तिक स्वतन्त्रता का आधार है और सामाजिक जीवन के स्वस्थ विकास की आवश्यक शर्त है। इसके अभाव में सरकार अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर सकती है और उसका शासन संचालन अत्याचार पूर्ण बन जाता है। नागरिक स्वतन्त्रता के आधार निम्नलिखित अधिकार है—वैयक्तिक जीवन की सुरक्षा का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार, भाषण तथा लेखन की स्वतन्त्रता का अधिकार, कानून के सम्मुख समता का अधिकार, आर्थिक स्वतन्त्रता का अधिकार, व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता तथा शिक्षा इत्यादि के अधिकार।

फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत इत्यादि राज्यों में इन अधिकारों की संवैधानिक घोषणाएँ की गई हैं और इनका पालन न्यायालय द्वारा करवाया जाता है।

सरकार साधारण कानून बनाकर वैयक्तिक अधिकारों को अन्य नागरिकों तथा नागरिक संघों के आक्रमण से भी बचाती है। साधारण कानून के बल पर ही प्रत्येक नागरिक जब कभी कोई उसके अधिकार पर आक्रमण करता है तो उसे राज्य द्वारा सजा दिलवा सकता है।

(३) **राजनीतिक स्वतन्त्रता** (Political liberty)—राजनीतिक स्वतन्त्रता के अभाव में नागरिक स्वतन्त्रता सदा असुरक्षित रहती है, क्योंकि राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यक्ति को राज्य-शासन के संचालन में सक्रिय हिस्सेदार बनाती है। जब कभी राज्य शासन के चलाने की जिम्मेदारी किसी अन्य वर्ग के हाथ में होती है तो वह अपनी इच्छानुसार कानून बना सकता है और उनका पालन करवा सकता है। ब्रिटिश शासन के दिनों में भारत में नागरिक स्वतन्त्रता की सत्ता सदा ही खतरे में रहती थी।

राज्य शासन के संचालन में नागरिक के सक्रिय भाग को ही राजनीतिक स्वतन्त्रता कहा जाता है, राजनीतिक स्वतन्त्रता का आधार भी राजनीतिक अधिकारों का उपभोग है। राजनीतिक अधिकारों के अन्तर्गत वोट देने का अधिकार, विधान-मण्डलों के सदस्य बनने का अधिकार, चुनाव लड़ने का अधिकार सरकारी पदों पर काम करने का अधिकार तथा राज्य के संरक्षण को प्राप्त करने के अधिकार इत्यादि आ जाते हैं।

राजनीतिक स्वतन्त्रता सभी को प्राप्त नहीं होती, क्योंकि राजनीतिक अधिकारों के उपभोग से पागल, बच्चे, अपराधी तथा विदेशी इत्यादि वंचित रखे जाते हैं।

राजनीतिक स्वतन्त्रता का आज के युग में विशेष महत्त्व है। प्रो० हॉब हाऊस

इन शब्दों में पर्याप्त सत्य है कि शासकों तथा विधान पालिकाओं के जनता के प्रति जिम्मेवार होने से ही सभी प्रकार के अधिकार सुरक्षित रह सकते हैं । राजनीतिक स्वतन्त्रता का अर्थ राज्य शासन का प्रजातन्त्रात्मक रूप है । प्रजातन्त्र ही सभी नागरिकों को राज्य-शासन के संचालन में समान हिस्सेदार के रूप में स्वीकार करता है ।

मानवीय समाज को राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए बहुत से संघर्षों में से गुजरना पड़ा है और अनेक बलिदान करने पड़े हैं । पुराने समय में राज्य-शासन संचालन का अधिकार कहीं भी जनसमान्य को प्राप्त नही था । ग्रीस में प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था थी परन्तु वोट देने का अधिकार एक निश्चित वर्ग के लोगों को ही था । रोम में भी यही स्थिति थी । मध्ययुग में तो राजनीतिक शक्ति सामन्तों तथा सरदारों के हाथ में केन्द्रित हो गई । राष्ट्रीय राज्यों के विकास के अनन्तर जिन राजतन्त्रों का विकास हुआ उनमें जनता को शासन संचालन में हिस्सेदार बनाने का सवाल ही नहीं उठता था । राजनीतिक स्वतन्त्रता की आवाज बाल्तेयर, लॉक तथा रूसो ने उठाई । फ्रेंच क्रान्ति के अनन्तर तो राजनीतिक स्वतन्त्रता की मांग सभी जगह की जाने लगी । आज सभी प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में जनसामान्य को वोट देने, शासन नीति की आलोचना करने विधानपालिकाओं के सदस्य बनने तथा सरकारी पदों पर काम करने के अधिकार प्राप्त हैं । प्रो० लॉस्की का कथन है कि राजनीतिक स्वतन्त्रा की वास्तविक अनुभूति कुछ विशेष शर्तों के अधीन ही सम्भव है । प्रथम तो जन-साधारण को एक दूसरे के विचारों को समझने और एक दूसरे तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिए पर्याप्त शिक्षित होना चाहिए । परन्तु वर्तमान काल की शिक्षा पद्धति साधारण नागरिकों में ऊँच-नीच की भावना को उत्पन्न करती है । दूसरी शर्त सच्चाई तथा ईमानदारी के साथ समाचार पत्रों के प्रकाशन की व्यवस्था है, क्योंकि राजनीतिक स्वतन्त्रता का आधार तो विचार स्वातन्त्र्य है ।

राजनीतिक स्वतन्त्रता को एक साधन के रूप में ही इस्तेमाल में लाना चाहिए उसे अपने आप में साध्य नहीं मानना चाहिए । उसका उद्देश्य मानवीय जीवन की नैतिक पूर्णता की प्राप्ति है । अतः राजनीतिक स्वतन्त्रता की पूर्ति के लिए आर्थिक तथा नैतिक स्वतन्त्रता की उपस्थिति लाजमी है ।

(४) **आर्थिक स्वतन्त्रता** (Economic liberty)—इन दिनों यह अनुभव किया जाने लगा है कि केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता किसी समस्या का समाधान उपस्थित नही करती, यह एक पक्षीय हल है । वोट देने का अधिकार नागरिक को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नही बना देता । १९वी सदी में राजनीतिक विचारकों का यह विचार था कि राजनीतिक स्वतन्त्रता की स्थापना के अनन्तर सभी झगड़े खत्म हो जायँगे । परन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया जाने लगा कि राजनीतिक शक्ति से भी बड़ी शक्ति धन की शक्ति है । सभी जगह धनी मानी लोग जन-साधारण के वोट खरीद विधानपालिकाओं में पहुँच अपनी मर्जी के मुताबिक कानून बनाने लगे । जहाँ कहीं अन्य पूँजीपति वर्ग विधानपालिकाओं में अपने प्रतिनिधि न भेज सका वहाँ अन्य अप्रत्यक्ष साधनों से कानून निर्माताओं को प्रभावित किया गया । मार्क्स के इस कथन

में पर्याप्त सत्य है कि जिन लोगों के हाथ में आर्थिक शक्ति होती है वही राजनीतिक शक्ति का नियन्त्रण करने है । राजनीतिक स्वतन्त्रता जिन अधिकारों को देती है, आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव में उन्हें व्यर्थ बनाया जा सकता है, और बनाया जाता है । यही कारण है कि आधुनिक युग के प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक कोल (Cole) ने कहा है कि आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता स्वप्न मात्र है ।

आर्थिक स्वतन्त्रता से हमारा मतलब सभी नागरिकों को आर्थिक क्षेत्र में समान उन्नति करने के समान अवसर की प्राप्ति से है । समाज का आर्थिक संगठन इस प्रकार का हो कि जिसमें शोषण की सम्भावना ही न रहे और प्रत्येक व्यक्ति की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो । आर्थिक स्वतन्त्रता से हमारा मतलब १९वीं सदी के व्यक्तिवादियों द्वारा समर्थित व्यापारिक स्वतन्त्रता से नहीं । आर्थिक स्वतन्त्रता की अनुभूति तभी सम्भव है जब कि या तो हम कुछ विशेष आर्थिक अधिकारों को स्वीकार करें या फिर जीवन के अधिकार की विस्तृत तथा व्यापक व्याख्या करें । जीवन के अधिकार से हमारा मतलब केवल चोर डाकुओं तथा हत्यारों से जीवन रक्षा ही नहीं । जीवन के अधिकार का अर्थ है—मानपूर्वक जीवन यापन । वह तभी सम्भव है जब कि मनुष्य को काम करने, उचित पारिश्रमिक मिलने तथा विश्राम इत्यादि के अधिकारों की प्राप्ति हो । जो मनुष्य हर समय भूख, बेकारी या आर्थिक कठिनाइयों से परेशान रहे वह न तो अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता का ही उपभोग कर सकता है और न अपने जीवन के अधिकार का ही । बेकारी तथा आर्थिक तंगी का भय मनुष्य की सभी शक्तियों को कुण्ठित कर देता है । अतः राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति के काम करने तथा जीविकोपार्जन के अधिकार को स्वीकार करे और उनकी पूर्णता के लिए यथोचित व्यवस्था करे । प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिश्रम का उचित फल भी मिलना चाहिए ।

अतः समाज में आर्थिक शक्ति के असन्तुलित बँटवारे के फलस्वरूप राजनीतिक स्वतन्त्रता का जो अपहरण किया जा सकता था वह आर्थिक असमानता के खत्म किए जाने से असम्भव हो जायगा । राज्य को पूंजी के उत्पादन तथा वितरण के साधनों पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना चाहिए, ऐसी अवस्था में ही जन-साधारण के आधारभूत अधिकारों का उपभोग किसी एक व्यक्ति की दया पर आश्रित नहीं रहेगा और प्रत्येक व्यक्ति वास्तविक स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकेगा । दूसरे शब्दों में समाजवाद की स्थापना ही राजनीतिक स्वतन्त्रता को वास्तविकता का रूप दे सकती है ।

(५) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (National liberty)--हम पीछे लिख चुके है कि राष्ट्रीयता आज के राज्यों के संगठन का आधार है । आज हम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अर्थ यह करते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र का अपना राज्य हो, दूसरे शब्दों में किसी भी राष्ट्र पर अन्य राज्य का नियन्त्रण न हो, वह पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य हो । राष्ट्रीय स्वतन्त्रता पर ही राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा नागरिक स्वतन्त्रता आश्रित हैं ।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन का जोरदार प्रचलन फ्रेंच क्रान्ति के अनन्तर

हुआ। प्रायः सभी छोटी-छोटी राष्ट्रीय इकाइयों ने अपने आपको राज्य रूप में संगठित करने के प्रयत्न किए। प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर यूरोप का पुनःसंगठन राष्ट्रीय आत्म निर्णय (National Self-determination) के आधार पर किया गया था। द्वितीय विश्व युद्ध के अनन्तर राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को एशिया के पराधीन देशों पर भी लागू करना पड़ा, फलतः भारत, पाकिस्तान, लंका, बर्मा तथा इण्डोनेशिया इत्यादि नवीन राज्यों का उदय हुआ। कभी-कभी राष्ट्रीयता की भावनाएँ सीमा का प्रतिकरण कर जाती हैं जिसका परिणाम साम्राज्यवादी युद्ध होते है।

(६) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता** (Individual liberty)—वैसे तो वैयक्तिक स्वतन्त्रता को नागरिक स्वतन्त्रता का ही हिस्सा माना जाता है, परन्तु सामाजिक जीवन में इसका विशेष महत्त्व है, अतः यहाँ हम इसका पृथक् विवेचन भी कर रहे है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता से हमारा अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार अपने जीवन के सहज विकास का अधिकार होना चाहिए। प्रो० लॉस्की के मतानुसार वैयक्तिक स्वतन्त्रता का यह मतलब है कि कोई व्यक्ति अपने जीवन के उन क्षेत्रों में अपनी इच्छानुसार चलने का यत्न करे जिसका प्रभाव उसी तक सीमित रहे।। वस्तुतः व्यक्तिगत विषय, खान-पान, रहन-सहन, पूजा-पाठ इत्यादि में मनुष्य का आचरण राज्य के नियन्त्रण में नहीं रहना चाहिए। मनुष्य क्या पहने क्या खाए, कब सोए और कब जागे, किस प्रकार से पूजा-पाठ करे, किन वस्तुओं से आमोद-प्रमोद करे, यह सभी विषय व्यक्तिवत रुचि के हैं, इसके सरकार का कोई सम्बन्ध नहीं। वर्तमान युग में धर्म की स्वतन्त्रता को वैयक्तिक स्वतन्त्रता का ही भाग माना जाता है। धर्म व्यक्तिगत विषय है, प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह अपनी इच्छानुसार अपने धर्म का अनुसरण कर सके। जब कभी राज्य किसी विशेष धर्म के अनुयायी को विशेष सुविधाएँ देता है तो वस्तुतः व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दमन करता है। धार्मिक आधार पर किया गया विभेद पक्षपात पूर्ण है तथा सरासर अन्याय है।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अर्थ शासन तथा कानून की अनुपस्थिति नही। कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता को भले ही नियन्त्रण करते हों परन्तु वे उसे सभी के लिए समान रूप से सुलभ बना देते हैं। मिल (Mill) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था। उसका कथन है कि व्यक्ति के व्यवहार क्षेत्र को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है (१) व्यक्तिपरक तथा (२) समाजपरक। जहाँ तक व्यक्तिपरक व्यवहार का क्षेत्र है, राज्य को उनमें किसी प्रकार का भी दखल नहीं देना चाहिए, उस अवस्था में भी नहीं जब कि उससे व्यक्ति को स्वयं नुक्सान पहुँचाता हो। हाँ, समाज से सम्बन्धित व्यवहार क्षेत्र में तो राज्य को दखल देने का अधिकार है। परन्तु मिल के वैयक्तिक व्यवहार के इस विभाजन का व्यावहारिक प्रयोग अत्यन्त कठिन है। वैयक्ति व्यवहार का कौन-सा ऐसा क्षेत्र है जोकि केवल उसी से सम्बन्धित है? खान-पान का सम्बन्ध व्यक्ति से ही है, परन्तु फिर भी उसका नियन्त्रण राज्य द्वारा कभी-कभी जरूरी हो जाता है। धार्मिक मेलों में जब बहुत से लोग इकट्ठे होते हैं उस समय बीमारियाँ न फैलें इस डर से बहुत से खाद्य पदार्थों का निषेध कर दिया जाता

है। वस्त्र पहनने का भी एक वैयक्तिक विषय है, कुछ व्यक्ति नंगा ही रहना पसन्द कर सकते हैं, और कुछ स्त्री-पुरुष ऐसे वस्त्र पहनने पर उतारू हो सकते हैं जिससे उनके अंग प्रत्यंग नंगे होने लगे। ऐसी बातें सामाजिक नैतिकता के विरुद्ध होती हैं, और राज्य को उनका नियन्त्रण करना ही पड़ता है। साहित्य का पढ़ना-पढ़ाना व्यक्तिगत विषय है, परन्तु सभी जगह गन्दे तथा अश्लील साहित्य के प्रकाशन तथा प्रचार की रोक-थाम सरकार द्वारा की जाती है। आज के जीवन में कह सकना अत्यन्त कठिन है कि कौन-सा विशेष कार्य वैयक्तिक जीवन से ही सम्बन्धित है ?

मिल ने जब वैयक्तिक व्यवहार क्षेत्र को दो हिस्सों में बाँटा था तो निश्चय ही उसका यह मतलब कभी नहीं था कि इस विभाजन का व्यवहार रूप में कठोर पालन किया जाय। उसका उद्देश्य अति-शासन (Over government) की निन्दा था। वह वैयक्तिक स्वतन्त्र्य के एक ऐसे क्षेत्र की ओर संकेत करता है कि जिस में राज्य को अनुचित रूप से दखल नहीं देना चाहिए।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत ही हम नैतिक स्वतन्त्रता को भी शामिल कर सकते हैं। नैतिक स्वतन्त्रता मनुष्य जीवन के समुचित विकास के लिए परम आवश्यक है। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की रचना में एक ऐसे ज्ञान सम्पन्न शासक वर्ग की कल्पना की थी जो कि नैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र तथा उच्च हो। ज्ञान का आधार नैतिक है। प्लेटो यह मानता था कि जब तक शासक वर्ग साधारण जीवन के लोभ-लालच से ऊपर नहीं उठते, जब तक वह अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण नही स्थापित कर पाते तब तक कोई भी शासनतन्त्र बुराइयों से पूरी तरह से छुटकारा नही पा सकता। आज के प्रजातन्त्रात्मक युग में राज्य का स्वरूप उनके भीतर रहने वाले नागरिकों के चरित्र का ही प्रतिपालन होता है। एक श्रेष्ठ राजनीतिक संगठन की स्थापना के लिए नागरिकों का चारित्रिक तथा नैतिक दृष्टि से उच्च होना लाजमी है। नैतिक स्वतन्त्रता से हमारा मतलब यही है कि नागरिकों को स्वतन्त्र विचारों वाले निडर, सहसी, निर्लोभी, समाज सेवी तथा चरित्रवान होना चाहिए। हम पहले कह चुके हैं कि राज्य का एक नैतिक उद्देश्य है, उसे यह प्रयत्न करना है कि वह ऐसे वातावरण का निर्माण करे कि जिसमें नागरिक चरित्र के उच्च नैतिक गुणों को पूरी तरह से विकसित कर सकें।

१५८. स्वतन्त्रता के आवश्यक संरक्षण (Safeguards of liberty)

राज्य हमारी स्वतन्त्रता का पोषक तथा संरक्षक है, इस बात से हम इनकार नहीं कर सकते। परन्तु राज्य के अन्तर्गत रहते हुए भी कुछेक आवश्यक परिस्थितियों की उपस्थिति स्वतन्त्रता के संरक्षन के लिए लाजमी है। नीचे हम उन्हीं का जिक्र करेंगे—

(१) प्रजातन्त्र का तथा स्वतन्त्रता का विशेष जोड़ है। शासन के अन्य सभी प्रकारों के अधीन स्वतन्त्रता असुरक्षित रहती है। प्रजातन्त्र में नागरिक स्वतन्त्रता तथा अधिकारों का जल्दी ही अपहरण नहीं किया जा सकता। परन्तु प्रजातन्त्र भी

स्वतन्त्रता की सुरक्षा में असफल हो सकता है, अगर राज्य में ऊँच-नीच तथा विशिष्ट अधिकार सम्पन्न वर्ग की उपस्थिति हो । जहाँ कहीं सभी नागरिक समान रूप से अधिकारों का उपभोग नहीं करते और धर्म, जाति या रंग के आधार पर राजनीतिक शक्ति का वितरण किया जाता है, वहाँ स्वतन्त्रता की अवस्थिति असम्भव हो जाती है, जन-साधारण में आत्मविश्वास नहीं रह पाता, वह अपने आपको शासन चलाने के अर्थ अनुपयुक्त समझने लग जाते हैं । इस तरह की भावना का व्यापक प्रसार जनता में असन्तोष को जन्म देता है ।

(२) स्वतन्त्रता की उपस्थिति के लिए राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है । हम पहले लिख चुके हैं कि शक्ति का केन्द्रीकरण सदा ही तानाशाही और उत्तरदायित्व विहीन शासन को जन्म देता है । अतः प्रत्येक राज्य में स्वायत्त शासन की संस्थाओं (Local self-goevrning institutions) को विकसित किया जाना चाहिए । वे न केवल राज्य-शक्ति के विकेन्द्रीकरण में ही सहायक होगी बल्कि जन-साधारण को राजनीतिक दृष्टि से अधिक-से-अधिक शिक्षित भी करेंगी ।

(३) जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि कानून हमारी स्वतन्त्रता का शत्रु नहीं अपितु संरक्षक है । कानून की उपस्थिति स्वतन्त्रता की समान अनुभूति के किए जरूरी है । परन्तु यह कहना भी गलत होगा कि सभी कानून स्वतन्त्रता के पोषक तथा संवर्द्धक होते हे । आजकल कानूनों को वर्गगत स्वार्थ रक्षा के लिए भी बनाया जा सकता है, और ऐसे कानून भी बनाए जा सकते है कि जो कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में बाधक हों । वस्तुतः स्वतन्त्रता का मूल्य जन-सामान्य की निरन्तर सजगता तथा जागरूकता ही है । जन-सामान्य को सदा अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए सजग तथा सावधान रहना चाहिए । प्रत्येक राज्य में स्वनन्त्रता की समान अनुभूति के लिए अधिकारों की व्यवस्था रहनी चाहिए । अधिकारों से स्वतन्त्रता का जन्म होता है ।

(४) स्वतन्त्रता की अनुभूति के लिए गम्भीर आर्थिक भेद-भाव की समाप्ति की जानी चाहिए । जहाँ समाज में बहुसंख्यक लोगों को भूख-बीमारी तथा अशिक्षा इत्यादि का शिकार होना पड़े या जहाँ उनकी जीविका का अधिकार कुछ लोगों की मर्जी पर आश्रित हो वहाँ स्वतन्त्रता की अनुभूति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्वतन्त्रा की वास्तविक अनुभूति के लिए राज्य को आर्थिक समानता की स्थापना का प्रयत्न करना चाहिए ।

(५) स्वतन्त्रता की सुरक्षा की एक बड़ी शर्त न्यायालयों की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता भी है । हम पीछे देख चुके हैं कि न्यायालयों की स्वतन्त्रता के लिए न्यायाधीशों के वेतन, उनके कार्यकाल तथा उनकी अन्य सुविधाओं की रक्षा की पूरी-पूरी देख-भाल की जानी चाहिए । उन्हें विधानपालिका के तथा कार्यपालिका के नियन्त्रण से यथा सम्भव मुक्त रखने की कोशिश की जानी चाहिए । न्यायालयों की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता की उपस्थिति में स्वतन्त्रता के अपहरण के बहुत कम अवसर आते हैं ।

(६) न्यायालयों की स्वतन्त्रता की एक बड़ी शर्त शक्तियों का विभाजन भी है। जब कभी न्यायपालिका शक्ति को कार्यपालिका या विधानपालिका के अधीन कर दिया जाता है तभी स्वतन्त्रता के खत्म होने का डर रहता है। इसी तरह इन तीनों शक्तियों के एक ही व्यक्ति के हाथ में केन्द्रीकरण का फल तानाशाही की स्थापना में होता है।

(७) आजकल प्रगतिशील राज्यों में व्यक्ति के अधिकारों की संवैधानिक घोषणा की जाती है और इस तरह यह कोशिश की जाती है कि नागरिकों को स्वतन्त्रता का एक ऐसा अधिकार दे दिया जाए जिस में सरकार आसानी से दखल न दे सके। अधिकारों की ऐसी घोषणा हाल ही में प्रजातन्त्रात्मक युग में की जाने लगी है। यह व्यवस्था पर्याप्त सन्तोषजनक है, क्योंकि इस द्वारा नागरिक अपने कुछ मूलभूत अधिकारों का बिना किसी भय के उपभोग कर सकते हैं। हमारे यहाँ संविधान में धार्मिक विचार प्रकट करने की तथा अन्य प्रकार की स्वतन्त्रताओं की संवैधानिक घोषणा की गयी है। इस व्यवस्था का पालन संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस में भी किया गया है। इन अधिकारों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व न्यायपालिका पर होता है।

(८) स्वतन्त्रता के संरक्षण के लिए स्वतन्त्र जनमत, स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष प्रेस और जनता का राजनीतिक शिक्षण आवश्यक है। इंग्लैण्ड में व्यक्ति के मूलभूत अधिकारों की घोषणा नहीं की गयी, तो भी जागरूक जनमत की अवस्थिति के फलस्वरूप इंग्लैण्ड के नागरिक अन्य देशों के नागरिकों से कहीं अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं।

१५९. समानता (Equailty)

प्रजातन्त्रात्मक युग की सर्वप्रिय धारणाओं में स्वतन्त्रता के साथ समानता भी आती है। समानता के सिद्धान्त का प्रचलन प्राचीनकाल के समाज में व्याप्त अतीव असमानता के प्रतिरोध में हुआ। प्राचीन समाज में बहुसंख्यक लोग जीवन की साधारण सुविधाओं से वन्चित थे, उन्हें अपनी प्रारम्भिक तथा मूलभूत आवश्यकताओं पर की पूर्ति की भी सुविधा प्राप्त नहीं थी, जब कि दूसरी ओर अल्पसंख्यक लोग धनसम्पन्न थे और वे सभी प्रकार की जीवन की सुख-सुविधाओं का उपभोग करते थे। प्रारम्भ से समाज में नागरिकों तथा गुलामों में, कुलीनों तथा साधारण लोगों में और उच्चवर्ग नथा नीचवर्ग वाले लोगों में भेद-भाव उपस्थित रहा है। पुराने ग्रीस के नगरराज्यों में जहाँ एक ओर दासों की बड़ी संख्या थी वहाँ दूसरी ओर सम्पत्तिशाली नागरिक लोगों का भी वर्ग था जोकि राजनीतिक सत्ता का संचालन करता था, यही अवस्था रोम तथा मध्यकालीन यूरोप में भी थी। वर्तमान युग के प्रारम्भ में भी अमीर-उमरा तथा जन-साधरण की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में बड़ा अन्तर रहा है। समानता के सिद्धान्त का जन्म विशेषाधिकार सम्पन्न वर्ग के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ।

शुरू-शुरू में 'प्राकृतिक समानना' (Natural equality) का सिद्धान्त सर्वप्रिय हुआ । यह माना गया कि प्रकृति या ईश्वर सभी को समान बनाते हैं, जन्म के समय सभी बराबर होते हैं । आज हम मानव.समाज में जिन भेदों को पाते हैं, वे ईश्वर की रचना नहीं बल्कि मनुष्य-रचित हैं । समाज में सभी को उन्नति के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए यदि ऐसा हो तो समाज में न कोई निर्धन रहे और न कोई विवेक-विहीन । वर्तमान समाज में पाया जाने वाला धनी तथा निर्धन का भेद मनुष्य रचित है, ईश्वर रचित नहीं । बहुत से लोग समानता का अर्थ सभी प्रकार की बराबरी मानते हैं । उनका कथन है कि समानता का अर्थ एक सा व्यवहार तथा एक समान आय का अधिकार है । इसी भावना से प्रेरित हो फ्रेंच क्रान्तिकारियों ने स्वतन्त्रता (Liberty) के साथ-साथ 'समानता' (Equality) का नारा भी बुलन्द किया था । फ्रेंच क्रान्ति का प्रभाव यूरोप में बहुत व्यापक रूप से पड़ा । फ्रांस के क्रान्तिकालीन संविधानों में जब मनुष्य के मूलभूत अधिकारों को मान्यता प्रदान की गयी तो उस समय समानता के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया । उस समय यह माना गया कि सभी व्यक्ति जन्म से ही स्वतन्त्र हैं, और सभी को समान अधिकार प्राप्त हैं । इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका के स्वाधीनता के घोषणापत्र में इस बात को एक अटल सत्य के रूप में स्वीकार किया गया कि इस विश्व के कर्त्ता ने सभी मनुष्यों को एक समान बनाया है ।

हम ऊपर लिख आए हैं कि पूर्ण समानता का सिद्धान्त पुराने समय के विशेषाधिकार सम्पन्न वर्ग के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप रचा गया । पूर्ण समानता (Absolute equality) सामाजिक जीवन में अकल्पनीय है । यह कहना भी गलत है कि सभी मनुष्य जन्म से ही समान होते हैं और सभी की एक प्रकार की ही क्षमताएँ हैं । प्राकृतिक दृष्टि से हम मनुष्यों में समानता की अपेक्षा भेद ही अधिक पायेंगे, प्रकृति तो मनुष्यों में व्यापक असमानता के बीज बो देती है । हम देखते हैं कि कुछ प्रकृत्या सुन्दर होते हैं और कुछ असुन्दर, कुछ बलवान होते हैं और कुछ निर्बल, कुछ प्रतिभावान तो कुछ मूर्ख । यह कहना गलत है कि प्रकृति सभी को समान प्रतिभा, बल तथा शक्ति प्रदान करती है, कहीं भी दो ऐसे मनुष्य नहीं मिल सकेंगे जो सभी प्रकार से समान हों ।

इस प्रकार असमानता तो प्रकृति की ही देन है, उसे दूर कैसे किया जा सकता है ? परन्तु समानता की ऐसी कोई भी धारणा जो प्राकृतिक असमानताओं को स्वीकार न करती हो, किसी प्रकार भी पूर्ण तथा तर्क संगत नहीं कही जा सकती । इस प्रकार की समानता का अर्थ तो मनुष्य में सब प्रकार की एकता होगा जिसकी प्राप्ति मानवीय समाज में असम्भव है । अतः असमानता का यह अर्थ नहीं कि सभी मनुष्य सभी प्रकार से बराबर हैं या बराबर बनाए जा सकते हैं । हम प्रकृति द्वारा रचित असमानता को कभी भुला नहीं सकते, परन्तु इसके साथ समाज में उपस्थित मनुष्य-मनुष्य में किए जा रहे भेदभाव की भी उपेक्षा नहीं कर सकते । **वस्तुतः समानता का अर्थ उपयुक्त अवसरों की प्राप्ति है** । मानवीय समाज में अवसरों

की प्राप्ति विषयक भेदभाव विवेक या बल की भिन्नता पर आधारित नहीं । विशेषाधिकार सम्पन्न वर्गों की उपस्थिति रहती है, और धर्म, जाति, वर्ण, रंग तथा सम्पत्ति के आधार पर विभिन्न सामाजिकों में भेदभाव किया जाता है, और सभी सामाजिकों को बिना भेदभाव के आत्मविकास के अवसर प्राप्त नहीं होते । इस प्रकार का भेदभाव तर्क संगत नहीं और न वह ईश्वर की देन है । यदि पाकिस्तान में हिन्दु नागरिक राष्ट्रपति नहीं बन सकता तो इसका अर्थ यह नहीं कि भगवान ने हिन्दुओं को राष्ट्रपति पद सम्भालने के आयोग्य बनाया है । इसी प्रकार यदि रंग, जाति या सम्पत्ति के आधार पर राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकारों का बंटवारा किया जाय और काले रंग के, छोटी जाति वाले तथा निर्धन लोगों को उन अधिकारों से वंचित किया जाय तो इसका अर्थ यह नहीं कि ऐसा भेदभाव दैवीय रचना है, यह तो मनुष्य रचित है। हमारे यहाँ सदियों तक हरिजनों पर अत्याचार किए गए और उन्हें शिक्षा प्राप्ति तक के अधिकारों से वंचित रखा गया । इस प्रकार अनेक प्रतिभावना गरीब लड़के केवल अपनी निर्धनता के कारण ही उच्चशिक्षा से वंचित रह जाते हैं, और धनियों के पुत्र मूर्ख होते हुए भी थोड़े बहुत शिक्षित हो अपार धन राशि के स्वामी बन जाते हैं। इस प्रकार उपयुक्त अवसरों की अप्राप्ति बहुसंख्यक लोगों को आत्मोन्नति का मौका ही नहीं देती । समाज में इस प्रकार की असमानता को खत्म करने का नाम ही समानता है, न कि प्रकृति या ईश्वर द्वारा पैदा की गई मनुष्य में पाई जाने वाली असामनताओं को ।

अतः समानता से हमारा मतलब यही है कि एक समाज में उत्पन्न होने वाले अमीर-गरीब सभी को आत्मोन्नति के उपयुक्त अवसरों की प्राप्ति हो । इस रूप में समानता का अर्थ यह है कि समाज में विशेषाधिकारों की व्यवस्था खत्म हो, लोगों में जाति-पाति, रंग, लिंग तथा धर्म इत्यादि के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाय, राजनीतिक सत्ता प्राप्ति में सभी को समान अधिकार हों, कानून के सम्मुख सभी बराबर हों और समाज के विभिन्न वर्गों में गहरा आर्थिक भेदभाव न हो ।

समानता के प्रकार (Types of equality)—समाज में रहने वाले नागरिक को आत्मोन्नति के लिए विभिन्न प्रकार के अवसरों की आवश्यकता होती है, इन्हें ही समानता के अनेक प्रकार कहते हैं। वर्तमान युग में समानता के निम्नलिखित प्रमुख प्रकार माने जाते हैं ।

१. नागरिक समानता (Civil equality)—हम पीछे देख चुके हैं नागरिकों को अनेक प्रकार के सामाजिक अधिकार प्राप्त हैं, इन्हीं अधिकारों के समान उपभोग का नाम ही नागरिक समानता है । सामाजिक अधिकारों के अन्तर्गत जीवन का अधिकार, वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, शिक्षा तथा संस्कृति सम्बन्धी अधिकार और भाषण की स्वतन्त्रता सम्बन्धी अनेक अधिकार आ जाते हैं । ये सभी अधिकार सभी नागरिकों को समान रूप से प्राप्त होने चाहिए ।

नागरिक समानता के अन्तर्गत वैधानिक समानता भी आजाती है, वैधानिक समानता का अर्थ है कि कानून की दृष्टि में सभी नागरिक एक समान हों । न्यायालय

कानून के आधार पर धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षत राजकर्मचारी या साधारण नागरिक में किसी प्रकार का भी भेदभाव न करे। वे सभी कानून की निगाह में एक समान माने जाएँ।

भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन में कानून के राज्य (Rule of law) की व्यवस्था है। इन सभी राज्यों में सभी नागरिक, चाहे उनकी राजनीतिक या सामाजिक स्थिति कुछ भी क्यों न हो, कानून की दृष्टि में समान होते हैं।

नागरिक समानता के अन्तर्गत हम धार्मिक समानता को भी ग्रहण करते हैं। जहाँ कहीं धर्म के नाम पर राज्य अपने नागरिकों में भेदभाव करता है, वहाँ नागरिक समानता खत्म हो जाती है। मध्ययुग में प्रायः सभी जगह धर्म के नाम पर अनेक भेदभाव किए जाते थे और अन्य धर्म के पालनकर्त्ताओं को राज्य किसी प्रकार की सुविधा नहीं देता था, बल्कि उन्हें अनेक नागरिक अधिकारों से वंचित रखता था। इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन, रूस तथा भारत इत्यादि सभी राज्यों में राज्य अपने नागरिकों में धर्म के आधार पर अधिकारों को बाँटता था। आज अवश्य ही धर्म-निरपेक्ष राज्यों का विकास हो रहा है, और उन राज्यों को पिछड़े हुए तथा अप्रगतिशील माना जाता है जहाँ धर्म के आधार पर लोगों में भेदभाव किया जाता है।

(२) **सामाजिक समानता** (Social eqality)—सामाजिक समानता के आदर्श की प्राप्ति बहुत कठिन है क्यों कि सामाजिक समानता का अर्थ है धर्म, सम्पत्ति, वर्ग, वर्ण तथा रंग और लिंग इत्यादि के आधार पर किए जाने वाले भेदभाव की अनुपस्थिति। आज के प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में भी इस प्रकार का भेदभाव किया जाता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व के पुराने प्रजातन्त्रवादी राज्यों में से है, तो भी वहाँ रंग के आधार पर समाज के विभिन्न वर्गों में भेदभाव किया जाता है। काली चमड़ी वाले नीग्रो लोग अमेरिकन समाज में गोरे लोगों के समान नहीं समझे जाते। हमारे यहाँ जाति व्यवस्था के फलस्वरूप ऊँच-नीच की व्यवस्था मौजूद है। हमारे समाज में बहुत अर्से से पर्याप्त संख्या वाले लोगों को अछूत समझा जाता रहा है। नए संविधान के अन्तर्गत इस व्यवस्था की समाप्ति की घोषणा की गई है और छूआछूत को गैरकानूनी करार दे दिया गया है, तो भी समाज में किसी-न-किसी रूप में अभी भी इसका प्रचलन है। हिन्दुओं के यहाँ अनेक जातियाँ तथा उपजातियाँ है जिनमें ऊँच-नीच की व्यवस्था मिलती है, उनमें आपस में लेन-देन तथा शादी-विवाह का कोई रिवाज नहीं।

मध्यकालीन यूरोप में पादरी तथा सामन्त वर्ग से सम्बन्धित लोगों की समाज में विशेष स्थिति होती थी, अब वहाँ धन के आधार पर सामाजिक पोज़ीशन को आँका जाता है।

सामाजिक समानता को केवल मात्र कानून से ही प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसके लिए शिक्षा व्यवस्था, नैतिक मानदण्ड तथा आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन की आवश्यकता है। सोवियत रूस ही शायद एक मात्र ऐसा राज्य है, जहाँ समाज में

जाति-पाति, धर्म रंग तथा लिंग इत्यादि के आधार पर समाज के विभिन्न वर्गों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जाता।

(३) **राजनीतिक समानता** (Political equality)—राज्य शासन के संचालन में सभी नागरिकों के समान अधिकार को राजनीतिक समानता कहा जाता है। पीछे हम राजनीतिक अधिकारों की चर्चा कर आए हैं और देख चुके हैं कि प्रत्येक नागरिक को वोट देने, सरकारी पद प्राप्त करने तथा विधानपालिका के सभासद चुने जाने के अधिकार होने चाहिए। इस विषय में किसी भी आधार पर नागरिकों में भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। अवश्य ही नाबालिग, पागल, विदेशी, अपराधी तथा दिवालिय को यह अधिकार प्राप्त नहीं होने चाहिए। पहले पहले धर्म, शिक्षा तथा सम्पत्ति इत्यादि के आधार पर इन अधिकारों के उपभोग की भेदभाव पूर्ण व्यवस्था रहती थी, अनेक स्थानों पर स्त्रियों को भी राजनीतिक अधिकार प्राप्त नही थे। परन्तु अब तो प्रायः सभी लोकतन्त्रात्मक देशों में राजनीतिक समानता की व्यवस्था की गई है। स्विट्ज़रलैण्ड में अभी भी स्त्रियों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नही।

राजनीतिक समानता के संरक्षण के लिए राज्य-शक्ति के विकेन्द्रीकरण, स्वायत्त शासन पूर्ण संस्थाओं के विकास, उच्च शिक्षा तथा जागरूक जनमत की आवश्यकता रहती है।

(४) **आर्थिक समानता** (Economice equality)—राजनीतिक तथा सामाजिक समानता का आधार आर्थिक समानता है, क्योंकि आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक शक्ति समाज के उसी वर्ग के हाथ में केन्द्रित हो जाएगी जोकि आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली होगा। आज के प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में सभी जगह विधानपालिकाओं में आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली वर्ग ने कब्जा जमा रखा है। मार्क्स के कथन में पर्याप्त सत्य है कि अर्थ तन्त्र पर अधिकार जमाने वाला वर्ग राजनीतिक शक्ति को अपने नियन्त्रण में रख सकता है।

आज के प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में, जहाँ कि राजनीतिक समानता मौजूद है, आर्थिक दृष्टि से कमजोर लोग अपने राजनीतिक अधिकारों का समुचित प्रयोग नहीं कर पाते। समाज स्पष्ट रूप से तीन प्रमुख वर्गों में बँटा हुआ है। (१) पूँजीपति (२) मध्यवित्त वर्ग (३) तथा मजदूर वर्ग। उत्पादन के साधनों पर पूंजीपति वर्ग का कब्जा है इस कारण राजनीतिक शक्ति भी उन्हीं के हाथ में है।

आर्थिक समानता से हमारा क्या मतलब है ? आर्थिक समानता से हमारा यह मतलब नहीं कि सभी नागरिकों की एक समान आय हो या सभी नागरिकों के आर्थिक साधन एक जैसे हों। समाज के सभी सदस्यों में धन का एक सा बँटवारा असम्भव है। प्रत्येक मनुष्य की कुछ आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी पूर्ति के बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास ही असम्भव नहीं बल्कि जिन्दा रहना ही मुश्किल है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समुचित आर्थिक साधनों की उपस्थिति लाजमी है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन का अधिकार होना चाहिए, उसे अपने परिश्रम का उचित पुरस्कार प्राप्त होना चाहिए, उसके काम करने के घण्टे निश्चित होने

चाहिए और उसे विश्राम का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। सरकार प्रत्येक नागरिक के लिए काम-काज की व्यवस्था करे और बेकार तथा अक्षम और वृद्ध लोगों की आर्थिक सहायता करे। आर्थिक समानता का यह भी अर्थ है कि राज्य समाज में पूँजी की तथा उत्पादन के साधन के नियन्त्रण को कुछेक व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित न होने दे। ऐसे केन्द्रीकरण का फल बहुत बुरा होता है क्योंकि ऐसी अवस्था में ही मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण सम्भव है। अतः राज्य को यह देखना चाहिए कि समाज में प्राप्य उत्पादन के वितरण की असमान तथा दोष पूर्ण व्यवस्था पनप न सके। इसका एक मात्र हल समाजवादी अर्थ व्यवस्था की स्थापना है।

सोवियत रूस में उपर्युक्त अर्थ में आर्थिक समानता की स्थापना हो चुकी है। वहां नागरिक के लिए काम-काज की व्यवस्था का उत्तरदायित्व सरकार पर है, पूंजी का केन्द्रीकरण भी नहीं और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की व्यवस्था का भी अभाव है। इसके विपरीत ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत इत्यादि देशों में गम्भीर आर्थिक असमानता मौजूद है।

१६०. समानता तथा स्वतन्त्रता (Equality and Liberty)

अनेक राजनीतिक विचारक समानता तथा स्वतन्त्रता में विरोध मानते हैं, उनका कथन है कि समानता की उपस्थिति में स्वतन्त्रता खत्म हो जाती है और स्वतन्त्रता का अर्थ तो असमानता है ही। डी टाकविल तथा लार्ड एक्टन दोनों का यही विचार है कि समानता स्वतन्त्रता की शत्रु है। लार्ड एक्टन का कथन है कि "समानता की इच्छा ने स्वतन्त्रता की उम्मीद को खत्म कर दिया है।"

ऊपर से देखने में समानता तथा स्वतन्त्रता में अवश्य ही विरोध नजर आता है, क्योंकि भगवान सभी व्यक्तियों को समान क्षमताओं तथा एक जैसे शारीरिक तथा मानसिक गुणों से सम्पन्न नहीं करता। बुद्धिवान, परिश्रमी तथा शक्ति सम्पन्न लोगों को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वे अपनी प्रकृति द्वारा दी गई योग्यताओं का पूरा-पूरा लाभ उठाएँ और धन एकत्रित करें, राज्य सत्ता प्राप्त कर दूसरों पर शासन करें इस प्रकार स्वतन्त्रता की उपस्थिति में विभिन्न वर्गों में असमानता उत्पन्न हो जायगी। आलसी अयोग्य तथा अक्षम व्यक्ति जीवन की दौड़ में पीछे रह जाएंगे, और उन्हें रहना भी चाहिए, क्योंकि वे प्रकृति से ही कमजोर हैं और प्रतिभावना लोगों के बराबर नहीं।

स्पैन्सर ने भी कुछ इसी ढंग पर स्वतन्त्रता के अपहरण के विरुद्ध दलीलें दी हैं, वे स्वतन्त्रता तथा सामाजिक नियन्त्रण में विरोध को अवस्थित देखते हैं। स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर आधारित समाज में समानता की भावना व्यर्थ है।

परन्तु स्वतन्त्रता तथा समानता को परस्पर विरोधी धारणाएँ समझना गलत है, किसी भी समाज में पूर्ण या अबाध स्वतन्त्रता की उपस्थिति सम्भव नहीं। हम पीछे देख आए हैं कि स्वतन्त्रता सामाजिक जीवन में ही सम्भव है, समाज से बाहर तो वह उच्छृंखलता है। सामाजिक जीवन में स्वतन्त्रता का उपभोग कुछेक पाबन्दियों

के अन्तर्गत ही सम्भव है। इसी प्रकार समानता स्वतन्त्रता की विरोधी नहीं बल्कि उसकी पोषक है। समानता का अर्थ ईश्वर द्वारा रचित असमानताओं की अस्वीकृति नहीं अपितु मनुष्य रचित सामाजिक जीवन की असमानताओं को दूर करना है। समानता का अर्थ तो इतना ही है कि सभी नागरिकों की आत्मोन्नति के लिए समान अवसर उपलब्ध हों। अगर राज्य पूजी के केन्द्रीकरण पर पाबन्दी लगाता है तो वह एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का भले ही अपहरण करता हो परन्तु अन्य हजारों नागरिकों की स्वतन्त्रता की व्यवस्था करता है। पूजीवादी देशों में राजनीतिक समानता प्राप्त है, परन्तु उसका उपभोग आर्थिक असमानता के कारण नहीं हो पाता। प्रो० लॉस्की ने ठीक ही कहा है कि आर्थिक असमानता स्वतन्त्रता के लिए घातक है। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति अन्य नागरिकों की अपेक्षा स्वतन्त्रता का अधिक उपभोग करते हैं। इसी प्रकार कानून की दृष्टि में तो सभी नागरिक बराबर है, परन्तु गरीब आदमी आर्थिक साधनों के अभाव में अमीर आदमी के विरुद्ध मुकदमे जीत नही पाता। चुनाव में अगर एक ओर एक पूँजीपति खड़ा हो और दूसरी ओर एक गरीब नागरिक, बहुत सम्भव है, अपनी योग्यता तथा कार्यकुशलता के बावजूद भी वह एक अयोग्य धनपति द्वारा हरा दिया जाय। अतः समानता तो अधिक-से-अधिक लोगों की अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता प्राप्ति में सहायक होती है। जहाँ स्वतन्त्रता का अर्थ यह नही कि मनुष्य जो चाहे करे वहाँ समानता का अर्थ यह नहीं कि सभी व्यक्ति एक ही प्रकार के काम करें तथा एक ही प्रकार की उनकी आमदनी हो। समानता की उपस्थिति में अधिक से अधिक संख्या में लोग समुचित स्वतन्त्रता उपभोग कर सकते है। स्वतन्त्रता का अर्थ कुछेक लोगों द्वारा विशेषाधिकार का उपभोग नहीं, इस रूप में स्वतन्त्रता समानता की ही नहीं बल्कि सामाजिकता की भी शत्रु है।

प्रजातन्त्र के व्यावहारिक प्रयोग ने स्वतन्त्रता तथा समानता दोनों के पारस्परिक घनिष्ठता को सिद्ध कर दिया है, साथ ही यह भी साबित हो गया है कि प्रजातन्त्र के विकास के साथ-साथ वास्तविक स्वतन्त्रता की अनुभूति के लिए सामाजिक तथा आर्थिक विषमता का विलोप भी लाजमी है।

Important Que tions

	Reference
1. Define Liberty and Equality. Are the two necessarily incompatible ? (*Pb.* 1953 *Sept.* 19. 0 *Sept.*)	Arts. 156 and 160
2. Define 'Law' and 'Liberty' and discuss the relationship between them. (*Pb.* 1953; 1 46)	Art. 156
3. What are the different kinds of Liberty secured to individuals in advanced, democratic States ? Discuss their importance. (*Pb.* 1952)	Art. 157
4. Discuss the different meanings of the term 'liberty'. (*Pb.* 1939, 1943, *Ag.* 1942, *Cal.* 1939. *Nag.* 1934, *Bom.* 1941)	
Or	
'Liberty is absence of restraint.' Explain	Art. 156
5. "Political liberty in the absence of economic equality is held to be a mere myth."– (Laski). Discuss. (*Agra* 1938)	Art. 159
6. Distinguish between Civil and Political Liberty and indicate the content of Civil Liberty. (*Bom*, 1938, 1937)	Art. 157

अध्याय २४

राज्य के उद्देश्य और कार्य

(The ends and Functions of the state)

१६१. राज्य साधन है अथवा साध्य ?

राज्य का उद्देश्य क्या है ? राज्य साधन है अथवा साध्य ? यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है । राज्य की प्रकृति, उसका अधिकार-क्षेत्र तथा उसकी उपयोगिता इत्यादि का समुचित ज्ञान इन प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर पर ही निर्भर है । प्राचीन समय के अधिकांश विचारों ने राज्य को साध्य रूप में स्वीकार किया है, साधन रूप में नहीं । प्लेटो और अरस्तू दोनों ही राज्य को साध्य रूप में स्वीकार करते हैं । दोनों ही राज्य तथा समाज को एक रूप समझते हैं । **अरस्तू का कथन है कि राज्य का उदय वैयक्ति जीवन की सुरक्षा के लिए हुआ परन्तु वह मनुष्य जीवन को सर्वप्रकार से सम्पन्न बनाने के लिए कायम रहता है । मनुष्य जीवन का वास्तविक मूल्य राज्य के भीतर है राज्य से बाहर नहीं ।** मनुष्य जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जो राज्य की पहुँच से परे हो । राज्य मनुष्य जीवन को सम्पूर्ण रूप से नियन्त्रित कर सकता है, अतः राज्य ही सब कुछ है, राज्य ही साध्य है । प्राचीन यूनानी विचारकों के ऐसे विचार का एक बड़ा कारण यह भी था कि वह राज्य को सावयव (Organic) मानते थे ।

अरस्तू के बाद इस प्रश्न पर अन्य दृष्टिकोण से विचार किया गया । अधिकांश विचारकों ने राज्य को अप्राकृतिक तथा बनावटी (Artificial) माना, उन्होंने राज्य की उपस्थिति को मनुष्य के आत्मज्ञान में बाधा रूप स्वीकार किया । रोमन विचारकों ने तो इस प्रश्न पर बहुत ध्यान ही नहीं दिया । रोमन साम्राज्य के अनन्तर जो अराजकतापूर्ण हालत पैदा हो गई थी उसमें राज्य, चर्च तथा सामन्तवर्ग में संघर्ष चलता रहा । नैतिक रूप से चर्च को उच्च तथा राज्य को हीन संस्था माना गया । राज्य को सेण्ट आगस्टाइन पाप का परिणाम मानता है । निश्चय ही उसका दृष्टिकोण पुराने दार्शनिकों से भिन्न था । वह अरस्तू की तरह राज्य को एक प्राकृतिक तथा नैतिक संस्था नहीं मानता, अतः वह उसे केवलमात्र नकारात्मक कर्त्तव्य ही सौंपता है । उसके मतानुसार राज्य एक साधन मात्र है, और साधन भी निकृष्ट कोटि का जिसे कि किसी प्रकार से भी श्रेष्ठ तथा उच्च नहीं कहा जा सकता । सेण्ट आगस्टाइन के अनन्तर लगभग सभी विचारकों ने चर्च की श्रेष्ठता तथा राज्य की हीनता को स्वीकार करते हुए राज्य को साधन मात्र माना है । सामन्ती व्यवस्था के समाप्त होने पर और नये राष्ट्रीय राज्यों के विकास के फलस्वरूप अबाधशक्ति सम्पन्न निरंकुश राज्यों का विकास हुआ । राष्ट्रीय राज्यों की निरंकुश शक्ति के समर्थन में राज्यों की

दैवीय उत्पत्ति (Divine origin of the state) और राजाओं के दैवीय अधिकारों के सिद्धान्त (Divine rights of kings) का विकास हुआ। इन सिद्धान्तों द्वारा राज्य की नैतिक श्रेष्ठता तो मानी गई, परन्तु उन्होंने राज्य तथा सम्राट् का एकीकरण कर राज्य को असीम तथा अबाधशक्ति देने का समर्थन किया। राज्य के कर्त्तव्य क्या हों ? वह स्वयं साध्य है या वह केवल साधन मात्र ? इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया। दैवीय गुण सम्पन्न होने के कारण राज्य व्यक्ति की अपेक्षा ऊँचा है, ऐसा परिणाम हम उपयुक्त सिद्धान्त से अवश्य निकाल सकते हैं। परन्तु राज्य की इस श्रेष्ठता का यह आधार वैज्ञानिक नहीं था और न ही वैसा तर्क-सम्मत जैसा कि प्लेटो और अरस्तू का था। राज्य दैवीय गुण सम्पन्न है, राजा दैवीय-शक्ति का प्रतिनिधि है, इस कारण वह उच्च तथा श्रेष्ठ है।

भारतवर्ष में भी राज्य की दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रचलन था, परन्तु यहाँ राजा को असीम और अबाधशक्ति सम्पन्न नहीं माना जाता था। वे राज्य की तथा राज धर्म की श्रेष्ठता को अवश्य स्वीकार करते हैं, परन्तु उसे साधनरूप में स्वीकार करते हैं, साध्यरूप में नहीं। वस्तुतः हमारे यहाँ तो व्यक्ति ही सम्पूर्ण व्यवस्था का केन्द्र माना जाता है। व्यक्ति का परम उद्देश्य आध्यात्मिक है—आत्म-ज्ञान की प्राप्ति है। **'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'**। इसी उद्देश्य को सामने रख सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का संगठन आवश्यक माना जाता है। राज्य का उद्देश्य वैयक्तिक जीवन की पूर्णता है, उसके लिए धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए उचित परिस्थितियों का निर्माण है। सैद्धान्तिक रूप से राजा को प्रजा के नेता के रूप में स्वीकार करने हुए भारतीय नागरिक उससे उच्च नैतिक आचरण की उम्मीद करता था। महाभारत में राज्य धर्म की श्रेष्ठता पर अपने विचार प्रगट करते हुए भीष्म ने कहा है कि अन्य सभी धर्म-राज धर्म के अधीन हैं, क्यों कि एक श्रेष्ठ राज्य में ही सभी धर्मों का समुचित पालन हो सकता है। यदि राजा धर्म का पालन करेगा तो समस्त प्रजा धर्म का अनुसरण करेगी और **यदि राजा ही अधर्मी होगा तो समस्त प्रजा अधर्मी होगी और राजा सहित प्रजा का नाश होगा। इस लोक की सब प्रकार की उन्नति तथा प्रजा का कल्याण राजधर्म के अन्तर्गत ही सम्भव है।**[1] प्राचीन विचारकों के मतानुसार राजा का संयमी, व्रती, परोपकारी तथा निस्वार्थी होना लाजमी बतलाया है। इस प्रकार हमारे यहाँ राज्य को साधनरूप स्वीकार करते हुए उसका उद्देश्य नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वीकार किया गया है।

पश्चिम में राज्य के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त के पतन के अनन्तर राज-धर्म (कर्त्तव्य) की एक नये दृष्टिकोण से व्याख्या की जाने लगी। लॉक, हॉब्स तथा रूसो

सर्वे धर्मा राज धर्मा प्रधानाः सर्ववर्णाः पाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राज धर्मेषु राजस्त्यागधर्मं चाहुरग्र्यं पुराणाम्॥
सर्वेत्यागा राजधर्मेषु द्रष्टाः सर्वादीक्षा राज धर्मेषु योः।
सर्वा विद्या राज धर्मेषु युक्ताः सर्वेलोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥

तीनों ने राज्य के संविदा सिद्धान्त (Theory of Social contract) द्वारा राज्य प्रकृति की व्याख्या करते हुए उसे अप्राकृतिक (Artificial) माना । हॉब्स का राज-धर्म बहुत संकुचित है, उसका कथन है कि राज्य का कर्त्तव्य केवल मात्र नकारात्मक है, उसका उद्देश्य व्यक्ति सुरक्षा के लिए राज्य-शक्ति का उपयोग करना है । लॉक के विचारों में आधुनिक व्यक्तिवाद के बीज मिल जाते है । उसका कथन है कि राज्य का उद्देश्य मानवीय कल्याण तथा वैयक्तिक सम्पत्ति की सुरक्षा है । राज्य की शक्ति असीमित नहीं, उसके कर्त्तव्यों का आधार व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार (Natural rights) हैं । इन अधिकारों की सुरक्षा तथा उनकी समुचित अनुभूति (Realisation) के लिए राज्य की रचना की जाती है । अतः लॉक के अनुसार राज्य केवल साधनामात्र है, साध्य नहीं । रूसो के विचारों में पर्याप्त आत्मविरोध है । प्रारम्भ में रूसो ने जो कुछ कहा उसके आधार पर तो हम उसे व्यक्तिवादी ही कह सकते हैं, परन्तु बाद में उसके विचारों में समूहवाद (Collectivism) के दर्शन हो जाते है । वह राज्य को नैतिक संस्था मानता है और उसे समानरूप में स्वीकार करता है । परन्तु रूसो के विचारों का अनुसरण करते हुए जर्मनी के आदर्शवादी विचारकों ने राज्य को साधन न मान साध्य स्वरूप माना है । कांट, हीगल, नीत्शे तथा ब्लंशली के मतानुसार राज्य साधन नहीं साध्य है । वह सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च नैतिक संस्था है । हीगल तो उसे दैवीय स्वरूप प्रदान कर पृथ्वी पर ब्रह्म के साक्षात् रूप (March of God on earth) में स्वीकार करता है । राज्य का अपना व्यक्तित्व है, उसकी अपनी इच्छा है, वह समाज के सभी सदस्यों से ऊपर और स्वतन्त्र है । राज्य की इस उच्चता तथा श्रेष्ठता का समर्थन इंग्लैण्ड के आदर्शवादी विचारक बोसाँके तथा ब्रैडले ने भी किया है ।

आदर्शवादियों की राज्य सम्बन्धी उपर्युक्त धारणा के विपरीत ऐडम स्मिथ, बेन्थम, मिल तथा स्पैन्सर इत्यादि ने राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार करते हुए उसे व्यक्तिहित साधन के लिए एक साधन के रूप में स्वीकार किया है । **उनके मतानुसार व्यक्ति साध्य है और राज्य साधन ।** उनका कथन है कि राज्य को हमारे वैयक्तिक जीवन में कम-से-कम दखल देना चाहिए । प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि उसका हित किस में है, उसकी स्वार्थ सिद्धि का सर्वश्रेष्ठ साधन क्या है ? वह इतना बुद्धि सम्पन्न तथा परोपकार भावना सम्पन्न भी है कि अपने स्वार्थ साधन के हित अन्य सामाजिक सदस्यों का अहित नहीं करेगा । स्पैन्सर ने प्राणी-विज्ञान के आधार पर वैयक्तिक जीवन में राज्य के दखल का जोरदार विरोध किया है । मिल ने नैतिक उद्देश्यों को सामने रख राज्य से ऊपर व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार किया है । **बेन्थम का कथन है कि राज्य का उद्देश्य अधिक-से-अधिक व्यक्तियों के जीवन को अधिक-से-अधिक आनन्दपूर्ण बनाना है ।**

कुछ अन्य विचारकों ने राज्य को शक्ति का स्वरूप मान उसके उद्देश्य को अधिक-से-अधिक शक्ति संग्रह करना बतलाया है । जर्मन दार्शनिक नीत्शे, ट्रीट्श्के तथा बर्नहार्डी ने वर्तमान युग के फासिस्ट राज्यों के शक्ति-सम्पन्नता के सिद्धान्त के

दार्शनिक पहलुओं को प्रस्तुत: किया है उनका कथन है कि राज्य की श्रेष्ठता और उच्चता इसकी सैनिक-शक्ति की उच्चता पर निर्भर है । राज्य के इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को बेखटके साधनरूप में इस्तेमाल किया जा सकता है । वे राज्य को साधन न मान साध्य मानने हैं ।

परन्तु राज्य की वास्तविक प्रकृति का तथा उसके कर्त्तव्य का ज्ञान उपर्युक्त विचारकों द्वारा ठीक-ठीक ढंग से पेश नहीं किया गया । राज्य को साध्य मानने का कारण राज्य तथा समाज की एकता का भ्रामक सिद्धान्त हैं । पुराने ग्रीक विचारकों ने राज्य तथा समाज में कोई भेद नहीं किया और यही कारण है कि वह राज्य को वैयक्तिक जीवन के सभी पक्षों के नियमन का अधिकार दे देते हैं, इसी कारण वह राज्य को साधन सहीं अपितु साध्य रूप में स्वीकार करते हैं । आज का समाज-शास्त्री राज्य तया समाज में भेद करता है, वह सामाजिक जिन्दगी की स्वतन्त्र स्थिति स्वीकार करता है, यह राज्य को समाज का एक भाग ही मानता है । राज्य हमारे सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को अपने भीतर नहीं समेट सकता । बहुसमुदायवादियों (Pluralists) ने इसी बात पर बल दिया है, उनके कथन में पर्याप्त सत्य है । हमारे जीवन की जितनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति सामाजिक समुदायों में सम्भव है, वैसी राज्य में नहीं । राज्य जैसा कि मेकआइवर का विश्वास है हमारे गौण सम्बन्धों (Secondary relations) का प्रतिनिधित्व करता है । आदर्शवादी विचारकों की भ्रान्त धारणाओं का आधार भी राज्य तथा समाज की मिथ्या एकरूपता ही है । राज्य की नैतिक सत्ता को तो हम अवश्य स्वीकार कर सकते हैं परन्तु उसकी नैतिक श्रेष्ठता एक विवादास्पद प्रश्न है । आज के बहुसमुदायवादी राज्य की नैतिक श्रेष्ठता को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं करते ।

व्यक्तिवादी विचारकों की धारणायें भी भ्रान्त तथा एक पक्षीय हैं । आज बैन्थम स्पैन्सर तथा मिल के इस सिद्धान्त को कि राज्य एक आवश्यक बुराई है स्वीकार नहीं किया जाता । राज्य भी उसी प्रकार प्रकृत है जैसे समाज में प्राप्य अन्य समुदाय । मिल इत्यादि ने राज्य को व्यक्ति-स्वतन्त्रता के शत्रु के रूप में प्रस्तुत किया हैं, जो बिल्कुल गलत है । यह कहना भी ठीक नहीं कि राज्य के कार्यों में अभिवृद्धि हो जाने के फलस्वरूप वैयक्तिक स्वतन्त्रता के खत्म होने की सम्भावना रहती है । निश्चय ही राज्य अपने आप में ही साध्य नहीं, वह साधनस्वरूप है, परन्तु वह इतना निम्न कोटि का साधन नहीं जितना कि व्यक्तिवादियों ने चित्रित किया है । दूसरा व्यक्तिवादी राज्य के उद्देश्य को भी अत्यन्त संकुचित बना देते हैं, वे उसे कोई भी नैतिक तथा सामाजिक कल्याण का कार्य नहीं सौंपते ।

राज्य को पाशविक-शक्ति का प्रतिनिधि मान उसे शक्ति संग्रह का ही कार्य सौंपना भी सर्वथा गलत है । शक्ति (Force) राज्य का एक आवश्यक अंग है, परन्तु वह राज्य का साध्य (End) नहीं । ऐसा राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता का और उसके विकास का सबसे बड़ा शत्रु होगा, जर्मनी तथा इटली के फासिस्ट राज्यों का ऐसा ही रूप था, यहाँ व्यक्ति को और उसकी स्वतन्त्रता को तिरस्कार की दृष्टि से

देखा जाता रहा । **ऐसा सिद्धान्त हमारे उन सभी उद्देश्यों के विपरीत है जिनको वास्तविक मान्यता दिलवाने के लिए आज तक मानव-समाज लड़ता चला आय है ।** राज्य को पाशविक-शक्ति का केन्द्र बनाना नैतिक दृष्टि से सर्वथा हेय है और राजनीतिक दृष्टि से सर्वथा गलत । राज्य-शक्ति का प्रयोग मानव हित में किया जाना चाहिए, वह स्वयं साध्य नहीं । कोई भी राज्य कभी भी व्यावहारिक रूप से असीम तथा अबाधशक्ति सम्पन्न नहीं हो सकता । उसे कुछ-न-कुछ निश्चित पाबन्दियों के अधीन ही कार्य करना होता है ।

वर्तमान युग में राज्य का न तो नकारात्मकरूप ही स्वीकार किया जाता है और न आदर्शवादी, जिसके अनुसार राज्य को आध्यात्मिक गुण सम्पन्न मान उसे सर्वश्रेष्ठ नैतिक संस्था कहा जाता है । राज्य तथा सरकार का उद्देश्य प्रो. टी. एच. ग्रीन के सारपूर्ण शब्दों में वैयक्ति आत्मज्ञान (Self-realisation) के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण है । वैयक्तिक जीवन की पूर्णता समाज में ही सम्भव है, उसके नैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति में समाज की नैतिक उच्चता सहायक होती है । दूसरे शब्दों में व्यक्ति तथा राज्य की अन्योन्याश्रियता (Interdependence) को समझने से ही हम राज्य के वास्तविक रूप को समझ सकते हैं । आज का राज्य सामाजिक कल्याण (Social welfare) का प्रमुख साधन है । उसे वैयक्तिक जीवन के भौतिक तथा नैतिक कल्याण के लिए आवश्यक स्थितियों का निर्माण करना होता है । प्रायः प्रत्येक देश में राज्य के समाजवादी तथा कल्याणकारी रूप का विकास हो रहा है, प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों की अशिक्षा, अज्ञान तथा निर्धनता इत्यादि का दूर करने का भरसक प्रयत्न कर रहा है ।

१६२. राज्य के उद्देश्य तथा उसके कार्य

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राज्य अपने आप में साध्य नहीं । परन्तु उसका उद्देश्य क्या है, इस विषय में पर्याप्त मतभेद है । जहाँ पुराने जमाने में प्लेटो और अरस्तू ने राज्य का उद्देश्य पूर्ण तथा श्रेष्ठ नैतिक जीवन की प्राप्ति माना वहाँ सॉफिस्टों ने उसका मकसद कमजोर लोगों पर शासन करना स्वीकार किया । वर्तमान युग में मार्क्स, नीत्शे, स्पैन्सर इत्यादि भी राज्य को पाशविक-शक्ति का चिन्ह स्वीकार करते हुए उसका उद्देश्य शोषण मानते हैं ।

इग्लैण्ड के उपयोगितावादियों ने राज्य का उद्देश्य अमन तथा कानून की स्थापना करना, व्यक्ति की बाहरी और अन्दरूनी शत्रुओं से रक्षा करना तथा समझौते को लागू करना माना है, परन्तु यह उद्देश्य तो बहुत ही संकुचित है । इसका अर्थ तो यह है कि राज्य के लिए जन-कल्याण तथा सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन किसी भी प्रकार सही नहीं माना जाएगा। यह सिद्धान्त तो राज्य को एक उपयोगिता-मूलक कम्पनी मात्र बना देता है । हमें भूलना नहीं चाहिए कि राज्य के कुछ नैतिक तथा आध्यात्मिक कर्त्तव्य भी हैं । उपोयोगितावादी राज्य के कल्याणमूलक रूप को विशेष महत्त्व नहीं देते, वे तो केवल उसे नकारात्मक (Neg-

ative) कर्त्तव्य ही सौंपते हैं।

बेन्थम का विचार था कि **अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक सुख सुविधा का निर्माण ही राज्य का परम उद्देश्य है** । परन्तु ये उद्देश्य भी अनिश्चित है। 'सुख-सुविधा' से क्या तात्पर्य हो सकता है, क्योंकि 'सुख-सुविधा' की परिभाषा प्रत्येक व्यक्ति तथा समुदाय के साथ बदलती रहती है, इसके स्वरूप का वैज्ञानिक निरूपण असम्भव है, ये तो एक वैयक्तिक (Subjective) धारणा है। इसी प्रकार यह धारणा कि राज्य का उद्देश्य न्याय की स्थापना है, या राज्य को मानवीय समाज की प्रगति के लिए प्रयत्न करना है इत्यादि भी अस्पष्ट तथा भ्रामक धारणाएँ है। क्योंकि 'न्याय' इत्यादि शब्दों के भी वैयक्तिक (Subjective) प्रयोग ही होते हैं निर्वैयक्तिक (Objective) नही। उनकी व्याख्या पर सभी का सहमत हो सकना असम्भव है। प्रत्येक विचारक तथा जनसमाज अपने समाज के वातावरण तथा औद्योगिक और आर्थिक विकास के आधार पर ही राज्य के उद्देश्य को निश्चित करता है। अतः यह धारणा निष्पक्ष नथा वैज्ञानिक नही हो सकती।

राज्य के उद्देश्यों की अभिव्यक्ति बहुत कुछ उसके कार्यों द्वारा हो जाती है, ऐसे कार्य जिन्हें या तो वे पूर्ण करते है या जिन्हें कि उन्हें पूर्ण करना चाहिए। अतः यहाँ हम राज्य के उद्देश्यों की बजाए उसके कार्यों का ही वर्णन करेंगे।

राज्य के कर्त्तव्य--क्या हों ? उसका कोई निश्चित उत्तर सम्भव नहीं। परन्तु राज्य के उद्देश्यों की प्रकृति का ज्ञान उस द्वारा सम्पादित कर्त्तव्यों से ही सम्भव है। प्रत्येक राज्य अपनी परिस्थितियों के अनुसार ही अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है। सभी राज्य एक जैसे कर्तव्यों का पालन नही करते, नई परिस्थितियों के अनुसार राज्य के कर्त्तव्यों में परिवर्तन होना सर्वथा स्वाभाविक है। पुराने समय में राज्यों के लिए यह सम्भव था कि वह व्यापार, उद्योग तथा राज्य की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की अवहेलना कर सैनिक सुरक्षा के लिए केवल कर-संग्रह मात्र ही करें, परन्तु आज ऐसा सम्भव नही। १८वीं तथा १९वीं सदी में व्यक्तिवादियों ने राज्य द्वारा उद्योगिक तथा व्यापारिक जीवन के नियन्त्रण का तीव्र विरोध किया था। उन्होंने राज्य को समाज कल्याण मूलक कर्त्तव्यों के पालन की छूट नहीं दी थी। परन्तु आज की परिस्थितियाँ सर्वथा बदल गई हैं, आज राज्य के कर्त्तव्य के स्वरूप भी बदल गये है। परन्तु आज भी सभी जगह राज्य एक जैसे कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते। फ्रांस, अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में आर्थिक जीवन पर राज्य का उतना विस्तृत तथा कड़ा नियन्त्रण नहीं जितना कि सोवियत रूस में है। न ही इन राज्यों में सामाजिक कल्याण के निमित्त राज्य वही कार्य करता है जैसा कि सोवियत रूस में किया जाता है। यह विभिन्नता राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों की और बहुत कुछ आदर्शों की भिन्नता का ही फल है। आज के युग में राज्य समूहवादी (Collectivist) हो गया है, वह हमारे जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों का नियन्त्रण करता हैं। हाल ही में राज्य इतने शक्ति सम्पन्न हो गये हैं कि अनेक विचारक इस प्रवृत्ति को रोकने का जोरदार समर्थन करने लगे हैं। बहुसमुदायवादी तथा गिल्ड समाजवादी राज्य

शक्ति तथा कर्तव्यों के विकेन्द्रीकरण के हक में हैं । उनका कथन है कि राज्य को सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के नियन्त्रण का अधिकार नहीं दिया जा सकता । राज्य की शक्तियों की अभिवृद्धि न केवल व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा उसके व्यक्तित्व विकास की ही शत्रु है अपितु अधिनायकतन्त्र की भी जनक है । हमारे यहाँ महात्मागांधी ने भी राज्य-शक्ति तथा आर्थिक जीवन के विकेन्द्रीकरण का सुझाव दिया था, बहुसमुदायवादियों ने तो राज्य तथा समुदायों के बीच राजनीतिक शक्ति के बँटवारे का समर्थन किया है । चाहे हम उनके दृष्टिकोण से सहमत हों अथवा न हों एक बात तो आज हमें अवश्य माननी ही पड़ेगी कि राज्य को बहुत अधिक शक्ति सम्पन्न नहीं किया जा सकता और न ही उससे सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के नियन्त्रण का अधिकार ही दिया जा सकता है । क्योंकि बहुत से ऐसे कार्य हैं जिन्हें कि राज्य कर ही नहीं सकता और कुछेक कार्यों को वह कर तो लेगा परन्तु भद्दे तरीके से ही । अनेक प्रकार से छोटे-बड़े कार्य करने से उनमें सुचारुता भी नहीं रहती ।

राज्य व्यक्ति के आन्तरिक जीवन का नियमन तथा नियन्त्रण नहीं कर सकता । यही कारण है कि यह कहा जाता है कि विचार, धर्म, साहित्य और संस्कृति राज्य के नियन्त्रण से बाहर रहने चाहिएँ । इनमें मानवात्मा की अभिव्यक्ति होती है । जहाँ कहीं भी जीवन के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष के नियन्त्रण का प्रयत्न किया गया है, वहीं राज्य असफल रहा है या इस नियन्त्रण का परिणाम सांस्कृतिक विकास के लिए घातक सिद्ध हुआ है । हाँ, राज्य अश्लील साहित्य तथा समाजविरोधी तथा अनैतिक धार्मिक प्रथाओं पर अवश्य रोक लगा सकता है । राज्य को जनमत का नियन्त्रण भी नहीं करना चाहिए, सभी को विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए । परन्तु राज्य सामाजिक व्यवस्था को भंग करने के अर्थ तथा गैरकानूनी कार्यवाहियों को उकसाने वाले विचारों पर रोक लगा सकता है । सामाजिक रीति-रिवाज भी राज्य के साधारण नियन्त्रण से बाहर रहते हैं । राज्य सामाजिक रीति-रिवाज को बदल सकता है, परन्तु उचित अवसर पर ही यानि जनमत का समर्थन प्राप्त करके ही । जनता द्वारा समर्थित रस्मों-रिवाज को खत्म करने से राज्य-व्यवस्था के भंग होने की सम्भावना बनी रहती है । राज्य को वह कार्य भी नहीं करने चाहिए जिन्हें व्यक्ति स्वयं अच्छी तरह से कर सकता हो, क्योंकि ऐसा करने पर राज्य-व्यक्ति के आत्म-विश्वास स्वाधीनता तथा कार्य प्रारम्भ करने की क्षमता को ही नष्ट कर देगा ।

आज राज्य के कर्त्तव्यों का स्वस्थ सिद्धान्त तो व्यक्तिवाद तथा सामाजवाद के मेल से ही बन सकता है । न तो निरा समाजवाद ही अपने आप में पूर्ण है और न निरा व्यक्तिवाद । समाज में अर्थ के उत्पादन तथा वितरण पर राज्य का नियन्त्रण जन-कल्याण के लिए आवश्यक है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि राज्य वैयक्तिक जीवन के प्रत्येक पक्ष का ही नियन्त्रण करे और बहुत शक्तिशाली बन जाये । व्यक्ति को अपने स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास के सभी अवसर प्राप्त होने चाहिए, उसे शिक्षा सम्बन्धी तथा दवा दारु सम्बन्धी सभी सुविधाएँ राज्य द्वारा मिलनी चाहिएँ । वैयक्तिक स्वतन्त्रता का ठीक-ठीक इस्तेमाल भी तभी सम्भव है जब कि आर्थिक सुरक्षा हो । मिल

स्पैन्सर का व्यक्तिवाद जाने अनजाने में व्यक्ति तथा राज्य में एक प्रकार की शत्रुता तथा की अवस्थिति स्वीकार करता है, इस कारण वह राज्य को जन कल्याण मूलक कर्त्तव्यों को सौंपना ठीक नहीं समझते। परन्तु आज ऐसा नहीं माना जाता। अतः आज सभी देशों में राज्य किसी न किसी रूप में जन-कल्याण मूलक कर्त्तव्यों का पालन करते हैं।

डा० गार्नर ने राज्य के कर्त्तव्यों को तीन भागों में बाँटा है—(१) **आवश्यक कर्त्तव्य** (Essential functionss) के अन्तर्गत वे सभी कार्य आ जाते हैं जो कि वैयक्तिक सुरक्षा तथा देश में आन्तरिक शान्ति बनाये रखने के लिए और उसकी बाह्य आक्रमणों से रक्षा के लिए आवश्यक हैं।

(२) **प्राकृतिक परन्तु अनावश्यक कर्त्तव्यों**—के अन्तर्गत वे सभी कार्य आ जाते हैं जिनका सम्बन्ध उपर्युक्त आवश्यक कर्त्तव्यों से तो नहीं, परन्तु जिनका पालन राज्य के लिए प्राकृतिक है, क्योंकि यह कार्य व्यक्तियों द्वारा पूरे नही किये जा सकते; डाक-व्यवस्था, सिंचाई-व्यवस्था, सड़कों तथा पुलों का निर्माण इत्यादि।

(३) **वे कार्य जो न तो प्राकृतिक है और न आवश्यक**—और जिनका उपर्युक्त पालन व्यक्ति द्वारा ही सम्भव है। इस वर्ग क अन्तर्गत डा० गार्नर रेल, तार, टेलीफोन इत्यादि व्यवस्था तथा वैज्ञानिक शिक्षा तथा संस्कृति सम्बन्धी कार्यों को रखता है।

परन्तु डा० गार्नर का उपर्युक्त मत वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता, वह केवल सुरक्षा व अमन तथा कानून स्थापना सम्बन्धी नकारात्मक कार्यो को ही राज्य के आवश्यक कर्त्तव्यों के अन्तर्गत रखता है, जब कि समाज-कल्याण के कर्त्तव्यों को अनावश्यक मानता है। अन्यत्र गार्नर स्वयं स्वीकार करता है कि **"एक बात को सब लोग मानते हैं कि राज्य का कार्य व्यक्तियों में शान्ति कानून तथा अमन बनाये रखने के पुलीस कार्यों से कहीं उच्चतर है, उसे मनुष्यों की एक दूसरे से रक्षा करने के कार्य से बढ़कर अपने नागरिकों के लिए कुछ और भी करना चाहिए।"**[1] वह स्वयं मानता है कि राज्य का कर्त्तव्य राष्ट्रीय जीवन को सभी प्रकार से पूर्ण तथा सम्पन्न बनाना है। प्रारम्भिक दिनों में समाज के सरल संगठन तथा राजनीतिक चेतना के अविकसित अवस्था के फलस्वरूप राज्य के कर्त्तव्यों की एक निश्चित सीमा सम्भव थी, परन्तु आज उसका कर्त्तव्य नैतिक तथा बौद्धिक के अतिरिक्त सामाजिकों की शारीरिक उन्नति भी है। **टी. एच. ग्रीन ने इसी बात का समर्थन करते हुए कहा है कि, "राज्य का काम पुलीस का कार्य सम्पन्न करना, अपराधियों को पकड़ना और समझौते पर निर्दयतापूर्वक अमन करवाना ही नहीं परन्तु उसका काम यथाशक्ति व्यक्तियों के लिए उनकी बौद्धिक तथा नैतिक प्रवृत्तियों में जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है उसे प्राप्त करने का**

---

1 "Upon one point, most men are now agreed; namely that the state has a higher mission than the mere police duty of maintaing peace, order and security of individuals, and that it ought to do more for its citizens than merely prevent then from robbing or murdering from one another."—*Garner.*

समान अवसर प्रदान करना है।"[1]

गेटल, विलोबी तथा वुडरो विल्सन राज्य के कर्त्तव्यों का विभाजन (१) आवश्यक कर्त्तव्य (Essential functions) तथा ऐच्छिक कर्त्तव्य (Optional functions) के रूप में करते हैं। आवश्यक कर्त्तव्यों के अन्तर्गत तो यह सभी कार्य आ जाते हैं जिनके पालन के लिए राज्य का उदय हुआ है। इन कर्त्तव्यों के न पालन करने का अर्थ है राज्य तथा राज्य व्यवस्था का विलोप। ऐच्छिक कर्त्तव्यों (Optional functions) के अन्तर्गत वे कार्य आते हैं जिन्हें राज्य चाहे तो न करे, क्योंकि उनके पालन न किए जाने से राज्य व्यवस्था के खत्म होने की कोई सम्भावना नहीं रहती।

राज्य के आवश्यक कर्त्तव्यों के अन्तर्गत हम नीचे लिखे कार्य शामिल कर सकते हैं।

(क) वैयक्तिक जीवन की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था करना राज्य का सर्व प्रमुख कर्त्तव्य है। वैयक्तिक जीवन को आन्तरिक तथा बाह्य दो प्रकार के खतरे हो सकते हैं, आन्तरिक सुरक्षा के लिए सरकार पुलीस तथा न्यायालयों की व्यवस्था करती है। नागरिकों में आपस में झगड़े हो सकते हैं चोरी डाके बगैरा से बचाव की व्यवस्था की जाती है, और कत्ल वगैरा की रोक थाम के लिए कानून इत्यादि का प्रबन्ध किया जाता है। अपराधियों को सजा देना राज्य के लिए आवश्यक है, ऐसी व्यवस्था की अनुपस्थिति में राज्य में अराजकता तथा अव्यवस्था फैल जायगी। राज्य को नागरिकों के जीवन तथा उनकी सम्पत्ति को बाहरी आक्रमणों से भी बचाना होता है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए राज्य नौसेना, वायु सेना तथा स्थल सेना की व्यवस्था करता है।

(ख) वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए राज्य कानून बनाता है। कानून तथा शासन की अनुपस्थिति में स्वतन्त्रता की अनुभूति असम्भव है। प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य होता है कि वह व्यक्ति को चलने फिरने, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने और बसने की स्वतन्त्रता की व्यवस्था करे। प्रत्येक व्यक्ति अपने क्षेत्र में रह अपने अधिकारों का उपभोग करे और मर्यादाओं के अतिक्रमण करने वालों को सजा दी जाय।

गेटल (Gettel) के मतानुसार राज्य के आवश्यक कर्त्तव्यों के दो भाग हैं आर्थिक तथा सैनिक। आर्थिक कर्त्तव्यों के अन्तर्गत मुद्रा तथा मुद्रांकन (Currency and coinage) का नियन्त्रण करना, राजकर लगाना आयात तथा निर्यातकर (Tarriffs) का नियमन, शराब का नियन्त्रण, जंगल, सार्वजनिक इमारतें, युद्ध

1. "The buisness of the state is not merely the buisness of a police man, of arresting wrong-doers, or of ruthlessly enforcing contracts, but of providing for men an equal chance as far as possible, of realising what is best in their intellectual or moral natures."

—*T. H. Green.*

सामग्री तथा डाक, रेल तार इत्यादि की व्यवस्था है।

सैनिक कर्त्तव्यों के अन्तर्गत स्थल सेना, नौ सेना तथा वायु सेना की व्यवस्था आती है। प्रत्येक राज्य अपने बजट का बहुत बड़ा भाग सेना पर खर्च करता है।

वुडरो विल्सन राज्य के आवश्यक कार्यों के अन्तर्गत नागरिकों के जान-माल की रक्षा, पति पत्नी और माता पिता तथा सन्तान के पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्था जायदाद के बेचने, तबादले तथा दूसरों को देने की व्यवस्था अपराधों की परिभाषा, दण्ड की व्यवस्था, दीवनी न्यायालयों की स्थापना, नागरिकों के अधिकार तथा कर्त्तव्यों का निर्धारण, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा बाह्य हमलों से राज्य की सुरक्षा इत्यादि को रखता है।

राज्य के ऐच्छिक कर्त्तव्य (Optional functions of the State) राज्य के जिन कर्त्तव्यों का जिक्र हमने ऊपर किया है, वे राज्य के आवश्यक कर्त्तव्यों के अन्तर्गत आते हैं। राज्य के ऐच्छिक कर्त्तव्य वे हैं जिन्हें यदि राज्य न भी पालन करे तो वे खत्म नहीं हो जाते। परन्तु इस अवस्था में राज्य का स्वरूप बहुत कुछ अवांछनीय होगा, ऐसा स्वरूप होगा जिसे कि लोग अधिकतर पसन्द नहीं करेंगे। राज्य का उद्देश्य, अरस्तू के शब्दों में, उच्च नैतिक जीवन की प्राप्ति है। ऐसा तभी सम्भव है जब कि राज्य केवल मात्र पुलीस-मैन के ही कार्यों को न करे अपितु समाज के नैतिक तथा आर्थिक कल्याण के लिए भी प्रयत्न करे। राज्य के उपर्युक्त कर्त्तव्य नकारात्मक (Negative) कर्त्तव्य हैं। आज सभी जगह ये यकीन किया जाने लगा है कि राज्य को जनता के सामन्य कल्याण के लिए अधिक-से-अधिक ऐच्छिक कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। ऐच्छिक कर्त्तव्यों के अन्तर्गत वे सभी कार्य आ जाते हैं जिन्हें कुछ व्यक्ति मिलकर नहीं कर सकते या अगर कर भी सकते हैं तो अच्छी तरह से नहीं कर पाते। डाक-व्यवस्था, रेल, तार सड़कों तथा पुलों का निर्माण यदि सरकार द्वारा न किया जाय तो उन कार्यों का व्यवस्थित रूप से हो सकना ही मुश्किल है। सड़कें, पुल, बान्ध तथा नहरें इत्यादि बनाने का कार्य तो इतना विस्तृत होता है कि वह साधारणतया सरकार के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं द्वारा कभी पूर्ण नहीं किया जा सकता। व्यापार, वाणिज्य, बैंकिंग इत्यादि का नियन्त्रण सरकार द्वारा इसलिए लाजमी है क्योंकि उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण सामाजिक जीवन से है। अगर इन कार्यों पर सरकार का नियन्त्रण न हो तो पूँजीपति लोग इनका प्रयोग अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए करेंगे, सामाजिक हित के लिए नहीं। धन के उत्पादन तथा उसके वितरण का सम्बन्ध सम्पूर्ण सामाजिक जीवन से है, अतः समाजहित को सामने रखते हुए सरकार उसका नियमन तथा नियन्त्रण करना ही चाहिए।

इसी प्रकार राज्य को निर्धन तथा अक्षम व्यक्तियों की सहायता तथा रक्षा भी करनी चाहिए। चोर तथा डाकुओं से वैयक्तिक अधिकार तथा सम्पति की रक्षा राज्य के आवश्यक कर्त्तव्यों में हैं। परन्तु इन कर्त्तव्यों का पालन व्यर्थ है, अगर निर्धन तथा बेकार मजदूरों का धनपतियों द्वारा शोषण हो या बेकारी के कारण वे भूखे मर जायें। अगर राज्य का कार्य वैयक्तिक अधिकारों की चोर तथा डाकुओं से रक्षा करना

है तो उसका कार्य निर्धन तथा बेकार मजदूरों को पूंजीपतियों के शोषण से बचाना भी है। जनसाधारण के मानसिक विकास तथा उनकी बौद्धिक तथा सांस्कृतिक प्रगति के लिए राज्य को शिक्षा के प्रसार तथा कला की अभिवृद्धि का प्रयत्न भी करना चाहिए। इन सभी जन कल्याणकारी कर्त्तव्यों को निभाने वाले राज्यों को लोक हितकारी राज्य कहा जाता है। आजकल विभिन्न राज्य निम्नलिखित ऐच्छिक परन्तु जन-कल्याणकारी कर्त्तव्यों का पालन करते हैं—

(१) **शिक्षा का प्रचार**—आज के लोक-हितकारी कर्त्तव्यों में से एक है। राज्य का उद्देश्य अगर व्यक्ति के लिए पूर्ण तथा सर्वश्रेष्ठ नैतिक जीवन की प्राप्ति के लिए सामान्य परिस्थितियों का निर्माण है तो शिक्षा उन परिस्थितियों में सर्व प्रमुख है। शिक्षा व्यक्ति की बौद्धिक तथा नैतिक शक्तियों के विकास का बहुत महत्त्वपूर्ण साधन है। पुराने समय में शिक्षा कुछेक लोगों के लिए ही प्राप्य होती थी, अक्सर अमीर उमरा लोग या उनके बच्चे ही शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। शिक्षा का प्रबन्ध धार्मिक स्थानों में किया जाता था। अब परिस्थितियों के बदल जाने के कारण शिक्षा की व्यवस्था धीरे-धीरे राज्य अपने हाथ में ले रहा है, प्रायः सभी प्रगतिशील राज्यों में प्रारम्भिक शिक्षा राज्य द्वारा ही दी जाती है। सोवियत रूस जैसे समाजवादी राज्य में तो उच्च शिक्षा की व्यवस्था भी राज्य के हाथ में है।

सरकार को औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था भी करनी चाहिए। पुस्तकालय तथा कला मन्दिरों की व्यवस्था भी राज्य करते हैं।

(२) **जन-स्वास्थ्य**—की देखभाल भी राज्य को करनी चाहिए। आज स्पैन्सर के इस विचार में कोई यकीन नहीं करता कि राज्य को रोगी तथा निराश्रित व्यक्तियों को मरने देना चाहिए ताकि केवल स्वस्थ और उपयुक्ततम लोग ही बच सकें। राज्य हस्पतालों की व्यवस्था करता है, महामारियों की रोकथाम के लिए दवादारू का भी प्रबन्ध करता है। नगरों तथा गाँवों में सफाई का प्रबन्ध किया जाता है खाने-पीने के पदार्थों में मिलावट न हो, कारखानों में मजदूरों को अधिक समय तक काम न करना पड़े, उनके स्वास्थ्य इत्यादि की ठीक-ठीक देख भाल हो सके, इन सभी की व्यवस्था राज्य करता है।

(३) **निर्धन, वृद्ध तथा अक्षम व्यक्तियों की सहायता**—करना भी आज राज्य का एक प्रमुख कर्त्तव्य माना जाता है। पुराने समय में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं रहती थी, आजकल लगभग सभी राज्य गरीब, वृद्ध तथा अक्षम व्यक्तियों को प्रश्रय देते हैं, उन्हे काम-काज देते हैं और उपयुक्त आर्थिक सहायता भी प्रदान करते हैं।

(४) **उद्योग धन्धों का नियन्त्रण**—भी सरकार को करना होता है। प्रायः सभी राज्यों में रेलवे, डाक तार बिजली तथा यातायात के साधनों का नियन्त्रण तथा विकास सरकार द्वारा किया जाता है। इन कामों को जन-साधारण सीमित आर्थिक साधनों के कारण तथा मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति के कारण अच्छी तरह नहीं कर पाते हैं, सरकार ही इन कार्यों को अपने हाथ में ले लेती है।

(५) **कृषि तथा व्यापार का नियमन**—करते हुए सरकार नहरें बनाती है,

बीज बांटती है, गोदाम खोलती है, किसानों की सहायता करती है, उनकी फसलें खरीदती है। इसी प्रकार व्यापार के नियमन के लिए प्रमाणिक मानदण्डों का निश्चय करती है, मुद्रा निर्माण करती है तथा व्यापारिक सुविधा के लिए यातायात के साधनों का विकास करती है। कभी-कभी राज्य स्वयं बड़े-बड़े उद्योग धन्धों को अपने हाथ में ले व्यापार में भागीदार होता है। विदेशी व्यापार का नियन्त्रण तो सरकार द्वारा ही किया जाता है।

(६) **श्रम का नियमन** (Regulation of labour)—करती हुई सरकार मजदूरों के वेतन उनके काम करने का समय, उनके स्वास्थ्य इत्यादि की व्यवस्था करती है। आज की उन्नतिशील सरकारें श्रमिकों के रोग, बुढ़ापे तथा बेकारी के बीमे का प्रबन्ध भी करती हैं। उनके रहन-सहन तथा उनकी बस्तियों की सफाई की व्यवस्था भी सरकार के कानून द्वारा की जाती है।

(७) **समाज सुधार तथा निर्धनता निवारण**—के लिए राज्य न केवल कानून ही बनाता है अपितु साधारण जनों में शिक्षा का प्रसार तथा सामाजिक बुराइयों के प्रति जनमत भी तैयार करता है। राज्य का कर्त्तव्य नागरिकों के नैतिक तथा बौद्धिक उन्नति है। बुरी समाज व्यवस्थाओं तथा बुरे रस्मोरिवाजों की उपस्थिति में ऐसा हो सकना सम्भव नहीं, इसलिए राज्य बुरे रिवाजों को तथा सामाजिक बुराइयो को कानून द्वारा खत्म करने का प्रयत्न करता है। राज्य का कार्य जन-साधारण में फैली गरीबी को दूर करना भी है। गरीब जन-साधारण में आत्मविश्वास की कमी रहती है, वह स्वतन्त्रता का उपभोग भी नहीं कर सकता। **उसे अपनी जीविका के लिए सदा दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है, ऐसी अवस्था में वे अपना नैतिक मान दण्ड ऊँचा नहीं बना पाते।** राज्य को सभी नागरिक के जीवन यापन के मानदण्ड को उठाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(८) **आमोद प्रमोद की सुविधाओं**—का विकास भी आज के राज्य के लिए एक आवश्यक कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस कार्य की पूर्ति के लिए राज्य सिनेमा गृह, नाटक घर, रेडियो, सार्वजनिक उद्यान, क्रीडास्थल तथा कलाकेन्द्रों की व्यवस्था करते हैं। संगीत, नाटक तथा साहित्य के विकास के लिए कलाकारों को पुरस्कार देकर उन्हें प्रोत्साहित करते हैं।

(९) **उपसंहार** (Conclusion)—ऊपर हमने राज्य के आवश्यक तथा ऐच्छिक कर्त्तव्यों का विवरण दिया है। उस विवरण को किसी प्रकार से पूर्ण नहीं कहा जा सकता, राज्य के ऐच्छिक कर्त्तव्यों की संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती। उसका कार्य क्षेत्र दिन प्रति दिन विस्तृत होता चला जा रहा है, उसका रूप अध्यापक, चिकित्सक, नर्स तथा मनोरंजन कर्त्ता के अतिरिक्त रक्षक तथा पालक का भी है। आज यह कहना कि राज्य का कार्य केवल सुरक्षा सम्बन्धी है, उसका उद्देश्य जन-साधारण का नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास नहीं, एक अन्धविश्वास मात्र समझा जाता है। उसका उद्देश्य बहुत व्यापक है, वह व्यक्ति की सभी प्रकार की प्रगति के लिए उत्तरदायी है।

Important Questions

	Reference
1. What are your ideas on the subject of state interference, that is, the functions of government ?	Art. 162
2. Discuss the functions of the State which, in your opinion, the modern State should perform. (*Sept.* 1955)	Art. 162
3. Which of the two concepts of power and service represents the true purpose of the State ? Elaborate. (*Pb.* 1955)	
Or	
What, in your view, are the limits to State action ? Give reasons for your answer. (*Pb.* 1953)	
Or	
What limitations, if any, would you like to place on State activity ? Give reasons for your answer. (*Pb.* 1952 *Sept.*)	Arts. 161 and 162
4. Distinguish between the essential and optional functions of Government. (*Cal.* 1943, *Bom.* 1936, *Punjab* 1938)	Art. 162
5. "The function of the State is the hindrance of hindrances" is this a suitable criterion of State activity ? (*Agra* 1943, 1939, 1934)	Arts. 161 and 162
6. Define, and in general term explain the ends of the State. (*Pb.* 1942, *Bom.* 1941, *C.U.* 1952)	Arts. 161 and 162

अध्याय २५

राज्य के कार्य क्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त (१)

(Theories of State Functions)

राज्य का कार्य क्षेत्र क्या हो ? राजनीति शास्त्र का यह एक प्रमुख प्रश्न है, इस पर सदियों से विचार होता चला आ रहा है, विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार से इस प्रश्न के उत्तर दिए गए हैं । ये सभी उत्तर राजनीति शास्त्र में राज्य के कार्य क्षेत्र विषयक सिद्धान्त कहे जाते हैं, ये सभी सिद्धान्त राजनीति शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों में रखे जाते हैं । ये न केवल राज्य के कर्त्तव्यों की ही विवेचना करते हैं बल्कि राज्य के स्वरूप उसकी प्रकृति, उसके नैतिक आधारों का भी विवेचन करते हैं । आगे हम राजनीति शास्त्र के इन महत्व पूर्ण सिद्धान्तों का क्रमशः विवेचन करेंगे ।

१६३. आदर्शवाद (The Idealistic theory of the State)

राज्य के अधिकार क्षेत्र की विवेचना करने वाले सिद्धान्तों में आदर्शवाद सर्व प्रमुख है । हिन्दी का **'आदर्शवाद'** शब्द अंग्रेजी के Idealism शब्द का हिन्दी पर्याय है । राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical theory) या आध्यात्मिक सिद्धान्त (Metaphysical theory) भी कहलाता है । सुप्रसिद्ध अमेरिकन समाज शास्त्री मेकआइवर (MacIver) तो इसे रहस्यात्मक सिद्धान्त (Mystical theory) कहता है । राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त के आध्यात्मिक तथा नैतिक आधार अवश्य हैं, क्योंकि इस सिद्धान्त के समर्थकों ने भौतिक जगत (Material world) तथा आध्यात्मिक जगत (World of ideas) में भेद किया है और विचार (Idea) को भौतिक जगत से स्वतन्त्र तथा उच्च माना है । उन्होंने राज्य को मानव मस्तिष्क की सृष्टि कहा है, [1] उसका आधार विचार है । इस सिद्धान्त ने राज्य की उच्चतम नैतिक सत्ता को भी स्वीकार किया है, और मनुष्य जीवन के नैतिक विकास के लिए उसे आवश्यक माना है ।

परन्तु इसे **'आदर्शवादी सिद्धान्त' इसलिए कहा जाता है कि यह 'राज्य के आदर्शरूप की विवेचना करता है, वास्तविक की नहीं,** आदर्श राज्य क्या है, उसका स्वरूप क्या है ? आदर्शवादी विचारक इन प्रश्नों का उत्तर मौजूदा राज्यों के रूप को देखकर नहीं देता अपितु अपनी कल्पना शक्ति के बल पर उसके रूप के चित्रण का **प्रयत्न करता है।**

---

1. "States do not come out of oak or rock. They result from the mind of the people that live in them."—*Plato.*

आदर्शवादी सिद्धान्त का विकास—राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त का एक लम्बा इतिहास है, इसका स्वरूप निर्धारण प्राचीन ग्रीक विचारकों के मन्तव्यों में मिलता है। पुराने यूनान के सुप्रसिद्ध विचारक प्लेटो तथा अरस्तू दोनों ने ही वर्तमान युग की आदर्शवादी विचार धारा के आधारभूत तथ्यों का विवेचन किया है। प्लेटो तथा अरस्तू दोनों ही राज्य को सर्वथा प्रकृत (Natural) मानते हैं, वे यह नहीं मानते कि राज्य एक आवश्यक बुराई है या राज्य की रचना पारस्परिक समझौते द्वारा हुई। उनके मतानुसार मनुष्य का स्वभाव ही उसे समाज निर्माण की ओर प्रवृत्त करता है, जिस प्रकार मनुष्य स्वभाव से ही घटता-बढ़ता है ठीक वैसे ही स्वभाव से ही वह समाज की रचना करता है। मनुष्य जीवन का उद्देश्य नैतिक उच्चता की प्राप्ति है, जो समाज में रहकर ही सम्भव है, समाज से बाहर नहीं। मनुष्य जीवन में पूर्णता सामाजिक सहयोग द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। राज्य की नैतिक सत्ता है, वह साध्य है साधन नहीं। वह अपने आप में पूर्ण है, किसी पर आश्रित नहीं। संक्षेप में अरस्तू तथा प्लेटो के मतानुसार राज्य एक जीवित प्राणी की तरह है, उसका अपना व्यक्तित्व है और अपनी नैतिक इच्छा है। व्यक्ति का कर्तव्य राज्य की उच्चता तथा श्रेष्ठता की प्राप्ति में सहयोग देना है, उसके अधिकार तथा कर्तव्य सभी सामाजिक जीवन की देन हैं और उसी में खत्म हो जाते हैं। प्लेटो तथा अरस्तू समाज में तथा राज्य में भेद नहीं करते।

प्लेटो तथा अरस्तू के अनन्तर यूनान की राजनैतिक विचार-धारा में आदर्शवाद को अस्वीकार कर दिया गया। राज्य को अप्राकृतिक रचना समझा जाने लगा, व्यक्ति को ही साध्य माना गया, राज्य को साधन। साथ ही प्लेटो तथा अरस्तू के संकुचित राष्ट्रवाद का स्थान विश्व बन्धुत्व ने ले लिया। नैतिक तथा सामाजिक अधिकारों के स्थान पर प्राकृतिक विधान तथा प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की रचना की गयी।

मध्य युग में प्लेटो तथा अरस्तू के विचार प्रकाश में नहीं आये, न ही उन्हें राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तों के विवेचन में ही लाया गया। इधर-उधर हम उनसे प्रभावित कुछ राजनैतिक रचनाओं को अवश्य देख पाते हैं परन्तु यूनान के इन आदर्शवादी विचारकों का वर्तमान राजनैतिक विचारों पर अटूट प्रभाव तो रूसो से प्रारम्भ होता है। वर्तमान युग में रूसो ने ही सर्व प्रथम राज्य के नैतिक स्वरूप को स्वीकार कर उसे मनुष्य के उच्चतम नैतिक विकास का साधन माना। रूसो से पूर्व लगभग सभी राजनीतिक विचारकों ने राज्य को एक अप्राकृतिक रचना माना है, वे उसे नैतिक कर्त्तव्य भी नहीं सौंपते। उनके विचारों में व्यक्ति ही राज्य के रूप का अन्तिम विधायक है। रूसो ने अपने सिद्धान्त का आधार 'सामान्य इच्छा' (General will) की कल्पना को रखा है। जैसा कि हम पीछे ही लिख आए हैं कि राज्य अपनी प्रकृति में एक जीवित प्राणी की तरह है, उसका अपना व्यक्तित्व है और अपनी इच्छा है। इसी इच्छा को वह 'सामान्य इच्छा' (General will) का नाम देता है। सामान्य इच्छा समाज के सभी सदस्यों की उच्च तथा नैतिक इच्छा से मिलकर बनी है, राज्य के नियम इसी नैतिक इच्छा के प्रतिनिधि हैं। व्यक्ति की वास्तविक स्वतन्त्रता की

अनुभूति इन्हीं नियमों के पालन में निहित है।

रूसो के 'सामान्य इच्छा' के सिद्धान्त के आधार पर ही हीगल ने राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त की रचना की, काण्ट तथा **बोसांके** भी इसी से प्रभावित थे। जर्मनी में आदर्शवाद के विकास का श्रेय काण्ट, हीगल, तथा ट्रीट्श्के को है। इंग्लैण्ड में इस सिद्धान्त की सर्व प्रियता का श्रेय टी. एच. ग्रीन को दिया जा सकता है, परन्तु इस सिद्धान्त की विशद विवेचना **बोसांके** की रचना the 'Philosophical Theory of the State' में मिलती है। हीगल ट्रीट्श्के बोसांके तथा ब्रैडले ने आदर्शवाद के अनिरंजित रूप की विवेचना की है, काण्ट तथा टी. एच. ग्रीन के विचारों में संयम है। हीगल ने व्यक्ति की अपेक्षा राज्य को अधिक महत्त्व दिया है और व्यक्ति को राज्य का दास बना दिया है। टी. एच. ग्रीन इत्यादि व्यक्ति के अधिकारों की, उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अवहेलना नहीं करते, न ही वे राज्य को उसी प्रकार दैवगुण सम्पन्न मानते हैं, जिस प्रकार हीगल स्वीकार करता है।

आदर्शवादी सिद्धान्त के मुख्य आधार—तो हम प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों में ही पाते हैं। (१) सर्व प्रथम तो ग्रीक राजनीति शास्त्रियों ने राज्य को स्वतः पूर्ण माना है, वह राज्य के अन्तर्गत ही मनुष्य के सामाजिक जीवन के सभी पक्षों को समेट लेते हैं। उनका विश्वास है कि मनुष्य का सम्पूर्ण सामाजिक जीवन राज्य के अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार वे समाज तथा राज्य में अन्तर नहीं मानते। राज्य को स्वतः पूर्ण मानने का एक परिणाम यह भी होता है कि राज्य अपने आप में एक पूर्ण मानवीय समाज है जिसे अन्य किसी समाज की आवश्यकता ही नहीं। व्यक्ति की नगर राज्य की सदस्यता तथा मानव समाज की सदस्यता एक समान हैं, वस्तुतः वह राज्य की सदस्यता के अतिरिक्त कुछ नहीं। इस प्रकार एक ओर तो राज्य के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सभी सामाजिक संस्थाओं की ओर से आँख ही मूद ली गई, दूसरी ओर राज्य को व्यक्ति जीवन के नियन्त्रण की अबाध स्वतन्त्रता प्रदान की गई। इसका कारण भी स्पष्ट है, व्यक्ति राज्य के अन्तर्गत रहता हुआ ही अपनी सम्पूर्ण कामनाओं तथा आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, राज्य के बाहर उसके जीवन का कोई मूल्य नहीं, अतः निश्चय ही राज्य को उसके जीवन के नियन्त्रण का अबाध अधिकार होना चाहिए।

(२) ग्रीक विचारकों ने दूसरी ओर राज्य के मनोवैज्ञानिक आधार का सूक्ष्म विवेचन किया है। जहाँ **सॉफिस्ट** दार्शनिकों का विचार था कि राज्य एक अप्राकृतिक तथा बनावटी रचना है, वहाँ प्लेटो तथा अरस्तू उसे प्राकृतिक मानते हैं। संविदा सिद्धान्त के समर्थकों ने मानव प्रकृति के वास्तविक रूप की अभिव्यक्ति प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में ही मानी है। उनका कथन है कि मनुष्य वास्तविक स्वतन्त्रता तथा अधिकार का उपभोग प्राकृतिक अवस्था में ही करता रहा है। परन्तु प्लेटो तथा अरस्तू इस बात में यकीन नहीं करते, उनका कथन है कि राज्य से बाहर व्यक्ति का जीवन कभी भी स्वाभाविक नहीं माना जा सकता। समाज से बाहर या तो पशु रह सकता है या फिर देवता, मनुष्य मात्र के लिए ऐसा सम्भव नहीं। मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास समाज में ही रहकर कर सकता है, उसकी

नैतिक स्वतन्त्रता की अनुभूति भी समाज में ही सम्भव है। प्राचीन ग्रीक विचारकों ने राज्य के सावयव (Organic) रूप को स्वीकार किया है।

१६४. वर्तमान युग का आदर्शवाद (Modern Idealism)

उपर्युक्त आधार भूत तथ्यों को स्वीकार करते हुए हीगल के नेतृत्व में राज्य के दैवीय स्वरूप के विकास और उसकी अबाध शक्ति की धारणा का समर्थन किया गया। हीगल के मतानुसार राज्य के भीतर रहते हुए ही व्यक्ति वास्तविक स्वतन्त्रता को अनुभव कर सकता है, राज्य के कानून पालन में ही यक्ति की स्वतन्त्रता का सार निहित है। हीगल यह नही स्वीकार करता कि मनुष्य प्राकृतिक स्थिति में स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है या उसे कुछ अधिकार प्राप्त हैं जो कि उसे राज्य ने नहीं अपितु प्रकृति से प्राप्त हुए हैं। व्यक्ति के हित तथा अधिकार की प्राप्ति राज्य में ही सम्भव है, उसके बाहर नहीं।

राज्य की आज्ञा का पालन मनुष्य का पवित्र कर्त्तव्य है। राजकीय शक्ति चाहे किसी भी व्यक्ति के हाथ में क्यो न हो, वह दैवीय है, वह कभी गलत नही हो सकती वह हमेशा न्यायपथ का अनुसरण करती है। राज्य तथा व्यक्ति के हितों में कभी भी कोई विरोध नही होता। कभी कोई विरोध उत्पन्न हो भी तो भी राज्य सदा न्याय-पथ पर होता है, और व्यक्ति गलत होता है। क्योंकि राज्य सामूहिक हित का प्रतिनिधि है, वह व्यक्ति की नहीं समाज की बुद्धि को प्रतिबिम्बित करता है, व्यक्ति तो स्वार्थी भी हो सकता है, परन्तु राज्य नहीं।

हीगल के ऐसा मानने का कारण रूसो का 'सामान्य इच्छा' (General will) का सिद्धान्त है। 'सामान्य इच्छा' के आधार पर यह यकीन किया जाता है कि मनुष्य की नैतिक तथा श्रेष्ठ इच्छा का प्रतिनिधित्व राज्य द्वारा होना है। 'सामान्य इच्छा' सदा ही तर्कसंगत होती है, वह सदा ही समाजहित का ध्यान रखती है और वह सदा ही ठीक होती है। हीगल की स्वतन्त्रता की परिभाषा नकारात्मक नहीं, वह यह नहीं मानता कि मनुष्य की स्वतन्त्रता का अर्थ पाबन्दियों की अनुपस्थिति है, स्वतन्त्रता की ऐसी परिभाषा सकुचित तथा नकारात्मक होती है। स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह भी नहीं कि मनुष्य जो चाहे करे। दरअसल स्वतन्त्रता **का अर्थ है बुद्धि पूर्वक कार्य करना।** हीगल वैयक्तिक बुद्धि की बजाए सामाजिक या सामूहिक बुद्धि पर अधिक यकीन करता है। वह यह नहीं मानता कि व्यक्ति अपने कार्यो में सदा ही बुद्धि पूर्वक प्रवृत्त होता, अनेक बार वैयक्तिक बुद्धि गलत रास्ता चुन सकती है और इस प्रकार वह अपने ही हित के विरुद्ध जा सकता है। समाज के कार्य सामूहिक बुद्धि के परिणाम होते हैं, कानून इसी सामूहिक बुद्धि पर आधारित होते हैं, अतः व्यक्ति का कल्याण इन कानूनों के अनुसरण में है, उसकी स्वतन्त्रता की सच्ची अनुभूति सामान्य इच्छा द्वारा प्रेरित राजकीय नियमों के पालन से ही सम्भव है। राज्य के वे सभी कार्य जो सामान्य इच्छा के परिणाम हैं और जो सामूहिक प्रतिभा पर आधारित हैं सदा ही न्यायपूर्ण और व्यक्ति के सामान्य हित के पोषक होते हैं। दूसरे शब्दों में राज्य का

कोई भी कार्य अनैतिक नहीं होता, क्योंकि उसके कार्य उस सामान्य इच्छा के परिणाम होते हैं जो व्यक्ति की उच्चतम नैतिक धारणाओं पर आधारित होते हैं।

हीगल इत्यादि आदर्शवादियों का विचार है कि राज्य का अपना व्यक्तित्व होता है, और इसी कारण वह साधन स्वरूप नहीं बल्कि साध्य है। राज्य के अपने अधिकार हैं और ये अधिकार व्यक्ति के अधिकारों से अधिक यथार्थ हैं। व्यक्ति के अधिकार तो राज्य की रचना मात्र हैं, राज्य जब चाहे उन्हें समाप्त कर सकता है। वैयक्तिक अधिकार राज्य की देन हैं इसलिए राज्य तथा व्यक्ति में कभी कोई विरोध नहीं हो सकता।

हीगल का राज्य वेदान्तियों के ब्रह्म की भान्ति पूर्ण (Absolute) है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर आदर्शवाद के अनुसार राज्य के स्वरूप तथा व्यक्ति तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में निम्नलिखित तथ्य विशेष विचारणीय हैं—

(क) राज्य के कार्य 'सामान्य इच्छा' द्वारा प्रेरित होते है, और सामान्य इच्छा में प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा अन्तर्निहित होती है, अतः राज्य सदा ही समाज के नागरिकों की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है, वह कभी भी अप्रतिनिधिक नहीं होता। राज्य द्वारा निर्धारित नियमों में तथा व्यक्ति स्वातन्त्र्य में कोई विरोध नही।

(ख) व्यक्तियों के पारस्परिक तथा व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व राज्य के व्यक्तित्व का ही भाग है। जिस प्रकार शरीर में भिन्न अंग हैं परन्तु वे अंग अन्तिम रूप से शरीर के अभिन्न भाग है, उनसे पृथक उनका कोई जीवन सम्भव नही, राज्य से पृथक मनुष्य कुछ भी नहीं सोच सकता।

(ग) वैयक्तिक नैतिकता का संरक्षक तथा नियायक राज्य है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व राज्य में विलीन हो जाता है। इसी प्रकार व्यक्ति की नैतिकता भी राज्य के नीति धर्म में विलीन हो जाती है। राज्य इस नैतिकता का जनक होते हुए भी इसके बन्धन से स्वतन्त्र है। उसके कार्यो पर नैतिक नियम लागू नहीं हो सकते, दूसरे शब्दों में राज्य के कार्यों को बुरा-भला नहीं कहा जा सकता। अगर राज्य पर नैतिक नियम लागू हों तो इसका अर्थ है कि राज्य की प्रभुसत्ता ही खत्म हो जाएगी। राज्य की प्रभुता, उसकी सर्वोपरिता तथा उच्चता उसकी अबाध शक्ति के ही कारण है, यही कारण है कि आदर्शवादी अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून मानने के लिए तैयार नहीं।

१६५. टी. एच. ग्रीन के आदर्शवादी विचार

आदर्शवाद के उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर हमें टी. एच. ग्रीन द्वारा किए गए एतद् विषयक विचारों से अवगत हो लेना चाहिए। ग्रीन पर इंग्लैण्ड के व्यक्तिवाद का विशेष प्रभाव था, आदर्शवादी विचारकों में वह प्लेटो तथा हीगल की अपेक्षा अरस्तू और काण्ट के राजनैतिक विचारों के अधिक निकट था। उसने आदर्शवाद के संयमित रूप को प्रस्तुतः किया है, प्लेटो व अरस्तू इत्यादि की भान्ति वह मनुष्य को

सामाजिक प्राणी समझता है और राज्य को प्रकृत तथा नैतिक संस्था स्वीकार करता है, **परन्तु वह राज्य को न तो परम पूर्ण ही मानता है और न सर्वशक्तिमान।** उसका विचार है कि राज्य की शक्ति आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही दृष्टियों से सीमित है। (१) आन्तरिक दृष्टि से राज्य शक्ति के सीमित होने का कारण तो स्पष्ट है। ग्रीन कहता है कि राज्य-विधान केवल मात्र हमारे बाह्य जीवन का ही नियमन कर सकता है, आन्तरिक का नहीं। आन्तरिक जीवन उसकी पहुँच से बाहर है। व्यक्ति का उद्देश्य आत्म-ज्ञान (Self-realisation) है, यह नैतिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्य है, राज्य इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायता ही कर सकता है। इस रूप में राज्य इस उद्देश्य की प्राप्ति के मार्ग में आने वाली सम्पूर्ण बाधाओं को दूर करता है। ग्रीन यह नहीं मानता कि व्यक्ति को राज्य के विरोध करने का कोई अधिकार ही नहीं। वह मानता है कि ऐसी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं, जब कि नागरिक राज्य को अनैतिक कार्य करता देख उसका विरोध करें। परन्तु यह केवल नैतिक अधिकार है। **इसी प्रकार ग्रीन यह भी नहीं स्वीकार करता कि राज्य के अन्तर्गत ही सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्धों को समेटा जा सकता है।** राज्य के अन्तर्गत मौजूद रहने वाले विविध समुदायों तथा संघों की स्वतन्त्र स्थिति है, परन्तु उनके सम्बन्धों का नियन्त्रण राज्य द्वारा होना है।

ग्रीन प्लेटो अरस्तू तथा हीगल की तरह राज्य को स्वतः पूर्ण नहीं मानता। वह यह नहीं स्वीकार करता कि विभिन्न राज्यों में अवस्थित सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण ही होते हैं, राज्य एक दूसरे पर आश्रित हैं। वर्तमान काल में वैज्ञानिक साधनों के विकास के फलस्वरूप यह अन्योन्याश्रिता और भी अधिक बढ़ गई है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से राज्यों का पूर्ण स्वतन्त्र तथा स्वेच्छाचारी हो सकना असम्भव है, उनके पारस्परिक सम्बन्धों का नियन्त्रण अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा होता है। **हीगल अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवस्थिति को स्वीकार नहीं करता,** ग्रीन विश्व-बन्धुत्व की भावना में यकीन करता है। ग्रीन राज्य के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के सिद्धान्त की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करता। राज्य का व्यक्तित्व तथा जीवन उसके विधायक तत्त्व-व्यक्तियों-से स्वतन्त्र तथा पृथक नहीं होता।

ग्रीन स्वतन्त्रता के निषेधात्मक (Negative) रूप को स्वीकार नहीं करता। वह यह नहीं मानता कि स्वतन्त्रता का अर्थ नियमों की पाबन्दियों की अनुपस्थिति है। **स्वतन्त्रता का अर्थ तो आत्म ज्ञान है।** यह स्वतन्त्रता की आध्यात्मिक या नैतिक परिभाषा है और इसका केन्द्र व्यक्ति है। राज्य का कर्त्तव्य इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उचित परिस्थितियों का निर्माण है। दूसरे शब्दों में राज्य को अधिकारों की सृष्टि करनी चाहिए, क्योंकि अधिकार ही मनुष्य के आन्तरिक विकास की बाह्य परिस्थितियों का निर्माण करते हैं। अधिकारों के लिए कानूनी मान्यता ही आवश्यक नहीं, उनका नैतिक आधार भी होना चाहिए।

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में ग्रीन वैयक्तिक आदर्शों की प्राप्ति पर अधिक जोर देता है, यानी उसका विश्वास है कि **राज्य को सामान्यतया वही कार्य करने चाहिए**

जिनसे व्यक्ति के आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकें। राज्य को इस उद्देश्य की प्राप्ति में आने वाली सभी बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । अज्ञान, अशिक्षा, नशेबाजी इत्यादि आत्मज्ञान की प्राप्ति में कुछेक ऐसी रुकावटें हैं जिन्हें राज्य को अवश्य दूर करना चाहिए । इस प्रकार **ग्रीन राज्य को सामाजिक कल्याण के लिए आवश्यक कार्यों के करने की छूट देता है।**

राज्य शक्ति का प्रयोग करता है, परन्तु इस प्रकार का शक्ति प्रयोग अनैतिक नहीं क्योंकि राज्य व्यक्ति की सहमति या इच्छा पर आधारित है । राज्य के कानून इत्यादि 'सामान्य इच्छा' (General will) का प्रतिनिधित्व करते हैं, परन्तु शक्ति का प्रयोग जनहित के लिए ही किया जाना चाहिए ।

आलोचना—आदर्शवादी सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की जाती है । प्रो० हाबहाऊस, लास्की, ड्युग्वी, मेकआइवर तथा जोड इत्यादि आदर्शवाद के प्रमुख आलोचकों में हैं । इस सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जाती है—

(१) आदर्शवाद का सिद्धान्त अनेक भ्रान्त धारणाओं पर आधारित है, उन्होंने राज्य तथा समाज को एक समझा है और यही कारण है कि वे राज्य को अबाध शक्ति सम्पन्न बना देते हैं । **राज्य समाज का एक भाग है वह सम्पूर्ण समाज नहीं ।** राज्य भी उसी प्रकार हमारी सामाजिक प्रकृति का परिणाम है जैसे अन्य-समुदाय । समाज बहुत विस्तृत है, राज्य संकुचित । समाज व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को अपने भीतर समेट सकता है, परन्तु राज्य नहीं । समाज प्रमुख है, वह हमारी सामाजिक प्रवृत्ति का प्रथम तथा प्रमुख परिणाम है, समाज के भीतर अनेक अन्य समुदाय हैं वे सभी हमारे जीवन के समुचित विकास के लिए मूल्यवान हैं । राज्य भी उन्हीं अनेक आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा कलात्मक और राजनीतिक समुदायों में से एक है, उनसे नैतिक दृष्टि से या प्रकृति की दृष्टि से किसी भी प्रकार श्रेष्ठ या ऊँचा नहीं । बहुसमुदायवाद की विवेचना करते हुए हम पीछे स्पष्ट कर आए हैं कि व्यक्ति के प्रमुख (Primary) तथा गौण (Secondary) स्वार्थों की सन्तुष्टि क्रमशः समुदायों तथा राज्य में होती है । आज के हमारे जीवन में हम राज्य की अपेक्षा समदायों के अधिक निकट हैं, राज्य तो एक प्रशासकीय मशीनरी मात्र है जिसे सुविधानुसार भंग भी किया जा सकता है ।

(२) राज्य की सदस्यता में ही सभी प्रकार के मानवीय सम्बन्धों का अन्त नहीं माना जा सकता । एक राज्य अपने भीतर रहने वाले नागरिकों का प्रतिनिधित्व चाहे कर भी ले परन्तु वह अन्य राज्यों में रहने वाले लोगों का प्रतिनिधित्व नही कर सकता । **दूसरे शब्दों में एक ही राज्य सम्पूर्ण मानवीय समाज का प्रतिनिधि नहीं हो सकता।** राज्य की सर्वव्यापकता का समर्थन नैतिक नियमों से स्वतन्त्र होने के लिए किया जाता है । परन्तु जब राज्य सर्वव्यापी नही और उस जैसे अन्य राज्य भी हैं और उससे भी विस्तृत एक अन्य समाज है, जिसका कि वह एक हिस्सा मात्र है, तो वह सभी प्रकार के नैतिक नियमों से स्वतन्त्र नहीं हो सकता, राज्यों के पारस्परिक व्यवहार में नैतिक नियमों का पालन जरूरी है । **राज्य सम्पूर्ण विश्व का संरक्षक नहीं वह तो नैतिक**

नियमों के संसार का एक तथ्य मात्र है। राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त इस दृष्टि से अत्यन्त खतरनाक है। वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अराजकता तथा युद्ध को प्रोत्साहित करता है।

(३) आदर्शवादी यथार्थ से दूर हैं, उनके सिद्धान्त में कल्पना की प्रधानता है। प्लेटो का कथन है कि आदर्श राज्य का निर्माण इस विश्व में सम्भव नहीं, वह स्वप्न लोक की रचना मात्र है। उसमें व्यावहारिकता का अभाव है।

यही नहीं आदर्शवादियों का उद्देश्य तो आदर्श राज्य का चित्रण है, ऐसे राज्य का विवरण देना है जो सचमुच आदर्श हो, जिसमें व्यक्ति तथा राज्य के उद्देश्यों में किसी भी प्रकार का विरोध न हो, जिसमें व्यक्ति की इच्छाएँ राज्य की इच्छा में ही समा जाएँ, ऐसा राज्य अभी मौजूद नहीं। परन्तु आदर्शवादी मौजूदा राज्य को ही आदर्श मानते हैं। उनका कथन है कि राज्य के आदेश का पालन हमारा पवित्र कर्त्तव्य है, क्योंकि वह आदेश हमारी ही नैतिक तथा सर्व श्रेष्ठ इच्छा पर आधारित है, राज्य का विरोध अनुचित तथा अनैतिक है। परन्तु वर्तमान राज्य तो अपूर्ण है, उस में अनेक कमियाँ है, जिनका ध्यान आदर्शवादी नही करते। वे वर्तमान राज्य को ही आदर्श रूप में स्वीकार कर लेते हैं। परिणाम स्वरूप **आदर्शवाद सुधारवाद बनने की बजाए रूढ़िवाद तथा प्रतिक्रियावाद बन जाता है। वह यथा पूर्व स्थिति का समर्थन करता है।** अरस्तू ने दास प्रथा का हीगल ने युद्ध का और ग्रीन ने वैयक्तिक सम्पत्ति व्यवस्था का इसी आधार पर समर्थन किया है।

(४) **आदर्शवाद वैयक्तिक स्वतन्त्रता का शत्रु है,** वह राज्य की अबाध तथा असीम शक्ति का समर्थन करता है। राज्य के लिए सर्वस्व का त्याग व्यक्ति का पवित्र कर्तव्य है। व्यक्ति राज्य की बड़ी मशीन में एक साधारण पुर्जा मात्र है, जिसे राज्य जैसा चाहे इस्तेमाल कर सकता है। राज्य की सम्पूर्ण आज्ञाएं व्यक्ति के लिए शिरोधार्य होनी चाहिएँ, ऐसा मानने का अर्थ है नागरिक के व्यक्तित्व तथा अधिकारों का विनाश।

(५) हीगल इत्यादि आदर्शवादी विचारकों के सिद्धान्त का आधार सामान्य इच्छा का सिद्धान्त है। सामान्य इच्छा को सिद्धान्त का आधार व वास्तविक (Actual) तथा यथार्थ (Real) इच्छा का भेद है, परन्तु ऐसा भेद निरर्थक है। प्रो० हाबहाउस इस भेद को अयथार्थ मानता है। हमारा व्यक्तित्व एक अटूट इकाई है, उसका उच्च तथा नीच व्यक्तित्व के रूप में विभाजन नहीं हो सकता। दोनों प्रकार की इच्छाएँ हमारे सामान्य व्यक्तित्व का अभिन्न अंग हैं। फिर इस सामान्य इच्छा के जानने का कोई उपयुक्त साधन नहीं। 'सामान्य इच्छा' सदा जनहित में होती है, वह सदा तर्क-सम्मत है। परन्तु 'जनहित' क्या है, यह एक पेचीदा प्रश्न है। क्या राज्य 'जनहित' का अन्तिम निर्णायक है? राज्य अपने आप में क्या है? अन्तिम रूप से राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति सरकार द्वारा होती है, सरकार चार व्यक्तियों से मिलकर बनती है, वह जरूरी नहीं 'सामान्य इच्छा' द्वारा प्रेरित हो।

राज्य में अनेक परस्पर विरोधी समुदाय तथा वर्ग होते हैं, उन के स्वार्थों में

मूलभूत विरोध होता है । ऐसी अवस्था में राज्य के अन्तर्गत विभिन्न वर्गों की वास्तविक तथा यथार्थ इच्छा से सदा ही संघर्ष रहेगा । 'सामान्य इच्छा' के सिद्धान्त का प्रयोग बहुत ही गलत तरीके से किया जाता है । राज्य 'सामान्य इच्छा' से प्रेरित होता है, अतः वह जो कुछ करे ठीक है वह न तो अनैतिक ही है और न अन्यायपूर्ण, इस प्रकार राज्य कभी गलती कर ही नहीं सकता । परन्तु यह धारणा कितनी अवैज्ञानिक है, इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि राज्य की इच्छा अपने वास्तविक रूप में सरकार की इच्छा से भिन्न नहीं । चन्द व्यक्तियों से मिलकर बनी सरकार कभी गलती न कर सके, यह असम्भव है ।

(६) राज्य के व्यक्तित्व की आदर्शवादी धारणा का मेकआइवर, धुग्वी तथा प्रो० गिन्सबर्ग ने खण्डन किया है । मेकआइवर (MacIver) का कथन है कि जिस प्रकार विद्यार्थियों के समूह से किसी नये विद्यार्थी की सृष्टि नहीं हो जाती या पशुओं का रेवड़ स्वयं पशु नहीं हो जाता ठीक वैसे ही राज्य व्यक्तियों का समूह अवश्य है, परन्तु वह स्वयं व्यक्तित्व सम्पन्न नहीं । गिन्सबर्ग का कथन है कि वैयक्तिक उद्देश्यों तथा आदर्शों की पूर्ति व्यक्तियों में ही सम्भव है, राज्य के तथाकथित व्यक्तित्व में नहीं । व्यक्तियों से पृथक राज्य का कोई व्यक्तित्व नहीं, व्यक्तियों से पृथक राज्य का कोई स्वार्थ नहीं, व्यक्ति ही राज्य तथा समाज की अन्तिम तथा वास्तविक इकाई है, उससे ऊपर या परे किसी अन्य के व्यक्तित्व को मानना कोरी कल्पना तथा गप्प मात्र है ।

राज्य की इच्छा के अन्तर्गत सभी मनुष्यों की इच्छा नहीं आ सकती, क्योंकि मनुष्य एक जीवित प्राणी है, वह स्वतन्त्र इच्छा व शक्ति (Will power) तथा व्यक्तित्व से सम्पन्न है । प्राणी-शरीर के जीव कोषों की (Cells) की तरह यह मृत तथा जड़ नहीं ।

(७) हीगल, बोसांके तथा हीगल के जर्मन अनुयायी ट्रीट्श्के और बर्नहार्डी ने जिस उग्र राष्ट्रवाद का समर्थन किया है, वह युद्ध का जनक तथा विश्वशान्ति का परम शत्रु है । हीगल इत्यादि राज्य को नैतिक नियमों से ऊँचा मानते हैं, वे अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों की तथा कानून की कोई कानूनी महत्ता नहीं समझते । राष्ट्र या राज्य ही मानव समाज की सर्वोच्च नैतिक इकाई है, उसके संवर्द्धन के लिए नागरिकों को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए । परन्तु इस प्रकार का अन्धा राष्ट्रवाद कभी भी अच्छा नहीं समझा जा सकता । हिटलर तथा मुसोलिनी ने आदर्शवाद द्वारा समर्थित राष्ट्रवाद को अपना उसे व्यावहारिक रूप दिया । **प्रो० हाबहाऊस का कथन है कि राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त युद्ध का सबसे बड़ा कारण रहा है ।**

उपर्युक्त प्रमुख आधारों के अतिरिक्त आदर्शवाद की आलोचना बौद्धिकता के और कल्पनात्मकता की अधिकता के आधार पर भी की जाती है । मनुष्य इतना विवेक सम्पन्न नहीं जितना कि आदर्शवादी विचारक उसे मानते हैं । कल्पनात्मकता की अधिकता के कारण आदर्शवादी सिद्धान्त रहस्यपूर्ण तथा अवास्तविक बन गया है, इसमें राज्य के कर्त्तव्य भी नकारात्मक हैं ।

उपसंहार (Conclusion)—उपर्युक्त आलोचना अधिकांश में हीगल, बोसाँके तथा बर्नहाडी वगैरा उग्र आदर्शवादियों पर ही लागू होती है, काण्ट तथा ग्रीन इत्यादि पर नहीं । काण्ट तथा ग्रीन दोनों ने आदर्शवाद के संयमित रूप को प्रस्तुत किया है, उन्होंने राज्य को एक आध्यात्मिक नैतिक संस्था मान संविदावाद या उपयोगितावाद द्वारा फैलाये असत्य का खण्डन किया; दोनों ने युद्ध का विरोध किया, विश्वशान्ति का समर्थन किया और राज्य की निरंकुशता की निन्दा की । यही नहीं उन्हों ने राज्य के कर्त्तव्यों तथा उसकी कार्यवाहियों के जांचने के नैतिक मूल्य रखे। राजनीतिशास्त्र का विद्यार्थी केवल राज्य के मौजूदा स्वरूप से ही सम्बन्धित नहीं वह राज्य के विकास या जन्म का ही अध्ययन नहीं करता, अपितु राज्य के कार्यों की उचित जाँच के लिए नैतिक मूल्यों की भी परीक्षा करता है । राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त इस विषय में हमारी बहुत सहायता करता है। नैतिक मूल्यों का हमारे जीवन में बहुत महत्व है, इस बात को हम किसी भी तरह भूल नहीं सकते, बिना आदर्शों के हमारी प्रगति मुश्किल है।

Important Questions

	Reference
1. Explain critically the idealist theory of the State. (*Pb.* 1956, 1954, 1946,	Arts. 163, 164 and 165.
2. Idealist theory postulates 'the identy of the State with the sum–total of human society which is obviously false.' (Joad). Discuss.	Arts. 163, 164 and 165
3. Make an examination of T.H. Green's political philosophy.	Art. 165

अध्याय २६

राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त (२)

व्यक्तिवाद (Individualism)

१६६. व्यक्तिवाद का स्वरूप

राज्य के कर्त्तव्यों का विवेचन व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के अनुसार पृथक प्रकार से किया गया है। पिछले पृष्ठों में हमने राज्य के आदर्शवादी स्वरूप का विवरण दिया और यह दिखाया कि किस प्रकार आदर्शवाद राज्य को प्रकृत संस्था स्वीकार करता है, किस प्रकार से वह उसे उच्च नैतिक समुदाय के रूप में मानता हुआ असीम तथा अबाध शक्ति सम्पन्न बना देता है। व्यक्तिवाद आदर्शवाद के विपरीत है। व्यक्तिवाद राज्य को नैतिक संस्था नहीं मानता न ही उसे प्रकृत समझता है। व्यक्तिवाद के अनुसार व्यक्ति साध्य है और राज्य साधन, परन्तु कोई श्रेष्ठ साधन नहीं। राज्य एक आवश्यक बुराई (Necessary evil) है। उसकी उपस्थिति हमारे समाज में लाजमी है, परन्तु एक लाजमी बुराई के रूप में ही। समाज में अपराध की अवस्थिति है इसी कारण राज्य की आवश्यकता है। मनुष्य स्वार्थी तथा अहंकारी होता है अतः अपने साथियों तथा सहयोगियों के अधिकारों पर हमला कर सकता है, इन बातों की रोक-थाम के लिए किसी न किसी राजनीतिक सत्ता की आवश्यकता रहती है—वह आवश्कता राज्य द्वारा पूरी की जाती है।

इसी कारण व्यक्तिवादी विचारकों का मत है कि राज्य को थोड़े से थोड़े कार्य सौंपने चाहिए। राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत संकुचित होना चाहिए। फ्रीमैन का कथन है कि **"शासन का सर्वोत्तम रूप शासन का अभाव है, किसी भी रूप में शासन को अस्थिति मानव की अपूर्णता का सूचक है।"**[1] यही कारण है कि अधिकाँश व्यक्तिवादी राज्य को केवल नकारात्मक कार्य ही सौंपते हैं। उनका कथन है कि राज्य को केवल रक्षात्मक कर्त्तव्य ही देने चाहिए यानी उसे व्यक्ति को वाह्य आक्रमण से बचाना चाहिए, उनके पारस्परिक झगड़े निपटाने चाहिएँ और एतदर्थ न्याय व्यवस्था की स्थापना करनी चाहिए। राज्य का कार्य संवर्द्धन तथा पोषण नहीं, दूसरे शब्दों में राज्य लोक-हितकारी कार्यों को सम्पन्न नहीं कर सकता। उसे शिक्षा, जन स्वास्थ्य, निर्धनों की रक्षा तथा कला व साहित्य इत्यादि के प्रचार की तथा जन-उपयोगी सेवाओं के प्रचलन की व्यवस्था की आवश्यकता नहीं। राज्य के कार्यक्षेत्र की अभिवृद्धि

---

1. "The ideal form of Government is no Government at all, the existence of Government in any shape is a sign of man's imperfection."
—*Freeman*

का अर्थ है व्यक्ति स्वतन्त्रता का विनाश। राज्य द्वारा बनाया गया प्रत्येक कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर एक पाबन्दी है, अतः राज्य के कार्यक्षेत्र की अभिवृद्धि नहीं होनी चाहिए। उसको आर्थिक, सामाजिक, नैतिक तथा राजकीय मामलों में पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए।

व्यक्तिवाद के सिद्धान्त का विकास—राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शत्रु है, वह मनुष्य के आत्मविकास में बाधक है और वह अप्रकृतिक रचना मात्र है, उसका कोई नैतिक स्वरूप नहीं, इस प्रकार के विचार तो हमें सम्पूर्ण राजनीति शास्त्र के इतिहास में मिल जाते हैं। प्राचीन ग्रीस के प्लेटो तथा अरस्तू के विपरीत सॉफिस्टों का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है, वह राज्य को एक बुराई के रूप में ही ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार के विचार का समर्थन एपिक्यूरियन तथा स्टोइक विचारधारा में भी मिलता है। हाब्स ने सैद्धान्तिक रूप से अवश्य ही राज्य को अबाधशक्ति सम्पन्न माना है, परन्तु उसका राज्य अन्तिम रूप से वैयक्तिक हित तथा सुरक्षा का दास मात्र है। वह राज्य की नैतिक सत्ता को तो स्वीकार ही नहीं करता, उसे केवल मात्र साधन समझता है, व्यक्ति ही उसके विचारानुसार साध्य है। लॉक के विचारों में प्रथम बार व्यक्तिवाद के स्पष्ट रूप में दर्शन होते हैं। लॉक राज्य को सीमित कर्तव्य सौंपता है और उसके अधिकार क्षेत्र पर जबर्दस्त पाबन्दियाँ लगा देता है। लॉक के दर्शन में व्यक्ति ही सम्पूर्ण शक्ति का केन्द्र है, वही सम्पूर्ण सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु है। निश्चय ही लॉक के व्यक्तिवाद का आधार मनुष्य के प्रकृत अधिकार (Natural rights) हैं। लॉक तथा रूसो के विचारों के परिणाम स्वरूप जनतन्त्रात्मक शासन व्यवस्थाओं का विकास हुआ, जिसके अन्तर्गत मानव के व्यक्तित्व तथा उसके अधिकारों को मान्यता प्रदान की गयी। इस प्रकार का दर्शन निश्चय ही क्रान्तिकारी दर्शन था, इसने मानवीय इतिहास में प्रथम बार मनुष्य का मनुष्य के रूप में मूल्य आंका।

परन्तु वर्तमान युग के व्यक्तिवाद का प्रारम्भ कुछ विभिन्न परिस्थितियों में हुआ, इसके विकास का क्षेत्र औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) द्वारा तैयार किया गया। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप इंग्लैण्ड में कुछ ऐसे आर्थिक परिवर्तन हुए कि जिन के लिए व्यक्तिवादी दर्शन का विकास एक अनिवार्य माँग हो गयी। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप इंग्लैण्ड में स्वतन्त्र तथा बेरोक टोक व्यापार की माँग की गई। १८वीं सदी के शुरू में इंग्लैण्ड में यह धारणा प्रचलित थी कि राष्ट्रीय हित की सुरक्षा के लिए सरकार द्वारा व्यापारिक नियन्त्रण की परम आवश्यकता है। परन्तु बाद में यह अनुभव किया जाने लगा कि व्यापार तथा उद्योग धन्धों के प्रसार तथा विकास पर राज्य का कोई नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। इस मत का समर्थन फ्रांस के फिज्योक्रेटिक (Physiocratic) अर्थशास्त्रियों ने किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार हमारे विश्व में अन्य प्राकृतिक नियम हैं और उनके संचालन में हम कोई दखल नहीं देते, इसी प्रकार हमारे आर्थिक जीवन में भी कुछ विशेष नियम हैं जिन्हें प्राकृतिक नियम कहा जा सकता है और जिनका नियन्त्रण राज्य

द्वारा नहीं होना चाहिए, राज्य को इन नियमों में दखल नहीं देना चाहिए। उत्पादन को स्वतन्त्रता पूर्वक चलते रहने देना चाहिए। उत्पादन व्यवस्था को यदि स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए तो वह स्वयं अपना नियन्त्रण कर लेगी। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छानुसार कार्य करने का अधिकार होना चाहिए। फिज्योक्रेट्स के उपर्युक्त विचार का समर्थन एडमस्मिथ ने भी किया। एडमस्मिथ प्रत्येक व्यक्ति को इतना समझदार मानता है कि वह स्वयं अपना हित साधन कर सकता है, स्वयं अपने आर्थिक स्वार्थों की रक्षा कर सकता है। अगर राज्य इसमें दखल दे तो वह समाज के लिए किसी भी तरह हितकारी साबित नहीं होगा।

नैतिक रूप में व्यक्तिवाद का समर्थन इंग्लैण्ड के उपयोगितावादियों ने बड़े जोर शोर से किया। उपयोगितावादी दर्शन अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के सिद्धान्त में यकीन करता है। अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की प्राप्ति व्यापार की स्वतन्त्रता तथा राज्य द्वारा वैयक्तिक जीवन में कम से कम दखल से ही सम्भव है। राज्य का आधार शक्ति है, शक्ति का प्रयोग पीड़ाजनक होता है, वह व्यक्ति स्वतन्त्र्य का भी शत्रु है। अतः राज्यशक्ति का प्रयोग थोड़े से थोड़ा होना चाहिए।

व्यक्तिवाद के स्वरूप का जितना व्यवस्थित तथा जोरदार समर्थन जे. एस. मिल तथा स्पेन्सर के विचारों में मिलता है, इतना अन्यत्र नहीं। जे एस. मिल के व्यक्तिवाद में नैतिक तर्कों की प्रधानता है जब कि स्पेन्सर में वैज्ञानिक। मिल का व्यक्तिवाद उदार है, उसमें कठोरता नहीं। वह राज्य के कर्त्तव्यों तथा व्यक्ति तथा राज्य के सम्बन्धों का विवेचन करता हुआ कहता है कि **"आत्म रक्षा ही एकमात्र ऐसा मकसद है कि जिसके आधार पर मानव-जाति को, व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से, अपनी संख्या में से किसी एक की स्वतन्त्रता में दखल देने का अधिकार हो सकता है। दूसरों की सम्भावित हानि को रोकना ही एक मात्र ऐसा उद्देश्य है कि जिसके लिए सभ्य समाज के किसी सदस्य पर उसकी इच्छा के विरुद्ध शक्ति को इस्तेमाल किया जा सकता है। व्यक्ति का शारीरिक या नैतिक हित कभी भी राज्य हस्तक्षेप को उचित नहीं बना सकता। समाज के प्रति व्यक्ति अपने आचारण के उसी भाग के लिए उत्तरदायी है जिसका दूसरों से सम्बन्ध है। व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता का अधिकार है। अपने ऊपर, अपने शरीर तथा मन पर उसका पूर्ण प्रभुत्व है।"**[1]

इस प्रकार मिल व्यक्ति के सम्पूर्ण आचारण को दो भागों में बाँट देता है।

1. "The sole end for which mankind are warranted, individually or collectively, in interfering with the liberty of action of any of their number, is self-protection. The only purpose for which power can be rightfully exercised on any member of a civilized community, against his will, is to prevent harm to others. His own good, either physical or moral, is not sufficient warrant. The only part of the conduct of anyone, for which he is amenable to society, is that which concerns others. In the part which merely concerns himself, his independence is of absolute on himself, on his own body and mind, the individual is sovereign."—*J. S. Mill*

वे हैं—आत्म-परक कार्य (Self-regarding-acts) तथा सामाजिक कार्य (Social-acts) राज्य केवल व्यक्ति के सामाजिक कार्यों का ही नियन्त्रण कर सकता है, आत्म परक कार्यों का नहीं। आत्म-परक कार्यों के विषय में वह पूर्ण स्वतन्त्र है।

स्पैन्सर तो राज्य को एक बहुत बडी बुराई मानता है, उसका कथन है कि राज्य का उदय हमारी दुष्ट प्रकृति के फलस्वरूप हुआ है। वह व्यक्ति के अधिकारों का रक्षक नहीं, बल्कि उनका भक्षक है। शासन दुराचारी है, यदि पूर्ण नैतिक अवस्था की स्थापना हो जाए तो उसकी आवश्यकता ही नहीं रह सकती।[1] स्पैन्सर ने विकासवाद तथा प्राणि-विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राज्य की अवस्थिति मानव समाज के विकास क्रम के निचले स्तर पर आवश्यक होती है। उसका कथन है कि पुराना समाज 'सैनिक समाज' (Military society) था उस में कड़े नियन्त्रण की भले ही आवश्यकता रही हो, परन्तु वर्तमान युग के औद्योगिक समाज (Industrial society) के लिए उसकी जरूरत नहीं। वर्तमान युग में ऐच्छिक सहयोग का अधिक महत्व है। प्राणी-विज्ञान के अनुसार स्पैन्सर यह स्वीकार करता है कि समाज में उपयुक्ततम की अवस्थिति (Survival of the fittest) का सिद्धान्त कार्य कर रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार इस समाज में अपना स्थान बनाने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रकृत प्रतियोगिता (Competition) में वही लोग बच सकते हैं जो कि सक्षम या सशक्त हैं। राज्य को इस स्वाभाविक प्रक्रिया में किसी प्रकार का दखल नहीं देना चाहिए। अतः स्पैन्सर के मतानुसार राज्य के केवल मात्र नकारत्मक कार्य हैं। वे इस प्रकार हैं--

(१) बाह्य आक्रमण से व्यक्तियों की रक्षा।

(२) आन्तरिक शत्रुओं से व्यक्तियों की रक्षा।

(३) कानून के अनुसार किए गए समझौते का पालन करवाना।

राज्य को शिक्षा, जन स्वास्थ्य तथा जन-हित के अन्य कार्यों की व्यवस्था नहीं करनी चाहिए। राज्य को स्कूल नही खोलने चाहिए, हस्पताल नहीं स्थापित करने चाहिएँ, सड़कें नहीं बनानी चाहिए, डाकखानों की व्यवस्था नहीं करनी चाहिए। संक्षेप में सभी लोक-हित के कार्यों का सम्पादन व्यक्तियों के ही हाथ में छोड़ देना चाहिए। इन कार्यों को न कर राज्य व्यक्ति की वास्तविक उन्नति में सहयोग देता है और समाज के प्रकृत विकास के प्रवाह को आबाध गति से बहने देता है।

व्यक्तिवाद के इन प्रमुख समर्थकों के अतिरिक्त काण्ट, हमबोल्ड, डी टाकवेल तथा फिचे इत्यादि भी इसके समर्थकों में से हैं।

१६७. व्यक्तिवाद का समर्थन

व्यक्तिवाद का समर्थन अनेक प्रकार के तर्कों के आधार पर किया गया है,

1. "Have we not shown that the Government is essentially immoral? Does it not exist simply because crime exists and must Government not cease when crime ceases?"—*H. Spencer.*

इन तर्कों में निम्नलिखित प्रमुख हैं।

(१) **व्यक्तिवाद का नैतिक आधार पर समर्थन**—करने वालों में काण्ट, फिचे, मिल तथा हम्बोल्ड प्रमुख हैं। इन के तर्कों का आधार न्याय तथा प्राकृतिक नियम सम्बन्धी अमूर्त धारणाएँ हैं। प्रत्येक व्यक्ति इतना बुद्धि सम्पन्न है कि वह जान सके कि उसका हित किस कार्य के करने में है, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि तथा शक्तियों के अनुसार अपने व्यक्तित्व के विकास की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने चरित्र निर्माण तथा व्यक्तित्व के विकास की अधिक से अधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। अगर राज्य व्यक्ति के वैयक्तिक कार्यों में दखल दे और उसकी विकास की दिशा को निर्दिष्ट करे तो उसमें स्वालम्बन, कार्य प्रारम्भ करने की शक्ति तथा स्वाभाविक उत्साह खत्म हो जाता है। राज्य का नियन्त्रण व्यक्ति के चरित्र में कमजोरियाँ उत्पन्न करता है, उसकी शक्तियों को नष्ट करता है और उसका प्रकृत विकास रोक देता है।

प्रकृति का नियम है प्रतियोगिता। इस प्रतियोगिता द्वारा ही वह उपयुक्ततम (Fittest) का चुनाव करती है और उन्हें पुरस्कृत करती है। प्रतियोगिता द्वारा मनुष्य की छिपी हुई शक्तियाँ प्रकाश में आती हैं और उनका विकास होता है। प्रतियोगिता द्वारा ही समाज में उच्च तथा श्रेष्ठ व्यक्तियों का चुनाव किया जा सकता है। जब प्रतियोगिता प्रकृति का नियम है तो उस पर किसी प्रकार की भी रोक नहीं होनी चाहिए। आर्थिक क्षेत्र में भी राज्य के नियन्त्रण का अभाव होना चाहिए, और प्रतियोगिता की भावना के विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए।

अतः न्याय तथा प्रकृत नियमों का अनुसरण करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए। उसे अपनी रुचि, योग्यता तथा शक्ति के अनुसार जीवन की दौड़ में भाग लेने की खुली छुट्टी होनी चाहिए।

(२) **व्यक्तिवाद का प्राणि वैज्ञानिक आधार पर समर्थन**—भी किया जाता है। स्पैन्सर का कथन है कि व्यक्तिवाद का सिद्धान्त प्राणियों के विकास सिद्धान्त के अनुरूप है। पीछे हम स्पैन्सर के सावयव राज्य के सिद्धान्त का अध्ययन कर आए हैं और यह देख चुके हैं कि किस प्रकार स्पैन्सर प्राणि विज्ञान के आधार पर व्यक्तिवाद का समर्थन करता है। स्पैन्सर का कथन है प्राणि-जगत में अस्तित्व कायम रखने के लिए बराबर संघर्ष चलता रहता है। जो कमजोर प्राणी होते हैं या जो इस संघर्ष में पिछड़ जाते हैं प्रकृति उन्हें खत्म होने देती है। जिन प्राणियों में जीवन शक्ति अधिक होती है, वही बच पाते हैं। प्राणियों के विकास का इतिहास यह सिद्ध करता है कि जो प्राणी इस संघर्ष में पीछे रह गए वह मिट गए। उनका स्थान अधिक शक्ति सम्पन्न प्राणियों ने ले लिया। उपयुक्ततम के बचने में तथा आगे आने में उनकी अपनी शक्ति ने ही उनकी सहायता की, किसी बाहरी एजेन्सी ने नहीं। जब प्राणि-जगत में विकासवाद का यह सिद्धान्त कार्य करता है तो मानव-समाज में भला क्यों नहीं करेगा? मानव-समाज में निर्धन, अयोग्य तथा अक्षम व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं और केवल योग्य तथा सक्षम व्यक्ति ही बच पाते हैं। प्रकृति का नियम है कि जीवित रहने का अधिकार

केवल सबल तथा शक्तिशाली व्यक्तियों को ही होता है। राज्य की वह तमाम कोशिशें, जिनके द्वारा यह निर्धन तथा अशक्त व्यक्तियों की सहायता करने का प्रयत्न करता है, सफल नहीं हो सकती। अतैव स्पैन्सर का कथन है कि राज्य को निर्धनों तथा मजदूरों की रक्षा तथा रोगियों की निरोग्यता और अशिक्षितों की शिक्षा इत्यादि की व्यवस्था नहीं करनी चाहिए।

आर्थिक आधार पर व्यक्तिवाद का समर्थन—करने वालों में एडमस्मिथ सर्व-प्रथम है। एडमस्मिथ के एतद् विषयक विचारों से बेन्थम तथा मिल दोनों ही पर्याप्त सीमा तक प्रभावित थे। एडमस्मिथ का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वार्थ भावना से कार्य में प्रवृत्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वार्थ भावना की पूर्ति के लिए अपनी रुचि के अनुसार उपयुक्त मार्ग का चुनाव करता है। अगर हरेक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार अपने स्वार्थ की पूर्ति की स्वतन्त्रता हो तो, सम्पूर्ण समाज का कल्याण सम्भव है। अधिक से अधिक लोगों के अधिक से अधिक लाभ की व्यवस्था पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता में ही सम्भव है। आत्महित भावना से प्रेरित हो प्रत्येक पूँजीपति उद्योग धन्धों में अधिक से अधिक धन लगाएगा और प्रतियोगिता के फलस्वरूप कम वेतन पर मजदूरी भी प्राप्त होगी जो कि विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन मूल्य को कम रखने में सहायक होगी। इस प्रकार कम से कम लागत पर तैयार हुई वस्तुओं से समाज के अधिक से अधिक व्यक्ति लाभ उठा सकेंगे। उद्योग धन्धों का समुचित विकास तभी सम्भव है जब कि आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद की स्थापना होगी।

अनुभव के आधार पर व्यक्तिवाद का समर्थन—भी किया जाता है। यह कहा जाता है कि अतीत में जब कभी भी राज्य ने व्यक्ति के कार्य क्षेत्र में दखल दिया है तो वह कभी भी सफल नहीं हुआ। समाज में वैयक्तिक जीवन के नैतिक आर्थिक तथा पारिवारिक पक्षों के नियन्त्रण के लिए अनेक कानून पास किए गए, परन्तु सभी अपने-अपने उद्देश्य प्राप्ति में पूर्णतया असफल सिद्ध हुए। इंग्लैण्ड में व्यापार, यातायात, वेषभूषा इत्यादि विषयक अनेक कानूनों को पास किया गया परन्तु उनमें से कोई भी सफल नहीं हुआ। यही नहीं उन्होंने अनेक अनावश्यक तथा अहितकर समाजिक दोषों को भी जन्म दिया। स्पैन्सर ने अपनी पुस्तक ('The Sins of Legislature') में अतीत काल में पास किए गए अनेक दोष पूर्ण कानूनों की आलोचना की और उनकी हानियों को भी प्रदर्शित किया। उसमें उसने दर्शाया है कि सामाजिक सुरक्षा के लिए अनेक कानूनों को पास किया गया परन्तु बाद में या तो उनको खत्म ही करना पड़ा या फिर उन्हें इस प्रकार संशोधित किया गया कि उनका रूप ही बदल गया। व्यापार तथा आर्थिक जीवन में राज्य द्वारा किया गया दखल तो और भी अधिक अहितकर होता है।

राज्य की अयोग्यता के आधार पर व्यक्तिवाद का समर्थन—इस लिए किया जाता है कि राज्य द्वारा हमारे आर्थिक जीवन का नियन्त्रण दरअसल राज कर्मचारियों का नियन्त्रण है। राज कर्मचारी सर्वज्ञ नहीं होते, यह आवश्यक नहीं कि वह सभी प्रकार के कार्यों में दक्ष हों। राज कर्मचारी उत्पादन व्यवस्था तथा व्यापार

में उतने उत्साह से भाग नहीं ले सकते जितने कि साधारण व्यक्ति । राज कर्मचारी वेतन पर कार्य करते हैं, उनको किसी व्यापार से कोई आर्थिक लाभ की सम्भावना नहीं होती अतः वह जिस किसी काम को भी करते हैं उन्हें आधे दिल से करते हैं। व्यापार तथा उद्योग धन्धों का नियन्त्रण विशेषज्ञों का कार्य है । राज कर्मचारियों में ऐसी विशेषज्ञता के दर्शन नहीं होते । राज्य मन्त्री भी साधारण लोग होते हैं उन्हें न तो प्रशासकीय अनुभव ही होता है और न विशेष ज्ञान ही । फिर राज्य को बहुत से कार्य सौंप कर उससे सुचारुता की उम्मीद करना व्यर्थ है । जब उसे बहुत से कार्य करने होंगे तो वह किसी भी कार्य को सावधानी से तथा सुचारुता से नहीं कर सकेगा। अतः ऐसी व्यवस्था राज्य की अयोग्यता का ही प्रदर्शन करेगी।

व्यक्तिवाद की आलोचना—व्यक्तिवाद सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का जैसा चित्रण करता है वह अधिकांश में असत्य, अयथार्थ तथा अतिशयोक्ति पूर्ण है। नीचे हम व्यक्तिवाद की विभिन्न आधारों पर आलोचना करेंगे—

(१) स्पेन्सर इत्यादि व्यक्तिवादियों ने राज्य को आवश्यक बुराई माना है और उसके जन्म का कारण मनुष्य की आक्रामक तथा स्वार्थ प्रवृति को स्वीकार किया है। परन्तु यह धारणा सर्वथा निराधार है । राज्य सर्वथा प्रकृत है, वह उसी प्रकार स्वाभाविक है जैसे परिवार। मनुष्य केवल मात्र स्वार्थ प्रवृत्ति से प्रेरित होता हो यह गलत है, मनुष्य प्रकृति बहुत जटिल है उसकी इतनी सरल तथा सहज व्याख्या सम्भव नहीं जितनी कि व्यक्तिवादियों ने की है । मनुष्य में जहाँ असामाजिक (Anti-social) तत्त्व है वहाँ सहयोग, सद्भाव तथा मेल-जोल इत्यादि उदार भावनाएँ भी मौजूद हैं। राज्य को आवश्यक बुराई कहना सर्वथा गलत है, मनुष्य समुदाय बनकर ही रह सकता है, समुदाय से भिन्न नही । व्यक्ति तथा समाज के हितों में इतना विरोध नही, न ही उनमें शोषित तथा शोषक का-सा सम्बन्ध है। राज्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसने जन कल्याण के लिए अनेक प्रयत्न किए है।

(२) व्यक्तिवादी व्यक्ति का एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में चित्रिण करते हैं, वे यह समझते हैं कि व्यक्ति की समाज से या राज्य से एक स्वतन्त्र स्थिति है। उसके कुछेक ऐसे स्वार्थ हैं जो समाज के विरुद्ध हैं या समाज से स्वतन्त्र हैं। मिल ने इस बात को व्यक्ति के आचरण के दो भाग--स्वपरक कार्य तथा सामाजिक कार्य—कर माना है। उसका कथन है कि स्वपरक कार्यों (Self-regarding activities) के नियमन तथा सचालन में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। परन्तु वह यह बतलाने में असमर्थ है कि व्यक्ति के कौन-कौन से ऐसे कार्य है जो केवल मात्र उसी से सम्बन्धित हैं और समाज से नहीं। मिल यह भूल जाता है कि व्यक्ति के जीवन का ऐसा कोई भाग नहीं जिसका प्रभाव उसके पारिवारिक सदस्यों, सम्बन्धियों, पास पड़ोसियों तथा समाज के अन्य सदस्यों पर न पड़ता हो। व्यक्ति का जीवन सामाजिक जीवन का एक अभिन्न तथा अटूट भाग है। मनुष्य के व्यक्तित्व के आधार भूत तत्त्व अहं (Self) का विकास समाज में ही सम्भव है, समाज से बाहर नहीं। व्यक्ति के विचार, कल्पनाएँ, भावनाएँ तथा विभिन्न दृष्टिकोण सामाजिक वातावरण से ही निर्मित होते हैं। ऐसी अवस्था में

उसके जीवन का कौन-सा ऐसा भाग हो सकता है जिसे हम केवल मात्र व्यक्ति परक कह दें ? हम पीछे देख चुके हैं कि किस प्रकार पुराने समय में आदि समाजों में व्यक्ति का जीवन सामाजिक या सामूहिक जीवन का अभिन्न अंग था । वर्तमान युग में वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन की अन्योन्याश्रयता और भी अधिक बढ़ गयी है। हक्सले का कथन है कि **"सभ्यता जितनी उच्च होगी, अन्य व्यक्तियों पर एक व्यक्ति के कार्यों का प्रभाव उतना ही अधिक पड़ेगा, और इस बात की सम्भावना उतनी ही कम होगी कि एक व्यक्ति की भूल का प्रभाव साथी नागरिकों पर न पड़े अतः अगर राज्य के कार्य क्षेत्र का बहुत ही संकीर्ण स्वरूप भी स्वीकार कर लिया जाए तो भी यह मानना पड़ेगा कि राज्य के पास उससे अधिक शक्ति होनी चाहिए, जो कि उसे केवल पुलीस का कार्य करने वाली संस्था मानकर दी जाती है।**[1]

(३) व्यक्तिवादियों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा बहुत संकुचित है। उनका दृष्टिकोण नकारात्मक है, उनके पास कोई ऐसा स्वस्थ सिद्धान्त नहीं जिसके आधार पर वे वैयक्तिक अधिकारों की वैज्ञानिक व्याख्या कर सकें। स्वतन्त्रता की अनुभूति अधिकारों के आधार पर ही सम्भव है । व्यक्तिवादियों के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ है पाबन्दियों की अनुपस्थिति, राज्य के कानून वैयक्तिक स्वतन्त्रता के शत्रु हैं। राज्य कार्यों के बढ़ने का अर्थ है व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का छीना जाना ज्यों-ज्यों राज्य के अधिकार बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी खत्म होती जाती है । राजकीय हस्तक्षेप का अर्थ वैयक्तिक स्वतन्त्रता की समाप्ति नहीं। व्यक्तिवादियों की धारणा एक पक्षीय (One-sided) है । राज्य का कार्य केवल निषेधात्मक नहीं । उसका कार्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता की उचित अनुभूति के लिए उपयुक्त सामाजिक परिस्थितियों का निर्माण है । ग्रीन ने सर्वथा ठीक कहा है कि राज्य को हमारे व्यक्तित्व के विकास में आने वाली सम्पूर्ण बाधाओं को हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। जब राज्य की शक्ति का प्रयोग इस अर्थ में किया जाता है तो राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पोषक तथा संरक्षक हो जाता है, उसका शत्रु नहीं रहता । अगर राज्य शिक्षा की व्यवस्था करता है अथवा हस्पताल बनाता या कानून द्वारा मजदूरों के काम करने के घण्टे निश्चित करता है या नगर गाँव तथा शहर में सफाई की व्यवस्था करता है तो क्या वह हमारी स्वतन्त्रता का अपहरण करता है ? शिक्षा मनुष्य के व्यक्तित्व की छिपी हुई शक्तियों के विकास में सहायक होती है, नौकरी की व्यवस्था उसे आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है । सामाजिक स्वतन्त्रता की अनुभूति नैतिक तथा तर्क संगत बन्धनों से ही सम्भव है, उनसे बाहर नहीं।

---

1. "The higher the state of civilization, the more completely do the actions of one member of the social body influence all the rest, and the less possible is it for any one man to do a wrong without interfering more or less with the freedom of all his fellow-citizens. So that even upon the narrowest view of the functions of the state it must be admitted to have wider powers than the advocates of the police theory are disposed to admit."—*Huxley.*

(४) व्यक्तिवादी प्रतियोगिता को स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था का आधार मानते हैं। परन्तु प्रतियोगिता बराबर के लोगों में सम्भव है। भूखे मरते मजदूरों में तथा कारखानेदार पूंजीपतियों में क्या मुकाबला हो सकता है? मजदूरों की विवशता-पूर्ण स्थिति मे पूंजीपति पूरा-पूरा फायदा उठाते हैं, वे उनका जहाँ तक सम्भव हो सकता है जी खोलकर शोषण करते हैं। ऐसी अवस्था में राज्य को उनके पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन तथा नियन्त्रण करना चाहिए और कानून बनाकर मजदूरों को पूंजीपतियों के शोषण से बचाना चाहिए।

व्यक्तिवादियों का विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हित तथा अहित को समझता है, वह यह जानता है कि क्या उसके हित में है और क्या अहित में। साथ ही उसमें इतनी शक्ति है कि वह बिना राज्य की सहायता के अपना हित साधन कर सके। परन्तु यह धारणा भी असत्य है। अधिकांश लोगों में न तो इतनी सूझ-बूझ या समझ ही है न इतनी क्षमता ही कि वे यह जान सकें कि उनका हित क्या है और उसकी प्राप्ति किस तरह सम्भव है। बच्चे और पागल क्या अपना हित समझते हैं? गरीब-मजदूर अज्ञान, अशिक्षा तथा निर्धनता के कारण गुलामी को भी स्वीकार कर लेता है जो कि स्पष्टतः उसके स्वार्थों के विपरीत है।

(६) स्पैन्सर ने बड़े जोरदार शब्दों मे उपयुक्ततम की अवस्थिति ((Survival of the fittest) के सिद्धान्त को सामाजिक जीवन पर लागू किया है। जीवन के लिए संघर्ष (Struggle for existence) सामाजिक जीवन का अनिवार्य तत्त्व है। प्राणि-जगत का यह सिद्धान्त समाज पर किस प्रकार लागू हो सकता है, स्पैन्सर ने यह स्पष्ट नहीं किया। 'उपयुक्ततम की अवस्थिति' का सिद्धान्त पशु जगत के लिए है सुसंस्कृत मानव-जगत के लिए नहीं। मनुष्य जीवन की सर्वश्रेष्ठता का कारण ही पाशविकता का त्याग है। फिर स्पैन्सर यह सिद्ध नहीं कर पाता कि उसके 'उपयुक्ततम' (Fittest) व्यक्ति कौन है? क्या 'उपयुक्ततम' से शारीरिक शक्ति की उच्चता है या धन का आधिक्य? अगर दोनों को ही स्वीकार कर लिया जाये तो इसका अर्थ है कि मानव समाज में मनवीय मूल्यों की कोई कीमत नहीं। मनुष्य की बुद्धि शिक्षा तथा संस्कृति सभी का कोई अर्थ नहीं। सामाजिक जीवन ऐसे पाशविक संघर्ष के लिए संगठित नहीं किया गया। उसका मकसद मनुष्य जीवन की सुरक्षा के साथ-साथ उसकी नैतिक तथा आध्यात्मिक पूर्णता भी है। स्पैन्सर अपने इसी सिद्धान्त के आधार पर कहता है कि गरीबों, असहायों, अनाथों तथा निर्बलों की सहायता करने की कोई आवश्यता नहीं। उसका नाश राज्य के हित में है। उनके विनिष्ट होने पर ही उच्च मानवीयता का विकास सम्भव है। इसका अर्थ है राज्य को नागरिकों की चोरों, डाकुओं तथा हत्यारों से भी रक्षा नहीं करनी चाहिए, और अगर वह हमारी इनसे रक्षा करता है तो क्या उसका यह कर्त्तव्य नहीं कि वह गरीब तथा विवश मजदूरों की पूंजीपतियों के शोषण से भी उनकी रक्षा करे? इस व्यवस्था के स्वीकार करने का अर्थ होगा कि प्रत्येक मनुष्य पूर्णरूप से स्वार्थी हो जाए और समाज में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला असूल प्रयोग में लाया जाय।

समाज का आधार सहयोग तथा सद्भावना है, पाशविक संघर्ष नहीं । हक्सले ने ठीक कहा है कि **"पारस्परिक सहायता, सहयोग और सहानुभूति की नैतिक प्रक्रिया के हित में मनुष्य ने सभ्य समाज में जीवन-संघर्ष को बन्द कर दिया है । राज्य को—जो एक मानवीय संस्था है—पशु जगत के नियम पर आधारित नहीं होना चाहिए ।**[1]

(७) राज्य का वैयक्तिक आचरण में हस्तक्षेप वैयक्तिक उत्साह तथा कार्यारम्भ की शक्तियों को नष्ट नहीं करता, न ही वह व्यक्ति के चरित्र को खोखला तथा निकम्मा बना देता है । व्यक्तिवादियों का यह कथन कि राज्य द्वारा व्यक्ति की सहायता उसमें स्वावलम्बन की भावना को खत्म कर देती है, गलत है । राज्य ने जब कभी व्यक्ति की सहायता की है उससे उसकी स्वतन्त्रता के क्षेत्र का विकास ही हुआ है और उससे उसकी आत्मनिर्भरता की भावना को बल ही मिला है । सोवियत रूस में राज्य आर्थिक तथा सामाजिक संस्थाओं तथा गति विधियों पर सख्त नियन्त्रण करता है वह व्यक्ति की आर्थिक जगत में सहायता करता है उसकी शिक्षा की व्यवस्था करता है और उसे स्वस्थ रखने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करता है । इन सब से पिछड़े से पिछड़े प्रदेश में रहने वाले लोगों में न केवल आत्मनिर्भरता की भावना का ही विकास हुआ है अपितु उनको वैयक्तिक स्वतन्त्रता के वास्तविक अर्थ का ज्ञान ही अब हुआ है । अशिक्षा, दरिद्रता तथा अभाव में रहकर वैयक्तिक स्वतन्त्रता के उपभोग का विचार एक स्वप्न के अतिरिक्त कुछ नहीं ।

(८) इसमें सन्देह नहीं कि कभी किसी समय कुछ विशेष मामलों में राज्य का दखल हितकर साबित नहीं हुआ, उससे कुछ नुकसान ही हुआ, परन्तु इसका अर्थ यह कभी नहीं कि राज्य ने जिस क्षेत्र में हाथ बढ़ाया वहीं वह असफल हुआ । आज यह सिद्ध हो गया है कि राज्य को शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, मजदूरों की स्थिति के सुधार इत्यादि विषयों में बहुत सफलता प्राप्त हुई है । दूसरी तरफ अगर राज्य कुछ विषयों में असफल रहा है तो वैयक्तिक नियन्त्रण उससे भी अधिक हानिकारक तथा असफल सिद्ध हुआ है । १९वीं सदी के शुरू में इंग्लैण्ड इत्यादि देशों में जहाँ आर्थिक क्षेत्र में अबाध स्वतन्त्रता के प्रयोग की छूट दी गयी थी, गरीब मजदूर पुरुष स्त्री तथा बच्चों का क्या हाल हुआ उसका ध्यान कर आज भी इस व्यवस्था के खोखलेपन तथा निकम्मेपन को सिद्ध किया जाता है । पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत मुनाफा कमाने की प्रवृति होती है, जन-कल्याण की नहीं । उत्पादन व्यवस्था बिना किसी योजना के चलती है । फल यह होता है कि समय-समय पर समाज में आर्थिक अराजकता फैल जाती है । इस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थ को रोकने केलिए और समाज के आर्थिक साधनों को सामाजिक हित में इस्तेमाल करने के लिए राज्य के दखल तथा नियन्त्रण की परम आवश्यकता रहती है ।

---

1. "In civilised society man has stopped the ruthless struggle for existence in the interest of ethical process of mutual sympathy and help. The state which is a human institution should not be guided by the laws of the animal world."—*Huxley.*

उपसंहार—आज व्यक्तिवाद का सिद्धान्त प्रायः सभी जगह अस्वीकार हो चुका है। इंग्लैण्ड ही नहीं फ्रांस तथा अमेरिका जैसे पूँजीवादी देशों में राज्य दिन प्रतिदिन सामाजिक हित में आर्थिक जीवन का अधिक से अधिक नियन्त्रण कर रहा है। वस्तुतः वर्तमान युग में केवल मात्र राज्य के कल्याणकारी रूप को ही मान्यता दी जाती है, उस को हमारी अनेक मौजूदा खराबियों का हल माना जाता है।

व्यक्तिवाद ने राज्य की अबाध शक्ति का विरोध कर, मानव समाज में व्यक्ति के व्यक्तित्व की महत्ता को दर्शाया तथा हमारे जीवन में मानवीय मूल्यों को मान्यता प्रदान कर आदर्शवादियों तथा निरंकुश राज्य सत्ता के समर्थकों द्वारा फैलायी गयी अनेक भ्रान्तियों को दूर किया। व्यक्तिवाद की सबसे बड़ी देन यही है कि उसने **मानव के मानवीय रूप की महत्ता को स्थापित किया।**

१६८. नूतन व्यक्तिवाद (Neo-individualism)

नूतन व्यक्तिवाद राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त के विरुद्ध एक महत्वपूर्ण प्रतिक्रिया है। वस्तुतः ऐसा कहना अधिक न्याय संगत तथा वैज्ञानिक होगा कि नूतन व्यक्तिवाद सभी प्रकार के अधिनायक तन्त्र तथा राज्य के निरंकुश रूप के समर्थक सिद्धान्तों के विरुद्ध विकसित हुआ। १९वी सदी में जिस व्यक्तिवाद का विकास हुआ था उसका विवेचन हमने ऊपर किया है। उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप आदशवाद तथा समाजवाद का विकास हुआ। दोनों ने ही राज्य के कार्यों की वृद्धि का समर्थन किया, यद्यपि दोनों का दृष्टिकोण पर्याप्त भिन्न है। हीगल का आदर्शवाद राज्य को न केवल कानूनी दृष्टि से ही असीम सत्ता सम्पन्न मानता है बल्कि नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से भी सर्वश्रेष्ठ समझता है। हीगल के सर्वशक्तिमान राज्य तथा उसके बुद्धिवादी दर्शन के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई उसको हम नूतन व्यक्तिवाद के नाम से पुकारते हैं।

परन्तु नूतन व्यक्तिवाद केवल मात्र हीगल के बौद्धिक दर्शन की ही प्रतिक्रिया नहीं, इसके विकास में कुछेक अन्य तत्वो ने भी सहयोग दिया। प्रथम युद्ध के दौरान में राज्य की शक्ति का बहुत विकास हुआ। इंग्लैण्ड तथा फ्रान्स जैसे प्रजातन्त्रवादी देशों में भी राज्य की शक्ति की पर्याप्त अभिवृद्धि हुई और वैयक्तिक स्वतन्त्रता का क्षेत्र पर्याप्त सीमित हो गया। यही नहीं, युद्ध के दौरान में साधारण नागरिकों को अपने अनेक हितों का बलिदान करना पड़ा। युद्ध के कारण प्रत्येक स्थान पर अनेक प्रकार के पदार्थों का अभाव हो गया। सरकार की मशीनरी हृदयहीन होती है, उसका संचालन नौकरशाही के हाथ में होता है, जन सामान्य के प्रतिनिधि उनके हाथ में केवल खिलौने मात्र बनकर रह जाते हैं। जनता की आवाज उन तक पहुँच ही नहीं पाती।

दूसरी ओर राष्ट्रीय संसदों में बहुमत की तानाशाही की स्थापना हो जाती है। अल्पमत को या तो कुचल दिया जाता है या फिर उसकी उपेक्षा की जाती है। प्रेस, प्लेटफार्म तथा प्रचार के अन्य साधनों द्वारा एक ही प्रकार के विचारों के प्रसार का प्रयत्न किया गया तथा विचार स्वातन्त्र्य की उपेक्षा की गई। राजनीतिक नेता

अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए गलत प्रचार कर जन-साधारण को गुमराह करते हैं, उनमें भीड़-प्रवृति उत्पन्न कर उनकी सूझ-बूझ को खत्म कर देते हैं । इस प्रकार लोगों में केन्द्रीकृत प्रजातन्त्रात्मक शासन के प्रति अविश्वास की भावना उत्पन्न हो गयी । नूतन व्यक्तिवाद के विकास में नवयुग में उत्पन्न नवीन सामाजिक संघटनों में भी विशेष सहायता की । राज्य की कार्यशक्ति का विस्तार अवश्य हुआ, परन्तु नागरिकों के आन्तरिक जीवन में उसकी महत्ता घट गयी । समाज में आर्थिक नैतिक तथा धार्मिक उद्देश्यों से प्रेरित अनेक समुदायों का विकास हुआ । व्यक्ति का सामाजिक जीवन समुदायों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने लगा, उनके व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति इन समुदायों में होती है, ऐसा सभी जगह माना जाने लगा । राज्य अपनी प्रकृति में समाज के इन समुदायों से भिन्न नहीं । राज्य की तरह समुदायों का भी अपना व्यक्तित्व है, नैतिक दृष्टि से भी राज्य अन्य समुदायों से श्रेष्ठ या ऊँचा नहीं कहा जा सकता । इसी कारण यह महसूस किया जाने लगा कि राज्य को उच्च तथा श्रेष्ठ पद देना किसी भी प्रकार उचित नहीं । इसे समाज के अन्य समुदायों की भान्ति ही समझना चाहिए और राज्यशक्ति का समुदायों तथा राज्य में बटवारा कर देना चाहिए । नूतन व्यक्तिवादी आदर्शवादियों द्वारा समर्थित राज्य के दैवीय गुणों के या नैतिक श्रेष्ठता के सिद्धान्त को नहीं स्वीकार करते ।

१९वीं सदी में व्यक्तिवादियों ने राज्य तथा व्यक्ति के पारस्परिक विरोध को उपस्थित किया था, उन्होंने व्यक्ति को एक स्वतन्त्र इकाई माना और उसके अधिकारों को मान्यता देने की मांग की थी । यह दृष्किोण अवैज्ञानिक था । नूतन व्यक्तिवादी व्यक्ति को एक स्वतन्त्र तथा पूर्णरूप से आत्मनिर्भर इकाई नहीं मानते । वह यह मानते हैं कि व्यक्ति समुदाय रूप से संगठित होते है । ये समुदाय धर्म, व्यवसाय और यहाँ तक कि लिंग तथा आयु के आधार पर भी संगठित हो सकते है । वर्तमान समय में राज्य के विरुद्ध इन समुदायों कों प्रस्तुत किया जाता है और उनके अधिकारों की स्वीकृति के लिए माँग की जाती है । १९वीं सदी का व्यक्तिवाद मनुष्य को पूँजीवादी शोषण व्यवस्था का मुकाबिला करने के लिए अकेला छोड़ देता था, परन्तु यहाँ समुदाय व्यक्ति के हित तथा स्वार्थों की रक्षा के लिए संगठित किए जाते हैं । समुदायों का संगठन सामान्य स्वार्थों की पूर्ति के लिए तथा व्यक्तियों के स्वतन्त्र तथा पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए किया जाता है । वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा भी समुदायों की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर संगठित समाज में ही सम्भव है ।

नार्मन एन्जेल तथा ग्राहम वेलेस—ने नूतन व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के विकास में विशेष योग दिया है ।

नार्मन एन्जेल (Norman Angell) ने अपनी पुस्तक 'The Great Illusion' में सामाजिक जीवन का विश्लेषण किया है । उसका कथन है कि मनुष्य समुदायों में आर्थिक हितों के आधार पर ही एकता उत्पन्न होती है । यह एकता की भावना जरूरी नहीं कि राष्ट्रीय सीमाओं के अन्तर्गत ही सीमित रहे, यह अन्तर्राष्ट्रीय रूप भी धारण कर सकती है । साधारणतया मनुष्य वही करता है जिससे उसे

आर्थिक लाभ होता है । परन्तु वर्तमान युग में अक्सर उसे गुमराह किया जाता है, उसमें राष्ट्रवाद की भावनाओं को भर युद्ध के लिए तैयार किया जाता है, यह निश्चय ही उसके हितों के विरुद्ध है । उसके वास्तविक हित की प्राप्ति संकुचित राष्ट्रीयता से ऊपर उठने से ही सम्भव है । नार्मन एन्जेल का कथन है कि **"विश्व व्यापक आर्थिक समाज जिसका गुण शान्ति है उसकी सदस्यता के नाते उसके व्यक्ति के स्वार्थों की अधिक पूर्ति होती है, बनिस्बत एक सीमित राजनीतिक समाज के, जिसका गुण युद्ध है।**[1]

राजनीतिक समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति अपनी तर्क बुद्धि से कार्य नहीं लेते, वह भावावेश में आकर कार्य करते हैं । साधारणतया अपने वैयक्तिक जीवन में जिन कामों को वे कभी भी करना पसन्द नहीं करेंगे और जिन्हें वे बुरा समझते हैं उन्हीं को वह एक राज्य के सदस्य के नाते कर डालते हैं । परन्तु उसका विश्वास है कि यह स्थिति बहुत समय तक नहीं रहेगी । राज्य तो केवल एक प्रशासकीय मशीनरी है जिसे कभी किसी भी अन्य यन्त्र के मिल जाने पर छोड़ा जा सकता है । उसका ख्याल है कि धीरे-धीरे आर्थिक समुदायों का विकास होगा और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समाज के अन्तर्गत राष्ट्रीय राज्य विलीन हो जायेगा ।

ग्राहम वेलस भी केन्द्रीकृत राज्य की अधिकार सत्ता के विरुद्ध है, परन्तु उसे मुख्य रूप से प्रजातन्त्रात्मक राज्यों की विधान सभाओं के संगठन के प्रति शिकायत है। वर्तमान चुनाव व्यवस्था के अन्तर्गत प्रतिनिधियों का चुनाव भौगोलिक-चुनाव क्षेत्रों के आधार पर होता है । फलतः राज्य में मौजूद विभिन्न-स्वार्थों (Interests) को कहीं भी प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता । भौगोलिक चुनाव क्षेत्रों के आधार पर निर्वाचित प्रतिनिधिगण किसी भी समुदाय या स्वार्थ का प्रतिनिधित्व नहीं करते ।

अतः ग्राहम वेलस चुनाव व्यवस्था तथा विधानपालिकाओं के पुर्नसंगठन की ही माँग करता है । उसका कथन है कि राज्य की विधानपालिका के एक सदन का चुनाव तो पेशे तथा उद्योग के आधार पर होना चाहिए, दूसरे सदन का चुनाव प्रादेशिक चुनाव व्यवस्था के अन्तर्गत होना चाहिए। प्रादेशिक चुनाव व्यवस्था पर आधारित सदन वास्तव में प्रथम सदन (First chamber) होगा ।

कुछ अन्य विचारकों ने संघ-व्यवस्था के आधार पर राज्य के पुर्नसंगठन की माँग की है ।

नूतन व्यक्तिवाद समाज में स्थिति ऐच्छिक समुदायों के महत्व को दर्शाता है और राज्य की अबाध सत्ता का खण्डन करता है ।

---

1. "It pays men better to think and feel as members of the universal economic society, whose attribute is peace, than to think and feel as members of limited societies whose attribute is war."
—*Norman Angell.*

Important Questions

	Reference
1. How does 'modern individualism' differ from 'old (J. S, Mill's) individualism ? (*Pb.* 1954)	Art. No. 168
2. Write a short note on Individualism and Socialism. (*Pb.* 1953)	Arts. No. 166 to 167
3. "The aims of the Socialists and the Individualists do not in the long run differ." Explain how and point out where the difference lies. (*Pb.* 1951 *Sep.*)	Arts. No. 166 & 167
4. Explain the factors promoting the growth of modern individualism ?" (*Pb.* 1951)	Art. No. 168
5. Comment on the nature of state activity under individualism. (*Pb.* 1950)	Arts. No. 166 & 167
6. Trace the causes which contributed to the growth of modern individualism and differentiate it from the individualism of the 14th century. (*Pb.* 1945)	Art. No. 168
7. Discuss the different arguments which are given in support of Individualism.	Arts. No. 166 & 167

अध्याय २७

राज्य के कार्य क्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त (३)

समाजवाद (Socialism)

१६९. समाजवाद का स्वरूप

समाजवाद का जन्म व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ, परन्तु समाजवाद एक बहुत व्यापक विचारधारा है, जो न केवल राजनीतिक तथा आर्थिक ही नहीं अपितु समाजवैज्ञानिक और सांस्कृतिक भी है । समाजवाद केवल राज्य के संगठन, उसके कर्त्तव्य, अर्थ व्यवस्था के सुधार तथा राजनीतिक समस्याओं के सुलझाव का ही हल पेश नहीं करता है, बल्कि समाज के प्रारम्भ, उसके स्वरूप तथा उसकी परिवर्तन व्यवस्था की व्याख्या भी करता है, वह मानवीय संस्कृति तथा उसके स्वरूप की भी विवेचना करता है । समाजवाद का अपना दर्शन तथा व्यावहारिक प्रोग्राम है । परन्तु समाजवाद केवल मात्र एक सिद्धान्त ही नही वह एक राजनीतिक आन्दोलन तथा शासकीय प्रणाली भी है । यही कारण है कि आज का प्रत्येक व्यक्ति समाजवादी है । समाजवाद का रूप प्रत्येक व्यक्ति तथा समुदाय के साथ बदलता रहता है । जोड का कथन है कि "**समाजवाद उस टोपी की तरह है जिस का अपना स्वरूप समाप्त हो गया है क्योंकि सभी लोग उसे पहनते हैं ।**[1]

ऊपर हम कह आये हैं कि समाजवाद व्यक्तिवाद का विरोधी है परन्तु इस का अर्थ यह नहीं कि वह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का शत्रु है । व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की समाजवादी अपनी व्याख्या करते हैं जो व्यक्तिवादियों की धारणा से अधिक वैज्ञानिक, यथार्थ तथा व्यापक है । समाजवाद राज्य के कर्त्तव्यों के विषय में व्यक्तिवाद का विरोधी है। समाजवाद राज्य को अधिक शक्ति सम्पन्न बनाना चाहता है । वह उसे सामाजिक कल्याण के सम्पूर्ण कर्त्तव्यों को सौंपना चाहता है । वैय क्तिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति अबाध वैयक्तिक प्रतियोगिता की अपेक्षा सामाजिक नियमन (Social regulation) से अधिक उत्तम तरीके से हो सकती है । उत्पादन के साधनों, उद्योग धन्धों इत्यादि का वैयक्तिक नियन्त्रण अन्याय तथा शोषण पर आधारित है । वह समाज में निर्धनता तथा असमानता को उत्पन्न करता है । इसी अन्याय व्यवस्था को खत्म करने के लिए समाजवादी विश्वास करते हैं कि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व तथा प्रयोग और उत्पादन के वितरण की व्यवस्था का नियमन संगठित समाज द्वारा होना चाहिए, चन्द व्यक्तियों द्वारा नहीं । इस प्रकार राज्य को या समाज को भूमि, पूँजी तथा उत्पादन

---

1. "I think we come nearest to the essence of Socialism by defining it as the advocacy of communal ownership of Land and Property."—*Bertrand Russel.*

के साधनों का स्वामी व प्रबन्धकर्त्ता बना दिया जायगा। राज्य उत्पादन के वितरण के लिए भी जिम्मेदार होगा। वह ऐसी योजनाबद्ध उत्पादन व्यवस्था का निर्माण करेगा कि जिसके फलस्वरूप समाज में समानता की तथा सामाजिक कल्याण की वृद्धि होगी।

समाजवाद की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। इनमें से कुछ विचारणीय हैं—सुप्रसिद्ध भारतीय समाजवादी नेता आचार्य नरेन्द्रदेव का कथन है कि **"समाजवाद का ध्येय वर्गहीन समाज की स्थापना है। वह वर्तमान समाज का इस प्रकार का संगठन करना चाहता है कि वर्तमान परस्पर विरोधी स्वार्थों वाले शोषक तथा शोषित पीड़क तथा पीड़ित वर्ग का अन्त हो जाय। समाज सहयोग के आधार पर संगठित व्यक्तियों का ऐसा समूह बन जाए जिसमें एक सदस्य की उन्नति का अर्थ स्वभावतः दूसरे सदस्य की उन्नति हो और सब मिलकर सामूहिक रूप से परस्पर उन्नति करते हुए जीवन व्यतीत कर सकें।"**

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध समाजवादी रेम्जे मैकडानल्ड का कथन है कि **"साधारण भाषा में समाजवाद की इससे अच्छी कोई परिभाषा ही नहीं की जा सकती है कि इसका उद्देश्य समाज के भौतिक तथा आर्थिक तत्वों का संगठन व मानवीय शक्तियों द्वारा इसका नियमन है।"**[1] अंग्रेज विचारक बर्ट्रेण्ड रसेल का विचार है कि **"मैं समझता हूँ कि अगर समाजवाद को भूमि तथा सम्पत्ति के सामाजिक स्वामित्व की एक दलील कहा जाए तो हम समाजवाद के सार-रूप के अधिक निकट पहुँच जाते हैं।"**[2]

समाजवाद की चाहे जितनी परिभाषाएँ दी जाएँ, सभी इन बातों पर सहमत हैं—

(क) वैयक्तिक सम्पत्ति का विलोप (Abolition of private property)

(ख) सम्पत्ति के उत्पादन के तथा वितरण के साधनों पर सामाजिक नियन्त्रण (Socialisation of means of production & distribution of wealth)

(ग) पूँजीपतियों द्वारा मजदूरों के शोषण की व्यवस्था का अन्त। समाजवाद के अनेक स्वरूप हैं, उन सब में पर्याप्त अन्तर है परन्तु इस विभेद का कारण उद्देश्य की भिन्नता नहीं अपितु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उपयुक्त साधनों के प्रयोग की भिन्नता है। इसी भेद के आधार पर ही समाजवाद के विभिन्न स्वरूपों का संगठन किया गया है। समाजवाद के निम्नलिखित प्रमुख भेद हैं—

1 "No better definition of socialism can be given in general terms than that it aims at the organisation of the material economic forces of society, and their control by the human forces."

—*Ramsay Macdonld.*

2 "I think we come nearest to the essence of socialism by defining it as the advocacy of communal ownership of land & property."

—*Bertrand Russel.*

(१) मार्क्सवाद (Marxism)
(२) साम्यवाद (Communism)
(३) विकासवादी समाजवाद (Evolutionary Socialism)
(४) सिण्डिकलिज्म (Syndicalism)
(५) गिल्डसोशलिज़्म (Guild Socialism)
(६) अराजकतावाद (Anarchism)

इससे पूर्व कि हम समाजवाद के इन सभी प्रकारों पर विस्तार पूर्वक विचार करें हमारे लिए उचित होगा कि हम यहाँ इसके विकास क्रम का अध्ययन कर लें।

समाजवादी विचारधारा का विकास—समाजवादी विचारधारा का प्रचलन राजनीति शास्त्र के इतिहास में मिल जाता है। अपने आधुनिक रूप में समाजवाद चाहे पुराने समय में न मिलता हो, परन्तु सम्पत्ति के सामाजिक नियन्त्रण की न केवल धारणा ही अपितु व्यवस्था भी पुराने समय में मिल जाती है। पुराने समाजों में सम्पत्ति के सामूहिक नियन्त्रण की व्यवस्था मौजूद थी। इस व्यवस्था को आदिम समाजवाद (Primitive Communism) के नाम से पुकारा जाता है। प्राचीन स्पार्टा (Sparta) में राजकीय समाजवाद के नियमों के आधार पर सामाजिक संगठन की व्यवस्था मिल जाती है। प्लेटो ने अपने समय की समाजवादी व्यवस्थाओं से प्रेरित होकर ही साम्यवाद की स्थापना का समर्थन किया था। प्लेटो के साम्यवाद के दो आधार थे (क) वैयक्तिक सम्पत्ति व्यवस्था की (ख) तथा वैयक्तिक परिवार की समाप्ति (Abolition of private family) परन्तु प्लेटो का साम्यवाद आदर्शवाद से प्रेरित था उसका आधार आध्यात्मिक तथा नैतिक था भौतिक नहीं। वह समाज में फैले अनाचार की समाप्ति के लिए एक विशेष शासक वर्ग के निर्माण के पक्ष में था। उसका साम्यवाद इसी शासक वर्ग पर ही लागू होता है, सम्पूर्ण समाज पर नहीं।

मध्यकालीन यूरोप में चर्च के अन्तर्गत सामूहिक सम्पत्ति की व्यवस्था विद्यमान थी। ऐसी हीं व्यवस्था बौद्ध युग में भी बौद्ध समुदाय के अन्तर्गत मौजूद थी।

परन्तु मौजूदा आर्थिक व्यवस्था के सुधार तथा परिवर्तन के लिए तैयार किए गए समाजवादी सिद्धान्तों का प्रचलन तो १९वीं सदी के प्रारम्भ में ही मिलता है। सर थॉमस मोर (Sir Thomas More) राबर्ट ओवन (Robert Owen) सेंट सिमों (St. Simon) तथा फोरियर (Fourier) इत्यादि ने समाजवाद के सिद्धान्तों का विविध ढंग से विकास किया। थॉमस मोर ने तो प्लेटो के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'Republic' के आधार पर एक कल्पनात्मक आदर्श राज्य का विवेचन किया। रोबर्ट ओवन इत्यादि ने न केवल समाजवादी सिद्धान्तों की ही रचना की अपितु समाजवाद के अधार पर आधारित समाजों का परीक्षण भी किया, वस्तुतः ये सभी समाजवादी सुधारवाद में यकीन करते थे। इनका दृष्टिकोण उदार तथा मानवता प्रेमी था। इनका विचार था कि यदि वह एक पूर्ण समाजवादी समाज की रचना में सफल होंगे तो समाज निश्चिय ही उनके उदाहरण का अनुसरण करेगा। इनके

विचारों में कल्पना का आधिक्य तथा यथार्थ की कमी होती थी, इनमें वैज्ञानिकता का अभाव था । यही कारण है कि ये सभी स्वप्नदर्शी (Utopian) समाजवादी कहलाते थे । इन्होंने न तो समाजवाद के वैज्ञानिक आधार ही प्रस्तुत किए और न उसकी प्राप्ति के साधन ही बतलाये । यह तो मार्क्स ही है जिसे वर्तमान युग के समाजवाद का जनक कहा जाता है । उसने सामाजवाद को कल्पनात्मक वस्तु नहीं रहने दिया, उसे एक यथार्थ सत्य बना दिया । जोड का कथन है कि **"मार्क्स प्रथम समाजवादी विचारक है जिसके विचारों को विज्ञान संगत कहा जा सकता है । उसने न केवल उस समाज का ही चित्रण किया जिसको वह आदर्श मानता था, बल्कि विस्तार पूर्वक उसके विकास क्रम का भी विवरण दिया ।"**[1] आज समाजवाद के सभी सम्प्रदाय मार्क्स के ही विचारों को अपने विचारों का आदि स्रोत समझते हैं । मार्क्स ने अपने सहयोगी फ्रेडरिक एन्जेल्स के सहयोग से समाजवाद के सभी रूपों का तर्क सम्मत तथा वैज्ञानिक विवेचन किया ।

समाजवाद की आर्थिक समानता की धारणा का विकास फ्रेंच क्रान्ति के अनन्तर हुआ । फ्रेंच क्रान्ति के दौरान में राजनीतिक समानता को महत्त्व दिया गया था परन्तु बाद में पूँजीवादी व्यवस्था के प्रचलन के फलस्वरूप राजनीतिक समानता आर्थिक समानता के बिना निरर्थक समझी जाने लगी । फलतः समाजवाद के सिद्धान्त के विकास द्वारा आर्थिक समानता का समर्थन किया गया ।

१७०. मार्क्सवाद (Marxism)

कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने पूँजीवाद के विकास उसके ह्रास तथा समाजवाद के जन्म का ऐतिहासिक विवेचन किया है । वह अपने दृष्टिकोण को निर्वैयक्तिक तथा वैज्ञानिक कहता है, जो सम्भवतः ठीक नहीं उसने सम्पूर्ण सामाजिक विकास क्रम का चित्रण अपने पूर्व निर्धारित विचारों के आधार पर किया है ।"मार्क्स के सिद्धान्तों को मुख्य रूप से हम उसके **'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र'** (Communist Manifesto) तथा 'Das Kapital' (1867) नामक दो ग्रन्थों में पाते हैं । कार्ल मार्क्स के विचारों में मौलिकता नहीं, परन्तु उसकी शैली अपनी है और उसके विचारों में प्रभावोत्पादक शक्ति है । यही कारण है कि यूरोप के ही नहीं विश्व भर के मजदूर आन्दोलन उसके विचारों से प्रभावित हुए हैं । "

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं मार्क्स का उद्देश्य यह प्रदर्शित करना था कि पूँजीवाद के आधार पर किस प्रकार समाजवादी समाज की व्यवस्था का जन्म हो सकता है । मार्क्स के निम्नलिखित तीन प्रमुख सिद्धान्त हैं—

"(१) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of surplus value)

---

1. "Marx is the first socialist writer whose work can be termed scientific. He not only sketched the kind of society which he desired, but spoke in detail of the stages through which it must evolve."—*Joad.*

(२) इतिहास की भौतिकवादी आर्थिक व्याख्या।

(३) वर्ग संघर्ष (Class war) तथा पूँजीवाद के पतन का सिद्धान्त। अब हम क्रमशः इन तीनों पर किंचित् विस्तार से विचार करेंगे।

(१) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of surplus value) मार्क्स श्रम (Labour) को मूल्य का स्रोत मानता है। इस विषय में मार्क्स डेविड रिकार्डो इत्यदि रूढ़िवादी अर्थ शास्त्रियों से प्रभावित था। उनका यही यकीन था कि अन्तिम रूप से किसी भी पदार्थ का मूल्य उसके उत्पादन में खर्च हुए समय तथा श्रम के अनुसार निर्धारित होता है। परन्तु सभी प्रकार का श्रम (Labour) किसी वस्तु के मूल्य को निर्धारित नहीं करता। केवल सामाजिक दृष्टि से आवश्यक (Socially necessary) श्रम ही मूल्य का उत्पादक होता है। मनुष्य के श्रम का प्रयोग यन्त्रों द्वारा होता है। मजदूर किसी भी वस्तु के उत्पादन में खर्च किए गए अपने श्रम (Labour) के लिए रुपये पैसे द्वारा पुरस्कृत किया जाता है। उसे अपने श्रम का उचित मूल्य अवश्य मिलना चाहिए। परन्तु पूजीवादी समाज में ऐसा सम्भव नहीं। क्योंकि उत्पादन के सभी साधनों—यन्त्रों इत्यादि पर थोड़े व्यक्तियों का नियन्त्रण रहता है। मजदूरों के पास अपनी श्रम शक्ति (Labour power) को बेचने के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। पूंजीपति अपनी पूँजी के बल पर श्रम शक्ति को खरीदता है और उन्हें वेतन देता है। परन्तु उसका वेतन उस मूल्य से बहुत कम होता है जो कि उसके श्रम द्वारा तैयार पदार्थों पर पूँजीपति को बाजार में मिलता है। यानी मजदूर श्रम तो अधिक करता है परन्तु उसका परिश्रमिक उसे अनुपात में बहुत थोड़ा मिलता है लागत के मूल्य को तथा बिक्री के मूल्य के अन्तर को अतिरिक्त मूल्य (Surplus value) कहा जाता है। अतिरिक्त मूल्य का स्रोत वही बची हुई श्रम-शक्ति है जिसका उचित मूल्य मजदूर को मिलना चाहिए था, परन्तु पूँजीपति उसे नहीं देता और उसे वह स्वयं हडप जाता है, इस प्रकार यह सरासर अन्याय है।

मार्क्स का उद्देश्य इसी अन्याय तथा शोषण व्यवस्था को खत्म करना है। यह तभी सम्भव है जब पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था को खत्म कर समाजवादी अर्थ व्यवस्था स्थापित की जायगी। समाजवादी व्यवस्था के अर्न्तगत मजदूर वर्ग स्वयं उत्पादन का मालिक होगा और सम्पूर्ण समाज उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण करेगा। जहाँ उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण चन्द व्यक्तियों के हाथ में रहता है, वहाँ सदा मजदूर वर्ग का शोषण होता है।

(२) इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (Materialistic interpretation of history)—मार्क्स पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करता हुआ मानवीय इतिहास की भौतिकवादी आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। राजनीति-शास्त्र को मार्क्स की यह एक विशेष देन है। मार्क्स से पूर्व साधारणतया मानवीय इतिहास के विकास क्रम का निर्णायक व्यक्तियों अर्थात् राजा महाराजाओं, सेनापतियों या राजनीतिज्ञों और कूटनीतिज्ञों के गुणों या मन की भावनाओं को ही समझा जाता था। परन्तु मार्क्स इतिहास की व्यक्ति प्रधान व्याख्या को स्वीकार नहीं करता।

मार्क्सवाद इतिहास को गतिमय प्रवाह के रूप में स्वीकार करता है । मार्क्स की इतिहास की व्याख्या हीगल से प्रभावित है । **हीगल ने मानव इतिहास को परिवर्तन शील मान उसकी द्वन्द्वात्मक ढंग** (Dialectical method) **से व्याख्या की है। परन्तु हीगल के इस द्वन्द्ववाद की परम शक्ति चिन्तन क्रिया या विचार वह है, जो कि स्वयं पूर्ण** (Absolute) **है । विश्व का इतिहास इसी विचारमय ब्रह्म** (Absolute) **का खेल या प्रगटीकरण मात्र है ।** हीगल अपनी इतिहास की व्याख्या में धार्मिक आन्दोलनों तथा विवादों को विशेष महत्त्व देता है, परन्तु मार्क्स हीगल द्वारा इतिहास की गई इस आध्यात्मवादी विचारप्रधान व्याख्या को स्वीकार नहीं करता । उसने हीगल के द्वन्द्वात्मक प्रकार को तो अवश्य ग्रहण किया परन्तु उसके विचारमय ब्रह्म (Absolute) को अस्वीकृत कर दिया । मार्क्स का कथन है कि **"मेरी द्वन्द्वात्मक प्रणाली हीगल से मूलतः भिन्न ही नहीं वरन् उससे बिल्कुल विरोधी दिशा में है ।...हीगल के लिए भौतिक जगत विचार तत्त्व का ही बाह्य घटनात्मक रूप है । इसके विपरीत मेरी दृष्टि से विचार मानव चित्त में प्रतिबिम्बित भौतिक संसार को छोड़कर कुछ नहीं है । चिन्तन क्रिया में भौतिक संसार का ही वह रूपान्तर है ।"**[1]

अतः मार्क्स मानवीय इतिहास के अध्ययन में संवेदन, विचार तथा कल्पना इत्यादि को महत्त्व नहीं देता, वह पदार्थ (Matter) की प्रमुखता स्वीकार करता है। **वह विचार को भी भौतिक मानता है । उसके अनुसार मन भी पदार्थ की ही रचना है ।**[2] इस प्रकार मार्क्स के मतानुसार समाज के भौतिक जगत की सत्ता ही महत्त्वपूर्ण है, उसका आध्यात्मिक जगत भौतिक जगत की ही रचना है, और मानवीय इतिहास की व्याख्या मे मुख्य नहीं बल्कि गौण है । समाज के राजनीतिक, धार्मिक, कलात्मक तथा दार्शनिक जीवन की व्याख्या समाज के भौतिक जीवन में ही सम्भव है उससे बाहर नहीं ।

समाज की यह भौतिक परिस्थितियाँ मुख्य रूप से यांत्रिक (Machanical) तथा आर्थिक (Ecnomic) हैं । मनुष्य अपने जीवन निर्वाह के लिए प्रकृति के संसर्ग में आकर कुछ औजारों-यंत्रों को—जिन्हें मार्क्स उत्पादन के साधन (Means of Production) कहता है—तैयार करता है और उन द्वारा भौतिक मूल्यों (Meterial values)को पैदा करता है । दूसरी ओर मनुष्य समाज या समुदाय का सदस्य होता है अतः वह दूसरे मनुष्यों से सम्बन्ध स्थापित करता है, ये सम्बन्ध उत्पादन सम्बन्ध (Production relations) कहलाते हैं । उत्पादन के साधन

---

1. My dialectic method is not only different from the Hegelian but its direct opposite. To Hegel.....the process of thinking ..... . is the demiurgos (creator) of the real world, and the real world is only the external, phenomental form of the Idea. With me on the contrary, the ideal is nothing else than the material world reflected by the human mind and translated into forms of thought."

—*Karl Marx.*

2. "Matter is not a product of consciousness but consciousness itself is the highest product of matter."—*Karl Marx.*

(Means of production) तथा उत्पादन सम्बन्ध मिलकर अर्थतन्त्र (Economic Structure) की स्थापना करते हैं।

मार्क्स का कथन है कि आर्थिक ढांचा ही असली चीज है। क्योंकि समाज और उसकी सारी व्यवस्था अर्थ तन्त्र की रचना मात्र है। समाजगत परिवर्तन इस आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तन के ही परिणाम होते हैं। सम्पूर्ण सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक सम्बन्ध तथा साहित्य, कला, दर्शन व कानून इत्यादि सभी आर्थिक व्यवस्था के प्रतिफलन (Reflection) मात्र हैं। इस प्रकार हमारे विचारों का तथा हमारी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं का वास्तविक जनक अर्थतन्त्र (Economic structure) है।

उत्पादन के भौतिक साधन (Material forces of production) कभी स्थिर नहीं रहते—वे लगातार बदलते रहते हैं। परन्तु समाज का सम्पूर्ण ढांचा (Structure) जो अर्थतन्त्र पर आधारित होता है, अपरिवर्तित रहता है। उत्पादन के परिवर्तन शील भौतिक साधनों में तथा अर्थ तन्त्र और सामाजिक संगठन में ताल-मेल रखने के लिए सामाजिक तथा आर्थिक संगठन का बदलना जरूरी है परन्तु ऐसा सम्भव नहीं होता क्योंकि हरेक सामाजिक संगठन अपने अनुकूल कुछ निहित स्वार्थों (Vested interests) और आदर्शों की रचना कर लेता है, जो इस परिवर्तन गति में सर्वथा बाधक होते हैं। फलतः सामाजिक संगठन तथा उत्पादन के भौतिक साधनों में अनुकूलता न होने के कारण सामाजिक संगठन तथा उत्पादन के नवीन भौतिक साधनों (Material forces) में संघर्ष शुरू होता है जिसका फल क्रान्ति और पुराने सामाजिक और आर्थिक संगठन के पतन में होता है। नवीन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था यन्त्र व्यवस्था के अनुकूल होती है। इस प्रकार प्रत्येक नवीन युग का प्रारम्भ सामाजिक क्रान्ति (Social revolution) से होता है।

वर्ग संघर्ष तथा पूंजीवाद के पतन का सिद्धान्त (Theory of struggle and reasons of decline of capitalism)—मानव समाज के प्रारम्भ से ही सामाजिक सम्बन्ध शोषण पर आधारित रहे हैं। शुरू से ही समाज शोषक तथा शोषित दो वर्गों में बंटा रहा है। शोषण के आधारभूत तत्त्वों में तो कभी परिवर्तन नहीं हुआ परन्तु विभिन्न युगों में उसने विभिन्न रूप अवश्य धारण किए हैं। मानव के विकास की मार्क्स ने तीन स्थितियाँ स्वीकार की हैं—

(१) गुलामी पर आधारित समाज।
(२) सामन्तीय समाज।
(३) पूँजीवादी समाज।

इस तीनों प्रकार के समाज में आधारभूत, शोषक तथा शोषित के सम्बन्धों के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उत्पादन की प्रत्येक व्यवस्था ने वर्ग संघर्ष (Class struggle) को जन्म दिया है। समाज में संघर्ष करते हुए इन वर्गों का स्वरूप अर्थ व्यवस्था द्वारा निर्धारित होता है। जिस प्रकार विचार क्षेत्र में एक विचार दूसरे विरोधी विचार को जन्म देता है, उसी प्रकार समाज में भी एक व्यवस्था

की स्थापना दूसरी विरोधी व्यवस्था को जन्म देती है । उदाहरणार्थ पूंजीवाद की स्थापना ने साम्यवाद को जन्म दिया । सामाजिक विकास इन परस्पर विरोधी वर्गों के संघर्ष द्वारा होता रहता है । **यही कारण है कि मार्क्स मानवीय समाज के इतिहास को वर्ग संघर्ष का इतिहास मानता है ।**[1]

आधुनिक युग में औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के बाद यह संघर्ष बहुत स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष हो गया है । अब यह संघर्ष पूँजीपतियों तथा सर्वहारा (Proletariat) वर्ग में है । उत्पादन के भौतिक साधनों तथा पूंजी के एक ही वर्ग में केन्द्रित होने के कारण सर्वहारा वर्ग दिन प्रति दिन संगठित हो रहा है और मेहनतकश लोगों की संख्या बढ़ रही है । वस्तुतः मार्क्स का यह यकीन है कि पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था स्वयं अपने विनाश का बीज बो रही है, उसके विनाश के बीज उसकी आधार भूत अर्थ व्यवस्था में मौजूद हैं क्योंकि—

(१) पूँजीवाद का आधार मुनाफाखोरी है, यह मुनाफा मेहनत-कश द्वारा उत्पन्न अतिरिक्त मूल्य (Surplus value) का फल है । अतिरिक्त मूल्य ऐसे श्रम (Labour) से उत्पन्न होता है जिसका वेतन मेहनतकश को नहीं मिलता (Unpaid labour) ।

(२) पूँजीवादी व्यवस्था में प्रतियोगिता के फल स्वरूप छोटे-छोटे पूंजीपति कुचल दिये जाते हैं और पूँजी का धीरे-धीरे कुछेक हाथों में केन्द्रीकरण हो जाता है । फल स्वरूप मेहनतकशों की तादाद बढ़ जाती है ।

(३) पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के अर्न्तगत आर्थिक संकटों (Economic-crisis) की आवृति होती रहती है, जिसका परिणाम मेहनतकशों की बेकारी तथा अन्य संकटों की वृद्धि में होना है । यातायात की सुविधा और एक साथ मिलकर कार्य करने के कारण सर्वहारा वर्ग अपना संगठन न केवल मजबूत ही बनाता है बल्कि उसे अन्तर्राष्ट्रीय रूप दे देती है ।

इस संगठन का फल पूँजीवाद की हार तथा सर्वहारा वर्ग की जीत होती है । मार्क्स ने दूसरी ओर अपने द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया (Dialectical Process) से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था आत्मविरोध (Self-contradiction) पर आधारित है, इस कारण उसका विनाश लाजमी है । उत्पादन के साधन आज एक व्यक्ति द्वारा इस्तेमाल में नहीं लाए जाते न ही एक परिवार द्वारा, बल्कि वह आज सामूहिक (Collective) बन चुके हैं, इसी प्रकार उत्पादन भी सामाजिक रूप धारण कर चुका है, वह वैयक्तिक या पारिवारिक नहीं, परन्तु दोनों—उत्पादन के साधन (Means of Production) और उत्पादन के वितरण (Distribution of production)—का नियन्त्रण वैयक्तिक है, सामाजिक नहीं । इस प्रकार आधुनिक पूंजीवाद का आधार ही आत्मविरोध है, अतः संघर्ष अनिवार्य है । भविष्य सर्वहारा वर्ग का है, उनकी जीत लाजमी है, उन्हें संगठित होना चाहिए ।

---

1. "The history of all hitherto existing society is the history of class-struggles."—*Marx.*

क्रान्ति के अनन्तर जिस समाज की स्थापना होगी उसे सर्वहारा वर्ग का अधिनायक तन्त्र (Dictatorship of Proletariat) कहा जायगा । अन्ततः एक वर्ग-विहीन तथा राज्यविहीन (Stateless) समाज का उदय होगा । इसी समाज में उत्पादन व्यवस्था, वितरण व्यवस्था (Distribution system) तथा समाज व्यवस्था में समन्वय (Harmony) स्थापित होगा ।

मार्क्सवाद की आलोचना—अनेक प्रकार से की जाती है । हम इसकी त्रुटियों पर नीचे लिखे ढंग से विचार करेंगे—

(१) मार्क्स द्वारा की गई इतिहास की भौतिकवादी—आर्थिक व्याख्या की इन दिनों कड़ी आलोचना की जाती है । सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री गिडिंग्ज तथा हाब-हाऊस ने इसे मानने से इनकार कर दिया है । मेकआइवर का भी यही विचार है । मार्क्स की इतिहास की व्याख्या बहुत सरल तथा निर्णयात्मक (Deterministic) है । वह सामाजिक जीवन की जटिलता को स्वीकार करने में असमर्थ है । वह एक ही तत्त्व—आर्थिक तत्त्व—को परम तत्त्व मान उसे सामाजिक परिवर्तन तथा ऐतिहासिक विकास का निर्णयात्मक तत्त्व मान लेता है । अर्थतन्त्र के अतिरिक्त मानवीय इतिहास, धर्म, विचार दर्शन, साहित्य, संस्कृति भूगोल तथा राजनीति सभी से प्रभावित है । कभी किसी काल में एक तत्त्व की प्रधानता रही तो दूसरे में अन्य तत्त्व की । अर्थ तन्त्र तो सामाजिक विकास के अनेक तत्त्वों में से एक है । मार्क्स की आर्थिक व्याख्या एक पक्षीय (One-sided) है ।

(२) मार्क्स का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण भी कमजोर है । मनुष्य केवल अर्थ प्राप्ति की इच्छा से ही कार्य प्रवृत नहीं होता । मानव के क्रिया-प्रेरक स्रोत संश्लिष्ट (Cmplex) हैं । काम (Sex), सत्ता प्राप्ति की इच्छा (Impulse to power) जीवन की इच्छा, सहानुभूति, आत्मरक्षा की भावना इत्यादि अनेक प्रवृतियाँ मानव की क्रिया-प्रेरक शक्तियाँ (Motive powers) हैं । सुप्रसिद्ध अंग्रेज विचारक बर्ट्रेण्ड रसेल ने अपनी **'पावर** (Power) **तथा 'प्रिन्सिपल्स ऑफ सोशल रिकंस्ट्रक्शन'**, (Principles of Social Reconstruction) नामक पुस्तकों में इस प्रश्न पर विशेष विचार किया है । उसका कथन है कि मानव की सत्ता प्राप्ति (Impulse to power) **की इच्छा ही मुख्य इच्छा है और इसी के आधार पर मानव इतिहास की व्याख्या की जानी चाहिए । आर्थिक उद्देश्य अपने आप में पूर्ण नहीं या वे साध्य नहीं, बल्कि साधन** (Means) **हैं** । रसेल कहता है मनुष्य या मनुष्य-समाज जब आर्थिक चिन्ता से मुक्त हो जाता है या वह जब आर्थिक साधन सम्पन्न हो जाता है तो वह सत्ता प्राप्ति की इच्छा से कार्य प्रवृत होता है, धन प्राप्ति की इच्छा से नहीं । धन उसके लिये सत्ता प्राप्ति का साधन मात्र है ।

वह आगे लिखता है कि **"केवल यह अनुभव करने पर ही कि सत्ता प्राप्ति की इच्छा ही उन कार्यों का कारण है जो समाज में महत्त्वपूर्ण हैं, हम प्राचीन तथा**

नवीन इतिहास की ठीक-ठीक व्याख्या कर सकते हैं।[1] यह आवश्यक नहीं कि रसेल का ही दृष्टिकोण ठीक हो, परन्तु वह इस समस्या की जटिलता तथा संश्लिस्टता (Complexity) की ओर अवश्य संकेत करता है।

(३) सामाजिक इतिहास के परिवर्तन क्रम में मार्क्स ने व्यक्ति को परिस्थतियों का एक विवश प्रेक्षक (Passive observer) मात्र ही माना है। वह विचार तथा पदार्थ (Matter) का लेन-देन अवश्य स्वीकार करता, परन्तु अन्ततः यह आदान-प्रदान एक पक्षीय (One-sided) है क्योंकि मनुष्य के विचार उसकी परिस्थितियों की उपज मात्र हैं। मनुष्य की अपनी संकल्प शक्ति (Will power) भी है, इसे हमें नहीं भूलना चाहिए। व्यक्ति की इच्छा, वासना, संकल्प, विचार, विश्वास तथा श्रद्धा इत्यादि का मानवीय इतिहास में विशेष स्थान है। **व्यक्ति केवल परिस्थितियों का कठपुतला ही नहीं, वह परिस्थितियों का निर्माता भी है।**

(४) मार्क्स ने वर्गगत स्वार्थों (Class interests) को अन्य प्रकार की भावनाओं से कहीं अधिक मजबूत समझा है। राष्ट्र, समाज, धर्म, परिवार कुल तथा बरादरी के प्रति वफादारी की जो हमारी भावनाएँ हैं मार्क्स ने उन्हें वर्गगत स्वार्थों के अधीन रखा है, परन्तु यह सीधा तथा सरल निर्णय है। राष्ट्रीय जातीय तथा वर्गगत भावनाएँ वर्गगत भावनाओं से अधिक मजबूत हैं, पिछले दो विश्व युद्धों ने इस बात को साबित कर दिया है। दरअसल मार्क्स की सभी भविष्य वाणियाँ असत्य तथा अर्द्ध सत्य (Half truths) साबित हुई हैं। प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्ध में सभी देशों के मेहनतकशों ने राष्ट्रीयता का अनुसरण किया और अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की अपीलों को ठुकरा दिया। पूँजीवाद के विस्तार के विषय में मार्क्स की धारणा गलत साबित हुई है। ऐन्जल्स ने भी यह स्वीकार किया था। प्रो० सेबाइन (Sabine) का यह कथन सर्वथा ठीक है कि पूँजी का आधुनिक युग में केन्द्रीकरण अवश्य हुआ है। परन्तु इस केन्द्रीकरण का परिणाम मार्क्सवाद के अनुसार मेहनतकशों के दुःख और संकटों के आधिक्य में नहीं हुआ। पूँजीवाद ने साम्राज्यवाद के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया परन्तु मेहनतकश राष्ट्रगत तथा देशगत भावनाओं से ऊपर नहीं उठ सके।

(५) सामाजिक वर्गों का मार्क्सवादी विश्लेषण आज समाजशास्त्री स्वीकार नहीं करते। सामाजिक वर्ग (Social classes) केवल अर्थ तन्त्र की ही उपज नहीं, और भी बहुत से सामाजिक कारण इसके नियामक हैं। न ही सम्पूर्ण मानवीय इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास कहला सकता है। इतिहास की ऐसी व्यख्या निराशा पूर्ण है साथ ही नाटकीय भी। राज्य भी केवल आक्रामक प्रवृतियों का फल नहीं, न ही वह शोषण की ऐजन्सी है। राज्यविहीन तथा वर्गविहीन समाज की कल्पना तो केवल कल्पना मात्र ही है।

---

1. "It is only by realising that love of power is the cause of the activities that are important in the social affairs, that history whether ancient or modern can rightly be interpreted."—*Russel.*

मार्क्सवाद की देन—इन सब कमजोरियों के बावजूद भी मार्क्सवाद एक बहुत बड़ी बौद्धिक शक्ति है जिसकी महत्ता को भुलाया नहीं जा सकता । मार्क्स ने बहुत सूक्ष्मता से सामाजिक जीवन की विवेचना कर समाज गत परिवर्तन के एक महत्त्वपूर्ण परन्तु उपेक्षित, आर्थिक कारण को उपस्थित किया और अपनी तीव्र अन्तर्दृष्टि द्वारा सामाजिक व्यवस्था और अर्थ तन्त्र के घनिष्ट, सम्बन्धों को सिद्ध किया । सेबाइन के शब्दों में **"इतिहास की आर्थिक व्याख्या निश्चय ही उन्नीसवीं सदी के समाज शास्त्र के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण देनों में से एक थी ।"**[1]

मार्क्स के कुछ सिद्धान्त भले ही वैज्ञानिक न हों, परन्तु इससे उसकी महत्ता कम नहीं होती । रसेल (Russel) का यह कथन सर्वथा ठीक है कि **"मार्क्सवादी सिद्धान्त मनुष्य के अन्य सिद्धान्तों की तरह अंशतः सत्य है और अंशतः असत्य । बहुत से तत्वों का खण्डन किया जा सकता है, किन्तु उसके सिद्धान्तों में कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं जो कि उसे एक महान प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति सिद्ध कर सकते हैं ।"**[2]

मार्क्स का उद्देश्य एक नैतिक आदर्श का प्रतिपादन था । वह वर्तमान समाज में कुछेक व्यक्तियों द्वारा होने वाले अन्यायपूर्ण शोषण के प्रति एक विशिष्ट प्रतिरोध था । जोड के शब्दों में मार्क्सवाद की महत्ता वर्तमान समाज की अन्यायपूर्ण आर्थिक व्यवस्था के प्रति एक नैतिक प्रतिरोध में है ।

१७१. साम्यवाद (Communism)

हिन्दी का साम्यवाद शब्द अंग्रेजी के कम्युनिज्म (Communism) शब्द का अनुवाद है । साम्यवाद का आधार मार्क्स के विचार हैं, इनका विवेचन हम पीछे कर चुके हैं । हमने पीछे जिक्र किया था कि मार्क्स के विचारों को हम कम्युनिस्ट घोषणापत्र (Communist Manifesto) तथा (Das Kapital) में पाते हैं। 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के आधार पर ही साम्यवाद के सिद्धन्तों की विवेचना की जाती है । मार्क्स के 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में कहा गया है कि **"साम्यवाद अपने शाब्दिक अर्थ में क्रान्तिकारी प्रणाली का सिद्धान्त है । यह उन असूलों को स्थापित करता है जिन द्वारा पूंजीवाद को साम्यवाद में बदला जा सकता है । इसके दो आवश्यक सिद्धान्त हैं— वर्ग संघर्ष तथा सर्वहारा द्वारा क्रान्ति—जिसका अर्थ है "हिंसात्मक ढंग से सत्ता प्राप्ति ।"**[3] इस अर्थ में प्रयुक्त साम्यवाद एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में स्वीकार

1. "The economic interpretation of history was certainly one of the most important additions made to social theory in the nineteenth century."—*Sabine.*

2. "Marxist doctrine like those of other men, are partly true and partly false. There is much that can be controverted, but there are some points in his theory that of such importance as to prove him a man of supreme intelligence."—*Russel.*

3. "Communism in this sense of word is essentially a theory of method, it seeks to lay down the principles upon which the transition from Capitalism to Socialism is to be accomplished, and its two essential doctrines are the class war and revolutionary that is, the forcible transference of power to the proletariat."—*Marx.*

किया जाता है जिस का उद्देश्य—सर्वहारा वर्ग द्वारा बलपूर्वक राज्यसत्ता पर कब्जा करना है। इस अर्थ में साम्यवाद तथा समाजवाद के अन्य प्रकारों में अन्तर है, इस बात को हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे।

पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था के विश्लेषण —का संकेत हम ऊपर मार्क्स के दर्शन का विवेचन करते हुए कर चुके हैं। यहाँ हम एक बार फिर मार्क्स के एतद् विषयक विचारों का विवरण देंगे। मार्क्स का कथन है कि किसी भी पदार्थ के मूल्य का निर्धारण उसके उत्पादन में खर्च समय तथा श्रम के आधार पर होता है। श्रम ही वास्तविक मूल्य का स्रोत (Source) है। पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूर वर्ग को अपने श्रम के अनुरूप वेतन नहीं मिलता। इसी शेष बचे हुए बेगार श्रम (Unpaid labour) के आधार पर ही पूंजीपति मुनाफा कमाता है। अतिरिक्त मूल्य (Surplus value) मजदूर को मिलना चाहिए, परन्तु वह पूजीपति को मिलता है। इस प्रकार पूंजीवाद की अर्थ व्यवस्था अन्याय पर आधारित है।

परन्तु पूंजीवाद व्यवस्था अपने पतन के बीज स्वयं बोती है। उसमें अनेक प्रतिरोध (Contradiction) हैं जो उसके पतन का कारण बनते हैं। पूंजीवाद के अन्तर्गत उत्पादन व्यवस्था के केन्द्रीकरण से फलस्वरूप हजारों मजदूर एक ही जगह इकट्ठे कर दिये जाते हैं। इस प्रकार वे अपने सामूहिक शोषण को अनुभव कर वर्ग चेतना (Class conscious) सम्पन्न हो जाते हैं। यातायात के साधनों का विकास मजदूर आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर संगठित होने का अवसर देता है। मार्क्स का कथन है कि सभी देशों के मजदूरों के समान स्वार्थ है, उनका समानरूप में शोषण होता है। राष्ट्रीयता, धर्म, कानून, सदाचार तथा स्वदेश प्रेम इत्यादि सभी ढकोसले हैं, जिन्हें पूंजीवादी मजदूरों के लूटने के लिए रचते हैं।

पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तंगत मजदूरों की संख्या बढ़ती रहती है और पूंजी कुछेक लोगों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है। लगातार प्रतियोगिता के फल स्वरूप बड़े २ पूंजीपति छोटे २ पूंजीपतियों का दिवाला निकाल देते हैं और उन्हें मजदूर वर्ग में शामिल होने को विवश कर देते हैं। पूंजीवाद के अन्तंगत, दूसरे शब्दों में, छोटे २ उत्पादकों को प्रतियोगिता द्वारा खत्म कर दिया जाता है।

उत्पादन किसी योजना के अनुसार तो होता नहीं अतः अंधाधुन्ध माल तैयार किया जाता है। घरेलू बाजारों में उसे कोई खरीदने वाला नहीं होता, क्योंकि मजदूर वर्ग केवल जीवन-यापन के लिये ही वेतन पाता है, उसके पास इतनी क्रय-शक्ति (Purchaing power) ही नहीं होती कि वे इस माल को खरीद सके। परिणाम स्वरूप बाजार में तैयार माल के तो ढेर लग जाते हैं, परन्तु उन्हें खरीदने वाला कोई नहीं होता। पूंजीपति कारखानों को या तो बन्द कर देते हैं या फिर उनकी छंटनी करते हैं। दोनों का फल यह होता है कि हजारों मजदूर बेकार हो जाते हैं। इस बेकारी में उनके कष्टों की बहुत वृद्धि हो जाती है, ऐसे ही समय में वे अपने को संगठित कर राज्य सत्ता के हथियाने का प्रयत्न करते हैं।

लेनिन ने पूंजीवाद के अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष का भी विवेचन किया है। मार्क्स

पूंजीवाद के इस विकासक्रम को नहीं देख सका था । साम्यवादियों का कथन है कि जब पूंजीपति लोग अपने माल की अपने देशों में खपत नहीं कर सकते तो वे अपने उत्पादन की खपत के लिए विदेशों में बाजार खोजते हैं। अर्द्ध-विकसित या अविकसित राष्ट्रों के शोषण के लिए और विदेशी बाजारों पर कब्जा करने के लिये राज्यों में आपस में होड़ लग जाती है। पूंजीवाद साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लेता है, फलतः पूंजीवाद अपने चरम रूप में पहुँच विश्व-युद्ध का कारण बन जाता है। २०वीं सदी में लड़े गए दोनों विश्व युद्धों की साम्यवादी की आर्थिक व्याख्या करते हैं।

मार्क्स यह मानता है कि पूंजीवाद का पतन अनिवार्य है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मजदूर वर्ग को हाथ पर हाथ रख बैठे रहना है । उन्हें संगठित हो पूंजीपति वर्ग से बलपूर्वक राज्य-सत्ता को प्राप्त करना है । ऐसा हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा ही सम्भव है।

साम्यवादी क्रान्ति का नेतृत्व सर्वहारा वर्ग करता है परन्तु उसका उद्देश्य मानव-मात्र का कल्याण है । साम्यवादी क्रान्ति के फल-स्वरूप वर्गविहीन तथा राज्य-विहीन समाज की स्थापना होगी। परन्तु ऐसा एकदम नहीं हो सकता, इस उद्देश्य की प्राप्ति काफी समय के अनन्तर होगी। साम्यवादी समाज के निर्माण की दो स्थितियाँ हैं (१) अन्तरिम क्रान्तिकालीन अवस्था (Transitional stage) (२) वर्गविहीन साम्यवादी समाज (Communistic classless Society).

(१) **अन्तरिम क्रान्तिकारी अवस्था** (Transitional stage)— इस के अन्तर्गत सम्पूर्ण राजकीय मशीनरी का पुर्नसंगठन किया जाएगा। अगर मौजूदा राज्य को ज्यों का त्यों रखा जाए तो वह किसी भी अवस्था में साम्यवादी समाज व्यवस्था को पनपने नहीं देगा। मार्क्सवादियों का विचार है कि राज्य एक शोषण-यंत्र है । इस शोषण-यंत्र का प्रयोग पूंजीवादी समाज ने सर्वहारा वर्ग के हितों के विरुद्ध किया है। अब सर्वहारा वर्ग को राज्य शक्ति का प्रयोग निशंक हो कर पूंजीपतियों के विनाश के लिए करना चाहिए। पूंजीवादी व्यवस्था का विनाश राज्य के शक्तिशाली प्रयोग के बिना असम्भव है। पूँजीवादी वर्ग बहुत चतुर है, वह किसी न किसी ढंग से पुनः शक्ति प्राप्त करने की कोशिश करेगा। यही कारण है कि अन्तरिम क्रान्तिकारी अवस्था के लिए मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तंत्र (Dictatorship of the Proletariat) की स्थापना को आवश्यक माना है । इस अवस्था में विजयी मजदूर वर्ग को राज्य शक्ति को पूंजीवादियों के हृदय में भय उत्पन्न करने के लिए प्रयोग में लाना चाहिए। एन्जेल्स (Engels) का कथन है कि "**क्रान्ति में जो पक्ष विजयी होता है, उसे अपने शासन को कायम रखने के लिए आतंक का प्रयोग करना पड़ता है, और उसके अस्त्र-शस्त्र ही प्रतिक्रियावादियों के हृदय में भय उत्पन्न करते हैं।**"[1]

---

1. "The party which has triumphed in the revolution is necessarily compelled to maintain its rule by means of that fear with which its arms inspire the reactionaries."—*Engels.*

एंजेल्स अन्यत्र कहता है कि "**राज्य एक अस्थायी संस्था है । क्रान्तिकाल में इस का प्रयोग शत्रुओं के दबाने के लिए किया जाता है । स्वतन्त्र तथा सर्वप्रिय राज्य की बात करना मूर्खता है । जब तक मजदूर वर्ग को राज्य की आवश्यकता है, वह इसका प्रयोग स्वतन्त्रता के अर्थ नहीं करेंगे बल्कि अपने शत्रुओं को दबाने के लिए ही करेंगे, और जब स्वतन्त्रता की अनुभूति सम्भव होगी तब तो राज्य खत्म ही हो जाएगा ।**"[1] लेनिन भी उपर्युक्त मत का समर्थन करता हुआ कहता है कि "**राज्य तो एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग को दबाने के साधन के अतिरिक्त कुछ नहीं है ।**"[2] अतः सर्वहारा वर्ग को राज्य का प्रयोग पूंजीवाद को खत्म करने के लिए ही करना चाहिए। राज्य का यह स्वरूप प्रजातन्त्रात्मक नहीं होगा, जैसा कि ऊपर स्पष्ट ही है और न ही पार्लियामेन्ट्री शासन व्यवस्था की आवश्यकता होगी । अतः इस अवस्था में सभी प्रकार की प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं को समाप्त कर स्वतन्त्रता का अपहरण कर निरन्कुश अधिनायकतत्र की स्थापना की जाएगी । सर्वहारा वर्ग अपने विरोधियों को हर सम्भव उपायों से दबाने का प्रयत्न करेगा ।

राज्य के इस काल में दो प्रकार के कर्तव्य होंगे—संहारक (Destructive) तथा रचनात्मक (Constructive) । साम्यवादी राज्य का उद्देश्य पूंजीवाद को खत्म करना है, परन्तु पूंजीवाद एकदम खत्म नहीं किया जा सकता, उस को खत्म करने के लिए समय लगेगा । 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' के अनुसार पूंजीवाद की समाप्ति के लिए भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्त, यातायात के साधनों के राष्ट्रीयकरण बैंकिग व्यवस्था के राष्ट्रीय नियंत्रण, व्यापार तथा वाणिज्य के नियंत्रण, सम्पत्ति के उत्तराधिकारी के उन्मूलन, बाल श्रमनिषेध इत्यादि के लिये राज्य को विशेष कदम उठाने चाहिए ।

वर्गविहीन साम्यवादी समाज —की स्थापना पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था के समाप्त होने के अनन्तर होगी । पूंजीवाद के विनाश का अर्थ राज्य का विनाश है, राज्य की तभी तक स्थिति रहती है जब तक समाज में परस्पर विरोधी वर्ग हों । आर्थिक असमानता ही वर्गवाद की जनक होती है । जब सम्पूर्ण समाज में समानता हो जाएगी, आर्थिक विभेद खत्म हो जाएगा, झगड़े मिट जाएँगे, तब राज्य की क्या आवश्यकता रहेगी ? राज्य का स्थान स्वेच्छापूर्वक स्थापित समुदाय ले लेंगे समुदायों से मिलकर ही समाज की रचना होगी । यह समाज राज्यविहीन तथा वर्गविहीन समाज होगा ।

---

1. "As the state is only a temporary institution which is to be much use of in the revolution, in order to forcibly supress the opponents, it is a perfect absurdity to speak about the free popular state, so long as the proletariat still needs the st te, it needs it, not in the interest of freedom, but in order to supress its opponents and when it becomes possible to speak of freedom, the state as such ceases to exist."—*Engels.*

2. "The state is nothing but the machine for the supression of one class by another."—*Lenin.*

प्रजातन्त्र पर आक्षेप —साम्यवादी प्रजातन्त्र शासन प्रणाली में यकीन नहीं करते । मौजूदा प्रजातन्त्र राज्य पूंजीवादी व्यवस्था को बनाए रखने का साधन मात्र है । पार्लियामेण्ट्री व्यवस्था के अर्न्तगत मजदूरों का बहुमत हो जाने पर भी आर्थिक अवस्था में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा क्योंकि उत्पादन के साधन पूंजीपति वर्ग के हाथ में ही रहेंगे । यदि समाजवादी दल कानून द्वारा उत्पादन के साधनों पर नियत्रंण करने का प्रयत्न करेंगे तो पूजीपति वर्ग उसका हर सम्भव साधन से विरोध करेगा । लेनिन ने अपनी पुस्तक 'राज्य तथा क्रान्ति' में कहा है कि यदि हम लोग पूंजीवादी शासन व्यवस्था का नजदीक से अध्ययन करें तो हमें मालूम हो जाएगा कि लोकतंत्र पर किस प्रकार की पाबन्दियाँ लगाई गयी हैं । इन पाबन्दियों के कारण निर्धन जनता राजनीति से अलग हो जाती है और प्रजातन्त्र में हिस्सा लेने से वंचित रह जाती है । वर्तमान राज्यों के आधारभूत नियम जिन में शासन का स्वरूप, सभा करने की स्वतन्त्रता, समाचार पत्र की स्वतन्त्रता या कानून की दृष्टि में नागरिकों की समानता इत्यादि हैं, इसमें किसी भी नियम को लीजिए, आपको पग-पग पर पूंजीवादी प्रजातन्त्र की दुष्टता नजर आयेगी, जिसे प्रत्येक सच्चा तथा वर्ग चेतना सम्पन्न नागरिक जानता है । ऐसा एक भी राज्य नहीं, चाहे वह कितना भी प्रजातन्त्रवादी क्यों न हो, जिसके संविधान के अर्न्तगत कुछ ऐसी छूट या शर्त न हो जिस द्वारा पूंजीपति हमेशा जब मजदूर सर उठाए तो उन को दबाने के लिए अपनी फौजें न भेज सकें, या फौजी कानून न जारी कर सकें ।" साम्यवादियों का यकीन है कि राज्य सत्ता की प्राप्ति शान्तिमय साधनों से सम्भव नहीं । हिंसात्मक साधनों द्वारा ही पूंजीवाद को समाप्त किया जा सकता है ।

साम्यवाद की आलोचना —साम्यवाद के आधारभूत मार्क्सवादी सिद्धान्तों की आलोचना तो हम पीछे कर आए हैं । यहां हम मार्क्स के साम्यवादी प्रोग्राम तथा उस द्वारा की गई पूंजीवादी व्यवस्था के विश्लेषण की त्रुटियों का विवेचन करेंगे —

(१) सर्वप्रथम तो हम साम्यवादियों की राज्य विषयक धारणा का खण्डन करेंगे, साम्यवादी राज्य को एक शोषण का साधन समझते हैं । उन का कथन है कि राज्य निरपेक्ष नहीं होता, वह पूंजीवादी समाज के हाथ में एक यंत्र की तरह है जिसका प्रयोग वे अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए करते हैं, परन्तु यह धारणा गलत समझी जाती है । राज्य आक्रमण प्रवृति या शोषण की भावना पर आधारित नहीं, वह हमारी सामाजिक प्रकृति का परिणाम है और उसका आधार जन-सम्मति है । राज्य एक नैतिक संगठन है, उसके कर्तव्यों के रूप अवश्य बदलते रहे हैं परन्तु आज तो यह यकीन किया जाता है कि उसे हमारे व्यक्तित्व के विकास के लिए उचित परिस्थितियों का निर्माण करना चाहिए ।

(२) मार्क्स का कथन है कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों में होगी, परन्तु उसकी यह भविष्यवाणी गलत साबित हुई है । इंग्लैंड अमेरिका तथा फ्रांस इत्यादि औद्योगिक दृष्टि से विकसित राज्यों में अभी भी पूंजीवादी

व्यवस्था मौजूद है । साम्यवादी क्रान्तियां तो रूस तथा चीन इत्यादि कृषि प्रधान राज्यों में हुई हैं ।

(३) साम्यवादी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति पर अधिक बल देते हैं, साधनों की पवित्रता का उन्हें किंचित ध्यान नहीं । परन्तु उच्च उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पवित्र तथा उच्च साधनों को भी अपनाना चाहिए । साम्यवादी हिंसात्मक साधनों में यकीन करते हैं, वे संवैधानिक तथा शान्ति मय उपायों में यकीन नहीं करते । परन्तु हिंसात्मक क्रान्तियों के परिणामों के विषय में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । यह जरूरी नहीं कि हिंसात्मक क्रान्ति के अनन्तर उन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके जिस के लिए यह सब बलिदान किया जाता है । फ्रांस में राज्य क्रान्ति का उद्देश्य जनवाद की स्थापना तथा राजतन्त्र का विनाश था परन्तु उसका परिणाम नेपोलियन का साम्राज्यवाद हुआ । इस बात की कोई गारण्टी नहीं कि साम्यवादी क्रान्ति के अनन्तर राजकीय शक्ति मजदूर वर्ग के हाथ में रहेगी । फिर हिंसात्मक साधन सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में उथल-पुथल मचा देते हैं, उन से लाभ की उतनी आशा नहीं की जा सकती जितना कि उनसे नुकसान हो जाता है ।

(४) साम्यवाद आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण के तो विरुद्ध हैं, उनका कथन है कि ऐसा केन्द्रीकरण सामाजिक व्यवस्था में अन्याय तथा शोषण को जन्म देता है । परन्तु वह भूल जाते हैं कि आर्थिकशक्ति की तरह राज्यशक्ति का केन्द्रीकरण भी खतरनाक है । मजदूर वर्ग के अधिनायक तन्त्र की स्थापना द्वारा वह राज्य शक्ति को केन्द्रित कर व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा कार्यारम्भ की शक्ति को नष्ट कर देते हैं । राज्य-शक्ति का केन्द्रीकरण आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण से भी अधिक खतरनाक है ।

(५) साम्यवादी दल क्रान्ति के अनन्तर सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तन्त्र की स्थापना के पक्ष में है, परन्तु अधिनायक तन्त्र, चाहे वह किसी भी वर्ग या दल का क्यों न हो, वाँछनीय नहीं । अधिनायकतन्त्र के अन्तर्गत जन साधारण को राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है और राज्यशक्ति थोड़े से लोगों के हाथ में सौंप दी जाती है । यह आवश्यक नहीं कि यह चन्द लोग सदा ही ईमानदारी से शासन कार्य चलाएँ, हो सकता है वे अपने स्वार्थों के वशीभूत हो जन साधारण के हित के विरुद्ध चले जाँए । इस अधिनायक तन्त्र के अन्तर्गत राज्य की आलोचना का अधिकार तो जन साधारण के पास होता ही नहीं, ऐसी अवस्था में अधिकारी गण अपने दोषों से भी अवगत नहीं हो सकते । आलोचना सुनने के आदि न होने के कारण जब कभी उन के दोषों को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया जाएगा तो वह उसे बर्दाश्त नहीं कर सकेंगे और उस स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष आवाज को दबाने का प्रयत्न करेंगे । अधि-नायकतन्त्र का सबसे बड़ा खतरा यह है कि वह अपने स्वार्थों को ही जन साधारण के स्वार्थ मानने लगता है । दूसरा, एक अच्छे अधिनायक का उत्तराधिकारी आवश्यक नहीं वैसा ही अच्छा हो ।

(६) साम्यवादियों का कथन है कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र साम्यवाद की स्थापना के अनन्तर एक दिन अपने आप ही खत्म हो जाएगा और उसके

स्थान पर राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज का उदय होगा। मानवीय इतिहास में ऐसा कोई कहीं उदाहरण नहीं मिलता जब कि एक वर्ग राज्य शक्ति को हथिया स्वेच्छापूर्वक उसका त्याग कर दे। जब पूंजीपति स्वेच्छापूर्वक राज्यशक्ति का नियन्त्रण नहीं छोड़ सकते तो सर्वहारा वर्ग कैसे छोड़ देगा? वस्तुतः इस प्रकार का ऐच्छिक शक्ति त्याग तो मनुष्य प्रकृति के ही विरुद्ध है। सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तन्त्र के अन्तर्गत तो विचार की, बोलने की तथा अन्य प्रकार की नागरिकों की स्वतन्त्रताएँ खत्म कर दी जाती हैं परन्तु साम्यवादी अवस्था को प्राप्त कर समाज में अपने आप ही में सभी स्वतन्त्रताएँ जन सुलभ हो जाएँगी। यह सब आश्चर्यजनक बातें ही हैं।

(७) राज्य का पूर्ण परित्याग मनुष्य प्रकृति के अनुकूल नहीं, सामाजिक भेद-भाव का पूर्ण विलोप भी सम्भव नहीं। मार्क्स तथा उसके अनुयायी राज्य तथा मनुष्य प्रकृति को समझने में असमर्थ हैं। राज्य तो मनुष्य की प्रकृति में रमा हुआ है। आज तक कोई भी राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज का उदाहरण हमारे इतिहास में नहीं मिला। राज्य-विहीन समाज में संघर्ष खत्म हो जाता है, वर्गगत स्वार्थों की भी समाप्ति हो जाती है, रसेल पूछता है कि ऐसे वर्गविहीन समाज में द्वन्द्वात्मक व्यवस्था का क्या बनेगा? द्वन्द्वात्मक व्यवस्था द्वारा ही समाज का विकास माना गया है। द्वन्द्ववाद यह यकीन करता है कि प्रत्येक समाज व्यवस्था अपने से विरोधी एक अन्य सामाजिक व्यवस्था को जन्म देती है और उन दोनों के पारस्परिक संघर्ष द्वारा ही समाज का विकास होता है। परन्तु मार्क्स का कथन है कि राज्य-विहीन समाज में यह संघर्ष खत्म हो जायगा ऐसी अवस्था में द्वन्द्ववाद का क्या होगा और राज्य का विकास कैसे होगा? क्या वह खत्म हो जाएगा? साम्यवादी इस प्रश्न का कोई ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे पाते।

(८) साम्यवादी प्रजातन्त्र का विरोध करते हैं, परन्तु अब वे अपने आप को सर्वश्रेष्ठ प्रजातन्त्रवादी कहने लग गए हैं। रूस का स्टालिन-संविधान रूस की राजनीतिक व्यवस्था को सैद्धान्तिक रूप से प्रजातन्त्र के आधार पर ही रखता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति साम्यवादियों की अपनी कमजोरी का ही चिन्ह है।

१७२. विकासवादी समाजवाद (Evolutionary Socialism)

विकासवादी समाजवाद के अनेक नामकरण किए गए हैं बहुत से लोग इसे राज्य समाजवाद (State Socialism) सामूहिक समाजवाद (Collective Socialism) प्रजातन्त्रवादी समाजवाद (Democratic Socialism) इत्यादि नामों से पुकारते हैं। वस्तुतः विकासवादी समाजवाद के ये सभी नाम उसकी विभिन्न विशेषताओं के सूचक हैं।

विकासवादी समाजवाद का जन्म ग्रेट ब्रिटेन में हुआ, परन्तु इसे जर्मनी के राज्य समाजवाद के सिद्धान्त ने भी पर्याप्त प्रभावित किया।

विकासवादी समाजवाद जैसे कि उसके नाम से ही विदित हो जाता है, समाज-

वाद के क्रान्तिकारी या हिंसात्मक रूप में नहीं, अपितु विकासवादी रूप में यकीन करता है । विकासवादी समाजवादियों का कथन है कि समाजवादी समाज व्यवस्था की स्थापना के लिए शक्ति प्रयोग की आवश्यकता नहीं । वे जनता की बुद्धिमत्ता तथा तर्क शक्ति में यकीन करते हैं । जन-साधारण में प्रचार द्वारा समाजवादी प्रोग्राम की उत्कृष्टता को सिद्ध किया जा सकता है, उन्हीं की सहायता से बहुमत प्राप्त कर पार्लियामेंट में समाजवादी कानून बनाए जा सकते हैं, उनका साधन सुधारवाद का साधन है, क्रान्तिकारी परिवर्तन का नहीं । सामाजिक जीवन एक जीवित प्राणी के जीवन के सदृश है । उसमें आकस्मिक परिवर्तन खतरनाक होते हैं, मानवीय शरीर की तरह समाज-शरीर में भी धीरे-धीरे परिवर्तन होने चाहिए । इन परिवर्तनों के लिए समुचित प्रचार तथा संगठन की आवश्यकता है, शक्ति प्रयोग की नहीं । समाज में परिवर्तन का क्रम तो चल ही रहा है और विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार राज्य स्वयं ही समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहा है । विकासवादी समाजवाद की परिभाषा इन शब्दों में की जा सकती है । **"विकासवादी सिद्धान्त वह नीति अथवा सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य केन्द्रीय प्रजातन्त्रात्मक शासन सत्ता की अधीनता में और उसके माध्यम से वितरण की एक अधिक उचित व्यवस्था तथा उत्पादन की अच्छी प्रणाली की स्थापना हो ।"**

विकासवादी समाजवाद का विकास—जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं सर्वप्रथम ग्रेट ब्रिटेन में हुआ । इस विचारधारा के दो प्रधान स्रोत हैं (१) **फेबियनिज्म तथा** (२) **संशोधनवाद** । फेबियन सोसायटी की स्थापना इंग्लैण्ड में १८८४ में की गयी थी । इस के सदस्य व्यक्तिवाद तथा समाजवाद दोनों से ही प्रभावित थे । इंग्लैण्ड में व्यक्तिवाद का सदा ही बोल-बाला रहा है । फेबियन सोसायटी के सदस्य व्यक्तिवाद से प्रभावित थे परन्तु उनका व्यक्तिवाद संशोधित तथा परिवर्द्धित व्यक्तिवाद था । इन विचारकों ने व्यक्तिवाद का संशोधन मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार किया । फेबियन सोसायटी के सदस्यों में श्रीमती एनी बेसण्ट, प्रो० ग्राहम वेलस, एच. जी. वेल्स, सिडनी तथा बेट्रिक्स वेब, जार्ज बर्नाड शा, मैकडानल्ड, हरमन फाइनर तथा प्रो० लास्की इत्यादि थे ।

फेबियनिज्म मार्क्स से प्रभावित तो अवश्य है, परन्तु उसके अनेक आधारभूत सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करता । फेबियनिज्म न तो मार्क्स की इतिहास की आर्थिक व्याख्या; अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त; वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को ही मानता है और न ही हिंसात्मक क्रान्ति को ही । लोकतन्त्रवाद के विस्तार के फलस्वरूप समाजवाद की स्थापना प्रजातन्त्रात्मक ढंग से हो सकती है, अतिरिक्त मूल्य (Surplus value) के सिद्धान्त को अस्वीकार करने के भी अनेक कारण हैं । उन्होंने विभिन्न वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में **सामाजिक उपयोगिता** (Public utility) **के सिद्धान्त** को अधिक महत्व दिया है जो वस्तु समाज के लिए जितनी उपयोगिता रखती है उतनी ही वह मूल्यवान होती है । इसी प्रकार स्थिति मूल्य (Site value) के नियम को भी वह स्वीकार करते हैं । नगर के मध्य में या बाजार के बीच में

स्थित जमीन के टुकड़ों की कीमत ज्यादा होती है, इस का कारण उसकी स्थिति है न कि उसके मालिक का श्रम। जमींदार लोगों को 'अनुपार्जित आमदनी (Unearned income) होती है जो कि उसको अपनी जमीन की मिलकीयत के कारण मिलती है। फेबियन उत्पादन के साधनों के सामाजीकरण (Socialisation) का समर्थन करते हैं, परन्तु एक तो वे मुआवजे (Compensation) की व्यवस्था की स्थापना चाहते हैं दूसरा वे राज्य की शक्तियों का विकेन्द्रीकरण। राज्य आर्थिक जीवन का तभी नियन्त्रण ठीक-ठीक तरह से कर सकता है जब वह लोकतन्त्र पर आधारित हो और दूसरा जब उसकी शक्ति का व्यापक रूप से विकेन्द्रीकरण हो। फेबियन विचारधारा का व्यावहारिक राजनीति में प्रयोग इंग्लैण्ड का मजदूरदल (Labour party) कर रहा है।

संशोधनवादियों ने मार्क्स के राजनीतिक विचारों को अधिकांश रूप में सत्य स्वीकार किया है, परन्तु उनका कथन है कि मार्क्स ने कहीं-कहीं गलती की है, विशेष रूप से शान्तिपूर्ण साधनों की शक्ति को समझने में। संशोधनवादियों का कथन है कि मार्क्स की यह धारणा सर्वथा गलत है कि मध्य-वर्ग के लोगों की संख्या घट रही है। उनका कथन है कि इन लोगों की संख्या बढ़ जाने से जन साधारण को राज्य के रूप-निरूपण का अधिकार प्राप्त हो गया है। अतः यदि प्रचार द्वारा जनमत को समाजवाद का समर्थक बना लिया जाए तो कोई बड़ी बात नहीं कि पार्लियामेण्ट द्वारा कानून बनाकर ही समाजवाद की स्थापना की जा सके।

विकासवादी समाजवाद के आधारभूत सिद्धान्त—विकासवादी समाजवाद मौजूदा अर्थ व्यवस्था तथा समाज-व्यवस्था के संगठन की कड़ी आलोचना करता है। उनका कथन है कि वर्तमान समाज का संगठन कुछेक व्यक्तियों के हित में बहुमत के शोषण को सम्भव बनाता है दूसरे शब्दों में वर्तमान समाज में थोड़े से लोग बहुत से लोगों का शोषण करते हैं। दूसरा आधुनिक युग में राजनीतिक सत्ता तो सर्व-साधारण को प्राप्त है, मतदान ने राज्य के नियन्त्रण को तो लोगों के हाथ में सौंप दिया है, परन्तु जन-साधारण के पास आर्थिक साधनों का अभाव है या यूं कहिए कि वर्तमान समाज में राजनीतिक स्वतन्त्रता अवश्य है परन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं। अधिकांश जनता भूख, महामारी तथा गरीबी का शिकार होती है। अतः इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था का परिवर्तन लाजमी है प्रारम्भ में व्यक्तिवादी सिद्धान्त ने जिस स्वतन्त्रता का समर्थन किया था, वह गरीबों के कष्टों के बढ़ाने में ही सहायक हुई। वर्तमान व्यवस्था की तबादीली तो जरूरी है, परन्तु हिंसापूर्ण या क्रान्तिकारी साधनों द्वारा नहीं। जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं, इस व्यवस्था का अन्त शान्तिपूर्ण प्रजातन्त्रात्मक साधनों से ही अधिक लाभदायक है।

विकासवादी समाजवाद के समर्थक इस व्यवस्था की स्थापना राज्य द्वारा ही सम्भव मानते हैं। राज्य को न तो वह व्यक्तिवादियों की तरह एक आवश्यक बुराई (Necessary evil) के रूप में ही स्वीकार करते हैं और न उसे मार्क्सवादियों की तरह शोषण का साधन ही। राज्य तो समाज कल्याण का मूल्यवान

साधन है । उसके द्वारा समाज में शोषण को खत्म कर न्यायव्यवस्था को स्थापित किया जा सकता है। राज्य को वह अस्थायी व्यवस्था नहीं स्वीकार करते, उसको सामाजिक व्यवस्था के लिये आवश्यक समझा जाता है। अतः मार्क्सवादियों की भाँति वह राज्य के अन्तिम विलोप में तथा अराजक समाज के संगठन में यकीन नहीं करते। विकासवादी समाजवाद के सम्पूर्ण प्रोग्राम का केन्द्र राज्य है । वह उसकी शक्ति का विकास चाहता है ताकि सामाजिक शोषण तथा अन्याय को खत्म किया जा सके। हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मार्क्सवादियों की भाँति विकासवादी समाजवाद के समर्थक न तो राज्य को गैरजिम्मेदार ही मानते हैं और न उसकी शक्ति के केन्द्रीकरण का समर्थन करते हैं। विकासवादी समाजवाद राज्य सत्ता के विकेन्द्रीकरण का पक्षपाती है । इनका कथन है कि राज्य के हाथ में इतनी ही शक्ति रखनी चहिए जितनी कि उसके कार्य संचालन के लिये आवश्यक है। शेष शक्तियाँ स्थानीय शासन (Local Government) को सौंप दी जानी चाहिए । राज्य के अन्तर्गत उत्पादन के न्यायोचित वितरण के लिए नीचे लिखे कदम उठाए जाएँगे—

(१) उत्पत्ति के साधनों के वैयक्ति स्वामित्व (Individual ownership) की समाप्ति। इसी स्वामित्व के कारण मजदूरों तथा पूंजीपतियों के स्वार्थों में संघर्ष उत्पन्न होता है। जितने भी महत्त्वपूर्ण उद्योग हैं राज्य उन्हें अपने नियन्त्रण में लाने का प्रयत्न करेगा।

(२) राज्य स्वयं महत्त्वपूर्ण उद्योग धन्धों का संचालन करेगा ताकि सामाजिक आवश्यकताओं की ठीक-ठीक पूर्ति हो सके। रेल, जहाज, कोयला, लोहा इत्यादि राष्ट्रीय उद्योग केन्द्र के हाथ में रहेंगे । जल-गैस, बिजली, गृहनिर्माण, स्थानीय यातायात (Local transport) स्थानीय शासन के अधीन रहेंगे।

(३) ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण, जिसके अन्तर्गत मुनाफाखोरी की भावना के स्थान पर समाज-सेवा की भावना का विस्तार हो।

विकासवादी समाज के समर्थकों के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था को बदलने का यही सर्वश्रेष्ठ साधन है। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रति योगिता (Competition) के फलस्वरूप बिना किसी आयोजन के ही उत्पादन प्रक्रिया चलती रहती है। फलस्वरूप जनशक्ति के अतिरिक्त उत्पादन का एक बहुत बड़ा हिस्सा यूँ ही बिना सामाजिक उपयोग के ही नष्ट हो जाता है। राज्य द्वारा उत्पादन के नियन्त्रण के फलस्वरूप ऐसा नहीं हो सकेगा, दूसरा इसी व्यवस्था के अन्तर्गत ही राज्य अतिरिक्त मूल्य, और सामाजिक परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न मूल्य का स्वयं नियन्त्रण करेगा। वह किसी अन्य व्यक्ति के हाथ में नहीं जा सकेगा।

मुनाफाखोरी के स्थान पर सेवाभाव के विकास के फलस्वरूप अधिक से अधिक लोगों को अधिक से अधिक लाभ प्राप्त होगा । जब समाज में अन्याय तथा शोषण नहीं होगा तो जनसामान्य उत्पादन की वृद्धि के लिए परिश्रम करेगा।

फिर समाजवाद ही वर्तमान प्रजातन्त्र व्यवस्था को उपयोगी तथा सर्व प्रकार से पूर्ण बना सकता है । जन-साधारण को यदि वोट का अधिकार तो दे दिया जाए और राजनीतिक समानता के सिद्धान्त को भी मान लिया जाए, परन्तु आर्थिक समा-

नता न हो तो प्रजातन्त्र व्यर्थ हो जाता है, वोट का अधिकार तथा राजनीतिक समानता सभी अर्थहीन बन जाते हैं। समाजवाद प्रजातन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है। मजदूर दल जो इंग्लैण्ड में विकासवादी समाज का प्रतिनिधित्व करता है, सामाजिक उन्नति के लिए चार मुख्य उद्देश्य अपने कार्यक्रम में रखता है—

(१) न्यूनतम (Minimum) राष्ट्रीय आय का निर्धारण

(२) मुख्य उद्योगों का सामाजीकरण और उनका राज्य द्वारा नियन्त्रण

(३) राष्ट्रीय राजस्व-व्यवस्था Revenue system में क्रान्तिकारी परिवर्तन

(४) अतिरिक्त सम्पत्ति का जन-साधारण के हित के लिए इस्तेमाल।

विकासवादी समाजवाद वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का पोषक है उसका शत्रु नहीं। वैयक्तिक स्वातन्त्र्य को वह आर्थिक स्वातन्त्र्य के बिना व्यर्थ समझता है। राज्य को साधन समझ उसके कल्याणकारी तथा समाज हितकारी रूप के पूर्ण विकास का प्रयत्न करता है। इस प्रकार विकासवादी समाजवाद साम्यवाद को अनेक कमजोरियों से बचने की कोशिश करता है।

विकासवादी समाजवाद की आलोचना—विकासवादी समाजवाद की अनेक प्रकार से आलोचना की जाती है। मार्क्सवादी तो इसे साम्यवादी दर्शन की कोई शाखा ही नहीं समझते। उनका कथन है कि विकासवादी समाजवाद, समाजवाद के वास्तविक दर्शन के प्रति विश्वासघात के अतिरिक्त कुछ नही। इस दर्शन का मजदूर वर्ग से कोई सम्बन्ध नहीं। इसका विकास अवसरवादी मध्यम वर्ग के बुद्धि जीवियो द्वारा हुआ है, वे कभी भी मजदूरवर्ग का समुचित नेतृत्व नही कर सकते। मार्क्सवादी मार्क्स की इतिहास की आर्थिक व्याख्या, अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त तथा वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को अटल सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं और विकासवादी समाजवाद के समर्थकों की एतद् विषयक आलोचना को छिछली तथा तर्कहीन कहते हैं। मार्क्सवादियों का कथन है कि पूँजीवाद की समाप्ति साधरण वैध साधनों (Constitunal means) से सम्भव नहीं। वैध साधनों से तो मामूली परिवर्तन किए जा सकते हैं, आधार भूत सामाजिक परिवर्तन नही हो सकते। विकासवादी समाजवाद के समर्थक पूँजीपतियों की शक्ति का तथा उनकी सहनशीलता का गलत अन्दाज़ा लगाते हैं। पूँजीपति अपने अधिकारों के लिए अन्तिम दम तक लड़ेंगे, वे अपनी आर्थिक शक्ति से न केवल जन-सामान्य को अपितु अनेक नेताओं को भी खरीद सकते हैं। समाजवादी समाज व्यवस्था के निर्माण का यह साधन बहुत लम्बा, अनिश्चित और अस्थायी है। इस द्वारा समाजवादी व्यवस्था की स्थापना कठिन ही नहीं, असम्भव समझी जाती है।

समाजवाद के अन्तर्गत राज्य की जो स्थिति होगी, वह आर्थिक जीवन का जिस प्रकार नियन्त्रण करेगा और उसके अन्तर्गत व्यक्तियों की जो सामान्य स्थिति होगी, उन सबकी कड़ी आलोचना की जाती है। विकासवादी समाजवाद के अन्तर्गत सम्पूर्ण शक्तियों का केन्द्र राज्य होगा, वह अनियन्त्रित तथा अबाध शक्ति का प्रयोग करेगा। उसका कार्य-क्षेत्र बहुत बढ़ जाएगा। इन सबके परिणाम स्वरूप व्यक्ति स्वातन्त्र्य का विनाश हो जाएगा। समाजवाद की सभी व्यवस्थाएँ

व्यक्ति के उत्साह, परिश्रम करने की इच्छा तथा कार्यारम्भ करने की शक्तियों को कुण्ठित कर देती हैं । उद्योगों के शासन के नियन्त्रण के अधीन हो जाने के कारण उत्पादन की कमी हो जाएगी और शासन प्रबन्ध में सुचारुता लुप्त हो जाएगी । जिन व्यक्तियों के हाथ में शासन सूत्र होता है, यह आवश्यक नहीं, वे व्यापारिक मामलों तथा उद्योग धन्धों के नियन्त्रण में भी कुशल हों । अक्सर समाजवादी राज्यों के अन्तर्गत इन व्यवसायों का नियन्त्रण अनुभव-विहीन नोसखियों के हाथ में चला जाता है।

समाजवादी व्यवस्था पूँजीपति तथा जन-साधारण दोनों की विश्वासपात्र नहीं होती । पूँजीपति तो उत्पादन में इस लिए उत्साह प्रदर्शित नहीं करते कि उनको उससे कोई लाभ नहीं होता । जन-साधारण को केवल मात्र वेतन से मतलब है उत्पादन से नहीं । इस प्रकार वे भी परिश्रम करने से कतराते हैं । फिर राज्य समाजवाद के अधीन हजारों सर्वैतनिक कर्मचारियों की नियुक्ति की जाएगी । इस प्रकार राज्य-व्यवस्था तथा उत्पादन व्यवस्था दोनों ही नौकरशाही (Bureaucracy) में परिवर्तित हो जाएँगी । कर्मचारीतन्त्र या नौकरशाही प्रजातन्त्र के स्वस्थ विकास के लिए किसी भी प्रकार उपयोगी नहीं हो सकता ।

विकासवादी समाजवाद कभी भी किसी भी आधरभूत आर्थिक परिवर्तन को शीघ्रता से सम्पन्न नही कर सकता क्योंकि उन सभी उद्योगों के लिए उसे मुआवजे की व्यवस्था करनी पड़ती है जिसका वह राष्ट्रीयकरण करता है । दूसरा यह जरूरी नही कि समाजवाद का समर्थक दल सदा ही सत्तारूढ़ रहे । इंग्लैण्ड में मजदूरदल अभी अपने प्रोग्राम को पूरी तरह लागू भी नहीं कर पाया था कि उसे चुनाव में हार अनुदारदल की सरकार के लिये स्थान बनाना पड़ा । समाजवादी समाज के हित को सामने रखते हुए भी व्यक्तिवादियों की तरह व्यक्ति के ही अधिकारों को अधिक महत्त्व देते हैं । इंग्लैण्ड के समाजवादी दल का इतिहास सफलताओं का इतिहास नहीं ।

१७३. सिण्डिकलिज्म (Syndicalism)

सिण्डिकलिज्म फ्रांस के मजदूर वर्ग का समाजवादी सिद्धान्त है । जोड के शब्दों में **"सिण्डिकलिज्म वह सामाजिक सिद्धान्त है जो ट्रेड यूनियन संगठनों को नये समाज का आधार तथा उसके जन्म का साधन मानता है ।"**[1] वह सामाज निर्माण के सिद्धान्त के साथ उसकी कार्यनीति की योजना भी है । समाजवाद के सभी सिद्धान्तों की तरह सिण्डिकलिज्म भी समाज के पूँजीवादी आधार की समाप्ति के पक्ष में है, वह वर्तमान समाज का आधार शोषण तथा वर्ग-संघर्ष को मानता है । साम्यवादियों तथा राज्य समाजवादियों के विपरीत सिण्डिकलिस्टों का कथन है कि पूँजीवाद की समाप्ति के अनन्तर राज्य को एकदम खत्म कर दिया जायगा, मजदूरों के संघ उत्पादन

---

1. "Syndicalism may be defined as that form of social theory which regards the Trade Union Organisations as at once the foundation of the new society and the instrument whereby it is to be brought into being."—*Joad.*

के साधनों पर कब्जा कर लेंगे और वही सभी उद्योग धन्धों का नियमन तथा नियन्त्रण करेंगे।

सिण्डिकलिज्म अंग्रेजी का शब्द है। इसकी उत्पत्ति फ्रेंच शब्द सिण्डिकेट (Syndicate) से हुई है, जिसका अर्थ है मजदूर संघ। मजदूर संघ ही राज्य के रूप परिवर्तन का साधन है और उसी के आधार पर ही नवीन समाज का संगठन होना है, यही कारण हैं कि इसे सिण्डिकलिज्म या मजदूर संघवाद कहा जाता है। सिण्डिकलिज्म का जन्म फ्रांस में १९वीं सदी के अन्त में और २०वीं सदी के प्रारम्भिक चरण में हुआ। यह शत प्रतिशत मजदूर वर्ग का आन्दोलन कहा जाता है। फ्रांस की विशेष प्रकार की आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ इसकी उत्पत्ति के कारण हैं। फ्रांस में पूँजीवाद मजदूर वर्ग के भाग्य सुधार में असफल रहा, प्रजातन्त्र शासन व्यवस्था का भी दुरुपयोग किया गया, शासनतन्त्र में भ्रष्टाचार के फैल जाने से मजदूरों को न तो राज्य में ही यकीन रहा और न प्रजातन्त्र शासन प्रणाली में ही। मजदूर वर्ग ने अपने स्वतन्त्र संगठन के अनेक प्रयत्न किये, प्रारम्भ में तो इन्हें बुरी तरह दबाया गया, परन्तु बाद में इन्होंने अपने आपको 'कान्फेडरेशन जनरल डूट्रेवल'—जिसे संक्षेप में सी. जी. टी (C. G. T.) कहा जाता है—के रूप में संगठित कर लिया। सिण्डिकलिज्म के प्रचार का यही प्रमुख केन्द्र रहा है।

सिण्डिकलिज्म के दर्शन में स्पष्टता नही। इसका कारण यह है कि सिण्डिकलिस्ट विचारकों ने अपने दर्शन का निर्माण किसी एक स्रोत से नहीं किया। उनके विचारकों के स्रोत विभिन्न तथा परस्पर विरोधी हैं। मार्क्सवाद की अपेक्षा सिण्डिकलिस्टों पर प्रोधां के अराजकतावाद का अधिक प्रभाव है। आश्चय की बात तो यह है कि सिण्डिकलिस्ट अन्तः प्रेरणावादी (Intutionist) बर्गसां के दर्शन से भी प्रभावित हैं। बर्गसां अन्तः प्रेरणा (Intution) को वास्तविक ज्ञान का स्रोत समझता है, वह विश्व की समस्याओं के बौद्धिक सुलझाव में यकीन नहीं करता। उसका कथन है कि उनका सुलझाव तो अन्तः प्रेरणा से ही सम्भव है। बर्गसाँ का अबुद्धिवाद (Irrationalism) सिण्डिकलिज्म को रहस्यात्मक रूप दे देता है। जर्मन विद्वान नीत्शे का प्रभाव भी सिण्डिकलिज्म पर दृष्टिगोचर होता है। सोरेल (Sorel) सिण्डिकलिज्म का मूल दार्शनिक माना जाता है। सोरेल ने उपयुक्त विचारधाराओं के प्रभाव के अन्तर्गत अपने दर्शन की रचना की है। सोरेल के अतिरिक्त एडमण्ड बर्थ (Edmund Berth) पॉल लुई (Paul Luis) तथा फर्डीनिण्ट पेलोर्तें (Ferdenand Pelloutur) सिण्डिकलिज्म के विशेष उल्लेखनीय दार्शनिक हैं।

सिण्डिकलिज्म के आधारभूत सिद्धान्त—सिण्डिकलिज्म ने राज्य, मध्यवर्ग तथा पार्लियामेण्ट्री व्यवस्था का तीव्र विरोध किया है। सिण्डिकलिस्ट विचारकों का कथन है कि क्रान्ति के अनन्तर राज्य व्यवस्था को एकदम खत्म कर दिया जाएगा। इस दृष्टि से सिण्डिकलिज्म अराजकतावाद का समर्थक है, वह कम्यनिस्टों से इस बात में सहमत नहीं कि क्राति के अनन्तर शासन व्यवस्था की स्थापना के लिए तथा पूँजीवाद की समाप्ति के लिए राज्य की आवश्यकता है। 'राज्य' नाम की संस्था तो

अपने आधारभूत तत्त्वों के कारण ही सर्वथा अस्वीकार्य है। राज्य तो शोषण का यन्त्र है और इसका उपयोग पूँजीपति लोग अपने स्वार्थ साधन के लिए करते हैं। समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य अपना स्वरूप परिवर्तित नहीं कर पाता, राज्य-शासन नौकरशाही के सहारे चलता है। नौकरशाही जन-साधारण की आवश्यकताओं को नहीं समझ पाती, जनता की मांगों के प्रति उसका दृष्टिकोण सदा ही सहानुभूति-विहीन होता है। राज्य की शक्ति एक केन्द्र पर संगठित होती है, वह सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए एकरूप नीति का अनुसरण करता है। फलतः समाज के विभिन्न वर्गों के हितों की वह समानरूप से देखभाल नहीं कर सकता, सब को एक ही लाठी से हाँकने के कारण सभी के स्वार्थों तथा हितों का पूर्ण प्रकाशन नहीं हो पाता। राज्य पूँजीवाद की देन है अतः नये समाज में उसे उखाड़ फेंकना चाहिए।

सिण्डिकलिज्म मध्य वर्ग में बिल्कुल यकीन नहीं करता। सिण्डिकलिज्म के समर्थकों का कथन है कि मजदूर आन्दोलन का नेतृत्व मजदूर वर्ग को ही करना चाहिए। मजदूर वर्ग के आदर्श तथा सिद्धान्तों की रचना भी मजदूर नेताओं को ही करनी चाहिए। मध्यवर्ग (Middle class) के लोग कभी भी सच्चे हृदय से पूँजीवाद के विरोधी नहीं होते पूँजीवाद से उनका गहरा सम्बन्ध होता है। वे सदा इस कोशिश में रहते हैं कि वे स्वयं पूँजीपति हो जाएँ। मध्यवर्ग के बुद्धिजीवी समाजवाद के समथक केवल यशोपार्जन के लिए बन जाते हैं। उनमें क्रान्ति की भावना नहीं होती, वह क्रान्ति का यूँ ही दम भरते हैं। समाजवाद के अन्य सभी रूप इन्हीं चालक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की देन है, इस कारण वे मजदूरों के हित में नहीं। मजदूरों का सच्चा दर्शन सिण्डिकलिज्म है, क्यों कि वह मजदूर-नेताओं द्वारा विकसित किया गया है जो मजदूरों की वास्तविक आवश्यकताओं को समझते हैं।

जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं सिण्डिकलिज्म पार्लियामेण्ट्री व्यवस्था तथा उसके अंग भूत राजनैतिक पार्टियों का भी विरोधी है। राजनीतिक पार्टियों का संगठन वर्गहित के आधार पर नहीं होता। उनमें सभी वर्गों मे सम्बन्धित अवसरवादी घुस आते हैं, जिनका मकसद मजदूर वर्ग का या किसी अन्य वर्ग का हित नहीं अपितु स्वार्थ सिद्धि मात्र है। राजनैतिक दल सदा ही मजदूर वर्ग को धोखा देते हैं। वे विभिन्न नारे लगा और प्रोग्राम द्वारा लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर वोट तो प्राप्त कर लेते हैं परन्तु चुनाव खत्म होने पर जन साधारण की आवश्यकताओं को ही भूल जाते हैं। राजनैतिक पार्टियों की व्यवस्था राज्य के अन्तर्गत झूठ, दम्भ तथा अनाचार का आधार बन जाती है। मजदूर यदि इनमें भाग लें तो एक तो उनमें वर्ग चेतना खत्म हो जायगी, दूसरे उनमें फूट पड़ जाएगी। मजदूरों का हित उसी आन्दोलन में है जिनका नेतृत्व सच्चे अर्थ में मजदूर नेता करते हैं। मजदूर आन्दोलन को राजनैतिक पार्टियों से दूर रहना चाहिए। पार्लियामेण्ट्री व्यवस्था समझौतावाद की प्रवृति पर आधारित है उसमें सभी वर्गों के प्रतिनिधि होते हैं अतः उनसे किसी ऐसे कानून की आशा नहीं की जा सकती जो मजदूरों की हित रक्षा के लिए ही तैयार किए गए हों। पार्लियामेण्ट में ईमानदारी तथा सच्चाई की आशा नहीं की जा सकती क्योंकि उनके

सदस्यों को पूँजीपति अपने धन से खरीद लेते हैं। वैसे ही पार्लियामेण्ट में मजदूरों को नेतृत्व नहीं मिल पाता, उसमें मध्य वर्ग और पूँजीवादी वर्ग के लोग होते हैं। सिण्डिकलिस्टों के अनुसार मजदूरों का कोई अपना देश नहीं कोई अपनी मातृ-भूमि नहीं। मजदूरों के लिए तो वही स्वदेश है जहाँ उन्हें पेट भरने को नौकरी मिल जाए, संसार भर के मजदूरों के समान स्वार्थी हैं, सभी शोषित हैं। देश अथवा राष्ट्र के आधार पर उनकी कोई शत्रुता नहीं हो सकती। उनका एक समान्य शत्रु है, वह है—पूँजीवाद। यही कारण है कि सिण्डिकलिस्ट स्वदेश प्रेम, राष्ट्रवाद, युद्धवाद तथा सैन्यवाद के प्रबल विरोधी हैं। ये सभी चीजें पूंजीपति अपने स्वार्थ के लिए तैयार करते हैं। स्वदेश प्रेम तथा राष्ट्रवाद की भावनाओं द्वारा वे मजदूर वर्ग को गुमराह करने का प्रयत्न करते है। मजदूरों को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए।

सिण्डिकलिज्म की कार्य पद्धति (Methods of syndicalism)—का विवेचन सोरेल इत्यादि विचारकों ने पर्याप्त गम्भीरता से किया है। सिण्डिकलिस्ट मार्क्सवादियों से इस बात में सहमत है कि राज्य शक्ति की प्राप्ति तथा पूँजीवाद का अन्त शान्ति पूर्ण तथा वैध साधनों (Constitutional methods) से सम्भव नहीं। मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को भी वे स्वीकार करते हैं। वे यह मानते हैं कि यह वर्ग-संघर्ष आदि काल से चला आया है और इसका अन्त तब तक सम्भव नहीं जब तक कि पूंजीवाद को ही समाप्त नहीं कर दिया जाए। परन्तु पूंजीवादी लोग बहुत चतुर हैं वे मजदूरों की अपेक्षा अधिक शक्ति सम्पन्न हैं, उनके पास सेना है, आधुनिक शस्त्र हैं। अतः उनके अन्त के लिए सभी मजदूरों का संगठित होना लाजमी है। समय-समय पर मजदूरों को हड़ताल वगैरा कर अपनी स्थिति सुधारनी चाहिए और साथ ही हड़ताल इत्यादि द्वारा मजदूरों में वर्ग-चेतना (Class consciousness) को उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए। सोरेल का कहना है कि मजदूर वर्ग को सदा ही पूँजीपतियों को आतंकित रखना चाहिए।

सिण्डकलिस्ट अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिए दो प्रकार की कार्य पद्धतियों के अपनाने पर जोर देते हैं, वे हैं—

(१) विध्वंसात्मक कार्यवाही (Policy of Ca'canny & Sabotage)

(२) हड़ताल (Strike)

(१) विध्वंसात्मक कार्यवाही—का प्रयोग तो सामान्य रूप से मजदूर पूँजीपतियों को डराने धमकाने के लिए हमेशा ही करते रहेंगे। हड़ताल तो एक जबरदस्त शस्त्र है जिसका प्रयोग हमेशा सम्भव नहीं। विध्वंसात्मक साधनों का प्रयोग तो तब तक हो सकता है जब तक कि मजदूर अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर लेते।

विध्वंसात्मक कार्यवाहियों का उद्देश्य उद्योगपतियों द्वारा प्राप्त किए जाने वाले लाभ में जान बूझ कर अड़चनें उत्पन्न करना है। यह अड़चनें कई प्रकार से पैदा की जा सकती हैं वे जान बूझ कर कम काम करें, काम अच्छा न करें, उत्पादन को कम करने का प्रयत्न करें, मशीन चलाकर बिना काम किए बैठ जाएँ, मशीनों को तोड़ डालें, माल खराब कर दें, कारखानों को आग लगा दें, ट्रेन देरी से चलाएँ, माल को

गलत जगह भेज दें, जनता को माल के दोष बता दें इत्यादि । सोरेल विध्वांसात्मक कार्यवाही को अनैतिक समझता है, परन्तु अन्य सिण्डिकलिस्ट ऐसा नहीं समझते ।

(२) **हड़ताल**—जैसा कि हम कह आए हैं एक महत्त्वपूर्ण शस्त्र है । सोरेल इसे ही नैतिक अस्त्र समझता है । हड़ताल का प्रयोग हर सम्भव छोटे बड़े कार्य के लिए किया जा सकता है । वेतन बढ़वाने के लिए, काम के घण्टे कम करवाने के लिए कारखानों पर अधिक नियन्त्रण के लिए, छंटनी में आये मजदूरों को काम दिलवाने के लिए इसका प्रयोग किया जा सकता है। हड़ताल, चाहे वह सफल हो चाहे असफल मजदूरों को नैतिक शक्ति प्रदान करती है । हड़ताल द्वारा मजदूरों में एकता, आत्म संयम, अनुशासन तथा आत्म-निर्भरता इत्यादि गुण उत्पन्न होते हैं । हडताल के दर्शन को सोरेल ने बहुत कुछ रहस्यमय बना दिया है । हड़तालों का क्या उचित समय है और उन्हें किस प्रकार संगठित किया जाना चाहिए, सोरेल इन प्रश्नों का उत्तर नहीं देता । क्योंकि वह मानता है कि हड़ताल मजदूरों की अन्तः प्रेरणा का परिणाम होनी चाहिए। यह मजदूर ही फैसला करेंगे कि कब किस समय हड़ताल की जाएगी ।

सोरेल ने हड़ताल के एक अन्य प्रकार को भी बतलाया है, जिसे वह **'सामान्य हड़ताल** (General strike) कहता है । 'सामान्य हड़ताल' का दर्शन भी विचित्र है । उसका कहना है कि छोटी बड़ी सभी हड़तालें 'सामान्य हड़ताल' की तैयारी मात्र हैं । सामान्य हड़ताल' कब होगी या किस तरह होगी, सोरेल इस प्रश्न का भी उत्तर नहीं देता । 'सामान्य हड़ताल' के प्रति मजदूरों के मन में श्रद्धा की भावना होनी चाहिए । उन्हें इसे एक प्रकार का दैवीय अस्त्र समझना चाहिए । एक दिन जब यह 'सामान्य हड़ताल' होगी तो दुनिया भर के सभी मजदूर उस समय अपना काम-काज छोड़ इसमें शामिल हो जाएँगे । बाद में इसका कुछ संशोधन किया गया और यह यकीन किया जाने लगा कि 'सामान्य हड़ताल' में यह आवश्यक नहीं कि सभी मजदूर हिस्सा लें और उसका क्षेत्र भी इतना विस्तृत हो । अतः सामान्य हड़ताल के अन्तर्गत राष्ट्र के प्रमुख उद्योगों के मजदूर भाग लेंगे । क्योंकि वर्तमान युग में सभी उद्योग-धन्धे एक दूसरे के सहारे चलते हैं अतः मुख्य उद्योग धन्धों में हड़ताल होने के फलस्वरूप—पूँजीवादी व्यवस्था शिथिल पड़ जाएगी । 'सामान्य हड़ताल' के आरम्भ होते ही मजदूर वर्ग खाद्य पदार्थों तथा अन्य आवश्यक तथा जीवनोपयोगी वस्तुओं पर अपना कब्जा कर लेंगे । तदनन्तर वे कारखानों पर भी अधिकार जमा सकते हैं ।

सिण्डिकलिस्ट समाज का संगठन—क्या होगा ? क्रान्ति के अनन्तर किस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का जन्म होगा ? सोरेल इस प्रश्न का उत्तर नहीं देता । उसका कथन है कि भविष्य की समाज व्यवस्था का चित्र विवेक के आधार पर नहीं दिया जा सकता, उसका आधार मजदूरों की 'अन्तः प्रेरणा' होगी । सिण्डिकलिज्म का मुख्य उद्देश्य वर्ग-चेतना को उत्पन्न करना है, और नये समाज की स्थापना के लिए विभिन्न साधनों का निर्देश करना है । इसके बावजूद भी कुछेक सिण्डिकलिस्ट विचारकों ने भविष्य के समाज के रूप का चित्रण किया है, परन्तु यह चित्रण बहुत धुन्धला है, उसमें स्पष्टता नहीं । क्रान्ति के अनन्तर संगठित समाज में राज्य का अभाव

होगा। सिण्डकलिस्ट राज्य को मजदूरों का प्रतिनिधि नहीं मानते। उन के विचार में राज्य श्रम के उपभोक्ताओं (Consumers) का प्रतिनिधित्व करता है। सिण्डिकलिस्ट समाज में मूल्य के उत्पादकों यानी मजदूरों का शासन होगा। राज्य के रहते ऐसा सम्भव नहीं, अतः राज्य को समाप्त कर दिया जायगा। इस प्रकार सिण्डिकलिस्ट इस विषय में अराजकतावादियों के पथ का अनुसरण करते हैं, अराजकतावादी भी क्रान्ति के एकदम बाद राज्य के उखाड़ फेंकने के पक्ष में हैं। राज्य की समाप्ति के अनन्तर समाज के संगठन का क्या आधार होगा? सिण्डिकलिज्म के समर्थक इस दशा में मजदूर संघों को राष्ट्रीय जीवन की बागडोर सौंप देने के पक्ष में हैं। प्रत्येक व्यवसाय या उद्योग में काम करने वाले मजदूर अपना-अपना संगठन करेंगे और उस उद्योग का नियन्त्रण करेंगे। प्रत्येक उद्योग तथा व्यवसाय उन्हीं लोगों के अधीन होगा जो कि उनके संचालन में भाग लेते हैं। मजदूरों का एक केन्द्रीय संघ भी होगा, जिसका संगठन मौजूदा सी. जी. टी. (C. G. T.) के आधार पर होगा।

राज्य के सम्पूर्ण कर्त्तव्यों को दो भागों में बाँट दिया गया है (१) स्थानीय तथा (२) केन्द्रीय। सिण्डिकलिस्ट उद्योगों के नियन्त्रण के विकेन्द्रीकरण के पक्ष में हैं। इस कारण थोड़े से उद्योगों तथा व्यवसायों को छोड़ शेष सभी का नियन्त्रण स्थानीय आधार पर संगठित होगा। स्थानीय ट्रेड यूनियन कारखानों की चल तथा अचल सम्पत्ति के मालिक होंगे और वह उत्पादन की मात्रा तथा प्रकृति का निश्चय करेंगे। डाक, तार, रेलवे तथा अन्य यातायात के साधनों का नियन्त्रण राष्ट्रीय मजदूर संघ करेंगे। राष्ट्रीय मजदूर संघ विशेष ज्ञान के भी स्रोत होंगे। मजदूरों का वेतन, काम करने के घण्टे, बच्चों तथा बूढ़ों की देख-भाल इत्यादि विषयक प्रश्नों का निपटारा भी राष्ट्रीय प्रश्न हैं, और उनका निर्णय केन्द्रीय मजदूर संघ करेंगे। सिण्डिकलिस्ट शासन व्यवस्था के अन्तर्गत विकेन्द्रीकरण तथा स्थानीय संगठन पर अधिक जोर दिया गया है। १९१९ में इस स्थिति का कुछ संशोधन किया गया और राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों के लिए राष्ट्रीयकरण की नीति का समर्थन किया गया। राष्ट्रीयकरण की भी व्याख्या की गई और तदनुसार 'राष्ट्रीयकरण का अर्थ सम्पत्ति का उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं द्वारा सम्मिलित नियन्त्रण है।'

सिण्डिकलिस्ट समाज में पुलीस तथा सैनिक संगठन की व्यवस्था खत्म कर दी जाएगी। वैयक्ति सम्पत्ति का अधिकार ही सभी प्रकार के अपराधों का कारण है, जब यह व्यवस्था ही खत्म हो जायगी तो अपराध कहाँ रहेंगे? इसलिए सिण्डिकलिस्ट समाज में न तो जेलों की ही आवश्यकता होगी और न न्यायालयों की ही। देश की रक्षा का उत्तरदायित्व रक्षक सेना (Militia) पर होगा जो प्रत्येक संघ स्वयं संगठित करेगा। अपराधियों को सजा तो अवश्य दी जायगी, परन्तु वह पूँजीवादी राज्य के अन्तर्गत दी गई सजा से सर्वथा भिन्न होगी। पहले तो अपराधी व्यक्ति को चेतावनी दी जाएगी, फिर उसका बहिष्कार किया जा सकता है, अन्त में उसे समाज से निकाला जा सकता है।

इस प्रकार सिण्डिकलिस्ट समाज में न राज्य होगा न राज्य के साधन और न

वैयक्तिक सम्पत्ति ।

सिण्डिकलिज्म तथा समाजवाद—दोनों में पर्याप्त अन्तर है ।

(१) समाजवाद राज्य को खत्म नहीं करता, न ही उसे वह शोषण का साधन मानता है, वह राज्य के जन-कल्याण की वृद्धि के लिए साधन रूप में प्रयुक्त करना चाहता है । परन्तु सिण्डिकलिस्ट राज्य को क्रान्ति के एकदम बाद खत्म कर देंगे, क्योंकि उन का विचार है कि समाजवाद के अधीन भी राज्य अपनी प्रकृति नहीं बदल सकता ।

(२) समाजवाद उत्पादन के साधनों तथा वितरण का नियन्त्रण किसी एक वर्ग को नहीं सौंपता बल्कि वह राज्य के हाथ में उसके संचालन का उत्तरदायित्व सौंपता है । राज्य समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधि है किसी एक का नहीं । परन्तु सिण्डिकलिस्ट वैयक्तिक सम्पत्ति को नष्ट करने के अनन्तर उसका नियन्त्रण मूल्यों के उत्पादक—मजदूरों—के हाथ में देता है, सम्पूर्ण समाज के नहीं । यही कारण है कि यह कहा जाता है कि समाजवाद सम्पूर्ण समाज का कल्याण चाहता है, जब कि सिण्डिकलिज्म केवल एक वर्ग के हित की बात सोचता है ।

(३) समाजवाद जन साधारण का दर्शन है, इसी कारण यह जन साधारण में सर्वप्रिय भी है परन्तु सिण्डिकलिज्म तो केवल एक वर्ग का ही दर्शन है जन-साधारण तक उसकी पहुँच नहीं ।

सिण्डिकलिज्म की आलोचना—आज तो सिण्डिकलिज्म का कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं, क्योंकि सिण्डिकलिज्म इस समय राजनीतिक दर्शन की कोई जीवित विचार धारा नहीं । प्रथम युद्ध के अनन्तर कुछ ही वर्षों बाद यह फ्रांस तथा इटली इत्यादि देशों में राजनीतिक विचारधारा के रूप में खत्म हो गया । इंग्लैण्ड इत्यादि राज्यों में तो इसका अधिक प्रचार नहीं हो पाया । हाँ, इंग्लैण्ड में सिण्डिकलिज्म के प्रभाव के अधीन गिल्ड सोशलिज्म (Guild Socialism) का प्रादुर्भाव हुआ । सिण्डिकलिज्म की सबसे बड़ी कमजोरी उसकी अस्पष्टता है । सोरेल इत्यादि विचारक सिण्डिकलिस्ट समाज के स्वरूप की रूप रेखा ही नहीं दे पाते । यह एक व्यावहारिक कमी भी है । व्यावहारिक रूप से हमारे सामने आने वाले समाज का चित्रण किसी न किसी रूप में अवश्य होना चाहिए ।

सिण्डिकलिज्म का दृष्टिकोण केवल मजदूरों के हितों तक ही सीमित है । उनका कथन है उत्पादन का नियन्त्रण मजदूर-संघों के हाथ में होना चाहिए क्योंकि मजदूर ही मूल्यों के उत्पादक हैं । सिण्डिकलिस्ट समाज में उपभोक्ताओं (Consumers) का क्या बनेगा ? क्या उनके अपने स्वार्थ तथा हित नहीं ?

सिण्डिकलिज्म में व्यावहारिकता का सर्वथा अभाव है । राज्य की अवस्थिति सभी स्थितियों में लाजमी है । राज्य किसी एक वर्ग का प्रतिनिधि नहीं, साधारण मानव समुदायों के मुकाबिले में उसकी ऊँची स्थिति है । वह सभी समुदायों के कार्य क्षेत्र का निर्णय करता है उनके पारस्परिक झगड़ों का निपटारा करता है और जन-साधारण के सामान्य हितों की रक्षा करता है । व्यावहारिक रूप से भी क्रान्ति के

अनन्तर राज्य की समाप्ति किसी प्रकार भी लाभदायक नहीं हो सकती । क्रान्ति के एकदम बाद क्या पूँजीवादी वर्ग अपने नियन्त्रण की पुनः स्थापना का प्रयत्न नहीं करेगा ? सेना तथा पुलीस व्यवस्था की समाप्ति भी ठीक नहीं जंचती, क्योंकि अपराध की अवस्थिति समाज में किसी भी हालत में खत्म नहीं हो सकती । अपराध की रोक थाम के लिए केवल सुधारवादी सजा ही नहीं सख्त सजा भी देनी पड़ती है ।

सिण्डिकलिज्म जब राष्ट्र-प्रेम तथा देश-प्रेम इत्यादि की भावनाओं को मजदूर वर्ग के लिए महत्वहीन सिद्ध करने का प्रयत्न करता है तो वह मानवीय प्रकृति सम्बन्धी अपनी अज्ञानता का ही परिचय देता है । केवल मात्र आर्थिक हितों की समानता के आधार पर ही इन भावनाओं को नहीं कुचला जा सकता । जर्मनी, रूस, फ्रांस तथा इंग्लैण्ड इत्यादि सभी राज्यों में प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान में राष्ट्रवादी भावनाओं से अनुप्राणित मजदूर लोग अपने-अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़े । स्वदेशानुराग की भावना बहुत गहरी है ।

सिण्डिकलिज्म के उद्देश्य प्राप्ति के साधन सर्वथा अनैतिक तथा विनाशकारी हैं । एक बार विनाश की लहर चल पड़ने पर उसका रुकना मुश्किल हो जाता है । विध्वंस से पूंजीपतियों को इतना नुक्सान नहीं पहुँचता जितना सम्पूर्ण समाज को होता है । सदियों के परिश्रम से बनी मशीनरी को खत्म कर देना क्या बुद्धिमत्ता है ? फिर जब यह आशा की जाती है कि वही मशीनरी जन-साधारण के हाथ में एक न एक दिन अवश्य ही आ जानी है । कल कारखाने सम्पूर्ण समाज की सम्पत्ति हैं, किसी एक खास वर्ग की नहीं । पीछे हम हिंसात्मक साधनों की कमियों का जिक्र कर आए हैं, हम देख चुके हैं कि हिंसात्मक साधनों से लाभ की बजाय हानि की अधिक सम्भावना रहती है ।

सभी तरह की हड़ताल का समर्थन करना और हड़ताल को पूंजीवाद के विरुद्ध लड़ने का सर्वाधिक शक्तिशाली शस्त्र बतलाना भी विवेक हीनता का ही परिचय देना है । असफल हड़तालें, मजदूरों में अनुशासन तथा आत्म-संयम के गुणों को उत्पन्न नहीं करती, बल्कि वे उनकी शक्ति को कम करती हैं और उनमें निराशा को भर देती हैं । हड़ताल से पूंजीवाद को खत्म करना असम्भव है, फिर ऐसी हड़तालों से जिसका रूप ही स्पष्ट नहीं, जिसके संगठन की कोई योजना ही नहीं । हड़ताल तथा तोड़-फोड़ के अन्य प्रकार जन-साधारण में सामाजिक व्यवस्था के लिए अनावश्यक अनुशासन को सर्वथा खत्म कर देंगे । ट्रेड यूनियन तो एक मजदूरों का संगठन है जिसका उद्देश्य मिल मालिकों से मजदूरों के लिए आवश्यक कुछ सुविधाओं के लिए लड़ना है । वह भविष्य के समाज के संगठन का आधार कैसे बन सकता है ? राजनीतिक दलों का संगठन अनिवार्य है । वे मजदूर, किसान तथा मध्यवित्त वर्ग (Middle class) सभी का प्रतिनिधित्व करते हैं । उनका उद्देश्य राजनीतिक सत्ता प्राप्ति के लिए लड़ना है । इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वे प्रोग्राम बनाते हैं और उन्हें जनता के सम्मुख रखते हैं । राजनीतिक चेतना का विस्तार राजनीतिक पार्टियों द्वारा ही सम्भव है । फिर क्रान्ति के एक दम बाद राजनीतिक पार्टियाँ ही एक संगठित शासन व्यवस्था के

निर्माण में सबसे अधिक सहायक होती हैं, ट्रेड यूनियन नहीं।

सिण्डिकलिज्म का अबुद्धिवाद तथा सिद्धान्त के प्रति तिरस्कार भावना किसी भी स्वस्थ राजनीतिक समाज के संगठन के लिए लाभदायक नहीं हो सकता। सिद्धान्त पहले विकसित होता है, कार्य बाद में सम्पन्न किए जाते हैं।

संवैधानिक तथा शान्ति पूर्ण उपायों की तुच्छता की बात भी जल्दबाजी तथा अनावश्यक उग्रता का ही परिणाम है। वह समाज व्यवस्था सदा ही टिकाउ होती है जिसका आधार जोर जबरदस्ती न हो जनता की सक्रिय सहमति (Active consent) होती है।

अबौद्धिकता, अव्यावहारिकता तथा संकुचितता इत्यादि दोषों से दूषित होने के कारण यह सिद्धान्त जन सामान्य में कभी भी सर्वप्रिय न हो सका।

१७४. गिल्ड सोशलिज्म (Guild Socialism)

गिल्डसोशलिज्म ग्रेट ब्रिटेन की राजनीति शास्त्र को एक विशेष देन है। इस वाद के विकास स्रोतों में सिण्डिकलिज्म, विकासवादी समाजवाद तथा मार्क्सवाद हैं। परन्तु जहाँ विकासवादी समाजवाद से यह नकारात्मक रूप से प्रभावित हुआ है, सिण्डिकलिज्म से अधिकांश रूप में स्वीकारात्मक रूप से। ये दोनों के मिश्रित प्रभावों का परिणाम है। गेटल के शब्दों में **"यह आन्दोलन सिण्डिकलिज्म तथा विकासवादी समाजवाद के बीच समझौते का प्रतिनिधित्व करता है।"**[1]

सिण्डिकलिज्म की उग्रता अराजकता तथा क्रान्तिकारी भावना ग्रेट ब्रिटेन के नागरिकों के लिए किसी प्रकार भी आकर्षक नहीं। उनकी मानसिक स्थिति किसी भी ऐसे सिद्धान्त को स्वीकार नहीं कर सकती जो राज्य व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन लाना चाहता हो या जो अराजकता तथा अव्यवस्था का समर्थक हो। दूसरी ओर विकासवादी समाजवाद में भी कुछ विशेष दोषों की उपस्थिति को स्वीकार किया गया। यह माना गया कि विकासवादी समाज पूंजीवाद की बुराइयों को दूर नहीं करता। वह राज्य को अधिक से अधिक शक्ति सम्पन्न बनाता है और उद्योग-धन्धों का नियन्त्रण राज्य कर्मचारी वर्ग के हाथ में सौंप देता है जिसके अधीन मजदूरों को उत्पादन के गुण तथा मात्रा से किसी प्रकार का भी ममत्व नहीं रहता। मजदूर उत्पादक हैं, उन्हीं के श्रम से पदार्थों का मूल्य निर्धारित होता है, अतः मजदूरों को उत्पादन तथा उद्योग धन्धों के नियन्त्रण का अधिकार होना चाहिए। गिल्ड सोशलिज्म के विचारक आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता में विभेद चाहते हैं। उनका विचार है कि आर्थिक जीवन का नियमन तथा नियन्त्रण मजदूर संघों (Guilds) द्वारा होना चाहिए। प्रत्येक कारखाने या मिल का नियन्त्रण उन व्यक्तियों द्वारा होना चाहिए जो उनमें काम करते हों। कारखाने के प्रत्येक अधिकारी का चुनाव उसमें काम करने वाले मजदूरों द्वारा हो, इस विषय में गिल्ड सामाजवादी सिण्डिकलिज्म से प्रभावित हैं।

1. "Guild Socialism.....represents a compromise between syndicalism and collectivism."—*Gettell.*

गिल्डसोशलिज्म का विकास—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं इंग्लैण्ड में हुआ। गिल्ड समाजवाद का आधार मध्य-युगीन गिल्ड व्यवस्था थी। राष्ट्रीय राज्यों के विकास तथा औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व सामन्तयुग में यूरोप में कारीगरों के छोटे २ संघ मौजूद थे। मोचियों के, जुलाहों तथा दर्जियों के और अन्य प्रकार के उद्योग धन्धों में भाग लेने वाले मजदूरों के अपने २ संघ होते थे। ये संघ न केवल अपने पेशेवाले लोगों की कार्यवाहियों का ही नियन्त्रण करते थे बल्कि उनकी आर्थिक सहायता भी करते थे। उन को कच्चा माल तथा यंत्रादि दे उन के कार्य को व्यवस्थित करने की कोशिश करते तथा उनके तैयार माल को खरीदने-बेचने का भी प्रबन्ध करते थे। भारत में भी पुराने समय में अलग-अलग पेशों वाले लोगों की बिरादरियाँ होती थीं जिनका काम यूरोप में पाये जाने वाले मजदूर संघों (Guilds) की तरह ही होता था। इस गिल्ड व्यवस्था ने वर्तमान युग के गिल्ड समाजवादियों को नई प्रेरणा दी। वर्तमान युग के बड़े-बड़े उद्योगधन्धों के विस्तार के कारण मजदूरों की स्थिति बहुत खराब हो गई है। उन का न तो उद्योग धन्धों पर कोई नियन्त्रण ही है और न वह अपने काम-काज में कोई उत्साह ही दिखाते हैं। उनके कार्यों का कलात्मक मूल्य भी कोई नहीं। वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था ने उन्हें सर्वैतनिक दासों की स्थिति में पहुँचा दिया है।" १९०५ में ए० जे० पेन्टी (A. J. Penty) ने सर्वप्रथम अपनी पुस्तक 'The Restoration of Guild System' में मध्य युग की गिल्ड व्यवस्था की उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में पुनर्स्थापना की मांग की। परन्तु पेण्टी के विचारों में वैज्ञानिकता का अभाव तथा भावकता का आधिक्य था। उसने गिल्ड व्यवस्था की स्थापना का समर्थन कलात्मकता के आधार पर किया। व्यावहारिकता के अभाव में ही उसके विचारों को सर्वप्रियता प्राप्त न हो सकी। पेण्टी के अनन्तर ए. आर. ओरेज (A. R. Orage) तथा एस. जी. हाबसन (S. G. Hobson) ने इंग्लैण्ड में मजदूर अशान्ति के दिनों में गिल्ड व्यवस्था की स्थापना पर जोर दिया और यह स्वीकार किया कि उद्योगधन्धों में स्वशासन (Self-government) के अपनाने से ही मौजूदा अशान्ति खत्म हो सकती है।" उन्होंने कारखानों तथा मिलों के प्रबन्ध को मजदूरों को सौंपे जाने की जोरदार अपील की।" वर्तमान युग में जी. डी. एच. कोल (G. D. H. Cole) ही एक ऐसे विचारक हैं जिसे कि गिल्ड सोशलिज्म का एक मात्र प्रतिनिधि माना जाता है। जी. डी. एच कोल ने ही गिल्ड सोशलिज्म को एक व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक रूप प्रदान किया है। उसने गिल्ड समाजवाद की राजनैतिक आर्थिक तथा सामाजिक सभी तरह की व्याख्या की है।" कोल ने अपने मत के समर्थन में तीन पुस्तकें लिखी हैं—(1) Self Government in Industry. (2) Guild Socialism Restated (३) और Social Theory ये पुस्तकें गिल्ड सोशलिज्म का मुख्य आधार हैं। कोल ने पेण्टी के विचारों का पूर्ण संशोधन किया है। गिल्ड व्यवस्था की स्थापना का उद्देश्य केवल कलात्मक मूल्यों की पुर्नस्थापना ही नहीं बल्कि वर्तमान समाज में मौजूद वेतन व्यवस्था (Wage system) पूंजीपतियों द्वारा मजदूर वर्ग का शोषण तथा अन्य सामाजिक तथा आर्थिक अन्यायों को दूर करना भी है।

गिल्ड सोशलिज्म का सैद्धान्तिक आधार—गिल्ड सोशलिस्ट वर्तमान समाज के अन्याय पूर्ण आधार को स्वीकार करते हैं वे अन्य समाजवादियों की तरह यह भी मानते हैं कि मजदूरों की मौजूदा बुरी हालत की जिम्मेवारी पूंजीवादी व्यवस्था पर है, जिस का आधार मजदूरों का शोषण है। इस व्यवस्था के सुधार के लिए वे दो उपाय बतलाते हैं, "सर्वप्रथम तो वेतन व्यवस्था (Wages system) की समाप्ति, दूसरा व्यावसायिक जनतन्त्र (Functional democracy) की स्थापना।"

मौजूदा हालत में श्रमिकों की स्थिति मजदूरी कमाने वालों की है। उन द्वारा पैदा किया गया 'अतिरिक्त मूल्य' (Surplus value) मजदूरों की जेब में न जा पूंजीपतियों द्वारा हड़प लिया जाता है। यही नहीं सम्पूर्ण उत्पादन तथा उत्पादन व्यवस्था पर उनका किसी प्रकार का भी नियन्त्रण नहीं होता। इस अवस्था में मजदूरों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय बन जाती है। समाज में उनका कोई आदर-सत्कार नहीं होता, उनको यन्त्र-व्यवस्था के प्राणविहीन भाग की तरह समझा जाता है। संक्षेप में पूंजीवाद के अन्तर्गत श्रमिकों को मानव नहीं समझा जाता, मशीन समझा जाता है। इसका कारण यही है कि उनका आर्थिक शक्ति पर किसी प्रकार का भी नियन्त्रण नहीं होता। वे मार्क्स के साथ इस बात को मानते हैं कि आर्थिक शक्ति ही सभी शक्तियों का स्रोत है। इस व्यवस्था की समाप्ति के लिए ही गिल्ड सोशलिस्ट व्यावसायिक जनतन्त्र की व्यवस्था की स्थापना पर बल देते हैं।

व्यावसायिक प्रजातन्त्र (Functional Democracy)—गिल्ड सोशलिस्ट विचारधारा के अन्तर्गत व्यावसायिक प्रजातन्त्र का विशेष महत्व है। जी. डी. एच. कोल ने इस सिद्धान्त का बड़ा विशद विवेचन किया है। "कोल रूसो के इस कथन को स्वीकार करता है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी अन्य व्यक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, परन्तु एक व्यक्ति कुछ व्यक्तियों के सामान्य हितों (Common interests) का थोड़ा बहुत प्रतिनिधित्व कर सकता है"। वर्तमान राज्यों में जिस प्रतिनिधि निर्वाचन व्यवस्था का प्रचलन है उसका आधार प्रादेशिक है। प्रादेशिक आधार (Territorial basis) पर चुने गए प्रतिनिधि अपने सम्पूर्ण चुनाव प्रदेश में रहने वाले सभी प्रकार के स्वार्थों के प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं, परन्तु यह दावा बिल्कुल गलत है। एक अध्यापक या एक वकील जुलाहों, मोचियों, मजदूरों तथा कलर्कों इत्यादि के सामान्य स्वार्थों का कभी भी प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। मौजूदा समय में सामान्य स्वार्थों के आधार पर चुनाव नहीं होते बल्कि भौगोलिक या प्रादेशिक आधार (Territorial basis) पर होते हैं। ऐसी अवस्था में निर्वाचित प्रतिनिधि अपने हितों के अतिरिक्त अन्य किसी के हित का प्रतिनिधित्व नहीं करता। एक विशेष व्यवसाय के आधार पर चुना गया प्रतिनिधि अवश्य ही अपने व्यवसाय में काम करने वाले लोगों के कुछ सामान्य स्वार्थों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है। अध्यापक अध्यापकों की कठिनाईयों को जानते हैं, वह उनके स्वार्थों से परिचित होते हैं अतः उन्हें अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होना चाहिए। इसी प्रकार कपड़ा उद्योग में काम करने वाले मजदूर यह जानते हैं कि उनके सामान्य स्वार्थ क्या हैं अतः उन्हें प्रादेशिक

चुनाव के स्थान पर व्यावसायिक आधार पर अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होना चाहिए। वही उनके सामान्य स्वार्थों का ठीक २ प्रतिनिधित्व कर सकेंगे । मौजूदा विधानपालिकाएँ प्रादेशिक चुनाव व्यवस्था के आधार पर चुनी जाती हैं, वे समाज में पाये जाने वाले विभिन्न हितों या स्वार्थों का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं । अतः मौजूदा विधान पालिकाओं के चुनाव की व्यवस्था बदल देनी चाहिए और प्रत्येक व्यवसाय को अपने सामान्य स्वार्थों की रक्षा के लिए प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होना चाहिए।

परन्तु गिल्ड सोशलिस्ट प्रादेशिक चुनाव व्यवस्था में एकदम समाप्त कर देने के पक्ष में नहीं। उन का कथन है कि प्रत्येक समाज में कुछेक ऐसे सामान्य स्वार्थ होते हैं जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज से होता है किसी व्यवसाय विशेष से नहीं । ऐसे स्वार्थों के अन्तर्गत देश की बाहरी हमलों से रक्षा तथा आन्तरिक शान्ति, वैदेशिक सम्बन्ध, यातायात तथा परिवहन के साधन, न्याय व्यवस्था तथा सामान्य सामाजिक सेवा इत्यादि आ जाते हैं । इन का सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज से होता है, इन विषयों का नियमन एक ऐसी विधान सभा द्वारा होना चाहिए जिसके सदस्य भौगोलिक या प्रादेशिक चुनाव क्षेत्रों के आधार पर चुने गए हों । कुछ ऐसे भी हित या स्वार्थ हो सकते हैं जिनका सम्बन्ध विशेष आबादियों से ही हो, ये विषय स्थानीय (Local) विषय कहलाते हैं । गलियों तथा सड़कों का निर्माण तथा मुरम्मत, पानी, रोशनी तथा सफाई का इन्तजाम, नागरिकों की प्रारम्भिक शिक्षा तथा दवा दारु की व्यवस्था इत्यादि का नियमन तथा नियन्त्रण स्थानीय संस्थाओं को सौंपा गया है। स्थानीय संस्थाओं की रचना आजकल की सी म्युनिसिपल कमेटियों के अनुसार होगी।

आर्थिक प्रजातन्त्र (Economic Democracy)—की व्यवस्था भी उसी प्रकार महत्व पूर्ण है जिस प्रकार कि व्यावसायिक प्रजातन्त्र को, वस्तुतः व्यावसायिक प्रजातंत्र की पूर्णता आर्थिक प्रजातन्त्र द्वारा ही सम्भव है। आर्थिक प्रजातन्त्र के विभिन्न अर्थ हो सकते हैं परन्तु गिल्ड सोशलिस्टों के मतानुसार **आर्थिक प्रजातन्त्र का अर्थ है उद्योग धन्धों के उत्पादन का उनमें काम करने वाले मजदूरों द्वारा नियन्त्रण।** इस व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवस्था का नियन्त्रण मजदूरों के हाथ में रहेगा। जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं कि प्रत्येक कारखाने में काम करने वाले गिल्ड बना लेंगे, यही गिल्ड इस बात का फैसला करेगा कि उत्पादन की मात्रा क्या हो, मजदूरों के कार्य करने के कितने घंटे हों, उन्हें किस तरह की मजदूरी दी जाए इत्यादि। उत्पादकों के संघों के अतिरिक्त उपभोक्ताओं (Consumers) के भी संघ होंगे, उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं दोनों का ही सहयोग परम आवश्यक है। दोनों ही मिलकर विभिन्न पदार्थों की कीमतों का, उन की उत्पादन मात्रा तथा प्रकृति का फैसला करेंगे।

इस प्रकार दोनों के संघों के स्थानीय तथा केन्द्रीय संगठन होंगे । यद्यपि केन्द्रीय संगठनों के अतिरिक्त मामलों में कम से कम दखल देंगे तो भी अनेक नीति सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रश्नों का फैसला इन्हीं केन्द्रीय संघों द्वारा किया जाएगा । गिल्ड

सोशलिस्ट राज्य की शक्ति के केन्द्रीकरण के विरुद्ध है । उन का विचार है कि राज्य शक्ति तथा आर्थिक नियन्त्रण का अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए । गिल्ड सोशलिस्टों के समाज में तीन प्रकार की अधिकार संस्थाएँ है (१) राजनैतिक सत्ता जिसका इस्तेमाल एक केन्द्रीय पार्लियामेण्ट करेगी और जिसका चुनाव प्रादेशिक चुनाव व्यवस्था के आधार पर होगा (२) स्थानीय संस्थायें (३) गिल्ड—जो आर्थिक सत्ता का नियन्त्रण करेंगे । गिल्ड व्यवस्था भी स्थानीय तथा केन्द्रीय विभागों में विभाजित होगी । कभी २ यह भी कहा जाता है कि गिल्ड व्यवस्था के अर्न्तगत एक तो राजनैतिक प्रभु होगा, जिसका प्रतिनिधित्व राज्य करेगा, दूसरा आर्थिक प्रभु जिस का प्रतिनिधित्व गिल्ड करेंगे । गिल्ड समाज के अर्न्तगत राज्य की क्या स्थिति होगी, इस पर हम आगे चल कर विचार करेंगे ।

गिल्ड समाजवाद के अर्न्तगत शारीरिक मानसिक या बौद्धिक सभी प्रकार के श्रम करने वालों के स्वार्थों तथा हितों की रक्षा का प्रयत्न किया जाएगा ।

गिल्ड समाजवाद के साधन (Methods of Guild socialism)—अन्य प्रकार के समाजवादों से भिन्न हैं । वे हिंसात्मक साधनों के उपयोग की थोड़ी बहुत आवश्यकता अवश्य ही स्वीकार करते हैं, अन्यथा उनका यकीन है कि गिल्ड सोशलिस्ट समाज की स्थापना वैधानिक तथा शान्तिपूर्ण साधनों से भी सम्भव है । उनका कथन है कि यह बिल्कुल असम्भव नहीं कि पूँजीपति समाजवाद के प्रचार द्वारा पराजित न किए जा सकें । समाजवादी प्रचार द्वारा जन-साधारण में समाजवादी चेतना के उत्पन्न हो जाने पर पूँजीपति स्वयं डर कर कारखानों का नियन्त्रण मजदूरों के हाथ में सौंप दें । परन्तु अधिक व्यावहारिक तथा उपयोगी व्यवस्था तो यह है कि मजदूरों का शक्तिशाली संगठन किया जाए, इस संगठन का आधार मौजूदा ट्रेड यूनियन हो सकती है । परन्तु ट्रेड यूनियनों का संगठन वैज्ञानिक नहीं । इनका संगठन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि कल गिल्ड समाजवादी व्यवस्था के स्थापित होने पर इन्हें गिल्ड में बदला जा सके । इस समय ट्रेड यूनियन के सदस्यों में सभी प्रकार के उद्योग धन्धों के काम करने वाले व्यक्ति शामिल होते है, इस व्यवस्था को बदल देना चाहिए । एक ट्रेड यूनियन में एक ही उद्योग के सभी कर्मचारी शामिल होने चाहिएं । कल सामाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत यही ट्रेड यूनियन उस उद्योग का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लेगी ।

मौजूदा हालत में मजदूरों को ट्रेड यूनियनों द्वारा मिल मालिकों को सम्मुख अपनी मांगें पेश करनी चाहिए और धीरे-धीरे अपना नियन्त्रण उत्पादन व्यवस्था पर बढ़ाकर पूँजीपतियों को उनकी मौजूदा स्थिति से हटाने की कोशिश करनी चाहिए । पहले पहल तो मजदूर-संघ यह मांग करे कि फोरमैन के चुनाव तथा उसको हराने का अधिकार मजदूरों को होना चाहिए । इसी तरह धीरे-धीरे उन्हें कारखाने में काम करने वाले ओवरसीयर तथा मैनेजर इत्यादि के चुनाव तथा उनको उनके पद से हटाने के अधिकार की मांग भी करनी चाहिए । अन्त में एक दिन कारखाने के सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति का तथा उनको उनके पद से हटाने का अधिकार

मजदूर वर्ग को मिल जाएगा।

इस साधन के अतिरिक्त दूसरा साधन 'सामूहिक समझौता (Collective contract) का है। इस साधन के अन्तर्गत मजदूर संघ मिल मालिक से समझौता कर लेता है और एक निश्चित रकम को प्राप्त कर सम्पूर्ण उत्पादन की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता है। तदनन्तर मजदूर संघ ही उत्पादन की प्रकृति वेतन तथा अन्य विषयों का निर्णय करता है।

गिल्ड समाज में राज्य का स्थान—क्या होग? इस विषय में मतभेद है। राज्य की प्रकृति तथा अन्य समुदायों की प्रकृति तो एक समान समझी जाती है और इस कारण उसे नैतिक तथा कानूनी रूप से उच्च सत्ता का अधिकारी नहीं माना जाता। दरअसल यह कहना अधिक सत्य होगा कि गिल्ड सोशलिस्ट प्रभ सत्ता सम्पन्न राज्य के विरोधी हैं। वे राज्य समाजवाद के इसलिए भी विरोधी हैं कि वह राज्य को पर्याप्त सत्ता सम्पन्न बना देता है। राज्य की शक्ति को कम रखना अधिक उचित समझा जाता है। परन्तु वे राज्य को पूरी तरह खत्म नहीं कर देना चाहते, इस विषय में वे सिण्डिकलिस्टों से सहमत नहीं।

यह तो हम पहले देख आए हैं कि गिल्ड सोशलिस्ट राज्य को थोड़े से राजनीतिक कर्त्तव्य ही सौंपते हैं। इस प्रकार गिल्ड सोशलिस्ट समाज के अन्तर्गत राज्य, देश की अन्दरूनी तथा बाहर की रक्षा, विदेश नीति, कर तथा कानून इत्यादि से सम्बन्धित कुछ विशेष कर्त्तव्य ही पालन करता है।

गिल्ड सोशलिस्ट विचारकों में स्वयं ही राज्य के स्वरूप तथा कर्त्तव्यों के विषय में एक मत नहीं। हाबसन का कथन है कि राज्य प्रभु सत्ता सम्पन्न है यद्यपि उसका उद्देश्य सामाजिक सेवा है, कोल ऐसा नहीं मानता। हाबसन राज्य का कल्याणकारी स्वरूप पेश करता है उसका कथन राज्य व्यक्ति की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का प्रमख साधन है। वह व्यक्ति के नागरिक सम्बन्धों की सामूहिक अभिव्यक्ति है। इस स्थिति में राज्य का कर्त्तव्य विभिन्न मजदूर-संघों के पारस्परिक झगड़ों को सुलझाना है। हाबसन इसके अतिरिक्त राज्य के प्रशासन, न्याय, रक्षा तथा उत्पति और वितरण इत्यादि का नियंत्रण प्रमुख कर्त्तव्य मानता है। औद्योगिक-संघों के ऊपर भी अन्तिम रूप से राज्य की अवस्थिति रहेगी। परन्तु राज्य का स्वरूप प्रजातन्त्रात्मक होगा, राज कर्मचारी नागरिकों के सेवक होंगे, उनके स्वामी नहीं।

हाबसन के विपरीत कोल की राज्य विषयक कल्पना विभिन्न है। कोल राज्य की प्रभु सत्ता का कड़ा समालोचक है। उसका कथन है कि राज्य को थोड़े से थोड़े कार्य सौंपने चाहिए और राज्य सत्ता का व्यापक विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए। उत्पादन का काय मजदूर संघों को करना चाहिए और उनकी कायवाहियों का नियमन केन्द्रीय संघ द्वारा होना चाहिए, किसी भी हालत में उद्योगों का नियन्त्रण राज्य को नहीं सौंपना चाहिए। कोल तथा उसके समर्थक उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध हैं। गिल्ड समाज व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादको (Producesrs) तथा उपभोक्ताओं (Consumers) के बीच भेद भाव या झगड़ा उत्पन्न हो सकता है। उसका फैसला

न्यायालय द्वारा करवाया जा सकता है, राज्य द्वारा नहीं। विभिन्न संघों की नीतियों के पारस्परिक मेल-मिलाप के लिए कोल, एक 'कम्यून' की मौजूदगी पर जोर देता है। यह 'कम्यून' ही स्थानीय तथा केन्द्रीय संस्थाओं के सम्बन्धो में ताल-मेल पैदा करेगा।

कुछेक गिल्ड सोशलिस्ट सिण्डिकलिस्टों की भान्ति राज्य के भावी स्वरूप के विषय में अभी कुछ कहने को तैयार नहीं। उनका कथन है कि परिस्थितियों के अनुसार अपने आप सभी कुछ स्पष्ट हो जाएगा।

गिल्ड सोशलिज्म की आलोचना—(१) गिल्ड समाजवाद गलत मनोविज्ञान तथा भ्रान्त धारणाओं पर आधारित है। यह समझा जाता है कि मनुष्य स्वभावतः ही समाज सेवा भावना सम्पन्न है और उत्पादन पद्धति पर नियन्त्रण के अधिकार को प्राप्त कर वह एकचित्त से समाज-कल्याण के लिए ही सम्पूर्ण उत्पादन पद्धति का संचालन करेगा। परन्तु यह धारणा गलत है, मनुष्य में स्वार्थ भावना है और आर्थिक मामलों में यह और भी अधिक स्पष्ट तथा तीव्र है। इस प्रकार गिल्ड सोशलिज्म की सफलता में सन्देह है।

(२) गिल्ड सोशलिस्ट उत्पादन की व्यवस्था का नियन्त्रण उत्पादकों को सौंप देता है। परन्तु क्या मजदूर सदा ही उपभोक्ताओं के हितों का ध्यान रख सकेंगे? बहुत सम्भव है मजदूर वर्ग अपने स्वार्थवश उपभोक्ताओं से सहयोग ही न करे?

(३) गिल्ड सोशलिस्टों में आपस में बड़ा तीव्र मतभेद है, विशेष रूप से गिल्ड सोशलिस्ट समाज में राज्य की स्थिति पर। हम ऊपर देख आए हैं कि हाबसन तो राज्य की प्रभु सत्ता को स्वीकार करता है, परन्तु कोल उसे सामान्य सामाजिक समुदायों के अनुरूप समझता है। फिर वे राज्य की अन्तिम नियन्त्रण तथा नियमन करने की शक्ति को स्वीकार नहीं करते। विभिन्न संघों में मनमुटाव पैदा हो जाने पर उन के झगड़ों का फैसला कौन करेगा? संघवाद के आधार पर आधारित समाज में राज्य का महत्वपूर्ण स्थान होता है। विभिन्न समुदाय विभिन्न स्वार्थों तथा हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे सामान्य जनता के हित की बात नहीं सोच सकते। सामान्य जनता के हितों की रक्षा राज्य द्वारा ही सम्भव है।

(४) गिल्ड समाजवादियों का एक बड़ा दोष उनकी अस्पष्टता तथा अन्तर्विरोध है। अस्पष्टता की ही वजह है कि राज्य के स्वरूप को भी स्पष्ट रूप से हमारे सामने नहीं रख पाते। यही नहीं, गिल्ड समाज की स्थापना में किन साधनों को इस्तेमाल में लाना चाहिए, इस विषय में भी मतभेद तथा पर्याप्त अस्पष्टता है। वे स्पष्ट रूप से न तो क्रान्तिकारी साधनों का ही समर्थन करते हैं और न संवैधानिक साधनों का। उनकी कार्य पद्धति भी पर्याप्त दोष पूर्ण है। उत्पादन पर नियन्त्रण स्थापित करने के जिन साधनों का उन्होंने जिक्र किया है वे बच्चों के से हैं। क्या ऐसे तरीकों से वस्तुतः उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण स्थापित कर पूँजीपतियों को पदच्युत किया जा सकता है? कभी नहीं, पूँजीपति वर्ग बहुत चतुर तथा साधन सम्पन्न है। उसकी शक्ति का कभी भी गलत अनुमान नहीं लगाना चाहिए।

(५) गिल्ड सोशलिस्ट एक राज्य में दो प्रभुओं की स्थापना करते हैं। (१)

एक तो राजनीतिक और (२) दूसरा आर्थिक । परन्तु दोनों का विभेद व्यावहारिक रूप से सर्वथा असम्भव है । राजनीतिक तथा आर्थिक सम्बन्ध इतने घुले मिले हैं कि उन्हें एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता । राज्य केवल राजनीतिक सम्बन्धों के नियमन के लिए है, उसका कर्त्तव्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की देखभाल, सन्धि तथा युद्ध घोषणा इत्यादि है । परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध व्यापार इत्यादि अनेक आर्थिक तत्त्वों से भी प्रभावित होते हैं । युद्धकालीन स्थिति में राज्य को आर्थिक विषयों का नियन्त्रण करना होता है, विदेशी नीति की सफलता भी राज्य की अर्थ व्यवस्था के शक्तिपूर्ण संगठन पर आश्रित है । गिल्ड सोशलिस्ट दो पार्लियामेण्ट स्थापित करते हैं—एक राजनीतिक मामलों के लिए, दूसरी आर्थिक मामलों के लिए । दोनों के मतभेद दूर करने की क्या व्यवस्था होगी ? यह स्पष्ट नहीं ।

(६) गिल्ड सोशलिज्म द्वारा समर्थित व्यावसायिक प्रजातन्त्र प्रणाली की भी तीव्र आलोचना की जाती है । यह समझा जाता है कि यह व्यवस्था राष्ट्रीय एकता के विरुद्ध है । फिर राष्ट्र की पार्लियामेण्ट में किन-किन हितों को प्रतिनिधित्व दिया जाना है और किस आधार पर, यह बिल्कुल भी स्पष्ट नहीं ।

(७) मजदूरों द्वारा यदि उद्योगों का नियन्त्रण किया जाएगा तो उसके फल-स्वरूप उत्पादन में शिथिलता, अराजकता तथा अनुशासन विहीनता इत्यादि अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाएँगी ।

(८) अन्त में हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि गिल्ड समाजवाद एक व्यावहारिक सिद्धान्त नहीं । इसका परिणाम विभिन्न मजदूर संघों में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष तथा कलह होगा । सभी उद्योग एक दूसरे पर निर्भर हैं, यदि उन में आपस में सहयोग नहीं होगा तो राष्ट्रीय उद्योग व्यवस्था का चल सकना ही असम्भव हो जाएगा ।

गिल्ड व्यवस्था की अव्यावहारिकता का एक प्रमुख कारण यह भी है कि यह मजदूर वर्ग का आन्दोलन नहीं, बल्कि थोड़े से बुद्धिजीवियों की मस्तिष्क की उपज मात्र है । आज इस सिद्धान्त की कोई सर्वप्रियता नहीं और न ही इसे एक जीवित तथा शक्ति सम्पन्न सिद्धान्त समझा जाता है ।

गिल्ड सोशलिस्टों ने राज्य द्वारा औद्योगिक तथा आर्थिक जीवन के नियन्त्रण के बुरे परिणामों की ओर से सचेत कर उनको दूर करने के लिए कुछ उपयोगी सुझाव अवश्य दिए, परन्तु गिल्ड सोशलिज्म की सफलता निषेधात्मक रूप में अधिक हुई, यानि उस द्वारा की गयी मौजूदा समाज की आलोचना पर्याप्त सन्तुलित तथा यथार्थ है । उसके इस सुझाव में भी पर्याप्त सत्य है कि मजदूरों को समाज में आदर तथा सत्कार की स्थिति दी जानी चाहिए, उन्हें केवल मात्र वेतन भोगी ही नहीं समझना चाहिए । उद्योगों के नियन्त्रण में उनको कुछ न कुछ अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ । असली लोकतन्त्र की स्थापना आर्थिक लोकतन्त्र पर आधारित है, हमें इस आधारभूत सत्य को भी नहीं भूलना चाहिए ।

१७५. अराजकतावाद (Anarchism)

राज्य के कार्य क्षेत्र से सम्बन्धित सिद्धान्तों में अराजकतावाद भी एक प्रमुख सिद्धान्त है । अराजकतावाद के दो रूप मिल जाते हैं, एक तो व्यक्तिवादी है और दूसरा साम्यवादी । दोनों ही राज्य की समाप्ति के पक्ष में हैं, परन्तु व्यक्तिवादी निजी सम्पत्ति की व्यवस्था को बनाए रखना चाहते हैं, साम्यवाद में विश्वास करने वाले अराजकतावादी निजी सम्पत्ति की व्यवस्था के खत्म करने के हक में हैं । वर्तमान युग के अराजकतावादी अधिकांश में साम्यवादी हैं, यही कारण है कि हमने अराजकतावाद को भी समाजवाद के अन्तर्गत रखा है ।

साम्यवाद और अराजकतावाद में पर्याप्त साम्य है । मार्क्स का कथन है कि पूंजीवादी व्यवस्था के खत्म होने पर अन्तरिम काल (Interism period) के लिए तो अवश्य ही राज्य मौजूद रहेगा परन्तु अन्त में राज्य खत्म हो जाएगा और एक वर्ग-विहीन तथा राज्य-विहीन समाज उत्पन्न हो जाएगा । मार्क्सवाद का अन्तिम उद्देश्य एक अराजक समाज है । अराजकतावाद तथा साम्यवाद दोनों ही अपनी उद्देश्य सिद्धि के लिए विभिन्न साधनों को अपनाते हैं । साधन के आधार पर और राज्य के स्वरूप के विषय में दोनों में काफी मतभेद है ।

अराजकतावाद क्या है ? अराजकतावाद समाज के उस संगठन का सिद्धान्त है जो राज्यविहीन होगा । अराजकतावाद के प्रमुख आचार्य प्रिंस क्रोपाटकिन (Kropotkin) के शब्दों में **"अराजकतावाद जीवन तथा आचरण के उस सिद्धान्त या वाद को कहते हैं, जिसके अधीन राज्यविहीन समाज की कल्पना की जाती है । इस समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिए किसी कानून अथवा सत्ता के आदेशों का पालन लाजमी नहीं होगा । यह सॉमजस्य उत्पादन तथा खपत तथा एक सभ्य प्राणी की अनेक प्रकार की अनन्त आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं की सन्तुष्टि के लिए स्वतन्त्र रूप से संगठित विभिन्न प्रादेशिक तथा व्यावसायिक समुदायों के ऐच्छिक तथा स्वतन्त्र समझौते से उत्पन्न होगा ।"**[1] हक्सले (Huxley) के मतानुसार **"अराजकतावाद समाज की वह स्थिति है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासक होगा ।"**[2] इस प्रकार अराजकतावाद की स्थिति में समाज में न कानून होगा और न शासन ।

अराजकतावादियों का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के लिए वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्ति की परिस्थितियों को उत्पन्न करना है । उनका कथन है कि व्यक्ति की

1. "Anarchism is a principle or theory of life and conduct under which society is conceived without a government—harmony in such a society being obtained not by submission to law, or by obedience to any authority, but by free agreements conducted between the various groups, territorial and professional, freely constituted, for the sake of production and consumption, as also for the satisfaction of the infinite variety of needs and aspirations of a civilized being."—*Kropotkin.*

2. "Anarchy is a state of society in which the rule of each individual by himself is the only Government."—*Huxley.*

वास्तविक स्वतन्त्रता की मौजूदगी इस समाज में सम्भव नहीं, क्योंकि मौजूदा समाज में राज्य अनेक ऐसी पाबन्दियो को लगाता है जो कि व्यक्ति स्वातन्त्र्य के वास्तविक हित में नहीं हो सकती। व्यक्तिवादियों तथा अराजकतावादियों के व्यक्ति स्वातन्त्र्य सम्बन्धी विचारों में पर्याप्त साम्य है। परन्तु अराजकतावादियों का दृष्टिकोण साम्यवादी है, जिसमें व्यक्ति को एक ग्रुप या समुदाय का अनिवार्य सदस्य समझा जाता है। अराजकतावादियों का उद्देश्य व्यक्ति को पूँजीवादी आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था के बन्धनों से मुक्त करने के अतिरिक्त उसे परम्परागत अन्धविश्वास पूर्ण धार्मिक तथा नैतिक आचरण सम्बन्धी बन्धनों से स्वतन्त्र करवाना भी है। **"उनके लिए राज्य तथा पूंजीवाद के अतिरिक्त धार्मिक अन्ध-परम्परा भी व्यक्ति स्वातन्त्रता के लिए बाधक है।"**

अराजकतावाद का विकास—अराजकतावादी विचारधारा का प्रचलन नया नहीं काफी पुराना है। यूनानी तथा चीनी दार्शनिकों के विचारों में भी अराजकतावाद के दर्शन हो जाते हैं। यूनान के स्टोइक दार्शनिकों का मत है कि राज्य की उपस्थिति आत्मानुभूति (Self-realisation) के लिए घातक है। सब प्रकार से सुखी तथा सदगुणी जीवन की अनुभूति राज्य में रहते हुए सम्भव नही। इस प्रकार चीनी विचारक **"च्वांग जू का विचार था कि एक व्यक्ति का दूसरे पर शासन मानव प्रकृति के सर्वथा विपरीत है।"** इसी प्रकार के विचार हमें पुराने क्रिश्चियन विचारकों में भी मिल जाते हैं।

परन्तु आधुनिक युग में अराजकतावादी दर्शन का प्रारम्भ औद्योगिक उन्नति के अनन्तर हुआ। उद्योगवाद के प्रचलन के अनन्तर सभी जगह मजदूरों की स्थिति बहुत खराब थी। उनकी स्थिति का विभिन्न प्रकार से अध्ययन किया गया। फ्रेंच विचारक प्रोधां ने वैयक्तिक सम्पत्ति की व्यवस्था का अन्वेषण करते हुए उसे चोरी माना। उसके मतानुसार राज्य इस चोरी का संरक्षक है, राज्य के अन्तर्गत ही अन्याय, अत्याचार तथा शोषण सम्भव है। राज्य के खत्म करने पर यह सब अत्याचार पूर्ण व्यवस्थाएँ खत्म हो सकती है। अगर आवश्यकतावश राज्य को रखना भी पड़े तो भी उसे थोड़ी सी थोड़ी मात्रा में रहना चाहिए।

प्रोधां के अतिरिक्त बाकुनिन तथा प्रिंस क्रोपाटकिन अराजकतावाद के प्रमुख विचारक है। बाकुनिन (Bakunin) तथा क्रोपाटकिन (Kropotkin) दोनो ही रूस के साम्यवादी आन्दोलन से सम्बन्धित थे। बाकुनिन प्रारम्भ मे मार्क्स से मिलकर कार्य करता रहा, उसके बाद भावी साम्यवादी समाज में राज्य की स्थिति के विषय में मतभेद उत्पन्न होने पर दोनों एक दूसरे से अलग हो गए। बाकुनिन के विचारों में स्पष्टता नहीं, उसमें शिथिलता भी मिल जाती है, कहीं-कहीं आत्म विरोध भी। प्रिंस क्रोपाटकिन ही अराजकतावाद का सब से अधिक कुशल तथा प्रबल समर्थक है उसने अराजकतावाद के रूप की सविस्तार बद्धिसंगत विवेचना की है। महात्मा गांधी तथा टालस्टाय अराजकतावादी समझे जाते हैं, परन्तु दोनों ही समाज में अहिंसा तथा शान्ति पूर्ण साधनों से परिवर्तन के समर्थक हैं। गाडविन, मेक्स स्टर्नर, बेंजामिन टकर इत्यादि अन्य विचारकों ने भी अराजकतावाद का समर्थन किया है। परन्तु प्रिंस

क्रोपाटकिन की सी स्पष्टता उनके विचारों में नही मिलती। प्रिंस क्रोपाटकिन ने भावी अराजकवादी समाज की रूप रेखा का भी स्पष्ट विवरण दिया है।

अराजकतावाद के मूल सिद्धान्त—अराजकतावाद के विवेचन करते हुए प्रिंस क्रोपाटकिन उसे ऐतिहासिक तथा विकासवादी स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न करता है। उसके मतनुसार विकासवाद के दो रूप हैं (१) एक तो प्राकृतिक तथा सहज विकास (२) दूसरा आकस्मिक विकास। दोनों की मौजूदगी मानव समाज तथा मानव शरीर में मिल जाती है। वैयक्तिक जीवन में यूँ तो विकास की लहर अपने प्रकृत रूप में धीरे-धीरे से चलती रहती है, परन्तु जब कभी उसका स्वाभाविक विकास कुछ विशेष बाधाओं के कारण रुक जाता है तो उस समय अचानक परिवर्तन हो जाते हैं। मानवीय शरीर के विकास का यही क्रम समाज पर भी लागू होता है। समाज में जब कभी नये विचारों तथा आदर्शों का निहित स्वार्थों द्वारा विरोध होता है तो उस समय क्रान्तिकारी परिवर्तन होते हैं। समाज में विकासवादी तथा क्रान्तिकारी दोनों ही प्रकार के परिवर्तन लाजमी हैं। क्रान्तिकारी परिवर्तन भी दरअसल विकास वादी परिवर्तन का एक प्रकार ही है।

सामाजिक विकास में क्रोपाटकिन के अनुसार पारस्परिक सहयोग (Co-operation) का विशेष महत्त्व है। सहयोग मानवीय जीवन का ही नहीं अपितु पाशविक जीवन का भी एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। क्रोपाटकिन स्पैन्सर के इस मत को नहीं मानता कि संघर्ष ही सामाजिक जीवन का प्रमुख तत्त्व है और प्रतियोगिता द्वारा ही स्वस्थ सामाजिक तत्त्वों का विकास सम्भव है। स्पैन्सर का कथन है कि संघर्ष द्वारा उपयुक्ततम का चुनाव होता है, क्रोपाटकिन इन बातों को नहीं मानता। क्रोपाटकिन का यकीन है कि मानव जीवन का विकास ही नहीं अपितु उसका पृथ्वी पर जिन्दा रह सकना भी पारस्परिक सहयोग से ही सम्भव है। अपनी पुस्तक 'Mutual Aid a Factor of Education' में क्रोपाटकिन ने बड़े विस्तार पूर्वक इस बात को साबित करने का प्रयत्न किया है कि पारस्परिक सहयोग का असूल मानवीय जीवन में ही नहीं अपितु पशु जीवन में भी काम कर रहा है और उसी से ऊँचे उद्देश्यों की प्राप्ति सम्भव है। सहयोग की भावना सामाजिक न्याय, सामाजिक संगठन तथा सामाजिक एकता इत्यादि उद्देश्यों के रूप में प्रगट होती है।

अराजकतावाद का मुख्य आधार आपस का सहयोग है। इस सहयोग की भावना के विस्तार में प्रिंस क्रोपाटकिन के विचार के अनुसार तीन मुख्य बाधाएँ हैं—

(१) राज्य (State)

(२) निजी सम्पत्ति का अधिकार (Private property)

(३) धर्म (Religion)

अराजकतावादियो द्वारा राज्य का विरोध—सभी अराजकतावादी एक बात पर एक मत है, वह है राज्य का विरोध। वे सभी राज्य को न केवल अनावश्यक ही समझते हैं अपितु अप्राकृतिक भी। प्रिंस क्रोपाटकिन ने राज्य की अप्राकृतिकता तथा अनावश्यकता का बड़ा विशद् विवेचन किया है। उसका कथन

है कि राज्य मनुष्य की स्वाभाविक सहयोग भावना के विरुद्ध है । राज्य के संगठन, कार्य तथा प्रकृति का आधार मानव मन की गलत मनोवैज्ञानिक व्याख्या है । राज्य समझता है कि मनुष्य परस्पर झगड़ने तथा लड़ने वाला प्राणी है, यह बिल्कुल गलत है । राज्य दबाव तथा हिंसापूर्ण साधनों में यकीन करता है परन्तु मनुष्य व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास स्वैच्छिक कार्यों द्वारा ही सम्भव है, दण्ड के डर से किए गए कार्यों द्वारा सम्भव नहीं ।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी राज्य का उदय बहुत पहले नहीं हुआ । राज्य के बिना भी मनुष्य रहते आये हैं और अच्छी तरह रहते आये हैं । सदियों तक मानवीय समाज में उनके आपस के सम्बन्धों के नियमन के लिए राजनीतिक कानूनों की मौजूदगी नहीं थी । लोगों के आपसी सम्बन्धों का नियमन परम्परा गत रीति-रिवाजों से होता था । इस दशा में लोग मौजूदा हालत से अधिक सुखी, समृद्ध तथा संतुष्ट थे । राज्य तथा राज्य के बनाये हुए कानूनों का उदय तो वर्तमान युग में हुआ जबकि समाज का दो विभिन्न वर्गों में बँटवारा हो चुका था । राज-नियम तथा राज्य शासन व्यवस्था का प्रयोग आर्थिक दृष्टि से ऊँचे वर्ग ने अपने हित में किया । उसने राज्य शक्ति द्वारा शोषण-व्यवस्था को बनाए रखा और गरीबों को दबाने का हर सम्भव प्रयत्न किया, ऐसे कानून बनाए गए जिनकी या तो आवश्यकता ही नहीं थी या फिर जिन द्वारा शोषकों के अधिकारों की ही रक्षा की जा सकती थी, यानि जो निजी सम्पत्ति व्यवस्था की रक्षा करते थे ।

राज्य का कोई भी रूप अराजकतावादियों को पसन्द नहीं । राज्य का प्रत्येक कार्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता को नष्ट करता है । राज्य का कोई भी स्वरूप हो, वह राजतन्त्र हो, कुलीन तन्त्र हो, प्रजातन्त्र हो, धनियों का ही हितैषी होता है । लोकतन्त्र की व्यवस्था असन्तोषजनक है, उसके अनेक कारण हैं, प्रथम तो कोई किसी का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता । वर्तमान काल की निर्वाचन व्यवस्था बहुत ही दोष पूर्ण है, वे मजदूरों को किसी भी हालत में प्रतिनिधित्व नहीं देती । चुनाव व्यवस्था के कारण राजनीति कुछ लोगों का पेशा ही बन जाता है, वे लोग तरह-तरह की राजनैतिक पार्टियाँ बना लोगों को गुमराह करते हैं, उनमें फूट डालते हैं और राजनीतिक जीवन में झूठ, दम्भ तथा अनैतिकता को भरते हैं । प्रतिनिधि संस्थाओं की आवश्यकता ही नहीं, प्रत्येक प्रश्न पर जनता के मत को जानने का प्रयत्न किया जाना चाहिए ।

इतिहास यह बात साबित करता है कि राज्य कभी भी किसी भी महान मकसद को प्राप्त नहीं कर सका । इसके विपरीत इस द्वारा मानव समाज के लिए अनेक कष्टों की ही वृद्धि हुई है । क्रोपाटकिन का कहना है कि क्या राज्य मजदूरों को पूँजीपतियों के शोषण से बचा सका है ? क्या राज्य बेकार, अक्षम तथा वृद्ध लोगों की भूख तथा महामारियों से रक्षा कर सका है ? राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता, भाषण तथा प्रेस की स्वतन्त्रता की तभी तक गारण्टी देता है जब तक कि उनका इस्तेमाल शोषक वर्ग के विरुद्ध नहीं किया जाता । अराजकतावादियों का विश्वास है कि राज्य

किसी भी रूप में शोषितों के लिए इन्साफ प्राप्त नहीं कर सकता । समाजवादी राज्य भी इसी प्रकार दूषित है जिस प्रकार पूँजीवादी राज्य । राज्य की आवश्यकता तभी तक होती है जब तक कि निजी सम्पत्ति की व्यवस्था रहती है । निजी सम्पत्ति की व्यवस्था को खत्म करते ही राज्य की आवश्यकता भी खत्म हो जाती है । प्रिंस क्रोपाटकिन का कथन है कि राज्य लोगों की आन्तरिक तथा बाह्य खतरों से रक्षा भी नहीं कर सकता । अनेक बार राज्य द्वारा संगठित सेनाएँ तो हार गयी परन्तु स्वेच्छा पर आधारित जन-सेना ने बाहर के शत्रुओं को हरा दिया । इसी प्रकार आन्तरिक मामलों में राज्य सेना की मौजूदगी में भी जन-क्रान्तियाँ हुई और अन्याय तथा शोषण के आधार पर खड़ी व्यवस्थाओं को उखाड़ दिया गया । राज्य तो केवल मात्र शोषण का साधन है, जनता की इच्छा पर आधारित गुणों या समुदायों में ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का वास्तविक विकास सम्भव है ।

राज-सत्ता का दूषित प्रभाव—एक मनुष्य का अन्य मनुष्य पर शासन दोष-पूर्ण है । शक्ति या सत्ता को पा कर मनुष्य का दिमाग बिगड जाता है । शासन शक्ति अनेक अच्छे भले मनुष्यों को भी दूषित कर देती है और उनमें अधिकार का मद उत्पन्न कर देती है । प्रिंस क्रोपाटकिन कहता है यह या वह मंत्री आज लोगो को पसन्द नहीं । वह एक अत्यन्त उत्तम मनुष्य हो सकता था अगर उसके हाथ में राज्य सत्ता न होती प्रजातन्त्र के अन्तर्गत भी एक बार निर्वाचित हो जाने पर और मन्त्री बन जाने पर वे यह सब भूल जाते हैं कि वे जनता के सेवक है, वे अपने आपको स्वामी ही समझने लग जाते हैं । राज्य सत्ता पा कर वे दूषित हो जाते हैं ।

निजी सम्पत्ति व्यवस्था (System of private property)—को प्रिंस क्रोपाटकिन ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अनुभूति में दूसरी बड़ी बाधा माना है । दरअसल तो इसी अधिकार की रक्षा के लिए ही सम्पूर्ण शासन व्यवस्था की रचना की जाती है ।

निजी सम्पत्ति व्यवस्था अन्याय पर आधारित है । इस के अन्तर्गत अल्पमत बहुमत द्वारा सदियों के परिश्रम से तैयार किए गए मूल्यों को हड़प जाता है । क्रोपाट-किन फेबियन सोसाइटी की तरह सामाजिक मूल्य के सिद्धान्त में यकीन करता है । उसका कथन है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य सदियों के सामाजिक परिश्रम द्वारा उत्पन्न किया जाता है । सदियों के परिश्रम का फल इस तरह होता है कि प्रत्येक पदार्थ के उत्पादन में जिन मशीनों तथा साधनों को इस्तेमाल में लाया जाता है, वे किसी एक मनुष्य द्वारा एक ही काल या युग में तैयार नहीं किए जाते, वे सामूहिक प्रतिभा तथा सामूहिक परिश्रम के ही फल होते हैं ।

जन साधारण मे वैयक्तिक सम्पत्ति व्यवस्था के फलस्वरूप गरीबी, बीमारी, अभाव, अशिक्षा, बेकारी इत्यादि अनेक दोषों का प्रादुर्भाव हुआ है । अतः निजी सम्पत्ति व्यवस्था को जन-हित में खत्म करना चाहिए । दूसरे शब्दों में अराजकतावाद पूँजीवाद की समाप्ति चाहता है ।

ऊपर हम कह आए हैं कि अराजकतावादी धर्म को एक खतरनाक बुराई

समझते हैं, वे राज्य तथा निजी-सम्पत्ति व्यवस्था के साथ-साथ धर्म के बहिष्कार के पक्ष में भी हैं। धर्म का इस्तेमाल शासक तथा शोषक वर्ग ने अपनी उच्चता तथा शासन शक्ति को कायम रखने के लिए किया है। वे धर्म द्वारा जन-साधारण को बेवकूफ बनाते हैं। वह मनुष्य की तर्क शक्ति को कुण्ठित करता है और सत्य पर पर्दा डाल देता है। प्रिंस क्रोपाटकिन का कथन है कि धर्म जन-साधारण में अज्ञान, मूढ़ता तथा अन्धविश्वास फैलाता है। इसी मूढ़ता तथा अन्धविश्वास के कारण जन-साधारण दूषित तथा भ्रष्ट व्यवस्थाओं को भी ईश्वरीय देन समझकर बर्दाश्त कर लेते हैं। धनी तथा निर्धन का भेद ईश्वर ने बनाया है, गरीब लोगों को अपने भाग्य से ही सन्तुष्ट रहना चाहिए, अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष नहीं करना चाहिए, इत्यादि शिक्षाएँ धर्म द्वारा दी जाती हैं। जब तक ऐसा अन्धविश्वास जन-साधारण में फैला रहेगा, न तो शोषण व अन्याय ही खत्म होगा और न ही भ्रष्ट सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था ही खत्म होगी।

अराजकतावादी समाज की व्यवस्था— प्रिंस क्रोपाटकिन ने अराजकतावादी समाज की व्यवस्था का पर्याप्त विस्तृत विवरण दिया है। क्रोपाटकिन तथा बाकुनिन दोनों ने अराजकतावादी समाज का लगभग एक जैसा चित्र प्रस्तुत किया है। अराजकतावादी समाज की क्या रूप-रेखा होगी? प्रिंस क्रोपाटकिन का कथन है कि लोग सदा की तरह एक दूसरे के साथ मिलकर रहेंगे, परन्तु उनका नियमन तथा नियन्त्रण सरकार द्वारा नहीं होगा। **प्रो० जोड ने इस स्थिति को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि इस समाज की विशेषता व्यवस्था का अभाव नहीं बल्कि बल प्रयोग का अभाव होगा।** अराजकतावादी समाज का संगठन ऐच्छिक(Voluntary)समुदायों के आधार पर होगा। क्रोपाटकिन का कथन है कि ऐच्छिक समुदायों का निर्माण मनुष्य की प्रवृति है। मौजूदा हालत में भी हर जगह अनेक ऐच्छिक समुदाय होते हैं, इनका सम्बन्ध हमारे कलात्मक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक जीवन से होता है। ये राज्य के नियमन के बिना ही पर्याप्त स्वतन्त्रता का उपभोग करते हुए अपना कार्य करते हैं। इसी प्रकार राज्यविहीन (Stateless) समाज में भी ऐसे ही अनेक समुदायों का संगठन रहेगा। ये समुदाय दो प्रकार के होते हैं व्यावसायिक तथा प्रादेशिक। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समुदाय का सदस्य होगा। इन समुदायों के अधिकारियों का चुनाव समुदायों के सदस्य स्वयं करेंगे, ये समुदाय अपने संघ बना सकते हैं। जो सदस्य समुदायों के नियमों को भंग करेंगे उनका बहिष्कार किया जा सकता है। समुदायों के पारस्परिक झगड़ों का निपटारा पंचायती अदालतों द्वारा हो जाएगा।

अराजकतावादी समाज में अपराधों की संख्या बहुत घट जाएगी, क्योंकि समाज का निर्माण न्याय तथा बराबरी के आधार पर होगा। अपराधों का कारण पूँजीवादी व्यवस्था है। इस व्यवस्था की अनुपस्थिति में अपराधों की संख्या का घट जाना लाजमी है। जहाँ कहीं ऐसे अपराध हों, वहाँ प्रारम्भ में नैतिक उपायों को इस्तेमाल में लाना चाहिए। बाद में अपराधी व्यक्ति को समाज से निकाला जा सकता है। सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए सामूहिक हस्तक्षेप भी किया जा सकता है।

अराजकतावादी समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था का आधार विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) है। आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन के सभी क्षेत्रों में विकेन्द्रीकरण के इस नियम का अनुसरण किया जायगा। अराजकतावादी समाज का आर्थिक संगठन साम्यवाद के आधार पर होगा। उत्पादन के सभी सधनों पर समाज का अधिकार होगा, प्रत्येक व्यक्ति उत्पादन में भाग लेगा। प्रत्येक व्यक्ति को समाज की प्रत्येक वस्तु पर अधिकार होगा। उत्पादन में भी सभी हिस्सेदार होंगे। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता तथा शक्ति के अनुसार उत्पादन क्रिया में हिस्सा बटाना चाहिए, परन्तु सामाजिक उत्पादन का बंटवारा आवश्यकता के अनुरूप होगा। आवश्यकता को कार्य से भी ऊपर रखना चाहिए और जीवित रहने के अधिकार को सर्वोच्च समझना चाहिए, तदनन्तर उन सभी लोगों के लिए जो काम करते हैं सुविधाजनक जीवन के अधिकार को स्वीकार करना चाहिए। प्रथम तो जीवन की आवश्यकता है उसके बाद दूसरी कोई चीज।

साम्यवादी अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन बढेगा और मजदूरों के काम करने के घण्टे घट जाऐंगे। वर्तमान समय में भी उत्पादन तो जन-संख्या से अधिक होता है परन्तु पूजीवाद व्यवस्था के कारण उसका ठीक २ बंटवारा नहीं हो पाता। विज्ञान की सहायता से सब की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के निमित प्रचुर मात्रा में उत्पादन हो सकता है। वर्गविहीन (Class-less) समाज में प्रत्येक व्यक्ति को इतना धन अवश्य मिल जाएगा कि जिस से वह अपना जीवन सुख पूर्वक बिता सके। सन्तुष्ट जीवन में विज्ञान तथा सस्कृति का पूर्ण विकास हो सकेगा।

अराजकतावादियों के साधन—क्या होंगे ? इस विषय में मतभेद है। कुछ अराजकतावादी तो शान्तिपूर्ण साधनों के हक में है। जोड का कथन है कि अराजकतावादी यह नही स्पष्ट कर पाते कि वे अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किन साधनों को इस्तेमाल में लाएंगे।

प्रिंस क्रोपाटकिन का कथन है कि समाज विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार ही अराजकतावाद की ओर बढ़ रहा है। दिन प्रतिदिन समाज में हजारों ऐसे ऐच्छिक समुदायों का विकास हो रहा है जो राज्य के अनेक कार्यो को अपने हाथ में ले रहे हैं। ऐसे समुदायो के कार्य, व्यवहार तथा संगठन में राज्य किसी प्रकार का भी दखल नहीं देता। यही समुदाय अपने आप राज्य की आवश्यकता को खत्म कर सकते हैं। परन्तु क्रोपाटकिन यह यकीन नहीं करता कि विकासवाद की इस प्रक्रिया (Process) का नतीजा राज्य के स्वाभाविक अन्त में होगी। विकासवाद की इस प्रक्रिया का अन्तिम नतीजा क्रान्ति होगा। यह क्रान्ति यूरोप के किसी भी राज्य में शुरू होकर सम्पूर्ण यूरोपीय महाद्वीप में फैल सकती है। इस प्रकार की क्रान्ति प्रारम्भ में अत्यन्त विध्वंसक होगी, इस का फल मौजूदा समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था की समाप्ति में होगा। परन्तु इस क्रान्ति का अग्रदूत कौन होगा ? क्रोपाटकिन, यह स्पष्ट नहीं कर पाता। प्रिंस क्रोपाटकिन ने अराजकतावाद के विषय में फैली अनेक भ्रान्तियों को दूर करने का प्रयत्न भी किया है। उसका कथन है अराजकतावाद का अर्थ अव्यवस्था नहीं, इसका मुख्य उद्देश्य राज्य की समाप्ति है। राज्य तथा शासन की समा प्त का अर्थ यह नहीं कि राज्य में

अव्यवस्था फैल जाएगी। राज्य में व्यवस्था की स्थापना अनेक ऐच्छिक समुदायों द्वारा हो जाएगी। वह यह नहीं स्वीकार करता कि राजनीतिक अधिकारियों की अनुपस्थिति में लोग समाज-विरोधी कार्य करेंगे, अपने समझौते तोड़ देंगे और किसी नियम का पालन नहीं करेंगे। क्रोपाटकिन मार्क्सवादियों की अन्तरिम सरकार की बात नहीं मानता। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र की स्थापना का अर्थ होगा क्रान्ति के सम्पूर्ण गुणों का अन्त।

क्रोपाटकिन अराजकतावाद के विरोधियों की इस बात को भी नहीं स्वीकार करता कि मनुष्य आम तौर पर काम चोर है, वह काम करना पसन्द नहीं करता। वह तो यह मानता है कि मनुष्य बेकार रहने की बजाय काम करना अधिक पसन्द करता है। आज लोगों के मन में काम करने के प्रति उत्साह की भावना नहीं, परन्तु इसका कारण यह है कि लोगों को काम तो बहुत देर तक करना पड़ता है, मेहनत बहुत करनी पड़ती है परन्तु उस की प्राप्ति कुछ नहीं होती। उसके श्रम का उपभोग पूंजीपति करते हैं। अराजक समाज में तो यह हालत नहीं रहेगी। अतः स्वाभाविक रूप से ही लोगों में काम करने की आदत होगी। अराजकतावादी यह भी नहीं मानते कि मनुष्य में अपराध करने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है या वह जान बूझकर सामाजिक व्यवस्था को भंग करने का प्रयत्न करता है। वस्तुतः ये सब खराबियाँ मौजूदा समाज की शोषण तथा अन्याय व्यवस्था का ही फल है। मौजूदा समाज की समाप्ति के अनन्तर मनुष्य में अपराध करने की प्रवृत्ति भी खत्म हो जाएगी। क्रोपाटकिन मनुष्य की स्वाभाविक उत्तरदायित्व भावना (Sense of responsibility) तथा सहयोग को बहुत महत्व देता है।

अराजकतावाद की आलोचना—(१) अराजकतावाद की कड़ी आलोचना की जाती है और यह कहा जाता है कि यह सिद्धान्त सर्वथा अव्यावहारिक तथा कल्पनावादी है। इतना ही नहीं खतरनाक भी है। राज्य को शोषण तथा अन्याय का अस्त्र मानना सर्वथा गलत है। हम पीछे भी देख चुके हैं कि राज्य द्वारा अनेक समाजोपयोगी कर्तव्य पूर्ण किये जाते हैं। राज्य केवल मात्र शारीरिक शक्ति की उच्चता पर आधारित नहीं, उसका नैतिक आधार भी है। वह हमारी इच्छा तथा सहमति पर कायम है। अगर ऐसा न हो तो वह आज तक कब का खत्म हो गया होता। यह कहना भी गलत है कि राज्य का प्रत्येक कार्य मनुष्य की स्वतन्त्रता पर एक पाबन्दी है। मनुष्य की स्वतन्त्रता की ऐसी परिभाषा बहुत संकुचित है, साथ ही वह भ्रम पूर्ण भी। स्वतन्त्रता का अर्थ जो कुछ हमारे मन में आए उस को करना नहीं। सच्ची स्वतन्त्रता थोड़े-बहुत बन्धनों के अधीन ही सम्भव है। राज्य नियमों की उपस्थिति के बिना किसी भी सामाजिक व्यवस्था का कायम रह सकना असम्भव है।

(२) अराजकतावादी मनुष्य प्रकृति की भ्रम पूर्ण व्याख्या करते हैं। वह उनकी सहयोग भावना को अधिक महत्व देते हैं, परन्तु उस की असामाजिकता को भूल जाते हैं। हमें भूलना नहीं चाहिए कि सामाजिक मनुष्य में उसका पशु भी छिपा हुआ है जो सामाजिक नियन्त्रण के अभाव में उस पर हावी हो जाता है। हम हाब्स

की मनुष्य प्रकृति की एक पक्षीय व्याख्या के लिए उसकी चाहे कितनी निन्दा कर लें परन्तु हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि उसमें कुछ न कुछ सत्याँश अवश्य है। **सच्चाई तो दर असल यही है कि मनुष्य प्रकृति में विरोधात्मकता है। उसके दैवीय तथा आसुरी दोनों ही पक्ष हैं। दोनों के नियमन तथा नियन्त्रण के लिए राज्य की परम आवश्यकता है।** समाज में असामाजिक तत्त्वों की कमी नहीं रहती उनकी उपस्थिति अनिवार्य सी है। उनके बिना तो पृथ्वी-लोक देव-लोक ही बन जाएगा, अतः राज्य की उपस्थिति सुसभ्य, शील-सम्पन्न तथा शान्तिप्रिय सामाजिकों की रक्षा के लिए आवश्यक है।

(३) अराजकतावादियों की सम्पूर्ण योजना अव्यावहारिक है। मनुष्य में स्वाभाविक रूप से कार्य करने की प्रेरणा नहीं होती। वह आलस्य प्रिय है, काम काज किए बिना ही वह अपना जीवन बिताना चाहता है। काम करने वाले लोगों की संख्या थोड़ी और आलस्य पूर्ण जीवन बिताने वालों की संख्या अधिक होगी।

यह कहना भी गलत है कि मनुष्य सभी कार्यों को अपने विवेक के अनुसार करेगा और इस तरह नैतिक नियमों के अनुसार अपने व्यक्तित्व का विकास करेगा। नैतिकता आन्तरिक है, बाह्य नहीं। इस कारण राज्य की नैतिक कर्त्तव्यों की पालना के लिए आवश्यकता ही नहीं। कुछ अंश तक तो यह बात ठीक है परन्तु हम यह कैसे कह सकते है कि प्रत्येक मनुष्य अपने कल्याण के विषय मे स्वयं ज्ञान सम्पन्न है।

(४) अराजक समाज वर्तमान युग के समाज के लिए ठीक नहीं। वर्तमान समाज अपने संगठन में बहुत जटिल है, उसकी अनेक समस्याएँ है जिन का सुलझाव राज्यविहीन समाज द्वारा सम्भव नहीं। आज के औद्योगिक युग में उत्पादन व्यवस्था भी सरल नही रही, उस का नियन्त्रण राज्य की सहायता से ही सम्भव है, उसके बिना नही। राज्य में अपराध इत्यादि अनेक असामाजिक कार्यों के होने की सम्भावना रहती है, उनका निवारण कौन करेगा ?

अराजकतावाद ने राज्य तथा शासन के अनेक दोषों की ओर हमारा ध्यान खैंचा है, उनको दूर करने से ही राज्य के कल्याणकारी रूप का पूर्ण विकास सम्भव है। साथ ही हमें यह नही भूलना चाहिए कि राज्य बल का प्रयोग केवल कुछ विशेष अवस्थाओं में ही कर सकता है, सर्वत्र नही।

Important Questions *References*

1. "Socialists are divided into a number of opposing schools, which are separated by acute differences both as regards their '*aims*' and their '*methods*' (Joad)
Discuss with reference to the more important schools of socialism of recent times. Art. 169 *(Pb. 1944)* and others

2. "Marx is the first socialist writer whose work can be termed scientific. He not only sketched the klind of society which he desired, but he spoke in detail of the stages through which it must evolve" (Joad) Discuss. Art. 170 *(Pb. 1945)*

3. Compare and contrast the various forms of socialism as regards aims, methods and programmes of action. Art. 169 and others
(*Agra 1942*)

4. Describe the theory of communism as expounded by Marx. What are the chief difficulties of the doctrine ? Arts. 170 and 171
(*Pb. 1943, 1941*)

5. Explain what is exactly meant by 'communism'. Examine the theory of the Dictatorship of the Proletariat. Art. 171
(*Pb. 1946*)

6. Examine either Karl Mart's theory of surplus value or his materialist conception of history. Art. 170
(*Pb. 1949, 1954*)

7. Explain the aims and objects of state socialism.
(*Pb. 1947*)

Or

Make comparison between socialism and individualism.

Or

Discuss the socialist's case for the extensions of the functions of the government. Art. 172
(*Pb. 1937, Nag 1942*)

8. Write a short note on syndicalism. (*Pb. 1949, 1952*)

Or

What is Syndicalism ? Discuss. (1955 Sept.)

Or

Give some account of political theorey of Sorel.(*Pb. 1944*) Art. 173)

9. Briefly discuss theory of guild socialism (Sept. 1950.
(*Pb. 1945*)

Or

What is guild socialism ? Discuss. (*Pb. 1955*) Art. 174

10. Write short note on theory of communism.
(*Pb. 1949, 1950*)

Or

' Communism is essentially a theory of method" Discuss. Art. 171)
(*Pb 1951*)

11. "Anarchy is not the absence of order it is the absence of force " (Lowes Dickinson) Explain and discuss. (*Pb. 1943*)

Or

Write a short note on Anarchism. (*Pb. 1949, 1959*)

Or

What are the arguments used in support of Anarchism ? Are they convincing ? (*Pb. 1951*)

Or

"The goals of Modern Communism and Anarchism are the same." Discuss (*Pb. 1954*)

Or

Critically examine the theory of Anarchism. How does it differ from Communism and Socialism. Art. 175
(*Aq. 1940, Pb. 1941 & 1939*)

अध्याय २८

राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त (४)

फासिज्म (Fascism)

१७६ फासिस्ट-दर्शन का परिचय

राज्य के कर्त्तव्यों की व्याख्या करने वाले अनेक आधुनिक सिद्धान्तों में फासिज्म प्रमुख है । फासिज्म क्या है और उसके स्वरूप को किस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है, इसका उत्तर काफी कठिन है । क्योंकि फासिस्ट दर्शन का आधार, एक ओर तो, व्यावहारिक राजनीति है, दूसरी ओर अनेक दार्शनिक मतवाद । फासिज्म का उदय एक ओर तो प्राचीनकाल से चले आ रहे राजनैतिक मतवाद के फलस्वरूप हुआ दूसरी ओर मौजूदा राजनीतिक परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप । फासिज्म एक प्रकार के राजनीतिक आन्दोलन के रूप में पहले आया तत्पश्चात् उसके समर्थन के लिए सिद्धान्त की रचना की गई । यही कारण है कि यह कहा जाता है कि फासिज्म का कोई दर्शन नहीं । इस बात का समर्थन फासिस्ट आन्दोलन के प्रवर्त्तक मुसोलिनी के इस कथन द्वारा भी किया जाता है कि "**फासिज्म कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसकी प्रत्येक बात को विस्तार पूर्वक पहले ही स्थिर कर लिया गया हो । फासिज्म का उदय कार्य के औचित्य को साबित करने की आवश्यकता के कारण हुआ—इसी लिए फासिज्म सैद्धान्तिक होने की बजाए व्यावहारिक है ।**"[1] फासिस्ट नेता सिद्धान्त में यकीन भी नहीं करते । मुसोलिनी सैद्धान्तिक वादविवाद से नफरत करता था । उसका कथन था कि "मेरा प्रोग्राम काम करना है वादविवाद नहीं ।" दूसरी जगह वह कहता है कि "**फासिज्म वास्तविकता पर आधारित है, बोल्शविज्म सिद्धान्त पर·····हम स्पष्ट तथा यर्थाथ होना चाहते हैं । हम वादविवाद तथा सिद्धान्त के बादलों से बाहर निकलना चाहते हैं !**"[1]

यह ठीक है कि फासिज्म का कोई दर्शन नहीं जैसा कि कम्युनिज्म का है । साम्यवादी विचारधारा तर्क पर आधारित है, अनेक वर्षों तक उस पर वादविवाद होता रहा और उसके विभिन्न रूपों को स्पष्ट किया गया । फासिज्म की ऐसी कोई भी निखरी हुई विचारधारा नहीं । इस अस्पष्टता का एक कारण फासिज्म की अबौद्धिकता (Irrationalism) भी है । परन्तु इन सब के बावजूद भी फासिज्म का एक दार्शनिक आधार है ।[2] भारत के सुप्रसिद्ध राजनीति विचारक एम. एन. राय

---

1 "Fascism is based on reality, Bolshevism is based on theory .....we want to be definite and real. We want to come out of the clouds of discussion and theory." —*Mussolini.*

का कथन है कि फासिज्म यूरोप की अनेक ऐसी दार्शनिक पद्धतियों का विकसित तथा व्यावहारिक रूप है कि जिसका विकास पिछली अनेक सदियों से वहाँ होता रहा है।" हीगल का आदर्शवाद; बर्गसां का अन्तः प्रेरणावाद (Intutionism) तथा अबुद्धिवाद (Irrationalism) नीत्शे का शक्ति सिद्धान्त (Will to power) तथा अतिमानववाद का सिद्धान्त (Theory of superman) और सोरेल तथा परेटो तथा जेम्स का व्यावहारवाद सभी फासिज्म के आधार बनते हैं। "सेबाइन तथा जार्ज काटलिन दोनों ही फासिज्म के दार्शनिक आधार को स्वीकार करते हैं।"[1] यह बात अवश्य है कि फासिज्म के सिद्धान्त में आत्मविरोध भरे पड़े हैं, उसमें अवसरवादिता के दर्शन हो जाते हैं।

नकारात्मक रूप से फासिज्म, व्यक्तिवाद, समाजवाद, उदारतावाद, पूंजीवाद तथा प्रजातांत्रिक विचारधाराओं का विरोधी है। वह न तो व्यक्तिवाद तथा प्रजातन्त्र के आधार भूत सिद्धान्तों को ही स्वीकार करता है और न समाजवाद के। वह दोनों का विरोधी है। अपने व्यावहारिक रूप में वह एक प्रकार के नये राज्य के रूप का समर्थन करता है।

१७७. फासिज्म की परिभाषा, उत्पत्ति तथा विकास

अंग्रेजी के फासिज्म शब्द का विकास इटेलियन भाषा में 'फासियो' (Fascio) शब्द से हुआ जिसका अर्थ है लकड़ियों का समूह। इस प्रकार का संगठन एकता, अनुशासन तथा शक्ति का प्रतीक है। पुराने रोम में लकड़ियों के समूह के साथ कुल्हाड़ी भी रहती थी, इस प्रकार प्राचीन रोमन भी इसे अनुशासन तथा शक्ति का प्रतीक मानते थे।

फासिज्म की एक निश्चित परिभाषा कर सकना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि ये एक राजनीतिक आन्दोलन के साथ साथ एक राजनीतिकवाद भी बन गया है इसका रूप अस्पष्ट है और विचारों में आत्म विरोध। जे. एस. बर्न्स (J. S. Burns) ने इसका रूप विवेचन इन शब्दों में किया है "**फासिज्म की परिभाषा करते हुए उसकी एक ऐसे राजनीतिक तथा सामाजिक आन्दोलन के रूप में व्याख्या की जा सकती है कि जिसका मकसद एक नवीन राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना है। इस व्यवस्था का आधार वे परम्पराएँ हैं जो हमारी यूरोपीयन सभ्यता का निर्माण करती है! इन परम्पराओं की रचना सर्वप्रथम तो रोमन साम्राज्य द्वारा हुई और तदनन्तर रोमन कैथोलिक चर्च द्वारा! इसके विपरीत फासिज्म उस व्यक्तिवादी विचारधारा का खण्डन भी है जिसका प्रारम्भ सर्वप्रथम मूर्तिवादी आन्दोलन में हुआ तदनन्तर धार्मिक सुधारवाद और फिर फ्रांस की राज्यक्रान्ति में!**"[2]

---

1 "For better or worse it belonged to the evolution of European political ideas and practice and in that sense it was a philosophy."
—*Sabine.*

2 "Fascism may be defined generally as a political and social movement having as its objects the re-establishment of a political

परन्तु फासिज्म के वास्तविक रूप का विवेचन तब तक सम्भव नहीं जब तक कि हम उन परिस्थितियों का विवरण न दे दें जिनके फलस्वरूप उसका उदय हुआ है। फासिज्म मुख्य रूप से एक राजनीतिक आन्दोलन है, उसका एक व्यावहारिक रूप है, अतः उसकी आधारभूत मान्यताओं के विवेचन से पूर्व उसके जन्म के लिए उत्तरदायी परिस्थितिओं का विशलेषण आवश्यक है।

फासिस्ट विचारधारा का उदय इटली में हुआ। विचारधारा के रूप मे इसके जन्म स्रोत भले ही अलग अलग राज्यों में मिल जाएँ, परन्तु एक विशुद्ध राजनीतिक आन्दोलन के रूप में इसका जन्म इटली में हुआ। तत्पश्चात् वही इसकी विचारात्मक व्याख्या के प्रयत्न भी किये गये।

प्रथम विश्वयुद्ध के अनन्तर इटली की राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ अत्यन्त निराशापूर्ण थी। इटली ने साम्राज्य निर्माण की आशा से प्रथम युद्ध में ब्रिटेन तथा फ्रांस का साथ दिया, परन्तु वर्साई सन्धिवार्ता के दौरान में उसमें शामिल होने वाले इटेलियन प्रतिनिधियों को बहुत ही अपमानजनक परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। उसके साम्राज्य निर्माण के स्वप्न टूट गये और युद्ध समाप्ति के अनन्तर मित्र राज्यों ने उससे अच्छा व्यवहार भी न किया।

इटली की आन्तरिक अवस्था तो महायुद्ध में हारे राष्ट्रों से अधिक खराब थी। लोगों में वर्साई की सन्धि के प्रति गहरा असन्तोष था इधर युद्ध से लौटे सैनिकों के लिए सरकार किसी काम काज की व्यवस्था न कर सकी, देश मे बेकारी फैली हुई थी। राजनीतिक दलों में विद्वेष था, पार्लियामेण्ट्री शासन व्यवस्था असफल हो गई थी, मुद्रा प्रसार (Inflation) से महंगाई बढ़ गई थी, मजदूरों तथा किसानों में अशान्ति तथा असन्तोष था। ऐसा कोई धन्धा नही था जहां कि हड़ताल न हुई हो और जहाँ मालिकों तथा मजदूरों में संघर्ष न चल रहा हो। उत्पादन व्यवस्था सर्वथा टूट गयी थी। इस अवस्था में समाजवादी दल की सर्वप्रियता बढ़ चली, उसी के नेतृत्व में जगह-जगह हड़तालें भी करवायी गयी। पार्लियामेन्ट में भी उन्हें पर्याप्त बहुमत प्राप्त हुआ, परन्तु वे इस हालत में न थे कि सम्पूर्ण देश को अपने साथ ले चल सकें और शासन को चला सकें। समाजवादियों के साथ साथ सिण्डिकलिस्ट भी मजदूर आन्दोलनों मे शरीक होते थे। इस कारण मजदूर आन्दोलन अक्सर विध्वंसात्मक होते।

ऐसे समय में मुसोलिनी के नेतृत्व में एक नये आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ जिसे फासिज्म कहा गया। मुसोलिनी के सामने प्रारम्भ में कोई विशेष रचनात्मक प्रोग्राम

---

and social order based upon the main currents of traditions that have formed European civilization, traditions created by Rome first by the Empire and subsequently by the Catholic Church. Conversely Fascism may be described as the repudiation of the individualist mentality that found expression first in Pagan Renaissance than in the Reformation and later in the French Revolution."

—*J. S. Burns.*

नहीं था। परन्तु वह अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का विरोधी था, साथ ही राष्ट्रीयता का प्रबल समर्थक । इटली में फैलते हुए समाजवादी विचारों के विरोध में उसने अपने फासिस्ट दल का संगठन किया । शीघ्र ही देश का असन्तुष्ट तथा उग्रवर्ग फासिस्टों के झण्डे के तले एकत्रित हो गया, मसोलिनी की शक्ति बढ़ने लगी, देश भर में उसके दल की शाखाएँ खुल गयीं । जगह जगह फासिस्ट दल के स्वयंसेवक काली वर्दियों में सैनिक संगठन के रूप में संगठित होकर परेड करते हुए नजर आने लगे । मुसोलिनी के दल में सिण्डिकलिस्टों की भी एक बड़ी संख्या शामिल हो गयी । मुसोलिनी स्वयं सोरेल से पर्याप्त प्रभावित था । सन् १९२२ में मुसोलिनी ने अपने 'काली कुर्ति' (Black shirt) वाले स्वयं-सेवकों सहित रोम में प्रवेश किया और शासनसत्ता को अपने हाथ में ले लिया। शीघ्र ही राजा विक्टर एमेन्युअल की स्वीकृति या मुसोलिनी ने अपने मन्त्रीमण्डल का निर्माण कर लिया। तदनन्तर इटली में पार्लिया-मैण्ट्री शासन व्यवस्था खत्म हो गयी, राजतन्त्र भी समाप्त कर दिया गया, मुसोलिनी स्वयं इटली का डिक्टेटर हो गया । मुसोलिनी ने इटली को प्राचीन रोमन साम्राज्य के गौरव की याद दिलायी और यह वायदा किया कि वह इटली को पुराने गौरव पूर्ण पद पर एक बार फिर स्थापित कर देगा। फासिस्ट शासन में इटली की औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी पर्याप्त उन्नति हुई । जनता में एक नया उत्साह तथा जोश भर गया देश में अनेक रचनात्मक योजनाएँ जारी की गयी।

प्रारम्भ में मुसोलिनी की कुछ विरोधी दलों ने कड़ी आलोचना की, परन्तु शीघ्र ही उसने उन्हें अपने फासिस्ट दल की सहायता से दबा दिया । बाद में सभी विरोधी दल गैर-कानूनी घोषित कर दिये गये, उनके अनेक नेता या तो इटली से भाग खड़े हुए या फिर वे बन्दी बना लिए गये । एक बार सत्तारूढ़ होने पर मुसोलिनी ने अपनी स्थिति को सभी प्रकार से मजबूत बनाने की कोशिश की।

फासिज्म का जर्मन रूप नाजिज्म या नाजीवाद कहलाता है। फासिज्म एक प्रकार का राष्ट्रीय आन्दोलन है, अतः इसके विभिन्न रूपों में थोड़ा बहुत अन्तर होना लाजमी है। परन्तु ये अन्तर इतना महत्त्वपूर्ण नही कि हम दोनों को दो स्वतन्त्र विचार धाराएँ मानें। फासिज्म और नाजिज्म में कोई आधारभूत भेद नही । जर्मनी में भी फासिज्म का उदय लगभग उन्ही हालतों में हुआ जिनमें कि इटली में हुआ था । जर्मनी युद्ध मे हारा हुआ था, इसके साथ ही वर्साई की शान्ति सन्धि में उसे अनेक अपमान जनक शर्तें मानने को मजबूर किया गया । इधर जर्मनी मे जबरदस्त आर्थिक संकट उपस्थित हुआ हुआ था, निस पर उसे युद्ध का हर्जाना पूरा करने को कहा जा रहा था। खाद्य पदार्थों की जबरदस्त कमी थी, मुद्रा प्रसार के कारण मजदूर वर्ग तथा मध्यवर्ग दोनों की ही अवस्था खराब हो गई थी। देश मे व्यापक असन्तोष फैला हुआ था। ऐसी अवस्था में राज्य के कुछ भागों में, विशेष रूप से पूर्वी जर्मनी में साम्यवादी विचारधारा की सर्व प्रियता बढ़ने लगी। युद्ध के अनन्तर प्रजातन्त्रात्मक वायमर संविधान (Weimer constitution) के अधीन जिस संसदीय शासन प्रणाली की स्थापना की गई थी, वह आर्थिक मामलों केहल करने में नाकामयाब रही।

जनता में प्रजातन्त्र शासन के प्रति न तो कोई उत्साह ही था और न विशेष प्रेम ही। इस हालत में हिटलर ने नाजीदल की स्थापना की। देखते ही देखते जर्मनी में इस दल की लोक प्रियता बढ़ गई, बहुमत प्राप्त करने पर हिटलर ने मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया, तदनन्तर वह स्वयं जर्मनी का प्रधान बन गया और सम्पूर्ण शासन व्यवस्था उसके नेतृत्व में संगठित नाजीदल के हाथ में आ गयी। मुसोलिनी की तरह हिटलर ने भी अपने दल की सहायता से सभी विरोधी दलों को दबाने का प्रयत्न किया। अपने देश, जर्मनी को साम्यवाद से बचाने का श्रेय हिटलर ने नाजीपार्टी को दिया। हिटलर ने जर्मन राष्ट्र, की उच्चता का नारा लगाया और कहा कि युद्ध में जर्मनी कभी हार नहीं सकता, इस हार का कारण यहूदियों का देशद्रोह था। जर्मन राष्ट्र अजेय है, उसने वायदा किया कि वह जर्मनी को वर्साई की शान्ति सन्धि की अपमानजनक शर्तों से स्वतन्त्र करायेगा।

इस प्रकार इटली और जर्मनी में अधिकांश में अन्दरूनी परिस्थितियाँ ही फासिज्म के विकास का कारण बनी। तथापि हमें बाह्य शक्तियों के प्रभाव को भी नही भूलना चाहिए। जर्मनी में यह बाह्य प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट है। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान में यूरोप के पूर्वी भाग में एक महान ऐतिहासिक घटना घटित हो गयी थी, वह थी रूस में साम्यवादी क्रान्ति। प्रारम्भ में रूस के साम्यवादी दल ने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की स्थापना की घोषणा की थी, जिससे पश्चिम में सभी पूंजीवाद राज्य भयभीत हो उठे थे। प्रारम्भ में तो उन्होंने नवजात कम्युनिस्ट राष्ट्र को चारो ओर से सैनिक घेरा डाल खत्म ही करने का प्रयत्न किया था, परन्तु उसमें वे सफल न हो सके। अपनी इस असफलता के बावजूद भी वह सदा इस कोशिश में थे कि रूसी साम्यवाद को खत्म किया जाये। हिटलर तथा उसका नाजीदल साम्यवाद को अपना प्रबल शत्रु समझते थे। ब्रिटेन तथा फ्रास दोनों ही हिटलर के सभी अपराधों को केवल यही समझकर माफ करने लगे कि वह रूसी साम्यवाद के विरुद्ध एक रक्षात्मक दीवार के रूप में काम कर सकेगा। साम्यवाद के विरुद्ध खड़ा करने के लिए उन्होंने न केवल हिटलर के अपराधों को माफ ही किया बल्कि उसे सक्रिय रूप से प्रोत्साहित भी किया। वर्साई की सन्धि को भी कुछ हद तक फासिज्म के प्रादुर्भाव के बाह्य कारणों में गिना जा सकता है।

इटली तथा जर्मनी के अतिरिक्त स्पेन, पुर्तगाल, पोलेण्ड तथा आस्ट्रिया इत्यादि में भी फासिज्म का प्रसार हुआ। जापान में फासिस्ट विचारधारा अपने स्वदेशी रूप में पर्याप्त लोकप्रिय थी। इंग्लैण्ड तथा फ्रांस इत्यादि पुराने प्रजातन्त्रत्मक देशों में फासिस्ट आन्दोलनों का भी प्रचलन हुआ था। फासिस्ट राष्ट्रों का उद्देश्य अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाकर साम्राज्यवाद का प्रसार करना था। उनका बड़ा मकसद राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए राज्यों को उपनिवेश (Colonies) बनाकर साम्राज्यवाद की स्थापना करना था।

१७८. फासिज्म के आधारभूत सिद्धान्त

हम ऊपर लिख आये है फासिज्म की कोई सुनिश्चित विचारधारा नही थी। मुसोलिनी के शासनसत्ता हथियाने पर अनेक बुद्धिवादियों की सहायता द्वारा इस अबुद्धिवादी दर्शन की व्याख्या के प्रयत्न किये गये। ऐल्फ्रेडो राको (Alfredo Rocco) तथा जेण्टाइल (Gentile) दोनों ने मिलकर मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिस्ट विचारधारा के दर्शन का विवेचन किया। फासिज्म के आधारभूत विचारात्मक मन्तव्यों को हम नीचे लिखे प्रकार से रख सकते है।

फासिज्म द्वारा व्यक्तिवाद तथा प्रजातन्त्रवाद का विरोध—व्यक्तिवाद तथा प्रजातन्त्रवाद राज्य के जिस रूप की व्याख्या करते है, फासिस्ट दार्शनिक उसमें यकीन नहीं करते। व्यक्तिवादी दर्शन राज्य को साधन रूप में स्वीकार करता हुआ व्यक्ति को साध्य मानता है। राज्य का मकसद समाज के सदस्य-व्यक्तियों-का कल्याण है। वह अधिक से अधिक व्यक्तियों के अधिक से अधिक कल्याण के लिए मौजूद है। परन्तु फासिज्म व्यक्तियों के जीवन का यथार्थ मूल्य राज्य या राष्ट्र की सेवा में समझता है उनका कथन है कि समाज या राष्ट्र ही पूर्ण है, वह व्यक्तित्व सम्पन्न है, और वह साध्य है। **व्यक्ति साधन स्वरूप है। राको का कथन है कि "समाज साध्य है, व्यक्ति साधन और राज्य का सम्पूर्ण जीवन व्यक्तियों को साधन रूप में इस्तेमाल करने में निहित है।"**[1] हीगल के आदर्शवाद में यकीन करते हुए फासिस्ट कहते है कि मनुष्य के वास्तविक व्यक्तित्व का विकास एक बड़ी इकाई जैसे राज्य इत्यादि में अपने आपको मिटा देने में होता है। उसकी स्वतन्त्रता का असली मूल्य अपनी इच्छाओं के अनुसरण करने में नही। व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति राज्य के इस आधारभूत सिद्धान्त में हो जाती है कि **"सभी (व्यक्ति) राज्य के भीतर हैं, राज्य के बाहर कोई नहीं, और राज्य के विरुद्ध कोई नहीं।"**[2]

फासिस्ट विचारक व्यक्ति की महत्ता से इनकार करते है और यही कारण है कि वे उसे शासनतन्त्र में किसी भी प्रकार का भाग देने के हक में नहीं। जनतन्त्र सर्वथा झूठी धारणाओं पर आधारित है। जनतन्त्र का आधार स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व भावना की धारणाएँ है, परन्तु ये धारणाएँ तो अर्थहीन है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता तो वही है जो राज्य निश्चय करे। समाज में सभी की समानता असम्भव है। प्रकृति से सभी विभिन्न प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों से युक्त होते हैं। राज्य-शासन तो कुछ विशेष शासकों का कार्य है, सभी लोगों का नहीं। जन-साधारण के पास न तो इतनी बुद्धि है और न इतना अवसर कि वे सभी

---

1 "Society is the end, individual the means, and its whole life consists in using individuals as instruments for its ends."
—*Rocco.*

2 "All within the state, none outside the state, none against the state." —*Mussolini.*

प्रकार के राजनीतिक मामलों को समझ सकें । फासिस्ट जन-सम्मत प्रभु-सत्ता (Popular soverenity) के सिद्धान्त में यकीन नहीं करते न ही वह सामान्य इच्छा (General will) के सिद्धान्त को मानते हैं। किसी भी विषय पर जनमत संग्रह करा जनता की सामान्य इच्छा को जान लेना सर्वथा अव्यावहारिक है। मतदाताओं का अपना कोई मत नहीं होता, वे तो विभिन्न राजनीतिक दलों के हाथ में खेलते हैं। प्रजातन्त्र राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध होता है, वह जन-साधारण में फूट डाल देता है । लोगों में गरीब तथा अमीर के भेद भाव को पैदा कर वर्ग संघर्ष (Class-struggle) की भावना को उत्पन्न कर देता है ।

फासिस्ट विचारकों का कथन है कि राज्य एक नैतिक इकाई (Moral unit) है । उसकी नैतिक तथा आध्यात्मिक पवित्रता को कायम रखने के लिए राज्यशक्ति कुछ एक विशेष व्यक्तियों के हाथ में रहनी चाहिए । ये कुछ विशेष व्यक्ति जन-साधारण की आवश्यकताओं को समझ सकते हैं । जन-साधारण की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होने के कारण उन्हें राज-काज चलाने का उत्तरदायित्व सौंपना चाहिए । प्लेटो के शासकों (Rulers) की तरह ये वर्ग समाज में एक विशेष महत्ता रखता है ।

फासिस्ट अबुद्धिवादी हैं । वे विभिन्न राजनीतिक समस्याओं के सुलझाव में तर्कपूर्ण विवेचन को विशेष महत्ता नहीं देते । यही कारण है कि उनका सांसद शासन व्यवस्था में यकीन नहीं । विचार-विमर्श तथा बहस द्वारा किसी भी राजनीतिक समस्या को हल नहीं किया जा सकता । राजनीतिक सत्ता का संगठन वैयक्तिक आधार पर होना चाहिए, संस्थात्मक आधार पर नहीं । दूसरे शब्दों में वैयक्तिक प्रतिभा तथा अन्तः प्रेरणा पर यकीन करते हुए राज्य शासन का संचालन कुछ एक विशेष व्यक्तियों के हाथ में सौंप देना चाहिए । फासिज्म कुलीन वर्ग के शासन को ही श्रेष्ठ शासन व्यवस्था समझता है ।

यह कहना भी गलत है कि सभी व्यक्ति एक समान हैं, प्रजातन्त्र का समानता का सिद्धान्त भ्रान्त धारणा पर आधारित है । वह समाज में यान्त्रिक एकता को स्थापित करने का प्रयत्न करता है । फासिज्म बालिग मताधिकार का भी विरोधी है। वह उपयुक्ततम की अवस्थिति (Survival of the fittest) के नियम में यकीन करता है । **जीवन संघर्ष में केवल शक्तिशाली व्यक्ति ही बच रहते हैं** । फासिज्म जातीय उच्चता (Racial superiority) के सिद्धान्त में भी यकीन करता है ।

फासिज्म द्वारा समाजवाद का विरोध—मार्क्स द्वारा स्थापित इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या तथा वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को फासिस्ट लोग बिल्कुल नहीं मानते । उनका कथन है कि सामाजिक परिवर्तन में आध्यात्मिक तथा नैतिक तत्त्वों का भी महत्वपूर्ण स्थान है । राज्य में मौजूद विभिन्न वर्ग पारस्परिक सहयोग के लिए हैं, संघर्ष के लिए नहीं । दोनों राज्य के अभिन्न तथा अटूट भाग हैं । दोनों के सहयोग से ही समाज का कल्याण सम्भव है । वस्तुतः फासिस्ट विचारकों के अनुसार दोनों वर्गों में संघर्ष पैदा ही नहीं होता, यह संघर्ष भावना तो साम्यवादियों तथा पूँजीवादियों द्वारा पैदा की गयी है । फासिस्ट विचारक वैयक्ति सम्पत्ति व्यवस्था के विरोधी नहीं,

वे इसे नैतिक मानते हैं, और ये स्वीकार करते हैं कि इसी द्वारा राज्य के अन्तर्गत उत्पादन की वृद्धि हो सकती है। परन्तु वे पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता के पक्ष में भी नहीं हैं राष्ट्रीय हित को सामने रखते हुए राज्य उत्पादन का नियन्त्रण तथा नियमन कर सकता है।

राष्ट्र की नैतिक उच्चता तथा उसकी सर्वशक्तिमत्ता—फासिस्ट विचारकों ने राज्य, राष्ट्र तथा समाज का एकीकरण कर दिया है। नैतिक दृष्टि से राज्य व्यक्ति के जीवन का चरम लक्ष्य है। व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण विशेषताओं को अपनी सभ्यता तथा संस्कृति को, आर्थिक तथा राजनीतिक संस्थाओं को राज्य से हासिल करता है। राष्ट्र अपने आप में साध्य है, साधन नहीं। यही कारण है कि फासिस्ट व्यक्ति को साधन रूप स्वीकार करते हुए राष्ट्र हित के लिए उसके सम्पूर्ण हितों के बलिदान कर देने के हक में है। राष्ट्रीय राज्य (Nation-state) एक सामान्य संगठन नहीं, उसका अपना व्यक्तित्व है और अपनी इच्छा है वह केवल व्यक्तियों का समुदाय मात्र ही नही है, जैसा कि व्यक्तिवादी यकीन करते हैं। फासिस्ट विचारकों के अनुसार **"राज्य मौजूदा पीढ़ी के सम्पूर्ण व्यक्तियों का केवल समह मात्र ही नहीं है, अपितु उसका अपना एक व्यक्तित्व है जिसका अस्तित्व भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों पर आधारित है।"**[1] फासिस्ट राज्य के सावयव (organic) सिद्धान्त में यकीन करते हैं। जिस प्रकार प्राणी शरीर में हाथ, पैर, मुख इत्यादि केवल मात्र सम्पूर्ण शरीर के लिए मौजूद होते हैं, वैसे ही व्यक्ति भी सम्पूर्ण समाज के लिए जीवित रहता है। राष्ट्र से पृथक इसका कोई जीवन नहीं, कोई हित नहीं, कोई स्वार्थ नहीं।

ऐसी स्थिति में राज्य को व्यक्ति के जीवन के सभी पक्षों के नियन्त्रण का अधिकार है। राज्य अपने कर्त्तव्यपालन के निमित किसी व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय के प्रति जिम्मेवारी नहीं। वह जो चाहे कर सकता है, जो कुछ करता है वह सर्वथा उचित है। राज्य के कार्यक्षेत्र को किसी प्रकार भी सीमित नहीं किया जा सकता, वह सर्वव्यापी और सर्व शक्ति सम्पन्न है। व्यक्ति के अधिकारों का उदय राज्य में ही होता है। अतः कोई भी व्यक्ति राज्य के विरुद्ध अपने अधिकार नहीं रख सकता।

फासिस्ट राज्य अपरिमित तथा अबाधशक्ति सम्पन्न राज्य था, उसको सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के नियन्त्रण का अधिकार था।

फासिस्ट राज्य का आर्थिक संगठन—हम ऊपर ही संकेत कर आए हैं कि फासिज्म का आर्थिक सिद्धान्त व्यक्तिवाद तथा समाजवाद दोनों से भिन्न है। उन्होंने कुछ तथ्यों के आधार पर जहाँ पूँजीवाद का विरोध किया है, वहाँ दूसरी ओर अन्य तत्त्वों के आधार पर समाजवाद का भी। उनका कथन है कि प्रत्येक आर्थिक प्रश्न का

---

1 "The state is more than the sum of its individuals of one generation, it has an actual entity of its own, a transcendental existence deriving from the past, from the present and the future."

निपटारा राष्ट्रीय उपयोगिता को सामने रखकर किया जाना चाहिए। राष्ट्र में राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियों का बराबर सहयोग होना चाहिए। इसी मकसद को सामने रखते हुए एक ओर तो उन्होंने सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार का समर्थन किया और दूसरी ओर पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता का विरोध किया है। फासिस्ट पूँजीवाद को एक गिरती हुई अर्थ व्यवस्था मानते हैं, वे पूँजीवाद विषयक समाजवादी आलोचना से सहमत हैं। परन्तु वह व्यक्तिगत सम्पत्ति की समाप्ति और उसके स्थान पर अर्थतन्त्र पर पूर्ण राष्ट्रीय नियन्त्रण की नीति को स्वीकार नहीं करते। वैयक्तिक सम्पत्ति व्यवस्था का फासिज्म समर्थक है, क्योंकि उसमे उत्पादन कार्य को बहुत बढ़ावा मिलता है। वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार प्राकृतिक भी माना गया है, वह पारिवारिक संगठन तथा शक्ति का स्रोत है। परन्तु राष्ट्रीय हित को दृष्टि में रखते हुए राज्य वैयक्तिक सम्पत्ति का नियन्त्रित कर सकता है। राष्ट्रोपयोगी व्यवसायों को फासिस्ट राष्ट्रों ने सभी जगह अपने नियन्त्रण में ले लिया था। पूँजीपतियों के लिए भी यह आवश्यक था कि वे अपने कार्य संचालन में मजदूरों का सहयोग प्राप्त करें। अनेक महत्त्वपूर्ण आर्थिक मसलों का फैसला पूँजीपति तथा मजदूरों के सिण्डिकेट मिलकर करते थे। उत्पादन के क्षेत्र में फासिज्म पूँजीपतियों तथा मजदूरों के सक्रिय सहयोग (Active co-operation) में यकीन करता है, परन्तु यह नहीं मानता कि मजदूरों को मिलों के नियन्त्रण का अधिकार है। वह मजदूरों के संगठनों का भी नियन्त्रण करता है और उन्हें हड़ताल करने का अधिकार नहीं देता। मजदूरों का मुख्य कर्त्तव्य है—राष्ट्रीय उत्पादन में पूँजीपतियों का सहयोग करना। पूँजीपतियों को भी अपने उद्योगों को मनमाने ढंग से चलाने का अधिकार नहीं। जिस प्रकार मजदूरो को हड़ताल करने का अधिकार नहीं ठीक वैसे ही पूँजीपतियों को भी मिलों की तालाबन्दी का अधिकार नहीं फासिज्म राष्ट्र हित में पूँजी तथा श्रम दोनों के नियन्त्रण के पक्ष में है, इस प्रकार फासिज्म पूजीवाद तथा समाजवाद दोनों के बीच की चीज है।

राज्य का निगमात्मक रूप—(The Corporative State) फासिस्ट विचारकों ने राज्य के निगमात्मक रूप पर काफी गहराई से विचार किया है। उनका कथन है कि राज्य का आधार वैयक्तिक नहीं, जैसा कि व्यक्तिवादी मानते हैं प्रत्येक राज्य में अनेक समुदाय होते हैं और राज्य के नागरिक इन्हीं समुदायों के सदस्य होते हैं। व्यक्ति कभी भी स्वतन्त्र स्वयं पूर्ण तथा अकेला नहीं होता। उनका संगठन अनेक आर्थिक, औद्योगिक तथा सांस्कृतिक समुदायों में हुआ होता है। यही समुदाय राज्य के आधार हैं। प्रत्येक राज्य का आधार ये निगम (Corporations) होने चाहिए जो कि सामजिक जीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हैं। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से ऐसा लगता है कि फासिस्ट बहुसमुदायवाद (Pluralism) तथा सिण्डिकलिज्म के समर्थक हैं और ऐसा समझते हैं कि राज्य का संगठन निगमात्मक (Corporative) आधार पर होना चाहिए। परन्तु ऐसा सोचना गलत है। यह ठीक है कि फासिस्ट विचारक विभिन्न समुदायों को राज्य के जीवन का एक स्वाभविक भाग समझते हैं, तथापि उन्हें स्वायत्त शासन (Autonomy) का अधिकार नहीं सौंपते।

सभी निगम राज्य द्वारा नियन्त्रित किये जायेंगे, क्योंकि राज्य अपने संगठन में सावयव (Organic) है, निगम इसके हिस्से हैं। परन्तु स्वतन्त्र हिस्से नहीं, वे अपने जीवन के लिए राज्य पर आश्रित हैं। अत. राज्य को उनके नियन्त्रण तथा नियमन का पूरा अधिकार है। निगमों का संगठन स्थानीय, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय आधार पर होगा। व्यावसायिक समुदायों का भी ऐसा ही संगठन होगा। इनके कार्यों का नियन्त्रण राज्य करेगा उनके अधिकारियों का चुनाव नहीं होगा, बल्कि राज्य द्वारा नियुक्त किये जायेंगे। इनकी सदस्यता पर भी कुछ पाबन्दियाँ हैं, सभी इनके सदस्य नही हो सकते। ये समुदाय फासिस्ट राज्य के संगठन के मूलभूत आधार हैं, और राज्य की नीति के पालन तथा अनुसरण करवाने के प्रमुख साधन हैं। इनका मुख्य कर्त्तव्य पारस्परिक संघर्ष नहीं अपितु आपसी सहयोग है। इन्हें राज्य में मौजूद मिल-मालिकों तथा मजदूरों दोनों के बीच कड़ी का काम करना होता है और उत्पादन में राज्य की नीति का पालन करवाना होता है जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं। इन निगमों की कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं वे राज्य द्वारा ही संगठित किये जाते हैं उसी द्वारा भंग किये जाते हैं और उसी के नियन्त्रण में कार्य करते हैं।

फासिज्म अन्तर्राष्ट्रीयता तथा शान्तिवाद का विरोधी है—हीगल तथा नीत्शे का अनुसरण करते हुए फासिस्ट राज्य को अपने आप में पूर्ण मानते हैं, वे अन्तर्राष्ट्रीयता में यकीन नही करते। राज्य एक जीवित प्राणी की तरह वृद्धि को प्राप्त करता है, अतः साम्राज्यवाद राज्यों का स्वाभाविक उद्देश्य है। एक राज्य का दूसरे राज्यों के प्रति कोई विशेष कर्त्तव्य नही। इसका उद्देश्य अपने आपका विकास तथा विस्तार करना है, राज्य से बाहर या परे कुछ नही। अन्तर्राष्ट्रीय नियम व्यर्थ हैं, उनका कोई आधार नही। हिटलर तथा मुसोलिनी दोनों ही अपने देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए उपनिवेश मांगते थे, दोनो का दृष्टिकोण साम्राज्यवादी था। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रों में कभी समानता नही हो सकती, क्योंकि आर्य जाति के लोग ही संसार पर शासन करने के अधिकारी हैं। जर्मन जाति संसार पर शासन करने के लिए उत्पन्न हुई है क्योंकि वह आर्य है।

यही कारण है कि फासिज्म सैनिकवाद तथा युद्ध में यकीन करता है, युद्ध राष्ट्रों के लिये उसी प्रकार आवश्यक है जैसे स्त्रियों के लिये मातृत्व। ऊँचे मानवीय गुणों के विकास के लिये युद्ध लाजमी है। शान्ति की बातें करना तो मूर्खता है, युद्ध द्वारा ही राष्ट्रों का विकास सम्भव है। प्रत्येक संगठन का आधार शक्ति है। राज्य को अधिक से अधिक शक्ति का सगठन करना चाहिए। शक्ति के संगठन द्वारा ही राज्य उच्चता को प्राप्त कर सकता है। शक्ति का संगठन केवल मात्र अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ही नहीं होना चाहिए। राज्य आन्तरिक संगठन के लिए अधिक से अधिक शक्ति का प्रयोग कर सकता है। जो व्यक्ति शक्ति प्रयोग करने में असमर्थ है उसे राज्य के सबसे ऊँचे पद पर आसीन होने का कोई अधिकार नही। राज्य में विरोधियों का दमन किया जाना चाहिए, विचार-विमर्श या वाद-विवाद द्वारा उन्हें अपनी ओर नहीं मिलाया जा सकता। इस प्रकार फासिज्म युद्ध का तथा बल प्रयोग का खुल्लमखुला

समर्थन तथा प्रचार करता है । अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति ढकोसला मात्र ही है। **युद्ध ही से मनुष्य का विकास होता है, शान्ति तो उसे कबरिस्तान में ही मिल सकती है, जीवन सम्पन्न मानव समाज में नहीं । संघर्ष जीवन का लक्षण है, शान्ति मृत्यु का।**

अन्धश्रद्धावाद तथा एकतन्त्रवाद—फासिज्म अबुद्धिवाद में यकीन करता है । उसका आधार श्रद्धावाद है, अन्धश्रद्धवाद कहना अधिक ठीक होगा । तर्क, वाद-विवाद इत्यादि किसी प्रकार भी राष्ट्रीय समस्याओं के सुलझाव में सहायक नहीं हो सकते । राज्यों का भाग्य-निपटारा एक या दो व्यक्ति ही कर सकते है, बहुमत या प्रजातन्त्रात्मक संसद नहीं, क्योंकि नेता अन्तः प्रेरणा से काम करते हैं । जन सामान्य पशुओं की तरह बिना सोचे समझे एक दूसरे के पीछे चलते हैं । नेता में या अधिनायक में लोगों को पूर्ण विश्वास होना चाहिए । फासिज्म एक प्रकार के धार्मिक विश्वास को उत्पन्न करना चाहता है । जैसा कि जार्ज काटलिन ने कहा है **"फासिज्म एक प्रकार का नया धर्म था, तलवार में यकीन करने वाला राजनीतिक धर्म, एक प्रकार का नया इस्लाम, जिसमें हिटलर स्वयं मुहम्मद था ।"**[1] नेता को सदा ही ठीक समझा जाता है । मुसोलिनी के लिए उसके देशवासी कहते थे कि 'मुसोलिनी हमेशा ठीक सोचता है और ठीक करता है' । **श्रद्धावाद पर बल देते हुए हिटलर ने कहा था कि हम रोमन कैथोलिक चर्च से (इस विषय में) बहुत कुछ सीख सकते हैं ।**

उसके सहायक गोयरिंग (Goering) ने इसी अन्धविश्वास को इस प्रकार प्रकट किया है **"हम नाजी यकीन करते हैं कि राजनीतिक मामलों में हिटलर कभी गलती नहीं कर सकता, ठीक इसी तरह जिस प्रकार रोमन कैथोलिक यह यकीन करता है कि धार्मिक मामलों में पोप कभी गलती नहीं कर सकता ।"**[2] हिटलर प्लेटो के दार्शनिक शासक (Philosopher king) की तरह एक पूर्ण शासक मान लिया जाता है । उसके आदेशों का पालन धार्मिक कर्तव्य से भी ऊँचा है । वह देश सेवा के परम पुनीत तथा उच्च नैतिक उद्देश्य से प्रेरित होता है, वही जनता का सच्चा पथ प्रदर्शन कर सकता है । फासिज्म एक ऐसे एकतन्त्रवाद का समर्थन करता है जो सरसरी तौर पर तो एक राजनैतिक दल का एकतन्त्रवाद दिखता है, परन्तु अच्छी तरह देखने पर एक पार्टी के कुछ व्यक्तियों का और अन्ततः एक व्यक्ति का अधिनायकतन्त्र होता है । यह अधिनायक सम्पूर्ण राजकीय शक्ति का अन्तिम स्रोत है । अपने कार्य संचालन में उसका सहयोग एक विशेष प्रकार का कुलीन वर्ग करता है जो उसी की रचना होता है ।

फासिज्म के उद्देश्य प्राप्ति के साधन—फासिज्म लोकतन्त्र में यकीन नहीं करता, विचार विमर्श तथा वाद-विवाद द्वारा मत परिवर्तन सम्भव नहीं, वैधानिक

1 "He has accomplished this as a leader of a movement, which .....was a new religion, a political religion of sword, a new Islam with himself as its Mohammad." —*George Catline.*

2 "We Nazies believe that, in political affairs, Adolf Hitler is infallible, just as the Roman Catholic believes that in religions matters, the Pope is infallible." —*Goering.*

साधनो का अपनाना व्यर्थ है । अतः फासिज्म खुल्लमखुला बल प्रयोग का प्रचार करता है, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निधड़क शक्ति प्रयोग किया जा सकता है । सरकार का कार्य जनता में भय तथा आतंक उत्पन्न करना है । जनता यदि राज्य को चाहती नहीं तो उससे डरती अवश्य हो । इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए फासिज्म हर तरह के शक्ति प्रयोग के साधनों की खुली छुट्टी देता है । संक्षेप में फासिज्म अच्छे तथा उच्च उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उच्च साधनों के प्रयोग में यकीन नहीं करता। सफलता ही साधनों की उच्चता को सिद्ध करती है ।

फासिज्म जनता की भावात्मक प्रक्रिया का बड़ा सुन्दर प्रयोग करता है। प्रोपेगण्डा या प्रचार के साधनों द्वारा फासिस्ट जनता को गुमराह करते हैं, उनके विचारों का पूर्ण नियन्त्रण करते हैं । फासिज्म प्रचार के साधनों द्वारा बड़े से बड़े झूठ को भी सत्य सिद्ध करने की कोशिश करता है ।

फासिज्म शिक्षा साहित्य तथा अन्य प्रकार के सांस्कृतिक साधनों का नियन्त्रण करता है और बचपन में ही बच्चों में फासिस्ट विचारों के भरने का प्रयत्न करता हो।

फासिज्म से अन्य पक्ष—फासिज्म तो एक व्यावहारिक दर्शन है, वह विचारात्मकता पर अधिक बल नही देता । प्रजातन्त्र की स्वतन्त्रता, समता तथा भ्रातृत्व की धारणा के स्थान पर वह व्यवस्था, अनुशासन तथा श्रद्धा को रखता है । राष्ट्र की आन्तरिक नीति के अनुसरण में वह मध्यवित्त वर्ग का प्रबल समर्थक है और मजदूर वर्ग का दुश्मन । समाजवाद, साम्यवाद तथा प्रजातन्त्रवाद इत्यादि सभी उदार तथा प्रगतिशील आन्दोलनों का विरोधी है, और बल प्रयोग में यकीन करता हुआ विरोधी दलों को कुचलना कोई बुरा नहीं समझता । फासिस्ट देशों के अन्तर्गत अधिनायकतन्त्र (Dictatership) की आलोचना का अर्थ है कैद या मृत्यु दण्ड ।

जर्मनी में हिटलर ने जन-सामान्य को गुमराह करने के लिए एक नयी भ्रान्ति का विकास किया था, वह भ्रान्ति थी—जर्मन राष्ट्र की जातीय उच्चता । (Racial superiority of the Germany) हिटलर ने बार-बार ये बात कही कि जर्मन जाति विश्व के शासन के लिए उत्पन्न हुई है, वह स्वभावतः उच्च है, उसका उद्देश्य विश्व में आर्य संस्कृति का प्रचार है । जर्मनी में यहूदियों के प्रति अत्यन्त उग्र जातीय विद्वेष फैलाया गया और उन पर अनेक अमानवीय अत्याचार किये गए ।

फासिज्म ने इटली तथा जर्मनी दोनों में ही पर्याप्त सफलता प्राप्त की और दोनों देशों में उसी द्वारा पर्याप्त आर्थिक तथा औद्योगिक उन्नति सम्भव हो सकी । परन्तु फासिस्ट शासन प्रणाली तथा उसका दर्शन कितना खतरनाक सिद्ध हुआ, इस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे ।

१७६. कम्युनिज्म तथा फासिज्म

कम्युनिज्म तथा फासिज्म में अनेक बार तुलना की जाती है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि दोनों में पर्याप्त समानतायें हैं । सरसरी तौर से

देखने पर हमें दोनों में निःसन्देह पर्याप्त समानताएँ नजर आयेंगी ।

फासिज्म तथा कम्युनिज्म दोनों ही प्रजातन्त्र, व्यक्तिवाद तथा संसदीय शासन व्यवस्था के विरोधी हैं । दोनों ही राज्य के अन्तर्गत एक पार्टी व्यवस्था के समर्थक हैं और अन्य राजनीतिक पार्टियों का दमन करते हैं । फासिस्ट देश भी भाषण की स्वतन्त्रता, प्रेस तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता के प्रबल विरोधी हैं, ठीक वैसे ही कम्युनिस्ट देश भी राजनीतिक स्वतन्त्रता को अच्छा नहीं समझते ।

कम्युनिज्म अहिंसक तथा वैधानिक साधनों में यकीन नहीं करता, वह सामाजिक जीवन के संगठन के लिए पूँजीवाद को खत्म करने के लिए और मजदूर वर्ग के हित की रक्षा के लिए शक्ति के इस्तेमाल का समर्थन करता है । फासिज्म भी शक्ति पर आधारित है । दोनों ही अधिनायक तन्त्र में यकीन करते हैं और अधिनायक को अबाध शक्ति सम्पन्न बना देते हैं । देखने में तो यह अधिनायकतन्त्र एक पार्टी का अधिनायकतन्त्र होता है, परन्तु वास्तव में वह कुछ व्यक्तियों का और अन्ततः एक व्यक्ति का अधिनायकतन्त्र होता है । फासिस्ट तथा कम्युनिस्ट दोनों प्रकार के राज्यों में पार्टी-संगठन का एक ही आधार है, दोनों में पार्टी के सदस्यों से बहुत त्याग और आत्मसंयम की आशा की जाती है । फासिस्ट तथा कम्युनिस्ट राज्यों के अन्तर्गत सैनिकवाद का प्रचार बढ़ता है, गुप्तचरों तथा गुप्त पुलीस की व्यवस्था रहती है । दोनों ही प्रकार के देशों में आतंक का राज्य होता है । जनता के मन में विविध साधनों द्वारा भय को बढ़ाया जाता है । दोनों के अन्तर्गत राज्य अपार शक्ति सम्पन्न होता है, और सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का नियन्त्रण करता है । दोनों के अन्तर्गत शिक्षा इत्यादि विचार-प्रसारण के साधनों का सरकार कड़ा नियन्त्रण करती है और उन द्वारा आबाल-वृद्धों के विचारों को बनाती है । फासिस्ट तथा कम्युनिस्ट विचारधारायें संघर्ष में विश्वास करती हैं—एक राष्ट्रीय संघर्ष में दूसरा वर्ग संघर्ष में ।

अन्तर—इन सामान्यताओं के बावजूद भी दोनों में आधारभूत भेद हैं जैसा कि हम पीछे कह आये हैं कम्युनिस्ट विचारधारा परिपक्व विचारधारा है, उसका आधार तर्क तथा बुद्धिवाद है । उसका विकास अनेक वर्षों के विचार-विमर्श के अनन्तर हुआ । परन्तु फासिस्ट विचारधारा का निर्माण उसके व्यावहारिक रूप को उचित ठहराने के लिये हुआ ।

फासिज्म तथा कम्युनिज्म के उद्देश्यों में आधारभूत अन्तर है । कम्युनिज्म का मकसद एक वर्ग-विहीन तथा राज्य-विहीन समाज का निर्माण है, उसका उद्देश्य वर्त्तमान समाज में मौजूद मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की व्यवस्था को खत्म करना है । ऐसे समाज में पूँजीपतियों, जमीन्दारों तथा अन्य प्रकार के शोषकों का कोई स्थान नहीं होगा ।

परन्तु फासिज्म वर्गवाद में यकीन नहीं करता, न ही वह राज्य-विहीन समाज की स्थापना को ही सम्भव मानता है । वह राज्य को ही अन्तिम वस्तु समझता है । उसके मतानुसार राज्य तो स्वयं साध्य है, वह किसी उद्देश्य की प्राप्ति में साधन नहीं ।

फासिज्म पूँजीवाद की समाप्ति के हक मे नहीं । वस्तुतः वह पूजीवाद का पोषक है । वह वर्ग-विभेद को खत्म नहीं करना चाहता, बल्कि उसे बनाये रखना चाहता है ।

कम्युनिज्म अन्तर्राष्ट्रीयता में यकीन करता है, वह सभी जातियों तथा राष्ट्रों की समानता को स्वीकार करता है। वह उपनिवेशवाद (Colonialism) का विरोधी है और साम्राज्यवाद को समाप्त करना चाहता है, परन्तु फासिज्म का जन्म ही शोषण व्यवस्था तथा जातीय असमानता को बनाये रखने के लिये हुआ । फासिज्म का उद्देश्य उपनिवेशवाद तथा साम्रज्यवाद की स्थापना है, वह राष्ट्र की समानता के सिद्धान्त को भी नहीं मानता ।

कम्युनिज्म द्वारा समर्थित अधिनायकतन्त्र तो अन्तरिमकाल के लिए है, वह तो वर्ग-विहीन, राज्य-विहीन समाज की स्थापना के लिए एक पड़ाव मात्र है । उसका अन्तिम उद्देश्य एक शोषण-विहीन समाज की स्थापना है । कम्युनिज्म राज्य को अपने उद्देश्य की प्राप्ति का एक साधन मात्र समझता है, वह स्वयं साध्य नहीं । न ही कम्युनिज्म राज्य को दैवीय गुण सम्पन्न कोई आध्यात्मिक तथा नैतिक ईकाई मानता है । फासिस्टक अधिनायतन्त्र मजदूर वर्ग का अधिनायक तंत्र नहीं, न ही मजदूर वर्ग का समर्थक है । वह तो पूजीवादी वर्ग का पोषक है । फासिस्ट राज्य को बहुत उच्च स्थान देते हैं, फासिज्म बहुत संकुचित राष्ट्रवाद पर आधारित है ।

कम्युनिज्म वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त में भले ही यकीन करता हो परन्तु वह न तो युद्धवाद का ही समर्थक है और न अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का । वर्ग संघर्ष भी तभी तक है जब तक कि पूजीवाद है । पूंजीवाद की समाप्ति के अनन्तर वर्ग संघर्ष खत्म हो जाता है, दर असल तो कम्युनिज्म का मकसद स्थायी शान्ति की स्थापना है । फासिज्म युद्धों को अनिवार्य मानता है ।

कम्युनिज्म धर्म तथा ईश्वर में विश्वास नही करता । वह समझता है धर्म के आधार पर तथा ईश्वर के नाम से गरीब जनता का शोषण किया जाता है । धर्म जन-साधारण में अज्ञान और उसके फलस्वरूप विवशता की भावना को भर देता है । वह धर्म को राज्य में विशेष स्थान नहीं देता, वह उसका उन्मूलन चाहता है । परन्तु फासिज्म धर्म तथा राजनीति का मेल करता है । कम्युनिज्म वास्तविक प्रजातन्त्र तथा वास्तविक स्वतन्त्रता का समर्थक है । वह मानव मात्र की बराबरी में यकीन करता हुआ, सभी को आर्थिक स्वतन्त्रता की गारण्टी देना चाहता है । वह असली प्रजातन्त्र का विरोधी नहीं यद्यपि वह पूजीवादी प्रजातन्त्र व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता । १९३५ के अनन्तर स्टालिन विधान के अधीन सोवियत रूस में एक प्रजातन्त्र शासन प्रणाली की स्थापना की गयी थी ।

कम्युनिज्म मानवीय मूल्यों का त्याग नही करता, वह राज्य को मानवता से उच्च नहीं समझता, वह मानवता को सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोच्च समझता है । राज्य तो एक साधन मात्र है । फासिज्म मानवता में यकीन ही नहीं करता, वह राष्ट्रीय हितों के लिए मानवता तथा उससे सम्बन्धित सभी मूल्यों की बलि दे देता है ।

१८०. आलोचना

फासिज्म का जन्म निराशा की परिस्थितियों में हुआ, उसका मकसद बदला लेने की भावना था। जर्मनी तथा इटली में उसने भले ही पर्याप्त औद्योगिक तथा आर्थिक उन्नति को प्राप्त किया हो, परन्तु उसका आधार स्वस्थ तथा सबल भावनायें नही थीं। उसके दर्शन में आत्म-विरोध है, उसमें गहराई का अभाव है और अस्पष्टता है। यही नहीं फासिज्म उन सभी मानवीय मूल्यों को स्वीकार करने से इनकार करता है। जिनकी प्राप्ति के लिए आज तक मानव समाज लड़ता चला आया है। वह प्रजातन्त्र का शत्रु है, स्वतन्त्रता पर यकीन नहीं करता, व्यक्ति को कोई महत्व नहीं देता, उसे केवल साधन मात्र मानता है, युद्ध को मानवीय जीवन का लाजमी भाग मानता है, शान्ति को कायरों का स्वप्न समझता है, मानवीय एकता को गप्प मात्र और अन्तर्राष्ट्रीयता को बकवास मात्र। द्वितिय युद्ध के भले ही अन्य कारण भी हो, परन्तु उसका सर्वप्रमुख कारण फासिज्म था। फिर युद्ध के दौरान में फासिस्टों ने जिस बर्बरता, निरीहता तथा पशुता का परिचय दिया उसके फल-स्वरूप वह मानव मात्र का शत्रु ही बन गया। युद्ध में फासिज्म की हार हुई, परन्तु फासिस्ट विचारधारा अभी खत्म नहीं हो पायी। अनेक अन्य प्रजातन्त्रवादी देशों में भी असहिष्णुता इत्यादि फासिस्ट प्रवृत्तियों का जन्म हो रहा है। मानवीय कल्याण के लिए इन प्रवृत्तियों का त्याग आवश्यक है।

फासिज्म अधिनायकतन्त्र का समर्थक है और प्रजातन्त्र का विरोधी है। प्रजातन्त्र के विरोध में पेश की गयी फासिज्म की सभी दलीलें निराधार है। एकतन्त्रवाद के दोषों पर हम पीछे विचार कर चुके है और देख चुके है कि स्वशासन प्रणाली (Self Govt.) के सामने अन्य कोई भी शासन व्यवस्था नही टिक सकती। अधिनायक तन्त्र व्यर्थ में निरंकुशता तथा आंतक का प्रसार करता है। फासिज्म की अबुद्धिवादिता गलत धारणाओं पर आधारित है। कोई भी नेता पूरी तरह से ठीक नही हो सकता, त्रुटियाँ स्वाभाविक है। इस प्रकार का धार्मिक कट्टरपन तर्क के विरुद्ध है। मनुष्य तर्क तथा विवेक से भी काम लेता है और शासन-संचालन में ऐसा होना ही चाहिए, वहाँ श्रद्धावाद से काम नहीं चलता। राज्य, समाज तथा राष्ट्र का एकीकरण सर्वथा गलत है। हम पीछे ही ये देख चुके है कि यह तीनों अलग अलग है। राज्य तो समाज का एक भाग मात्र है। राज्य मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को अपने अधीन नही कर सकता। ऐसे एकीकरण का अर्थ समग्रतावादी राज्य (Totalitarian state) की स्थापना होगा, जिसमें आलोचना तथा मतभेद को राजद्रोह समझा जायगा। राज्य मनुष्य के सामाजिक जीवन की सर्वोच्च तथा सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति नहीं है। फासिज्म का जातीय उच्चता का सिद्धान्त भी सारहीन है, आज की कोई भी जाति अपने आप को विशुद्ध नहीं कह सकती। जातीय उच्चता की बात करना पागलपन है। सभी जातियों में व्यापक रूप में रक्त-मिश्रण हो चुका है।

फासिज्म शक्ति का उपासक है, वह राज्य के बाह्य तथा आन्तरिक दोनों ही क्षेत्रों में पशु शक्ति के प्रयोग का समर्थक है। शक्ति का प्रयोग राज्य में लाजमी है,

इससे इनकार नहीं किया जा सकता, परन्तु केवल मात्र शक्ति को ही राज्य का आधार मानना सर्वथा गलत है । शक्ति की उपासना का अर्थ है शारीरिक या पाशविक शक्ति की पूजा । राज्य का आधार सहमति भी है उसका एक नैतिक रुप भी है जो पशु शक्ति पर आधारित नहीं । शक्ति संचय का परिणाम यह होता है कि नागरिक सरकार के हाथ में कठपुतली मात्र बन जाते हैं, उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं रहता । नागरिकों का स्वाभाविक विकास रुक जाता है ।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शक्ति का प्रयोग युद्धों का जनक है, युद्ध मानवता के लिए अनिवार्य नहीं, उन्हीं द्वारा राष्ट्रों का विकास नहीं होता । आज के युग में युद्ध इतने संहारक बन चुके हैं कि उन्हें मानवीय विकास का कारण मानना पागलपन के अतिरिक्त कुछ नहीं । जब राष्ट्रीय क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता है तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसका ऐसा हो सकना क्यों सम्भव नहीं ?

फासिज्म साहित्य, कला तथा संस्कृति पर भी नियन्त्रण करता है और उन्हें राज्य के हाथ में केवल प्रचार का साधनमात्र बना देता है । उसका मकसद मानवता की स्वस्थ अभिव्यक्ति तथा मनुष्य चरित्र का विकास नहीं रह जाता बल्कि एक विशेष प्रकार के राजनीतिक उद्देश्य का प्रचार हो जाता है । ऐसी अवस्था में साहित्य कला तथा संस्कृति सर्वथा शक्ति-विहीन तथा निर्धन हो जाते हैं ।

फासिज्म एक प्रकार का प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त है, वह उन सभी प्रगतिशील विचारों का विरोधी है, जिनका जन्म १९वीं तथा २०वी सदी में हुआ । वह पूंजीवाद का उग्रतम तथा निकृष्टतम रूप है, वह पूजीवाद को साम्राज्यवाद के रूप में बदल देना चाहता है । साम्राज्यवाद द्वारा अविकसित तथा औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए राज्यों पर उनके आर्थिक शोषण के लिए उन पर नियन्त्रण स्थापित करने के प्रयत्न किये जाते हैं । इन सब का परिणाम युद्ध, शोषण तथा उपनिवेशवाद की स्थापना होगा ।

फासिज्म में राज्य शक्ति का केन्द्रीकरण हो जाता है । स्वशासन का अभाव रहता है, परन्तु पीछे हम देख चुके हैं कि राज्यशक्ति का केन्द्रीकरण सदा ही स्वस्थ राजनीतिक संस्थाओं के विकास के लिए घातक होता है । आज के युग की बड़ी आवश्यकता राज्य शक्तियों का विकेन्द्रीकरण तथा स्वशासन व्यवस्था का विकास है । उसी द्वारा जन-सामान्य की रचनात्मक शक्तियों का विकास होना है ।

इस प्रकार फासिज्म मानवीय हितों के लिए घातक तथा सामाजिक जीवन का विरोधी होने के कारण त्याज्य है ।

Important Questions *References*

1. What do you understand by Fascism ? State and criticise its main tenents. (*Agra 1937, 1938*)

Or

Write a short essay on Fascisim. (*Pb. 1959*)

Or

Comment on the nature of state activity under Fascism. (*Pb. 1950*)	Arts. 176, 177, 178 and 180
2. "Fascism is the antithesis of all that is democratic liberal and socialistic." Explain the above.	Arts. 176, 178 and 180.
3. Discuss fascism with special reference to the circumstances which led to its development.	Arts. 176, 177 and 178
4. Make a comparative study of fascisim and communism.	Art. 179

अध्याय २६

राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त (५)

गान्धीवाद (Gandhism)

१८१. राजनीति तथा गान्धीजी

भारतीय राजनीति में महात्मा गान्धी का विशेष महत्व रहा है । उन्होंने न केवल भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया और उसे स्वतन्त्र कराया बल्कि भारत के भविष्य के राजनीतिक संगठन के विषय में भी अपने विचार प्रगट किए। जन-साधारण महात्मा गाँधी को एक राजनीतिक नेता या महान राष्ट्र नायक के रूप में ही जानता है, वह उनके राजनीतिक विचारों से परिचित नहीं । महात्मा गान्धी के राज्य तथा समाज के संगठन सम्बन्धी इन्हीं विचारों को 'गान्धीवाद' का नाम दिया जाता है । परन्तु गान्धी जी के राजनीतिक विचार उन के व्यावहारिक राजनीतिक जीवन का ही फल है । व्यावहारिक राजनीतिक जीवन भी उन्हों ने एक आवश्यक बुराई के रूप में ही स्वीकार किया था । वह मुख्यरूप से अध्यात्म तथा धर्म प्रधान जीवन को पसन्द करते थे, परन्तु उनका यह विश्वास था कि राजनीतिक गुलामी की हालत में आध्यात्मिक उन्नति की आशा व्यर्थ है । उनके विचारों के अनुसार व्यक्ति के चारित्रिक विकास के लिए राजनीतिक स्वाधीनता की उपस्थिति जरूरी है। व्यावहारिक राजनीतिक जीवन को स्वीकार कर उन्होंने उस में अनेक सुधार करने के प्रयत्न किए और राज्य के संगठन तथा कर्तव्य के विषय में अपने विचारों को प्रकट किया । उन्होंने अरस्तू, मेकियावली या हाब्स की तरह किन्ही विशेष प्रकार के राजनीतिक सिद्धान्तों की रचना का प्रयत्न नही किया था, न ही ऐसा करना उन का मकसद था।

महात्मा गान्धी के विचारों को किसी 'वाद' की नाम देना भी गलत है। 'वाद' के अर्न्तगत बन्धी विचारधारा में कठोरता (Rigidity) तथा अप्रगतिशीलता आ जाती है, उस में प्रवाह नहीं रह पाता । परन्तु महात्मा गान्धी ने ऐसी किसी भी विचारधारा का विकास नहीं किया जिस में कि परिवर्तनशीलता का अभाव हो या जिस में कठोरता या अप्रगतिशीलता का समावेश हो सके। वह स्वयं अपने विचारों को किसी भी वाद विशेष के अर्न्तगत बान्धे जाने के विरुद्ध थे । गान्धी जी का सम्पूर्ण जीवन प्रयोगशीलता (Experimentation) तथा सत्य की खोज में बीता। सत्य का कोई भी सच्चा उपासक कभी भी अपने विचारों को अपरिवर्तनशील तथा कठोर नहीं बना सकता । वह सदा ही सीखने की कोशिश करता है, हमेशा जिज्ञासु ही रहता है । महात्मा गान्धी ने भी अपने विचारों के लिए कभी पूर्णता का दावा नहीं किया, न ही गान्धीजी ने अपने विचारों को सर्वथा मौलिक ही कहा। महात्मा

बुद्ध की तरह महात्मा गान्धी भी समन्वयवादी थे, उन्होंने भारत की विभिन्न परम्पराओं तथा विचारधाराओं में ही नहीं बल्कि पूर्वी तथा पश्चिमी विचारों के समन्वय (Synthesis) का भी प्रयत्न किया। उनके जीवन की सफलता का बड़ा रहस्य उनकी यह समन्वयवादी प्रवृत्ति ही है। भारतीय जन जीवन में सफलता प्राप्ति का इसे मूल मन्त्र ही कहा जा सकता है। यही कारण है कि हम गान्धी जी के विचारों को 'वाद' न कह 'जीवन के प्रति एक प्रकार का दृष्टिकोण' कह सकते है। परन्तु गान्धी जी के भक्त तथा अनुयायी इस स्थिति से सन्तुष्ट नहीं, वे उसे 'वाद' का रूप देना चाहते हैं। आज का 'गान्धीवाद' महात्मा जी के इन्हीं श्रद्धावान भक्तों की रचना है। 'गान्धीवाद' के विवेचकों में सर्वश्री पट्टाभि सीतारमैया, आचार्य कृपलानी, काका साहब कालेलकर और मशरूवाला विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आज की भारतीय राजनीति में महात्मा गान्धी के विचारों का व्यावहारिक प्रयोग अनेक प्रकार से हो रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पं० नेहरू की शान्ति नीति, पंचशील तथा सह-जीवन (Co-existence) के सिद्धान्तों का आधार गान्धी जी के व्यावहारिक राजनीति के सिद्धान्त ही हैं। विदेशी मामलों में भारत साम्यवाद तथा प्रजातन्त्र दोनों के प्रति उदारता का दृष्टिकोण रखता है, वह दोनों के समन्वय तथा मेल-जोल के पक्ष में है।

इधर हमारे सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में परिवर्तन लाने के लिए आचार्य विनोबाभावे तथा श्री जयप्रकाश नारायण जिन अहिंसात्मक साधनों का प्रयोग कर रहे हैं, वे भी महात्मा गान्धी की ही देन हैं। गान्धी जी सामाजिक तथा आर्थिक अन्याय के विरोधी थे, परन्तु वे इन सभी का विरोध अहिंसात्मक साधनों (Non-violent methods) द्वारा ही करना उचित समझते थे। बड़ी-से-बड़ी सामाजिक क्रान्ति के लिए भी उन्होंने 'हृदय परिवर्तन' (Change of heart) के साधन को अपनाने के लिए ही कहा, अनैतिक साधनों को नहीं। भू-दान का आन्दोलन नैतिक अधिक और आर्थिक कम है।

१८२. महात्मा गान्धी के विचारों का आधार

जैसा कि हम पीछे ही कह आये है कि गान्धी जी समन्वयवादी हैं, उन्होंने परस्पर विरोधी विचारों तथा परम्पराओं में मेल स्थापित करने का प्रयत्न किया। उनके जीवन में अध्यात्म, नैतिकता तथा धार्मिकता की प्रधानता है। इस प्रकार के उनके विचारों के निर्माण में भारतीय तथा पाश्चात्य विचारधाराओं का विशेष हाथ रहा है। गीता से गान्धी जी ने कर्मयोग का पाठ पढ़ा, गीता से ही गान्धी जी ने आत्म-संयम तथा निष्काम-कर्म के महत्व को समझा। गान्धी जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनके जीवन के निर्माण में गीता का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। गीता में भोग तथा त्याग, तप तथा कर्म के समन्वय का उपदेश दिया गया है।

घरेलू वातावरण से जिस धार्मिकता को उन्होंने सीखा था उसमें जैन धर्म द्वारा प्रस्तुत और वैष्णवाद द्वारा समर्थित अहिंसा का प्रमुख स्थान था। परन्तु गान्धी जी

की अहिंसा जैन धर्म की निष्क्रिय अहिंसा नहीं, न ही उसमें जैनियों का अतिवाद था। उसका आधार तर्क और विवेक है, साथ ही उसमें गीता के कर्मयोग का समन्वय किया गया है। गान्धी जी से पूर्व भी अहिंसा का समर्थन अनेक प्रकार से किया गया था। पातंजलि के 'योग दर्शन' में तथा जैन धर्म के अतिरिक्त बुद्ध धर्म में भी अहिंसा का प्रमुख स्थान है। परन्तु इन सभी में 'अहिंसा' को एक वैयक्तिक गुण के रूप में ही अपनाया गया था। गान्धी जी ने ही उसे सामाजिक रूप दिया। उनका कथन था कि प्रत्येक समाज तथा देश को सत्य तथा अहिंसा के सनातन नियमों को व्यावहारिक रूप में अपनाना चाहिए।

विदेशी महापुरुषों में जॉन रस्किन (John Ruskin) अमेरिकन अराजकता वादी फक्कड़ दार्शनिक डेविड थोरो (David Thoreau) तथा रूस के विचारक तथा साहित्यकार टाल्सटाय (Tolstoy) ने भी महात्मा गान्धी को विशेष प्रभावित किया। टाल्सटाय एक धार्मिक प्रवृत्ति का विचारक था, वह राज्य का विरोधी तथा अहिंसा का कट्टर समर्थक था। महात्मा गान्धी के सत्याग्रह सम्बन्धी विचारों का टाल्सटाय ने भी समर्थन किया।

१८३. महात्मा गान्धी के राजनीतिक विचार

गान्धी जी के राजनीतिक विचारों की एक बड़ी विशेषता उनकी नीति मत्ता है। गान्धी जी के उद्देश्य आध्यात्मिक तथा नैतिक थे। उन्होंने राजनीति में और आचार शास्त्र में विशेष अन्तर नहीं माना, न ही वह अध्यात्म और धर्म को ही राजनीति से पृथक समझते थे। उन्होने धर्म तथा राजनीति में आत्मा तथा शरीर के से सम्बन्धों की उपस्थिति को स्वीकार किया है। अतः सामाजिक तथा राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति धार्मिक तथा नैतिक मन्तव्यों के अनसार होनी चाहिए। परन्तु गान्धी जी के धर्म तथा अध्यात्म की परिभाषा बहुत विस्तृत है, वह सभी धर्मों के उच्च तथा श्रेष्ठ सिद्धान्तों से मिलकर बनी है। उसमें अन्धविश्वास, कट्टरता तथा संकुचितता का अभाव है। उनका धर्म विश्व धर्म है, उसका सभी अनुसरण तथा पालन कर सकते हैं। उसका आधार सत्य, अहिंसा तथा मानवता प्रेम है।

गान्धी जी के अध्यात्मवाद के वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों ही पहलू हैं। उसमें प्लेटो के न्याय भाव (Conception of justice) तथा प्राचीन हिन्दू समाज का धर्म-भाव, दोनों का समानरूप से समावेश हो जाता है। उसमें व्यक्ति के नैतिक तथा सामाजिक, दोनों प्रकार के कर्त्तव्य शामिल हैं। यही कारण है कि गान्धी जी के राजनीतिक मिशन का उद्देश्य सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का नैतिक तथा आध्यात्मिक सुधार है। राजनीतिक जीवन का ऐसा उद्देश्य निश्चय ही महान् तथा अभूतपूर्व है।

राज्य का स्वरूप तथा कर्त्तव्य—गान्धी जी का मिशन भारत की स्वतन्त्रता था, भविष्य के समाज संगठन के प्रति उन्होंने विरले ही अपने विचार प्रकट किए। राज्य की प्रकृति विषयक अपने विचारों में उन्होंने रूस के अराजकतावादी विचारक टाल्सटाय का अनुसरण किया। टाल्सटाय की तरह ही उन्होंने राज्य-संस्था

का विरोध किया । गान्धी जी के मतानुसार राज्य के कार्यों में नैतिकता का अभाव होता है । एक नैतिक कार्य वही है, जो स्वाभाविक हो तथा जिसे स्वतन्त्रता पूर्वक किया जाए । वह कार्य, जिसे व्यक्ति किसी भी दबाव में विवशता पूर्वक करता है, नैतिक नहीं कहला सकता । राज्य व्यक्ति को कुछ कार्य करने के लिए विवश करता है, अतः वह नैतिकता को प्रोत्साहित नहीं करता बल्कि उसे खत्म करता है ।

इस तरह राज्य किसी भी रूप में वांछनीय नहीं, क्योंकि उसका आधार हिंसा तथा बल प्रयोग है । यहाँ गान्धी जी के विचार अराजकतावादियों से बहुत मिलते हैं । अहिंसा तथा बलप्रयोग के आधार पर कायम होने के कारण राज्य अन्याय तथा शोषण करने वाली संस्था है । वर्तमान सभ्यता का सम्पूर्ण ढाँचा राज्य के आधार पर खड़ा है, इसी कारण वह बदल दिया जाना चाहिए। गान्धी जी राज्य के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि **"राज्य हिंसा के मूर्त तथा संगठित रूप का प्रतिनिधित्व करता है । मनुष्य में आत्मा होती है, परन्तु राज्य एक ऐसी मशीन की तरह है जिसमें आत्मा का निवास नहीं । राज्य को हिंसा से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका आधार ही हिंसा है ।"**[1] आजकल सर्वत्र राज्य के कर्त्तव्य बढ़ रहे हैं, और इन कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए राज्य को अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाया जा रहा है। गान्धी जी राज्य के शक्तिशाली रूप के कड़े विरोधी थे।

अराजकतावादियों की तरह गान्धी जी एक राज्यविहीन तथा वर्गविहीन (Classless) समाज के संगठन के पक्ष में थे । ऐसे आदर्श राज्य के चित्र का आभास उन्होंने थोड़ा-बहुत इधर-उधर अवश्य दिया है । इस आदर्श समाज के संगठन का आधार ऐच्छिक समुदाय हैं । प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्रता पूर्वक अपने आपको विभिन्न समुदायों में संगठित करेगा । प्रत्येक व्यक्ति को स्व-शासन का अधिकार होगा। गान्धी जी मनुष्य स्वभाव की उच्चता तथा उदारता में यकीन करते थे । उनका विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य सभी आवश्यक मानवीय गुणों से युक्त होता है, स्वभाव से वह अहिंसा प्रेमी तथा परोपकारी होता है। अगर ठीक-ठीक परिस्थितियों में वह रहे तो उस के चरित्र में कोई खराबी नहीं आ सकती। राज्य-शक्ति द्वारा मनुष्यों को सत्यपथ का अनुगामी नहीं बनाया जा सकता । गान्धी जी का विश्व स था कि अराजक समाज में प्रत्येक व्यक्ति पारस्परिक सहयोग द्वारा सामाजिक जीवन को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करेगा । इस आदर्श समाज में सामाजिक सहयोग प्रत्येक व्यक्ति का पुनीत कर्त्तव्य समझा जाएगा ।

गान्धी जी का आदर्श समाज अहिंसा पर आधारित ग्राम-समाज है । इस ग्राम-समाज के संगठन का आधार शारीरिक शक्ति तथा बल प्रयोग नहीं होगा । सेना, पुलिस

1. "The state represents violence in concentrated and organised form. The individual has a soul, but the state is a soulless machine, it can never be weaned from violence to which it owes its very existence." —*M. K. Gandhi.*

तथा न्यायालय इत्यादि मौजूदा राज्य के महत्वपूर्ण अंग, इस समाज में नहीं होंगे। बड़े-बड़े कल-कारखानों का अभाव होगा। ग्रामीण-समाज आत्म-निर्भर होगा, उस में छोटे-मोटे घरेलू उद्योग धन्धे तो अवश्य होंगे, परन्तु बड़े-बड़े कल-कारखाने दासता के जनक होते हैं। गान्धी जी आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता के पूर्ण विकेन्द्रीकरण के पक्ष में थे। तभी सच्चे अर्थों में मनुष्य राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो सकेगा।

परन्तु गान्धी जी अपने विचारों तथा आदर्शों में प्रयाप्त व्यावहारिक थे। उन्होंने यह अनुभव किया कि एक पूर्ण हिंसात्मक समाज का संगठन असम्भव सा है। वह स्वीकार करते हैं कि **"कोई भी सरकार पूर्ण रूप से अहिंसात्मक बनने में सफल नहीं हो सकती, क्योंकि उसका आधार सम्पूर्ण जन-समाज होता है, आज ऐसे स्वर्ण-युग की कल्पना मैं नहीं कर सकता। परन्तु मैं एक ऐसे राज्य की कल्पना अवश्य करता है जो मुख्यरूप से अहिंसात्मक हो।"**[1]

राज्य के कर्त्तव्य—इस प्रकार स्पष्ट है कि गान्धी जी व्यक्तिवादियों की तरह राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में ही स्वीकार करते है। गान्धी जी की दृष्टि मे राज्य की कोई नैतिक उपयोगिता नहीं। यही कारण है कि गान्धी जी राज्य को थोड़े से थोड़े कार्य सौंपने के पक्ष में हैं। गान्धी जी का कथन है कि **"स्वशासन का अर्थ सरकार—विदेशी या राष्ट्रीय दोनों— के नियन्त्रण से अधिक से अधिक मुक्ति है। वह स्वशासन व्यवस्था अत्यन्त शोचनीय होगी जिसमें कि लोग अपने वैयक्तिक जीवन के प्रत्येक पहलू पर सरकारी नियन्त्रण की आशा रखें।"** अधिकांश राजनीतिक कर्त्तव्यों का पालन ऐच्छिक समुदायों (Associations) द्वारा होना चाहिए। गान्धी जी यह स्वीकार करते हैं कि अनेक कार्यों की प्रकृति ही ऐसी होती है कि जिनका पालन राज्य द्वारा ही सम्भव होता है, परन्तु ऐसे कार्यों की सख्या को घटाना चाहिए। राजनीतिक शक्ति का अत्यधिक संग्रह हमारी वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए घातक है। वास्तविक लोकतन्त्र के विकास की सम्भावना तभी है जब कि राज्य हमारे कार्यों में कम से कम हस्तक्षेप करे।

राज्य का मुख्य कर्त्तव्य शासन व्यवस्था को बनाए रखना है। उनका विचार है कि जब राज्य-संस्था अहिंसा तथा सत्य पर आधारित होगी तो अपराधों की संख्या अपने आप कम हो जाएगी। हाँ, हिंसात्मक प्रवृत्तियों वाले लोगों के लिए समुचित दण्ड व्यवस्था होनी चाहिए।

महात्मा गान्धी वर्तमान न्याय व्यवस्था और शासन व्यवस्था के विरोधी थे। उनका विचार था कि मौजूदा कानून-व्यवस्था बहुत जटिल है, उसे जन-साधारण समझ ही नहीं पता। उस द्वारा वकील लोग ही पैसा कमा सकते हैं। कानूनों को

---

2. "A Government can not succeed in becoming entirely non-violent, because it represents all the people. I do not today conceive of such a golden age. But I do believe in the possibility of a predominantly non-violent society." —*M. K. Gandhi*.

सुगम तथा सरल बनाना चाहिए । अदालतों को खत्म कर पंच-न्याय व्यवस्था कायम की जानी चाहिए । इससे एक तो खर्च की कमी होगी, दूसरा लोगों में आत्मविश्वास तथा आत्मनिर्णय की भावना बढ़ेगी । पुलीस के अधिकारियों में केवल उन्हें ही शामिल किया जाना चाहिए जो अहिंसा में यकीन करते हों और जो अपने आप को जनता का सेवक समझते हों ।

महात्मा गान्धी मौजूदा प्रतिनिधि व्यवस्था को भी अच्छा नहीं समझते, उन्होंने अनेक स्थानों पर अंग्रेजी पार्लियामेंट व्यवस्था की कड़ी आलोचना की है । वह प्रजातन्त्र व्यवस्था के समर्थक हैं, परन्तु वोट का अधिकार केवल उन्ही लोगों को देने के हक में हैं जो मेहनत द्वारा अपनी रोटी कमाते हैं । गान्धी जी का मत है कि चुनाव के लिए उम्मीदवार बनने का अधिकार भी उन्हीं लोगों को होना चाहिए जो सच्चे अर्थों में निस्वार्थी तथा जनसेवक हों ।

आर्थिक व्यवस्था—महात्मा गान्धी मौजूदा अर्थ व्यवस्था के भी विरोधी हैं । उन्हों ने मौजूदा समाज में पाये जाने वाली आर्थिक असमानता की कड़ी आलोचना की है । उनका कथन है कि एक अहिंसात्मक समाज का निर्माण तब तक असम्भव है जब तक कि गरीब तथा अमीर में भारी आर्थिक अन्तर मौजूद रहता है । मौजूदा अर्थ व्यवस्था का बड़ा दोष पूँजी का केन्द्रीकरण तथा कल-कारखानों की स्थापना है । उनके विचारानुसार मशीन पर आधारित अर्थ व्यवस्था मनुष्य को निकम्मा बना देती है, समाज में आर्थिक भेद-भाव को उत्पन्न करती है, और मजदूरों की स्वतन्त्रता का अपहरण करती है ।

महात्मा गान्धी आत्मनिर्भर ग्रामीण समाज के संगठन के हक में हैं । उनका कथन है कि देश के विस्तृत औद्योगीककरण (Large scale industrialisation) के स्थान पर छोटे-छोटे उद्योग धन्धों, विशेष रूप से घरेलू उद्योगों (Cottage Industries) के विकास को प्रोत्साहित करना चाहिए । प्रत्येक गाँव को भोजन, वस्त्र तथा रहने के मकानों के मामले में आत्मनिर्भर होना चाहिए । घरेलू उद्योग धन्धों के विकास के फलस्वरूप बेकारी की सम्भावना खत्म हो जाएगी, साथ ही पूंजी का केन्द्रीकरण भी नहीं होगा । मौजूदा समाज की इन दो बड़ी कमियों को इस ढंग से दूर किया जा सकता है । उत्पादन की वृद्धि के लिए गान्धी जी बिजली इत्यादि मौजूदा आविष्कारों के प्रयोग के विरोधी नही थे, न ही उन्होंने सार्वजनिक प्रयोग में आने वाली आवश्यक वस्तुओं के निर्माण के लिए कल-कारखानों के इस्तेमाल का ही विरोध किया है ।

गान्धीजी ने मौजूदा अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत पाये जाने वाले आर्थिक भेद-भाव की दूरी के लिए 'ट्रस्टीशिप' (Trusteeship) की व्यवस्था तथा हृदय परिवर्तन के साधन को अपनाने का समर्थन किया है । गान्धी जी वैयक्तिक सम्पति व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते, परन्तु मौजूदा व्यवस्था के हिंसात्मक साधनों द्वारा परिवर्तन के भी विरोधी हैं । गान्धी जी का कथन है कि जिमींदारों तथा कारखानेदारों को अपने आपको अपनी सम्पत्ति का स्वामी नहीं समझना चाहिए । सम्पत्ति तो भगवान

की है, सम्पत्तिशाली लोग तो उस सम्पत्ति के केवल संरक्षक या ट्रस्टी हैं, और उन्हें उसका प्रयोग अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए नहीं, बल्कि जन-साधारण के कल्याण के लिए करना चाहिए । इस प्रकार की भावना का विकास हृदय परिवर्तन द्वारा ही सम्भव है, जोर-जबरदस्ती से नहीं । अगर मनुष्य के हृदय में परिवर्तन न हो और सम्पत्ति का जबरदस्ती राष्ट्रीयकरण हो जाए तो भी समाज में न्याय तथा शान्तिपूर्ण स्थिति को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। परन्तु जिमींदार तथा पूँजीपति की प्रवृत्ति को बदलने के लिए गान्धी जी ने नैतिक बल के प्रयोग का विरोध नहीं किया। शोषण की समाप्ति के लिए जन-साधारण असहयोग (Non-Co-operation) के साधन का प्रयोग कर सकते हैं।

गान्धी जी का विश्वास है कि 'ट्रस्टीशिप' की व्यवस्था द्वारा मौजूदा पूँजीवादी समाज को एक ऐसे समाज में बदला जा सकता है, जहाँ आर्थिक स्वतन्त्रता तथा समानता हो और जहाँ मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का सर्वथा अभाव हो। 'ट्रस्टीशप' का साधन शान्तिपूर्ण व सुधारवादी है । यह वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार को उसी रूप में मान्यता प्रदान करता है जहाँ तक कि वह समाज के हित में है । उत्पादन के प्रकार तथा मात्रा का निर्णय समाज स्वयं करेगा, और कोई भी व्यक्ति सम्पत्ति का प्रयोग अपने ही हित के लिए नहीं कर सकेगा । 'ट्रस्टीशिप' की व्यवस्था के अन्तर्गत समाज स्वयं सम्पत्ति के संरक्षकों तथा मजदूरों और किसानों की आमदनी निश्चित करेगा । जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं। गान्धी जी विकेन्द्रीकृत (Decentralised) अर्थ व्यवस्था को ही आदर्श अर्थ व्यवस्था मानते है, उद्योग-धन्धों के राज्य द्वारा या पूँजिपतियों द्वारा नियन्त्रण में वह कोई विशेष अन्तर नही मानते ।

१८४. सामाजिक परिवर्तन के साधन

गान्धी जी ने सामाजिक तथा राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उपयुक्त साधनों की महत्ता पर विशेष विस्तार से विचार किया है । हम पीछे देख चुके है कि गान्धी जी मुख्य रूप से आध्यात्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे, इसी कारण उन्होंने जीवन में नैतिक मूल्यों को विशेष महत्त्व प्रदान किया है । उन्होने साध्य (End) तथा साधन (Means) में भेद नहीं किया । नैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति अनैतिक साधनों द्वारा सम्भव नहीं। 'जैसा बोओगे वैसा ही काटोगे' । भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान में भी उन्होंने अनैतिक तथा हिंसात्मक साधनों के अपनाने का तीव्र विरोध किया और साधनों की पवित्रता पर विशेष जोर दिया । अच्छे उद्देश्यों को हासिल करने के लिए अच्छे साधनों को अपनाना लाजमी है। यही कारण है कि उन्होंने सत्य तथा अहिंसा के आधार पर 'सत्याग्रह' के दर्शन का विकास किया। सत्य तथा अहिंसा का घनिष्ठ सम्बन्ध है, दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं । जहाँ अहिंसा है, वहीं सत्य भी है । **जो कुछ सत्य है उसकी प्राप्ति के लिए आग्रह पूर्वक अहिंसात्मक साधनों द्वारा प्रयत्न करना ही 'सत्याग्रह' है** । महात्मा जी के विचार के अनुसार सत्याग्रही

की अहिंसा कायर या डरपोक की अहिंसा नहीं । एक वीर पुरुष युद्ध में बिना प्राण-भय के लड़ता है । सत्याग्रही भी प्राणों का भय गंवा कर अपने उद्देश्य के लिए लड़ता है, वह केवल दूसरे के प्राण लेने की बजाए अपने प्राणों की आहुति देने के लिए तैयार रहता है । सत्याग्रही अन्याय, असत्य, शोषण तथा दुराचार का विरोधी है, और उनको दूर करने के लिए बड़े से बड़े कष्ट सहने के लिए सदा तैयार रहता है । इस प्रकार गान्धी जी की अहिंसा को अपनाने के लिए विशाल हृदय तथा साहस की आवश्यकता है । सत्याग्रही के लिए मन तथा कर्म से अहिंसक होना लाजमी है । ऐसा कर गान्धी जी ने सत्याग्रह का एक उच्च नैतिक आधार दे दिया है ।

सत्याग्रह के विभिन्न स्वरूप—सत्याग्रह के साधन का वैयक्तिक तथा सामूहिक रूप से अनेक प्रकार से प्रयोग किया जा सकता है, इन में से निम्नलिखित प्रमुख हैं—

१. **असहयोग** (Non-co-operation)—सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में असहयोग का विशेष महत्व है । गान्धी जी का यह विचार सर्वथा ठीक है कि किसी भी राष्ट्र या समाज का शोषण तभी सम्भव है जबकि उसी समाज के सदस्य शोषक के साथ सहयोग करें । अगर किसी भी शोषक को चाहे वह व्यक्ति हो या सरकार—जनता का सहयोग प्राप्त न हो सके तो उसे स्वयं जनता के सम्मुख घुटने टेकने पड़ेंगे । असहयोग का शास्त्र बहुत महत्वपूर्ण है और वह बहुत कारगर भी सिद्ध होता है । असहयोग आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने के लिए गान्धी जी ने निम्न साधनों के अपनाए जाने का समर्थन किया है—

(क) हड़ताल ।

(ख) **सामाजिक बाहिष्कार**—का साधन उन लोगों के प्रति अपनाया जा सकता है जो राष्ट्र या समाजद्रोही हों । इस साधन को बहुत सोच समझ कर इस्तेमाल में लाना चाहिए । अनेक बार इस साधन द्वारा अनुचित तथा अनैतिक दबाव भी डाला जा सकता है ।

(ग) धरना देना (Picketing)

२. **भद्र अवज्ञा आन्दोलन** (Civil Disobedience)—का अर्थ है अनैतिक भ्रष्ट तथा अन्यायपूर्ण कानूनों का शान्ति पूर्ण साधनों से भंग करना । गान्धी जी इस साधन को सशस्त्र क्रान्ति से किसी तरह भी कम प्रभावपूर्ण नहीं मानते । गान्धी जी का कथन है कि इस साधन द्वारा गन्दे से गन्दे कानून को निकम्मा बनाया जा सकता है और कठोर से कठोर शासन व्यवस्था को प्रभावहीन किया जा सकता है । परन्तु भद्र अवज्ञा का यह आन्दोलन किसी भी अवस्था में अशान्तिपूर्ण तथा हिंसात्मक नहीं होना चाहिए ।

(३) **भूख हड़ताल तथा हिजरत**—सत्याग्रह के दो अन्य रूप हैं । भूख हड़ताल को सत्याग्रह पद्धति का एटम बम्ब कहा जा सकता है । इसको सामूहिक तथा वैयक्तिक दोनों ही रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है, परन्तु गान्धी जी इसके वैयक्तिक प्रयोग के ही पक्ष में हैं । गान्धी जी का कथन है कि अनशन व्रत या भूख हड़ताल उसी

व्यक्ति को करना चाहिए जो मन, वचन तथा कर्म से अहिंसक हो, जिसके मन में अपने शत्रु के प्रति भी द्वेष न हो। अनशन आत्मशुद्धि तथा सामाजिक शुद्धि, दोनों के लिए ही किया जा सकता है। भूख हड़ताल के अस्त्र का दुरुपयोग हो सकता है, इसलिए गान्धी जी ने इसके विचारपूर्वक प्रयोग का ही समर्थन किया है।

हिजरत का अर्थ है स्वेच्छा पूर्वक किसी स्थान विशेष का छोड़ देना। गान्धी जी का कथन है कि जब कभी कोई व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय किसी विशेष प्रदेश में आत्म-सम्मान पूर्ण जीवन व्यतीत नहीं कर सकता या अन्याय तथा अत्याचार का विरोध नहीं कर सकता तो उस समय उसे आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए स्वेच्छा से उस स्थान को छोड़ देना चाहिए।

गान्धी जी ने मजदूरों को भी अपने हितों की रक्षा के लिए सत्याग्रह के साधन के प्रयोग की सलाह दी है।

सामाजिक तथा राष्ट्रीय क्षेत्र में ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी गान्धी जी ने सत्याग्रह तथा अहिंसात्मक साधनों के प्रयोग का सुझाव दिया है। उनका विश्वास था कि अगर कोई देश विश्वास पूर्वक अहिंसात्मक साधनों का इस्तेमाल करे तो उस पर कोई विदेशी आक्रमण सम्भव नहीं हो सकता। साम्राज्यवादी देशों के आक्रमण का मुकाबला भी असहयोग इत्यादि सत्याग्रह के अहिंसक साधनों द्वारा किया जा सकता है। गान्धी जी मनुष्य स्वभाव की अच्छाई में यकीन करते हैं, उनका विश्वास है कि कोई भी हमलावर किसी भी अहिंसक सेना का व्यर्थ खून नहीं बहायेगा, उनका हृदय अवश्य पिघल जाएगा। हिंसा तो हिंसा को ही बढ़ाती है। उन्होंने द्वितीय युद्ध के दौरान में चीन को जापान का मुकाबला करने के लिए अहिंसात्मक साधनों के प्रयोग की सलाह दी थी।

१८५. गान्धीवाद तथा साम्यवाद

साम्यवाद आज विश्व की आर्थिक तथा राजनीतिक बुराइयों को दूर करने का प्रमुख साधन माना जाता है। गान्धीवाद भी हमारे आर्थिक और राजनीतिक जीवन की बुराइयों को दूर के अनेक सुझाव देता है, यहाँ दोनों की तुलना कर लेना असंगत न होगा। गान्धीवाद तथा साम्यवाद दोनों ही समानता के समर्थक हैं, दोनों ही वर्गगत जातिगत तथा वर्णगत भेदों को खत्म करना चाहते हैं। गान्धीवाद तथा साम्यवाद आर्थिक समानता के पोषक हैं। गान्धीवाद सम्पत्ति को भगवान की देन मानता है और उसको प्रयोग सामाजिक हित में होना चाहिए—इस बात का प्रबल समर्थन करता है। साम्यवाद सम्पत्ति को सामूहिक श्रम का फल मान उसका सामूहिक हित में प्रयोग करना उचित समझता है।

गान्धीवाद तथा साम्यवाद दोनों ही 'एक राज्य-वहीन' समाज के संगठन के समर्थक हैं। दोनों ही ऐसे समाज में सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन का नियन्त्रण स्वेच्छा से संगठित समुदायों के हाथ सौंप देना चाहते है, परन्तु दोनों ही मौजूदा हालत में राज्य की आवश्यकता स्वीकार करते हैं।

गान्धीवाद तथा साम्यवाद दोनों मानवता प्रेमी हैं और दोनों का उद्देश्य ऐसी परिस्थितियों की रचना करना है जिनमें यह मनुष्य भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति कर सके, और जीवन के सर्वोच्च उद्देश्यों को पा सके । साम्यवाद तथा गान्धीवाद दोनों के ही अन्तर्गत मानवीय श्रम को श्रेष्ठ समझा जाता है ।

इन समानताओं के बावजूद भी गान्धीवाद तथा साम्यवाद में अनेक आधारभूत भेद हैं । कम्युनिज्म का आधार भौतिकवाद है, उसमें अर्थतन्त्र (Economic structure) तथा यन्त्र व्यवस्था (Technology) को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। इसके विपरीत गान्धीवाद आध्यात्मिक तथा नैतिक है । इसमें मन (Individual mind) तथा आत्मा का विशेष स्थान है । यही कारण है कि मार्क्स तथा उसके अनुयायी साधन (Means) को महत्त्व नहीं देते और साध्य (End) को ही सब कुछ समझते हैं, वे अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग उचित समझते हैं । इसके विपरीत, गान्धी जी, ऊँचे उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विशुद्ध साधनों को अपनाना आवश्यक मानते हैं । वह साधन (Means) तथा साध्य (End) को समान रूप से महत्त्वपूर्ण मानते हैं । गान्धी जी अहिंसा का समर्थन करते हैं जबकि कम्युनिस्ट सशस्त्र क्रान्ति का । वर्तमान समाज दोनों की दृष्टि में त्रुटिपूर्ण है, दोनों ही इसके परिवर्तन के समर्थक हैं, परन्तु जहाँ कम्युनिस्ट इसके लिए बल प्रयोग का समर्थन करते हैं, वहाँ गान्धी जी अहिंसा तथा हृदय परिवर्तन (Change of heart) का।

महात्मा गान्धी सामाजिक सुधार के लिए व्यक्ति के चरित्र का सुधार आवश्यक समझते हैं । उनका विचार है कि तब तक कोई भी सामाजिक सुधार की योजना पूर्ण नहीं हो सकती जब तक कि मनुष्य की मनोवृत्ति में परिवर्तन न हो जाए। अगर सामाजिक सदस्य स्वार्थी हैं, वे सामाजिक सेवा को अधिक महत्त्व नहीं देते तो साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था भी शोषण तथा अत्याचार का साधन बन जाएगी। सार्वजनिक हित के लिए मनुष्य तभी प्रेरित हो सकता है जब उसकी मनोवृत्तियों का भी सुधार हो।

मार्क्स तथा उसके कम्युनिस्ट अनुयायी वर्ग संघर्ष (Class-war) के सिद्धान्त में यकीन करते हैं, उनका विश्वास है कि सामाजिक प्रगति विभिन्न आर्थिक वर्गों के पारस्परिक संघर्ष से ही होती है । इसके विपरीत महात्मा गान्धी विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सहयोग में यकीन करते हैं, उनका विचार है कि अगर समाज का प्रत्येक समुदाय अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करे, तो किसी भी प्रकार के झगड़े तथा परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं ।

कम्युनिस्ट पूँजी के वैयक्तिक नियन्त्रण के स्थान पर राजकीय नियन्त्रण की स्थापना के पक्ष में है । महात्मा गान्धी उत्पादन के साधनों के राजकीय नियन्त्रण के विशेष पक्ष में नहीं । गान्धी जी घरेलू उद्योग धन्धों को प्रोत्साहित करने के हक में हैं, वे देश के विस्तृत औद्योगिककरण के पक्ष में नहीं, न ही गान्धी जी यन्त्र व्यवस्था के विकास को ही बहुत अच्छा समझते हैं । महात्मा गान्धी का दृष्टिकोण संयम तथा आत्म-निग्रह को विशेष महत्त्व देता है । उनका विचार है कि मनुष्य को अपनी

आवश्यकताओं को घटाना चाहिए और जीवन में सरलता व सादगी पर अधिक बल देना चाहिए। परन्तु कम्युनिस्ट महात्मा गान्धी से इन बातों पर सहमत नहीं।

महात्मा गान्धी राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण के पक्ष में हैं। परन्तु कम्युनिस्ट जिस अन्तरिम सरकार की स्थापना करते हैं, उसे समाज के आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन के नियन्त्रण का पूर्ण अधिकार दे देते हैं। कम्युनिस्टों का संक्रान्तिकालीन (Interim state) राज्य अत्यन्त खतरनाक है। वह मनुष्य के जीवन के विभिन्न पक्षों के नियन्त्रण की असीम सत्ता से सम्पन्न है। ऐसा राज्य व्यक्ति के आत्मिक विकास के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता को खत्म कर देता है, गान्धी जी इस प्रकार के राज्य की स्थापना का कभी समर्थन नहीं करते।

निष्कर्ष—ऊपर लिखे तथ्यों से स्पष्ट है कि गान्धीवाद तथा साम्यवाद एक ही चीज नहीं, दोनों में पर्याप्त अन्तर है।

गान्धीवाद की सबसे बड़ी देन उसकी नैतिक अपील है। राजनीति केवल आर्थिक तथा राजनीतिक तथ्यों का संग्रह ही नहीं होनी चाहिए और न ही राष्ट्रों का जीवन केवल इन तथ्यों से प्रभावित होना चाहिए। नैतिक नियमों की उपस्थिति जिस प्रकार वैयक्तिक जीवन में आवश्यक है उसी प्रकार सामूहिक जीवन में भी उन्हें लागू करना चाहिए। सदाचरण के सिद्धान्त केवल व्यक्ति के आचरण के लिए ही नहीं सरकारों तथा राज्यों को भी उनके अनुसार चलना चाहिए। आज के युद्ध के भय से भयभीत विश्व में केवल नैतिक नियम ही हमें बचा सकते हैं, अन्यथा राष्ट्रों का आपस का अविश्वास किसी भी क्षण विश्व को युद्ध की आग में झोंक सकता है।

गान्धी जी के अनेक आदर्श अव्यावहारिक हो सकते हैं। उन्होंने मनुष्य के स्वभाव के उज्ज्वल रूप को ही अधिक देखा और उसी को अधिक महत्त्व दिया। उन्होंने अहिंसा प्रधान जिस आदर्श राज्य की कल्पना की है, वह बहुत कुछ अयथार्थ है। परन्तु उनका कथन कि राजनीतिक बुराइयों का, अन्याय तथा शोषण का, शान्ति पूर्ण नैतिक साधनों से भी विरोध हो सकता है, काफी हद तक सही है। उनका यह विश्वास भी बिल्कुल ठीक है कि साध्य तथा साधन में समानता होनी चाहिए। उच्च उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उच्च साधनों का प्रयोग आवश्यक है। व्यावहारिक राजनीति में हमें सदाचरण के नियमों को अपनाना ही होगा, तभी मानव समाज में शान्तिपूर्ण परिस्थितियाँ पैदा हो सकती हैं।

Important Questions

	References
1. Write a short essay on Gandhism. (*Pb. 1956*)	Arts. No. 181, 183 & 184
2. Write an essay on the Political theory of Mahatma Gandhi. (*Pb. 1954*)	Arts. No. 181, 183 & 184
3. Make a comparative study of Communism and Gandhism.	Art. No. 185

अध्याय ३०

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन

(International Organisations)

१८६. राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध

राज्यों की अबाध प्रभुता (Unlimited Sovereignty) कानून की दृष्टि में चाहे एक परम सत्य हो परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह अर्द्ध सत्य ही है । कोई भी राज्य अपने आप में पूर्ण नहीं, राज्य मनुष्यों का संगठन है, और कोई भी मानवीय संगठन अपने आप में पूर्ण नहीं हो सकता । उनके पारस्परिक सम्बन्ध स्वाभाविक है । प्राचीन यूनानी विचारकों का अथवा हीगल इत्यादि आदर्शवादी विचारकों का यह मन्तव्य कि प्रत्येक राज्य अपने आप में एक 'पूर्ण समाज' है बिल्कुल गलत है । उस जमाने में भी जबकि यातायात के साधनों (Means of communication) का विकास नहीं हो पाया था और राज्यों के आकार भी छोटे थे तब भी राज्यों में पारस्परिक सम्बन्ध थे, और वे एक दूसरे पर आश्रित रहते थे । वर्तमान युग की वैज्ञानिक उन्नति ने विश्व के राज्यों को एक दूसरे के बहुत निकट ला दिया है। रेल, तार, रडियो तथा हवाई जहाज इत्यादि क्रान्तिकारी आविश्कारों ने विश्व की आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन कर दिए हैं । कोई भी राज्य आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से पूर्ण रूप से आत्म-निर्भर नहीं हो सकता ।

वर्तमान युग में विज्ञान का प्रयोग युद्ध-कला के विकास के लिए भी किया गया है । फलतः ऐसे-ऐसे खतरनाक तथा विनाशकारी शस्त्रों का विकास किया गया है कि जो सम्पूर्ण मानवता के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं । पिछले दो विश्व युद्धों से यह साबित हो गया है कि एक तो कोई भी राज्य युद्धों के प्रभाव से अछूता नहीं रहता और दूसरा इनसे अपार सम्पत्ति तथा जीवन का विनाश होता है ।

राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न हो जाना या उनमें झगड़ों का पैदा हो जाना बिल्कुल स्वाभाविक है । प्रारम्भ से ही यह महसूस किया जाता रहा है कि झगड़ों का निपटारा आपस के विचार-विनिमय इत्यादि शान्तिपूर्ण साधनों से होना चाहिए । शुरू-शुरू में तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला हिसाब चलता रहा और निर्बल राज्यों को सदा ही पराजित होना पड़ा । उन्नीसवीं सदी की समाप्ति के अनन्तर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस असूल के प्रचलन का मतलब था—विश्व युद्ध का छिड़ना ।

इस प्रकार मौजूदा जमाने में राज्यों के पारस्परिक झगड़ों के सुलझाव के लिए और कमजोर राज्यों की रक्षा तथा उन्नति के लिए राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की आवश्यकता को अनुभव किया गया ।

प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान में जब संयुक्त राज्य अमेरिका ने जर्मनी के विरुद्ध

युद्ध घोषणा की तो उस समय अमेरिका के आदर्शवादी राष्ट्रपति विल्सन ने प्रजातन्त्र की सुरक्षा तथा विश्वशान्ति की स्थापना के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की योजना रखी । राष्ट्रपति विल्सन का विचार था कि विश्व को युद्धों के भय से छुटकारा दिलाने के लिए युद्ध की समाप्ति के अनन्तर एक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण किया जाना चाहिए। राष्ट्रपति विल्सन की इस शान्ति योजना का सभी जगह स्वागत किया गया ।

अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन के इस प्रयत्न से पूर्व भी लगभग २०० ऐसे असफल प्रयास किए गए कि जिनका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कायम करना था । समय-समय पर अनेक राजनीतिक विचारकों ने विश्व शान्ति के उद्देश्य को अपने सामने रख अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की योजनाएँ पेश कीं । इस प्रकार हेग कॉन्फ्रेन्स (The Hague Conference) तथा 'हॉली अलायन्स' (Holy Alliance) इत्यादि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भी कायम किए गए, इन्हें अपने-अपने क्षेत्र में थोड़ी बहुत सफलता भी प्राप्त हुई, परन्तु अनेक कारणों से ये संगठन अधिक सफलता प्राप्त न कर सके । 'हॉली अलायन्स' के सदस्य तो यूरोप के प्रतिक्रियावादी राज्य थे जिनका उद्देश्य राष्ट्रीय भावनाओं तथा प्रजातन्त्रवादी आन्दोलनों को दबाना था । 'हेग अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्सों, का परिणाम पंच न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) की स्थापना था ।

१८७ राष्ट्र संघ (The League of Nations)

ऊपर हमने संक्षेप से अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास को प्रदर्शित किया है । हमने ऊपर लिखा है कि किस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के दौरान में राज्यों के आपसी झगड़ों के निपटारे के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के संगठन की माँग जोर पकड़ रही थी । अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन ने इस माँग को मूर्त रूप देने का निश्चय किया । अतः प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर वर्साई की शान्ति सन्धि के साथ ही राष्ट्र संघ (The League of Nations) के संगठन के आधारभूत नियमों (Covenent) पर भी हस्ताक्षर किए गए । राष्ट्र संघ की स्थापना को अन्तर्राष्ट्रीयता के इतिहास में एक महान घटना के रूप में याद किया जाता है । यह संगठन वास्तविक अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय था । इससे पूर्व के संगठनों में न तो विश्व के सभी महाद्वीपों को और न विश्व की सभी जातियों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ था । राष्ट्र संघ में पाँचों महाद्वीपों को तथा संसार की गोरी तथा रंगीन सभी जातियों को प्रतिनिधित्व दिया गया ।

संघ के संविधान में इसके आधारभूत उद्देश्यों को इस प्रकार रखा गया ।

(१) अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में आपसी सहयोग को प्रोत्साहित करना तथा शान्ति व सुरक्षा की स्थापना करना ।

(२) हथियारों में कमी करना ।

(३) युद्धों को रोकना तथा राज्यों के आपसी झगड़ों का शान्तिपूर्ण साधनों से निपटारा करना ।

इन प्रमुख उद्देश्यों के अतिरिक्त राष्ट्र संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास, राज्यों में पारस्परिक सम्बन्धों में न्याय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के प्रति आदर भावना का तथा राज्यों में खुले सम्बन्धों के विकास को भी अपना उद्देश्य माना।

प्रारम्भ में राष्ट्र संघ के सदस्यों की संख्या २७ थी, बाद में धीरे-धीरे यह संख्या ५६ तक जा पहुँची। जर्मनी तथा रूस को प्रारम्भ में राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त नहीं थी, परन्तु बाद में इन दोनों राज्यों को भी सदस्य बना लिया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका अवश्य ही राष्ट्र संघ से बाहर रहा।

राष्ट्र संघ का संगठन (The organisation of the League of Nations) राष्ट्रसंघ का संगठन एक सरकार के संगठन की तरह था। सरकार के तीन अंगों की तरह राष्ट्रसंघ के भी तीन अंग थे, इनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) एसेम्बली (The Assembly)
(२) कौन्सिल (The Council)
(३) स्थायी कार्यालय (The Secretariat)

इन प्रमुख अंगों के अतिरिक्त राष्ट्रसंघ का अपना न्यायालय भी था, जिसका संगठन 'स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय' (The Permanent Court of International Justice) के रूप में किया गया था। नीचे हम इनके संगठन का विवरण देंगे —

एसेम्बली (The Assembly)—एक प्रकार से संघ की विधानपालिका थी, और वह लगभग वही कार्य पूर्ण करती थी जो कि एक प्रजातन्त्रात्मक राज्य में विधानपालिका करती है। एसेम्बली कानूनी दृष्टि से संघ का सर्वोच्च भाग थी। सभी सदस्य राज्यों को एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजने का अधिकार था यह प्रतिनिधि मण्डल अधिक से अधिक तीन सदस्यों का हो सकता था। प्रत्येक सदस्य-राज्य को एक से अधिक वोट देने का अधिकार नहीं था। एसेम्बली का कोई भी निश्चय तब तक वैधानिक नही माना जाता था जब तक कि सभी राज्य उसपर सहमत न हों। राज्यों की वैधानिक प्रभुता को सम्मुख रखते हुए यह आवश्यक समझा गया कि बहुमत द्वारा समर्थित कोई भी निश्चय अन्य राज्यों पर लागू न किया जाय।

दो-तिहाई सदस्यों की अनुमति से नये राज्यों को सदस्य बनाया जा सकता था। सभी राज्य अपनी इच्छानुसार संघ की सदस्यता का त्याग कर सकते थे।

एसेम्बली के एक साल में एक ही अधिवेशन बुलाने की व्यवस्था थी, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर और कुछ निश्चित सदस्यों की प्रार्थना पर एसेम्बली के विशेष अधिवेशन की व्यवस्था की जा सकती थी।

(२) कौन्सिल (The Council)—राष्ट्रसंघ की कार्यकारिणी थी। एसेम्बली मे सदस्यो की काफी बड़ी संख्या थी, किसी भी संकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए एसेम्बली का अधिवेशन बुलाना कठिन था। साथ ही इतनी बड़ी संख्या वाली संस्था का प्रत्येक स्थिति में काम कर सकना और शीघ्र ही किसी निश्चय पर पहुँच सकना मुश्किल था। अतः एक निश्चित संख्या वाली इस छोटी संस्था

की रचना की गयी। शुरू-शुरू में कौन्सिल के सदस्यों की कुल संख्या आठ थी। इन आठ में से चार तो स्थायी सदस्य (Permanent members) थे और चार अस्थायी। चार स्थायी सदस्यों में इंग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली तथा जापान थे। अस्थायी सदस्यों का चुनाव प्रत्येक वर्ष एसेम्बली द्वारा किया जाता था। कौन्सिल उन सभी मामलों पर विचार करती थी जो अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते थे और जिनका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा से होता था।

प्रारम्भ में कौन्सिल ने अनेक महत्त्वपूर्ण मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू किया और विश्व में शान्ति कायम रखने में सहयाता की।

सन् १९२६ में कौन्सिल के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गयी, स्थायी सदस्यों की संख्या चार से बढ़ाकर पाँच कर दी गयी, पाँचवा स्थायी सदस्य जर्मनी बना।

कौन्सिल का प्रत्येक सप्ताह एक अधिवेशन होता था, परन्तु संकटकालीन स्थिति पर विचार करने के लिए कौन्सिल का अधिवेशन किसी भी समय बुलाया जा सकता था।

(३) स्थायी कार्यालय (The Secretariat)—राष्ट्रसंघ के प्रशासकीय कारोबार की देख भाल के लिए सक्रेटरी जनरल के अधीन एक स्थायी कार्यालय की व्यवस्था की गयी थी। राष्ट्र-संघ का प्रमुख कार्यालय जिनेवा में था। महामन्त्री (Secretary General) का चुनाव एसेम्बली करती थी वही प्रधान कार्यालय की देखभाल करता था। प्रधान कार्यालय की व्यवस्था पर जो खर्च आता था उसे राष्ट्र-संघ के सभी सदस्य-राज्य आपस में बाँट लेते थे।

प्रधान कार्यालय में प्रत्येक राज्य के नागरिक कर्मचारी भर्ती किए जाते थे। वस्तुतः इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का प्रधान कार्यालय सभी नसलों, धर्मों, भाषाओं और संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करता था।

स्थायी कार्यालय कौन्सिल तथा एसेम्बली की कार्यवाही का रिकार्ड रखता और विभिन्न राज्यों में की गयी पारस्परिक सन्धियों को प्रकाशित करता। स्थायी कार्यालय ही सूचना-केन्द्र था और अन्य राज्यों से एतद्विषयक पत्र-व्यवहार भी इसी कार्यालय द्वारा किया जाता था।

संघ के इन प्रधान संगठनों के अतिरिक्त दो अन्य प्रमुख अंग भी थे, ये थे, (१) स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (The Permanent Court of International Justice) (२) तथा अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ (The International Labour Organisation)

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा मजदूर संघ दोनों का संगठन संघ से स्वतन्त्र था और दोनों को ही स्वायत शासन प्राप्त था। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना संघ के शान्तिपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही की गयी थी। राज्यों के पारस्परिक झगड़ों का निपटारा पहले पंचायत-अदालतें करती थी, परन्तु उनके निश्चय की मान्यता राज्यों की स्वतन्त्र इच्छा पर आधारित होती थी। संघ ने इस स्थिति में कुछ परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया। संघ के समर्थकों की इच्छा थी कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निश्चय सभी राज्यों को मान्य हों और संघ इसके निश्चयों को लागू

करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले। संघ के सदस्य तथा अन्य राज्य आपसी झगड़ों के फैसले के लिए उन्हें न्यायलय के सम्मुख पेश करते थे। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों की तथा कानून की अधिकारपूर्ण व्याख्या भी यही संस्था करती थी। कभी कभी संघ की एसेम्बली तथा कौंसिल भी किसी कानूनी झगड़े के निपटारे के लिए न्यायालय की सम्मति ले लेती थी।

न्यायालय के नौ न्यायाधीश तथा चार उप-न्यायाधीश थे। इनका चुनाव एसेम्बली तथा कौन्सिल दोनों ही करती थीं। इस न्यायालय का प्रधान कार्यालय हेग (Hague) में था।

मजदूरों के हितों तथा स्वार्थों की रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की स्थापना की गयी। इस संघ में लगभग सभी राज्यों के प्रतिनिधि मण्डल भाग लेते थे, यह प्रतिनिधि मण्डल मजदूर, मिल मालिक तथा राज्य-सरकार तीनों के प्रतिनिधियों से मिल कर बनते थे। मजदूर संघ मजदूरों की स्थिति सुधार में तथा बच्चों और औरतों के हित साधन में विशेष प्रयत्न किए।

१८८. राष्ट्र संघ के कार्य का मूल्यांकन

राष्ट्र-संघ का निर्माण निश्चय ही मानवीय इतिहास में एक महान् घटना थी। प्रथम बार विश्व के राज्यों ने मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए और आपसी झगड़ों के निपटारे के लिए एक ऐसे शक्तिशाली संगठन की स्थापना की। निःसन्देह राष्ट्र संघ अपने गैर-राजनीतिक कार्यों में पर्याप्त सफल रहा। राष्ट्र संघ के अधीन मजदूरों की स्थिति के सुधार के लिए जिस मजदूर सघ की स्थापना की गयी थी उस के सन्तोषजनक कार्य की सराहना सभी जगह की गयी। यह संघ न केवल मजदूरों की स्थिति के विषय में सूचना केन्द्र ही था बल्कि इसने अनेक स्थानों पर मजदूरों के काम करने के घण्टों की संख्या भी घटवायी और उनके लिए दवा-दारू की व्यवस्था के प्रयत्न भी किए। इसी प्रकार संघ ने महामारियों तथा बाढ़ इत्यादि प्राकृतिक संकटों से ग्रस्त लोगों की सहायता के भी प्रशंसनीय प्रयत्न किए। सभी सदस्य राज्यों के सहयोग से संघ ने अफीम के निषिद्ध व्यापार की भी रोक-थाम की।

प्रारम्भ में संघ ने हंगरी, आस्ट्रिया तथा ग्रीस की आर्थिक सहायता की और इन देशों की अर्थ व्यवस्था की पुर्नस्थापना के अनेक प्रशंसनीय प्रयत्न किए। युद्ध के दौरान में निराश्रित हुए हुए विभिन्न राज्यों के नागरिकों की सहायता के लिए भी संघ ने काफी प्रयत्न किए।

राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्र-संघ अधिक सफलता प्राप्त न कर सका। अवश्य ही राष्ट्रसंघ ने आलैंड द्वीपों (Aaland Islnds) तथा अपरसिलेशिया (Upper-silesia) के मामलों के निपटाने में सफलता प्राप्त की, ग्रीस तथा बल्गारिया के झगड़े का निपटारा कर दोनों में युद्ध छिड़ने की सम्भावना को खत्म किया। परन्तु बड़े राजनीतिक मामलों में राष्ट्र-संघ कुछ न कर सका।

राष्ट्र-संघ का मुख्य कर्तव्य विश्व में शान्ति व्यवस्था बनाए रखना और युद्ध

की सभी सम्भावनाओं को खत्म करना था। एतदर्थ राष्ट्रसंघ निशस्त्रीकरण (Disarmament) की योजनाएँ पेश कर सकता था और राज्यों को इन योजनाओं पर बहस करने के लिए आमन्त्रित कर सकता था, राष्ट्रसंघ ने ऐसा किया भी, परन्तु वह सफल न हो सका। वही राज्य जो संघ के अधिवेशन में निशस्त्रीकरण की योजनाओं का समर्थन करते, गुप्त रूप से युद्ध की तैयारियाँ कर रहे थे। राष्ट्र-संघ की निशस्त्रीकरण की नीति में उनका बिल्कुल यकीन नहीं था। वे कहते कुछ और करते कुछ थे। बड़े राष्ट्र, जिनके कन्धों पर राष्ट्रसंघ के संविधान को लागू करने का उत्तरदायित्व था, वे साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण कर उपनिवेश स्थापना के लिए गुप्त सन्धियों को करने में और गुटबन्दियों बनाने में संलग्न थे।

जब कभी युद्ध की बुराई की गयी और युद्ध को गैर-कानूनी करार दिया गया तो वह संघ में नहीं बल्कि संघ से बाहर ही हुआ। केलोग-ब्रायण्ड समझौता (Kellog-Briand Pact) तथा लोकॉरनो सन्धियाँ (The Treaties of Locarno); इसका उदाहरण है। इन दोनों सन्धियों द्वारा कुछ राज्यों ने मिलकर पारस्परिक सम्बन्धों में शान्ति स्थापना के निश्चय की तथा युद्ध को गैर-कानूनी करार देने की घोषणाएँ की थीं। इनसे राष्ट्रसंघ की महत्ता बढ़ी नहीं, बल्कि घट गयी।

राष्ट्र-संघ से यह आशा की जाती थी कि वह युद्धों को रोकने का एक शक्तिशाली यन्त्र होगा, परन्तु शुरू में ही संघ ने इस विषय में अपनी कमजोरी का परिचय दे दिया। १९२० में पोलैण्ड ने विल्ना (Vilna) पर कब्जा कर लिया और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन किया, परन्तु राष्ट्रसंघ कुछ न कर सका। १९२३ में इटली ने यूनान के कोर्फ्यू (Corfeu) द्वीप पर कब्जा कर लिया और इस बार भी राष्ट्रसंघ कुछ न कर सका।

जापान राष्ट्रसंघ के स्थायी तथा प्रमुख सदस्यों में से था, परन्तु संघ के नियमों को भंग कर जब १९३१ में उसने मंचूरिया पर आक्रमण किया तो राष्ट्रसंघ जापान के इस कार्य के लिए उसकी निन्दा का एक प्रस्ताव भी पास न कर सका। १९३७ में जापान ने चीन पर आक्रमण कर दिया, इस बार चीन ने राष्ट्रसंघ की सहायता माँगी और जोरदार शब्दों में जापान के विरुद्ध कार्यवाही करने की माँग की, परन्तु कुछ भी परिणाम न हुआ।

इधर जर्मनी में हिटलर के उदय के अनन्तर धीरे-धीरे वर्साई की सन्धी शर्तों का उल्लंघन किया जाने लगा, परन्तु राष्ट्रसंघ यह सब हैरानी से देखता रह गया।

राष्ट्रसंघ के दिवालियेपन का प्रदर्शन तो तब हुआ जब मुसोलिनी के इटली ने, सभी अन्तर्राष्ट्री नियमों को एक ओर रख, गरीब अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। अबीसीनिया का बादशाह अपने आप संघ के दरबार में उपस्थित हुआ, उसने पश्चिमी राज्यों से संघ की शक्ति के प्रयोग की माँग की। प्रारम्भ में कुछ हलचल हुई, यह कोशिश की गयी कि इटली को दण्ड दिया जाय। इंग्लैण्ड तथा फ्रान्स की जनता अबीसीनिया के पक्ष में थी और उसको इस प्रकार दिन-दहाड़े लुटता हुआ नहीं देख सकती थी। संघ का अधिवेशन हुआ और इटली की आर्थिक नाकाबन्दी की योजना

बनायी गयी। परन्तु फ्रान्स तथा इंग्लैण्ड की सरकारों ने मुसोलिनी से गुप्त समझौता कर अबीसीनिया की स्वतन्त्रता को बेच दिया और इस प्रकार संघ की रही-सही साख पर भी पानी फेर दिया। इसके बाद तो संघ का इतिहास असफलताओं का इतिहास ही है। हिटलर ने मुसोलिनी की देखादेखी पहले आस्ट्रिया और बाद में चेकोस्लोवाकिया को जीत जर्मनी में मिला लिया।

हाँ, जब रूस ने फिनलैण्ड पर आक्रमण किया तो उस समय संघ ने अवश्य कुछ सरगर्मी दिखायी, परन्तु स्पेनिश गृह-युद्ध में संघ हाथ पर हाथ रख कर ही बैठा रहा।

१९३१ में जब जर्मनी ने पौलैण्ड पर आक्रमण किया तब तक संघ समाप्त हो चुका था। द्वितीय विश्व-युद्ध के तूफान में संघ कब खत्म हो गया, किसी को मालूम ही नहीं पड़ा।

संघ की असफलता के कारण—राष्ट्र-संघ के संगठन के आन्दोलन के प्रारम्भ में जो प्रेरणा थी वह उसकी स्थापना का आधार न बन सकी। राष्ट्र-संघ की स्थापना वर्साई की सन्धि का ही परिणाम थी, और वर्साई की सन्धि का आधार राजनीतिक द्वेष के अतिरिक्त बदले की भावना थी। वर्साई की सन्धि द्वारा विजित राष्ट्रों ने जर्मनी को पंगु बनाने का प्रयत्न किया था, वे राष्ट्र संघ को भी इसी व्यवस्था के बनाए रखने के लिए एक साधन के रूप में इस्तेमाल करना चाहते थे। फ्रांस तथा इंग्लैंड का यही मन्तव्य रहा। परन्तु फ्रांस तथा इंग्लैंड दोनों ही इस विषय में विभिन्न नीतियों का अनुसरण कर रहे थे। फ्राँस वर्साई-सन्धि के परिणाम स्वरूप स्थापित स्थिति को कायम रखना चाहता था और यूरोपीय महाद्वीप पर अपनी शक्ति को स्थापित करने के लिए वह राष्ट्र-संघ का एक सामूहिक सैनिक शक्ति के रूप में इस्तेमाल करना चाहता था। ग्रेट ब्रिटेन यूरोपीय महाद्वीप पर शक्ति-सन्तुलन (Balance of power) के लिए जर्मनी के पुर्न-संगठन का समर्थक था।

पूर्व में सोवियत संघ की स्थापना ने फ्राँस तथा इंग्लैंड दोनों की विदेश नीतियों को बदल दिया। साम्यवाद के भय ने फ्राँस तथा ग्रेट ब्रिटेन दोनों को उस जर्मनी का पोषक और समर्थक बना दिया जो कि राष्ट्र संघ का जन्मजात शत्रु था।

राष्ट्र-संघ की सबसे बड़ी कमजोरी उसकी अपनी स्थिति ही थी। राष्ट्र-संघ कोई नई तरह की सरकार नहीं थी, न ही इसे हम विश्व संघ राज्य (World Federation) ही कह सकते थे। यह तो राज्यों का एक ऐसा ढीला संगठन था जिसमें प्रत्येक राज्य अपनी प्रभुता तथा स्वतन्त्रता का मालिक था। यह संघ वस्तुतः राज्यों का वाद-विवाद सभा ही थी, क्योंकि इसे अपने निश्चयों को लागू करने का कोई अधिकार नहीं था, न ही इसके पास अपनी सैनिक शक्ति और पुलीस संगठन ही था। प्रत्येक राज्य अपने आन्तरिक तथा बाह्य मामलों में पूर्ण स्वतन्त्र था।

संघ के सभी निश्चयों के लिऐ सभी सदस्यों की सहमति जरूरी थी। इसका अर्थ स्पष्ट है कि छोटे से छोटा राज्य भी बहुमत के निश्चय को खत्म कर सकता

था । साथ ही संघ की नीतियों का नियन्त्रण यूरोपीय शक्तियाँ कर रही थीं, परन्तु इन यूरोपिय शक्तियों का प्रभाव विश्व राजनीति में घट चुका था। विश्व के दो बड़े राष्ट्र, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस प्रारम्भ में राष्ट्र-संघ से सम्बन्धित नहीं थे। इन दोनों राज्यों की अनुपस्थिति में राष्ट्र-संघ को विश्व के राज्यों की प्रतिनिधि संस्था कैसे कहा जा सकता था ?

बड़े राष्ट्रों की नीयत राष्ट्र-संघ के साथ नहीं थी; वे कहते कुछ और करते कुछ थे । वह एक ऐसी कूटनीति का अनुसरण कर रहे थे जोकि नये जमाने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थी। ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस के अपने स्वार्थ टकराते थे, उन के उद्देश्य साम्राज्यवादी थे। वे अपने साम्राज्य को कायम रखने के लिए और अपने आर्थिक हितों को पूर्ण करने के लिए राष्ट्र-संघ के नियमों को एक ओर रख सकते थे, और ऐसा करते भी रहे।

प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर जिस आर्थिक राष्ट्रवाद तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रचलन हुआ, उसने विश्व के राज्यों में अविश्वास तथा विद्वेष को उत्पन्न किया।

इन सभी कारणों से यह महान संस्था अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में असफल रही।

१८६. संयुक्त-राष्ट्र-संघ (The United Nations Organisation)

द्वितिय विश्व युद्ध के दौरान में एक बार फिर स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए एक सुदृढ़ अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता को स्वीकार किया गया। प्रायः सभी मित्र देशों में जनता ने युद्ध के उद्देश्यों का स्पष्टीकरण मांगा और सर्वत्र यह मांग की गयी कि यह युद्ध अन्तिम युद्ध होना चाहिए और भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निपटाने के लिए राष्ट्र-संघ से मजबूत किसी अन्य संस्था का संगठन किया जाना चाहिए।

द्वितिय विश्व-युद्ध ने यह और भी अधिक जोरदार तरीके से साबित कर दिया कि युद्ध किसी भी समस्या का सुलझाव नहीं कर पाते और उस से पराजित तथा विजयी दोनों ही दलों का लगभग बराबर नुक्सान होता है। युद्ध की भयंकरता एटम-बम्ब इत्यादि संहारक शस्त्रों के तैयार हो जाने से और भी अधिक बढ़ गई । यही कारण था कि अमेरिकन प्रेजीडैंट रूजवेल्ट ने अनेक बार राष्ट्र के नाम अपने सन्देशों में युद्ध पर रोक लगाने तथा स्थायी शान्ति की स्थापना की मांग को दोहराया।

१६४३ की मास्को कॉन्फ्रेन्स में सर्वप्रथम संयुक्तराष्ट्र के संगठन पर सरकारी तौर पर बातचीत की गयी । इस कॉन्फ्रेन्स में उपस्थिति चारों राष्ट्रों ने संयुक्तराष्ट्र की स्थापना के लिए प्रयत्न करने का निश्चय किया।

सितम्बर १६४० में ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य तथा सोवियत रूस के प्रतिनिधि अमेरिका के डम्बार्टन ओक्स (Dumbarton Oaks) नामक स्थान पर

एकत्रित हुए और यहाँ उन्होंने संयुक्त राष्ट्र के संगठन की पूर्ण योजना तैयार की। यहीं उन्होंने सुरक्षा परिषद् (The Security Council) के संगठन का आयोजन किया और साथ ही यह भी स्वीकार किया कि सुरक्षा-परिषद् की मांग पर सभी राज्यों को अपनी सेनाएँ उसके अधीन कर देनी होंगी। यह उनका सुरक्षा परिषद के प्रति एक आवश्यक कर्तव्य होगा।

डम्बार्टन ओक्स योजना पर सभी मित्र राष्ट्रों में पर्याप्त बहस हुई। सभी जगह उस पर वाद-विवाद किए गए, रेडियो तथा समाचार पत्रों द्वारा उन का प्रचार तथा प्रकाशन किया गया। इधर क्रीमिया में स्थित याल्टा नगर में स्टालिन, रूजवेल्ट तथा चर्चिल ने मिलकर सुरक्षा-परिषद् की मतदान व्यवस्था का निर्णय कर अमेरिकन नगर सेन-फ्रांन्सिस्को (San-Francisco) में संयुक्त-राष्ट्र के अधिवेशन की व्यवस्था की। अप्रैल १९४५ में उपर्युक्त योजनाओं के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के लिए संयुक्त राष्ट्रों का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। पच्चास राज्यों के प्रतिनिधियों ने लगभग दो मास तक इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के संगठन पर विचार विनमय किया। अन्त में २६ जून को संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया गया। तदनन्तर ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, चीन, सोवियत रूस तथा अन्य राज्य सरकारों द्वारा औपचारिक रूप से चार्टर के स्वीकार किए जाने पर संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना कर दी गयी।

प्रारम्भ में संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की संख्या ५१ थी अब तक वह लगभग ६० से उपर पहुँच गयी है। संयुक्त राष्ट्र के नियमों का अनुसरण करने के इच्छुक सभी शान्तिप्रिय राज्य इस के सदस्य बन सकते हैं। सदस्यता के लिए की गयी प्रार्थना पर सुरक्षा परिषद् विचार करती है और उसी की सिफारिश पर जनरल-एसेम्बली सदस्यता की स्वीकृति देती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य—संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों की व्याख्या इसके चार्टर की प्रथम धारा में ही की गयी है, वह इस प्रकार हैं—

(१) शान्ति तथा सुरक्षा को कायम रखना। एतदर्थ आक्रमक कार्यवे.ही की रोकथाम के लिए 'सामूहिक सुरक्षा' (Collective security) के साधन का प्रयोग सम्भव है। झगड़े के निपटाने के शान्ति पूर्ण साधनों को इस्तेमाल किया जाएगा।

(२) ऐसे मित्रतापूर्ण सम्बन्धों का विकास करना जिनका आधार राष्ट्रों के समान अधिकार तथा आत्म निर्णय का अधिकार हो।

(३) आर्थिक, सामाजिक, साँस्कृतिक तथा मानवीय समस्याओं के सुलझाव में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग भावना का विकास करना, तथा मानवीय अधिकार (Human Rights) और मौलिक स्वतन्त्रताओं (Fundamental Freedoms) की प्राप्ति का प्रयत्न करना।

(४) एतद्विषयक सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किए जा रहे विभिन्न राज्यों के प्रयत्नों में ताल-मेल उत्पन्न करने के लिए संयुक्तराष्ट्र से एक

प्रमुख केन्द्र के रूप में कार्य करना।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की दूसरी धारा द्वारा सभी सदस्य राज्यप्रतिज्ञा करते हैं कि वे पारस्परिक झगड़ों के सुलझाव के लिए शान्तिपूर्ण साधनों का प्रयोग करेंगे और अन्य राज्यों के प्रति शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे और संयुक्त राष्ट्र के निश्चयों को लागू करने के लिए उसकी प्रत्येक प्रकार से सहायता करेंगे। इसके साथ ही सभी सदस्य राज्यों की कानूनी समता तथा असीम प्रभुता के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया है। यह भी स्वीकार किया गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न अंग—राष्ट्र संघ की तरह संयुक्त राष्ट्र संघ का संगठन भी एक सरकार की तरह किया गया है। इसके प्रमुख अंगों में (१) जनरल एसेम्बली (The General Assembly) (२) सुरक्षा परिषद् (The Security Council) तथा (३) कार्यालय (Secretariat) आ जाते हैं।

इन के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ के अनेक साधारण अंग भी हैं जिनका विवेचन हम यथास्थान करेंगे। यहाँ हम सर्वप्रथम संघ के प्रमुख अंगों के संगठन का विवरण देंगे।

(१) **जनरल एसेम्बली** (The General Assembly)—जनरल संयुक्त राष्ट्र संघ का सर्वप्रमुख भाग है। जनरल एसेम्बली का निर्माण उन सभी राज्यों से मिलकर हुआ है जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य हैं। सभी सदस्य-राज्यों को पांच प्रतिनिधियों का एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजने का अधिकार है, परन्तु हरेक राज्य एक ही वोट देने का अधिकारी है, एक से अधिक नहीं। परिणाम स्वरूप संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य एक समान हैं और छोटे-बड़े सभी राज्यों को जनरल एसेम्बली में एक समान अधिकार प्राप्त हैं।

जनरल एसेम्बली के कार्य चलाने के नियम एसेम्बली स्वयं बनाती है, परन्तु महत्वपूर्ण मामलों पर निश्चय करने की व्यवस्था का विवरण संयुक्त राष्ट्र के चार्टर (संविधान) में मिल जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने राष्ट्र संघ की उस व्यवस्था का अनुसरण नहीं किया जिस के अनुसार एसेम्बली में किए जाने वाले सभी निश्चयों के लिए सभी सदस्यों की सहमति अनिवार्य थी। संयुक्त राष्ट्र संघ की जनरल एसेम्बली में अधिकांश निश्चय सदस्यों के बहुमत से होते हैं। हाँ, संयुक्त राष्ट्र संघ में ऐसी व्यवस्था अवश्य की गयी है कि जिसके अधीन कुछ महत्वपूर्ण विषयों पर केवल दो तिहाई बहुमत से ही फैसले हो सकते हैं। ऐसे महत्वपूर्ण विषयों की परिगणना चार्टर में कर दी गयी है। इन महत्वपूर्ण विषयों की संख्या जनरल एसेम्बली स्वयं भी बढ़ा सकती है।

जनरल एसेम्बली का अधिवेशन प्रतिवर्ष सितम्बर में होता है, प्रत्येक वर्ष इस के सदस्य-राज्य एक प्रधान का निर्वाचन करते हैं जो एसेम्बली के अधिवेशनों का सभापतित्व करता है। वार्षिक अधिवेशन के अतिरिक्त एसेम्बली के संकटकालीन

अधिवेशन भी हो सकते हैं। संकटकालीन अधिवेशन की मांग कोई भी राज्य सक्रेटरी जनरल से आवेदन-पत्र द्वारा कर सकता है। सक्रेटरी जनरल इस आवेदन-पत्र को अन्य राज्यों के पास भेजता है, बहुमत की स्वीकृति से अधिवेशन बुलाया जा सकता है।

जनरल एसेम्बली के अनेक प्रकार के कर्तव्य हैं। इस में सन्देह नहीं कि एसेम्बली मुख्यरूप से एक विवेचनात्मक सभा है तथापि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए यह सुरक्षा परिषद् को किसी भी प्रकार की विशेष कार्यवाही करने का आदेश दे सकती है। एसेम्बली सुरक्षा परिषद् के छः अस्थायी सदस्यों का दो साल के लिए निर्वाचन करती है। आर्थिक व सामाजिक परिषद् (Economic & Social Council) ट्रस्टीशिप कौन्सिल, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायलय इत्यादि के सदस्यों के चुनाव में भी एसेम्बली विशेष हिस्सा लेती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के जनरल सक्रेटरी का चुनाव भी एसेम्बली द्वारा ही होता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के विशिष्ट कर्तव्यों की पूर्ति के लिए एसेम्बली अनेक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना करती है, उनके अधिकार निश्चित करती है और उनके कार्य की देख भाल करती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधान के विकास तथा संग्रहकरण के लिए और मौलिक मानवीय अधिकारों की अनुभूति के लिए एसेम्बली विशेष प्रयत्न करती है।

(२) **सुरक्षा परिषद** (The Security Council)—संघ का सब से शक्तिशाली भाग सुरक्षा परिषद् है। सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र की कार्यपालिका समझी जा सकती है, क्योंकि जनरल एसेम्बली के निश्चयों को लागू करने की जिम्मेवारी इसी पर है। प्रत्येक सदस्य राज्य का यह कर्तव्य है कि वह सुरक्षा परिषद् के निश्चयों तथा आदेशों का पालन करे।

जनरल एसेम्बली की अपेक्षा सुरक्षा परिषद् के सदस्यों की संख्या थोड़ी है और वह निश्चित तथा मर्यादित है। सुरक्षा परिषद् के कुल ११ सदस्य हैं, इन में से पाँच स्थायी सदस्य हैं और शेष छः अस्थायी सदस्य जिनका चुनाव संयुक्त राष्ट्र की जनरल एसेम्बली करती है। स्थायी सदस्यों में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, चीन तथा सोवियत रूस हैं। अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन दो साल के लिए किया जाता है, दो साल की अवधि समाप्त होने पर जब नए चुनाव होते हैं तो अवकाश प्राप्त सदस्य राज्य १ वर्ष के लिए दुबारा चुनाव नहीं लड़ सकते।

विश्व में शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखने की मुख्य जिम्मेवारी सुरक्षा परिषद् पर है, यही कारण है कि सुरक्षा परिषद् का अधिवेशन किसी भी समय बुलाया जा सकता है। सुरक्षा परिषद् के सदस्य राज्यों को अपना एक प्रतिनिधि स्थायी रूप से परिषद् के प्रधान कार्यालय पर रखना पड़ता है।

सुरक्षा परिषद् अपने निश्चय कैसे करे? काफी समय तक यह प्रश्न विवाद ग्रस्त बना रहा है और आज भी जो व्यवस्था प्रचलित है वह सन्तोषजनक नहीं समझी जाती। यह कहा जाता है कि विश्व में शान्ति तथा सुरक्षा स्थापित करने की जिम्मेवारी

मुख्य रूप से बड़े राष्ट्रों पर है, अतः सुरक्षा परिषद् द्वारा किए जाने वाले निर्णयों पर उनकी स्वीकृति की मोहर अवश्य लगनी चाहिए। सभी राज्यों की स्वीकृति वाली पुरानी व्यवस्था अव्यावहारिक समझी गई। परिषद् के निश्चयों को लागू करने के लिए बल-प्रयोग की सम्भावना भी मानी गई, ऐसी हालत में सम्भव है परिषद् के सभी सदस्य सहमत न हो सकें, अतः किसी अन्य व्यवस्था की खोज की गई। 'याल्टा कॉन्फ्रेंस' के निश्चय के अनुसार पाँच बड़े राज्यों (Great Powers) को वीटो (Veto) का अधिकार दिया गया। इन व्यवस्था के अनुसार संसार में अमन तथा कानून कायम रखने तथा अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों पर निश्चय करने के लिए पाँच बड़ों का सहमत होना अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में इन मामलों पर सुरक्षा परिषद् तब तक कोई फैसला नहीं कर सकती जब तक कि सभी बड़े राज्य—रूस, चीन, ब्रिटेन, फ्रांस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका—सहमत न हों। अगर एक भी राज्य असहमत हो तो बहुमत द्वारा किया गया फैसला भी रद्द हो सकता है। हाँ, जब कभी कोई स्थायी सदस्य उस झगड़े से सम्बन्धित होता है जिस पर की सुरक्षा परिषद् विचार कर रही होती है तो उस समय वह राज्य अपने वोट का प्रयोग नहीं करता।

सुरक्षा परिषद् की इस मतदान व्यवस्था (Voting system) की कड़ी आलोचना की जाती है, क्योंकि इस द्वारा कोई भी बड़ा राज्य किसी भी ऐसे छोटे राज्य के अनैतिक तथा गैर कानूनी कार्य को क्षमा कर सकता है जिससे कि उसको लाभ पहुँचता हो। अनेक बार छोटे राज्य बड़े राज्यों के उकसाने पर ऐसे कार्य कर सकते हैं जो कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध हों, ऐसी अवस्था में सुरक्षा परिषद् अगर उनके विरुद्ध कोई निर्णय करे तो बड़े राज्य उसको वीटो द्वारा रद्द कर सकते हैं।

सुरक्षा परिषद् के निश्चयों के लिए सात सदस्यों की स्वीकृति आवश्यक है, इन में पाँच बड़े राज्य भी शामिल होने चाहिएँ।

जैसा कि हम पीछे ही लिख आए हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखने की जिम्मेवारी सुरक्षा परिषद् पर है, अतः एतद्विषयक सम्पूर्ण कार्यवाही सुरक्षा परिषद् द्वारा की जाती है। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुसार सभी सदस्य राज्यों का यह कर्त्तव्य है कि वे आपस के झगड़ों का निपटारा सुरक्षा परिषद् तथा जनरल एसेम्बली की सहायता से करवाएँ। सुरक्षा परिषद् इन झगड़ों के निपटारे के लिए मध्यस्त नियुक्त कर सकती है और अन्य प्रकार के शान्तिपूर्ण साधन भी सुझा सकती है। जब कभी कोई राज्य किसी अन्य राज्य पर आक्रमण करता है तो सुरक्षा परिषद् यदि उचित समझे तो उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही भी कर सकती है और इस विषय में सदस्य राज्यों से सैनिक सहायता माँग सकती है। परिषद् नये सदस्यों की सहायता के लिए जनरल एसेम्बली से सिफारिश करती है, आक्रमक राज्य के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही की व्यवस्था करने का अधिकार रखती है, किसी सदस्य राज्य को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता से वंचित करने की सिफारिश कर सकती है, जनरल एसेम्बली के विशेष अधिवेशन की व्यवस्था करती है तथा स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्यों के निर्वाचन में भाग लेती है। इन महत्त्वपूर्ण कार्यों के अतिरिक्त

अणु-शक्ति के नियन्त्रण तथा ट्रस्टीशिप के मताहत प्रदेशों के राज-काज के देख भाल की जिम्मेवारी भी सुरक्षा परिषद् पर है।

(३) **कार्यालय** (Secretariat)—संयुक्त राष्ट्र के प्रशासकीय कार्यों की देख भाल कार्यालय द्वारा की जाती है। कार्यालय का अध्यक्ष सक्रेटरी जनरल होता है। सक्रेटरी जनरल का चुनाव सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर जनरल एसेम्बली करती है। कार्यालय ही सुरक्षा परिषद्, जनरल एसेम्बली तथा आर्थिक तथा सामाजिक कौन्सिल इत्यादि की कार्यवाही का रिकार्ड रखता है। सक्रेटरी जनरल इन सभी संस्थाओं के महामन्त्री के रूप में कार्य करता है, वह इनके अधिवेशन बुलाता है और किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मामले की ओर सुरक्षा परिषद् का ध्यान खैंच सकता है। जनरल सक्रेटरी ही एसेम्बली द्वारा निर्धारित नियमों के आधार पर कार्यालय के अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति करता है।

कार्यालय के आठ विभाग हैं जिनके आठ उपाध्यक्ष हैं। इनमें प्रमुख विभाग इस प्रकार हैं—(१) सुरक्षा परिषद् विभाग (The Security Council affairs), (२) आर्थिक विभाग (Economic affairs), (३) सामाजिक विभाग (Social affairs), (४) ट्रस्टीशिप के मताहत प्रदेशों के शासन की देख भाल करने वाला विभाग (Trusteeship and Information from non-self governing territories), (५) सार्वजनिक सूचना विभाग (Public information) (६) वह विभाग जो संघ के अधीन संस्थाओं के अधिवेशन की व्यवस्था करता है, (Conference and General service), (७) कानून विभाग (Legal affairs), (८) वित्तीय तथा प्रशासकीय विभाग (Administrative and financial service)।

संयुक्त राष्ट्र संघ के दैनिक कार्य की सुचारुता बहुत कुछ कार्यालय के संगठन तथा सक्रेटरी जनरल की प्रशासकीय योग्यता पर आश्रित है।

संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त नीचे लिखी संस्थाओं की स्थापना की भी व्यवस्था करता है—

(१) **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय** (The International Court of Justice)—हम पीछे देख चुके हैं कि राष्ट्र संघ (The League of Nations) का विधान भी राज्यों के पारस्परिक झगड़ों के शान्तिपूर्ण सुलझाव के लिए एक न्यायलय की व्यवस्था करता था। संयुक्त राष्ट्र भी यह महसूस करते थे कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने के लिए तथा राज्यों के आपसी झगड़ों के शान्तिपूर्ण निर्णय के लिए वैसी ही एक न्याय व्यवस्था होनी चाहिए। वह पुराने स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायलय को जारी रखने के विरुद्ध थे। अतः संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N. O.) के चार्टर के अधीन एक नए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायलय की स्थापना की गयी।

अन्तर्राष्टीय न्यायलय के कुल १५ न्यायाधीश हैं, इन्हें सुरक्षा परिषद् तथा जनरल एसेम्बली दोनों अलग-अलग बैठकर चुनतीं हैं। केवल वही व्यक्ति न्यायाधीश

चुने जाते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विद्वान हों और जो सब प्रकार से निष्पक्षता तथा न्याय भावना पूर्ण हों। एक राज्य में से एक से अधिक न्यायाधीश नहीं चुना जा सकता। न्यायालय का मुख्य कार्यालय हेग में है। न्यायालय का कोरम नौ न्यायाधीशों की उपस्थिति है, सभी निर्णय बहुमत से किये जाते हैं। न्यायालय का एक प्रधान होता है जिसे न्यायाधीश स्वयं चुनते हैं और जिसका कार्यकाल तीन वर्ष है।

संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों का यह कर्तव्य है कि वे आपसी झगड़ों के निपटारे के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सहायता प्राप्त करें, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी झगड़े अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सामने ही पेश किए जाएँ। सभी राज्य प्रभु-सत्ता सम्पन्न (Sovereign) हैं, अतः अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अपने निश्चयों को लागू करने के लिए बल-प्रयोग नहीं कर सकता। वह दोनों दलों की सहमति से ही किसी झगड़े पर विचार कर सकता है। न्यायालय के सम्मुख तीन प्रकार के मामले पेश किए जा सकते हैं

(१) सभी राज्यों का यह अधिकार है कि वे आपसी झगड़ों के लिए उन्हें न्यायालय के सम्मुख मे आएँ।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों, समझौतों तथा परम्परागत रीति रिवाजों के विषय में अगर कोई झगड़ा हो तो फैसले के लिए उन्हें न्यायालय के सम्मुख पेश किया जा सकता है।

(३) कुछ राज्य अगर यह मान लें कि उनके एक विशेष प्रकार के मामले कुछ समय के लिए न्यायालय के सम्मुख पेश हो सकते हैं तो वे पेश होते रहेंगे।

इनके अतिरिक्त जनरल एसेम्बली तथा सुरक्षा परिषद् दोनों ही किसी भी कानूनी मामले पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का मत जान सकती हैं।

(२) **आर्थिक तथा सामाजिक कौन्सिल** (The Economic and Social Council)—संयुक्त राष्ट्र के गैर राजनीतिक कर्तव्यों को पूरा करने के लिए इस संस्था का जन्म हुआ है। यह संस्था निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए स्थापित की गयी है—

(१) जन सामान्य के रहन-सहन को ऊँचा उठाना, बेकारी दूर करना तथा आर्थिक व सामाजिक उन्नति के लिए प्रयत्न करना।

(२) राज्यो की आर्थिक, सामाजिक तथा स्वास्थ्य और इन से सम्बन्धित अन्य समस्याओं के सुलझाव का प्रयत्न करना। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी सहयोग की प्राप्ति।

(३) बिना जाति, लिंग, भाषा तथा धर्म इत्यादि के भेदभाव के मनुष्य मात्र की मौलिक स्वतन्त्रताओं (Fundamental Freedoms) के प्रति सामान्य आदर भाव को उत्पन्न करना।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र की इस संस्था कार्य सांस्कृतिक है, इसकी स्थापना मानव समाज के सामान्य हित की प्राप्ति के लिए की गयी है और इसका उद्देश्य

युद्ध के आर्थिक तथा सांस्कृतिक कारणों को दूर करना है।

कौन्सिल ने अपने कार्य की सुविधा के लिए अपने आप को अलग-अलग कमेटियों में बाँट रखा है। ये कमेटियाँ विभिन्न विषयों पर अत्यन्त उपयोगी कार्य कर रही हैं।

कौन्सिल के कुल १७ सदस्य हैं, इनका चुनाव एसेम्बली करती है। साल में तीन अधिवेशन की व्यवस्था है, परन्तु विशेष अधिवेशन किसी भी समय किया जा सकता है।

इस संस्थाओं के अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रिय मजदूर संघ (International Labour Organisation) भी संयुक्त राष्ट्र संघ का एक सवायत-सत्ता प्राप्त भाग है। हम पीछे देख चुके हैं कि मजदूर संघ राष्ट्र संघ का भी एक प्रमुख भाग था। राष्ट्र संघ तो द्वितिय युद्ध के दौरान में खत्म हो गया परन्तु मजदूर संघ बचा रहा। १९३९-४५ के अर्से के दौरान में यह एक स्वतन्त्र संस्था के रूप में कार्य करता रहा। १९४५ में संयुक्त राष्ट्र सघ के अधीन इस का पुर्नसंगठन किया गया। इस का प्रधान कर्त्तव्य मजदूरों की आर्थिक तथा नैतिक स्थिति का सुधार है।

ट्रस्टीशिप कौन्सिल (Trusteeship Council) की स्थापना उन प्रदेशों के प्रशासन के लिए की गयी है जोकि अभी तक स्व-शासन के योग्य नहीं समझे जाते। इन में से अनेक ऐसे प्रदेश हैं जिन्हें द्वितिय विश्व युद्ध के दौरान में शत्रु-राज्यों में छीना गया है, कुछ प्रदेश स्वेच्छा से ट्रस्टीशिप के मताहत आ गये हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ की शिक्षा विज्ञान तथा संस्कृति परिषद् (Uuited Nations, Educational, Scientific and Cultural Organisation), विश्व स्वास्थ्य संघ (World Health Organisation), और भोजन तथा कृषि-परिषद् (Food & Agriculture Organisation) इत्यादि अनेक संस्थाएँ हैं, जो संयुक्त राष्ट्र संघ के अधीन गैर-राजनीतिक कार्य कर रही हैं।

१९०. संयुक्त राष्ट्र संघ का भविष्य

हमने पीछे देखा है कि किस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के अनन्तर स्थापित राष्ट्र संघ अपने कार्यकाल में अनेक कारणों से कमजोर हो अन्त में नष्ट हो गया और अपने महान उद्देश्यों की प्राप्ति में असफल रहा। संयुक्त राष्ट्र संघ अपनी प्रकृति में राष्ट्र संघ से भिन्न नही, दोनों में समानताएँ हैं। इस लिए यह प्रश्न स्वाभाविक है कि सयुक्त राष्ट्र संघ का भविष्य क्या है ? संयुक्त राष्ट्र संघ के हम इतने नजदीक हैं कि उसके कार्य का ठीक ठीक मूल्यांकन हमारे लिए सम्भव नहीं। निश्चय ही संयुक्त राष्ट्र अपने संगठन में उन अनेक दोषों से मुक्त है जो कि राष्ट्र संघ में मौजूद थे। संयुक्त राष्ट्र संघ के विधान में वास्तविकता है। यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि विश्व में शान्ति स्थापना की जिम्मेवारी बड़े राष्ट्रों पर है, अतः उन्हें विशेष स्थिति में रखा जाना चाहिए। राष्ट्र-संघ में ऐसा नहीं था।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत सुरक्षा-परिषद् की विशेष स्थिति है। सुरक्षा-परिषद् एक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के रूप में कार्य कर सकती । अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि में अपराधी राज्य को दण्ड देने के लिए सुरक्षा-परिषद् अनेक उपाय कर सकती है।

इन सब के बावजूद भी संयुक्त राष्ट्र संघ में लगभग वह सभी दोष उपस्थित हैं जो राष्ट्र संघ में भी थे और जो उसके पतन का कारण बने । संयुक्त राष्ट्र संघ, राष्ट्र संघ (League of Nations) की ही तरह प्रभुता सम्पन्न राज्यों का एक समुदाय मात्र है । सभी अपनी आन्तरिक तथा विदेशी नीतियों के निर्माण में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। उनके लिए यह जरूरी नहीं कि वे संयुक्त राष्ट्र के सभी निर्णयों को मानें। उनकी सदस्यता भी स्वेच्छा पर आधारित है, वे जब चाहें उसे छोड़ सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र के पास अपने निर्णयों को लागू करवाने के लिए कोई सेना या पुलीस नहीं। वह अगर बल प्रयोग करना चाहे तो उसे अपने सदस्य-राज्यों की सैनिक शक्ति पर ही आश्रित रहना पड़ता है । इस शक्ति का प्रयोग बड़े राज्य छोटे राज्यों के विरुद्ध इस्तेमाल कर सकते हैं, किसी बड़े राज्य के विरुद्ध नहीं । ऐसा करने पर युद्ध छिड़ जाने की सम्भावना रहती है।

संयुक्त राष्ट्र के प्रमुख सदस्यों में गहरा मतभेद है, वे दो धड़ों में बटे हुए हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका पूँजीवादी और साम्राज्यवादी राज्यों का प्रतिनिधित्व करता है, रूस साम्यवादी राज्यों का । दोनों दलों में पर्याप्त द्वेष तथा मनमुटाव है और दोनों दल एक दूसरे को पराजित करने तथा अपमानित करने की चिन्ता में रहते हैं। अमेरिका अपने हितों की सुरक्षा के लिए रूस के चारों ओर युद्ध-स्थलों की रचना कर रहा है और अपने सैनिक शक्ति के केन्द्र बना रहा है। संयुक्त राज्य सम्पूर्ण विश्व में युद्ध जैसी स्थिति को कायम किए हुए है, उसकी विदेशी नीति ऐसे राज्यों को सैनिक गुट-बन्दियाँ करने के लिए प्रोत्साहित कर रही है जो कि सभी तरह से पिछड़े हुए हैं और जो प्रतिक्रियावादी शासन व्यवस्थाओं के अधीन हैं।

यही कारण है कि संयुक्त राष्ट्र के सभी निश्चय दलगत भावनाओं से किए जाते हैं। न्याय तथा सच्चाई को एक ओर रख दिया जाता है। राज्यों के पारस्परिक व्यवहार में नैतिकता का अभाव है। काश्मीर कोरिया इण्डोचायना से सम्बन्धित तथा दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की स्थिति इत्यादि के विषय में किए गए निश्चय इस बात के प्रमाण हैं।

संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा-परिषद् का निर्माण सर्वथा अस्वाभाविक है, वह मौजूदा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का प्रतिनिधित्व नहीं करता । उसके स्थायी सदस्यों में साम्राज्यवादी तथा प्रतिक्रियावादी राज्यों का बहुमत है । इंग्लैण्ड तथा फ्रांस दोनों साम्राज्यवादी राज्य हैं और द्वितीय विश्व-युद्ध के अनन्तर तो वे अमेरिका के पिछलग्गु बन गए हैं, उनकी अपनी कोई स्वतन्त्र नीति नहीं रही । सुरक्षा-परिषद् में चीन की जिस सरकार को प्रतिनिधित्व दिया गया है, उसका अस्तित्व इस समय फारमोसा के छोटे से द्वीप तक ही सीमित है, वह न तो चीन राज्य के प्रदेश पर ही अधिकार

रखती है और न चीनी जनता ही उसे स्वीकार करती है। केवल संयुक्त राज्य अमेरिका की हठधर्मी के कारण चीन की साम्यवादी सरकार को इस महान अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में स्थान नहीं मिल रहा। इससे संघ की स्थिति कमजोर ही हुई है; उसकी शक्ति बढ़ी नहीं। साथ ही हमें यह भी याद रखना चाहिए कि संघ विश्व के सभी बड़े राज्यों को प्रतिनिधित्व नहीं देता। अभी बहुत से ऐसे राज्य हैं जिन्हें संयुक्तराष्ट्र संघ में शामिल ही नहीं किया गया। न ही संघ एशिया के नवजाग्रत महान् राज्य जैसे भारत, इण्डोनेशिया, बर्मा, मिश्र, लंका इत्यादि को ही सुरक्षा-परिषद् में कोई स्थान देता है। एशिया की जनता का प्रतिनिधित्व संयुक्त राष्ट्र की शक्तिशाली सभा सुरक्षा-परिषद् में च्यांग की फारमोसा सरकार द्वारा ही किया जा रहा है। इस प्रकार की स्थिति संघ के लिए बहुत खतरनाक है।

सुरक्षा-परिषद् के सम्पूर्ण निर्णयों के लिए पाँच बड़ों की सहमति आवश्यक है, इस सहमति के बिना कोई भी निर्णय मान्य नहीं समझा जाता। परन्तु रूस तथा अमेरिका में जो भेदभाव है उस वजह से दोनों का किसी महत्वपूर्ण विषय पर एकमत हो सकना असम्भव है।

अनेक बार बड़े राज्यों ने जानबूझ कर संयुक्त राष्ट्र की उपेक्षा की है। कोरिया तथा हिन्द चीन के सवाल पर हुई जिनेवा कॉन्फ्रेन्स, संयुक्त राष्ट्र के तत्वविधान में नहीं हुई, इससे संयुक्तराष्ट्र को पर्याप्त हानि पहुँची। यही नही हाल ही में स्वेज नहर के मामले पर हो रही लन्दन कॉन्फ्रेन्स भी संयुक्त राष्ट्र से बाहर हो रही है और इससे भी संयुक्तराष्ट्र की प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा है। इस प्रकार से जान बूझकर की गयी उपेक्षा संयुक्त राष्ट्र को कमजोर करती है।

बड़े राज्य पारस्परिक वैमनस्य के कारण किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सवाल पर एकमत नहीं हो पाते, न ही वे अपने स्वार्थों का त्याग करने को तैयार हैं। विश्व में नयी राष्ट्रीय शक्तियों का जागरण हो रहा है, परन्तु वे अभी तक उन्हें मान्यता प्रदान नहीं कर सके। उनका दृष्टिकोण पुराना प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण है, उसमें अभी परिवर्तन नहीं हो पाया।

फिर भी हम संयुक्तराष्ट्र की उपयोगिता से इनकार नहीं कर सकते। संयुक्त-राष्ट्र के मंच से लोकमत का निर्माण किया जा सकता है। संयुक्तराष्ट्र को एक महान् नैतिक शक्ति के रूप में अगर बड़े राज्य नहीं तो छोटे राज्य अवश्य प्रयुक्त कर सकते हैं। संयुक्तराष्ट्र ही छोटे राज्यों को इकट्ठा हो कर सोच-विचार का मौका देता है और उसी द्वारा वह अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर सकते हैं। आज के विश्व में संयुक्तराष्ट्र ही मानव समाज की आशाओं का केन्द्र है।

Important Questions

	References
1. What do you regard as the principal structual weakness in the U. N. O.? (*Pb 1955*)	
2. What are the principal organs of the U. N. O.? Discuss their composition and main functions. (*Pb. 1954*)	Arts. No. 189 & 190
3. Discuss the causes, which led to the down fall of the League of Nations.	Art. No. 188

अनुक्रमणिका

अ

अरस्तू (अरिस्टोटल), ३, ५, ७, ८, १२, १३, १७, १६, २०, २१, २६, ३८, ३६, ४२, ४४, ४६, ५२, ५३, ५६, ५६, ६१, ६६, ७०, ८४, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६६, १००, १०१, १०२, ११७, १२२, १२६, १५३, १६१, १६२, १६३, १६५, १८८

अलथ्युसियस, ५७, ६१

अलबर्ट रायल, ६१

अब्राहम लिंकन, १००

आ

आइवर ब्राउन, १२, १३

आँगस्टाइन (सेण्ट), १३, ५६, २६१

आस्टिन (जॉन), ३८, ४२, ५३, ५६, ५७, ५८, ५६, ६६, ६७, ७२, ७५, ८१, १५२

आशीर्वादम् (डा०), ५७

आयंगर (ए. स.), १२६

आयंगर (श्री निवास), १२७

इ

ईल्बर्ट, ११४

ए

एमर्सन, ४

एलेक्जेण्डरवेन, ५

एक्टन (लार्ड), १३, २६, ३०, १२०, १२६, १६०

एटली, १८, २२

एक्वीना (थॉमस), ६१

एरिस्टिपस, ६७

एपिक्यूरस, ६७

एडलर, ६७

एस्क्विथ, ११४

एबीसीयज, १२६, १५०

एस्मीन, १२६

एडमस्मिथ, १६१, १६६, १६७

एन्जेल्स (फ्रेडरिक), १६६, १७१

एनीबेसण्ट (श्रीमती), १७२

एडमण्ड बर्थ, १७३

ओ

ओपनहाइमर, ३७,

ओकहम, ६१

ओरेज (ए. आर.), १७४

क

कामते (अगस्त), ७, ८, ६१

काण्ट, १३, २६, ३८, ४४, ७०, ८२, १६१, १६३, १६५, १६६, १६७

काटलिन (जार्ज), १३, १७६, १७८

कालविन, २६, ३६, ५२

कबीर (महात्मा), ३२

क्लैरेण्डन, ४२

कूली, ५२, ८८

केल्हून, ५८

कोल (जी. डी. एच.), ५६, ६०, ६६, १०२, १५०, १५६, १५७, १७४

क्रेब, ५६, ६०, ६६, ७४, ८०, १५२

क्रोज, ६१
क्रोपाटकिन (प्रिंस), ६८, १७५
कोक, ७६
कुल्लूक भट्ट, ७६
कृपलानी (आचार्य), १८१
काकासाहब कालेलकर, १८१

ग

गार्नर (डॉ), २, ५, ७, १६, २२, २६, ४०, ६१, ८६, ८८, ६४, १०२, १०६, ११४, १२८, १३२, १३७, १३६, १६२
गिलक्राइस्ट, २, ५, १०, २७, ३६, ५७, ८१, १११
गेटल, २, २७, ३०, ४०, ४८, ५७, ५८, ६०, ७६, ७७, ८६, १०२, १२०, १४१, १६२, १७४
गिडिंग्ज़, १०, १०१, १०२, १७०
ग्रोशियस (ह्यूगो), १३, १६, ३८, ४४, ५५, ५६, ५८, ६०, ८२
ग्रीन (टी. एच.), १३, ३७, ३८, ४४, ६५, ७०, ८०, ६६, १०१, १५१, १५२, १६१, १६३, १६५, १६७
गैरीबाल्डी, २६
गूच (जी. पी.), ३६
गिरके, ६०, ६१, ६६
गोरेजा, ६१
गर्बर ६६
गांधी (महात्मा), ६६, १५२, १६२, १७५, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५
गॉल्टन (फ्रांसिस), १०२
गुस्टाबले, १०२
गाडविन (विलियम), १५६, १७५
गिम्सबर्ग (प्रो०), १६५
गोयरिंग, १७२

च

चाणक्य, ३, ३६, ३८
चर्चिल, १८, २२, ८८, ६६, ११४, १८६
चेम्बरलेन, ११४
च्यांग (काई शेक), १६०
च्वांग जू, १७५

ज

जेनेट (पॉल), ५, ६, ६
जेलिनेक, ५, ७, ५८, ६६, ८१, ८३, ८४, ६५, ६८, १०७
ज़िमर्न (ए. ई.), २६, ३०
जेम्स प्रथम, ३६
जेंक्स, ३७, ३६, १२४
जॉन ऑफ सैलिसबरी, ६१
जकरिया, ६७
जेम्स सेठ, ६१
जयप्रकाश, ६६, १८१
जोड, ६६, १६५, १६६, १७०, १७३, १७५
जायसवाल (डा०), १०१
जेफरसन, १५२
जेम्स, १७६
जेण्टाइल, १७८

ट

टाकविल (डी.), ८, ५८, ८७, १०२, १६०, १६६
टार्ड, १४, १३०
ट्रीटस्के (त्रीत्शके), १५, ३७, ६५, १०२, १६१, १६३, १६५
ट्राटर, ६६
टेलीरेण्ड, १०२
ट्रूमैन, १२०
टाल्स्टाय, १७५, १८२, १८३

ड

डार्विन, ३७, ६१,६२
डर्निंग (प्रो०), ४३
डायसी (प्रो०), ५७, ५९, ७७, ८४, ८७, १००, १०१, १०२, १०७, १११, ११४, १३२, १३९, १५६
ड्यूए, ८८, १०२
डेविड रिकार्डो, १७०

त

तुलसी (दास, गोस्वामी, महाकवि), ३२

थ

थॉमस पेन, १०२
थॉमस मोर (सर), १६९
थोरो (हेनरी डेविड), १८२

द

दुरखियम (एमली), १४, ६०
द्युग्वी, ३२, ५५, ५९, ६६, ७४, ८१, १५०, १५६

न

नेहरू (जवाहर लाल, पंडित), ५, ९९, १८१
नैपोलियन, २९, ७८, १३१, १३९, १७१
नानक (गुरु), ३२
नीत्शे, ३७, ६१, ६५, १६१, १६२, १७३, १७६, १७८
नारमन ऐंजेल, ५९, १६८
नरेन्द्र देव, ९९, १६९

प

पोलक (सरफ्रेड्रिक), २, ५, ८, ३८, ५५, ७२, ८१
प्लेटो, ३, ८, १२, १३, १७, २०, २१, २९, ३२, ४४, ४९, ५२, ६१, ६६, ७०, ८५, ९३, ९४, ९७, ९८, ९९, १०१, १०२, १५३, १५७, १६१, १६२, १६३, १६५, १६६, १६९, १७९, १८३
पिल्ज़बरी, ३०
पाल (सेण्ट), ३६
पफण्डोर्फ ४४
पाल वांकर, ६०
पराशर ७६
पालवियस, ११७
प्रोधां, १७३, १७५
पाललुई, १७३
पेण्टी (ए जे.), १७४
परेटो १७६
पट्टाभि सीतारमैया, १८१
पातंजली, १८२

फ

फ्रीमैन, ८, ११,१६६
फिचे, २९, ३७, ३८, ६१, १६६, १६७
फिल्मर (रावर्ट), ३६, ४३
फिगिस (डॉ०), ६०
फालेट (मिस), ६०, १००
फ्रायड, ६७
फ्रेंकलिन (बेंजिमन), १२६
फाईनर, १२६
फोरियर, १६९
फर्डीनिण्ट पेलातें, १७३

ब

ब्लंशली, २, ५, ६, ७, ८, १५, १९, २०, २८, ३१, ३८, ६१, ६३, ६६, ९५, १०२, १२६, १३०, १४५, १६१
बार्कर, ५, १४, २१, ६०, ६६, १०२
ब्राइस (लार्ड), ५, ७, ८, २७, २८, ३०, ५७, ८४, ८६, ८७, ८८, १००, १०२, ११४, १३४, १३५
बोदीन, ७, १९, ३७, ३९, ५५, ५६, ५९, ६०, ७२, ९५, ११७

बर्गेस, ११, २७, ३०, ५५, ८६, ६४, ६५
बेजहोट (वाल्टर), १४, ११४, १२८, १३०
बाल्डविन, १४
बकल, १५
ब्रैडले, २१, ४४, ७०, १६३
बोसांके, २१, ४४, ७०, १६३, १६५
बासेट, ६३
बेन्थम, ३८, ४२, ४३, ५६, ५८, ६७, ७२, ६६, १०१ १४६, १५२, १६१, १६२, १६७
बर्क, ३८, १४१
ब्लिस, ५८
बाकुनिन, ६८, १७५
ब्लैकस्टोन, ७६, ११६, १२०
बेकन, ८५
बर्नाड शा (जार्ज), ६६, २७२
बेनीप्रसाद (डॉ०), १०२
बर्न्स (सी. डी.), १०३
बेरिया, १२६
बीयर्ड, १४१
ब्राउघम, १५०
बार्थलेमी, १५०
बर्तहार्डी, १६१, १६५
बेट्रिक्सवेब, १७२
बर्नसां, १७३, १७६
बेंजामिन टकर, १७५
बर्ड (जे एस) १७७

भ

भीतामह ३६, १६१

म

मैग्राइवर, १, ७, २६, ३६, ५६, ६०, ७७, १०४, १४६, १४३, १६१, १६३, १६५, १७०
मनु, ३, ३६, ७६
मेकियावली, ३, १३, २६, ४३, ६५, ६६, ६५, १८१
माण्टेस्क्यू, ७, ८, १५, २०, ३८, ४४, ६५, १०७, ११४, ११५, ११८, १२०, १३२, १३६, १४५
मेटलैण्ड, ७, ६०, ६१, ७२
मिल (जे. एस.), ८, २७, ३०, ३१, ३७, ६७, ६७, ६६, १०१, १०२, १०४, १२६, १३०, १४५, १४६, १५२, १५३, १५७, १६१, १६२, १६६, १६७
मार्क्स (कार्ल) १२, ३७, ६८, १५२, १५३, १५६, १६२, १६६, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १७८, १८५
मैक्डूगल, १४, ६०, ६७, ६६
मुसोलिनी, २१, ६३, ८१, १६५, १७६, १७७, १७८, १८८
मेजनी, २६
मीरा (बाई), ३२
मालवर्ग, ३८
मैक्लैनन, ३६
मार्गन, ३६
मार्सिगलियो ऑफ पदुआ, ५७, ६१, ११७
मेडीसन ५८, ११६
जेम्स मिल, ६७, १०१
मिताक्षरा, ७६
मार्शल (जस्टिस), ८१
मूर (थॉमस), ८५
मैकाले (लार्ड), ८८
मेरियट (जे. ए आर), ६६
मनरो, १०२

मैकडानल्ड (रेम्जे), ११४, १६६, १७२
मेलिन्काफ, १२६
मेसन, १३०
मिराबो, १५०
मंसूर, १५२
मिल्टन, १५३
मैक्शनी, १५६
मेक्स स्टर्नर, १७५
मुहम्मद, १७८
महात्मा बुद्ध, १८१
मशरूवाला, १८१

य

युंग, ६७
याज्ञवल्क्य, ७६

र

रूसो, ८, १३, १५, २०, २१, ३८, ४१ ४३, ४४, ४५, ५२, ५६, ५७, ६०, ६१, ६४, ६६, ७०, ६५, ६६, १०१, १४५, १५२, १५७, १६१, १६३, १६६, १७४
रेटज़नटावर, १०
रेम्ज़े म्योर, ३०, १४४
रामानन्द, ३२
रामानुज, ३२
रिची (प्रो०), ५७
रसेल (वट्रैण्ड), ६७, ६६, १६६, १७०, १७१
रूजवेल्ट, ८८, ६६, १२०, १३२, १८६
राबर्ट ओवन, १६६
राय (एम. एन.), १७६
रोको (ऐल्फ्रेडो), १७८
रस्किन (ज न), १८२

ल

लास्की (प्रो० हैरेल्ड जे.), २, ५, २६, २२, २३, ४३, ५५, ५७, ५८, ५६, ६०, ७४, ८१, १०२, १०४, ११३, ११५, १२०, १२६, १३३, १३७, १४३, १४५, १४६, १५०, १५१, १५२, १५३, १५६, १५७, १६०, १६५, १७२
लेविस, ७, ८४, ८५
लॉक (जॉन), १३, २२, ३८, ४२, ४३, ४४, ४५, ५२, ५७, ६४, ६६, ८६, ६६, १०१, १२७, १५१, १५२, १५३, १५६, १५७, १५१, १६६
लेबाँ, १०२
लीकॉक, २६, ३०, ३७, ३६, ६६, १५६
लूथर (मार्टिन), २६, ३६, ५२, १०१
लुडविग, ३७
लाइबर, ५८
लोवेल (ए. एल), ५८, २०२
लिण्डसे (ए. डी.), ६०
लेफर, ६६
लेकी, २०३, ६०४
लायड जार्ज, १२४
लाबेलेय, १४६
लेनिन, १७१

व

विलसन (वुडरो), २, १६, ५२, ७५, ७६, १०८, ११५, १२०, १३२, १६२, १८६, १८७
वेलस (ग्राहम), १४, ६७, ६६, १६८, १७२
वल्लभाचार्य, ३२
वाहन, ४३
विलोबी, ५५, ७२, १६२
विलियम ऑफ ओकम, ५७
वुल्फ, ५८
वेट्ज़, ६१

वुल्ज़े, ६४, ८२, ८४, १२६
वेस्टलेक, ८२
वैटल, ८२
वांन मोहल, ९५
वैज़, ९५
वेल्स (एच. जी.), १०२
वाशिंगटन, ८६, २३२, १३५, १४३
वाल्तेयर, १५२, १५७
वाइल्ड (एन), १५२
वेल्स (एच. जी), १७२
विक्टर एमेन्युअल, १७७
विनोबा भावे, १८१

श

शुक्र (आचार्य), ३, ३६
शिलर, २९
शंकर (आचार्य), ३२
शार्ल बेनोआ, ५९

स

सीली, ६, ८, ११, १००, १५६
सिजविक (हेनरी), ७, ८, ५९
स्पैन्सर (हर्बर्ट), ८, ३७, ६१, ६२, ६३, १५२, १५६, १६०, १६१, १६२, १६६, १६७, १७५
सिसरो, १९, ६१, ९५, ११७
सूरदास (महाकवि), ३२
सेबाइन (प्रो०), ४२, ६७, १७०, १७६
स्टोरी, ५८, १२९, १३१
स्टाल, ६६
स्टीन, ६६
सोरेल, ६८, १७३, १७६
सेविनी, ७२
सेलिसबरी (लार्ड), ८१
सैविजनी, ८१
सुकरात, ९३, ९४, १५२ १५३
सिडनीबेव, ९९, १०१, १०४, १७२
स्टालिन, १२९, १७१, १८९
सेंट सिमों, १६९

ह

हाब्स, ७, १३, २२, ३८, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ५२, ५६, ५८, ५९, ६०, ६१, ६४, ६९, ७२, ८१, १०१, १५२, १५६, १५७, १६१, १६६, १७५, १८८
हीगल, १३, २९, ३८, ४४, ६०, ६१, ६३, ६५, ७०, ८१, १६१, १६३, १६४, १६५, १६८, १७०, १७६, १७८, १८६
हरिङ्गटन, १५, ११७
हालैण्ड, १९, ७२, ७५, ७६, ७७, ८१
हाल, १९, ८२, १००
हिटलर, २०, २१, ३१, ६३, ८१, ११३, १५२ १६५, १७७, १७८, १८८
हेज़, २६, २७, ३०
हूकर (रिचर्ड), ३८
ह्यूम (डेविड), ३८, ४४, ९७
हेनरीमेन (सर), ३८, ३९, ५९, ६४, ७२, ८१, ८६, १०२, १०३, १०४, १२६, १३०, १४५
हैमिल्टन, ५८, १०७, १२९, १३०, १३७
हर्ड, ५८
हालोवेल, ६७
ह्वीटन, ८१, ८२
हेरोडोटस, १००
हर्नशा, १०२
हेनरी फोर्ड, १०२
हेयर (थॉमस), १४९
हाबहाऊस, १५२, १५७, १६५, १७०
हमबोल्ड, १६६, १६७
हक्सले, १६७, १७५
हरमन फाइनर, १७२
हाबसन (एस० जी०), १७४